

काट्याण-साधनावा



प्रथम संस्करण



COLLECTION OF VARIOUS
→ HINDUISM SCRIPTURES
→ HINDU COMICS
→ AYURVEDA
→ MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with
By
Avinash/Shashi

Icreator of
hinduism
server!

साधनाको विषय-सूची

	पृष्ठ-संख्या	पृष्ठ-संख्या
१—सत्त्वके कुछ क्षण	...	५
२—कल्पण ('शिव')	...	८
३—प्रेम-प्राप्तिका साधन (पूज्यपाद परमहंस श्रीरामकृष्णदासजी महाराजके उपदेश)	...	११
४—साधक और मनका संवाद (पूज्यपाद स्वामीजी श्रीभग्नेलिवाचार्जी)	...	१२
५—साधक के लिये (पूज्यपाद स्वामीजी श्रीउद्घायाचार्जीके उपदेश)	...	१४
६—साधन और उसका प्रधान विषय (पूज्यपाद स्वामीजी श्रीशिवाचार्जी महाराजके उपदेश)	...	१६
७—प्रार्थनाका प्रभाव (पूज्यपाद महात्मा स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)	...	१९
८—साधना ('श्रीज्योतिजी')	...	२०
९—साधु साधकोंके लिये (पूज्यपाद स्वामी श्रीआत्मदेवकृष्णजी महाराज)	...	२१
१०—गृहस्थोंके लिये साधारण नियम	...	२२
११—अरोक्षाशान-साधन (संत स्वामी श्रीमहीदालजी)	...	२३
१२—ईश्वर-प्राप्तिका प्रायसिक साधन-विचार-शक्तिका विकास (स्वामी श्रीकृष्णमन्दजी महाराज)	...	२४
१३—कुछ साधनसम्बन्धी प्रश्नोत्तर (प्र० श्रीरामदासजी महाराज रामायणी)	...	२५
१४—संकीर्तनप्रेमियोंके प्रति (पूज्यपाद स्वामी श्रीकृष्णनन्दजी अवधूत)	...	२६
१५—प्रेम-साधन (बाबा श्रीरामदासजी महाराज)	...	२७
१६—कलिकालका परम साधन (स० श्रीअञ्जनी-नन्दनशरणजी)	...	२८
१७—प्रधान साधन (परमहंस स्वामी श्रीनारायण-दासजी गद्याराज)	...	२९
१८—जीवका प्रधान कर्तव्य (श्रीमत्परमहंस परिवाजकाचार्य महामण्डलेश्वर श्री १०८ स्वामी श्रीज्येन्द्रपुरीजी महाराज)	...	३०
१९—कीर्तनका सवित्रोप विवरण (श्रीमत् परमहंस परिवाजकाचार्य श्री १०८ स्वामी	...	३१
		१०२
श्रीभगवत्सानन्दजी महाराज महामण्डलेश्वर काव्यसांख्ययोगन्यायवेदवेदान्तीर्थ, वेदान्तवाचीश, सीमांसाभूषण, वेदरत्न, दर्शनाचार्य)	...	४०
२०—मोक्षका ऐष्ट साधन—ब्रह्मविद्या (श्रीमत्परमहंस परिवाजकाचार्य दार्शनिकसार्वभौम विद्यावारिधि न्यायमार्णिण्ड वेदान्तवाचीश श्रीस्वामी महेश्वरामन्दगिरजी महाराज महामण्डलेश्वर)	...	४१
२१—पूज्यपाद स्वामी श्रीगङ्गेश्वरानन्दजी महाराज महामण्डलेश्वरके उपदेश (प्रेषक-भक्त रामशरणदासजी)	...	५६
२२—नवधा भक्तिमें सर्वसाधनोंका समावेश (श्रीशारदापीठाधीश्वर श्रीमजगद्गुरु श्रीशंकराचार्य स्वामी श्रीस्वरूपानन्दजी तीर्थ)	...	५७
२३—वैदिक साधनात्मगत न्यायविद्या (पूज्यपाद व० शिं० स्वामी श्रीश्रीरामानुजाचार्यजी शास्त्री)	...	५९
२४—साधन भक्तिके चौंसठ अङ्ग (श्रीमत्प्रस्त्रदायाचार्य दार्शनिकसार्वभौम साहित्य-दर्शनाचार्य, तर्करत्न, न्यायरत्न, श्रीदामोदर्जी गोक्षवामी)	...	६०
२५—साधनाके चार सहायक (श्रीअरविन्द)	...	७२
(१) शास्त्र	...	"
(२) उत्साह	...	७४
(३) गुरु	...	७५
(४) काल	...	८१
२६—याद रक्खो	...	८१
२७—प्रेम-साधन (श्रीज्येन्द्रपुरीजी गोक्षनका)	...	८२
२८—अभय (महात्मा गांधीजी)	...	८५
२९—शक्तिपात-रहस्य (महामहीराध्याय ए० श्रीरोदी-नाथजी कविराज ए० ए०)	...	८६
३०—मृत्युसे अमृतशी ओर (प्र० श्री अक्षयकुमार यन्द्योपाध्याय ए० ए०)	...	९७
३१—साधनका स्वरूप (पण्डितप्रवर श्रीप्रसानन तर्करत्न भद्राचार्य)	...	१०२

पुष्ट-संख्या	पुष्ट-संख्या
३२—जौहीय वैष्णव-दर्शनमें अद्वैत ब्रह्मतत्त्व (महामहोपाध्याय पण्डित श्रीप्रमथनाथ तर्कभूषण)	४६—सहज साधन (प्रो० श्रीधरिन्द्रकृष्ण मुख्योपाध्याय एम० ए०) ***
३३—महापापीके उद्धारका परम साधन ***	४७—कलियुगी जीवोंके कल्पणाका साधन (श्रीजय- रामदासजी 'दीन' रामायणी) ***
३४—नववा भक्तिका सामान्य एवं सविशेष निरूपण (परमवैष्णव स्वामी श्रीकृष्ण- नन्ददासजी महाराज) ***	४८—श्रीप्रमथनामसाधन (श्रीस्वान्तःसुखाय)
३५—आवश्यक साधन (हनुमानप्रसाद पोहार)	४९—कीर्तनका सविशेष वर्णन (रायबहादुर पण्डित श्रीवैजनाथजी) ***
३६—कुछ उपयोगी साधन (श्रीजयदयालजी गोपन्दका) ***	५०—साधनका मनोवैज्ञानिक रहस्य (डॉ० श्रीदुर्गा- शङ्करजी नागर स० कल्पबृक्ष) ***
(क) अचिन्त्य ब्रह्मकी उपासना ***	५१—ईश्वर-दर्शनका साधन (प० पण्डित श्रीकृष्ण- दत्तजी शर्मा) ***
(ख) चराचररूप ब्रह्मकी उपासना ***	५२—मोक्षका मुख्य साधन—भक्ति (प० श्रीविनायक नारायण जोड़ी साखरे महाराज)
(ग) सहस्रब्रह्मकी उपासना ***	५३—अम्बुद्य और निःश्रेयसके साधन (श्रीनारायण स्वामीजी महाराज) ***
(घ) शब्दब्रह्मकी उपासना ***	५४—तत्त्वपदार्थ-शोधन (स्वामी श्रीप्रेमपुरीजी महाराज) ***
(ङ) निःस्वार्थ कर्म-साधन ***	५५—प्रगवान्के सम्बन्धमें साधनोंका सामर्थ्य ('कविशिरोमणि' देवर्थि भट्ट श्रीमथुरानाथ- जी शास्त्री) ***
(च) सेवा-साधन ***	५६—मधुर-सकी साधना (प० श्रीहजारीप्रसादजी द्विवेदी) ***
(छ) पञ्च महापात्र-साधन ***	५७—प्रेम-साधन (म० श्रीप्रेमप्रकाशजी) ***
(ज) विषय-हन्दरूप साधन ***	५८—संस्कार-साधना (डॉ० श्रीराजबलीजी पाढ़ेय एम० ए०, डी० लिट०) ***
(झ) महात्माओंका आज्ञापालनस्तरीय साधन	५९—जीवन सर्वोक्तुष्ट साधना है (श्रीश्रजमोहनजी मिहिर) ***
३७—सबसे पहली साधना (स्वामीजी श्रीतपीठन- जी महाराज) ***	६०—उदालककी साधना और समाधि (प० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी) ***
३८—साधनकी अनिवार्य आवश्यकता ***	६१—साधना (श्रीनलिनीमोहन सान्याल एम० ए०, भासात्त्वरक) ***
३९—साधकका परमवर्म (श्रीदादा धर्माचिकारीजी)	६२—त्याग और पवित्रता (रेवरेड आर्थर ई० मैसी)
४०—सदाचार-साधनकी परमावश्यकता (स्वामी- जी श्रीनारदानन्दजी महाराज) ***	६३—प्रणवोपासना (श्रीमोत्तीलाल रविशङ्करजी घोड़ा बी० ए०, एल-एल० बी०, वेदवेदान्त- वारिधि) ***
४१—योगचतुष्टय (एक एकान्तवासी महात्मा) ***	६४—सद्गुरु और शिष्य ***
(क) मन्त्रवेद ***	६५—दीक्षा और अनुशासन ***
(ख) हठयोग ***	६६—भूतचुद्धि ***
(ग) लययोग ***	
(घ) राजयोग ***	
४२—योगका सोपान (स्वामी श्रीशिवानन्दजी सरस्वती) ***	
४३—साधन-तत्त्व (आचार्य श्रीबालकृष्णजी गोस्वामी महाराज) ***	
४४—सच्ची साधना क्या है ? (डॉ० श्रीभगवान- दासजी एम० ए०, डी० लिट०) ***	
४५—साधनाका भनोवैज्ञानिक आधार (प० श्रीलल- जीरामजी शुक्र एम० ए०, बी० टी०) ***	

पृष्ठ-संख्या			पृष्ठ-संख्या		
६७-आदर्श-शानयोग (पं० श्रीरामचन्द्र कृष्ण कामत)	२१७	८१-साधक, साधना और साध्यका सम्बन्ध (त्याग-मूर्ति गोस्वामी श्रीगणेशादतजी महाराज)	२६०
६८-मन्त्रानुष्ठान (क) मन्त्रानुष्ठानके योग्य स्थान	२१७	८२-साधना और सिद्धि (स्थामी श्रीशुद्धानन्दजी भारती)	२६२
(ख) भोजनकी पवित्रता	२१८	८३-साधना और सिद्धि (स्थामी श्रीअसङ्गानन्दजी महाराज)	२७०
(ग) कुछ आवश्यक चावें	२१९	८४-साधनाको गुप्त रखनेका महत्व (डा० शिवानन्द सरस्वती एम्० ए०)	२७४
(घ) जपकी महिमा और भेद	२२०	८५-साधना (श्रीकृष्णाद्वारा उमियाश्वर)	२७६
(च) मन्त्रमें सूलक और मन्त्रसिद्धिके साधन	२२०	८६-साधना-विश्लेषण (पं० श्रीरामभिनवासी शर्मा 'सौरभ')	२८०
६९-मन्त्र-साधन (क) मन्त्र और सिद्धादि-साधन	२२२	८७-जपयोगका वैज्ञानिक आधार (पं० श्रीभगवान-दातजी अवस्थी एम्० ए०)	२८३
(ख) मन्त्र-चैतन्य	२२३	८८-आत्मतत्त्व विद्यातत्त्व शिवतत्त्व तुरीयतत्त्व (श्रीकृष्ण काशीनार्थ शास्त्री)	२८६
(ग) मन्त्रार्थ	२२४	८९-मध्यम मार्ग (श्रीसुद्धार्ण)	२८९
(घ) मन्त्रोंकी कुललक्षण	२२९	९०-शक्तिपतसे आमसाधाकार (श्रीचामन दत्तजीवे गुलबणी)	२९६
(च) मन्त्रसेतु	२२९	९१-शक्तिपात और दीक्षा (एक जिज्ञासु)	३०२
(छ) महासेतु	२२९	९२-शक्तिपात और कर्मसाम्य, मल्पाक तथा पतन (मनोविनोदाय)	३०३
(ज) निर्बाण	२२९	९३-हस्तरहित रहस्य (प्रलाप)	३०५
(झ) मुखशोधन	२३०	९४-प्रहासिद्धि, गुणहेतुसिद्धि, क्षुद्रसिद्धि और परमसिद्धि (पं० श्रीरामचन्द्र कृष्ण कामत)	३०६
(ट) प्राणयोग	२३०	९५-पञ्चभूतोंकी धारणा	३०९
(ठ) दीपती	२३१	९६-पञ्चामि-विद्या (पं० श्रीहृषीलीलालजी शर्मा संबल्योगाचार्य, विद्याधुरीण, विद्यासामार)	३११
(ड) मन्त्रके आठ दोष	२३१	९७-मीमा और नीराके पवित्र सङ्क्रमणपर (शान्त)	३१२
(ढ) मन्त्र-सिद्धिके उपाय	२३१	९८-साधन-समीक्षा (साधु प्रश्नानाथजी)	३२०
७०-मन्त्रोंके दस संस्कार (पं० श्रीहरिरामजी शास्त्री 'भारतेंडु' विद्यन्दुडामणि)	२३२	९९-साधना-तत्त्व (पं० श्रीहृषीमान्दजी शर्मा)	३२७
७१-माला और उसके संस्कार	२३४	१००-वैदिक कर्म और ब्रह्मशान (श्रीवस्तन्तकुमार चट्टानी एम्० ए०)	३२९
७२-पूजाके विविध उपचार	२३५	१०१-न्यासका प्रयोग और उसकी महिमा	३३२
७३-श्रीभगवानके रूपादिका चिन्मन्त्रत्व (पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज एम्० ए०, आचार्य, शास्त्री)	२४०	१०२-तत्त्वमें गुरु-साधना (डा० भवानीदासजी मेहरा०, बी० एस्-सी०, एल० एस्०, एम्० एफ०)	३३२
७४-योगनिद्रा (पं० श्रीविजयानन्दजी विपाठी)	२४२	१०३-दिव्य चतुर्का उत्तमीलम (श्रीविचत्रुत्स्वरूपजी)	३३४
७५-अष्टपात्र (अष्टापक पं० श्रीविजयानाथजी शर्मा)	२४४	१०४-मन ही साधन है (श्रीचक्रपणि)	३३५
७६-साधकोंके कुछ दैनिक कृत्य	२४८	१०५-साधन और साधना (श्रीरामचन्द्र कृष्ण कामत)	३३६
७७-आत्मशानकी प्रतिमें श्रौतकर्मोंका उपयोग (पं० श्रीरामपतिजी मिश्र)	२५४	१०६-साधन-समीक्षा (साधु प्रश्नानाथजी)	३३८
७८-साधन-तत्त्व (श्रीतारामचन्द्रजी पाण्ड्या)	२५६	१०७-साधन-तत्त्व (पं० श्रीहृषीमान्दजी शर्मा)	३३९
७९-सब साधनोंका तार (श्रीसुद्धार्णसिंहजी)	२५७	१०८-साधन-तत्त्व (श्रीविचत्रुत्स्वरूपजी)	३४०
८०-साधनाकी उपासना (पं० श्रीनरदेशजी शास्त्री, वेदतीर्थ)	२५८	१०९-दिव्य चतुर्का उत्तमीलम (श्रीविचत्रुत्स्वरूपजी)	३४२

	पुष्ट-संख्या		पुष्ट-संख्या
१०५—साधन-रहस्य-साधन (श्रीमुदामृ वैदर्घ्यी)	३४४	१२७—तान्त्रिक साधन (श्रीदेवेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय बी० ए०, काष्ठतीर्थ)	३०० ४२१
१०६—अनाहत नाद (स्वामी श्रीनवानन्दजी सरस्वती)	... ३४७	१२८—श्रीबल्लभसम्प्रदायसम्मत साधना (देवर्षि पं० श्रीरमानाथजी शास्त्री)	... ४२६
१०७—साधनाकी एक ज्ञानी ...	३४८	१२९—श्रीचैतन्य और रामानुगा भक्ति (प्रसुपाद श्रीगणकियोग गोस्वामी एम० ए०, विद्याभूषण)	... ४३२
१०८—अमृत-कला (यो० श्रीपाद्मनाथजी)	३५२	१३०—प्रेम-साधना (प० या० श्रीभोलानाथजी महाराज)	४३५
१०९—महापुरुषपूजा (शास्त्रवाचस्पति डा० भ्रमदत्तजी शास्त्री, एम० ए०, पी-एच-डी०, बी० एस-स्टी० विद्यासागर)	३५४	१३१—प्रत्याहार-साधन (प० प० श्रीश्रीभगवान् विवरामकिंकर योगव्रथानन्द स्वामीजी)	... ४४७
११०—शरणगति-साधन (पं० श्रीराजमङ्गलनाथजी त्रिपाठी एस० ए०, एल-एल० बी० लाहित्याचार्य)	३५६	१३२—निराकार-उपासनाका साधन (पु० पं० श्रीहारिनारायणजी बी० ए०, विद्याभूषण)	... ४४८
१११—साधन-सत्य (डा० हरिहरनाथजी दुकू, एम० ए०, डी० लिट०)	... ३५७	१३३—इस दुर्गाकी साधना (श्रीयुत नलिनीकान्त गुप्त)	४५२
११२—इन्द्रादि देवोंकी उपासना (ग० नि० परम-ईश परिवाजकाचार्य श्रीमद्विष्णुस्वामी शिवानन्दजी सरस्वती)	... ३५७	१३४—पञ्चदेवोपासना (पं० श्रीहनूमान्ती शर्मा)	४५४
११३—इन्द्रादि देवोंकी उपासना	... ३६२	१३५—ईश्वरप्राप्तिके वैदिक साधन (महामहोपाध्याय पं० श्रीसकलनारायणजी शर्मा)	... ४६३
११४—इन्द्रादि देवोंकी उपासना (मुखिया श्रीविद्यासागरजी)	... ३६५	(क) उड्डीयविद्या	... "
११५—साधनाका प्रथम पाद (श्रीदेवराजजी विद्यावाचस्पति)	... ३६८	(ख) कंबर्यविद्या	... "
११६—माया, महामाया तथा योगमायाका भेद (यो० श्रीपारसनाथजी)	... ३६९	(ग) मधुविद्या	... ४६४
११७—सत्यसाधन (वेदाचार्य पं० श्रीवंशीधरजी मिश्र 'धीर्माणशास्त्री')	... ३७२	(घ) पञ्चामिविद्या	... "
११८—साधना और नरी (कुमारी श्रीशान्ता शास्त्री)	३७३	(छ) उपकोसलकी आत्मविद्या	... "
११९—संततमतमें साधना (श्रीसम्पूर्णनन्दजी)	... ३७७	(छ) शापिण्डल्यविद्या	... ४६५
१२०—संतोंकी सहज-शृंख्य-साधना (आचार्य श्रीक्षितिमोहन सेन शास्त्री एस० ए०)	३८४	(ज) दद्हरविद्या	... "
१२१—श्रीमद्वाग्नवत्की साधना (सेठ श्रीकन्हैया-लालजी पोद्दार)	... ३८६	(झ) भूमविद्या	... "
१२२—भागवती साधना (पं० श्रीबल्देवजी उपाध्याय एम० ए०, लाहित्याचार्य)	... ३९१	(ट) दीर्घायुषविद्या	... "
१२३—श्रीभगवान्के पूजन और स्थानकी विधि	३९३	(ठ) मन्यविद्या	... ४६६
१२४—गीतामें तत्त्वों, साधनों और सिद्धियोंका सम्बन्ध-साधन (दीचान बहादुर के० एस० रामस्वामी शास्त्री)	... ३९५	१३६—दद्हरविद्या (महामहोपाध्याय डा० श्रीगङ्गानाथजी शा एम० ए०, डी० लिट०, एल-एल० डी०)	... ४६६
१२५—गीतोक साधन (पं० श्रीकलापरजी त्रिपाठी)	४००	१३७—दद्हरविद्या-विमर्श (पं० श्रीश्रीधराचार्यजी शास्त्री, बी० भू०, बै० ती०, का० ती०, बै० शि०)	४६८
१२६—प्राणशक्तियोग और परकायप्रवेशविद्याका पूर्वरूप (पं० श्रीव्यक्त भास्कर शास्त्री सरे)	४०४	१३८—दद्हरविद्या (पं० श्रीलक्ष्मण नारायणजी गर्दे)	४७३
		१३९—उपकोसल-विद्याका रहस्य (श्रीनरसिंहाचार्यजी वरखेडकर)	... ४७७
		१४०—शापिण्डल्यविद्या (श्रीश्रीधर मजूसदार, एम० ए०)	... ४७९
		१४१—तान्त्रिक दृष्टि (महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपी-नाथजी कविराज एम० ए०)	... ४८०
		१४२—तान्त्रिक साधना (श्रीउपेन्द्रचन्द्र दत्त)	... ४९४

	पृष्ठ-संख्या		पृष्ठ-संख्या
१४३—साधना (महात्मा श्रीदलकरमजी विनायक)	४९७	१६७—साधना (स्वामीजी श्रीभूमानन्दजी महाराज)	५९८
१४४—विविध साधन (श्रीहरिकृष्णजी अडाना प्रेम)	५००	१६८—तत्त्वज्ञी प्रामाणिकता (व० श्रीहारामचन्द्र भट्टाचार्य)	६०४
१४५—साधन क्या ? (साहित्याचार्य ए० श्रीविरसगि-		१६९—कल्याण-साधन (श्रीस्वामी सन्तप्रसादजी उदासीन)	६०५
श्राद्धजी उपाध्याय ए०० ए००, ए००-ए०० बी०)	५११	१७०—अधिविद्या (व० श्रीहरिदत्तजी शास्त्री, वेदान्ताचार्य)	६०६
१४६—साधना—आँखिमिचौलीनीका खेल (श्री पी० एन० शहूरनारायण ऐय)	५१५	१७१—आत्मोक्ततिका एक साधन—विचार (श्री-भोगीन्द्रधार नानालाल वैद्य, बी० ए०, बी० टी०)	६०७
१४७—वज्रधा भक्ति (प्र० श्रीगिरीन्द्रनारायण मलिक ए०० ए००, बी० ए००)	५१७	१७२—साधन-पथ (श्रीविन्दुजी ब्रह्मचारी)	६०९
१४८—नवधा भक्ति (सेठ श्रीकन्दैयालालजी पोदार)	५२२	१७३—परमोङ्गल साधन (पण्डितप्रबर श्रीद्वारका-प्रसादजी चतुर्वेदी)	६१५
१४९—भक्तिका स्वरूप	५३२	१७४—सहज साधन (श्रीबद्रीदासजी महाराज वानप्रस्थी, वेदान्तभूषण)	६१८
१५०—साधन-भक्तिके चौसठ अङ्ग	५३६	१७५—सर्वोच्च साधनके लिये एक बात (प० स्वामी श्रीपाठुलशार्यजी शास्त्री)	६२०
१५१—सेवा परापर और नामापरापर	५३८	१७६—एक जिज्ञासुके प्रभोत्तर (रायसाहेब श्रीकृष्णलालजी बापणा)	६२२
१५२—अटपटा साधन-प्रेम (प० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)	५४०	१७७—पट्टकर्म (श्रीकमलाप्रसादसिंहजी)	६२४
१५३—वर्णाश्रमसाधनका तत्त्व (प्र० श्रीअक्षयकुमार बन्द्योपाध्याय ए०० ए०)	५४३	१७८—छच्ची साधना और उसका मुख्य ध्येय (प० श्रीदमोदरजी उपाध्याय)	६२१
१५४—एहसासके लिये पञ्चमहायज्ञ (प्र० श्रीसत्येन्द्र-नाथ सेन ए०० ए००, धर्मरत्न)	५५१	१७९—बौद्ध सिद्धोंकी साधना (प० श्रीपरशुरामजी चतुर्वेदी ए०० ए००, ए००-ए०० बी०)	६३२
१५५—एहसासके पञ्चमहायज्ञका विवरण (प० श्रीविणी-शर्मजी शर्मा गौड)	५५४	१८०—बौद्ध-साधन (डा० श्रीबिन्द्रनाथ भट्टाचार्य ए०० ए००, पी-ए०० बी०)	६३६
१५६—प्राणशक्ति और मनःशक्तिका साधन (स्वामी श्रीधृतिमन्दजी सरसवती)	५५८	१८१—बौद्ध-मूर्तितत्त्व (श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी ए००)	६३८
१५७—साधनाके गमीर स्तर (श्रीमेहर बाबा)	५६२	१८२—सिद्धिसाधक साधनाकी संक्षिप्त रूप-रेखा (व्या० वा० आचार्यदेव श्रीमद्विजयरामचन्द्र त्वरी-शर्मजी महाराज)	६४१
१५८—साधन और उसकी प्रणाली (महामहोपाध्याय प० श्रीसीतारामजी शास्त्री)	५६७	१८३—जैनसम्प्रदायके साधन (श्रीनरेन्द्रनाथजी जैन)	६५२
१५९—कल्याणका साधन-संख्य (शानतपत्ती श्रीभीतानन्दजी शर्मा)	५७०	१८४—जीवन-सिद्धिका मर्मा (श्रीजियमगवानजी जैन बी० ए००, ए००-ए०० बी०)	६६६
१६०—शीताकी साधना (डॉ० एस० क०० मैत्र, ए०० ए००, पी-ए०० बी०)	५७४	१८५—जरथुषुष्मांसकी साधना (श्रीकौरोज कावसजी दावर ए०० ए००, ए००-ए०० बी०)	६७२
१६१—इन्द्रायनकी प्रेम-साधना (बहिन श्रीहेन्द्रा तत्यवर्जी)	५८१	१८६—जरथुषुष्मांसकी अग्निउपाधना (श्रीनरीमान शोरावजी गोलवला)	६७४
१६२—मेरा-त्वय (सौ० बहिन इन्दुमति ह०देवाईजी)	५८४		
१६३—साधन-तत्त्व (श्रीअप्रबुद्ध)	५८६		
१६४—साधन-तत्त्व (श्रीज्ञालाप्रसादजी कानोदिया)	५८८		
१६५—इस युगका एक महासाधन (श्रीज्येन्द्रराय भगवानलाल दूर्काल ए०० ए००, विद्यावारिधि-घर्म-विनोद)	५९१		
१६६—विचार-साधन (श्रीमत्स्वामी छङ्करतीर्थजी महाराज)	५९३		

	पृष्ठ-संख्या		पृष्ठ-संख्या
१८७—वेदसे कामना-साधन (पं० श्रीगोपालचन्द्रजी मिश्र गौड़ वेदशास्त्री, वेदरक)	६७८	२०३—वैष्णवोंकी द्वादशशुद्धि	७२३
१८८—श्रीस्वामिनारायणसम्प्रदायमें उपासना (पं० श्रीनरायणजी शास्त्री, तर्क-वेदान्त-मीमांसा-संलग्नतीर्थ)	६७९	२०४—स्वरोदय-साधन (पं० श्रीतडिकान्तजी वेदालङ्घार, साहित्यमनीषी)	७२३
१८९—श्रीस्वामिनारायणके मतानुसार साधन (वेदान्त-तीर्थ साल्ययोगरक पं० श्रीक्षेत्रवेकुण्ठ शास्त्री)	६८०	२०५—सधोत्तम साधन—जनसेवा (पं० श्रीकिशोरी-दासजी चाजपेड़ी)	७२५
१९०—थियातीकी साधना (श्रीहरिनन्दनाय दत्त एम० ए०, चौ० एल०, वेदान्तरक)	६८१	२०६—आरोग्य-साधन (राजज्यो० पं० श्रीमुकुन्द-बलमजी मिश्र ज्यौतिषाचार्य)	७३६
१९१—थियातीकी उपासना-पद्धति (रायवहाड़ुर पण्डित वैदेनाथजी, चौ० ए०, एफ० टी० एस०)	६८२	२०७—साधनाका मध्यात्मार्थ—सेवा (पं० श्रीधर्मदेवजी शास्त्री, दर्शनकेसरी, दर्शनभूषण, संल्य-योग-वेदान्त-नायतीर्थ)	७३७
१९२—सूक्षियोंका साधना-मार्ग (डा० एम० हाफिज़ सैयद मुहम्मद एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट०)	६८३	२०८—आजकी साधना (वावा श्रीराधवदासजी)	७३९
१९३—सूक्षियोंकी साधना (श्रीचन्द्रबलिजी पाण्डेय एम० ए०)	६८४	२०९—लक्ष्मी-साधन (पं० श्रीदयाशङ्करजी दुबे, एम० ए०, एल-एल० चौ०)	७४१
१९४—इस्लामधर्मकी कुछ बातें और दिया-सुचियोंका भेद (श्रीभगवतीप्रसादरिंहजी एम० ए०)	६९३	२१०—साधक और स्थिरता (श्रीमगवानदासजी केळा)	७४२
१९५—सन्तुष्ट कवीरसाधकी सहज साधना (श्रीषमर्तिकारी महन्त श्रीभगवत्तारदासजी साहब शास्त्री)	६९५	२११—श्रीअरविन्दकी योगसाधनपद्धति और मानव-संस्कृतिका समन्वय (श्रीअम्बालाल पुराणी)	७४४
१९६—कवीरसाधकी 'भाव-भगति'का रहस्य (पं० श्रीपरशुरामजी चतुर्वेदी एम० ए०, एल० एल० चौ०)	६९६	२१२—जनवहोंकी उपासना	७५०
१९७—श्रीदादूद्यालाके मतानुसार साधन (पु० श्रीहरिनारायणजी चौ० ए०, विद्याभूषण)	७००	२१३—शरीर, वाणी और मनके दोषोंका त्याग करो	७५४
१९८—प्रेम-साधन (श्रीमच्छिजानन्दसंप्रदायायाद्यर्थ-पीठाचीक्षण घर्मेतुरीग आचार्य श्रीधनीदासजी महाराज 'सद्गुरुरेक')	७०८	२१४—हनुमत-उपासना (पं० श्रीहनूमजी शर्मा)	७५४
१९९—श्रीराधावल्लभी सम्प्रदायमें साधन (श्रीहित रणछोड़लजी गोस्लामी)	७१०	२१५—साधन और इष्टप्राप्ति (यो० श्रीउमेशाचन्द्रजी)	७५७
२००—श्रीरामजी-सम्प्रदायकी उपासनापद्धति (दैवतपत्र स्वामी श्रीमनोरथरामजी रामलेही, शास्त्री, साहित्यभूषण)	७१०	२१६—साधनकी साध (श्री 'ज्यवराम')	७५९
२०१—विजयकृष्ण-कुलदानन्दकी नाम-साधना (श्रीनरेश ब्रह्मचारी)	७१५	२१७—योजन-साधन	७६१
२०२—उदाधीन सम्प्रदायका साधन-विधान (श्रीमत् परमहेंस परिवाजकाचार्य उदाधीनवर्य श्री-पण्डित स्वामी हरिनामदासजी महाराज)	७२१	२१८—हंस (श्रीआत्मारामजी देवकर)	७६२
		२१९—प्रशु-प्राप्तिके साधन (भावा श्रीगायत्री देवी काक)	७६४
		२२०—व्याम-साधन (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	७६५
		२२१—चार अनमोल उपदेश (एक ब्रह्मचारीकी दारा)	७६९
		२२२—मक्ति-साधन (वैष्णवाचार्य महेत श्रीस्वामी श्रीरामदासजी महाराज)	७७२
		२२३—सरल नाम-साधन	७७५
		२२४—त्याग-साधन (सत्य घटना)	७७६
		२२५—कामके दब्र (गोपीभावका साधन)	७७९
		२२६—शरण-साधन	७८५
		२२७—शिव-तत्त्व और शैव-साधन	७८६
		२२८—शक्ति-तत्त्व और शक्ति-साधन	७८८
		२२९—नाम-साधन (श्रीभागव बासुदेव खांबेटे)	७८९
		२३०—विभिन्न देवताओंके मन्त्र	७९०
		२३१—क्षमा-याचना	७९२

कविता

	पृष्ठ-संख्या		पृष्ठ-संख्या
१—सच्ची साधना (श्रीअयोध्यासिंहजी उग्राथाय ‘हरिलोध’) ३	३—चारों कुओंका एक ही साधन [नाम-जपकी महिमा] (रचयिता—श्रीशेषो घोडो हुंसुरशाव अनु—पं० श्रीरामनारायणदत्त, पाण्डेय नाम) १९६	
२—सत्य-साधना [प्रेम-धर्मकी रीति] (श्रीसुरज- चन्द्रजी सत्यप्रेमी) ११९	४—शरण-साधना (पु० श्रीप्रतापनारायणजी कविरत्न) २७३

संकलित

१—कल्याणकारी सङ्कल्प (यशुवैद-संहिता)	... २	२१—गोविन्दके गुण गाओ (दाढूजी)	... ३६७
२—जैसा संग वैसा रंग (महाभारत)	... ७	२०—सोते क्यों हो ? (कवीर)	... ३६८
३—कव न बोले (महाभारत)	... १७	२१—लखी रोटी अच्छी (कवीर)	... ३७२
४—त्यागके समान सुख नहीं (महाभारत)	... ७१	२२—प्रार्थना (कवीर)	... ३८५
५—नामका प्रताप (पल्टू)	... १३८	२३—भजनमें जलदी करो (पल्टू)	... ३९२
६—शरीरकी गति (कवीर)	... १५१	२४—काम (चरनदासजी)	... ४२०
७—हरिकी आशा करो (रैदास)	... १६४	२५—विनय (तुलसीदासजी)	... ४२५
८—भगवान्नका विरह (दरिया साहेब)	... १६४	२६—शोकादि कवक्त रहते हैं ? (श्रीमद्भागवत)	... ४३१
९—राम-राम कहो (मलूकदासजी)	... १६८	२७—सच्ची बानी (पल्टू)	... ४३५
१०—नामका प्रकाश (पल्टू)	... १७९	२८—बिना गुरुका साधक (पल्टू)	... ४३३
११—सत्ये गुरुदेव (सुन्दरदासजी)	... १९५	२९—किस कार्यके लिये किस देवताकी उपासना	
१२—राम बिना सभी बेकार हैं (तुलसीदासजी)	... २०५	करनी चाहिये (श्रीमद्भागवत)	... ४६२
१३—राम-ही-राम (सुन्दरदासजी)	... २१३	३०—सदा सुहागन (मलूकदासजी)	... ४६७
१४—हरिका विरह (दयावाई)	... २१६	३१—सिद्ध पुरुषकी स्थिति (पल्टू)	... ४७२
१५—रामके सम्मुख हो रहो (दरिया साहेब)	... २२१	३२—यह सौदा करो (गरीबदासजी)	... ४७६
१६—सत्यकी महिमा (कवीर)	... २३१	३३—कौन देश परिच है ? (श्रीमद्भागवत)	... ५१४
१७—तेरा यिन्द्राच कुछ न चलेगा (सुन्दरदासजी)	... २३६	३४—मनपर विश्वास न करो (श्रीमद्भागवत)	... ५१६
१८—नदी-नाव-संयोग (दूलनदासजी)	... २५६	३५—भगवान्नको जीवन समर्पण करनेवाला चाण्डाल	
१९—राम भजता है, वही धन्य है (भीखा साहेब)	... २५७	भी बाधणसे ब्रेष्ट है (श्रीमद्भागवत)	... ५३१
२०—रामनामकी महिमा (तुलसीदासजी)	... २६१	३६—हरिनाम-उच्चारणका फल (श्रीमद्भागवत)	... ५३७
२१—नाम बिना सब दुख है (चरणदासजी)	... २७२	३७—जीवोंका परम धर्म क्या है ? (श्रीमद्भागवत)	... ५३९
२२—राम रहा है (दाढूजी)	... २८५	३८—सभमें स्थित भगवान्नका तिरस्कार न करो !	
२३—राम-नाममें देखा चित्त लो (गुलाल साहेब)	... २८८	(श्रीमद्भागवत)	... ५५७
२४—लालच (रैदास)	... ३०८	३९—करनेयोग्य (श्रीरूपगोत्कामी)	... ५६८
२५—नीचे बनो (कवीर)	... ३१९	४०—मनुष्यपात्रके तीस धर्म (श्रीमद्भागवत)	... ५६०
२६—नाम और प्रेम (दरिया साहेब)	... ३३६	४१—प्रेमलिंगा भीरा (भीरावाई)	... ५६१
२७—शरीरका गर्व न करो (मलूकदासजी)	... ३५३	४२—कौन इन्द्रिय किस काममें लगे ?	
२८—शोभासिन्धु (सुरदासजी)	... ३६१	(श्रीमद्भागवत)	... ५६६

	पृष्ठ-संख्या		पृष्ठ-संख्या
५३—सेतोंकी प्रत्येक चैदा लोककल्याणके लिये होती है ! (श्रीमद्भागवत)	... ५७३	६४—मृत्यु बाधिनकी तरह पकड़कर ले जाती है (महाभारत)	... ६७३
५४—विनय (सूरदासजी)	... ५८५	६५—प्रेमी अनोखी छवि (सूरदासजी)	... ६९९
५५—सर्वमय भगवान् को प्रणाम करो (श्रीमद्भागवत)	५९७	६६—एक ही शत्रु है (महाभारत)	... ७०७
५६—यहस्य क्या करे ? (महाभारत)	... ६०६	६७—दूसरेके पुत्रोंको कौन प्रहण करता है ? (महाभारत)	... ७२२
५७—गर्वे न करो—काल सबको खा जाता है (महाभारत)	... ६०६	६८—सन्तोष ही परम धन है ! (महाभारत)	... ७४३
५८—धैर्य भगवत कौन है ? (श्रीमद्भागवत)	... ६०८	६९—छः महीनमें ब्रह्मप्रसिके साधन (महाभारत)	७५८
५९—महान् यशको कौन प्राप्त होते हैं ? (महाभारत)	... ६१०	७०—मुक्ति कौन पाता है ? (महाभारत)	... ७६२
६०—ब्रह्मवेत्ता मुनि कौन है ? (महाभारत)	... ६१६	७१—बन्दे मातरम्	... ७६३
६१—विनय (तुलसीदासजी)	... ६१७	७२—बोलीके बाण मत मारो (महाभारत)	... ७६४
६२—प्रेमसाधनाके साध्य (सूरदासजी)	... ६२५	७३—देवता सदा किसपर प्रीति करते हैं ? (महाभारत)	... ७७५
६३—रासमें कामविजय (सूरदासजी)	... ६२१	७४—किस देशमें रहे और किसको छोड़ दे (महाभारत)	७८७

चित्र-सूची

सुनहरी

१—दोभासिन्दु (बहिन अनसूयादेवी)	... ३६९
२—पञ्चदेव (पं० श्रीदृष्ट्यानजी शर्माकी कृपासे प्राप्त)	४६७
३—शिव ।	
४—विष्णु ।	
५—शक्ति ।	
६—नारेश ।	
७—सूर्य ।	
८—जगजननी श्रीराधा (श्रीजगन्नाथ)	... ५०८
९—सूरदासकी साधना (")	... ५८५
१०—प्रेमसाधनाके साध्य (बहिन चन्द्रकलादेवी)	६२५
११—प्रेमकी अनोखी छवि (बहिन उमिलादेवी)	६९९

बहुरो

७—भगवत्यासिके विभिन्न मार्ग (श्रीजगन्नाथ)	मुख्यपृष्ठ
८—श्रीमहाभगवत् (")	आरम्भमें
९—बिहारीलाल	(") १
१०—श्रीदक्षिणामूर्ति	(श्रीविनयकुमार मिश्र) ५६
११—श्रीलक्ष्मीदेवी	(श्रीजगन्नाथ) ६५

१२—माल्वनप्रेमी	(श्रीजगन्नाथ)	१४०
१३—बालमुकुन्द मौकी गोदमें	(")	"
१४—बृशीका चमत्कार	(")	१७३
१५—नवदुर्गा—१	(")	१९९
१६—शैलपुत्री ।		
१७—ब्रह्मचारिणी ।		
१८—चन्द्रघटा ।		
१९—श्रीनृसिंहदेव	(")	२२८
२०—लक्ष्मी-पृथ्वीसहित भगवान् विष्णु (")		२३७
२१—चौबीस अवतार—१	(")	२४०

१—सनकुमार ।
२—वाराह ।
३—नारद ।
४—नर-नारायण ।
५—कपिलदेव ।
६—दत्तात्रेय ।
७—यशपुरुष ।
८—शृष्टपरदेव ।
९—राजा पृथु ।
१०—मत्स्य ।

११—कूर्म ।		७—श्रीराम ।
१२—चन्द्रमन्तरि ।		८—श्रीकृष्ण ।
१३—गायत्री (श्रीजग्नाथ)	२५३	९—हयग्रीव ।
१—ग्रातःकालका स्वरूप ।		१०—हरि ।
२—मध्याह्नका स्वरूप ।		११—बुद्ध ।
३—सायंकालका स्वरूप ।		१२—कलिक ।
२०—काली (श्रीविनयकुमार मित्र)	२७६	३४—श्रीसरस्वती देवी (श्रीजग्नाथ) ६०२
२१—बुद्धकी साधना (श्रीशारदा उकील)	२८९	३५—तुलसीदातकी साधना (") ६१७
२२—कैलासवासी शिव (बहिन सौदामिनीदेवी)	३१६	३६—राघमें कामविजय (श्रीकन्तु देसाई) ६५१
२३—बालमोपाल (श्रीजग्नाथ)	३८६	३७—नारायण (श्रीविनयकुमार मित्र) ... ७३८
२४—श्रीसीताराम (श्रीविनयकुमार मित्र)	४०३	३८—नवग्रह (") ... ७५२
२५—तुलसीदातकी साधना (श्रीजग्नाथ)	४२५	३९—परमगुरु मासति (श्रीजग्नाथ) ... ७५४
२६—श्रीचैतन्यकी भाव-साधना (श्रीशारदा उकील)	४३२	४०—भारतमाता (श्रीविनयकुमार मित्र) ... ७६३
२७—नवदुर्गा—२ (श्रीजग्नाथ)	४८०	४१—पञ्चमुख महादेव (") ... ७६८
१—कूम्भाण्डा ।		४२—श्रीराधा-कृष्ण (श्रीजग्नाथ) ... ७७९
२—स्कन्दमाता ।		
३—कात्यायनी ।		
२८—नवदुर्गा—३ (") ४९६		४३—श्रीकृष्णध्यान नं० १-२ (श्रीब्रजेन्द्र) ... २९
१—कालरात्रि ।		४४— " ३-४ (") ... ४१
२—महावौरी ।		४५— " ५-६ (") ... ४२
३—सिद्धिदात्री ।		४६— " ७-८ (") ... ३९४
२९—पौत्र प्रकारके भक्ति-रस (") ५१७		४७—जीवका प्राणमय शरीर ... ४०६
१—श्यान्त ।		४८—प्राणमय शरीरका अणुमय दश्य ... ४०६
२—दास्य ।		४९—प्राणमय शरीर ... ४१५
३—सर्व ।		५०—चीनदेशके साधु ... ४११
४—वात्सल्य ।		५१—प्राणमय शरीरका आवरण ... ४१७
५—मधुर ।		५२—प्राणमय शरीरकी स्थिति ... ४१७
३०—भगवान् विष्णु (") ५२६		५३—ध्यानी बुद्ध रक्तसम्पव ... ६३८
३१—पञ्च महायज्ञ (") ५२२		५४—ध्यानी बुद्ध अभिताम ... ६३८
३२—प्रेमचित्ता भीरा (श्रीकन्तु देसाई) ५६१		५५—ध्यानी बुद्ध अमोघसिद्धि ... ६३८
३३—चौमीस अवतार—२ (श्रीजग्नाथ) ५७२		५६—ध्यानी बुद्ध अशोभ्य ... ६३८
१—प्रोहिनी ।		५७—प्रसापारमिता देवी ... ६४०
२—नृसिंह ।		५८—बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर ... ६४०
३—वामन ।		५९—श्रीकृष्णध्यान नं० १-१० (") ६८१
४—परशुराम ।		६०— " ११-१२ (") ७१३
५—व्यास ।		६१—श्रीमहाकाली (श्रीदेवलालीकर) ७९०
६—ईस ।		६२—श्रीमहालक्ष्मी (") ७९०
		६३—श्रीमहासरस्वती (") ७९०

५० पूर्णिमा : पूर्णिमा पूर्णिमामुदक्षाते ।
पूर्णिमा पूर्णिमादाय पूर्णिमावर्धमाते ॥



कह कल्याण

मन्मना भव मद्भक्ती मद्याजी माँ नमस्करु ।
मायेवैष्णवि मत्यं ते ग्रन्तिजाने प्रियोऽसि मे ॥ (श्रीमद्भगवद्गीता १८।६५)

वर्ष १५

गोपनीयपुरुष, अगस्त १०४० सार श्रावण १००७

मंस्त्वा ?

पृष्ठ मंस्त्वा १५०

त्रयी यांखयं योगः पशुपतिमनं वैष्णवमिति
प्रभिन्नं प्रथानं परमिदमदः पश्यमिति च ।
रुचीनां वैचित्र्यादजुकुषिलनानापथजुणो
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पश्यसमर्णव इव ॥

हे प्रभो ! त्रयी (वेदमार्ग), मांख्य, योग, पाशुपत मन, वैष्णव मन समीं
आपकी प्राप्तिके ही मार्ग हैं । रुचि-वैचित्र्यके कारण ही यह श्रेष्ठ है, वह
हितकारी है । इस प्रकार उनमें प्रथक्ता प्रतीत होती है । हे प्रभो ! जैसे
समस्त नदी-नालोका जल समुद्रमें ही जाना है, वैसे ही गीते-टेहं सभी साधन-
मार्गोंसे यत्रा करनेवाले सभुधोंके गन्तव्य स्थान एकमात्र आप ही हैं ।

कल्याणकारी सङ्कल्प

यज्ञाप्रती दूरमुद्देति देव
 तदु सुप्रस्तु तर्थेति ।
 दूरमन् यज्ञोतिष्ठा यज्ञोतिरेकं
 तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

जो जागरो हुए पुष्टका दूर चला जाता है और सेते
दुप पुष्टका वैमे ही निकट आ जाता है, जो परमात्माके
साक्षात्कारका प्रधान साधन है, जो भूत भवित्व बर्तमान,
सच्चिदात्मा और व्यवहित पदार्थोंका एकमात्र ज्ञाता है और जो
तिप्रयोगका ज्ञान प्राप्त करनेवाले श्रीम आदि इन्द्रियोंका
एकमात्र प्रकाशक और प्रबर्तक है, मेरा यह मन कल्याणकारी
भगवत्सम्बन्धी सङ्कल्पमें युक्त हो ॥१॥

येन कर्मण्यपयो भर्तीष्ठिणो
 यज्ञं कृष्णनिति विद्येत्तु वीराः ।
 यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां
 तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

कर्मनिति एवं धीर विद्वान जिसके द्वारा यज्ञप यज्ञोंका
ज्ञान प्राप्त करके यज्ञमें कर्मोंका विस्तार करते हैं, जो इन्द्रियों
का पूर्वज अथवा आत्मव्यरूप है, जो पूज्य है और समस्त
प्रजाके हृदयमें निवास करता है, मेरा यह मन कल्याणकारी
भगवत्सम्बन्धी सङ्कल्पमें युक्त हो ॥२॥

यरप्रज्ञानसु चेतो धत्विष्ठ
 यज्ञोतिरित्वतस्मृतं प्रजासु ।
 यस्मात् जहते किञ्चन कर्म किञ्चते
 तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

जो विद्यों प्रकारके ज्ञानका कारण है, जो सामान्य
ज्ञानका कारण है, जो धैर्यस्त्रय है, जो समस्त प्रजाके हृदयमें
रहने वाली समस्त इन्द्रियोंको प्रकाशित करता है, जो
स्थूलशरीरकी मृत्यु होनेपर भी अमर रहता है और जिसके

विना कोई भी कर्म नहीं किया जा सकता, मेरा यह मन
कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सङ्कल्पमें युक्त हो ॥३॥

येनेदं भूतं भुत्रनं भविष्यत्
 परिगृहीतमसृतेऽसर्वम् ।
 येन यज्ञायते सप्तश्चोत्ता
 तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

जिस अमृतस्वरूप मनके द्वारा भूत, वर्तमान और
भविष्यत्सम्बन्धी सभी वस्तुएँ, ग्रहण की जाती हैं और जिसके
द्वारा सात द्वातावला अस्मियोंम यत्र सम्पर्ज होता है, मेरा यह
मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सङ्कल्पमें युक्त हो ॥४॥

यस्मिन्ननुवृत्तः साम यज्ञं विश्वस्तु
 प्रतिष्ठिता रथनामाविदाराः ।
 यस्मिन्ननुवृत्तः सर्वमोते प्रजानां
 तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

जिस मनमें रथनक्रकी नार्मिये आरियोंके नामान अनुष्ठेत
और सामनेवेद प्रतिष्ठित है तथा जिसमें यज्ञनेत्र प्रतिष्ठित है,
जिसमें प्रजानाम धैर यज्ञोत्तरं सम्बन्ध रथनेवाला सम्पूर्ण ज्ञान
आत्मप्राप्त है, मेरा यह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी
सङ्कल्पमें युक्त हो ॥५॥

सुपारविधानिव यन्मनुष्या-
 ऋनीयतेऽभीचुमिष्वर्वितन द्य ।
 हर्षप्रतिष्ठं यज्ञतिरं जविष्ठ
 तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

श्रेष्ठ सारथि जैये योद्धोका यज्ञान और गमके द्वारा
योद्धोका नियन्त्रण करता है, वैसे ही जो प्राणियोंका वशालन
तथा नियन्त्रण करनेवाला है, जो हृदयमें रहता है, जो कभी
मृता नहीं होता और जो अवस्था बेगवान् है, मेरा यह मन
कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सङ्कल्पमें युक्त हो ॥६॥

(यज्ञवेदमोहना ३५ । ३८ ३)



सच्ची साधना

(लेखक—धीरभयोऽवसिंहजी उपाधाय 'हरिनीधि')

(चौपंदे)

<p>हे द्योती उयेति जीवन-महत्वां । गोदके अलोकती है वर्तिका ॥</p> <p>है दिसाती दृश्य मनके भवनम् । दृष्टिके व्यापारका है व्यविका ॥ १ ॥</p> <p>किन्तु अन्तःव्याप्ति है अति डार्जलत् । जान गणिताकी अलोकिक मृति ॥ २ ॥</p> <p>वर विचार, विकेककी है पुनर्ली । विचरतम् अनुभूतिमयी पूर्ति है ॥ ३ ॥</p> <p>जब द्योती उयेति अन्तःव्योतिकी है बनो रहती प्रकृत अनुगमिता, प्रति दिवसंक सर्व कार्य-कल्पनी अब ये वह माननी है गतिमनी ॥ ४ ॥</p> <p>हे तथा मिलती उंड मद्भूति वह, हे जिसे कहते प्रकृत आपरना ॥</p> <p>इस यस्य दिव्यम् दिव्यात् निश्चय है । है मफलता लाम करती साक्षा ॥ ५ ॥</p> <p>दीपती है सब जाह विमुता लसी । है विभूति विसाजती सर्वत्र ही ॥</p> <p>दृष्टि है संसारमें अबलोकतो सत्यता, शिवता सुशाश्वत वही ॥ ६ ॥</p> <p>ही प्रभुत प्रशुल विस्तृत व्याप्त भूतभावन-विमव है अबलोकते ॥</p> <p>भव-विकासका विकास युग्म नयन है सुविकसित लोकमध्य विवेते ॥ ७ ॥</p> <p>कान जो बाते सुने सद्बृतिका । दिव्य रस उनके रसायन जो बने ॥</p> <p>पूर्व चरितावलि पुनीत पश्चातली- प्रेममें जो दे सरसतमें मने ॥ ८ ॥</p> <p>हों खड़े सुन भर्ती अवेहलना । बद हों न किसी करुण स्वरके लिये ॥</p> <p>जो मुझ हितनुन सुननेका मिये । तृप्त हों न कमी कथामृतके पिये ॥ ९ ॥</p>	<p>कर्ये उन्हें मिलनी न तो मब मिलिये । कथो न दे इतिरय होने सर्वथा ॥</p> <p>कर्या न होने मरहितकि हेतु के । स्वफर्तव्यविहीन होने अन्यथा ॥ १० ॥</p> <p>गह मदायक योगसे संकर्मकी । सर्वदा मद्भूतदी अगमनी रहे ॥</p> <p>उह है तो उच्चाका ध्यान रख । नाक कहत नाक नाक बनी रहे ॥ ११ ॥</p> <p>हे दृष्टि फत्ते हूते आपरत, सांचकर यह वह कमी मिलुडे नहीं ॥</p> <p>वह सदा निर्मल बर्णी इतनी रहे, जा उने कोई कमी पहुँचे नहीं ॥ १२ ॥</p> <p>मांसकी गतिमें असुविदा हो नहीं । वह भर्ते ही साँसते कितनी सदे ॥</p> <p>परनि नहीं इसमें रहे हरिनामकी । इस तपदसे बोलती जो वह रहे ॥ १३ ॥</p> <p>नासिका ता घर्म-कर्म-उपासिका । बन बनेती सर्वथा उपयोगिनी ॥</p> <p>और होणा सार्थक उसका सूजन । जायारी सहयोगिनी सभी गिनी ॥ १४ ॥</p> <p>फूल जो मुँहसे सदा झड़ते रहे । हों युधासिका मधुर बचनावली ॥</p> <p>जीम गोहत रंग मंगु समीपसे । जा बिलाती ही रहे जीकी कली ॥ १५ ॥</p> <p>जो बदन अरविन्द बनते ही रहे रस-पिपसित मधुप मलसके लिये ॥</p> <p>धर्म कहनेको तिमिर अजानका ज्ञानदीपक बाल है जिसने दिये ॥ १६ ॥</p> <p>लोकका हित कर मपलता लाम कर विभ वदनभर है विलमती वर हैसी ॥</p> <p>हे दमकती कालित जिसप र्कीर्तिकी । लक्ष्मि जिसप भुञ्जिती है जमी ॥ १७ ॥</p>
---	---

चाल चन्दन काल सूर्योका लगा
मध्य मात्र-विभूतिमय जी मुख अना।
लाग जिसपर डेणादिकी हे असी ,
है हूई जिसपर मनुष्टा अद्दा॥१॥ पा।

हे वही मुख दर्शनमय भवतितमः;
ओर कट नुख दी अनीव पुनीत है॥

हे वही आड़ी उपर कर्मका ।
रोपवित जनकर्षणं रठ मिल है॥२॥ पा।

तपार्दा तब हाथ कोई कर्मी कहे,
ही मदा तब लोकसंशामे न रन॥

दे सका जब दास दैनांदी नहीं ,
जो न पाया पूर्ण पूजितकी मतन॥३॥ पा।

एक जिसें गाजबार्नी की,
बुन सका जो बह नहीं ऐसा वसतः
ओकहितका काम कर कमनीयतम् ,
जो सका भरने न कीर्ति वितन तन॥४॥ पा।

जो न मिरनेंकी उड़ानेंको उद्या,
जो बिंदी असं सुन्निकवारी नहीं॥

तो कहाँ इमें रही कमनीयता,
जो लही असको मुकुति आदी नहीं॥५॥ पा।

जो नोके शीशपर लाया न री,
जल रहको जो बचा पाया नहीं॥

जो न उससं अखेके अंमु पूर्ण,
हाथ तो कुछ हाथेके आधा नहीं॥६॥ पा।

चाल चल-चल-लोक-चित उत्कृष्ट कर,
मत्यधीयं जो सदैव जों सिंह॥

बन अठल जीवन मध्य-मध्यानन्दं ,
जो किसी मुखर समान थमं सिंह॥७॥ पा।

पर्वत हितं न जों देखे भयः;
ए विष्वेष-उभासाते हे नहीं,

तो अिकते हैं सदा सत्कर्म कर,
जो विरकि भिंह अगति नहीं॥८॥ पा।

जो घड़ होकर कर्मी उष्टडे नहीं ,
जो न दिच्छित हो सके पर्याप्त॥

पर्व वे ही वास्तवमें जैव हैं,
दीड़कर जो काम करते हैं वह॥९॥ पा।

यदि सदाप्रथता सदन शुचिता निष्ठा
दिग्दिव्यं वन भूतित करती रहे॥

भर्म सर्म समव सत्विति सत्कर्म कर,
सर्वदा सद्वायें सत्ती रहे॥१०॥ पा।

यदि सदनरत भन बने नियमन-नहीं ।
यदि न सानिक वृग्निशक्ता पर तंत ।

मर स्वर्योंमि मायुरी मदापकी,
मुसति कम्से मदत हमत्री बो॥११॥ पा।

यदि वजन-पूर्व भवन, जप-योगका ।
वाप्ता-व्याप्ति भद्रित समाविका ॥

आत हो यिद्वान्त और विष हो ।
विज्ञ-व्यापा भवित-व्यापि विषिका॥१२॥ पा।

वासहितं ऊरुकित सवतित तथा
भूतितका जो विक अनुग्रह हो ,

मान भवको मूर्ति विमुर्ती, विम् गहित
यदि भनुत मवमृतयोंवा भक्त हो॥१३॥ पा।

नो बनाहर अस्म अपना वह सफल
कर सकेगा दिव्यतम आगामन ॥

हे यही कृति सर्वसिद्धिप्रदायिनी
हे यही विषिवद सची साधन॥१४॥ पा।

अथै बगा है ओर है परमार्थ वभा
यगा प्रकृत मरिवक प्रवृत्ति भित्ति है—

मान वितको भिडिनी है, मोक्ष में—
कौन भूषन मायना मार्त्ति ॥१५॥ पा।

सत्सङ्गके कुछ क्षण

जिज्ञासु—भगवन् ! वैदिक, तान्त्रिक शादि जो अनेक प्रकारकी साधनाएँ हैं, उनमेंसे किसका अधिकारी कौन है ?

मुह—इससे पहले यह जाननेकी आवश्यकता होगी कि इन साधनाओंका स्वरूप क्या है। हमें तान्त्रिक, वैदिक—ऐसे किमी नामका आश्रव करों होना चाहिए, कोई भी साधना पद्धति और दृष्टिकोणके भेदसे तान्त्रिकी या वैदिकी हो सकती है। इस प्रकारका सीधे-सीधे उत्तर देने के लिये यह विशेष प्रयोजनकी पूर्ति नहीं होगी। जैसे द्वारविद्याको लो। यह एक वैदिक साधना है। यदि पृथग् जाय कि इसका अधिकारी कौन है, तो इसका भी उत्तर तो यही होगा कि जो हृदयाकाशमें चित्त समाहित करनेकी योग्यता रखता है। परन्तु इस प्रकारकी योग्यता तो अन्यान्य साधनाओंमें भी अपेक्षित ही है, इसलिये इस उत्तरसे कोई वास्तविक समाधान नहीं होता। वस्तुतः सभी प्रकारकी साधनाओंमें अन्य साधनाओंका कुर्सी भी रहता ही है। किसी विशेष दृष्टिकी प्राप्तनावांक कारण ही उसका कोई विशेष नाम पढ़ जाता है। जैसे पृथिवीमें आकाशादि अन्य भूत भी रहते ही हैं, तथापि पृथिवीत्वकी प्रपानता होनेके कारण ही उसे पृथिवी कहा जाता है। ऐसी ही बात ज्ञान, भक्ति और कर्माद्विके विषयमें भी है। इनमें भी ज्ञानमें भक्ति और कर्म, भक्तिमें ज्ञान और कर्म तथा कर्ममें ज्ञान और भक्ति रहते ही हैं। इसके सिवा एक बात और है। जिसकी जिस प्रकारकी निधा होती है, उसे अन्य साधनाएँ उभीकी अङ्गभूत और नद्दी ही जान पड़ती है। कर्मके दृष्टिसे देखा जाय तो ज्ञान और भक्ति भी कर्मके सिवा और क्या हैं ? अत्रण-कीर्तनादि जो भक्तिके नौ भेद हैं, वे सब कर्म ही हैं। ज्ञानके साधन—श्रवण, मनन और निदित्यासन भी कर्म ही हैं; श्रवण ऐन्द्रियिक कर्म है, मनन मानसिक कर्म है और निदित्यासन बौद्ध कर्म है। इसी प्रकार प्रत्येक साधनमें प्रत्येकका सम्बन्ध ही सकता है। वस्तुतः लक्ष्य तो सबका एक ही है। उस एक ही लक्ष्यको अपने-अपने दृष्टिकोणके अनुसार विभिन्न प्रकारसे देखनेके कारण यह केवल प्रणालियोंका ही भेद है। जिस प्रकार इस मकानके ही यदि भिन्न दिशाओंसे फोटो लिये जायें तो वे एक ही मकानके चित्र होनेपर भी न जानने वालोंको विभिन्न जान पड़ेंगे। परन्तु जिसने इसे देख लिया है, वह तो जान ही लेगा कि इन सबमें एक ही मकान है। इसी प्रकार यथापि ब्रह्म एक ही तत्त्व है और वह भव्यता

निर्विभाग है, तो भी उसके मत, नित, आनन्द -ये तीन नाम करों ? इसका कारण यही है कि कर्म उसे मद्रूपमें देखता है, जानी चिह्नसे देखता है और भक्त आनन्द-स्वप्नसे। परन्तु जिसने किसी भी साधनपद्धतिका आश्रय लेकर उसका माध्याकार कर लिया है, उसे वह युगपत् सचिदानन्द ब्रह्म पड़ता है। उसका किमी भी पद्धनिमे विरोध नहीं रहता।

जिज्ञासु—ठीक है, परन्तु जब साधनपद्धतियोंका भेद है तो उनके अधिकारियोंमें भी भेद नहीं होना चाहिये।

मुह—अधिकारियोंमें भेद तो होता है; परन्तु कौन किस साधनाका अधिकारी है, इसका निर्णय कौन करेगा ?

जिज्ञासु—गुरु !

गुरु—ठीक है, तब इस विषयमें हमारे चर्चा करनेमें क्या लाभ ? शिष्यके अधिकारिका निदेश तो गुरु ही कर सकता है। हमने तो पहले बताया है कि सभी प्रकारकी साधनाओंमें अन्य साधनाओंका भी समावेश रहता ही है। इस प्रकार सभी सब प्रकारकी साधनाओंके अधिकारी ही सकते हैं। परन्तु किसको किसको पद्धतिका आश्रय लेनेने शीघ्रतर तत्त्वकी उपलब्धि होगी, इसका निर्णय तो गुरुदेव ही कर सकते हैं। जिसको जो मार्ग अभीष्ट होता है, वह उसीको प्राप्तनता देता है। तथापि उसके साधनस्वप्नमें वह अन्य भागोंको भी स्वीकार कर ही लेता है। ज्ञानमार्गी भक्तिको ज्ञानका साधन मानते हैं, यह बात प्रसिद्ध ही है। श्रीमद्भगवतमें कहा है—‘भक्तिर्जनाय कल्पते’ तथा भगवान् दाङ्कराचार्यजी भी कहते हैं—‘मोक्षसाधनसामग्र्या भक्तिरेव गरीयते !’ इसी प्रकार भक्तिमार्गी ज्ञानको भक्तिका साधन मानते हैं, और शास्त्रोंमें उनके इस सिद्धान्तका समर्थन करनेवाले भी अनेकों प्रमाण मिलते हैं।

जिज्ञासु—ऐसे कौन प्रमाण हैं, जिनमें ज्ञानको भक्तिका साधन बताया गया है ?

गुरु—ऐसे तो बहुत प्रमाण बताये जा सकते हैं; परन्तु ज्ञान और भक्तिकी साध्य-साधकतामें जो वह पारस्परिक मतभेद है, उसका कारण दूसरा है। जानी भक्तिको जिस ज्ञानका साधन मानते हैं, वह उस ज्ञानमें भिन्न है जिसे भक्त भक्तिका साधन मानते हैं; और भक्त जिस भक्तिको ज्ञानका साध्य मानते हैं, वह भी ज्ञानयोंकी मानी हुई साधनस्त्रया

आवश्यक साधन

‘कस्तगा’ के पाठक बड़े-बड़े संतोषके अनुभूति धन्वनेसे यह जान चुके हैं कि मनुष्यजीवनका परम लक्ष्य ‘श्रीभगवान्’को या उनके ‘अनन्यप्रेम’को प्राप्त करना है। बस्तुतः मुक्ति, मोक्ष, शान, सनातन शान्तिं, परम आनन्द आदि सब इसीके पर्याय हैं। जीवन बहुत योद्धा है और वह भी अनेक बाधाविघ्नोंसे भरा हुआ है। आजकल तो चारों ओरसे ही विषयाधारोंकी और दुख-कष्टोंकी माने बाहरी आ रही है। ऐसे आपद-विपद्दसे पूर्ण भुद्ध जीवनमें जो मनुष्य शीघ्र-सेशीघ्र अपने लक्ष्यकी ओर ध्यान देकर सावधानीके साथ चलकर अपने लक्ष्यको प्राप्त कर लेता है, वही बुद्धिमान् है, उसीका जन्म सार्थक है और उसीका मनुष्यजीवन सफल है। याद रखना चाहिये, वह मनुष्यजीवन यदि यों ही व्यवहरकी वातोंमें बीत गया तो यीके पछानेके सिवा और कार्ड उपाय नहीं रह जायगा। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको अपनी स्थितिपर विचार करके इस ओर लग जाना चाहिये। जो लोग हुए हैं, वे आगे बढ़ें, जो अभी नहीं लगे हैं, वे लगें और जल्दी लगें। आजकल गौत बहुत सही ही रही है। कुछ लेगा तो कहते हैं कि बहुत ही शीघ्र पृथ्वीमें मनुष्योंकी संख्या आधीसे भी अधिक घट जायगी। उस घटनेवाली मनुष्यसंख्यामें हमलोग भी तो होंगे। इसलिये और भी शीघ्र सजग होकर लग जाना चाहिये। विशेष कुछ न हो तो नीचे लिये नियमोंका पालन स्वयं विश्वासपूर्वक करना चाहिये तथा अपने इष्ट मित्रोंसे करवाना चाहिये। रोज अपनी रिपोर्ट लिखनी चाहिये और यदि दो सके तो अपने कुछ मित्रोंकी एक मण्डली बनाकर उसमें परस्पर रिपोर्ट सुनानी चाहिये और नियम दृटनेपर दण्डविधान करना चाहिये। दण्ड पैरोंका न होकर नाम-जप आदि किसी साधनका ही होना चाहिये, जिसमें आगेसे नियम न हूटे और उत्साह भी न घटे। मण्डली हो, तो दण्डमें जबरदस्ती या पक्षपात न हो, इस बतका पूरा ध्यान रहे।

१—सूर्योदयसे पहले जग जाना।

२—प्रातःकाल जगते ही भगवान्का स्मरण करना।

३—दोनों समय भगवान्की प्रार्थना करना या सन्ध्या करके गायत्रीका जप करना।

४—कम-से-कम २१६०० भगवन्नामोंका जप नित्य कर लेना।

५—कम-से-कम आध घण्टे उपनिषद्, गीता, रामायण

या अन्य किसी भी पारमार्थिक ग्रन्थ या संतवाणीका स्वाध्याय करना या सत्सङ्ग करना।

६—जानवर किसीका बुरा न करना।

७—जानवर छुट न बोलना।

८—पुरुष हो तो परलीको और स्त्री हो तो परपुरुष को बुरी नजरसे न देखना।

९—किसीकी निन्दा करनेसे बचना।

१०—भोजन, फलाहार और जलपानके समय भगवान्को याद करना। उन्हें मन-ही-मन अर्पण करके खाना-पीना।

११—दूधेरेके हकको किसी चीजको न लेना, न उसपर मनको नीच ललने देना।

१२—अवस्था शक्तिके अनुसार प्रतिदिन कुछ दान करना।

१३—हँसी-मजाक न करना।

१४—माता-पिता आदि बड़ोंको रोज प्रणाम करना।

१५—सब जीवोंमें भगवान् हैं, सारा जगत् भगवान्से भरा है, सारा जगत् भगवान्से ही निकला है, भगवान्से ही है, इस बातको याद रखनेकी चेष्टा करना।

१६—क्षेत्रके त्यागका अस्थास करना। क्रोध आनेपर प्रत्येक वार सौ बार भगवान्का नाम लेकर उसका ग्रामश्चित्त करना।

१७—किसी भी जीवसे धृणा न करना।

१८—सोनेके समय प्रतिदिन भगवान्को स्मरण करना।

१९—प्रतिशायूर्वक नियमोंका पालन करना। और किसी नियमके दृट जानेपर दण्डकी व्यवस्था करना।

२०—नियमोंके पालनका व्यौरा रोज लिखना।

यदि भगवान्यासिके लिये इन नियमोंके पालनका साधन होता रहेना तो आशा है भगवत्त्वपासे बहुत शीघ्र अन्तःकरणकी शुद्धि होती और आप भगवान्के प्रेमपथपर अग्रसं एक सच्चे साधक हो सकेंगे। दाधनाङ्कमें बहुत तरहके साधनोंका वर्णन पढ़ने-की मिलेगा और वे सभी साधन अधिकारभेदसे उत्तम हैं, परन्तु अन्तःकरणकी शुद्धि प्रायः सभी साधनोंमें आवश्यक है, इसलिये इन साधनोंका अस्थास सभीको करना चाहिये। इनसे अन्तःकरणकी शुद्धि होगी और किर यही परम साधन बनकर भगवत्प्राप्तिमें सुख्य हेतु बन जायेगी।

इनमानप्रसाद पोदार

कुछ उपयोगी साधन

(लेखक—जीवयदयाकर्मी गोदमदका)

साधन शब्दका अर्थ बहुत ही व्यापक है। परन्तु वास्तविक साधन तो उसे ही समझना चाहिये जो परमात्माकी प्राप्ति करनेवाला हो। परमात्माकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें अनेकों प्रकारके साधन बतलाये गये हैं। उनमें सुगमता-पूर्वक ही सकनेवाले कुछ सरल साधनोंका उल्लेख यहाँ किया जाता है। विषेकदण्डित विचार करनेपर सारे साधन शाननिष्ठा और योगनिष्ठा—इन दोनों निष्ठाओंके अन्तर्गत आ जाते हैं। जीवात्मा और परमात्माकी एकत्रके आधारपर हीनेवाले जितने भी साधन हैं, वे सब शाननिष्ठाके अन्तर्गत हैं तथा जीवात्मा और परमात्माके भेदके आधारपर हीनेवाले योग-निष्ठाके अन्तर्गत हैं। इसी बातको लक्ष्यमें रखते हुए भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें अभेदनिष्ठाको संख्य, संन्यास अथवा ज्ञानयोगके नामसे कहा है और भेदनिष्ठाको योग, कर्मयोग तथा भक्तियोग आदि नामोंसे। श्रीमद्भागवतमें भी अभेद और भेदनिष्ठाओंका विशद वर्णन है। इसी प्रकार गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने भी श्रीरामचरितमानसके उत्तर-काण्डमें ज्ञानदीपकके नामसे अभेदनिष्ठाका और भक्तिमणिके नामसे भेदनिष्ठाका वर्णन किया है।

वेद और उपनिषदोंके 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य अभेदनिष्ठा (अभेदज्ञान) का प्रतिपादन करते हैं और 'द्वा सुपार्णा आदि श्रुतियों भेदनिष्ठाका प्रतिपादन करती हैं। इस प्रकार श्रुति, स्मृति, द्विवास, पुराण आदि वेदिक सनातनवर्धक प्रायः सभी आर्ष ग्रन्थोंमें भेदनिष्ठा और अभेदनिष्ठाका ही भेदोपासना और अभेदोपासना आदि अनेकों नामोंसे वर्णन किया गया है। इन्हीं दोनों निष्ठाओंके आधारपर यहाँ कुछ साधनोंका वर्णन किया जाता है।

अचिन्त्य ब्रह्मकी उपासना

नेत्र आदि इन्द्रियोंके द्वारा जो कुछ अनुभव किया जाता है पवनं मनसे जो कुछ चिन्तन किया जाता है, अनुभव और चिन्तन करनेवाले इन्द्रियों और मनके सहित उस सम्पूर्ण दृश्यको नाशवान्, क्षणभङ्गर और स्वप्नवत् समझकर उसका अभाव करना अथात् उसे अनिय हीनेके कारण असत् समझकर उससे रहित हो जाना और जिस बुद्धिवृत्तिके द्वारा सबका अभाव किया जाता है उस बुद्धिका राय करके उससे भी रहित हो जानेपर द्रष्टाका जो केवल निन्द्यस्वरूप बच रहता है अर्थात् दृश्यमात्रका अभाव हो जानेपर चिन्तन करनेवाला जो द्रष्टा शेष बच जाता है उसमें स्थित होना ही अचिन्त्य ब्रह्मकी उपासना है। इस उपासनारूप साधनसे हृष्य, दर्शनका बाध हो जाता है और द्रष्टाका परब्रह्म परमात्माके साथ तादात्म्य हो जाता है। यशी परमात्माकी

सा० अं० १५

प्राप्ति है। जैसे धटाकाश और महाकाशके बीच व्यवधानरूप केवल घटकी आकृति ही भेद-दर्शनमें हेतु है इसी प्रकार जड़ दृश्यमात्र जीवात्मा और परमात्माके भेद-दर्शनमें हेतु है। जब यथार्थ जानके द्वारा सम्पूर्ण दृश्य और दर्शनका बाध हो जाता है, तब स्वभावतः ही जीवात्मा परमात्माको प्राप्त हो जाता है। जैसे घटके फूट जानेपर धटाकाशस्थानीय आकाश महाकाशके साथ एक हो जाता है उसी प्रकार जीवात्मा का सच्चिदानन्दधन परमात्माके साथ एकीभाव हो जाता है अर्थात् वह अभेदरूपसे ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।

चराचररूप ब्रह्मकी उपासना—

जो भी कुछ चर-अचर, जड़-चेतन संसार है, वह सब परमात्मासे ही उत्पन्न है, परमात्मामें ही स्थित है और परमात्मामें ही लीन हो जाता है, इसलिये वस्तुतः परमात्म-स्वरूप ही है।

जो पुरुष इस सम्पूर्ण संसारको परमात्माका स्वरूप समझकर परमात्मामासे इसकी उपासना करता है, वह परमात्माको ही प्राप्त होता है।

यह उपासना भेद और अभेद दोनों ही दृष्टियोंकी जा सकती है। भेददृष्टिवाला साधक समझता है कि जो कुछ है सो परमात्मा है और मैं उसका सेवक हूँ। जैसे गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत ।

मैं सेवक सच्चाचर रूप स्वामि मानवंत ॥

और अभेद दृष्टिवाला साधक सारे संसारको एवं अपने आपको भी परमात्माका स्वरूप मानता है। जैसे श्रीमद्भगवद्-गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

बहिःस्त श्व भूतानामचरं चरमेव च । (१३।१५)

‘परमात्मा चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचररूप भी वही है।’

तत् एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ (१३।३०)

‘जिस क्षण यह पुरुष भूतोंके पृथक्-पृथक् भावको एक परमात्मामें ही स्थित तथा उस परमात्मासे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है, उसी क्षण यह सच्चिदानन्दधन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।’

इस प्रकार इस सम्पूर्ण दृश्यमात्रको परमात्माका स्वरूप मानकर उसकी उपासना करते-करते साधककी सर्वत्र सम-बुद्धि हो जाती है और यह राग-देशरहित होकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है।

सङ्कल्पब्रह्मकी उपासना

सङ्कल्पब्रह्मकी उपासनामें जो भी कुछ अच्छे या बुरे सङ्कल्प मनमें उठते हैं उनको ब्रह्म मानकर उपासना की जाती है। इस प्रकार मनमें उठनेवाले प्रत्येक सङ्कल्पको ब्रह्म मानकर उपासना करनेवालेके लिये कोई भी सङ्कल्प (स्फुरण) विनाकारक नहीं होते तथा उनमें समझुद्धि हो जानेके कारण अनुकूल और प्रतिकूल लक्ष्योंमें राग-द्वेष नहीं होता।

सङ्कल्पमात्रमें निरन्तर ब्रह्मकारवृत्ति बनी रहनेके कारण साधकको विश्वानानन्दधन ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।

शब्दब्रह्मकी उपासना

शब्दब्रह्मकी उपासना करनेवालेको जो भी कुछ भला या बुरा शब्द सुनायी देता है उसे वह ब्रह्म मानकर उपासना करता है। ब्रह्म सम और एक है, इसलिये सापेक्षकी शब्द-मात्रमें समझुद्धि हो जाती है। अतएव वह अनुकूल और प्रतिकूल शब्दोंमें राग-द्वेष और हर्ष-शोकसे रहत हो जाता है। कोई उसकी सुन्ति या निन्दा करता है तो इससे उसके चिन्तमें कोई विकार नहीं होता। शब्दमात्रको ब्रह्म माननेके कारण उसकी सुन्ति हर समय ब्रह्माकार बनी रहती है, जिससे उसका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसे परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है।

निःस्वार्थ कर्म-साधन

स्वार्थ (स्व-अर्थ) का अभिप्राय है—‘अपने लिये’ अपने व्यक्तिगत लाभके लिये, और निःस्वार्थका अर्थ है—‘अपने लिये नहीं’ अर्थात् दूसरों (समष्टि) के हितके लिये। साधारण मनुष्य यज्ञ, दान, तप, सेवा, तीर्थ, ब्रत, उपवास, कृषि, वाणिज्य, खान-पान, शौच-स्नान, लैन-देन आदि जो कुछ भी कर्म करता है, किंतु न-किंतु व्यक्तिगत स्वार्थको लेकर ही करता है। जैसे क्रय-विक्रय करनेवाला लोभी व्यापारी दूकान खोलनेके समयसे लेकर उसे बंद करनेतक दिनभर जो भी कुछ क्रय-विक्रय, लैन-देन आदि व्यापार करता है, सबमें उसका लक्ष्य हर समय यही रहता है कि अधिक-से-अधिक शृण्य पैदा हो। जिसमें जरा भी अर्थकी हानि होती हो, ऐसा कोई भी काम वह जान-बूझकर कभी नहीं करना चाहता। इसी प्रकार यज्ञ, दान, तपादि कार्य करनेवाले सकारी लोग धन, लौ, पुत्र आदि इहलौकिक और स्वर्गादि परलौकिक भोगोंकी कामनाएं ही उन कामोंमें प्रवृत्त होते हैं।

यह स्वार्थ इतना व्यापक है कि किसी भी छोटे-से छोटे कामका आरम्भ करनेके समय मनुष्य यही सोचता है कि इसके करनेसे मुझे व्यक्तिगत क्या लाभ होगा? किसी

लाभका निश्चय करके ही वह कार्यमें प्रवृत्त होता है। विनाप्रयोजन एक पैड भी चलना नहीं चाहता। उसके मनमें पद्मपदपर स्वार्थकी भावना भी रहती है। इसी स्वार्थ-बुद्धिसे मनुष्यको बार-बार दुःखरूप संसारचक्रमें भटकना पड़ता है। अतएव व्यार्थ कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको स्वार्थरहित होकर लोकहितके लिये ही कर्म करने चाहिये। जैसे स्वार्थमें मनुष्य प्रत्येक कामके आरम्भमें यह सोचता है कि मुझे इसमें क्या लाभ होगा, ऐसे ही निःस्वार्थी पुरुषके मनमें यह भाव होना चाहिये कि इससे अन्य प्राणियोंका क्या हित होगा। जिस कामके आरम्भमें संसारका हित सोचकर प्रवृत्त हुआ जाता है, वही निष्काम कर्म है।

बहुत से सज्जन लोकोपकारके कामोंमें धन-सम्पत्ति और शरीरके आरामका लायग करते हैं और यह बहुत उत्तम है, परन्तु वे जो इसके बदलेमें मान, बड़ाई और प्रतिष्ठा चाहते हैं, इससे उनका वह लायग निःस्वार्थ नहीं रह जाता। मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी कामनाते शुभ कर्म करनेवाले लोग अवश्य ही शुभ कर्म न करनेवालोंकी ओंपक्षा तो बहुत ही अच्छे हैं, किन्तु वास्तविक कल्याणमें तो उनकी यह कामना भी बाधक ही है। और यदि कहीं राग-द्वेषके क्या होना पड़ा तब तो इस कामनासे पतन भी हो सकता है। अतएव वास्तविक हित चाहनेवाले पुरुषको मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी इच्छाका भी सर्वथा लायग करके विद्युद निःस्वार्थभावसे ही लोक-हितार्थ कर्म करने चाहिये।

कुछ सज्जन मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्गकी इच्छाका भी लायग करके केवल अपने आत्माके उद्धारकी इच्छासंयुक्त, दान, तप, सेवा, सत्सङ्ग और व्यापार आदि वास्तवित कर्म करते हैं। यद्यपि इस प्रकार कर्म करनेवाले लोग उपर्युक्त सभी साधकोंसे श्रेष्ठ हैं, तथापि केवल अपने ही आत्माके उद्धारकी यह इच्छा भी सुकृतिरूप स्वार्थ-बुद्धिके कारण कभी-कभी माझमें डालकर साधकको कर्तव्य-च्युत कर देती है। कहीं-कहीं तो यह राग-द्वेषको उत्पन्न करके साधकका पतन भी कर डालती है। इसलिये केवल अपने उद्धारकी इच्छा न रखकर सम्पूर्ण प्राणियोंके कल्याणके उद्देश्यसे ही मनुष्यको शास्त्रवित कर्मोंमें प्रवृत्त होना चाहिये। इस प्रकार निःस्वार्थभावसे कर्म करनेवाला मनुष्य सहज ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

संवारका हित चाहनेवाले ऐसे दयालु भक्तोंके सम्बन्धमें गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने तो यद्योऽतक कहा है—

भीर मन प्रशु अस बिसवास। राम ते अधिक राम कर दास॥

इसका कुछ रहस्य निष्पत्तिवित इष्टान्तके द्वारा समझना चाहिये।

भगवान्‌के एक भक्त जगत्‌के परम हितैषी ये। वे सदा-

सर्वदा आतके हितमें रह रहा करते थे। इसके फलस्वरूप एक दिन भगवान् स्वयं उनको दर्शन देनेके लिये उनके सामने प्रकट हुए और बोले—‘तुम्हारी जो इच्छा हो वही वर माँगो।’

भक्तने कहा—‘भगवन्! आपकी मुझपर जो अनन्त कृपा है, इससे बदकर और कौतनी वस्तु है, कि जिसमें वाचना करूँ—आपकी कृपासे मुझे किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है।’

भगवान्से विशेष आम्रपूर्वक कहा—‘मेरे सन्तोषके लिये तुम्हें कुछ तो अवश्य ही माँगना चाहिये।’

भक्तने कहा—‘प्रभो! यदि आपका इतना आश्रम है तो मैं वही चाहता हूँ कि मेरे मनमें यदि कुछ माँगनेकी इच्छा हो तो आप उसका सर्वथा विनाश कर दीजिये।’

भगवान् बोले—‘यह तो तुमने कुछ भी नहीं माँगा। मेरी प्रसन्नताके लिये तुम्हें अवश्य कुछ माँगना पड़ेगा। तुम जो चाहो सो माँग सकते हो।’

भक्तने कहा—‘जब आप इतना बाध्य करते हैं तो मैं यह माँगता हूँ कि आप संसारके सभी जीवोंका कल्याण कर दीजिये।’

भगवान्से कहा—‘यदि सब जीवोंका कल्याण कर दिया जाय से उनके लिये हुए पापोंका फल कौन भोगेगा?’

भक्तने कहा—‘प्रभो! सबके पापोंका फल मुझे भुगता दीजिये।’

भगवान् बोले—‘तुम-सरीखे भक्तके भव जीवोंके पापोंका दण्ड कैसे भुगताया जा सकता है?’

भक्तने कहा—‘तो हिर सबको क्षमा कर दीजिये।’

भगवान्से कहा—‘इस प्रकार सबको पापोंका फल न भुगताकर उन्हें क्षमा कर देना तो असम्भव है।’

भक्तने कहा—‘भगवन्! आप तो असम्भवको भी सम्भव करनेवाले सर्वशक्तिमान् परमेश्वर हैं। आपके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है।’

भगवान्से कहा—‘इस प्रकार करनेके लिये मैं असमर्थ हूँ।’

भक्तने कहा—‘यदि आप आतको असमर्थ कहते हैं, तो पिर आपने इच्छानुसार वर माँगनेके लिये इतना आग्रह क्यों किया था? आपको खी, पुत्र, धन, मान-बड़ाइं, सर्ग, मोक्ष आदि किती एक वस्तुके माँगनेके लिये कहना चाहिये था। जो इच्छा हो सो माँगनेका वचन देनेपर तो याचककी मांग पूरी करनी ही चाहिये।’

भगवान्से कहा—‘भाई! मेरी हार और तुम्हारी जीत हुई। मैं भक्तोंके सामने सदा ही हारा हुआ हूँ।’

भक्तने कहा—‘प्रभो! हार तो मेरी हुई। जीत तो तब होती जब आप सबका कल्याण कर देते।’

भगवान्से कहा—‘तुम्हारे इस निःस्वार्थभावसे मैं अति प्रसन्न हुआ हूँ। मैं तुम्हें यह वर देता हूँ कि जो कोई भी तुम्हारा दर्शन, सर्व और चिन्तन आदि करेगा, उसका भी कल्याण ही जायगा।’

इस प्रकार संसारका कल्याण चाहनेवाले निःस्वार्थ भक्तको विनोदमें भगवान्से भी बढ़कर कहना कोई अत्युक्ति नहीं है। अतएव कल्याणकामी पुरुषोंको निःस्वार्थभावसे लोक-हितार्थ ही सारे कर्म करने चाहिये।

सेवा-साधन

धन-सम्पत्ति, शारीरिक सुख और मान-बड़ाइं-प्रतिष्ठा आदिको न चाहते हुए भमता, आत्मति और अहङ्कारसे रहित होकर मन, वाची, शरीर और धनके द्वारा तम्भूर्ण प्रणियोंके द्वितीये रत होकर उन्हें सुख पहुँचानेकी चेष्टा करना ‘सेवा-साधन’ कहलाता है। इस साधनसे साधकके वित्तमें निर्मलता और प्रसन्नता होकर उसे भगवान्यासि ही जाती है।

उपर्युक्त प्रकारकी सेवा-साधना तीन प्रकारके भावोंसे की जा सकती है—एक ही इंश्वरी सन्नान होनेके कारण सबको अपना ‘बन्धु’ मानते हुए, आव्याहिसे सबको अपना ‘त्वरण’ समझते हुए, और परमात्मा ही तब भूतोंके हृदयमें रित है इसलिये सबको साक्षात् ‘परमेश्वर’ समझते हुए। इन तीनों भावोंमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है। बन्धुभावसे होनेवाली सेवामें एक दूसरेके प्रति पर-जुदि होनेके कारण राग-द्वेषवश कभी छानडा की हो सकता है, परन्तु आत्मभावमें इसकी सम्भावना नहीं है, अतः बन्धुभावसे की हुई सेवाकी अपेक्षा आत्मभावसे की हुई सेवा उत्तम है। आत्मभावसे की हुई सेवाकी अपेक्षा भी परमात्मभावसे की हुई सेवा उत्तम है, जैसे कि मनुष्य आपने इच्छाकी सेवाके लिये प्रसन्नता-पूर्वक अपने पापोंका भी चलिदान कर सकता है। तीनों प्रकारके भावोंसे की हुई सेवाका परिणाम एक हेतुपर भी भगवत्प्राप्तिमें शीघ्रताकी दृष्टिमें ही उत्तरोत्तर श्रेष्ठताका प्रतिपादन किया जाया है।

उत्तम देश, काल और पात्रके प्राप्त होनेपर जो न्यायानुकूल सेवा की जाती है, वही सेवा भद्रवर्णण होती है। जैसे—अयन देशीकी अपेक्षा आश्र्यवाले देश उत्तम माना गया है, उनमें भी काशी आदि तीर्थोंमें अक्षकी फसल अच्छी हो और मगध आदि देशोंमें भयङ्कर अकाल पड़ा हो तो अबदानके लिये काशीकी अपेक्षा मगध अधिक उपयुक्त देश है। इसी प्रकार वशिष्ठि साधाण कालकी अपेक्षा एकादशी, पूर्णिमा, सोमवरी, व्यतिपात्र, ग्रहण और पर्वकाल दानके लिये श्रेष्ठ हैं तथापि यदि अन्य कालमें अज्ञके बिना प्राप्ती मरती हो तो पर्वकालकी अपेक्षा भी बहु-

पर्वतिरिक्त काल अचानके लिये श्रेष्ठ काल है। पात्रके विषयमें भी ऐसा ही समझना चाहिये। जिस प्राणीके द्वारा जितना अधिक उपकार होता है, उतना ही वह सेवाका अधिक पात्र है। जैसे कीड़े, चीटी आदिकी अपेक्षा पशु आदि, पशुओंमें भी अन्य पशुओंकी अपेक्षा गाय आदि, पशुओंकी अपेक्षा मनुष्य, मनुष्योंमें भी दृश्योंकी अपेक्षा उत्तम गुण और आचरणवाले पुरुष सेवाके विक्रोच पात्र हैं। उदाहरणके लिये—यदि देशमें बाढ़ या अकाल आदिके कारण प्राणी भूखों मर रहे हों और साथके पास घोड़ा-ना परिमित अज्ञ हो तो ऐसी स्थितिमें पूर्वमें बतलाये हुए प्राणियोंकी अपेक्षा बादमें बतलाये हुए उत्तरोत्तर लोकोपकार अधिक पात्र हैं, क्योंकि उनके द्वारा उत्तरोत्तर लोकोपकार अधिक होता है। परन्तु इसमें भी यह बात है कि जिसके पास अचानक जितना अधिक भाव द्वारा हो उतना ही उतने अधिक पात्र समझना चाहिये। जैसे—किसी देशमें अकाल होनेपर भी गायोंके लिये चारोंकी कमी न हो पर कुत्ते भूखों मरते हों तो वहाँ कुत्ते ही अधिक पात्र हैं। हसी प्रकार सबके विषयमें समझना चाहिये। ज्यासेको पानी, नक्कोंको बस्त्र, बीमस्को औषध और आतुरको अभयदान आदिके विषयमें भी यही बात समझनी चाहिये।

परन्तु विशेष ध्यान देनेकी बात तो यह है कि सेवासाधनमें कियाकी अपेक्षा भावकी प्रधानता है। स्त्री-पुत्र, धन-मान, बड़ाई-प्रतिष्ठा और स्वर्गादिकी प्राप्तिके उद्देश्यसे तत्परताके लाभ आजीवन किये हुए उपर्युक्त विशाल सेवाकार्यकी अपेक्षा ममता, आसकि और अहङ्कारसे रहित होकर निःस्वार्थभावसे की हुई योद्धी सेवा भी अधिक मूल्यवाली होती है।

पञ्च महायज्ञ-साधन

पञ्च महायज्ञसे हमारे निलक्षे पायोंका प्रायश्चित्त तो होता ही है, यदि खार्यत्यागपूर्वक निष्कामभावसे केवल भगवतीत्यर्थ इनका साधन किया जाय तो इनसे भगवत्याति भी हो जाती है।

अहयज्ञ (श्रूतियज्ञ), पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ (बृहदैश्वर्य) और मनुष्ययज्ञ—ये पञ्च महायज्ञ कहलाते हैं। * जिस कर्मसे बहुतोंकी दृष्टि हो उसे यज्ञ कहते हैं और

* अद्यापने महायज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।

होमो दैवो बहिर्मातृतो नृयज्ञोऽपि पूजनम् ॥

(मनु० ३ । ७०)

वेद-शास्त्रका पठन-पाठन एव सन्धोपासन, गायत्री वच आदि यज्ञायज्ञ (क्रिययज्ञ) है, नित्य आद्यतपैण पितृयज्ञ है, हवन देवयज्ञ है, बृहदैश्वर्य भूतयज्ञ है और अतिथि-सत्सार मनुष्ययज्ञ है।

जिससे सारे संसारकी दृष्टि हो उसे महायज्ञ कहते हैं। इस दृष्टिसे इनका महायज्ञ बहुत अधिक है।

देवयज्ञसे मूल्यवाले देवताओंकी, श्रूतियज्ञसे श्रूतियोंकी, पितृयज्ञसे पितृोंकी, मनुष्ययज्ञसे मनुष्योंकी और भूतयज्ञसे भूतोंकी दृष्टि होती है और गौणलूप्तसे इनके द्वारा सारे संसारकी दृष्टि होती है। वैदिक सनातनधर्मके इन महायज्ञोंमें सम्मूर्ख संसारके जीवोंके हितके लिये जैसा द्वया और उदाहरणार्थ द्वार्य व्यागका भाव भरा है, वैसा अन्य धर्मोंमें देखनेमें नहीं आता।

वेद और शास्त्रोंका पठन-पाठन जगतके हितार्थ श्रूतियोंको सन्तुष्ट करनेके लिये ही किया जाता है, अपने स्वार्थके लिये नहीं। सन्ध्योपसनमें भी ‘पश्येम शरदः’ आदिमें सबके हितकी ही प्रार्थना की गयी है। और इनी प्रकार गायत्रीमन्त्रमें सुनित और ध्यान बतलाकर सभीकी बृहदियोंको सकारात्मक लगानेकी प्रार्थना की गयी है।

पितृतर्पणमें भी देवता, श्रूति, मनुष्य, पितर एवं सम्मूर्ख भूतप्राणियोंको जलदान करनेकी विधि है। वहाँतक कि पहाड़, बनस्ति और शत्रु आदिको भी जल देकर दूस किया जाता है।

देवयज्ञमें अग्निमें आहुति दी जाती है। वह सूर्यको प्राप्त होती है और सूर्यसे बृष्टि और त्रृष्णिमें अग्न और प्रजाशी उत्पत्ति होती है।

भूतयज्ञसे भी सारे प्राणियोंकी दृष्टि होती है। इसको बृहदैश्वर्य भी कहते हैं, क्योंकि इसमें सारे विश्वके लिये बल दी जाती है।

मनुष्ययज्ञमें घर आये हुए अतिथिका सत्कार करके उसे विधिवृत्तक वयाशक्ति भोजन कराया जाता है। यदि भोजन करानेकी सामर्थ्य न हो तो उसे बैठनेके लिये जाग, आसन, जल और मीठे वचनोंका दान तो गृहस्थको अवश्य ही करना चाहिये।

उपर्युक्त पाँच प्रकारके महायज्ञोंपर श्रूतियोंने बहुत

+ अद्ये प्राप्तातुतिः सन्ध्यादित्यसुपतिष्ठते ।

आदिर्याज्ञायते बृहदैश्वर्ये ततः प्रगः ॥

(मनु० ३ । ७६)

‡ सम्प्राप्ताय त्वनिधये प्रदेशादासनोदके ।

अज्ञं चैव वयाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥

(मनु० ३ । ७७)

§ तृणाणि भूमिरुदकं वामचतुर्थी च सूक्ता ।

पतान्धर्या सतां गेहे नोचिद्वन्द्वे कराचन ॥

(मनु० ३ । १०१)

जोर दिया है। अतएव स्वाध्यायसे भूषियोंका, हृचनसे देवताओंका, तर्पण और आदि से पितरोंका, अब्रसे मनुष्योंका और बलिकर्मसे सम्पूर्ण भूतप्राणियोंका यथायोग्य सत्कार करना चाहिये। इस प्रकार जो मनुष्य नित्य सब प्राणियोंका सत्कार करता है वह तेजोमय मूर्ति धारणकर सरल अर्चिमार्गके द्वारा परमधार्मको प्राप्त होता है। इसके विपरीत जो मनुष्य दूसरोंको भोजन न देकर केवल अपने ही उदर-पोषणके लिये भोजन बनाता है, वह पशाषु मनुष्य पाप ही खाता है। सबको भोजन देनेके बाद शेष बचा हुआ अब यशस्विष्ट होनेके कारण असृतके हुल्ले है, इसलिये ऐसे अज्ञको ही सज्जनोंके खाने योग्य कहा गया है।

भगवान् श्रीकृष्णने गीतमें अव्याय ई श्लोक १३ में भी प्रायः ऐसी ही बात कही है।

उपर्युक्त सभी महायोगोंका लालर्य है सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंकी अश्व और जलके द्वारा सेवा करना एवं अव्ययन-अध्यापन, जप, उपसना आदि स्वाध्यायद्वारा सबका हित चाहना। अपने स्वार्थके त्यागकी आत तो पद-पदमें बतलायी गयी है।

हृचनके और बलिकर्मदेवके मन्त्रोंमें भी स्वार्थत्यागकी ही बात कही गयी है। जैसे 'ॐ इन्द्राय स्वाहा, हृदमिन्द्राय न मम। ॐ ब्रह्मणे स्वाहा, इदं ब्रह्मणे न मम।' इस न ममका अभिग्राय यह है कि यह आहुति इन्द्रके लिये दी जाती है, इसका फल मैं नहीं चाहता। यह आहुति ब्रह्मके लिये दी जाती है, इसका फल मैं नहीं चाहता। अन्य मन्त्रोंमें भी इसी प्रकारके त्यागकी आत जगह-जगह पर कही गयी है। इन सबसे यही शिक्षा मिलती है कि मनुष्य-

* स्वाध्यायेनार्चेतीन्दोपीदेवान्वथाविषि ।

पिन्नल्लाद्यैष्म नूनज्ञेभूतानि बलिकर्मणा ॥

(मनु० ३। ८१)

+ एवं यः सर्वभूतानि भास्यणो नित्यमर्चेति ।

स गच्छति परं स्वानं तेजोमूर्तिः पवर्जुन ॥

(मनु० ३। ९२)

† अर्थं स केवल सुझे यः पचत्यत्मकारणात् ।

यशश्विष्टादानं शोत्रसत्ताभन्नं विधीयते ॥

(मनु० ३। ११८)

॥ यशश्विष्टादानः सत्तो मुञ्चन्ते सर्वकिविष्टैः ।

मुञ्चन्ते ते त्वर्वं पापा ये पचत्यत्मकारणात् ॥

(गीता ३। १२)

को अपने स्वार्थका त्याग करके संसारके हितके लिये ही प्रयत्न करना चाहिये।

सम्पूर्ण संवारके प्राणियोंमें एक मनुष्य ही ऐसा माणी है, जो प्राणीमात्रकी सेवा कर सकता है। अन्य प्राणियोंके द्वारा भी जगत्का बहुत उपकार होता है, किन्तु सबकी सेवा तो केवल मनुष्य ही कर सकता है। मनुष्यका शरीर खान-पान, ऐश-आराम और भोग भोगनेके लिये नहीं मिला है। ये सब तो अन्य योनियोंमें भी प्राप्त हो सकते हैं। मनुष्यका जन्म तो प्राणीमात्रके हितकी जेष्ठा करनेके लिये ही मिला है। अतएव सब लोगोंको चाहिये कि अपने तन, मन और धनद्वारा निःस्वार्थभावसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी सेवाके लिये तपत्तरासे चेष्टा करें। और इस प्रकार प्राणीमात्रमें विराजित भगवान्की सेवा करके उनको प्राप्त कर सफल-जीवन हों।

विषय-हृचनरूप साधन

इन्द्रियोंके विषयोंको राग-देवरहित होकर हन्दियरूप अधिभेद हृचन करनेसे परमात्माको प्राप्ति होती है। शब्द, सर्वश, रूप आदिका श्वरण, सर्वश और दर्शन आदि करते समय अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थोंमें राग-द्वेररहित होकर उसका न्यायोचित सेवन करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होता है और उसमें 'प्रसाद'का अनुभव होता है। उस 'प्रसाद'से सारे दुःखोंका नाश होकर परमात्माके स्वरूपमें स्थिति हो जाती है। परन्तु जबतक इन्द्रियाँ और मन वशमें नहीं होते और भोगोंमें वैराग्य नहीं होता, तबतक अनुकूल पदार्थके सेवनसे राग और हर्ष एवं प्रतिकूलके सेवनसे द्वेष और दुःख होता है। अतएव सम्पूर्ण पदार्थोंको नाशवान् और क्षणमङ्गुर समझकर न्यायसे प्राप्त हुए पदार्थोंका विवेक और वैराग्यरुक्त बुद्धिके द्वारा समझायसे ग्रहण करना चाहिये। श्वरण, दर्शन, भोजनादि कार्य रसबुद्धिके विषय-प्राप्तिके साथवाप्राप्तिके लिये करने चाहिये। इन पदार्थोंमें ऐश-आराम, भौज-शौक, स्वाद-सुख और इन्द्रियतृप्ति, रमणीयता या भोग-बुद्धिकी भावना ही मनुष्यके मनमें विकार उत्पन्न करके उसका पतन करनेवाली होती है। उपर्युक्त दोपोंसे रहित होकर विवेक और वैराग्यरुक्त बुद्धिके द्वारा किये जानेवाले इन्द्रियोंके विषय-सेवनसे तो हृचनके लिये अधिभेद डाले हुए दृष्टिनकी तरह ये सब पदार्थ अपने आप ही भस्त हो जाते हैं। किर उनकी कोई भी सत्ता या प्रभाव नहीं रह जाता। इस प्रकार साधन करते करते अन्तःकरणकी बुद्धि होनेपर सारे दुःखों और पापोंका अभाव होकर परमात्माके स्वरूपमें स्थिर और अचल स्थिति हो जाती है अर्थात् परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

महात्माओंका आशापालनरूपी साधन

जो पुरुष महात्माओंके* पास जाकर उनके उपदेशको सुनकर उसके अनुसार साधन करता है, उसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

अन्वे त्वेषमज्ञनमः भूत्वान्वेष्य उपासते ।

तेषपि चानितरन्येव भूत्यु भूतिप्राप्यणाः ॥

(१३ । २५)

‘परत्यु दूसरे जो पुरुष स्वयं इस प्रकार (ध्यानयोग, संख्य-योग और कर्मयोग) न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्के जाननेवाले महापुरुषोंसे सुनकर तदनुसार उपासना करते हैं, वे अवगतरायण पुरुष भी भूत्युरूप संसारसागरको निःसन्देह तर जाते हैं।’

अतएव जो पुरुष अद्वा-भृत्यिगृह्यक महात्माओंकी आशा-का पालन करता है, उसका कल्पण हो जाता है। शास्त्रोंमें इसके अनेक उदाहरण मीं मिलते हैं।

महाभारत आदिपर्वके तीसरे अध्यायमें २०से ३२ श्लोक-का आयोद्धौम्य और उनके शिष्य पञ्चालदेशीय आदिगी-की कथा है। वहाँ लिखा है कि शिष्यको गुरुने लेतमें जाकर खेतकी मैड बाँधनेकी आशा दी। शिष्य जब चैष्टा करनेपर भी मिट्टीमें मैड न बाँध सका तब उसने स्वयं जलके प्रयाणके सामने सोकर जलको रोक लिया। जब शास्त्र-कथा यह घर न लौटा तो गुरु उसे खोजते हुए खेतमें आये और पुकारने लगे। उनकी आवाज सुनकर आरणि उठा और जाकर सामने खड़ा हो गया। मिट्टीके खानपर खुद उसके पड़नेकी बात जानकर धौम्यमुनि उसकी आशापालन-प्राप्यणताको देखकर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने वरदान दिया कि तुमने जो मेरी आज्ञाका पालन किया है, इससे तुम्हारा कल्पण हो जायगा। समस्त वेद और धर्मशास्त्रोंका ज्ञान तुम्हें बिना ही पढ़े अपने आप हो जायगा।† इसी प्रकार छान्दोग्य-

* ब्रह्मारी, गृहस्त, बनप्रस्थ या संन्यासी कोई भी पुरुष जो नीना अध्ययन १२ श्लोक १३ से १९ और अध्ययन १४ श्लोक २२ से २५ में वर्णित लक्षणोंसे युक्त हो, उसको महारामा समझता चाहिये।

† यसाच तथा मद्दनमनुष्ठितं तस्माच्छ्रौयोऽकाभ्यसि ।

सर्वे च ते वेदाः प्रतिभासान्ति सर्वाणि च चर्मशास्त्राणांति ॥

(मद्द ० आ० प० १ । ३२)

उपनिषद्के अध्याय ४, नवण्ड ४से ९ में भी एक कथा आती है। हारिजुस्त गौतम शृणुपिने अपने दिव्य सत्यकाम जावालका उपनयनरंस्कार करके उसे ४०० झूर्य और दुर्बल गायोंको धनमें ले जाकर चरानेकी आशा दी। शिष्यने गुरुका भाव समझकर यह कहा कि जब इन गायोंकी संख्या पूरी १००० हो जायगी, तब मैं लौट आऊँगा।

कई वर्ष बीतनेपर एक दिन एक सॉइने उससे कहा कि अब हम पूरे हजार हो गये हैं, तुम हमें गुरुके पास ले चलो। सत्यकाम जब उहें लेकर आने लगा तो गुरुकृपासे उसे सॉइ, अमि, हंस और मद्मु (जलचर पक्षी) ने मार्गमें ही ब्रह्मका उपदेश दे दिया। जब वह घर लौटा तो उसे देखकर गुरुने कहा—‘तुम तो ब्रह्मवेत्ता से प्रतीत हो रहे हो, तुमको उपदेश किसने दिया?’ सत्यकामने रास्तेकी तस्ती-सबी घटना बतलाकर कहा—‘मैं अब आपके द्वारा उपदेश प्राप्त करना चाहता हूँ।’ महर्षि गौतमने उसे पुनः अक्षरशः वही ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया जो उसे रास्तेमें प्राप्त हुआ था।

इसी प्रकारके और भी अनेक उदाहरण शास्त्रोंमें आते हैं, जिनमें महात्माओंके आशापालनस्त्रोंसे ही शिष्यों-का कल्पण हुआ है।

‘महात्माओंके आशापालनसे परम कल्पण हो इसमें तो कहना ही क्या है, उनका दर्शन, सर्व और चिन्तन भी कल्पणका परम कारण होता है।

देवर्षि नारदजीने कहा है—

महसुस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोवश्च । (नारदभक्तिमूल ३१)

‘महात्मा पुरुषोंका सङ्ग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है।’

महात्माओंका मिलना कठिन है, मिलनेपर उन्हें पहचानना कठिन है, परन्तु न पहचाननेपर भी उनका मिलना व्यर्थ नहीं होता, वह महान् कल्पणकाएँ होता है। जैसे सूर्यको न जानकर भी यदि कोई सूर्यके सामने आ जाय तो उसकी सरदी दूर हो जाती है। वह सूर्यका स्वाभाविक गुण है। इसी प्रकार महात्माओंका मिलन अपने स्वाभाविक वस्तुगुण-से ही मनुष्योंको तानेवाल्य होता है।

अतएव महात्माओंके सङ्ग और उनके आशापालनसे सबको लाभ उठाना चाहिये।

सत्य-साधना

प्रेम-धर्मकी रीति

(केदक—श्रीयुजवन्दी सत्यपेती)

जगतमें दुःख भरे नाना ।

प्रेमधर्मकी रीति समझकर सब-सहते जाना ॥ जगतमें दुःख भरे नाना ॥ टेक ॥

सरल सत्य शिव सुन्दर कहना,
हिलमिल करके सबमें रहना ।

अपनी नोची ओर देखकर धौरज-धन पाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥ १ ॥

वे भी हैं पृथ्वीके ऊपर,
जिनको जीना भी है दूभर ।

उनकी हालतमें हमदर्दी, दिलसे विचलना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥ २ ॥

अनन्त-वरुणमें क्यों दुविधा हो,
इनकी तो सबको सुविधा हो ।

भूत या वेकार अन्धुको हिमत पड़ुचाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥ ३ ॥

यदि तन-धन-उनसे विहीन हम,
पर मनसे क्यों बनें दीन हम ?

भला न सोचा अगर किसीका—बुरा न सुहवाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥ ४ ॥

जितना हो दुनियाको देना,
बदलेमें कम से-कम लेना ।

जग-हितमें सर्वस्व सुकृत कर, सत्य मोक्ष पाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥ ५ ॥

ये सब कंचन-कामिनिवाले,
क्षणमरको बनते मतवाले ।

पर यह तो भीतर तृष्णाकी, भट्ठी भड़काना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥ ६ ॥

कण-भर सुख है, मण-भर दुःख है,
विषय-वासनाका यह रस है ।

हाय-हाय मचती रहती है, दैन नहीं पाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥ ७ ॥

काम भोग अनुकूल न पायें,
पर तृष्णाको नहीं बढ़ायें ।

इच्छा ईघन सदा अनलमें, यह न भूल जाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥ ८ ॥

जीवन जलत-सुशत दीवर है,
जल-घटकोंका यंत्र रँहट है ।

भरता है रीता होनेको, रीता भर जाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥ ९ ॥

झड़े वैभव पर क्यों फूला,
यह तो ऊँचा-नीचा झूला ।

धन-यौवनके बंचल-बलपट, कभी न इतराना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥ १० ॥

नीति-सद्वित करतव्य निभाना,
अपने-अपने खेल दिलाना ।

सन्न्यासी हों या गृहस्थ हों, रंक हों कि राना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥ ११ ॥

उठना रिरना हँसना रोना,
पर चिन्तामें कभी न सोना ।

कर्मबंधके बीज न बोना, सत्य-योग-ध्याना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥ १२ ॥

ईश्वर एक, भरा हम सबमें,
श्रद्धा रहे राम या रवमें ।

‘सबके सुखमें अपने सुख’ का तत्त्व न बिसराना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥ १३ ॥

दिव्य गुणोंकी कीर्ति बढ़ाना,
जग-जीवनको सर्व बनाना ।

दुनियाका नंदन बन फूले, वह रस बरसाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥ १४ ॥

जीवन्मुक्ति-मर्म समझाना,
हृदयोंको स्थितप्रक बनाना ।

सदा सत्यमय प्रेम-मंत्रके अमर-नीत गाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥ १५ ॥

सब ही शख बने हैं सब्दे,
किन्तु समझनेमें हम कब्दे ।

पक्षपातका रंग चढ़ाकर, क्यों भ्रम फैलाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥ १६ ॥

अविवेकी चक्र खाता है,
तब लड़ना भिड़ना भाता है ।

रागद्वेषसे वैर बसाकर, धर्म न लजवाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥ १७ ॥

सब धर्मोंने रस बरसाया,
पाप-अनलका ताप बुझाया ।
वह रस भी अब तपाए अनलसे, अंग न जलावाना ॥

जगतमें दुःख भरे नाना ॥१८॥

जाति-भेद हैं इतने सारे,
बने सभी सुविधार्थ हमारे ।
मानवताका भाव भूल कर्यो मध्यमें मरताना ॥

जगतमें दुःख भरे नाना ॥१९॥

धर्म-पंथमें भेद भले हैं,
पर अपवाद विरोध ठले हैं ।
एक सूक्ष्ममें विविध पुष्पकी, माला पिरवाना ॥

जगतमें दुःख भरे नाना ॥२०॥

तैतिक नियमोंका पाबंदी,
संत स्वतंश सदा आनंदी ।
पर पर-पीड़ामें उसको भी, औस्तु वह आना ॥

जगतमें दुःख भरे नाना ॥२१॥

युक्त अहार-विहार सदा हो,
फिर भी होना रोग बदा हो ।
इस जीवमका नहीं भरोसा, मनको समझाना ॥

जगतमें दुःख भरे नाना ॥२२॥

हर ह्रासतमें हों सम भावी,
बने धर्मके सच्चे दावी ।
सभी अवस्थायें अस्थिर हैं, हरदम गम खाना ॥

जगतमें दुःख भरे नाना ॥२३॥

कर्हे हो ऐसा अन्यायी,
बन जाये जगको दुखदायी ।
उसे बचाना प्राण-मोह है, यह न दया लाना ॥

जगतमें दुःख भरे नाना ॥२४॥

विनायी सत्य-अहिंसक होना,
पर भौतिक भी शक्ति न खोना ।
परके सिरपर किन्तु शांतिकी नींद नहीं आना ॥

जगतमें दुःख भरे नाना ॥२५॥

मनको सीधे पथ चलाना,
यथा-लाभ संतुष्ट बनाना ।
पर-हित करके आःभ-ग्रांसक गर्व नहीं लाना ॥

जगतमें दुःख भरे नाना ॥२६॥

छल प्रथं पाखड़ भुलाना,
दुःखार्थोंका दम्भ मिटाना ।
मेष दिखा करके भोलोंको, कभी न बहकाना ॥

जगतमें दुःख भरे नाना ॥२७॥

भूले महामोहकी ग्रस्ती,
बस जाये फिर उजाई बस्ती ।
हितकर मनहर सद् भावोंका सरवर लहराना ॥

जगतमें दुःख भरे नाना ॥२८॥

ये सब नमके मेघ रसीले,
इन्द्र-धनुष हैं विविध रंगीले ।
देसद ही बस अपना मन हो, मैल नहीं लाना ॥

जगतमें दुःख भरे नाना ॥२९॥

इन सफेद आँखोंमें लाली,
उसमें भी है फौकी काली ।
भिन्न-भिन्न मिल जायँ स्नेहसे, सुंदरता पाना ॥

जगतमें दुःख भरे नाना ॥३०॥

यह हल्कीसी जीव हमारी,
रस बखती है भरती-भारी ।
पर क्यों इतनी विशद दुष्टिने, तत्त्व न पहचाना ॥

जगतमें दुःख भरे नाना ॥३१॥

ज्यालामुख भूकम्प ग्रलय सब,
ये संकट आ जाते जब-तब ।
एक दिवस हमको मरना है, फिर क्यों धबराना ?

जगतमें दुःख भरे नाना ॥३२॥

यह तो प्रकृतिदेविकी लीला,
क्षण-क्षणमें सघर्षण-शीला ।
यथाशक्ति सहयोग एरस्पर लेना दिलचाना ॥

जगतमें दुःख भरे नाना ॥३३॥

आधा नर है आधी नारी,
मानव-रथ दोन्हक-विद्वारी ।
एक दुसरेके उपकारी, पूरक कहलाना ॥

जगतमें दुःख भरे नाना ॥३४॥

पूर्ण ब्रह्मका छुव प्रकाश है,
क्यों किसका जीवन निराश है ।
सच्चे बनकर चिदानन्दमें आप समा जाना ॥

जगतमें दुःख भरे नाना ॥३५॥

अन्तस्तलमें फैली माया,
द्रोह-मोहका घन तम छाया ।
सत्य-प्रेमके 'सूर्यचंद' की किरणें चमकना ॥

जगतमें दुःख भरे नाना ॥३६॥

प्रेम-धर्मकी रीति समझकर, सब सहले जाना ।

जगतमें दुःख भरे नाना ॥

सबसे पहली साधना

(लेखक—स्वामीजी ब्रीतपोबलजी महाराज)

सबसे पहले मनुष्यको मनुष्य बननेके लिये साधना करनी चाहिये । मनुष्यके आकारमात्रसे ही कोई मनुष्य नहीं हो सकता । आकारके साथ ही उसमें मनुष्योचित गुण भी होने चाहिये । जिसमें मनुष्यके गुण विद्यमान हैं, वही वस्तुतः ‘मनुष्य’ शब्दका बाच्य हो सकता है । पशु-मनुष्य, मनुष्य-मनुष्य, और देव-मनुष्य—इस प्रकार स्थूलरूपमें मनुष्यके तीन विभाग किये जा सकते हैं । सच कहा जाय तो किसी-किसी अंशमें तो मनुष्य पशुसे भी निष्पृष्टतर जन्मता है । आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि चेष्टाएँ पशुओंमें प्रकृतिके अनुसार नियमपूर्वक परिमितरूपमें हुआ करती हैं । पशु अपने आन्तरिक भावको किसी भी प्रकारसे छिपानेका प्रयत्न नहीं करते । भीतर कोष होता है तो बाहर भी कोष प्रकट करते हैं । उनके मनमें विशद होता है तो चेहरेपर भी आ जाता है । अंदर भूख-प्यास होती है तो वे बाहर भी वैसी ही चेष्टा करते हैं । परन्तु वह मनुष्य-जन्मतों ऐसा है कि उनके भीतर रागकी आग धधकती रहती है, पर बाहरसे बड़ा विरक्त बन जाता है । चित्त क्रोधसे आकुल होनेपर भी बाहरसे प्रेम दिखलाता है । मन शोकसागरमें डूबा रहता है, परन्तु बाहर सर्वथा अशोक और हर्षका स्वांग भरता है और अंदरसे पक्का नास्तिक होनेपर भी बाहर पूरा आस्तिक और धर्मापदेशक बन बैठता है । इस प्रकारकी अप्राकृतिक जालसजियोंके और अनियमित भोगलिंगाओंके कारण वह मनुष्य-जन्मतु पशुओंकी श्रेणीमें भी खान न पाकर उनसे भी नीचा जीवन व्यतीत करता है ।

कहना न होगा कि धर्म और अधर्मका ज्ञान न होनेके कारण जगत्‌में केवल इन्द्रियसम्बन्धी व्यवहार करनेवाले पशु-मनुष्यकी अपेक्षा भी वह भोगपरायण और दम्भी मनुष्य अत्यन्त निष्कृष्ट है, जो प्रकृतिसिद्ध भोगोंके अतिरिक्त नाना प्रकारके कृतिम और महान् अनर्थकारी भोगोंका लोलुप होकर उन्हींकी प्राप्तिके उपायोंमें लगा रहता है तथा धर्मधर्जी बनकर अपने वाग्जालसे लोगोंको ठगा करता है । पशुमें कृत्याकृत्यका ज्ञान नहीं होता । यही उसमें मुख्य दोष है । इतीलिये जिस मनुष्यमें कृत्याकृत्यका ज्ञान नहीं होता, वह पशु-मनुष्य कहलाता है । परन्तु उपर्युक्त

सा० अ० १५—

मनुष्य वो अनेकों प्रकारके महान् अक्षन्तव्य दोषोंसे बूरित है । पढ़े लिखे, पण्डित और बुद्धिमान् होनेका अभिमान रखनेवाले लोग ही अधिकतर इस नीच श्रेणीके भूषण देवजनेमें आते हैं । सीधे-सादे पशुहुल्य गँवार मनुष्योंमें तो इस अनर्थकारिणी नीच कलाका विकास ही नहीं होता ।

हलिये मनुष्यको सबसे पहले मनुष्यत्व प्राप्त करनेकी साधना करनी चाहिये । प्राचीन समयमें गुहकुलवास, गुरु-युश्मा, सदाचार-निश्चा आदि ऐसी उत्तम-उत्तम वैदिक प्रथाएँ थीं कि उनके प्रभावसे मनुष्यमें आप ही मनुष्यत्वका विकास हो जाता था । उस समय मनुष्यत्वके लिये विदेशी साधना करनेकी आवश्यकता नहीं थी । आजकल तो, हेतु कुछ भी ज्ञान न हो, मनुष्य अपने मनुष्यत्वको ही खो रहा है । और जब मनुष्यमें मनुष्यत्व ही न हो तब फिर वह दिव्य-गुण-सम्पन्न देव-मनुष्य तो हो ही कैसे सकता है ! ईश्वराराधन, ईश्वरमन्ति, अध्यात्म-विचार तथा ज्ञान और सम्पाद्य आदि ऊँची दिव्य साधनाएँ ऐसे परित मनुष्योंके द्वारा कैसे सम्पादित हो सकती हैं ?

‘नविरतो दुश्चिवाच ।’

—इत्यादि श्रुतियों दुराचरण और दुर्गुणोंसे रहित उत्तम पुरुषोंका ही अध्यात्मसाधनामें अधिकार बतलाती हैं । कर्मी, योग, भक्ति और ज्ञानसम्बन्धी वैदिक, तान्त्रिक अथवा धौराणिक अध्यात्मसाधना ऐसे सदाचारी पुरुष ही कर सकते हैं । हठ, दुराप्रद या कौदूषलपूर्वक अनधिकार चेष्टा करनेसे क्या फल हो सकता है ?

अतएव हे मनुष्य ! तुम पहले मनुष्य बनो ! मनुष्यत्वके लिये जिन साधनाओंकी आवश्यकता है, पहले उन्हींको करो । धर्मका ज्ञान न हो तो सत्पुरुषोंकी सङ्गतिसे पहले उसे प्राप्त करो । धर्मज्ञान हो तो उसमें श्रद्धा और निष्ठा करके तदनुकूल आचरण करो । श्रुद्ध आचरण ही मनुष्यत्वके मापनेका मानदण्ड है ।

धर्मो हि तेयामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥

—इस उक्तिको सदा याद रखें । तथा—

‘सत्याग्रह प्रमदितव्यम् । धर्माग्रह प्रमदितव्यम् । कुशालाङ्

प्रसंदितव्यम् । सर्वं बद । धर्मं चर । मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । आन्यवचानि कर्मणि तानि सेवितव्यानि नो इतरणि । आन्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि ।'

—इत्यादि श्रुतिवचनोंके अनुसार सत्य, धर्म, दया, दान, समता, मैती, तप, शम, दम, सन्तोष, पैर्य, स्थैर्य, क्षमा, शौच, आर्जव (मन, शाणी और शरीरकी सरलता—एकलपता), व्रहचर्य, स्वाध्याय, गुरुभक्ति, मातृभक्ति, पितृभक्ति, देशभक्ति, दीनसेवा आदि श्रेष्ठ गुणोंका उपार्जन करके सब्दे धर्मेनिष्ठ सदाचारी मनुष्य बनो । भगवान् श्रीरामचन्द्रजी, भरत, लक्षण, युधिष्ठिर एवं सीता, साधिकी

आदि ऐतिहासिक उत्तम-उत्तम पुरुषरत्न और खीरबोंके जीवनको सामने रखकर अपनेको उसीके अनुसार सच्चा और श्रेष्ठ मनुष्य बनानेकी नेत्रा करो ।

उत्तम मनुष्य ही ईश्वर-प्राप्तिकी दिव्य ईश्वरीय साधना करनेका अधिकारी होता है । इसलिये प्रकाण्ड ताण्डव छोड़कर अर्थात् बड़े-बड़े ईश्वरमत्त और ब्रह्मज्ञानियोंके देवपूज्य और देवदुर्लभ उच्च स्थानोंपर आरोहण करनेकी उत्तुकता त्यागकर सबसे पहले मनुष्यत्वको प्राप्त करनेकी सर्वी साधना करो । धर्माचरणरूपी वह धार्मिक साधना ही अथात्-मन्दिरपर चढ़नेके लिये पहली सीढ़ी है । इसलिये यही सबसे पहली साधना है ।

साधनकी अनिवार्य आवश्यकता

‘उपस्थित्यं जागृत्वमभिमिष्ट्यं भारतः ।’

—श्रुति

‘बुद्धिमानो ! उठो, जागो और भगवत्प्राप्तिकी इच्छा करो ।’

विचारशील मनुष्यके सामने सबसे पहले यह प्रश्न आता है कि हमें क्या चाहिये ? और जो चाहिये, उसके लिये हमें क्या करना चाहिये । पहले उद्देश्यका निश्चय, तत्प्रभात् उसकी साधनाका निश्चय होता है । मनुष्य कुछ-न-कुछ चाहता है । कोई धन-सम्पत्ति चाहता है, कोई श्री-पुत्र चाहता है, कोई मान-प्रतिष्ठा और कीर्ति चाहता है, कोई सुन्दर शरीर चाहता है । और कोई चाहता है अप्रतिहत शासन । इस चाहके और भी अनेकों नाम-रूप हो सकते हैं । परन्तु ये भी जीवनके उद्देश्य नहीं, क्योंकि इनके द्वारा भी सुख ही चाहा जाता है । यदि ये दुःखके कारण बन जायें तो इनके भी परित्यागकी इच्छा होती है और परित्याग कर दिया जाता है । इसलिये वह आत स्वतः चिढ़ हो जाती है कि मनुष्य-जीवनका लक्ष्य परम सुखकी प्राप्ति है—ऐसी प्राप्ति, जिसमें किसी प्रकारकी सीमा, अन्तराय अथवा किंचेद न हो—चाहे वह संग्रहसे हो चाहे त्यागसे । यही कारण है कि मनुष्य जिसको सुख समझता है उसको प्राप्त करनेके लिये दौड़ पड़ता है, समर्पण शक्तिसे उसके लिये प्रयत्न करता है । इस प्रयत्नका नाम ही साधना है ।

साधारण मानव-तमाजकी ओर हष्टि डाली जाय तो वह प्रत्यक्ष ही दीख पड़ता है कि सभी किसी-न-किसी साधनमें

लगे हुए हैं । ऐसा होनेपर भी वे दुःखी हैं, निराश हैं और साधना करके जिस आमतृष्णिका अनुभव करना चाहिये उससे बचता है । इसका कारण क्या है ? शान्त और गम्भीर वित्तसे विचार करनेपर जान पड़ता है कि जीवनका उद्देश्य निश्चय करनेमें ही उन्होंने भूल की है । धधकती हुई आगको शीतल मणि-खण्ड समझकर गोदमें उठा लेना जैसे सुखका कारण नहीं हो सकता, विक्को अमृत समझकर पीना जैसे अमरत्वका कारण नहीं हो सकता, ठीक वैसे ही विनाशी वस्तुओंको सुख समझकर अपनानेसे सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती । जिन स्थूल और जड़ वस्तुओंमें सुखकी कल्पना करके साधारण मनुष्य जी-तोड़ परिश्रम कर रहे हैं, उनकी प्राप्ति होनेपर भी सुख नहीं मिलता; क्योंकि उनमें सुख है ही नहीं । इसीसे वे दुःखी हैं और तबतक उनका दुःख नहीं मिट सकता, जबतक सुखके वास्तविक स्थानका पता लगा कर वे उसको प्राप्त नहीं कर लेते ।

वास्तविक सुख क्या है ? इसका एकमात्र उत्तर है—परमात्मा । क्योंकि संसारमें जब कभी इच्छाओंके शान्त हो जानेपर यत्किञ्चित् सुखकी अनुभूति होती है और कई बार कई कारणोंसे होती है तब इस निश्चयका कारण मिल जाता है कि इन समस्त छिट-पुट सुखोंका अवश्य ही कोई-न-कोई भाण्डा है । उसीका नाम तो परमात्मा है । एक ऐसा जान है जो समस्त परिवर्तनोंमें सदा एकरस है । एक ऐसा जान है जो सम्पूर्ण शानोंका उद्भव है, जिसमें अशानका लेवा भी नहीं है । एक ऐसा आनन्द है, जिसका निर्वचन मन और

बाणीसे मैंन होकर ही किया जाता है और जिसके आस्वादन में आस्वाद्य और आस्वादकका भेद नहीं रहता । वह भ्रुत्तरतिमधुर, नित्यनृत्य, परम मनोदृ, सत्य परमात्मा ही तो है । उसको देखे विना आँखें अतुल ही रहेंगी । उसके बिना हृदयकी बेज सूनी ही रहेगी, उसका आलिङ्गन प्राप्त किये विना बोहे फैली ही रहेगी । तात्पर्य यह कि उसको प्राप्त करनेमें ही जीव-जीवनकी पूर्णता है और जिस जीवनका वह लक्ष्य है, वही सच्चा जीवन है । इस सच्चे जीवनका नाम ही साधन है । जिन्हें यह साधन प्राप्त है, साथ भी उन्हें प्राप्त ही है । क्योंकि साधन ही साथ है और वही सिद्धि भी है । वही वास्तविक सुख है ।

जीव पूर्वतन संस्कारोंसे इतना जकड़ गया है कि वह संतारीन, मूर्च्छित अथवा सुषुप्त हो गया है । वह भगवदीय प्रेरणा और शक्तिका अनुभव करनेमें असमर्थ है । क्योंकि इस समय जो अन्तःकरण जागरित रहकर कार्यकारी हो रहा है, वह बासनाओंके उपरुक्ते अतिरिक्त और कुछ नहीं है । उसीसे प्रेरित होकर साधारण मनुष्य उन्मत्तीकी भाँति लक्ष्य-हीन प्रयत्न कर रहे हैं, जिनके कारण बन्धन और भी दृढ़ होता जा रहा है । वही कारण है कि अधिकांश अपनेको स्थूलशरीर मानकर इसीसे सम्बन्ध रखनेवाली सम्मानाओंके प्रदाहमें बह रहे हैं । इस जड़ताको, अन्वयतिको और बन्धनको नष्ट करना होगा । यह सत्य है कि यह बन्धन बहुत ही निष्ठुर है, तथापि इसको कट डालनेमें कोई सन्देह नहीं है । भगवान्की अनन्त शक्ति और कृपाका आश्रय लेकर क्या नहीं किया जा सकता ? अन्तमें भागवत सत्ताकी विजय निश्चित है ।

बासनाओंसे सञ्चालित होते रहनेके कारण चित्तमें इनी परायीनता आ गयी है कि इनसे मुक्त होनेका प्रयत्न प्रारम्भ करनेमें और उसको चालू रखनेमें कई बार अपनी ही वृत्तियाँ बाधक हो जाती हैं और यह असमर्प मात्रम होने लगता है कि मेरी इस साधनासे भी कुछ सिद्धि-लाभ हो सकता है । अवश्य ही यह ठीक है कि सारा चरान्कर जगत् कर्मसूत्रसे बैधा हुआ है और यह बत्तमान जीवन और इसकी प्रवृत्तियाँ प्रारब्धके द्वारा ही परिचालित होती हैं । परन्तु वही सोचकर पुरुषकर अथवा साधनसे बिमुख हो जाना, अपनी आच्यालिक उत्तरिको भी प्रारब्धपर छोड़ बैठना, बहुत बड़ी कमज़ोरी है—बल्कि यों कहें कि यह अपने ही हाथों अपने-आपकी हत्या है । मला, जिस साधनसे अपने-आपकी उपलब्धि

होती है उसीको प्रारब्धके हाथों सौंप देना आत्मघात नहीं तो और क्या है ?

विचार करनेकी बात है कि जिस प्रारब्धके भरोसे हम अपने जीवनका उज्ज्यवल भविष्य अन्वकारमें डाल देते हैं, उसका मूल क्या है ? पूर्वजन्मोंके पुरुषकारको ही तो प्रारब्ध कहते हैं । हमारे पूर्वजन्मके कर्म अच्छे ये या बुरे, साधक ये या बाधक—इसका निर्णय कैसे किया जा सकता है ? मान लें कि वे साधनके विषेशी थे तो क्या हमें इस जन्ममें भी उनसे लड़कर आगे के लिये साधनके अनुकूल प्रारब्ध नहीं बनाना चाहिये ? क्या उन्हीं कर्मोंके चक्रमें पितरे रहकर जन्म-जन्म उन्हींकी गुलामी करनी चाहिये ? जिसमें जरा भी जीवन है, वह कभी ऐसी पराधीनता स्वीकार नहीं कर सकता । यदि यह मानें कि मेरे पूर्वजन्मोंके कर्म, जिनसे प्रारब्धका निर्माण हुआ है, साधनके अनुकूल ही थे तो क्या उनकी सहायताके लिये वैसे ही और भी कर्म करके उनकी प्रगतिको बढ़ाना नहीं चाहिये ? तात्पर्य यह कि प्रारब्ध आहे अनुकूल हो अथवा प्रतिकूल, दोनों ही हालतोंमें हमें अपने जीवनके उद्देश्यको पूर्ण करनेके लिये अथक प्रयत्न करनेकी आवश्यकता है ।

कभी-कभी ऐसा देखनेमें आता है कि जो वधोंसे साधनामें ल्पो हैं, उन्हें सिद्ध नहीं प्राप्त होती और जिन्होंने बहुत ही योङा परिअम किया है, उन्हें योङे ही दिनोंमें बहुत बड़ी सिद्धि प्राप्त हो जाती है । इसका कारण क्या है ? पूर्वजन्मके संस्कार ही इसमें प्रथान कारण हैं । जिनके संस्कार साधनाके अनुकूल किन्तु प्रसुत थे और अब साधनाके संयोगसे जागृत हो उठते हैं, उन्हें अविलम्ब सिद्धि मिल जाती है । जिनके संस्कार नहीं थे या कम थे, उनकी साधना धीर-धीरे पूर्वसञ्चित कर्मोंके भान्डारसे सामग्री संग्रह करती है और समय आनेपर, तैयारी पूरी होनेपर साधनाकी अभि प्रज्ञवलित हो उठती है, जिसमें पूर्व संस्कार भस्म हो जाते हैं और वह नित्य सिद्ध वस्तु, जो विभिन्न संस्कारोंसे अलिस, अस्वृष्ट और अनाकलित है, प्रकट हो जाती है तथा जीव अल्पसे महान् हो जाता है । संस्कारोंसे विजडित होनेके कारण ही जीवकी दृष्टि अशुद्ध हो गयी है । वह जो कुछ देखता है, संस्काराकान्त हीष्टिसे ही देखता है । इसीसे सत्य भी उसके चक्षमें रंगमें रँगा हुआ ही दीखता है । परमात्माकी बात तो अलग रही, वह अपने आपको ही दूसरे रंगमें रँगा हुआ देखता है । संस्कारोंके इस चम्पेको, दृष्टिके एक-एक दोषको हँड़-हँड़कर निकाल पैकना होगा । सत्य कर्म-संस्कारोंकी अभिव्यक्ति नहीं है । इनके धो-बहानेपर

जो अवश्यक रह जाता है, जो धोनेवाले का मूल स्वरूप है, जो धोनेवाले के धुल जानेपर भी रहता है, वही सत्य है और उसको हूँड लिकालना ही साधना है। वह सत्य ही करना होगा। जो आलस्य और प्रमादके भावोंसे अभिभूत हो रहे हैं, उनका अच्छा प्रारब्ध भी बाँक हो जायगा; क्योंकि साधनाके साथ संघर्ष हुए विना वह फलप्रसू नहीं हुआ करता। प्रारब्धरूपी बीजके अद्भुतित, पहलवित, पुष्पित और कलित होनेके लिये साधना एक सुसमृद्ध उर्वर क्षेत्र है और इसको तैयार करना साधकके अधीन है।

जीवका धर्म है साधना, और भगवान्का धर्म है कृपा। जीव जब अपने धर्मका पालन करता है, तभी वह भगवदर्थका अनुभव कर सकता है। जो स्वधर्मका पालन नहीं करता, वह दूसरेसे धर्मपालनकी आशा रखते—यह उपहासास्पद बात है। इसमें संदेह नहीं कि भगवान्की कृपा चर-अचर, व्यक्त-अव्यक्त और जीव-अजीव—सभापर एकरस एवं अहेतुक है, उसके लिये देश, काल अथवा वस्तुका भेद नहीं है, वह अनादि कालसे अनन्त कालतक एकरस वरसती रहती है, वरसना ही उसका स्वाभाव है और इस प्रकार वरसती रहती है कि जो कुछ है, वह सब उस कृपाका एक कणमात्र है; परन्तु इस सत्यका साक्षात्कार साधनाके बिना नहीं होता। हम कुछ न करें, कुछ न सोचें, परन्तु हमारी नस-नसमें कृपाकी विद्युत-शक्ति दौड़ रही हो। हमारे रग-रगमें वही सुधा मधुर धारा प्रवाहित हो रही हो, हमारे प्राणोंमें उसीका शक्ति-सञ्चार हो तथा मन, बुद्धि, आहङ्कार—जो कुछ मैं हूँ—उसीमें हूँ-उत्तरा रहे हों, हमारी यह स्थिति वास्तविक होनेवाला न होनेपर भी परम साधना है। और मैं तो कहता हूँ, यही सबसे बड़ी सिद्धि है। यदि इसमें वही कोई सिद्धि हो तो वह हमें नहीं चाहिये। परन्तु इस अनुभूतिके बिना कृपाका नाम लेकर हाथपर हाथ धक्के बैठ रहना आसानना है। ऊंके लिये, पुत्रके लिये, शरीरके लिये, मनोरञ्जनके लिये प्रयत्न ही अथवा आलस्यको ही मुख भानकर पढ़े रहें, परन्तु साधनकी चर्चा चलनेपर अपनी अकर्मण्यता और आलस्यप्रियताके समर्थनमें भगवत्कृपाका नाम ले लें या उसके नामपर सन्तोष कर लें—साधना-जगत् में यह एक अमार्जनीय अपराध है।

सूर्यका स्वभाव है कि वह अपनी आलोक-रितियोंके विस्तारसे निखिल जगत्में नवीन चेतना और सूर्योत्तिका सञ्चार करता रहे। यदि नेत्र-दोषके कारण कोई उस प्रकाशको नहीं

प्रहण कर सके तो वह सूर्यका वैषय नहीं, नेत्रके रोगीका ही दोष है। इसी प्रकार भगवत्कृपा होनेपर भी, रहनेपर भी, उसको अनुभव कर सकनेकी योग्यताका अभाव दूर करना होगा। हमें साधनाके द्वारा अपने अन्तःकरणमें ऐसी पात्रता और क्षमताको उद्दीपन करना पड़ेगा, जिसके द्वारा हम उस एकरस कृपाका अनुभव करनेमें समर्थ हो सकें। सूर्यका प्रकाश तो कोयले और आतशी शीशीपर समानरूपसे ही पड़ता है, परन्तु कोयलेपर उसका बहुत ही कम प्रभाव पड़ता है और आतशी शीशीके संयोगसे वह प्रज्ञलित हो उठता है। यही बात भगवत्कृपाके सम्बन्धमें भी है। उसकी अनुभूतिके लिये साधनाके संघर्षसे चमकते हुए निर्मल और उज्ज्वल अन्तःकरणकी आवश्यकता है।

कौन नहीं जानता कि अभि सर्वव्यापक है। आकाशमें कैले हुए नहे-नहे जल-कण और प्रलयकी आगको भी बुझा देनेकी शक्ति रहनेवाली समुद्रकी उत्ताल तरङ्गें भी अव्यक्त अभिसे शून्य नहीं हैं। वह सत्य है। परन्तु इस व्यापक अभिके के द्वारा न तो धरका अंगेरा ही दूर किया जा सकता है और न भोजन ही तैयार किया जा सकता है। यदि हम ऐसा करना चाहते हैं तो इसे साधन-सामग्रीसे अव्यक्त अभिको व्यक्त करना पड़ता है, व्यापक अभिको एक धेरमें प्रज्ञलित करना पड़ता है। यदि हम भगवत्कृपाके द्वारा अपने हृदयमें प्रकाश और आनन्दका अनुभव करना चाहते हैं तो हमें साधन-सामग्रीसे उसको ऐसा बनाना ही पड़ेगा कि वह उस अव्यक्त और व्यापक कृपाको मूर्त्तरूपमें अनुभव कर सके। इसीसे वह देखा गया है कि भगवत्कृपापर जिनका जितना अधिक विश्वास है, वे उतना ही अधिक साधनमें संलग्न होते हैं। वे एक क्षणके लिये भी भगवत्कृपाकी प्रतीक्षा और उसकी अनुभूति नहीं छोड़ते, छोड़ नहीं सकते; क्योंकि उमका जीवन कृपामय अतएव साधनमय हो गया है।

हृदयके अन्तदेशमें परमात्मा और उसके बहिर्देशमें स्थूल प्रपञ्च है। दोनोंके मध्यमें स्थित हृदय जब स्थूल प्रपञ्च-का चिन्तन करता है तब क्रमशः जड़भावापन हो जाता है और जब अन्तःस्थित चित्स्वरूप परमात्माका चिन्तन करता है, तब चिद्रभावापन हो जाता है। हृदयको जड़ताके दलदल-से निकालकर चिद्रमिपर प्रतिष्ठित करनेका प्रयत्न ही साधना है। इस प्रयत्नमें अनेकों प्रकारके स्तर और भूमिकाएँ सहज-रूपसे ही आती हैं। कई साधक पहले जन्मोंमें उनमेंसे बहुत-

सी अथवा कुछ भूमिकाएँ पार कर चुके होते हैं, इसलिये वर्तमान जन्ममें उन्हें उपरके आरोक्षी ही साधना करनी पड़ती है। अधिकारप्रेदका भी यही कारण है। इसीसे भिन्नभिन्न साधकोंके लिये अल्प-अल्प साधनाओंका निर्देश है। एक उदाहरणसे यह बात स्पष्ट की जाती है।

मान लीजिये, दो व्यक्ति भयझर धूपमें धूम रहे हैं। एकको लू लग जाती है और एकको योद्धी-सी गरमीका ही अनुभव होता है। पहलेको जब हो आता है, दूसरा स्वस्थ रहता है। एक ही धूपका हन दोनोंपर भिन्नभिन्न प्रभाव पड़ता है। इसका कारण क्या है? यही कारण है कि इनके शरीरमें रहनेवाली धातुएँ एक-सी नहीं हैं। एकमें धातु-सम्पद है तो दूसरेमें वैपर्यम्। इसीसे एक ही धूपके दो फल होते हैं। इसीप्रकार किसीका अभिमान स्थूलशरीरमें है तो किसीका स्फूर्तशरीरमें। इसके भी अनेकों स्तर होते हैं। जो जिस स्तरको साधनाको पार कर चुका है, वह उसके लिये सहज होता है और जो अभी दूर है, उसमें प्रवृत्ति ही नहीं होती। जिस स्तरमें उसका अभिमान है, वहीसे साधना प्रारम्भ होती है। मनको निपिद्ध कर्मोंसे हटाकर विहित कर्मोंके स्तरमें लाना पड़ता है। विहित कर्मोंमें भी जश्तक ऐहलौकिक काम्य कर्म होते हैं, तबतक स्थूलशरीरका ही अभिमान काम करता रहता है। पारलौकिक कामना होनेपर स्फूर्तशरीरका जागरण प्रारम्भ होता है और निष्कामताके साथ ही अन्तःकरणकी शुद्धि होने लगती है। यह निष्कामता भी शारीरिक कर्मके साथ, मानसिक कर्मके साथ और दोनोंसे रहित—तीन प्रकारकी होती है। पहलेका नाम कर्मयोग, दूसरेका नाम भक्तियोग और तीसरेका नाम ज्ञानयोग है। जब अन्तःकरण शारीरिक और मानसिक कर्मोंसे रहित होकर निस्तक्षल्य जागरित रहने लगता है, तब उसे विशुद्ध सत्य कहते हैं। समाधियोगके समक्ष भेद इसीके अन्तर्यात है। इसीमें वास्तविक शानका उदय होता है, जो कि स्वयं परमात्मा है। इसके पहले अपनी वासनाएँ ही, जो कि अनादि कालसे अगाधित रूपोंमें दबी पड़ी रही हैं, नाना प्रकारके रूप धारण करके आती हैं। समस्त ईंस्कारोंके धुल जानेपर ही परम सत्यका साधाकार सम्भव है। उनको धो डालना ही साधनाओंका काम है। इनमेंसे और इनके अतिरिक्त और भी विभिन्न स्तरोंमेंसे जो

जिस स्तरमें वहुच्छा हुआ साधक होगा, उसको उससे भी कपर उठनेके लिये साधनाकी आवश्यकता होगी—चाहे उस साधना-का रूप जो भी हो।

शान साधनाका विरोधी नहीं है। वह तो उसमें रहनेवाले अज्ञानमात्रका ही विरोधी है। अज्ञानका नाश करके साधनाओं-के स्वरूपकी रक्षा करनेमें ज्ञानका जो महत्व है, वह कोई अनुभवी महापुरुष ही जान सकता है। साधनाओंमेंसे नीच-ऊँच भावको निकालकर विभिन्न रूचि, प्रवृत्ति और अधिकार-यांकोंके लिये सबको सम श्रेणीमें कर देना शनदृष्टिका ही काम है। इसलिये ज्ञानसम्पन्न पुरुष कभी किसी भी साधनाका विरोध नहीं करते और जैसे दूसरे साधकोंके द्वारा प्रथक-पूर्वक साधनाएँ होती हैं, वैसे ही ज्ञानीके शरीरसे भी सहज रूपमें हुआ करती हैं। प्रमाद और आलस्य तो अज्ञानके कार्य हैं, जो आदर्श महात्मामें रह ही नहीं सकते। इसीसे ज्ञानके पूर्वकालमें उन्हें जिन साधनोंका अभ्यास हो जाता है, उन्हींके शरीरके त्यागपर्यन्त सदा अनुष्ठान होता रहता है। जहाँ आलस्य, प्रमाद अथवा कायद्धेशके कारण जान-बृहस्पति साधनोंका परित्याग किया जाता है, वहाँ तो विशुद्ध शान ही नहीं है। और ऐसी स्थितिमें दुःखकी आत्मनिक निवृत्ति हो ही नहीं सकती।

साधनामें प्रवृत्ति ही दुःखकी आत्मनिक निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्तिको लक्ष्य करके होती है। जबतक लक्ष्यकी सिद्धि न हो, तबतक साधनासे निवृत्त हो जाना कायरता है। सुख और दुःख अन्तःकरणमें होते हैं। इसलिये अन्तःकरण-को ऐसी स्थितिमें ले जाना साधनाका काम है, जिसमें उनका अनुभव ही नहीं होता। ज्ञानाभासका आश्रय लेकर अन्तःकरणको सुख-दुःखमें पड़ा रहने देना अज्ञान है। ऐसा निस्तक्षल्य अन्तःकरण, जिसमें सुख और दुःख दोनोंके प्रति समत्व है अथवा उनकी प्राप्ति और विद्यातके लिये कोई स्पन्दन नहीं है, जीवनसुकृतका अन्तःकरण है; और यदि ज्ञान नहीं भी हुआ है तो साधनकी चरम सीमा अवश्य है। इसीसे ज्ञानप्राप्ति और ज्ञानरक्षा अर्थात् जीवसुकृतिका सुख अनुभव करनेके लिये ज्ञानसिद्धान्तमें भी साधनाकी अनिवार्य आवश्यकता स्वीकार की गयी है।

क्षीण हो रहा है क्षण-क्षण यह मनुष्य-जीवन। काल

निगल जाना चाहता है अभी-अभी ! सारा संसार विनाशकी और दुष्टगतिसे दौड़ रहा है । एक ओर यह दृश्य है तो दूसरी ओर परमानन्दस्वरूप प्रभु हमें अपनी गोदमें लेनेके लिये न जाने करते प्रतीक्षा कर रहे हैं और अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं । अशान-निनाड़ामें सोया हुआ यह जीव यदि जग जाय तो यह अपनेको परमात्माकी गोदमें, उनके स्वरूपमें ही

पाकर निहाल हो जाय और स्वप्रकी सारी विभीषिकाएँ निर्मूल होकर लीलाके रूपमें दीखने लगें । यह जागरण ही साधना है और यह करना ही होगा ।

'उचिष्ठत जग्रत प्राप्य वरान् निवोधत ।'

'उठो, जागो और बढ़ोके पास जाकर जानो ।'
शा.

साधकका परम धर्म

(लेखक—ब्रीदादा धर्माचिकारी)

साधक वह है, जिसने अपने साध्यतक पहुँचनेके लिये एक निश्चित मार्ग सोच-समझकर निर्धारित कर लिया हो । उसका साथ तो निश्चित है ही । लेकिन इसके अतिरिक्त उस साधकी प्राप्तिका साधन भी निश्चित है । साधन-निष्पत्य और साधननिष्ठा ही साधककी विशेषता है । कई लोग यह कहते पाये जाते हैं कि 'साधननिष्ठाकी आवश्यकता नहीं है । एक ही साध्यके अनेक साधन हो सकते हैं और होते भी हैं । अपनी शक्ति तथा देश-काळ-परिस्थितिके अनुसार जब जो साधन सुखम हो, उस वक्त उसका प्रयोग करना चाहिये । 'साधनानामनेकता'—लोकमान्य तिलक-जैसे जानवान् कर्मयोगीका दिया हुआ सुन है ।'

दूसरे कुछ लोग 'End justifies the means' वाली अंग्रेजी कहावतका अनुवाद करते हुए कहते हैं, 'साध्यशूद्धी साधनशुद्धिः' । वे कहते हैं, 'हमारा उद्देश्य और हमारी नीयत परिवर्त होनी चाहिये । उस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये हम किन साधनोंको कामसे लाते हैं, इसकी छान-चीन करना अनावश्यक एवं अप्रस्तुत है । धर्मका सम्बन्ध मनुधर्मके उद्देश्य और अभिप्रायसे है, न कि उसकी बाध्य क्रतियोंसे । धर्मकी गति स्थूल और बाध्य नहीं है । इसलिये साधनको महत्त्व देना साध्यको भुला देनेके बराबर है ।'

ये दोनों पक्ष तर्कदुष्ट हैं । दोनोंमें गहरे तथा सूक्ष्म विचारका अभाव है । शास्त्रीय दृष्टि तो इनमें नामको भी नहीं है । वैशानिक दृष्टिसे विचार करनेपर सबसे पहले साध्य और साधनका अपरिहार्य सम्बन्ध ज्ञानमें आयेगा । ईश्वरकी इस सुष्ठिमें सर्वत्र नियति और व्यवस्था पायी जाती है । हम जिसे 'संयोग' या 'आकस्मिक घटना' कहते हैं, उसके पीछे भी सुष्ठिके कुछ शास्त्र और अवाधित नियम होते हैं । इसीलिये

श्रीअंगरविन्दने कहींपर कहा है—'In the dispensation of an Almighty Providence nothing happens by accident.' शायद उन्होंने इन्हीं शब्दोंमें न कहा हो, लेकिन इसी अर्थके शब्दोंमें कहा है ।

इस सुष्ठिमें साध्य-साधनका भी एक अपरिहार्य और अवाधित सम्बन्ध पाया जाता है । चाहे जिस साधनसे चाहे जो साध्य प्राप्त होता हुआ नहीं पाया जाता । अगर ऐसा होता तो सुष्ठिमें कोई व्यवहार ही सम्भव न होता, जीवनकी गति कुण्ठित हो जाती और अनवस्था-प्रसङ्ग आ जाता । सुष्ठिमें कार्य-कारण-सम्बन्ध किसी-न-किसी रूपमें सर्वत्र विद्यमान है । इसीलिये हमारा जीवन और उसके आनुषङ्गिक व्यवहार चल सकते हैं । साध्य और साधनका भी ऐसा ही कार्य-कारण-सम्बन्ध है । हर किसी कारणमेंसे हर कोई कार्य निष्पत्त नहीं होता । पानी या तेल विलोनेसे मक्खन नहीं निकलता । अगर मक्खनकी आवश्यकता हो तो दूध या दही ही विलोना पड़ेगा । दही विलोनकी विधियाँ या उपकरण अनेक हो सकते हैं । लेकिन मुख्य साधन तो एक ही होगा—दूध या दही विलोना ।

साध्य निश्चित करनेके बाद साधननिष्पत्य क्रमप्राप्त है । साधननिष्पत्यकी सबसे पहली शर्त यह है कि वह साधानुकूल हो यानी उसमें हमारा अभीष्ट साध्य प्राप्त करनेकी शक्ति यत्निहित हो । अगर उसमें यह शक्ति न हो तो वह साधन बेकार है और उसे स्वीकार करना जड़ता तथा मूरुताका लक्षण है ।

मतलब यह कि साध्यविवेक और साध्यनिर्णयका जितना महत्त्व है, उतना ही महत्त्व साधनविवेक और साधननिर्णयका भी है । साधन भी दो प्रकारके होते हैं—एक सक्षात् या

प्रत्यक्ष और दूसरा सहायक या अप्रत्यक्ष। प्रत्येक साधकका साक्षात् या प्रत्यक्ष साधन खोजकर उसका नैषिक आचरण करना साधकका विशिष्ट धर्म है। इसीमें उसका साधकत्व है। साधकहठिकी यह विशेषता है कि वह साध्य-साधनके अनुकूल सम्बन्धको देखनेकी अविरत चेष्टा करती है। साध्य और साधनके अधिकारी सम्बन्धका पहला लक्षण यह है कि उन दोनोंमें साध्य साधनमें होना चाहिये। साधनमें साधकों प्रकट करनेकी शक्ति होनी चाहिये। 'कथमसतः सजायेत' १—यह प्राचीन शास्त्रकारोंका नियम यहाँपर भी लागू होता है। जिस साधनमें साध्य उत्पन्न करनेकी शक्ति न हो, अर्थात् जिसमें साध्य बीजस्तरमें विद्यमान न हो, या अधिक स्पष्ट भाषामें कहें तो जिस साधनमें साधकी विशेषताएँ मौजूद न हों—वह साधन उपयोगी नहीं है। इस दृष्टिसे 'साधनानाम् अनेकता'का अर्थ 'साधनानाम् अविवेकः' या 'साधनानाम् अनिश्चयः' नहीं है। क्योंकि किसी भी साधनका कुशलतापूर्वक प्रयोग तभी हो सकता है, जब कि उसका स्वीकार विचारपूर्वक किया गया हो और उसका हमारे निर्दिष्ट साध्यसे स्वाभाविक सम्बन्ध हो। जो साधक इस मूलभूत तिद्रान्तको भूलेगा, उसकी बुद्धिं अव्यवसायात्मिक हो जायगी। वह अपनी बहुशाल बुद्धिकी अनन्त गुणियोंमें और अनन्त साधनोंमें उलझकर गुमराह हो जायगा।

साधननिश्चयमें साध्य-साधनके अनिवार्य सम्बन्धके बाद साधकों अपने अधिकारका विचार करना चाहिये। अधिकारमें दो अंश हैं। एक अर्थित्व और दूसरा योग्यता। अर्थित्व-से मतलब है एक निश्चित उद्देश्य सिद्ध करनेकी उत्कट अभिलापा। जहाँ अभिलापा या अर्थित्व ही न हो, वहाँ कोई साधन खोजने या अपनानेका संवाल ही नहीं उठता—'प्रयोजनमनुदित्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' २ दूसरा अंश है योग्यता। साधकीं शक्ति और परिस्थितिसे उसकी योग्यता मर्यादित होती है। इसलिये अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार प्रत्यक्ष साधनतक पहुँचनेके अनेक उपसाधन हो सकते हैं जो कि मुख्य साधनपर। अर्थात् ये उपसाधन भी मुख्य साधनके अनुरूप होने चाहिये और उनमें से किसी एकको ही अपने अधिकारके अनुसार अपनाकर उसका एकाग्रतासे अनुश्रूत करना चाहिये।

एकाग्रता और निःसन्दिग्धता साधकबुद्धिके आवश्यक गुण हैं। साधकके मनमें जबतक साधनके विषयमें सन्देह

रहेगा, तबतक वह अपनी सारी शक्ति लगाकर उसका आचरण नहीं कर सकता। मनःपूर्वकता और हार्दिकता कार्य-कुशलताकी कुड़ी है। इसलिये साधकको अपने साधनमें इतना लीन हो जाना चाहिये कि उसे साधकी भी सुध न रहे। क्योंकि वह यह तो जानता ही है कि साधनकी परकाणा ही साध्यप्राप्ति है। रासेका अनित्य विन्दु ही तो मुकाम है न! 'साधनकी परिपक्व अवस्थाका ही तो नाम साथ है न' ३ 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासद्व' कहकर ऋषिने ब्रह्मप्राप्तिका साधन बतलाया। लेकिन इतनेवृते उसे सन्तोष नहीं हुआ। इसलिये उसने साध्य-साधनका अभेद निर्दिष्ट करनेके लिये उक्त स्त्रमें 'तपो ब्रह्मेति' यह अंश और जोड़ दिया। जो साधक अपनी साधनामें उत्कटतासे जुट गये, उन्होंने उसीमें साध्यप्राप्तिका अभित आनन्द पाया। साध्य और शिद्ध दौड़कर उनके पीछे आयी और उनके जीवनमें दुल-मिल गयी, लेकिन उन्हें उसका पता भी न चला। वे तो साधन-के सान्त्विक आनन्दसे मतवाले हो रहे थे। प्रह्लादसे जब कहा गया कि 'मनमाना वरदान माँग ले' तो उसने कहा कि 'जो मुक्तिके लिये भक्ति करता है 'स वै वणिक्'। मैं कोई सौदागर नहीं हूँ। भक्ति तो मेरा स्वभाव है।' तुकारामने कहा, मैं मुक्ति-भुक्ति नहीं चाहता; मुझे तो साधनमें ही आनन्द आता है।' पुण्डलीके पीछे स्वयं मुकिदाता आकर खड़े हो गये तो भी साधननिरत पुण्डलीकने नम्रतासे कहा कि 'इस बक्त मैं मुड़कर भी नहीं देख सकता। सेवामै लगा हूँ।'

यह है साधनपरायणताकी चरम सीमा। ये भक्तओं जानते थे कि जिस साधनाकी बदौलत हमें लिदि पात दुर्द है, उसकी महिमा अपरम्परा है। यह अविवेकी 'साधन-आग्रह' या 'साधनवाद' नहीं है। इसमें साधनके ही साध्यके सिद्धासनपर हठात् बैठानेका मूढ़ प्रयास नहीं है। यह तो साध्य और साधनका वैज्ञानिक सम्बन्ध जानकर उसके अनुसार सारी शक्तियाँ साधनपर एकाग्र करनेका शास्त्रशुद्ध और त्रुतिसङ्कृत यार्थ है। साधनकैनिष्ठा ही साधकका परम धर्म है। इसीलिये स्वामी विवेकानन्दने कहा है, 'Take care of the means and the end will take care of itself.' और इस युगका अद्वितीय साधक गांधी कहता है, 'I believe that ultimately the means and the end are convertible terms.' (साधन और साध्य ऐसे शब्द हैं जो अन्ततः एक दूसरेमें परिवर्तित किये जा सकते हैं।)

यदि 'End justifies the means' (अर्थात् साधनकी निष्कृष्टताको साध्यकी सिद्धि उत्कृष्ट बना देती है), इसका अर्थ यह हो कि अद्विद्व साधनसे भी शुद्ध साध्य प्राप्त हो सकता है तो वह अपरिसिद्धान्त है । हमें उसका अर्थ ऐसा कहना चाहिये कि 'जो साधन साध्यके अनुकूल है, वही उपयुक्त है' । यदि 'साधनानाम् अनेकता' का अर्थ 'साधनानाम् अनियमः' हो तो वह भी भयानक अपरिसिद्धान्त है । एक

समय एक ही साधनका सम्यक् और नैषिक अनुडान हो सकता है । भिज्ञ-भिज्ञ अविद्वद् साधनोंका सह-अनुडान एक परिमित सीमातक ही सम्भव और इष्ट हो सकता है । विद्व साधनोंका सह-अनुडान न तो सम्भव है और न वाङ्छनीय ही ।

हमारे राष्ट्रिय साध्यके साधननिर्णयमें गंगीजीकी यही भूमिका रही है ।

सदाचार-साधनकी परमावश्यकता

(लेखक—स्वामीजी श्रीनारदानन्दजी महाराज)

सत्पुरुषोंद्वारा प्रमाणित आचरण ही सदाचार है । सत्य, अहिंसा आदि दैवी गुणोंसे युक्त पुरुष ही सत्पुरुष है । सत्पुरुषको साधु और असत्पुरुषको असाधु कहा जाता है । संसारमें दो ही प्रकारके पुरुष कहे गये हैं । भले-बुरे, सज्जन-दुर्जन, पुण्यात्मा-पापी, सुर-असुर, संत-असंत, सदाचारी और दुराचारी नामोंसे लोकमें और शाश्वतोंमें मनुष्योंको दो ही विभागोंमें विभाजित किया गया है—‘द्वौ भूतभूमि लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च ।’

श्रीगीताजीमें दैवी सम्पदसे युक्त पुरुषको ही देव कहा गया है । दैवी सम्पदका वर्गन करते हुए १६ वें अध्यायमें सम्पूर्ण सदाचारके लक्षण दिये गये हैं—

अभयं सत्यसंगुहिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमनं चक्षुं स्वाध्यायालप्य अर्जवम् ॥ १ ॥
अहिंसा सत्यमकोशस्यागः प्राणितरपैशुचन्म ।
दया भूतेष्वलोकुप्लवं मार्दवं द्वीरचापलम् ॥ २ ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमदोही नातिमनिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

सदाचारी अर्थात् दैवी प्रकृतिवाला पुरुष मोक्षको प्राप्त होता है और दुराचारी अर्थात् आसुरीप्रकृतिवाला बन्धनमें पड़ा रहता है—‘दैवी संपद विमोक्षाय निवन्ध्यावासुरी मता ।’ श्रीरामायणजीमें भी श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीने लिखा है—‘सत्य असंतन्हि कै असि करनी । जिमि कुठार चंदन आचरनी ॥ काटइ परसु भलम् सुनु माई । निज गुन देह सुर्य बताई ॥ तते सुर सीसनह चढत जग बहम् श्रीखंड ।’

अब दाहि पीट घनहि परसु बदन यह दंड ॥

बिषय अर्थपूर्व सील मुनाकर । पर दुख दुख सुख सुख देखे पर ॥ सम अमूरतिपु विमद बिरामी । लोभमरम् हरष भव तथामी ॥ कोमल चित दीनन्ध पर दाया । मन बच ब्रह्म मम भवति अमामा ॥ सबहि मानद्र अपु अमामी । भरत ग्रान सम भम ते प्राणी ॥ सम दम नियम नीति नहि ढोलहिं । परम बचन कबहूँ नहिं बोलहिं ॥

निरा अस्तुति उमय सम ममता भम पद कंज ।

ते सज्जन सम ग्रानप्रिय गुन मंदिर सुख धुंग ॥

सदाचारी पुरुषोंकी संख्या और शक्ति जैसे-जैसे क्षीण होती जाती है, वैसे-ही-वैसे संसारमें और अद्यान्ति यदीती जाती है और विना समय ही प्रलयका-सा सङ्कट आ उपस्थित होता है । ऐसे समयमें संत-सुर-रक्षक श्रीजगदीश किंवि महापुरुषके द्वारा सदाचारकी रक्षा तथा बृद्धि करवाकर शान्तिकी स्थापना करते हैं और विशेष आवश्यकता होनेपर स्वयं अवतरित होकर स्वयं उत्तम पुरुषोंके आचरण करके सारे जगत्को सदाचारकी विश्वा देकर और संसारमें पूर्ण शान्तिका साम्राज्य स्थापित करके अन्तर्हित हो जाते हैं ।

असुर मारि आपहिं सुरन्ह राखहिं निज ग्रुति सेतु ।

जग विलारहि विसद जस राम जन्म कर हेतु ॥

सदाचारकी स्थापना प्राणिमात्रके लिये कल्याणप्रद है । मगवान् श्रीरामचन्द्रजी मनुष्योंके लिये सर्वश्रेष्ठ आचरण करनेके कारण ही मर्यादापुरुषोत्तम कहलाये । सदाचारी पुरुषोंके परिणाममें सुख तथा दुराचारी पुरुषोंको दुःख हमेशा मिलता रहा है । सभी इतिहास-पुराण इसके साक्षी हैं । अतएव वर्तमान कालमें भी प्रत्येक समाजमें सदाचारकी स्थापनासे ही सुख-शान्ति मिल सकती है । प्रायः यह सभीके

अनुभवमें आ रहा है कि सदाचारी पुरुषके प्रति सबकी भ्रष्टा होती है और अद्वेय पुरुषका ही प्रभाव संसारमें अधिक समयतक टिकता है। कला-कौशल, भौतिकविद्या, अथवा शारीरिक बलका प्रभाव क्षणिक होता है।

जो मन, वाणी और शरीरसे सदाचारी है वही सदाचारी है। केवल वाणी या किसाका सदाचार दर्भमें परिणत हो जाता है, जिसके प्रकट होते ही पुरुष वृणाका पात्र बन जाता है और परिणाममें दुःखभेद करता है।

जिस समय श्रीहनूमान्जी लंकामें संत-असंतोंकी परीक्षा कर रहे थे, उन्हें प्रथम ऐसा प्रतीत हुआ कि यहाँके निवासी सभी सदाचारी हैं। कारण यह कि सबके यहाँ वेदाध्यन, वश, दान, तप नित्य होता या और पुनः हार्दिक श्रद्धा देखनेपर शत हुआ कि सब लंकानिवासी अहिंसा, सत्य और दयासे शून्य हैं।

दया, शौच और सत्य, अहिंसा आदि दैवीगुणोंका अभाव देखकर हनूमान्जीने निश्चय कर लिया कि वे सभी राक्षस हैं, इनसे मैत्री करनेसे अवश्य हानि है। अधिक खोजनेपर एक गृह राम-नामसे अंकित मिला तथा रामनामका उच्चारण करते विमीपण मिले और जब उन्हें यह विक्षेप हो गया कि इनका मन भी शुद्ध है, ये दया, शौच आदि दैवी-गुणोंसे संयुक्त हैं, और साधु हैं, तभी हनूमान्जीने एक विमीपणको अपना सहायक बनाना निश्चय किया।

गम राम तेहि मुसिरन कीन्हा । हृदर्थं हरण कपि सजन चीन्हा ॥
पहि सन हठि करिहूँ पहिचानी । साधु ते होइ न काम जहानी ॥

अहिंसा, सत्य, शौच, दया इत्यादि गुणोंका स्थान अन्तःकरणमें है और इन दैवीगुणोंकी परीक्षा दैवीप्रकृति-सम्पत्ति शुद्ध अन्तःकरणवाला पुरुष ही कर सकता है। सदाचारके अन्तरङ्ग साधन ही मुख्य हैं, वहिरङ्ग गौण हैं। वहिरङ्ग साधन सरल होनेके कारण उनमें सबकी अतिशीघ्र प्रवृत्ति होती है। वहिरङ्ग गौण साधनोंका लक्ष्य अन्तरङ्ग अहिंसा, सत्य आदिकी वृद्धि करना है—इस बातको भूल जानेके कारण और आसुरी प्रकृति न तागनेके कारण प्रायः वहिरङ्ग साधन दर्भमें परिणत हो जाते हैं। कालनेमिके वहिरङ्ग साधन उत्तम साधुके समान थे। वेष, किया, वाणीमें वह पूरा साधु प्रतीत होता था। परन्तु आसुरी प्रकृति द्वायस्थ होनेके कारण श्रीहनूमान्जीने उल्का वध करनेमें संकोच न किया। आसुरी प्रकृतिवालोंके बाल्मीकी आचरणोंके

साठ अं० १५—

कारण प्रथम पूजित, पुनः भ्रष्ट और नष्ट होते देखकर वहिरङ्ग साधनोंपर जनताकी ओर अब्रद्वा ही गयी है तथा जिन अन्योंने वहिरङ्ग साधनोंकी महिमा गायी है, उनके बचनोंमें विक्षास कम ही गया है! यदि शास्त्रमर्मज्ञ, अनुभवी, गुणातीत पथ-प्रदर्शकके द्वारा वहिरङ्ग साधनोंमें लगे हुए साधकको शनैः-शनैः अन्तरङ्ग साधनोंकी ओर अप्रसर करके एवं साधनोंके सफल होनेपर सफलताके अभिमानसे सुरक्षित किया जाय तो साधक कृतकृत्य ही सकता है। ऐसा एक ही साधक सहस्रों नास्तिकोंको अस्तिक बना सकता है। जब श्रीनरसदीजीको अपने साधनमें सिद्धि देखकर अभिमान हुआ, भगवान्ने लीला करके उस अभिमानको दूर करके उन्हें कृतकृत्य किया। श्रीकाकुमशुण्डिजी पूर्वजन्ममें शूद्र-शरीर पाकर नाम-जप तो करते ही थे, परन्तु नीतिकी और सदाचारकी आध्यक्ता नहीं समझते थे। इसी कारण गुरुके उपदेशकी बार-बार अवहेलना करते थे।

मुख नित मोहि प्रबोध दुखित देखि आचरन मम ।

मोहि उपजद अति क्रोध दम्निहि नीति कि भावई ॥

शङ्कर भगवान् भी इस अनीतिको सहन न कर सके और उन्होंने अन्तमें दण्ड देकर ही इस अभिमान और अनीतिसे कामशुण्डिजीको मुक्त किया।

तमोगुणोंको तमोगुणी पदार्थ ही प्रिय होते हैं और तमोगुणी पदार्थोंके सेवनसे तमोगुण ही बढ़ता है, जिससे बन्धन और दृढ़ हो जाता है। जब कर्मी तमोगुणी पुरुष रजोगुणी पुरुषके प्रभावसे प्रभावित हो जाता है, तब वह रजोगुणी पदार्थोंका सेवन करता है। रजोगुणी पदार्थोंके सेवनसे वह कुछ समयमें रजोगुणी बन जाता है और ऐसा रजोगुणी पुरुष आगे चलकर सात्त्विक पुरुषके प्रभावसे प्रभावित होकर सात्त्विक पदार्थोंका सेवन करने लगता है और कुछ समयतक लगातार सात्त्विक पदार्थोंके सेवनसे सत्त्वगुणी बन जाता है। सत्त्वगुणी पुरुष ही शान और भक्तिके साधनोंमें प्रवृत्त होकर गुणातीत अथवा जीवन्मुक्त हो जाता है और सब प्रकारके संशयोंसे छूट जाता है। शास्त्रोंमें गुणातीतको ही स्थितप्रश्न, भगवद्गद्धत्त, शानी या जीवन्मुक्त आदि नामोंसे सम्बोधित किया गया है। इनके लक्षणोंमें कोई स्वास भेद नहीं पाया जाता—स्थितप्रश्न—यः सर्वश्चानभिस्तेहस्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।

नाभिनन्दिति न हैष्टि तत्प्र प्रश्ना प्रतिष्ठिता ॥

(गीता २। ५७)

भगवद्गत- तुल्यमिन्द्रास्तुतिर्भौंनी सन्तुष्टो थेन केवचित् ।

अनिकेतः स्थिरस्यतेर्भक्तिभान्मे प्रियो नरः ॥

(गीता १४। १५)

गुणातीत- मानापमानबोस्तुप्यस्तुल्यो मित्रापिक्षयोः ।

सर्वांस्मपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥

(गीता १४। २५)

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा अद्यातुपश्यति ।

गुणेभ्य य एवं वेति महावं सोऽविगच्छति ॥

(गीता १५। १९)

जीवन्मुक्त- यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्भौंनीभक्तिपरायणः ।

विगतेच्छाभ्यक्तोषो यः सदा मुक्त एव सः ॥

(गीता ५। २८)

सदाचारके द्वारा ही तमोगुणीसे रजोगुणीसे सत्त्वगुणी और सत्त्वगुणीसे गुणातीत बन जाता है और क्रमशः सदाचारके पालनसे रजोगुणीसे सत्त्वगुणी और सत्त्वगुणीसे गुणातीत बन जाता है। श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके तेरहवें अध्यायमें लिखा है कि गुणपरिवर्तनमें दस पदार्थ कारण होते हैं। गुणपरिवर्तनसे आवरणमें और स्वभावमें मैं परिवर्तन होता है, क्योंकि कारणके सुधरनेसे कार्य स्वतः ठीक हो जायगा। वे दस पदार्थ ये हैं—

आग्नोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च ।

ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारे दशैते गुणहेतवः ॥

‘शाळ, जल, जनसमुदाय, स्थान, समय, कर्म, जन्म, ध्यान, मन्त्र और संस्कार—ये दस पदार्थ गुणपरिवर्तनमें होते हैं।’

ये पदार्थ सत्त्वगुणी, तमोगुणी और रजोगुणी—तीनों प्रकारके होते हैं, जिनकी पहचान संतों तथा सद्गुणोद्धारा हो सकती है।

साधनमार्गमें उत्त्राति चाहेनेवालेके लिये परमावश्यक है कि वह सदाचारकी निरन्तर बृद्धि करते हुए तमोगुणी और रजोगुणी पदार्थोंको छोड़कर सत्त्वगुणी पदार्थोंका ही सेवन करता रहे। इस प्रकार राजसी और तामसी प्रकृतियाले पुरुषोंपर सत्त्वात्मक वन सकते हैं। जिन पुरुषोंको यह भ्रम हो कि तामसी या राजसी प्रकृतियाले पुरुषोंके स्वभावमें परिवर्तन हो ही नहीं सकता, वे इस साधनको आचरणमें लावें तो उनका भ्रम दूर हो सकता है। वर्तमानमें अनेकों साधक इसके प्रयोगसे सुधर गये हैं और सुधर रहे हैं। दुरुर्गोंको छुड़ानेके लिये अपराधियोंको दण्ड देनेके बजाय यदि इन दस पदार्थोंका संशोधन करके सेवन कराया जाय तो दुरुर्गी भी सदाचारी बन सकते हैं। सदाचारके साधनके प्रचारसे संसारमें सुख-शान्तिकी बहुत कुछ बृद्धि शीघ्र हो सकती है। सदाचारका प्रचार सदाचारी पुरुष ही कर सकते हैं। सदाचारके प्रचारकी प्रत्येक समाजमें परम आवश्यकता है।

योगचतुष्टय

(लेखक—एक एकान्तवासी महाराजः)

(१)

मन्त्रयोग

योगसाधनका रहस्य दर्शनोंमें महर्षि पतञ्जलिकृत योगदर्शनमें, महर्षि भरद्वाजकृत कर्मीमांसादर्शनमें और मन्त्रयोगसंहिता, हठयोगसंहिता, लययोगसंहिता, राजयोगसंहिता तथा पुराणोंमें और तन्त्रोंमें विस्तृतरूपसे वर्णित है। योगसाधनकी चार अलग-अलग शैलियाँ हैं। उनमें मन्त्रयोग प्रथम है। उसके महर्षि नारद, पुलस्त्य, गर्ग, धार्मीकि, भगु, बृहस्पति आदि आचार्य हुए हैं।

मन्त्रयोगका सिद्धान्त यह है कि परमात्मासे भाव, भावसे नाम-रूप और उसका विकार तथा विलासमय यह संसार है। इसलिये जिस क्रमके अनुसार सुष्ठि हुई है, उसके विपरीत मार्गसे ही लय होगा, यह निश्चय है। अर्थात् परमात्मासे भाव और भावसे नाम-रूपद्वारा जब सुष्ठि हुई है, जिससे समस्त

जीव संसार-बन्धनमें आ गये हैं, तो यदि मुक्तिलाभ करना हो तो प्रथम नाम-रूपका आश्रय लेकर, नाम-रूपसे भावमें और भावसे भावग्राही परमात्मामें चित्तब्रह्मिका लाग्न होनेपर ही मुक्ति होगी। इसलिये नारदादि महर्षियोंने नाम और रूपके अवलभनसे साधनकी विधियाँ बतलायी हैं। इनीका नाम मन्त्रयोग है। यथा योगशास्त्रमें—

नामरूपास्मिका सूर्योदयस्मात्तद्वलभनात् ।

बन्धनान्मुच्यमानोऽयं सुकिमासोति साधकः ॥

सामेव भूमिमालम्य इवलनं यत्र जापते ।

वत्तिष्ठति जनः सर्वोऽद्यक्षेणैतत्समीक्षयते ॥

नामरूपास्मैर्भौंवैर्भवन्ते लिङ्गिला जनाः ।

अविद्याद्विमित्यैव ताद्क्रमकृतिवैभवात् ॥

आत्मनः सूक्ष्मप्रकृते ग्रवृत्तिं चानुसृत्य वै ।

नामरूपास्मनोः शाद्भावयोरवलभनात् ॥

‘सुष्ठि नाम-रूपात्मक होनेके कारण नाम-रूपके अवलम्बन से ही लालक सुष्ठिके बन्धनसे अतीत होकर सुकिपद प्राप्त कर सकता है। जिस भूमिगम मनुष्य गिरता है, उसी भूमिके अवलम्बनसे वह पुनः उठ सकता है—यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है। नाम-रूपात्मक विश्व जीवको बन्धनसुकृत करते हैं, नाम-रूपात्मक प्रकृति-बैमध्यसे जीव अविद्याग्रस्त हुए रहते हैं; अतः अपनी-अपनी सूक्ष्म प्रकृति और प्रवृत्तिकी गतिके अनुसार नाममय शब्द तथा भावमय रूपके अवलम्बनसे जो योगसाधन किया जाय, उसको मन्त्रयोग कहते हैं।’ मन्त्रयोग-का विस्तार और महिमा सबसे अधिक है। विद्युजातिकी मूर्तिपूजा और पीठविश्वान मन्त्रयोगके अनुसार ही विद्व होते हैं। मन्त्रयोग-साधन-प्रणालीके अनेक अङ्ग हैं। उनमेंसे मन्त्र-योगके ग्रन्थोंमें निन्द्रियित आङ्ग मुख्य बतलाये हैं।

भवनित मन्त्रयोगस्य षोडशाङ्कनि निश्चितम् ।
यथा सुधांशोज्ञायन्ते कलाः षोडश शोभनाः ॥
भक्तिः शुद्धिक्षासनं च पञ्चाङ्गस्तापि सेवनम् ।
आचारधारणे दिव्यदेशसेवनमित्यपि ॥
प्राणकिया तथा मुद्रा तर्पणं हवनं बलिः ।
यागो जपस्तथा ध्यानं समाविश्वेति षोडश ॥

‘चन्द्रकी सोलह कलाओंकी तरह मन्त्रयोग भी सोलह अङ्गोंसे पूर्ण है। ये सोलह अङ्ग इस प्रकार हैं—भक्ति, शुद्धि, आसन, पञ्चाङ्गसेवन, आचार, धारणा, दिव्यदेश-सेवन, प्राणकिया, मुद्रा, तर्पण, हवन, बलि, याग, जप, ध्यान और समाधि।’ नाना शास्त्रोंमें इन सोलह अङ्गोंका विस्तृत वर्णन पाया जाता है। भक्तिका विस्तार तो सभी भक्तिशास्त्रोंमें पाया जाता है। शुद्धिके अनेक भेद हैं। यथा—किस दिव्यामें सुख करके साधन करना चाहिये, वह दिक्षुद्धि है; कैसे स्थानमें बैठकर साधन करना चाहिये, वह स्थान-शुद्धि है; स्नानादिदारा शरीर-शुद्धि और प्राणायामादिद्वारा मनःशुद्धि होती है। कैसे आसनपर बैठना चाहिये—जैसे कि चैलासन, मृगचर्मासन, कुशासननादि—यह आसन-शुद्धि है। अनेक दृश्टीयी गतियाँ, सहस्रनाम, स्तुति, कान्च और दृदय—ये पौँछों पञ्चाङ्ग कहते हैं। आचारके तन्त्र और पुराणोंमें अनेक भेद कहे गये हैं। मनको बाहर मूर्ति आदिमें लगानेसे अथवा शरीरके भीतर स्थान-विशेषोंमें मनके स्थिर रखनेको धारणा कहते हैं। जिन सोलह प्रकारके स्थानोंमें पीठ बनाकर पूजा की जाती है, उनको दिव्यदेश कहते हैं। यथा—मूर्धास्थान, दृदयस्थान, नाभिस्थान, घट, पट, पाणायादिकी मूर्तियाँ, स्पिडल,

यन्त्र आदि। मन्त्रशास्त्रमें प्राणायामोंके अतिरिक्त शरीरके नाना स्थानोंमें प्राणको ले जाकर साधन करनेकी आज्ञा है। वे सब साधन प्राणकिया कहलाते हैं। आप आदि इसीके अन्तर्गत हैं। मन्त्रयोगमें अपने-अपने इष्टदेवके प्रसन्न करनेकी जो चेष्टाएँ हैं, वे मुद्रा कहाती हैं; यथा—शूद्रमुद्रा, योनिमुद्रा आदि। पदार्थविशेषद्वारा इष्टदेवका तपेण किया जाता है। अग्रिमें आहुति देनेको हवन कहते हैं। बलि तीन प्रकारकी होती है—यथा आत्मवलि अहङ्कारादिकी। इन्द्रियोंकी बलि तथा काम-क्रोधादिकी बलि, ये सब अन्तर्भूत हैं। विहर्विलिमें सात्त्विक बलि फलादिकी और राजतिक-तामसिक बलि पशुकी होती है। अन्तर्याग और वहिर्यागमेंदसे याग दो प्रकारका होता है। अपने इष्टके नामके जपको जप कहते हैं। जप भी वाचनिक, उपांशु और मानसिकभेदसे तीन प्रकारका होता है। इष्टके रूपके ध्यानको मनके द्वारा करनेसे जो साधन होता है, उसको ‘ध्यान’ कहते हैं। इष्टके रूपका ध्यान करते-करते अपनेको भूल जानेसे जो एक अवस्था होती है, उसे मन्त्रयोगमें ‘महाबोध-समाधि’ कहते हैं। यही मन्त्रयोगसमाधि है।

(२)

हठयोग

जैसे मन्त्रयोगके साधनोंमें नाम-रूपके अवलम्बनसे ताधनकी विशेषता है, उसी प्रकार केवल स्थूलशरीरके अधिक अवलम्बनसे चित्तवृत्तिनिरोध करके योगसाधनकी प्रणाली इष्टयोगमें चलायी गयी है। महर्षि पतञ्जलिकृत योगदर्शनमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—इस प्रकारसे श्रीभगवान्के निकट पहुँचनेके लिये साधनकी आठ पैदियाँ बतलायी गयी हैं। ये उत्तरोत्तर एक दूसरेसे ऊँची हैं। यहिरन्द्रियोंपर प्रभाव रखनेको ‘यम’ कहते हैं। अन्तरिन्द्रियोंपर प्रभाव रखनेको ‘नियम’ कहते हैं। योगसाधनके लालक शरीर बनानेको ‘आसन’ कहते हैं। प्राण और अपान वायुपर प्रभाव डालकर उनको योगसाधनेप्रयोगी बनानेको ‘प्राणायाम’ कहते हैं। मनको बाहरसे खींचकर भीतरकी ओर लानेको ‘प्रत्याहार’ कहते हैं। भीतरमें मनको ठहरा रखनेको ‘धारणा’ कहते हैं। इष्टरूपी ध्येयमें मनके लगा रखनेको ‘ध्यान’ कहते हैं और इष्टमें मनको लीन करके अनेको भूल जानेको ‘समाधि’ कहते हैं। यही ‘अष्टाङ्गयोग’ का सार है। इनमेंसे चार अङ्ग बाहरके हैं और चार अङ्ग भीतरके हैं। इन

आठोंका बहुत कुछ विलार है। उन विस्तारोंमें से मन्त्र, हठ, लय और राज—इन चार श्रेणीके साधनोंमें इन आठों अङ्गोंमें से किसी-किसी अङ्गपर अधिक ध्यान दिया है और किसी-किसी साधनमें किसी-किसी दूसरे अङ्गपर विशेष ध्यान दिया है। शास्त्रोंमें कहा गया है कि महर्षि मार्कण्डेय, भरद्वाज, मरीच, जैगिनि, पारावार, भगु विश्वामित्र आदिकी दृष्टिये इस कल्पमें हठयोगका विस्तार हुआ है। जब देखा जाता है कि सूक्ष्मशरीरके तीव्र संस्कारसे उत्पत्ति हुए कर्मोंके भोगका आश्रयस्ती जीवका स्थूलशरीर बनता है, अर्थात् सूक्ष्मशरीरके भावके अनुलूप ही स्थूलशरीरका संषट्ठन होता है तथा सूक्ष्मशरीर और स्थूलशरीर एक ही सम्बन्धुक होकर रहते हैं, तब इसमें क्या बाश है कि स्थूलशरीरके कार्योंके द्वारा सूक्ष्मशरीरपर आधिष्ठान नहीं किया जा सकता? कलतः अधिकारिविद्योगके लिये स्थूलशरीरप्रधान योगक्रियाओंका आविष्कार योगशास्त्रमें किया गया है, जिनके द्वारा साधक प्रथम अवस्थामें स्थूलशरीरकी क्रियाओंका साधन कर्त्ता हुआ स्थूलशरीरपर सम्पूर्ण आधिष्ठान कर लेता है और क्रमशः उस शक्तिको अन्तर्मुख करके उसके द्वारा सूक्ष्मशरीरोंको बधामें लाकर चित्तशृतिनिरोधके द्वारा परमात्माका साक्षात्कार करनेमें समर्थ होता है। इसी योगप्रणालीको हठयोग कहते हैं।

मन्त्रयोगमें जिस प्रकार भावरूप स्थूल ध्यानकी विधि है, हठयोगमें वैसे ही ज्योतिःकल्पनालूप ज्योतिष्वान करनेकी विधि रखकी गयी है। अन्तर्जग्ननके पवित्र भावोंको आश्रय करके जिस प्रकार नाना देव-देवियोंके ध्यानके लिये मन्त्रयोगमें उपदेश है, उसी प्रकार परमात्माको सब ज्योतियोंका ज्योतिःस्वरूप जानकर उनके ज्योतिर्मय रूपकी कल्पना करके ध्यानका अभ्यास करनेकी व्यवस्था हठयोगमें है। मन्त्रयोग-समाधिमें नाम-रूपोंकी स्थापनासे समाधि-लाभ करनेकी साधन-प्रणाली वर्णित है और हठयोगमें वायुनिरोधके द्वारा मनका निरोध करके समाधिलाभ करनेकी विधि है। मन्त्रयोग-समाधिको 'महाभाव' और हठयोग-समाधिको 'महाबोध' समाधि कहा जाता है। हठयोगके अङ्गोंका वर्णन इस प्रकार है—

षट्कर्मसनसुद्धाः प्रत्याहारश्च प्राणसंयामः ।
स्थानसमाधी सैवाङ्गनि स्युर्हठस्य योगस्य ॥

षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणसंयाम, ध्यान और समाधि—हठयोगके ये सात अङ्ग हैं। इन सब अङ्गोंके

क्रमानुसार साधनद्वारा क्या क्या फलप्राप्ति होती है, उसका योगशास्त्रमें वर्णन है—

षट्कर्मणा शोधनं च आसनेन अवैदृ दद्धम् ।
सुद्रवा स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता ॥
प्राणायामाभ्युप्राप्तं च प्रत्याहारस्यक्षमातः ।
समाधिना त्वलित्युपं सुकिञ्चैव न संक्षयः ॥

'षट्कर्मद्वारा धीरित्वोधन, आसनके द्वारा दद्धता, मुद्राके द्वारा स्थिरता, प्रत्याहारसे धीरता, प्राणायाम-साधन-द्वारा लाभ, ध्यानद्वारा आत्माका प्रत्यक्ष और समाधिद्वारा निर्लिप्तता तथा सुकिञ्चाभ अवलय होता है।' इन सभी मानसिक और आध्यात्मिक लाभोंके द्वारा हठयोगके प्रत्येक अङ्ग और उपाङ्गके साधनद्वारा शारीरिक स्वस्थ्यविधियंक भी विशेष लाभ होता है, जो योगिराज श्रीगुरुदेवसे जानने योग्य है। धौति, बस्ति, नेति, लौलिकी, आटक और कपाल-भाति—ये छहों क्रियाएँ षट्कर्मकी कहलाती हैं। हठयोगके अनुसार बैठकर साधन करनेके कुल तैतीस आसन माने गये हैं। उनकी क्रियाएँ अलग-अलग हैं। हठयोगके अनुसार आठ प्रकारके प्राणायामकी क्रिया कही गयी है। उनके नाम सहित, सूर्यभेदी, उज्ज्याली, शीतली, भञ्जिका, भ्रामी, मूर्ढा और केवली हैं। इसी प्रकार हठयोगमें पचीस मुद्रासाधनकी विधि पायी जाती है। ये सब मुद्राएँ वायु और मनको स्थिर करनेवाली होती हैं। प्रत्याहारमें भी ये मुद्राएँ मदद करती हैं तथा ध्यानसिद्धि और समाधि देनेमें भी मदद करती हैं जो हठयोगका अन्तिम साधन है।

(३)

लघ्ययोग

अङ्गिरा, याशवल्क्य, कणिल, पतञ्जलि, यदिषु, कस्यप और वेदव्यास आदि पूज्यचरण महर्षियोंकी कृपासे परम मङ्गलकारी तथा मन-वाणीसे अग्रोचर ब्रह्मपद-प्राप्तिके कारण-भूत लघ्ययोगका सिद्धान्त संसारमें प्रकट हुआ है।

प्रकृति-पुरुषके शृङ्खलासे उत्पत्ति हुए ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनों एक ही हैं। समष्टि और व्यष्टि-सम्बन्धसे ब्रह्माण्ड और पिण्ड एकत्व-सम्बन्धसे युक्त हैं। अतः प्रृथिवी, देशता, पितर, प्रह, नक्षत्र, राशि, प्रकृति, पुरुष सबका स्थान समानरूपसे ब्रह्माण्ड और पिण्डमें है। पिण्डजनसे ब्रह्माण्ड-शान हो सकता है। श्रीगुरुपदेशद्वारा शक्तितदेश पिण्डका जान लाभ करनेके अनन्तर सुकौशलपूर्ण क्रियाद्वारा प्रकृति-

को पुरुषमें लय करनेसे लययोग कहलाता है। पुरुषका स्थान सहस्रारमें है और कुलकुण्डलिनीनामी महाशक्ति आधारपदमें प्रसुत हो रही है। उसके सुप्र रहनेसे ही वहिर्सुखी सृष्टिकिंवा होती है। योगाङ्गद्वारा उसको जाप्रत् करके पुरुषके पास ले जाकर लय कर देनेपर योगी कृतकृत्य होता है, इसीका नाम 'लययोग' है।

योगाङ्गद्वारमें इसके नीं अङ्ग बतलाये गये हैं। यथा—

अङ्गानि लययोगस्य नवैवेति पुराविदः ।
यमश्च नियमश्चैव स्थूलसूक्ष्मकिंवा स्था ॥
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानश्चापि लयकिंवा ।
समाधिश्च नवाङ्गानि लययोगस्य निष्ठितम् ॥
स्थूलदेहप्रधाना वै किंवा स्थूलभिर्व्यते ।
वायुप्रधाना सूक्ष्मा स्थाद्वयानं विन्दुमयं भवेत् ॥
ध्यानमेतद्विं परमं लययोगसहायकम् ।
लययोगानुबूद्धा हि सूक्ष्मा या लक्ष्यते किंवा ॥
जीवन्मुक्तोपदेशेष प्रोक्ता सा हि लयकिंवा ।
लयकिंवासाधनेन सुक्ष्मा सा कुलकुण्डली ॥
प्रबुद्ध्यं तस्मिन् पुरुषे सीयते नात्र संशयः ।
शिवस्वामीति तदा साहाय्यादस्य साधकः ॥
लयकिंवायाः संसिद्धौ लययोगः ब्रजायसे ।
समाधिर्येन निरतः कृतकृत्यो हि साधकः ॥

योगतत्त्वज्ञ महर्षियोंने लययोगके नीं अङ्ग वर्णन किये हैं। यम, नियम, स्थूल किंवा, सूक्ष्म किंवा, प्रत्याहार, धारणा, स्थान, लयकिंवा और समाधि-ये नीं अङ्ग लययोगके हैं। स्थूलद्वाराप्रयान किंवाको 'स्थूल किंवा' और वायुप्रधान किंवाको 'सूक्ष्म किंवा' कहते हैं। विन्दुमय प्रकृति-पुरुषात्मक स्थानको 'विन्दुस्थान' कहते हैं। यह स्थान लययोगका परम सहायक है। लययोगानुबूद्ध अथि सूक्ष्म सर्वोत्तम किंवा, जो केवल जीवन्मुक्त योगियोंके उपदेशसे ही प्राप्त होती है, 'लयकिंवा' कहती है। लयकिंवाओंके साधनद्वारा प्रसुत कुलकुण्डलिनी-नामक महाशक्ति प्रबुद्ध होकर व्रहमें लीन होती है। इनकी सहायतासे जीव शिवत्वको प्राप्त होता है। लयकिंवाकी सिद्धिसे महालयरूपी समाधिकी उपलब्धि होती है, जिससे साधक कृतकृत्य हो जाता है।

वहिरन्द्रियोंको वशमें लानेके साधनको 'यम' कहते हैं। अन्तरिन्द्रियोंको वशमें लानेके साधनको 'नियम' कहते हैं। हठयोगकी तरह तैतीस आसनोंमेंसे कुछ आसनोंका

साधन, पश्चिम सुद्राओंमेंसे कुछ योड़ी-सी सुद्राओंका साधन—ये सब लययोगकी 'स्थूल किंवा' कहती हैं। उच्च प्रकार हठयोगके आठ प्राणायामोंमेंसे योड़ेसे प्राणायाम और स्वरोदय आदिकी क्रियाएँ लययोगके अनुसार 'सूक्ष्म किंवा' कहती हैं। स्वरोदयके द्वारा बहुत-सी तिदियाँ भी प्राप्त होती हैं। लययोगका पञ्चम साधन प्रत्याहार है, जो केवल मनकी सहायतासे किया जाता है। प्रत्याहारकी सिद्धि प्रारम्भ होते ही योगी नारका सुनना प्रारम्भ कर देता है। लययोगके आठवें अङ्गमें योगी दशरीरके अंदरके पट्टकोंको जानता और उनकी सहायतासे साधनका अभ्यास करता है। योगाचारियोंका मत है कि मेददण्डके नीचेसे लेकर मस्तकके ऊपरतक सात ऐसे स्थान हैं, जिनकी सहायतासे योगी प्रकृति-शक्तिको नीचेसे ले जाकर सातवें सहस्रदलके स्थानमें शिव-शक्तिका संयोग करके सुक्ति प्राप्ति होती है। इस चक्रकी क्रियाके पूर्ण होनेपर सुक्तिकी प्राप्ति होती है। यह साधन धारणा-साधनसे प्रारम्भ होकर समाधि-सिद्धितक सहायता करता है। लययोगके ध्यानका नाम 'विन्दुस्थान' है। इस प्रकारसे योगी साधन करते-करते प्रकृतिके सूक्ष्म रूपका विन्दुस्थानमें दर्शन करता है। उसीका ध्यान वदाते-वदाते और उसके साथ लययोगकी कुछ और भी लयकिया जो गुरुमुखसे प्राप्त होती है, उसका साधन करते-करते योगी अनिवार्य क्रिया साधिकी प्राप्ति कर लेता है। लययोगकी समाधिका नाम भवलय है। लययोगकी विशेषताके सम्बन्धसे स्वरोदयकी क्रियाएँ, पट्टकोंके भेदनकी क्रियाएँ और अन्यान्य लयकियाएँ—जैसे योगजीयी, प्रभाजीयी, सुरभिजीयी, अजया आदि—हैं, जिनके विकारमें लययोगसंहितासे निश्चलिखित वर्णन है—

सूक्ष्मा योगकिया या स्थाद ध्यानसिद्धिं प्रसाद्य वै ।
समाधिसिद्धौ साहस्रं विद्यशति निरन्तरम् ॥
दिव्यभावयुता गोप्या दुष्याप्या सा लयकिया ।
महर्षिर्विर्विर्विद्विष्टा योगमार्गवर्तम् ॥
लयकिया प्राणसूता लययोगस्य साधने ।
समाधिसिद्धिदा प्रोक्ता योगिभित्तव्यद्विष्टिः ॥
षट्कं पोदशापाराद्विलङ्घं व्योमपञ्चकम् ।
पीडानि चोनपञ्चाशज्जात्वा सिद्धिरवाप्यते ॥
समाधिसिद्धिर्ज्ञानस्य सिद्धिश्चाप्यनप्ता भवेत् ।
आत्मप्रत्यक्षतां आति चैतया योगविज्ञनः ॥
'जो सूक्ष्म योगक्रियाएँ ध्यानकी सिद्धि कराकर साधककी

समाधिसिद्धिमें सहायक होती हैं, उन अलौकिक भावपूर्ण अति गोप्य और अति दुर्लभ उक्त क्रियाओंका महर्षियोंने लघु-क्रियाके नामसे वर्णन किया है। लघुक्रिया ही लघुयोगका प्राण है और समाधिसिद्धिका कारण है। घटन्चक, षोडश आधारसे अतीत व्योमपञ्चक और उन्नचास पीठ—इनको जाननेसे लघुयोगमें सिद्धि प्राप्त होती है। लघुक्रियाके द्वारा ध्यानसिद्धि, समाधिसिद्धि होती है और आत्मसाक्षात्कार होता है।

मन्त्रयोगमें जैसे रूपकल्पनाद्वारा ध्यान किया जाता है, हठयोगमें जैसे भगवान्का ज्योतिःकल्पनाद्वारा ध्यान किया जाता है, लघुयोगमें वैक्षी कल्पना नहीं की जाती। लघुयोगका योगी योगसाधनके द्वारा अन्तर्जातमें एक अलौकिक विन्दुका दर्शन करता है। उसीको स्थिर रखकर उसीमें परमात्मा-के ध्यान करनेको 'विन्दुध्यान' कहते हैं। यह लघुयोगकी विशेषता है। लघुयोगकी दूसरी विशेषता यह है कि लघुयोगी यदि चाहे तो सारे ब्रह्माण्डको अपने शरीरमें देख सकता है, क्योंकि लघुयोगसिद्धान्तके अनुसार समर्थिती ब्रह्माण्डका व्यष्टिरूपी मनुष्यपिण्ड पूरा नमूना है। लघुयोगकी सहायतासे ही प्राचीन कालके पूज्यपाद महर्षिगण इस मुत्तुलोकमें बैठकर सारे ब्रह्माण्डका पता लगा सकते थे।

राजयोग

सब योगसाधनोंका राजा होनेसे इसको राजयोग कहते हैं। स्मृतिशास्त्रमें भी कहा है—राजत्वात् सर्वयोगानां राजयोग इति स्मृतः।^१ राजयोगके लक्षणके विषयमें और उसके साधन क्रमके विषयमें शास्त्रोंमें ऐसा कहा गया है—

स्थिरस्थितिविनाशानां हेतुता मनसि स्थिता ।
सत्त्वसहायात्माध्यते यो राजयोग इति स्मृतः ॥
अन्तःकरणमेद्वारात् मनो बुद्धिरहस्यतिः ।
वित्तज्ञति विनिर्दिष्टाक्षत्वारो योगपार्गैः ॥
तद्रूपःकरणं दृश्यमात्मा द्रष्टा निगच्छते ।
विभ्रमेतत्सदोः कार्यकारणं सनातनम् ॥
दृश्यद्रूपोऽथ सम्बन्धात्मसुषिर्भवति शास्त्रती ।
वाङ्माल्यं विश्ववृत्तीनां हेतुमत्र विदुख्येः ॥
दृशीर्जित्वा राजयोगः स्वस्तरूपं प्रकाशयेत् ।
विवारकुदंः प्राधान्यं राजयोगस्य साधने ॥
विवारकुदं हि तद्रूपानं समाधिनिर्विकल्पकः ।
सेनोपलब्धसिद्धिर्जीवन्मुक्तः प्रकृत्यते ॥

उपलब्धमहामात्रा महामोधानितात्म च ।

महाकृष्णं प्रपञ्चात् वरवज्ञानावलम्बतः ॥

योगिनो राजयोगस्य भूमिमातादवान्ति ते ।

योगसाधनमुख्यं राजयोगोऽभिदीपयते ॥

'सुष्ठि', वित्त और लघुका कारण अन्तःकरण ही है; उसकी सहायतासे जिसका साधन किया जाता है, उसको राजयोग कहते हैं। मन, बुद्धि, वित्त और अहंकार—ये अन्तःकरणके चार भेद हैं। अन्तःकरण दृश्य और आत्म द्रष्टा हैं। अन्तःकरणरूपी कारण दृश्यसे जगदूपी कार्य दृश्य-का कार्य-कारण सम्बन्ध है। दृश्यसे द्रष्टा का सम्बन्ध स्थापित होनेपर सुष्ठि होती है। वित्तवृत्तिका चाल्लल्य ही इसका कारण है। वृत्तिव्यर्थक स्व-स्वरूपका प्रकाश करना राजयोग कहलाता है। राजयोगसाधनमें विवारकुदिका प्राधान्य रहता है। विचार-शक्तिकी पूर्णताद्वारा राजयोगका साधन होता है। राजयोगके ध्यानको 'विचारध्यान' कहते हैं। राजयोगकी समाधिकी 'निर्विकल्प समाधि' कहते हैं। राजयोगसे सिद्धि-प्राप्त महात्माका नाम 'जीवन्मुक्त' है। महाभाव (मन्त्रयोगकी समाधि)-प्राप्त योगी, महोप्राप्त (हठयोगकी समाधि)-प्राप्त योगी वा महाल्य (लघुयोगकी समाधि)-प्राप्त योगी तत्त्वज्ञानकी सहायतासे राजयोग-भूमिमें अप्रसर होते हैं। राजयोग सब योगसाधनोंमें श्रेष्ठ है और साधनकी चरम सीमा है, इस कारण इसको राजयोग कहते हैं।

राजयोगके साधनोंको भी शास्त्रोंमें सोलह अङ्गोंमें विभक्त करके वर्णन किया गया है, वे निम्नलिखित हैं—

कलाषोऽडशकोपेतराजयोगस्य षोडशः ।

सप्त चाप्तानि विचान्ते सप्तश्चनानुसासतः ॥

विचारमुख्यं तज्ज्ञेयं साधनं बहु तत्य च ।

धारणके द्विधा त्रये ब्रह्मप्रकृतिमेद्वृतः ॥

प्रयात्यन्य वीणि चाकृतिं विदुः पूर्वं महर्षयः ॥

वाङ्माल्यानं विवारद्वयानं चेशाप्त्यानं वयाकमम् ॥

प्रश्वात्याने समाप्त्यन्ते ध्यानान्त्यन्यानि निश्चितम् ।

चाल्लल्यानि जायन्ते समाप्तेऽपि योगिनः ॥

सचिचारं द्विधाभूतं विविचारं तथा पुनः ॥

इथं संसाधनं राजयोगस्त्राप्तानि षोडशः ॥

कृत्कृत्यो भवत्याग्नु राजयोगपरो नरः ।

मन्त्रे हठे लघु चैव सिद्धिमात्रं यजतः ।

पूर्णाधिकारमाप्नोति राजयोगपरो नरः ॥

षोडशकलासे पूर्णं राजयोगके षोडश अङ्ग हैं। समज्ञान-

भूमिकाओंके अनुसार सात अङ्ग हैं। ये सब विचारप्रधान हैं। उनके साथन अनेक प्रकारके हैं। धारणाके अङ्ग दो हैं—एक प्रकृतिधारणा और दूसरी ब्रह्मधारणा। ध्यानके अङ्ग तीन हैं—विराट-ध्यान, इशाध्यान और ब्रह्मध्यान। ब्रह्मध्यानमें ही सबके परिसमाप्ति है और समाविके चार अङ्ग हैं—दो सविचार और दो निर्विचार। इस प्रकारसे राजयोगके पोजिश अङ्गोंके साधनद्वारा राजयोगी कृतकृत्य होता है। मन्त्रयोग, हठयोग, लक्षण्योग—इन तीनोंमें सिद्धिलाभके अनन्तर अथवा किसी एकमें सिद्धिलाभ करनेके अनन्तर साधकको राजयोगका पूर्णाधिकार प्राप्त होता है। राजयोगसंहितामें लिखा है—

साधनं राजयोगस्य धारणाध्यानभूमितः ।
आरभ्यते समाधिर्हि साधनं तत्य मुख्यतः ॥
समाधिभूमौ प्रथमे वितर्कः किल जायते ।
ततो विचार आनन्दानुगता तत्परा भत्ता ।
अस्मितानुगता नाम तसोऽप्यस्था प्रजायते ॥

विशेषलिङ्गं सविशेषलिङ्गं
लिङ्गं तथालिङ्गमिति प्रभेदाद् ।
वद्वन्ति दद्यस्य समाधिभूमि-
विवेचनायां पटवो मुखीद्वा ॥
हेया अलिङ्गपर्यन्ता ब्रह्मसत्त्विति या मतिः ।
निर्विकर्त्तव्ये समाधौ हि न सा तिष्ठति निश्चितम् ॥
द्वैतभावात्तु निर्विला विकल्पश्च तथा पुनः ।
क्षीयन्ते यथ सा ज्ञेया तुरीयेति दशा दुष्टैः ॥
समाधिसाधनं शाश्वाभ्यासतो न हि लभ्यते ।
गुरुर्विज्ञाततत्त्वात् प्राप्तुं शब्दमिति भूम्य ॥

प्राजयोगका साधन प्रथमावस्थामें धारणा और ध्यान-भूमिसे प्राप्तम् होता है और राजयोगकी साधनभूमि प्रधानतः समाधिभूमि ही है। समाधिभूमिमें पृष्ठे वितर्क रहता है। तदनन्तर अध्ययन होनेपर विचार रहता है। उससे आगेकी अवस्थाका नाम आनन्दानुगत अवस्था है और उससे आगेकी

अवस्थाका नाम अस्मितानुगत अवस्था है। विशेषलिङ्ग, अविशेषलिङ्ग, लिङ्ग और अलिङ्ग—ये चार भेद हस्तके हैं। अलिङ्गतक त्यागने योग्य हैं। मैं ब्रह्म हूँ, यह भाव भी निर्विकल्प समाधिमें नहीं रहता। कोई दैतभाव अथवा कोई विकल्प जब शेष न रहे, वही तुरीयायस्ता है। समाधिभूमिका साधनक्रम शाश्वामें शात नहीं हो सकता। जिनको अपरोक्षानुभूति हुई है, ऐसे जीवन्मुक्त गुरु ही उसका भेद बतला सकते हैं।

राजयोगके साधनक्रमकी समालोचना करनेसे यही सिद्धान्त होगा कि प्रथम परम भाग्यवान् राजयोगी दर्शनोक्त सत्त्वानभूमियोंको, एकके बाद दूसरीको, इस तरह क्रमशः अतिक्रम करता हुआ, जैसे मनुष्य सोणालद्वारा छतपर चढ़ जाता है, उसी प्रकार सत्त्वानभूमियोंका रहस्य समझ जाता है। यही राजयोगोक्त १६ अङ्गोंमेंसे प्रथम सप्ताङ्गका साधनक्रम है। उसके अनन्तर वह सौभाग्यवान् योगी सत् और चित्-भावपूर्ण प्रकृति-पुरुषत्वम् दो राज्यके दर्शन करके उनकी धारणासे अनन्तरूपमय प्रपञ्चकी विस्मृति-सम्पादन करनेमें समर्थ होता है। यही राजयोगके अष्टम और नवम अङ्गोंका साधनक्रम है। उसके अनन्तर वह योगिराज परिणामशील प्रकृतिके स्वरूपको सम्पूर्णरूपसे जानकर ब्रह्म, इश या विश्वाद्वृप्तमें अद्वितीय ब्रह्मसत्त्वाका दर्शन करके ध्यानभूमिकी पराकाष्ठामें पहुँच जाता है। यही राजयोगोक्त १६ अङ्गोंमेंसे दशम, एकादश और द्वादश अङ्गोंका साधनक्रम है। उसके अनन्तर वह परम भाग्यवान् योगाचार्य यथाक्रम वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत—इन चारों आत्मज्ञानयुक्त (ये चारों समाधिकी दशा पूर्वकथित भन्ध-हठ-लययोगोक्त महाभाव, महाबोध, महालय समाधिसे विभिन्न हैं) समाधि-दशाओंको अतिक्रमण करते हुए स्वस्वरूपको प्राप्त हो जाते हैं। इसी दशाको जीवन्मुक्त-दशा कहते हैं। यही सब प्रकारके योग-साधनोंका अन्तिम लक्ष्य है। यही उपासना-राज्यकी परिधि है और यही वेदान्तका चरम सिद्धान्त है।

योगका सोपान

(लेखक—स्वामी श्रीशिवानन्दजी सरस्वती)

मनुष्य केवल इस लोकका ही नागरिक नहीं है, वर्त्ति अनैक लोकोका है। केवल इसी लोकमें सङ्कटों और प्रलोभनोंका उसे सामना नहीं करना पड़ता, प्रत्युत अन्य लोकोंमें भी करना पड़ता है। यहीं कारण है कि योगशास्त्र यह बतलाता है कि साधक पहले अपने-आपको शुद्ध कर ले, अपनी इन्द्रियोंको बद्धमें करे, अपनी सब इच्छाओंको दूर कर के और अमर्में स्थित हो और तब मूलाधारमें स्थित मुझ कुण्डलिनीशक्तिको जगानेकी चेष्टा करे। आसन, बन्ध, मुद्रा और प्राणायामके द्वारा चित्तको शुद्ध करनेएं पहले ही यदि कुण्डलिनी जाग जाय तो अन्य लोकोंके प्रलोभन उसके सामने आ उपस्थित होंगे और उनका परिहार कर सकनेका सा मनोबल उसमें न रहनेसे उसका बहुत ही बुरा पतन होगा। योग-सोपानकी जिस ऊँची पैद़ीपर वह गिरनेसे पहले था, वहाँतक भी पहुँचना उसके लिये फिर बहुत ही कठिन होगा। इसलिये साधनामें पहला काम यह है कि साधक अपने-आपको शुद्ध करे। जग, कीर्तन तथा सदत निःस्वार्थ सेवाके द्वारा जब वह पूर्ण शुद्ध लाभ कर लेगा तब कुण्डलिनी आप ही जाग उठेगी और सहस्रारमें स्थित कैलापवति ज्ञान, आनन्द और शान्तिके निधान मध्यान् शिवका सक्षात्कार करनेको चल पड़ेगी।

योगकी सीढ़ीपर चढ़नेवाले बहुतसे साधक ऊँचाईकी एक हृदतक पहुँचकर वहीं रुक जाते हैं। स्वर्ण, गन्धवल्लोक आदि उच्च लोकोंके मोह उन्हें वसीभूत करके मार्गसे भ्रष्ट कर देते हैं। साधक अपने विवेकको खोकर स्वर्गके भोगोंमें अपने-आपको मुला देते हैं। इन उच्च लोकोंके अधिवासी अनेक प्रकारोंसे साधकोंको लुभाते हैं। साधकसे कहते हैं—“हे योगी! हम तुम्हारे तप, वैराग्य, अभ्यास और देवी गुणोंसे बहुत ही प्रकञ्च हुए हैं। यहीं लोक, जहाँ तुम अपने पुण्यप्रताप और तपोबलसे आये हो, तुम्हारा परम विश्रामस्थान है। हम सब तुम्हारे दास हैं। जो इच्छा या आशा करोगे, हम सब उसीका पालन करेंगे। स्वर्गका यह दिव्य रथ तुम्हारी कृत्यार्थके लिये है। इसपर बैठकर तुम जहाँ चाहो, जा सकते हो। ये स्वर्गकी अस्तराएँ हैं, जो तुम्हारी सेवा करेंगी। स्वर्गीय सङ्गीत सुनाकर ये तुम्हें प्रसन्न करेंगी। यह कल्पनुक्त है, जो तुम्हारी सब इच्छाओंको पूर्ण करेगा। इस सुवर्णपत्रमें यह स्वर्गका सोमसर है, जिसे

पानकर तुम अमर होओगे। यहीं यह परमानन्द-सरोवर है, जिसमें तुम स्वच्छन्दताके लाय विहर सकते हो।” देवोंके इन मधुर, मिष्ठ, पुष्पित भाषणोंसे असावधान योगी अपने मार्गसे भ्रष्ट हो जाता है। मिथ्या त्रुष्टिसे ही वह सन्तुष्ट होता और वह समझता है कि इम योगकी पराकाष्ठाको पहुँच गये। इस तरह वह प्रलोभनोंके वसीभूत होता है और उसकी शान्ति इतरुतः विवर जाती है। ज्यों ही उसका पुण्यबल समाप्त होता है, त्यों ही वह इस भूलोकमें उतर आता है। तब उसे फिरसे इस अध्यात्म-सोपानकी चढ़ाई आरम्भ करनी पड़ती है। परन्तु पूर्ण विरक्त योगी, जिसका विवेक सुदृढ़ है, देवताओंकी इन सीढ़ी वारोंका टकान-सा जवाब सुना देता है और धीरताके साथ अपने अध्यात्मपथपर आगे बढ़ता है और जबतक योग-सोपानकी अनितम पैद़ी या शानपवरके उच्चतम शिखर अथवा निर्विकल्प समाधितक नहीं पहुँच जाता, तबतक कहीं भी नहीं रुकता। वह खूब अच्छी तरहसे जानता है कि स्वर्गके भोग माध्यिक, अणिक और निःसार हैं, इस लोकके भोगोंसे उनका किन्तु भी अधिक मूल्य नहीं है। स्वर्गके भोग बहुत सूखम्, बहुत ही अधिक मादक और अतिशय होते हैं। इस कारण असावधान साधक, जिसका विवेक और वैराग्य अवन्त तीव्र और दृढ़ नहीं है, इन उच्च लोकोंके प्रलोभनोंमें अनायास फँस जाता है। इस भूलोकमें भी, उदाहरणार्थ पश्चिमके देशों और अमेरिकामें—जहाँ कुपेरका भागार भरा है—लोग इन्द्रियोंके सूक्ष्म और आत्मनितक भोगोंमें लिह रहे हैं। इन्द्रियोंके विविध विश्वास्तरण और उपद्रवकी वृत्तियोंको तुष्ट करनेके लिये वहाँके वैज्ञानिक प्रतिदिन ही नवीन-नवीन आविष्कार, इन्द्रिय-सुखके नये-नये प्रकार सामने ला रहे हैं। हिन्दुस्तानका कोई संक्षीपी, सादे रहन-सहनका मनुष्य भी जब अमेरिका या यूरोपमें कुछ दिन रह जाता है तो एक दूसरा ही जीव अन जाता है। वह वहाँके प्रलोभनोंमें फँस जाता है। यह मायका चमत्कार है, प्रलोभनका प्रभाव है, उहण्ड इन्द्रियोंका विलक्षण बेग है। परन्तु जिस मनुष्यका विवेक सुदृढ़ है, वैराग्य प्रस्ताव है, बुद्धि स्थिर है, जिसके अंदर मोक्षकी इच्छाकी आग जल रही है, वह यथार्थमें सुखी हो सकता है, जीवनके परम लक्ष्यतक पहुँच सकता है, परमानन्द-धारको पा सकता या अनन्तके अथाह दर्शन कर सकता है।

नवधा भक्तिमें नौ विषयाँ या पैदियाँ हैं—श्रवण, कीर्तन, स्तरण, पादसेवन, अर्चन, बन्दन, दास्य, सत्य और आत्मनिवेदन। श्रीभगवान्‌की लीलाओंके सुनना अच्छ है। उनके नामेंका गान करना कीर्तन है। उनका स्मरण स्तरण है। उनके चरणोंकी सम्मार्जनादि सेवा पादसेवन है। उन्हें पुष्पादि चढ़ाना अर्चन है। दण्डबृत् साक्षात् प्रणाम करना बन्दन है। हम उनके सेवक हैं, ऐसा भाव धारण करना दास्य है। उनसे मैत्री-भाव रखना सत्य है। अपने आपको समर्पित कर देना या शरणागत होना आत्मनिवेदन है।

श्रद्धा, विश्वास, भक्ति, इच्छा (भगवत्तामके जप और गानमें), निष्ठा, रति, स्यायिभाव (प्रेममें स्थिरता) और महाभाव (प्रेममय अथवा परम प्रेम)—ये प्रेम सोगन या भक्तियोगकी आठ पैदियाँ हैं। श्रद्धा, भक्ति, पूजा और तादात्म्य-भक्तियोगके चार पक्षाव हैं। सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य—ये भक्तोंकी मुक्तिके चार रूप हैं।

प्राणको वशमें करके योगी धीर-धीरे योगकी सीढ़ीपर चढ़ता है और चढ़ाईमें भिज-भिज करके टहरकर विश्राम करता है। एक चक्रसे दूसरे चक्रमें, दूसरेसे तीसरेमें जाता है और प्रत्येक चक्रमें वहाँके विशेष आनन्द और शक्तिका अनुभव करता है और अन्तमें सहस्रदल कमलमें भगवान् दिव्यके साथ समरस होकर निर्विकल्प समाधिमें प्रवेश करता है। इस सोगनकी सात पैदियाँ जो सात चक्र हैं, वे ये हैं—मूलाधार, स्वायिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आशा और सहस्र।

हठयोगमें प्राणायामकी चार अवस्थाएँ हैं—आरम्भ-वस्था, घटावस्था, परिच्यावस्था और निष्पत्त्ववस्था।

नादयोग या लययोगमें योगी रिद्धासन या पद्मासन अथवा मुखासनसे बैठकर घण्टमुली (वैष्णवी) मुद्राका साधन करता और दाहिने कानसे अनाहत नाद सुनता है। इस प्रकार जो नाद उसे सुन पड़ता है, उससे बाह्यके शब्दोंके लिये उसके कान बहिरे हो जाते हैं। पहले-पहल समुद्रका गरजना, मेघोंकी गङ्गाहड़, नगरेके शब्द-जैसा गर्जन सुन पड़ता है, फिर मध्य अवस्थामें बण्टानाद, बंदीच्छनि, बीणाके स्वर अथवा मधु-मन्त्रियोंकी भनभनहट-जैसा प्रतीत होता है। योगी अपना ध्यान स्थूल शब्दसे हटाकर सूक्ष्ममें और तदूष शब्दसे हटाकर स्थूलमें लगा सकता है।

मन जब किसी एक शब्दपर स्थिर हो जाता है, तब वह उसीमें स्थित होकर उसीमें लीन हो जाता है। मन शब्दके साथ वैसे ही एक हो जाता है जैसे दूधके साथ पानी; और तब वही शीत्रासे सनातन ब्रह्ममें लीन हो जाता है। योगी इह अनाहत नाद या शब्दपर अपने मनको एकाग्र करनेका सतत अभ्यास करे। इससे नाद मनका विनाश कर देता है। शब्द, अश्वरमें लीन होता है और अन्तमें योगी अश्वद परवह अर्थात् सनातन आनन्दके परम धारमको प्राप्त होता है।

अष्टाङ्गयोगकी सीढ़ीकी आठ पैदियाँ या आठ अङ्क हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। यम अपने-आपको वशमें रखना है। नियम निय धर्म अथवा नियकी आध्यात्मिक दिनचर्याका पालन है। आसन शरीरको विशेष स्थितिमें रखना है। प्राणायाम प्राणकी गतिको वशमें करना है। प्रत्याहार द्विद्वयोंको विषयों-से खीचक लौटाना है। धारणा एकाग्रता है। ध्यान एकाग्र होकर ध्येयविषयमें स्थिर होना है। समाधि परम बोध है।

महर्षि पतञ्जलिके राजयोगकी समाधि सात प्रकारकी है—सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार, सामन्द और असम्प्रक्षत। प्रथम छः प्रकारकी समाधि सविकल्प समाधि है और सातवीं निर्विकल्प। राजयोगकी मधुमती, मधुप्रतीक, विशेषका और संस्कारदोष प्रभूति विविध भूमिकाएँ हैं। क्षिति, विशिष्ट, मूढ़, एकाग्र और निरोध—ये पाँच राजयोगमें मन-की भूमिकाएँ हैं।

शानयोग-स्तोपानकी सात पैदियाँ अथवा सात भूमिकाएँ हैं—शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, वदायथाभावनी और तुरीया। शुभेच्छा संसार-साधारके पार दोकर आत्मज्ञान लाभ करनेकी समुचित इच्छा है। ब्रह्मके स्वरूपका अनुत्तम्यान विचारणा है। मनका सूक्ष्म होना तनुमानसा है। विशुद्धता सत्त्वपत्ति है। असङ्ग—अनासक्ति असंसक्ति है। तत्त्वमसि आदि महावाक्योंका मनन निदिद्व्यासन पदायथाभावनी है। परम बोध तुरीया है। स्फुरण, हर्ष, आदेश, प्रत्यक्ष और परमानन्द—शानयोगमें आध्यात्मिक अनुभूतिकी पाँच भूमिकाएँ हैं। तमस्, ऋग, अनन्ताकाश, प्रकाश और अनन्त अद्वयबोध भी शानयोगकी अनुभूतिकी विशेष भूमिकाएँ हैं।

शुद्धि, श्रवण, मनन, निदिद्व्यासन, एकीभाव और लय—वेदान्तसाधनाकी छः अवस्थाएँ हैं। शब्दानुविद्, शब्दानन्त-

विद्व, दृश्यातुविद्व, दृश्याननुविद्व, बाल्य निर्विकल्प, आन्तर निर्विकल्प, अद्वैतभावनारूप समाधि, अद्वैतावस्थानरूप समाधि—ये वेदान्तियोंकी विभिन्न प्रकारकी समाधियाँ हैं। पहली चार समाधियाँ सधिकल्प हैं और अन्तिम चार निर्विकल्प।

कर्मयोगी सतत निष्काम कर्मके द्वारा अपने चित्तको शुद्ध करता है। उसका यह कर्मचर्चन नारायणभाव या आत्मभाव से होता है। उसके कर्ममें उसकी फलाकाङ्क्षा नहीं होती। वह अद्वैतावस्थानहित होकर कर्म करता है। वह यह अनुभव करता है कि मैं केवल एक निमित्त अथवा भगवान्के हाथोंमें एक करणमात्र हूँ। वह अपने सब कर्म और उनके फल भगवान्को समर्पित करता है। वह प्रत्येक कर्ममें अपनी नीतिकी जाँच करता और उसे स्वार्थहित बनाता है। सबके मुख्योंकी ओर देखते हुए वह ईश्वरको देखता है। अन्तस्थित ईश्वरकी ही उसे स्वर्व प्रतीति होती है। वह यह समझता है कि सारा विश्व विश्वातिका आविमोंव है, सारा विश्व वृद्धावन है। प्रत्येक स्थितिके अनुकूल यननेका वह अन्यासी होता है। जो कुछ शरीरतः, अन्तःकरणतः और अच्छात्मतः उसके पास है उसे वह सबको बॉटकर लेता है। शरीरनिर्वाहमात्रके लिये जो कुछ आवश्यक है, उसनी ही सामग्री वह अपने पास रखता है। ब्रह्मचर्यके पालनमें वह बड़ी कड़ाई रखता है। कर्म करते हुए वह मनसा ‘ब्रह्मार्पण’ करता रहता है। वह अपने सब कर्म भगवान्को अर्पण करता है और सेते समय भगवान्से इस प्रकार प्रार्थना करता है कि ‘हे भगवन्! आज जो कुछ मैंने किया, तुम्हारे लिये किया है। उसे तुम प्रसन्न होकर स्वीकार करो।’ इस प्रकार वह अपने कर्मोंके फलोंको जलाता है और कर्मोंसे नहीं बँधता। कर्ममें वह मुक्तिलाभ करता है। निष्काम कर्मयोगके द्वारा उसका चित्त शुद्ध

होता है और चित्तशुद्धिसे वह आत्मशानको प्राप्त होता है। देवासेवा, समाजसेवा, दीनसेवा, स्वर्णसेवा, मातृ-पितृ-सेवा, गुरुसेवा, सत्पुरुषसेवा—ये सब सेवाएँ कर्मयोग हैं।

गीताके मतसे योगी अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्रपक्ष और उत्तरायणके छः मास—इस अर्कियादि मार्गसे ब्रह्मलोकको जाता है। उपनिषद् कहते हैं कि ‘देवयानसे योगी अग्निलोकको, वायुलोकको, वक्षलोकको, इन्द्रलोकको, प्रजापतिलोकको और ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है।’ (कठोपनिषद् १-३) छन्दोन्योपनिषदमें कहा है कि ‘योगी आदित्यलोकसे चन्द्रलोकको जाता है, चन्द्रलोकसे चुलोकको; वहाँसे अमानन्द पुरुष उसे ब्रह्मके समीप ले जाता है।’

मनुष्योंके स्वभाव, गुण, अधिकार भिन्न-भिन्न हैं, इस कारण योगभार्या भी भिन्न-भिन्न हैं, पर गन्तव्यस्थान एक ही है। अन्तमें सब योगी एक ही स्थानमें आ जाते हैं। परम अनुरूप सब साधकोंकी अन्तमें एक-सी ही होती है। यह परानुभूति व्यष्टि पुरुषका परम पुरुषमें लय होता, ब्रह्मके परम धारको प्राप्त होता है।

किसी भी योगमार्गमें एक-एक पैडीपर भजबूतीसे पैर रखनेके बाद ही दूसरी पैडीपर चढ़ना होता है। इसी क्रमसे योगीकी सबसे ऊँची अन्तिम पैडीपर मनुष्य पहुँचता है। इस कामके कोई अधीर न हो। अधीरतासे सावकका पैर फिसलता है और उसका उत्तरात्क्रम तुरी तरहसे रुक जाता है।

इसलिये ईश्वर करे आप सब लोग योगमें दृढ़ हों और धीरताके साथ निर्विकल्प समाधिके द्विष्ठरतक पहुँच जायें और परमात्म-मिलनके द्वारा परमानन्दके भागी हों।

नामका प्रताप

देखौ नाम प्रताप से सिला तिरै जल धीच ॥
 सिला तिरै जल धीच सेत मैं कटक उतारी ।
 नामहिं के परताप बानरन लंका जारी ॥
 नामहिं के परताप जहर भीरा ने खाई ।
 पलटू हरि जस ना सुनै ता को कहिये नीच ॥
 देखौ नाम प्रताप से सिला तिरै जल धीच ॥

—पलटू

साधन-तत्त्व

(लेखक—आचार्य श्रीबालकृष्णजी गोस्लामी सद्गुराज)

साधन-तत्त्वके शानदेह पूर्व साध्य-तत्त्वका कुछ परिचयान होना परमायश्यक है। साधक जिस वस्तुकी प्राप्तिकी इच्छा करता है, उसे साध्य कहते हैं। ‘भिन्नशब्दचिह्निं लोकः’ की उकिके अनुसार वाचित्ववस्तुएँ विभिन्न प्रकारकी हो सकती हैं, किन्तु मूलवाच्छा सबकी एक ही है—यथा ‘सुखं मे भ्यात्, दुःखं मे मा भृत्’ अर्थात् सुख मुखको हो, दुःख न हो। तात्पर्य यह है कि संतारमें एक कीटाणुसे, लेकर ब्रह्मातक सब सुखप्राप्तिकी ही इच्छा करते हैं। अतएव सबका प्रधान साध्य सुख ही है। इस सुखरूप साध्यका स्वरूप ही प्रथम विवेचनीय है।

कुछ लोगोंका कहना है कि दुःखके अभावका नाम ही सुख है, किन्तु वह बात नहीं है। सुख और दुःख, ये दोनों भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र वेदनार्थ (feelings) हैं; जैसा कि कहा गया है—‘अनुकूलतया वेदनीयं सुखम्, प्रतिकूलतया वेदनीयं दुःखम्।’ अर्थात् जो वेदना हमको भीतिकर प्रतीत हो, उसे सुख कहते हैं और जो अप्रीतिकर हो, उसे दुःख कहते हैं। वास्तवमें किसी वस्तुविद्योपमें सुख-दुःख नहीं होता, क्योंकि एक ही वस्तु किसीको सुखदायक और किसीको दुःखदायक होती है। इन दोनोंमें सुख ही सर्ववाच्छनीय है, अतः यही साध्यवरूप है।

यह अनुकूल वेदनात्मक साध्यस्वरूप सुख दो वस्तुओंके सम्मिलनसे उत्पन्न होता है और वस्तुसंयोगकी विभिन्नतासे तीन प्रकारका होता है—१ जड-जड-संयोगजन्य सुख, २ जड-चेतन-संयोगजन्य सुख, ३ चेतन-चेतन-संयोगजन्य सुख।

१-जड-जड-संयोगजन्य वह सुख है, जो हमारी जडेन्द्रियोंके साथ उनके जड विश्वयोंका संयोग होनेपर होता है। यह सुख अनिवार्य एवं नाशयान् होता है; क्योंकि जिन दो वस्तुओंके संयोगसे यह उत्पन्न होता है, वे हिन्द्रिय और उनके विषय दोनों ही अनिवार्य एवं नाशयान् हैं। अतएव यह सुख नित्य और अविनाशी जीवका वास्तविक साध्य होनेके अव्योग्य है।

२-जड-चेतन-संयोगजन्य सुख वह है, जो हमारे जडीय मन और चेतन आत्माके संयोगसे सामाधिकालमें उत्पन्न होता

है। यह सुख पूर्वोपेक्षया अधिक कालतक स्थायी होनेके कारण किसी सीमातक साध्यरूपसे प्रह्लण किया जा सकता है; किन्तु यह भी संयुक्त वस्तुओंमेंसे एक (मन) के अनित्य एवं विनाशी होनेके कारण नित्य जीवका नित्य साध्य नहीं हो सकता।

३-चेतन-चेतन-संयोगजन्य सुख वह है, जो चेतनधन परमात्माके साथ चेतन-कण जीवात्माका संयोग होनेपर होता है। ये संयुक्त तत्त्व दोनों ही नित्य एवं सत्य हैं; अतएव इनके संयोगसे जो सुख होता है, वही नित्य जीवके नित्य साध्य स्वरूपसे स्वीकार किया जा सकता है। यहाँ इसी सुखको साध्यरूपसे स्वीकार कर साधन-तत्त्वका निर्णय किया जायगा।

साधक साध्यकी प्राप्तिके लिये जो प्रयत्न करता है, उसे साधन कहते हैं। इस साधनको दूसरे शब्दोंमें पथ या मार्ग भी कहते हैं। यह मार्ग प्रक्रियामेदसे दो प्रकारका होता है—एक आरोही मार्ग, दूसरा अवरोही मार्ग। आरोही मार्ग उस प्रक्रियाका नाम है, जिसके द्वारा साधकको अपने साध्य-तक स्वयं पहुँचना पड़ता है। यह प्रक्रिया अत्यन्त कठिन एवं भयाकुल है। अवरोही मार्ग उस पद्धतिका नाम है, जिसमें साध्य वस्तु साधकके समीप सहजरूप आ जाती है। यह अति सरल एवं निर्भय है। यह विषय नीचेके इस दृष्टान्तसे स्पष्ट हो जायगा—

कल्पना करो कि एक बहुत बड़ा आमका दृश्य है; उसकी सबसे ऊपरकी शाखामें एक पका हुआ फल लगा है, जिसे हम प्राप्त करना चाहते हैं। उसकी प्राप्तिके लिये हम दो ही उपाय कर सकते हैं। एक तो हम स्वयं वृक्षपर चढ़ें और सब प्रकारकी विष-बाधाओंको अतिक्रम करके उस फलको प्राप्त करें। इसको आरोही मार्ग कहते हैं। और दूसरा यह है कि विना किसी विष-बाधाके बह फल सहजमें हमतक आ जाय। जैसा कि प्रायः देखा जाता है कि कोई कोई लोग एक लंबे बाँसमें जालीकी थैली बाँधकर नीचेसे ही उस फलको तोड़कर और थैलीमें धरकर धीरेसे उतार लेते हैं। इसको अवरोही मार्ग कहते हैं।

इन दोनों मार्गोंमेंसे वर्तमान युगके साधकोंकी परिस्थिति- के अनुसार कौन-सा सुगम है, यह बात निष्पक्ष होकर

विचारनेसे सहज ही शात हो जायगी कि दिलीय अर्थात् अवरोही मार्ग ही सब प्रकारसे सुन्दर और अभय है। आरोही मार्गमें पतनका भय है, जैसा कि ब्राह्मदि देवताओं-ने श्रीभगवान्की सुन्ति करते हुए कहा है:—

वैश्वेऽरविन्दाक्ष
विमुक्तमानिन-
स्वव्याख्यादविमुखुद्धयः
आह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्ययेऽनादत्युभ्यद्धयः ॥

‘हे कमलनयन ! तुम्हारी प्रति भक्तिभाव अत्त दोनेके कारण जिनकी तुदि अशुद्ध हो गयी है, ऐसे मुक्ताभिमानी मनुष्य बड़ी कठिनतासे परम पदतक चढ़कर भी नीचे गिर जाते हैं; क्योंकि उन्होंने आपके चरणारविन्दीका आदर नहीं किया है ।’ इसीके आगे अवरोही मार्गकी निर्भयता कही गयी है:—

तथा न ते साधव तावकाः कर्चिद्
अश्यन्ति मार्गार्थयि वक्त्सौद्धाः ।
स्वयानिगुणा विश्वन्ति निर्भया
विनायकानीकपमूर्द्धसु प्रभो ॥

‘हे प्रभो ! हे साधव ! आपके जिन भक्तोंका प्रेम आपमें बैधा हुआ है, वे उन्ह प्रकारके मुक्ताभिमानी मनुष्योंकी तह अपने मार्गसे कभी अष्ट नहीं होते; वे तो आपके द्वारा रक्षित होकर विकारियोंके अधिपतियोंके मस्तकपर (पैर रखकर) निर्भय होकर विचरते रहते हैं ।’

इन स्तुतिवाक्योंसे उक्त दोनों मार्गोंका तात्त्वम् स्पष्ट ही शात ही रहा है। और इनसे यह भी सिद्ध हो रहा है कि एकमात्र भगवद्भक्ति ही अवरोही मार्ग या सर्वसुलभ साधन है। इस भक्ति-साधनकी व्यापकता एवं महिमाका वर्णन इस छोटे-से निवन्धनमें नहीं किया जा सकता—इसके लिये श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत आदि भक्ति-ग्रन्थोंकी आलोचना करनी चाहिये। यहाँ तो केवल इसका प्रकारमात्र दर्शित किया जायगा।

प्रथम तो भक्ति ही दो प्रकारकी है—एक शुद्धा भक्ति, दूसरी विद्वा भक्ति। जिसका श्रीभगवान्के साथ साक्षात् सम्बन्ध है, वह शुद्धा भक्ति कहलाती है और जिसका सम्बन्ध देवतान्तरोंके साथ है, वह विद्वा भक्ति कही जाती है। यहाँ विद्वा भक्तिकी आलोचना करनेकी आवश्यकता नहीं है, इस समय केवल शुद्धा भक्ति ही विवेचनीय है।

साधकके स्थितिभेदके अनुसार शुद्धा भक्तिका साधन दो प्रकारका है—एक जड़देहगत साधन, दूसरा विदेहगत। मायाबद्ध जीवकी जबतक देहात्मकदि रहेगी, तबतक उसे जड़देहगत साधन ही करना होगा और जब इसका अनुशासन करते-करते मायाबद्ध होकर वह भागवत तनु-लाभ करेगा, तब उसे विदेहगत भक्तिसाधनका आधिकार प्राप्त होगा।

जड़देहगत साधन भी दो प्रकारका है—एक स्थूल-देहगत, दूसरा सूक्ष्मदेहगत। विशेष-विदेष जड़ीय स्थूल स्थलमें श्रीभगवान्का अधिष्ठान मानकर उनमें तादात्मवैष्णव-से श्रद्धापूर्वक जो जड़ीय स्थूल वस्तुओंसे भगवत्पूजन सम्पन्न किया जाता है, वह स्थूलदेहगत भक्तिसाधन है और जो मनोमीरी भगवत्प्रतिमाका मनःकस्तिपत वस्तुओंसे अर्जन किया जाता है, वह सूक्ष्मदेहगत भक्तिसाधन है।

वैसे तो हन दोनों प्रकारके साधनोंका किया-कलाप सब समान ही होता है, परन्तु साधककी देश-काल-वस्तुदेहगत परिस्थितिके अनुसार अन्तर केवल इतना ही जाता है कि स्थूलदेहगत साधनमें कई प्रकारकी बाधाएँ आ जाती हैं और सूक्ष्मदेहगत साधनमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं होती। जैसे हम किसी वस्तुविदेषके पूजनके समय श्रीभगवान्के अर्पण करना चाहते हैं, किन्तु वह वस्तु इस देशमें उत्पन्न नहीं होती या इस कालमें उत्पन्न नहीं होती या उत्पन्न होनेपर भी धनाभावके कारण उसको प्राप्त करनेमें हम असमर्थ होते हैं तो हम उसे अर्पण नहीं कर सकते। मनोराज्यमें किसी भी वाचित वस्तुका प्राप्त करना असमर्थ नहीं है, प्रत्युत वहाँ असमर्थ भी सम्भव ही जाता है। इसीसे साधन-तत्त्वके विशेषणोंने स्थूलदेहगत साधनकी अपेक्षा सूक्ष्मदेहगत साधन (मानसिक उपासना) को उत्तम बताया है।

विदेहगत भक्ति-साधनका व्यापार बड़ा ही विचित्र और अलौकिक है। अलौकिक हसे इसलिये कहते हैं कि प्रथम तो विदेहमें स्थूल-सूक्ष्मका कोई भेद नहीं है; दूसरे, इसमें देह-देहीका भी अन्तर नहीं है—जो देह है वही देही है, जो देही है वही देह है। यही साधककी विदेहवस्था है। इस अवस्थामें भक्तिका साधन जड़ीय स्थूल-सूक्ष्म देहके समान कियाजानक था विचारात्मक नहीं होता, भावात्मक होता है। अर्थात् इसमें भक्तिका साधन स्वतःसिद्ध स्वरूपताएँ वर्षमन्वितोप होता है। विदेहगत और जड़देहगत भक्ति-साधनमें

इतना अन्तर होता है कि पहले में साधककी स्वतः प्रवृत्ति होती है और दूसरे में परतः प्रवृत्ति होती है। अर्थात् पहले में अनुराग प्रबल होता है और दूसरे में शास्त्र-शासन प्रबल होता है। यही कारण है कि चिद्रेहगत भक्ति-साधनकी शाश्वतिविधि अभीतक कोई लिपिबद्ध नहीं हुई है और न हो ही सकती है। इस साधनकी विचित्रता यह है कि वह और साधनोंकी तरह अपना फल उत्पन्न कर निरस्त नहीं होता; सिद्धावस्थामें भी यह उसी तरह प्रवृत्त रहता है, जिस तरह साधनावस्थामें रहता है। इसका कारण यह है कि इसमें साध्य और साधन दोनों अभिष्ठ हैं। तात्पर्य यह है कि इस अवस्थामें साधकके साधन-कालमें जो वस्तु साधनका काम देती है, वही वस्तु सिद्धि-कालमें आस्थादानका काम देती है। इस विषयका अनुमोदन श्रीमद्भागवतके इस श्लोकसे स्पष्ट होता है:-

आत्मारामाशु
मुनयो निर्जन्मा अप्युत्तमे ।
कुर्वन्त्यहेतुकां भक्तिमित्यमृतगुणो हरिः ॥

अर्थात् जो मायाकी घनियसे मुक्त आत्मामें रमण करनेवाले मुनिगण हैं, वे भी उसकम भगवानमें अहेतुकी भक्ति-का साधन करते हैं; क्योंकि श्रीहरिके गुण ही ऐसे हैं।

साधन-तत्त्वका विवेचन एक विस्तृत विषय है। ‘कल्याण’ का कलेवर विपुल होनेपर भी स्थानका संकोच है, अतएव इस लघुतम लेखमें सुखोग्य सम्पादक महोदयके अनुरोधानुसार विवेचनीय विषयका केवल परिचयमात्र कराया गया है। जिन साधकोंको इस विषयमें विशेष जिजासा हो, उन्हें साधन-तत्त्वके किन्हीं विशेषण गुरुदेवकी शरण ग्रहण करनी चाहिये। वे ही कृपाकार साधकके अधिकारानुरूप तत्त्वोपदेश देकर किसी सरल साधन-पथका प्रदर्शन करा देंगे।

‘नान्यः पन्था विश्वेऽध्यनाय ।’

सच्ची साधना क्या है ?

(लेखक—डा० श्रीभगवानदासजी, पम्० ४०, दी० लिद०)

‘सुखाभ्युदयिकं चैव नैःप्रेयसिकेव च ।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥’—मनुः
धर्मशार्यश्च कामव त्रिवर्तोऽभ्युदयः स्मृतः ।
चतुर्थः पुरुषार्थस्तु मोक्षो निवेशसं स्था ॥
साधयेद्या चतुर्वर्गं संवास्ति ननु साधना ।
चक्षणिं त्रीण्यपकृत्य श्राव्या त्रिव्यामेष्यपि ।
श्रिवर्गं साधयित्वा तैराश्रमैश्वरम् विशेष ॥
अन्यथा वर्तमानस्तु न साधनोत्येकमप्यसौ ।
‘शृणानि श्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ।
अनपाकृत्य लान्येवं मोक्षमिच्छन् वज्रत्यधः ॥’ मनुः
‘अनवीर्य द्विजो येदाननुत्पाद्य च सत्प्रज्ञाः ।
अनिष्टा चोत्तर्यैर्हैमैक्षमिच्छन् वज्रत्यधः ॥’ मनुः
‘एवं बहुविद्या यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।’ गीता
‘श्रेयान् व्रज्यमयाचाशाज्ज्ञानयनः परंतप ।’ गीता
‘यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि’—गीता
‘तज्जपकादर्थमावनम्’—योगशूल

धर्म, अर्थ, काम—इस विवरणका नाम अन्युदय है; मोक्षको निःश्रेयस भी कहते हैं, क्योंकि उससे बदकर और कोई श्रेयस् नहीं। वेदमें अर्थात् सत्यान, वेदान्त, वेदके

शब्दमें बताया है कि मानव जीवको पहले प्रवृत्तिमार्गमें रहकर, प्रवृत्त कर्म करके, त्रिवर्गका साधन करना चाहिये; और फिर चतुर्थं वर्गं मोक्षका। जिस ‘साधना’से ये चारों पुरुषार्थ सर्वे—सिद्ध हों, वही तो सच्ची साधना है। अन्य साधनाएँ प्रायः धोखा देनेवाली हैं। यह सच्ची साधना क्या है ? यह है प्रजापति, प्रजावत्सल, सर्वशानमय भगवान् मनुकी आदिष्ठ-निर्दिष्ट पददीपी; क्रमशः एक आश्रमसे दूसरेमें, दूसरेसे तीसरेमें जाय; ब्रह्मचर्यर्थं सच्चा शान सीले, गृहस्थीमें उत्तम प्रजाका उत्पादन, पालन-पोषण करे (उतनी ही सन्तातिका उत्पादन करे, जितनेका पालन-पोषण अच्छी तरह कर सके; क्योंकि वेदमें यह भी कहा है कि ‘बहुप्रजाः कृच्छ्रमापयते’, ‘बहुप्रजाः निश्रुतिमाविवेशा’); वनस्थीमें पारमार्थिक शानका यज्ञ सुख्यतः तथा अन्य जनताहितकर सार्वजनिक कर्मसूली यज्ञ करे; फिर सब व्यवहारोंका न्यास करके संन्याताश्रममें परमात्मध्यान करे। इस क्रमके विकल्प जो आचरण करता है, तीनों आश्रमोंमें क्रमसे श्रूषि-पितृ-देवके तीन गुण नहीं तुकाता तथा अर्थ-काम-र्थका अर्जन नहीं करता और बालब्रह्मचारी या बालसंन्यासी आदि वनना चाहता है, वह प्रायः अघः—गीते गिरता है। अर्थकी भावना करके जप करना उत्तम यज्ञ है।

साधनाका मनोवैज्ञानिक आधार

(लेखक—प० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम.० ए०, बी० टी०)

तन घम सुखिया कोइ न देखा, जो देखा सो दुखिया रे ।
चंद्र दुखी है, सूर्य दुखी है, भरमत निसि दिन जाता रे ॥
ब्रह्मा और प्रजापति दुखिया, जिन यह जग सिरजाया रे ।
हाथी दुखिया, बाटो दुखिया, क्या गिरस्य बैरानी रे ॥
शुक्राचार्य जनम के दुखिया, माया गर्व न त्यागी रे ।
धूम दुखी, अवधूत दुखी हैं, रंक दुखी घन रीता रे ॥
कटै कबीर बोही नर सुखिया, जो यह मन की जीता रे ॥

‘साधना’ एक आध्यात्मिक शब्द है । साधनाके द्वारा साधक आनन्द और सुखकी प्राप्तिकी आशा करता है । आनन्द और सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ? इसके विषयमें अध्यात्मवाद और जडवादमें भारी अन्तर है । संसारके सभी प्राणी सुखकी आशा करते हैं और सुखकी खोजमें ही अनेक प्रकारके यत्र किया करते हैं, किन्तु स्थायी सुख किसीको प्राप्त नहीं होता । ज्यों ही हम सुखका सर्वशं करते हैं, ज्यों ही वह अभावमें विलीन हो जाता है । जैसा कथिवर कीट्सने कहा है—

At a touch sweet pleasure melteth,
Like unto bubbles when rain pelteth.

(जिस तरह बैंडके पट्टे हुए उसके धक्केसे पानीका बबूल फूट जाता है, उसी तरह स्फरणमात्रसे ही सुख अभावमें विलीन हो जाता है ।) जब हमें किसी इच्छित वस्तुकी प्राप्ति हो जाती है तो हम आनन्दसे पूछ उठते हैं; जब वह हमारे हाथसे चली जाती है तो हम शोकातुर हो जाते हैं । इतना ही नहीं, इच्छित वस्तुकी प्राप्ति होनेपर मनमें आनन्दकी स्थिति थोड़ी देरतक रहती है; फिर अपने-आप ही मनमें बैचैनी पैदा हो जाती है । इस स्थितिको योगेन्हर महाशयने अपने सारगम्भित वाक्यमें यह कहकर प्रदर्शित किया है कि मनुष्यका मन सदा हुःख और बैचैनीकी अवस्थामें ही इधर-से-उधर झूलता रहता है (Human mind swings backward and forward between ennui and pain.)

इस हुःख और बैचैनीको हटानेके लिये भौतिक विचार-वाले तत्त्वज्ञाओंने यह मार्ग प्रदर्शित किया है कि हमें सदा ही अनेक प्रकारके सुखोंका संग्रह करते रहना चाहिये ।

हमें अपने-आपको ऐसा बनाना चाहिये कि जिससे हम अपने मनको संसारके हजारों कायोंमें व्यस्त रख सकें, ताकि हमें दुःख और सुखके सम्बन्धमें विचार करनेका अवसर ही न रहे । बर्ट्रैंड रसेल (Bertrand Russel) महाशयने अपनी पुस्तक ‘कॉन्केस्ट ऑब हैपीनेस’ (Conquest of Happiness) में यही दिखलाया है कि मनुष्य अपने-आपको सदा किली-न-किसी व्यवसायमें लगा करके ही सुखी रह सकता है । इसी प्रकारका सिद्धान्त १८वीं शताब्दीमें बैन्थम महाशयने इंग्लैंडमें प्रचलित किया था ।

इस प्रकारकी भौतिकताको इंग्लैंडके प्रसिद्ध लेखक कार्लिनने शैतानका राज्य (Reign of Belzebub) कहा है । हमें एक मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे देखना है कि वास्तवमें सुखकी खोज साधनाके द्वारा करनी चाहिये अथवा भौतिक प्रकारसे । साधना करनेवाले व्यक्तिको आज संसारके लोग प्रायः मन्दबुद्धि समझते हैं । हम देखते हैं कि साधक निरर्थक ही अपने शरीरको जास दिया करता है और अनेक प्रकारसे अपने-आपको संसारके सुखोंमें बिक्किय करता है । क्या ऐसा करना निरी भूल है ? मनोविज्ञान इस विषयमें क्या कहता है ?

मनोविज्ञान भौतिक विज्ञानोंके समान ही एक विज्ञान है, अतएव आध्यात्मिकताकी पुष्टि करना मनोवैज्ञानिकके लिये कठिन है । तथापि छुछ मनोविज्ञानियोंने ऐसी भौतिक बात कही है, जिससे हमें यह जात हो सकता है कि हमें सुखकी खोज कहाँ करनी चाहिये । उनमेंसे एक विलियम जेम्सद्वारा कथित आनन्दका सिद्धान्त है । विलियम जेम्सने इस विषयको एक फारमूलमें वर्तलाया है—

लाभ (Satisfaction = Achievement)

यदि किसी मनुष्यका किसी विषयमें लाभ अधिक हो और उसकी आशा (तृष्णा) कम हो तो उसको आनन्द अधिक होगा । यदि उसकी तृष्णा या आशा अधिक हो और लाभ कम हो तो आनन्द कम होगा । हम आनन्दकी दृष्टि लाभको बढ़ाकर अथवा आशाको

कम करके कर सकते हैं। यदि लाभको इतना कम किया जाय कि शून्य हो जाय तो हमारा आनन्द शून्य हो जायगा, किन्तु यदि लाभको जैसा-कैसा रखते हुए आशाको शून्य कर दिया जाय तो हमारा आनन्द अनन्तानन्द हो जायगा। अपर्याप्त जिसे ब्रह्मानन्द कहा गया है, उसकी प्राप्ति इस गणितके फारमूलेके अनुसार आशा या तृष्णाकी शून्यताएँ ही सिद्ध होती है। विलियम जैम्स महाशय स्वयं उपर्युक्त निष्कर्षपर नहीं पहुँचे हैं, किन्तु उनके दिये हुए मनोवैज्ञानिक फारमूलेसे हम गणितविज्ञानकी सहायतासे इस निष्कर्षपर सखलतासे पहुँच सकते हैं। जिसकी बुद्धि कुशाग्र है, उसे यह सत्य हस्तामलकबत् प्रत्यक्ष हो जाना चाहिये।

अब प्रश्न यह है कि हम आशाकी शून्यता कैसे प्राप्त करें। यह सहज ही प्राप्त नहीं हो जाती। संसारके सभी मनीषियोंने तृष्णा या आशाकी शून्यतामें आनन्द और सुखकी प्राप्तिका उपाय बताया है। इस तृष्णाकी शून्यताके लिये साधनाकी आवश्यकता है। आशा या तृष्णा मनकी तरङ्गें हैं। विचित्र मन आशा और तृष्णामय होता है। प्रशान्त मन आशा और तृष्णासे रहित होता है। इस प्रशान्ति स्थितिको प्राप्त करनेके लिये नियकी साधना आवश्यक होती है। मन वायुके समान वेगवान् है; परन्तु अभ्यास और वैराग्यके द्वारा वह नियन्त्रणमें लाया जा सकता है। श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्विग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गुद्धते ॥८॥

क्या अभ्यासके आध्यात्मिक सत्यका भी कोई मनोवैज्ञानिक आधार है? अभ्यासके द्वारा प्राणिमात्रके स्वभावमें इतना परिवर्तन होता है कि वह एक नये प्रकारका प्राप्ति बन जाता है। जो शेर अनेक वर्षोंतक पिंजड़ीमें रह आता है, वह पिंजड़े-का धरवाजा खुलनेपर भी पिंजड़ेसे नहीं भागता; यदि उसे बाहर निकाल भी दिया जाता है तो भी वह फिर पिंजड़ीमें ही घुसता है। जिन कैवियोंका जन्म कँदमें ही बीतता है, वे जब कँदसे मुक्त होते हैं तब भी कँदमें ही जानेको तरसते हैं। अभ्यासके कारण ही मील-मील गहरी खानोंमें काम करनेवाले आदमी उन खानोंमें आनन्दसे जीवन बिता ले जाते हैं और अभ्यासके कारण ही ज्वालामुखी पर्याप्तपर रहनेवाले लोग तथा सदा वायुयानमें उड़नेवाले वायुयानचालक निर्मयताके

* योगसनमें कहा है—अभ्यासवैराग्यान्वयं तत्रिरोधः।

साथ अपना जीवन व्यतीत करते हैं। उनका प्राणान्त किसी क्षण ही सकता है, इसकी उन्हें कोई चिन्ता नहीं रहती। अभ्यासके द्वारा गणितश्च एक ही प्रश्नको विचारते-विचारते ऐसे समाधिष्ठ हो जाते हैं कि खानापीनातक उन्हें भूल जाता है और चलते-फिरते भी वे अपने विचारमें ही विचारा करते हैं। हमारा मन अभ्यासके द्वारा इस प्रकारसे नियन्त्रित किया जा सकता है। हम जिधर उसे चाहें ले जा सकते हैं। हम जिस परिस्थितिमें अपने आपको रखना चाहें, रख सकते हैं। जिस स्थितिसे हमें अभ्यास हो जाता है, उसमें हमें आनन्द आने लगता है। अतएव किसी परिस्थितिको आनन्दसपर निर्भर करता है। यदि हमारा मन हमारे पूर्ण नियन्त्रणमें है तो हम उभी अवस्थाओंमें अनन्त आनन्दका उपभोग कर सकते हैं। मन अभ्याससे बदला आता है।

मनको बदलाये लानेका अभ्यास अनेक प्रकारका होता है। इन अभ्यासोंका ज्ञान साधना कहा गया है। जिस व्यक्तिने अपने मनको पहलेसे ही शान्ति-अशान्ति, मान-अपमान, सुख-दुःखसे निर्लिपि बना लिया है, वही नियम शान्तिमें स्थित रह सकता है॥१॥ जो व्यक्ति काम-क्रोधके वेरोंको सह सकता है वही वास्तविक सुखी है॥२॥

जब हम अपने मनको दुःखोंके सहनेके लिये पहलेसे तैयार कर लेते हैं तो दुःखोंके आनेपर हम विचलितमन नहीं होते। संसारकी कोई भी परिस्थिति एक-सी नहीं रहती। परिस्थितियोंमें परिवर्तन सदा होते ही रहते हैं, जो व्यक्ति इन परिवर्तनोंसे नहीं डरता, प्रतिकूल परिस्थिति पाकर जिसके मनको किसी प्रकारका उद्देश नहीं होता, वही एकरस आनन्द और शान्तिका उपभोग कर सकता है। ऐसा ही व्यक्ति अध्यात्मतत्त्वका वास्तविक चिन्तन कर सकता है। सत्यज्ञवेष्टणके लिये मनका अनुदिग्म होना आवश्यक है; विना मनको वशमें किये सत्यके

* समः शक्त्री च भित्रे च तथा मानापमानयोः।

शोतोष्णादुखदेषु समः सज्जविवर्जितः॥

तुष्णनिन्दाद्युतिमोती सन्तुष्टो येन केनचित्।

अनिकेतः शिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥

—गीता

+ शक्तोत्तैव यः सोऽु प्राक् शरीरविमोक्षणात्।

कामज्ञोद्विवेगं स तुक्तः स द्वज्ञो नरः॥

—गीता

चिन्तन सम्बन्ध मर्ही। अतएव मनको वशमें करनेकी साधना ही सत्यकी प्राप्तिका एकमात्र उपाय है।

किंतु साधु संन्यासी, यत्न-योगी मनको वशमें करनेके लिये हठयोगका अभ्यास करते हैं। ऐसे योगियोंके ऊपर प्रायः आधुनिक सम्यतामें पछे लोग हँसा करते हैं। इस प्रकारकी चेष्टाओंको वे मन्ददुष्कृदिका परिचायक मानते हैं। किन्तु यदि हम संसारके बड़े-बड़े महात्माओंकी जीवनियोंको देखें और हठयोगकी साधनाका मनोविश्लेषणकी दृष्टिसे विवेचन करें तो हम पायेंगे कि हठयोग सही मार्गपर है।

यूनानका एक प्रणिद्ध तत्त्वज्ञा डायोजिनीज़, जो कि सुकरातका चेला था, अपना जीवन एक नादमें ही विता लेता था। वह अपने रहनेके लिये घर बौद्धना आवश्यक नहीं समझता था। एक बार किसी मुख्कले उसे एक पत्थरकी मूर्ति-से देरतक भीख माँगते देखा। उस युवकने पूछा 'डायोजिनीज़ ! भला, पत्थरकी मूर्तिसे तुम क्यों भीख माँगते हो ?' क्या वह तुमको भीख दे देगी ?' डायोजिनीज़ने उत्तर दिया, 'मैं इस मूर्तिसे भीख माँगकर किसी पुरुषके भीख न देनेपर शान्त चित्त रहनेका अभ्यास कर रहा हूँ।' भिक्षा माँगना वास्तवमें त्यागियों और योगियोंके लिये एक साधना है। जो गाली दे और तिरस्कार करे, उसको भी योगी आशीर्वाद ही देता है। जिस योगीका चित्त ऐसी अवस्थामें विचलित हो जाता है, वह योगसे गिर जाता है।

श्रीरामकृष्ण परमहंसजी 'टाका माटी' का अभ्यास समय-समयपर करते थे। एक दृश्यमें रपथा लेते और दूसरेमें मिट्टी और 'टाका माटी, टाका माटी' कई बार कहते-कहते दोनोंको फेंक देते थे। इस प्रकारका अभ्यास मनुष्य-को पैसेके प्रलोभनमें पड़नेसे बचता है। स्वामी रामतीर्थको सेव बहुत ही प्रिय थे, उनका मन बार-बार कोई गम्भीर विचार करते हुए सेवके ऊपर चला जाता था। एक दिन स्वामीजीने कुछ सेव लाकर अपने सामनेके आलेमें रख दिये, इसलिये कि सदा उनकी नजर उन्हींके ऊपर पड़े। मन बार-बार सेवकी ओर जाता था और वे बार-बार उसे छीन-कर दूसरी ओर लगाते थे। इस प्रकार आठ दिनतक युद्ध चला, तबतक सेव सह गये; तब वे फेंक दिये गये। इस अभ्यासका परिणाम यह हुआ कि पिर उनका मन सेवोंकी ओर कोई महत्वपूर्ण विचार करते समय नहीं जाता था। इस प्रकारका अभ्यास प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है। जिस चीजपर बार-बार मन जाय, उससे मनको रोकनेके लिये

यदि हठ करके अभ्यास किया जाय तो फिर मन उस बस्तुपर नहीं जाता। इतना ही नहीं, वह फिर दूसरी बलुओंपर जानेसे भी सरलतासे रोका जा सकता है।

आधुनिक चित्त-विश्लेषण-विश्लेषणकी कुछ खोजें ऐसी हैं, जिनसे उपर्युक्त अभ्यास किसी मानसिक स्वास्थ्यके लिये लाभप्रद नहीं जँचता। मनको हठसे रोकनेवाले व्यक्ति मानसिक और शारीरिक रोगोंके दिक्कार बनते हैं। हमारी वास्तविक आन्तरिक इच्छाओंका अदरोघ हमसे अदृश्य मन-में अनेक प्रकारकी अनियथों (complex) उत्पन्न कर देता है, जिनके कारण उन्माद, बैचौरी, विस्मृति, हिंस्टीरिया आदि अनेक रोग पैदा हो जाते हैं। अतएव कोई-कोई मनोवैज्ञानिक हमारी पाश्चात्यिक प्रवृत्तियोंका अवरोध करना हमारे लिये हानिकर बतलाते हैं।

किन्तु यह उनकी एक भूल है। ग्रन्थियाँ उन वासनाओं और भावनाओंके अवरोधसे पैदा होती हैं, जो अविचारणे द्वारा प्राप्त होती हैं। जिन वासनाओंके द्वारानेका कारण विचार है, उनसे मनमें अनियथोंका पड़ना सम्भव नहीं। विचार होकर, प्रतिकूल वातावरणके कारण जो इच्छाएँ तृप्त नहीं होतीं, वे ही स्वप्न, उन्माद इत्यादिका कारण होती हैं। स्वेच्छामूलक आत्मनियन्त्रण कदापि आत्मविनाशक नहीं हो सकता।

दूसरे, चित्त-विश्लेषण-विश्लेषणकी खोजोंसे यह भी पता चलता है कि जो व्यक्ति अपनी नैतिक बुद्धि (super-ego) की आशाकी अवहेलना करता है, उसे भी अनेक प्रकारके मानसिक और शारीरिक क्लेश होते हैं। यदि किसी प्रकारका व्यभिचार करना हमारी नैतिक बुद्धिके प्रतिकूल है तो ऐसा कार्य हमारी पाश्चात्यिक वासनाको तृप्त करनेवाला होनेपर भी मनमें अशान्ति लायेगा। हमारी नैतिक बुद्धि सदा हमें कोसा करती, जिसके कारण हम कदापि शान्तचित्त नहीं रह सकें। पाप दुःखदायी होता है और पुण्य सुखदायी, इस कथनके मूलमें मनोवैज्ञानिक सत्य निहित है।

मनका नियन्त्रण दो प्रकारसे किया जा सकता है। एक उसकी गतिका मार्ग परिवर्तन करनेसे और दूसरे उसे गति-हीन कर देनेसे। योगसूत्रोंमें वृत्तिहीन अवस्था ही योगाभ्यास-का लक्ष्य बतलाया है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः', 'तदा ब्रह्मः स्वरूपेऽवस्थानम्।' जहाँ चित्तवृत्तिका निवारण हुआ कि आत्मस्वरूपकी प्राप्ति निभित ही है। इससे पहले यथ, नियम, वासन, प्राणायाम, प्रल्याद्यार, ध्यान और धारणाद्वारा

मनकी गति एक और लगायी जाती है। ये सब साधन हमें सविकल्प समाधितक पहुँचते हैं, निर्विकल्प समाधि इसके परे है।

मनोविज्ञानके अनुसार मनको गतिहीन करना सम्भव नहीं। जैसे कि साइकिलपर चढ़ा हुआ मनुष्य साइकिलको रोककर एक ही जगह नहीं रह सकता, उसे सदा गतिमान् बनना पड़ता है, इसी तरह मनुष्यका मन सदा गतिमान् है। किन्तु जिस तरह हम साइकिलको एक और न ले जाकर दूसरी ओर ले जा सकते हैं, इसी तरह हम मनको भी एक और न ले जाकर दूसरी ओर लगा सकते हैं। मन कुछ-न-कुछ करता ही रहेगा, उसे कुछ काम देते रहना चाहिये।

इस मनोवैज्ञानिक सत्यको गीताकारने भली प्रकार से समझा था। इसलिये गीतामें कर्मयोग और मक्तियोगको ही मनको वशमें करनेके श्रेष्ठ उपाय बतलाया गया है। निरुण और सगुण दोनों ही उपासनाएँ प्रशंसनीय हैं, किर भी भगवान् श्रीकृष्णने गीताके वारहवें अध्यायमें* सगुण ब्रह्मकी

* मध्यावेश्य मनो ये मा नित्ययुक्ता उपासते ।

अद्वया परयोपेतास्ते मे युक्तमा मताः ॥

ये त्वक्षरमनिदेश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।

सर्वैग्रामचिन्त्य च कृत्स्यमचर्लं भ्रवम् ॥

स्तनियन्ते निदियामं सर्वत्र समुद्भवः ॥

ते प्राप्तुवन्ति यामेव सर्वभूतिहे रताः ॥

द्वैशोऽधिकतरस्ते वाम्यत्सासकवेत्साम् ।

अव्यक्ता हि गतिर्दुर्घावं देहद्विरवाप्यते ॥

—गीता

मुक्तमें (भगवान्मर्मे) मन लगाकर निस्तर मेरे मजनमें लगे हुए जो मनका अस्यन्त ब्रह्मके साथ मुक्त सगुणको भजते हैं, वे मेरे मतमें अति उत्तम योगी हैं। परन्तु जो पुरुष इन्द्रियसमूहको भलीभैति वशमें करके अनिदेश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, कृत्स्य, अचल, अक्षर ब्रह्मको भजते हैं, वे सब भूतोंके हितमें रत और सर्वमें समानावसे तुक योगी ही मुक्त (भगवान्) को ही प्राप्त होते हैं। उन अव्यक्त ब्रह्ममें लगे हुए पुरुषोंके साधनमें लेश विशेष है, क्योंकि देहभिमानियोंके द्वारा अव्यक्तविषयक गति दुर्घावर्तक प्राप्त की जाती है।

उपासनाके अधिक श्रेष्ठ माना है। वास्तवमें जब अविलं दीसारमें एक ही तत्त्व व्याप्त है तो सबकी रेता करना ही ब्रह्मभावको प्राप्त होना है। यदि हमें आकिंक द्विदि प्राप्त हो गयी है तो मनोविज्ञानकी दृष्टिसे मनसे लक्ष्य व्यर्थ है। हमें मनको योग्य कार्यमें लगाना चाहिये। सभी काम उस एक ही सत्ताके स्फुरणमात्र हैं। यह जानकर जो कुछ भी हम करते हैं, वह परमात्माकी पूजा ही है।

जहाँ जहाँ जाऊँ सोइ परिकरमा, जोह जोह करूँ सो पूजा ।
सहज सदा उर राखूँ, भाव मिथा दूँ दूजा ॥

मनको शून्यतामें विलीन करना सम्भव नहीं; मन जबतक मनरूपमें है, वह गतिशील ही रहेगा। अथात् दृष्टिसे मन अविज्ञाना कार्य है। द्वैतबुद्धि ही अविज्ञा है। इस द्वैतबुद्धिका निवारण ज्ञानसे होता है। द्वैतबुद्धिका नाश होनेपर मन अपने-आप विलीन हो जाता है। अथोत् जबतक हमें अद्वैत-तत्त्वका ज्ञान नहीं होता, मनका अवरोध करना उसे काष्ठलोध्वत् बनानेकी चेष्टा करना है। मनमें चैतन्यका आभास होनेके कारण ही वह चञ्चल है। जबतक शुद्ध चैतन्यकी प्राप्ति नहीं होती, मनका इधर-उधर दौड़ना स्वाभाविक है। वास्तवमें मनकी इस दौड़-धूपका अनित्यम प्रयोजन आसानन्द प्राप्त करना ही है।

अपर जो कुछ कहा गया है, उससे वह स्पष्ट है कि स्थायी भुक्तका होना साधनापर ही निर्भर है। यह साधन मनको वशमें करना है और मनको वशमें करनेका सरल उपाय उसे परमात्माके हेतु निरन्तर भले कामोंमें लगाये रखना है। ज्ञात्वांक मनोविज्ञान इस कथनकी सत्यताको प्रमाणित करता है, उसके सिद्धान्तोंका उछेल किया गया। किन्तु साधनाकी उपयोगिताके विवारमें अन्तिम प्रयोजन अपरेक्षानुभव ही हो सकता है; मनोविज्ञान उसका स्थान ग्रहण नहीं कर सकता।

+ ईशावास्यमिदृश सर्वं यत् किञ्च अगत्यां जगत् ।

—ईशावास्योपनिषद्

सहज साधन

(लेखक—भग्नापक श्रीपीरेणद्वारा मुखोपाध्याम, दृश्य ८०)

स्वास्थ्य-चिकित्सक का यह काम है कि वह पहले रोगका निदान करे और पीछे औपचार्य दे। हमलोग इस संसारके बासी भी अस्वस्थ ही तो हैं। हमारी अस्वस्थता क्या है ? हम 'स्व' में स्थित नहीं हैं, इसी कारण 'अस्वस्थ' हैं, योगी हैं, अनेकानेक कष्टों और यन्त्रणाओंको लेते हुए सुखुपथमें ही चल रहे हैं। रोग, शोक, दुःख, दारिद्र्य, अकालमृत्यु, अपमृत्यु, दाहाकार यहीं तो सारा संसार है। अशान्ति, अमाद, अनाचार, अत्याचार, कलह, ईर्ष्या, द्वेषका ही तो दावानल चारों ओर धबक रहा है। इसकी गाथा, इस भव-रोगकी कथा धर्मपथके पथिकों और मोक्षमार्गके यात्रियोंको पहले समझ लेनी होगी। कारण, दुःखसागरका मन्थन न करनेसे आनन्द और अमृतका पता नहीं चल सकता। जो दुःख इसे कष्ट दे रहा है, वही हमें सुखका पता भी बता देगा। दुःखमें विना गिरे बहिर्मुख जीव अन्तर्मुख नहीं होता। इस दुःख-सागरमें गिरकर ही तुरथ और समाधि माँको पहचान सके। इसी विषादके अनलोगे गिरनेपर ही 'भीतामृतं महत्' श्रीभगवान्के मुखसे इस पृथिवीपर आया। इस विषाद-सिन्धुको मध्यकर ही भगवत्-कौस्तुभ पाया गया, जिसने भारतको समुज्ज्वल किया। धर्मके पथपर चलनेके लिये दुःखका बोध होना जरूरी है, सर्ववोधके पूर्व विषादयोग है। हमलोग दुःखमें गिरनेपर ही भगवान्को पुकारते हैं, ऐश्वर्यमें उठें भूल जाते हैं। इसलिये कुन्तीमाताने भगवान्से यह प्रार्थना की थी कि 'हमें दुःख दो, जिसमें दुःखारा स्मरण बन बैठा है। बहिर्मुख भगवद्विसूख जीवका उद्धार करनेके लिये ही भगवान् हमें दुःख दिया करते हैं।'

स्वरूपन्युति ही हमारे दुखका कारण है। परमात्मस्वरूप श्रीभगवान्को भुलाकर जीव स्वर्यं प्रभु बन बैठा है और अपने सचिदानन्दस्वरूपको खोकर अनात्मा—अहङ्कार-विमूदात्मा बनकर अनन्त कर्मजालमें फँसा इस दुःखसागरमें छूट रहा है। इस दुःखसागरसे उद्धार पानेके तीन मार्ग श्रूतियोंने बतलाये हैं—कर्म, ज्ञान और भक्ति। ये तीनों मार्ग वस्तुतः सर्वथा भिन्न नहीं हैं। ज्ञानमें सामान्यतः कर्म और भक्ति मिली हुई है, कर्ममें भक्ति और ज्ञान मिला है और भक्तिमें ज्ञान और कर्म सम्मिश्र है। इन तीन मार्गोंके विविध अधिकारका भी एक विचार है। श्रीमद्भागवत

एकादशा स्कन्दवें भगवान् बतलाते हैं कि 'संसारमें जो लोग आसक्त हैं उनके लिये कर्मयोगका मार्ग प्रशस्त है, संवासे जो विरक्त हैं उनके लिये ज्ञानयोग और जो अधिक आसक्त भी नहीं हैं और विरक्त भी नहीं हैं, उनके लिये भक्तियोग है।' सब प्रकारके ऐहिक-पारलौकिक भौगोलिक जब मन विरक्त होता है; निषिद्धवर्जनपूर्वक नित्य-नैमित्तिक कर्मद्वारा जब चित्त विशुद्ध होता है; शाम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधानरूप पद्सम्पत्तिसे सम्पन्न होकर जब साधक केवल एक परमात्मस्तुकी प्राप्तिके लिये व्याकुल हो उठता है तब वह ज्ञानमार्गका अधिकारी होता है। अधिकारके विना ज्ञानकी चर्चा केवल ज्ञानका विड्भन है। इस कलिमें कर्मकाण्डका भी यथायिहित होना अत्यन्त दुर्लभ है। आत्मवृद्धि, द्रव्यवृद्धि, मनवृद्धि, स्थानवृद्धि आदिका भी कोई उपाय है ? मनके स्वर और वर्णके उच्चारणमें किञ्चित् भी दोष होनेसे वह वाग्वज्र बनकर यजमानको नष्ट कर देता है। विधीहीन कर्मसे कर्ताका विनाश होता है। कर्मकाण्डमें शूद्रका तो कोई अधिकार है ही नहीं; पर आज ज्ञानांश भी जिस दुर्वस्थामें जा गिरे हैं, उसमें उन्हें भी कहाँतक इसका अधिकार है—यह विचारणीय है। ऐसी अवस्थामें हमलोगोंके अपना अधिकार जानकर उसी योगमें मन लगाना चाहिये।

हमलोगोंके अपराधोंकी कोई सीमा नहीं है। श्रीभगवान्की केषणा भी असीम है। यह जानकर हमें शरणागतिरूप भक्तियोगका ही अवलम्बन करना चाहिये। इसमें वेदान्त ब्राह्मणसे लेकर शूद्र, म्लेच्छ, यवनतक सबका अधिकार है। इसमें कोई प्रत्यावाय नहीं, कोई भय नहीं। सहज, सरल, सुगम पथ है। इसलिये—

'तस्माद् सर्वेषामधिकारिणामनधिकारिणां भक्तियोग एव प्रशस्यते। भक्तियोगो निरूपद्रवः। भक्तियोगान्युक्तिः। चतुर्मुखादीनां सर्वेषां विना विष्णुपक्षया कल्पकोटिभिर्मृक्षो न विष्णते। कारणेन विना कर्म नोदेति। भवत्या विना ब्रह्मज्ञानं कदापि न जायते। तस्मात्प्रभुमि सर्वोदायान् परिस्थित्यं भक्तिनिष्ठो भवति। भक्तिनिष्ठो भवति। मदुपासकः सर्वोक्तुः स भवति। मदुपासकः परं भवति भवति।' (श्रीभक्तिपरिज्ञातः)

अर्थात् ‘अधिकारी, अनधिकारी सबके लिये ही भक्तियोग प्रशंसा है। निष्पद्वा है। मुक्तिका देनेवाला है। चतुर्मुखादि स्वका मोक्ष विष्णुभक्तिके बिना नहीं होता। भक्तिके किना ब्रह्मज्ञान कदापि नहीं होता। इसलिये तुम भी सब उपायोंका परित्याग कर भक्तिनिष्ठ होओ। मेरा उपासक सबसे उत्कृष्ट होता है। मेरा उपासक परब्रह्म होता है।’

न तपोमिन वेदैश्च न ज्ञानेनापि कर्मणा ।
हरिहर्त्साध्यते भक्त्या प्रभाणं तत्र गोपिका ॥
नृणां जन्मसहस्रेण भक्तौ प्रीतिहृषी जायते ।
कलौ भक्तिः कलौ भक्तिर्भक्त्या कृष्णः पुरः स्थितः ॥
(श्रीमद्भागवत-पादान्त्र्य २ । १८-१९)

अर्थात् ‘तपसे, वेदोंसे, ज्ञानसे या कर्मसे, इनमें से किसी-से भी श्रीहरि नहीं मिलते, मिलते हैं भक्तिसे; और इसके प्रमाण हैं गोपिकाएँ। सहस्रों जन्मोंको साथसे भक्तिमें प्रीति उत्पन्न होती है। कलिमें केवल भक्ति ही है, भक्तिसे ही श्रीकृष्ण सम्मुख उपस्थित होते हैं।’

इसलिये ‘भक्तिरेत्वं सिद्धिदा’—केवल एक भक्ति ही सिद्धि देनेवाली है।

वाद्यमानोऽपि मद्भक्तो विष्वैरक्षितेन्द्रियः ।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विष्वैर्नाभिभूयते ॥

‘विष्वैर्नासे विद्वा होनेवाला अनितेन्द्रिय मनुष्य मेरा भक्त होनेपर प्रगल्भा भक्तिके प्रभावसे प्रायः विष्योंके वकीभूत नहीं होता।’

भगवान्‌की शरणमें जो कोई जाता है, वह अभय हो जाता है। भगवान् स्वयं कहते हैं कि ‘जो कोई दीन होकर मुझे पुकारता और कहता है कि मैं दुम्हारा हूँ, उसे मैं सबसे अभय कर देता हूँ, वही मेरा ब्रत है।’

सङ्कृदेव प्रपञ्चाय तवास्मीति च आवदे ।
अभयं सर्ववृत्तेभ्यो ददाम्यतद्वत्तं मम ॥

श्रीभगवान्‌की ओर किञ्चित् भी आकर्षण हो, उनके चरणोंमें लेखाम्र भी रहि हो तो इसे उनकी महती कृपाका प्रसाद समझना चाहिये। इस प्रसादका यक्षपूर्वक रक्षण, योषण और संबद्धन करना आवश्यक है। इसका साधन

सत्सङ्गके करने और दुस्तङ्गको छोड़नेऐ होता है। जो लोग धर्मसे द्वैप करते, देव-द्विजोंकी उपेक्षा करते, शौच-सदाचारमें अनास्था रखते हैं, उनका सङ्ग ही दुःख है। इससे भक्तिको सदा साधान रहना चाहिये। तुष्ट सर्वसे जिस तरह मनुष्य दूर भागता है, उसी तरह भक्त भी अभक्तके सङ्गसे भगवान् है—‘यात्येवाभक्तसंसर्गाद्विष्णुत्पर्यथा नरः’; बतोंकि—

आलोपाद् गात्रसंस्पर्शाद्वयनासाहभोजनात् ।

सञ्चरन्ति हि पापानि तैकविन्युतिवाभसा ॥

‘भाषणसे, शरीरस्वरूपसे, एक साथ सोनेसे, एक साथ बैठकर भोजन करनेसे पाप एकसे दूसरेमें प्रवेश कर जलमें तैलके बिन्दुके समान फैलते हैं।’ गुण-दोष सबके संरक्षण हुआ ही करते हैं। इसलिये भक्तोंग सदा सत्युर्धोंके सङ्गकी ही हङ्घा करते हैं। सत्सङ्ग वडे पुण्यसे प्राप्त होता है। कहते हैं—

यदा सुर्यविशेषण लभते सङ्गति सताम् ।

मद्भक्तानां सुशान्तानां तदा मद्विषया भवतः ॥

भक्त्याश्रवणे श्रद्धा दुर्लभा जायते ततः ।

ततः स्वरूपविश्वानमनायासेन जायते ॥

(श्रीभक्तिप्रसारिज्ञात)

अर्थात् ‘जब विशेष पुण्यके प्रभावसे मनुष्य मेरे भक्त और भुकान्त सत्युर्धोंग सङ्ग लाभ करता है, तभी उसके मेरे विषयकी बुद्धि उपजती है। पीछे मेरे कथाश्रवणमें उसकी उत्कट अद्वा होती है और उससे पिर अनायास ही उसमें मेरा स्वरूपविश्वान उत्पन्न होता है।’

साधुसङ्ग, सत्सङ्ग या भक्तसङ्ग अत्यन्त दुर्लभ है। जहाँ जब मिले, उसे अपना अहोभाग्य समझना चाहिये। पर जब जहाँ इसकी मुलभता न हो, वहाँ सद्गुर्द्वयोंका सङ्ग तो अवश्य ही करना चाहिये। प्रतिदिन ही व्यास-जालीकी आदिके ग्रन्थोंका पाठ होना ही चाहिये। इन ग्रन्थोंके पठनसे हृदय पवित्र होता है, प्राण आनन्द-रससे अभिवित होते हैं, शुद्ध नीरस हृदय भी भक्तिभावसे भर आता है। भक्तिके विषयमें श्रीमद्भागवत-जैसा दूसरा ग्रन्थ नहीं है—‘निगम-कल्पतरोर्गणितं फलं शुक्रमुखादमृतद्रवयसुतम् । पितृत भगवत् रसमालयम्’।

श्रीभगवान्‌के समान व्याधात्मरामायण भी भक्तिविषयक अति उपादेय मर्य है। रामायण, महाभारत, भागवत,

अध्यात्मरामायण प्रस्तृति सद्गुर्व इमारे जन्म-जन्मान्तरके पापोंको नष्ट करनेमें प्रज्ञलित अग्निका काम करते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीचंद्रीसत्साती, श्रीदेवीभागवत आदिदेवों पाठ सब पादाविद्वृत्तियोंको नष्ट करके सब पादोंसे तुक्रा करनेवाले हैं। वास्त्वीकिके अवतार तुलसीदास, कृतिवासी और काशीराम आदिदेवें भूम्य ही तो उत्तर भारतमें हिन्दू धर्मके जीवित रखके हुए हैं। भगवद्गीतामें सत्सङ्खके समानान् सहायक और कोई नहीं। सत्पुरुषोंका सङ्ग न मिले तो सद्गुर्वोंके पाठके द्वारा श्रीभगवान्के नाम, रूप, लीला, गुण और अवतारकी कथा बार-बार श्रवण करनी चाहिये। इससे चित्त शुद्ध होता और भगवद्गीताकी सुषिठ और पुष्टि होती है।

शास्त्रोंका कथन है—

‘अस्मद्वोक्तुषुकृतपरिपाकवशाश्व सहिः सङ्गो जायते । तस्माद्विधिनिषेधविदिको भवति । ततः सदाचारप्रवृत्तिं जायते । सदाचारालिलनुसितक्षयो भवति । तस्मादन्वनः करणमतिविभलं भवति । ततः सद्गुरुकृताक्षमन्तःकरणमाकाङ्क्षिति । यथा जात्यन्वयव्य रूपज्ञानं न विद्यते तथा गुरुपदेशैव विना कल्पकोटिभिः तस्मज्ञानं न विद्यते । तस्मात् सद्गुरुलुपाकृताक्षमितिरेषेषाचिरादेव तस्मज्ञानं भवति । यथा सद्गुरुकृताक्षो भवति तदा भगवान्कथाभ्रवणज्ञानादौ अद्वा जायते । तस्माद् हृदयस्थितानामिद्युत्तोसामाप्राप्तिविनाशो भवति । ततो हृदयस्थिताः कामाः सर्वं नक्षतन्ति । तस्माद् हृदयपुण्डरीकृणिकायां परमाभाविसार्थो भवति ।’

अर्थात् 'अत्यन्त उत्कृष्ट पुण्यके परिपाकसे सत्सङ्ग प्राप्त होता है; उससे विविधनिषेदक विवेक उत्पन्न होता है । विवेकसे सदाचारमें प्रवृत्ति होती है । सदाचारसे सब पापोंका क्षय होता है । तब अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल हो जाता है । तब सदगुरुकटाक्ष पानेकी इच्छा अन्तःकरणमें होती है । जन्मान्त्र व्यक्तिको जैसे रूपका बोध नहीं होता, वैसे ही गुरुके उपदेश धिना कठिन कर्त्त्वमें भी किञ्चिको तत्काल शान नहीं होता । सदगुरुकी कृपादृष्टिके लेशमात्रसे तुरंत तत्त्वशान होता है । जब सदगुरुकी कृपादृष्टि पड़ जाती है, तब भगवत्कथाश्रवण-भ्यानादिमें अद्वा उत्पन्न होती है । उससे हृदयस्थित अनादि कुर्बासनामन्त्रिका विनाश होता है । उससे हृदयस्थित सब काम नष्ट होते हैं । तब उससे हृत्पश्चकी कर्षणकार्यमें परमात्माका आविर्भाव होता है ।'

सदगुरुकृपाके विना साधनराज्यमें कोई व्यक्ति प्रवेश नहीं कर सकता। जिस विधिसे सदगुरु शिष्यको साधन-राज्यमें प्रवेश करनेका अधिकार देते हैं, उसीको दीक्षा कहते हैं। दीक्षासे दिव्य ज्ञान होता और पापका क्षम हो जाता है, इसीलिये उसे दीक्षा कहते हैं।

दिव्यज्ञानं यतो दशाकुर्यात्प्रस्थ संक्षयम् ।
तस्मादीक्षेति सा प्रोक्ता सुनिभिस्त्वं वैष्मिकः ॥
दीक्षामूलं यथं सर्वं दीक्षामूलं परं यतः ।
दीक्षामाणिष्ठं निवसेद्यत्र कुत्रामसे बस्तु ॥

* * * *

देवि दीक्षाविहीनस्य न सिद्धिर्व च सदृतिः ।

क्षस्मात्सर्वप्रदलेन गुरुणा दीक्षितो भवेत् ॥

उपपातकस्त्रक्षणि महापातककोटयः ।
क्षणाहृति देवेशि दीक्षा हि विधिना कृता ॥

अर्थात् 'जप-तप सबका मूल दीक्षा है; जहाँ-कहाँ जिस किसी आश्रममें भी दीक्षाका आश्रय करके ही रहना चाहिये। दीक्षाके बिना सिद्धि नहीं मिलती, सद्गुरि नहीं प्राप्त होती। इत्यलिये हर उपायसे शुरुके द्वारा दीक्षित होना चाहिये। विष्विर्वक्त दीक्षा होनेसे वह दीक्षा एक क्षणमें लाखों उपपातक और करोड़ों महापातक जला डालती है।'

अधिष्ठे ही अधि प्रज्ञलित होता है । सद्गुरुसे प्राप्त मन्त्र अधिके समान पापराशिके जलाकर शिष्यका मुक्तिदार उन्मुक्त कर देता है । ग्रन्थोंके पठन-पाठनसे केवल शब्द-पाठिण्डत्य बढ़ सकता है, पर प्रत्यक्ष कियाका बोध सद्गुरु-कृपाके द्विना नहीं हो सकता । सहुषकी प्राप्तिके लिये जो कुछ करना पड़ता है, उसका हमलोगोंको कुछ भी व्याप्त नहीं है । पापाण्डमें भी प्राणप्रतिष्ठ करनेवे देवताका आगमन होता है । आचार्यकी उपासना करनेसे ब्रह्मवस्तु अवश्य ही मिलेगी । एकलब्ध्यने द्रोणाचार्यकी मृत्युमयी प्रतिमाको पूजकर साधनबलसे अखिलशिखमें असाधारण दक्षता लाभ की और हमलोग गुरु न मिलनेके बहाने अपने आधारिमक उत्तरि-पर्यका द्वार ही बंद रखके हुए हैं । आदर्श गुरु मिलनेके पूर्व अपने आपको आदर्श शिष्य बनाना पड़ता है । शीतलुक ही भगवान्, गुरु और मन्त्र तीनीमें हैं । जिन्हें ऐसे सत्तरकी कृपा प्राप्त हई, उनके लिये और कुछ भी प्राप्तव्य

नहीं है। भगवान् ही श्रीसुरुरुपसे सत् शिष्यके सामने आविर्भूत हुआ करते हैं।

इस युगमें कृच्छ्रतपादि कठोर साधना करनेकी सामर्थ्य जीवमें नहीं रह गयी। श्रीभगवान्की शरण लेकर उनके चरणोंमें अपनी आँखें लगाकर प्रार्थना करनेके सिद्ध जीवके लिये और कोइ उपाय नहीं है। यह उपाय सहज, स्वल्प, सुगम है। शाल ही भगवान्की वाणी हैं, शाल ही मापदंती तनु हैं; अतः शालानुवायी जीवन ही उन्हें प्राप्त करनेका सहज उपाय है। जिस किसी वर्णमें हमारा जन्म हुआ है, हमारी जैसी भी अवस्था है, शौच-सदाचारका अथलम्बन कर अपने धर्मका पालन करते रहें; इसीसे भगवान् प्रसन्न होंगे। श्रीभगवत्-प्रीति ही हमारा परम धर्म है। उनका प्रीत होना ही हमारा परम कल्याण है। ब्राह्मण-सन्तान ब्राह्मण-धर्म पालन करें, शौच-सदाचार-सत्य-अहिंसा-

शम-दम-तपःसमन्वित हों, जिसन्ध्योपासन करें, शालचर्चा और जपादि कर्मोंमें नियुक्त हों, कुलगुरुसे कुलमन्त्रकी दीक्षा लेकर सन्ध्या-जपादि करें, पुराणादि पाठ करें, सत्य, शौच, शालचर्चेवदि अवलम्बन करें और सभी वर्ण सदा श्रीभगवान्म-महामन्त्रका जप करें, उच्चरणसे हरिनामसङ्कीर्तन करें। इस साधनासे भगवान् प्रसन्न होंगे और कभी-न-कभी सदुरुरुपसे आविर्भूत होकर साधकको कृतार्थ करेंगे।

कलिमें नाम-साधन ही सहज साधन है, वही महासाधन है—

हरेनाम हरेनाम हरेनामैव केवलम् ।

कलौ नारस्येव नास्येव नास्येव गतिस्त्वया ॥

हरे राम हरे राम राम हरे हरे ॥

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

कलियुगी जीवोंके कल्याणका साधन

(लेखक—बीजवरामदत्तजी 'दीन' रामायणी)

यह कलिकाल मलायतन मन करि देखु विचार ।

श्रीरघुनाथ नाम तजि नाहिन अन अधार ॥

एहि कलिकाल न सावन दूजा । जोग जग्य जप तप ब्रत पूजा ॥
रामहि सुमित्रि गद्यथ रामहि । संतत सुनित्र राम गुनग्रामहि ॥

—श्रीरामचरितमानस

यह 'दीन' लेखक पाठक महानुभावोंसे सबप्रथम उपर्युक्त पदोंमें आये हुए 'यह' तथा एहि शब्दपर विचार करनेके लिये विनम्र प्रार्थना करता है। श्रीगानत-ग्रन्थके रचयिता गोसामी श्रीतुल्लीदासजी महाराजने बार-बार 'यह कलिकाल, एहि कलिकाल' का प्रत्यक्ष अकृत्यानिदेव्य करके निश्चयपूर्वक यह सिद्धान्त रियर कर दिया है कि इस वर्तमान धौर कलिकालमें श्रीभगवान्के नाम और वश (चरित्र) को छोड़कर दूरे जितने भी साधन हैं, उनमेंसे किसीसे भी सिद्धि नहीं हो सकती, वे सभी साधन अनुभव करके देखे जा चुके हैं। श्रीगोस्वामियादने अपने अनुभवकी वातको विनयपत्रिकाके भी निष्प्रलिखित पदोंमें व्यक्त कर दिया है। यथा—

'एहि कलिकाल सफल साधनतर है अम फलनि फरो सो ॥१३॥'

'प्रसे करिन्नोप जोग-संज्ञम-समाधि रे ।

राम-नाम छाडि जो भरोसो कैर और रे ।

तुलसी परोसो त्यागि मर्ती कूर कौर रे ॥६६॥

'जोग, जग, जप, विराम, तप, सुतीरश अट्ट ।

बैंगिकेको मव-गर्यद रेतुकी रेतु बदत ॥

परिहरि सुरसनि सुनम सुंजा लहिल लहत ।

ललच रेतु तेरो लहि तुलसी तोहि हटत ॥१२९॥

'साधन बिनु सिद्धि सकल विकल लोग लपत ।

कलियुग वर बनिज विषुह नामनार लपत ॥१२०॥

'विस्तास एक राम-नाम को ।

ब्रत तीरथ तप सुनि सहमत, पचि मैर, कैर तन छाम को ।

करम-जल कलिकाल कठिन अधीन सुसंवित दामको ।

गयान विशम जाग जप तप, मध्य लोम मोह भद्र कामको ॥१२५॥

'राम-नामके जपे जाइ जियकी जरनि ।

कलिकाल अपर उपाय ते अपाय भये,

जैसे तम नासिकेको वित्रके तरनि ॥

करम-कलाप परिताप-पाप साने सब,

ज्यों सुकूर पूरे तरु फोकट फरनि ।

जोग न समावि निकपावि न बिराग ग्यान,
बचन विसेव वैष, कहुँ न करलि ॥
राम-नामको प्रताप हर कहै, जैव आप,
जुग-जुग जानै जग, बेदहुँ भरनि ॥३८४॥

'नाना पथ निरवानके, नाना विश्वान बहु मौति ।
तुलसी तू भेर कहै जपु राम-नाम दिन राति' ॥३९२॥

'जपहि नाम रघुनाथको, चरचा दूसरी न चालु' ॥३९३॥

'संकर साहि जो राखि कहै कछु तै भरि जीद गरो ।
अप्नो भरो राम-नामहि ते तुलसीहि समुहि परो' ॥३९६॥

'प्रिय राम नम ते जाहि न रामो ।
ताको भरो कठिन कलिकालहुँ आदि-भव्य-परिनामो' ॥३९८॥

'राम जपु जीह । जानि, श्रीति सों प्रतीति भानि,
राम-नाम सों रहनि, राम-नाम की कहनि,
कुटिल कलि-मल सोक-संकट हरनि' ॥३९९॥

'समु-सिद्धन रसनहै नित राम-नामहि धोसु ।
देहहूँ कलि नाम-कुंज रोध-सागर-सोसु' ॥३५०॥

इसी प्रकार बिनयपत्रिकाके और भी बहुत-से पदोंमें तथा
गीतावली, दोहावली, कवितावली, वरवै रामायण आदि समस्त
तुलसीरचित प्रन्योगोंमें हस्त ओर कलिकालके लिये केवल भगव-
त्ताम और अशक्तों ही सर्वोत्तम एवं सफल साधन ठहराकर
दूसरे सब साधनोंको निस्तार तथा निष्पल सिद्ध करनेके
अनुभवयुक्त प्रमाण दिये हुए हैं, जिन सबको उद्धृत करनेसे
लेक बड़ा हो जायगा । इसलिये इस वर्तमान कलियुगमें जन्म पाये
हुए इस सभी मनुष्योंको उपर्युक्त 'एहि कलिकाल' के ही निर्दिष्ट
भावपर विचार करना चाहिये । हमें गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके
सामर्थ्यसे अपने सामर्थ्यकी तुलना करनी चाहिये । यदि हममें
उनसे अधिक वैराग्य, धारा, ध्यानादिकी साधन-समर्थी नहीं
हो, तब तो यही उचित है कि वर्तमान युगके उन निकटतम
आचार्योंने (श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीने) अपने अनुभवों
जो निर्णय किया है, उत्तीपर हम हठ विद्वास कर लें और
निर्मयतापूर्वक उन्हींके बताये मार्गपर चलकर सर्वभुलभ साधन
भगवत्ताम-यदके जप-कीर्तनद्वारा विना प्रयास संसार-सागरसे
पार हो जायें । श्रीमानसके ये वचन कितने स्पष्ट हैं !—

सुनु व्यासारि कलि कलि मल अवगुन आगर ।
गुनउ बहुत कलियुग कर बिनु प्रयास निस्तार ॥

हत्युग व्रतैँ द्वापर पजा मस अह जोग ।
जो मति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहि लोग ॥
कलियुग सम जुग अन नहि जौ नर कर विस्वास ।
गह राम गुन गन विमल भद तर बिनहि प्रयास ॥

—उत्तरकाण्ड १०२ क, ख; १०६ क

यहाँ साधारणतः यह प्रश्न उठायः जा सकता है कि
जगत्में जब अनेकों आचार्योंने अनेकों साधन-मार्ग बतलाये हैं,
तब हम कलियुगी जीवोंकी गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीउे ही
क्या भनिष्ठता है ? हम कभी उन्हसे अपनी तुलना करें और
उन्हींके अनुभवोंको अपने लिये उपयोगी मानें । इसके
उत्तरमें भी यह 'दीन' लेखक उसी 'एहि' शब्दपर विचार
करनेकी प्रार्थना करता है । गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके
साथ हम कलियुगी जीवोंकी धनिष्ठताका सम्बन्ध जोड़नेवाला
वही 'एहि' शब्द है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि स्त्युगुण,
त्रेता अथवा द्वापरमें जन्म ग्रहण किये हुए
श्रीतुलसीदासजीका वह कथन नहीं है । कलियुग भी अनेकों
व्यतीती हो चुके, उन वीते हुए कलियुगमें जन्म ग्रहण किये
हुए श्रीतुलसीदासजीका भी वह कथन नहीं है; बल्कि वह
अनुभवयुक्त कथन उन श्रीतुलसीदासजीका है, जो इसी
वर्तमान कलियुगमें, जिसमें हम सबका जन्म हुआ है, कुछ
ही वर्षों पूर्व जन्म ले चुके हैं; जिन्होंने अपना सारा जीवन
ही हमारे-जैसे कलि-कुटिल जीवोंके उद्धारार्थ परोक्तारकी
मेंट चढ़ा दिया था और इसीलिये जिन ब्रह्मभूत आत्माका
इस कलियुगमें अवतार हुआ था । यथा—

'कलि कुटिल जीव निस्तार हित बालमीक तुलसी मयो' ।

—श्रीनामादासकृत भक्तगाल

'दलदा नामु जपत जपु जाना । बालमीकि भए ब्रह्म समाना' ॥

—श्रीरामचरितमानस

अस्तु, महर्षि वाल्मीकीजीकी ब्रह्मभूत आत्माने गोस्वामी
श्रीतुलसीदासजीके रूपमें अवतार लेकर हमसे कल्याणके
निर्मित हमसे कुछ ही दिनों पहले इस कलियुगके
दुर्लभन्दूकोंका साक्षात् अनुभव किया और फिर यह विचार
किया कि—

'कलि केवल मल मूल मरीना । पाप फ्योनिवि जम भन मीता' ॥

—श्रीरामचरितमानस

इस प्रकार कलियुगी जीवोंके साधन-पुरुषार्थका विचार करके डंकेकी चोटसे यह सिद्धान्त उद्घोषित किया गया—

'एहि कलिकाल न साधन दूजा'।
'यह कलिकाल मलायतन मन करि देखु विचार'।

—श्रीरामचरितमानस

'एहि कलिकाल सकल साधन तक है अम परनि करो सो'।

—विवेयपत्रिका

फिर इस कलिकालमें जो साधन फलीभूत हो सकता है उस सुलभ, सुखद और सब्दे साधनकी दुःखभी बजायी गयी। हम वहाँ केवल उन मूल धर्मोंको ही उद्धृत कर देना चाहते हैं। यथा—

'नहिं कहि करम न भराति बिनेहु । राम नाम अवहंकर पहु' ॥
'कलियुग केवल हरि गुन गाहा । गवत नर पवहिं भव याहा ॥
कलियुग जोग न जय न भ्याना । एक अधार राम गुन गाना' ॥
'नाम हेत भवसिंहु सुखाही । कहु विचार मुजन मन माही' ॥
'सब भरोस तजि जो भज रामहि । प्रेम समेत गव गुन ग्रामहि' ॥
सोइ भव तर कछु संसय नाहीं । नाम प्रतप प्रगत कलि माही' ॥

कलियुग समन दमन मन राम सुजस सुखमूल ।

सादर सुनहिं जे तिन्ह पर राम रहाहिं अनुकूल ॥

कठिन काल माल कोस धर्म न भ्यान न जोग जप ।

परिहिं सकल भरोस रामहि भजहिं त चतुर नर ॥

—श्रीरामचरितमानस

न भिटै भव संकट दुर्घट है तप तीरथ जन्म अनेक घटो ।

कलिमें न विराग न भ्यान कहूँ, सब लागत फोकट कूठ छटो ॥

भट ज्यो जनि ऐ कुपेटक कोटिक चेटक कौतुक ठट ठटो ।

तुलसी जो सदा सुख चाहिअ तो रसना निसि बासर राम रहो ॥

—कवितावली

काल करास बिलोकहु होइ सञ्चेत ।

रामनाम जपु तुलसी प्रीति समेत ॥

कहि नहिं भ्यान विराग न जोग समाप्ति ।

रामनाम जपु तुलसी नित निष्पापि ॥

तप तीरथ मस दान नैम उपबास ।

सब ते अधिक नाम जपु तुलसीदास ॥

—इति रामायण

राम नामको अंक है सब साधन हैं सूत ।

अंक गर्हि कहु हाथ नहिं अंक रहे दसगून ॥

रामनाम अवलंब बिनु परमारथकी आस ।

बरपत बारिद बैंदू गहि चाहत चढ़न अकास ॥

—दोहावली

इससे अधिक सुन्दर और स्पष्ट उपदेश और क्या हो सकते हैं?

सियावर रामनन्दकी जय !

शरीरकी गति

कठीर गर्थ न कीजिये, काल गहे कर केस ।

ता जानों कित मारिहै, क्या धर क्या परदेस ॥

द्वाइ जरै ज्यौं लाकड़ी, केस जरै ज्यौं धास ।

सब जग जरता देखि करि, भये कठीर उदास ॥

झैंठे सुख को सुख कहै, मानत हैं मन भोद ।

जगत च्यैना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद ॥

पानी केरा बुद्धुदा, अस मानुसकी जात ।

देखत ही छिप जायगी, ज्यौं तारा परभात ॥

रात गँवाइ सोय करि, दिवस गँवायो स्वाय ।

हीरा जन्म अगोल था, कौटी बदले जाय ॥

—कवीर

श्रीभगवन्नामसाधन

(कथा नामाभास मानना नामापराध करना है ?)

(लेखक—श्री‘त्वान्तःसुखान्’)

‘मङ्गलभवन अमङ्गलहारी’का परम पादन एक ही नाम परम कल्याणकारी है, एक ही नामसे भवसिंधु सूख जाता है—‘नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं ।’ एक नाममें इतनी पापनाशक शक्ति है जितना पाप संसारका कोई भी, किसी प्रदेश और कालका भी महान्-से-महान् पापी नहीं कर सकता —इस प्रकार श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त वचनोंसे तथा अन्यान्य संत-वाणियोंसे जहाँ एक ओर नाम महाराजकी महिमा प्रकट होती है, वहाँ दूसरी ओर वह देखकर कि प्रतिदिन नामकी लक्ष्मा मालिका पूर्ण करनेपर भी कितने लोग अपने व्यावहारिक जीवनमें टक्स-सेंसेस नहीं होते, जहाँ थे वहाँ पड़े दीखते हैं, उनमें दैवी गुणोंके सज्जार तथा आसुरी गुणोंके परिहारक कोई व्यक्त लक्षण नहीं दिखलाती पड़ता । इस अवस्थामें यह सन्देह भी अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता कि जिस नामकी महिमा ऊपर कही गयी है वह क्या कोई दूसरा नाम है । कारण, यदि वह यही होता, जिसकी लक्ष्मा मालिका पूरी की जाती है तो परिणाम दृष्टि-गोचर क्यों नहीं होता ? परिणाम दृष्टि-गोचर न होनेकी दशामें क्या वह मान ले कि बस्तुतः नामके सम्बन्धीय उकियों भूतार्थवाद नहीं, केवल अर्थवाद हैं ? पर ऐसा मानना नामके दशापाठोंमेंसे एक महान् अपराध करना है ।

फलतः, शास्त्र-श्रद्धालु ऐसा नहीं कर सकते । अतएव इस शङ्काका समाधान दूसरे प्रकारसे होना चाहिये । कहनेकी आवश्यकता नहीं कि नामाभासकी कल्पनाका उदय इसी शङ्काके समाधानस्तरूप हुआ है । अर्थात् जिस नामका अस्यास साधारण साधक करते हैं वह वास्तविक ‘नाम’ नहीं है, ‘नामाभास’ है । इस प्रकार उपर्युक्त अलङ्कृतिका निराकरण हो जाता है ।

परन्तु नामाभासकी वह कल्पना जिस दोषको हटानेके लिये की जाती है, उसीको पुनः प्रकारान्तरसे ला लड़ा कर देती है । साधारण साधक पूर्ण नाम-सानुभूतिके पूर्व जिस नामका अस्यास करता है वह वास्तविक नाम नहीं, नामाभास है—इससे यद्योपास्यान-जैसे धोखेमें, अशाततया, अश्रद्धया, हेलनया नामोबारणकी फलश्रुतिमें वास्तविक वास्त्वा

न होकर अर्थवादकी ही भावना हो सकती है । अर्थात् दूसरे शब्दोंमें, ‘नामाभासकी कल्पना नामापराध है’ ऐसा निष्कर्ष निकलता है । फिर मूल सम्देहका निराकरण कैसे हो ?

इसके लिये यद्योपाल्यानवर्णित नाम और तजन्य कल्याणके स्वरूप तथा इन दोनोंसे उसके उससे पूर्व जीवनके सम्बन्धका स्थैतिकरण आवश्यक है । यवनद्वारा उच्चारित नाममें श्रद्धा एवं विश्वास तथा दिव्यभावनाकी तो आत ही कथा; उसे यह भी बोध नहीं था कि ‘राम’नामका कोई भगवान् भी है । वहाँ तो जापककी भावनाकी रंगमात्र भी अपेक्षा नहीं है । वहाँ नामकी स्वरूपभूत शक्तिका एकान्त परिचय मिलता है । यवनके मुखसे उच्चारित ‘राम’ उसके भगवान्का नाम नहीं है, प्रत्युत उसके अक्षीलोद्राकका एक अंशमात्र है । उस अक्षीलोद्राकके अवश्यभूत भगवन्नामकी महिमा ऐसी कि साकात् श्रीभगवान्के पार्षद आकर उसे वैकुण्ठ ले जाते हैं । रही उसके पूर्वजीवनकी शात । इसके सम्बन्धमें भगवन्-पार्षदोंसे यमदूतोंने जो उसका चरित्रचित्रण किया है, वही पर्याप्त है । कौन ऐसा पाप था कि जिसको उसने नहीं किया था—

उपर्युक्त विवेचनसे यह आत स्पष्ट हो जाती है कि कोई अन्य अलौकिक दिव्य नाम दैवीगुणसम्बन्ध व्यक्तिद्वारा श्रद्धा-विश्वासपूर्वक उच्चारित होनेसे नहीं, प्रत्युत यही नित्यका श्रुत-उच्चारित-चिनित कोई भी भगवन्नामद्वारक व्यब्द ही परम कल्याणकारी है । फलतः हमारी मूल शङ्का तिद्वान्तः नहीं है, पर व्यवहारके कुछ आकर्षक उज्ज्वलाङ्कोंको परमार्थके साथ मिश्रीभूत करनेका फल है । अर्थात् दैवीगुणोंके प्रति जीवमात्रका स्वाभाविक श्रद्धा-आदर-भाव है । फलतः वह नहीं चाहता कि किसी आसुरीसम्पत्तिसम्बन्ध व्यक्तिको वही दिव्य गति प्राप्त हो जाय, जो दिव्य गुणशालोंको होती है । यह पक्षपात, यह अनुदारता, यह बणिन्वृति इतनी अस्वाभाविक और प्रबल हो जाती है कि वह दिव्य गुण और परमार्थकी यदि एक नहीं तो इतना धनिष्ठ सम्बन्धी मानने लगता है,

मनवाने लगता है कि दिव्य गुणोंके बिना परमार्थकी प्राप्ति शक्य ही नहीं, असम्भवी है। पर यदि यही वास्तविक बात होती तो भगवान्के प्रति वे उद्घार कैसे निकलते—

‘ऐसो को उद्घार जय माही।

निनु सेवा जो द्रौप दीनपर राम सप्तरिस कोउ नाही॥

नामके सम्बन्धमें तो ऐसे उद्घार भी पूरे नहीं पड़ते, क्योंकि ‘नामसे नाम बढ़ा है।’ यह सब श्रुति-स्मृति-शास्त्र-पुराण-संतकी टेर है। फिर तो—

मायं कुमायं अनख आलहूँ। नाम जपत् मांल दिसि दसहूँ॥
पापित जा कर नाम सुमिरही। अति अपर भद्रसपर तरही॥

—का क्या स्वारस्य होगा? इसमें सन्देह नहीं कि दिव्य-गुणसम्पन्नता नामाभिश्चिं बढ़ाने तथा उससे शावतया लाभान्वित होनेके लिये अनिवार्य है। पर हलुका यह कदापि अर्थ नहीं है कि दिव्यगुणसम्पन्नता नामधाराका कारण है। हलुके विशद, नाम महाराज कार्य-कारणातीत अति दिव्य हैं। वह अपनी महिमामें विराजते हैं, उन्हें किसीकी अपेक्षा नहीं। उनमें यह शक्ति है कि वे परम पापी और परम पुण्यात्माको समान गति दे सकते हैं, देते हैं, दिये हैं, देंगे। केवल उनको ग्रहण करना चाहिये, यही एक शर्त है। यह अवश्य है कि दिव्यगुणसम्पन्नतासे महाग अधिक सम्प्रभु एवं सहज हो जाता है। पर जीवनमें जिसने एक बार भी ग्रहण कर लिया, उसके परम कल्याणकी रजिस्ट्री हो गयी, इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं है।

जहाँतक परम कल्याणका सम्बन्ध है, वहाँतक तो यही नाम एक बार भी किसीके द्वारा भी किसी स्थान या समयमें भी उच्चारित हो तो वह परम कल्याण कर ही देता है। परम कल्याणकी साक्षात् अनुभूतिमें दिव्यासुरगुणसम्पन्नताके तारतम्यसे अन्त यह सकता है। दिव्यगुणसम्पन्न जीते ही मुक्त हो सकता है, आसुरगुणसम्पन्न मरणके पश्चात् मुक्त होता है। अथवा यह भी हो सकता है कि दो-एक जीवनका व्यथाधान और भी यह जाव, परन्तु अन्तिम मरणके पश्चात् उसकी मुक्ति होती ही है।

एक और भी प्रमुख भेद है, केवल कल्याण ही परम बाह्यनीय नहीं है, कल्याणकी अधिकाधिक निरन्तर अनुभूति उससे भी बढ़कर है। कल्याण तो भगवान्के नाम-रूप-लीलाधारामेंसे एक या कईयोंके ग्रहणसे हो ही

जाता है, पर उसके बाद भी भजनका सुख शेष रहता है।

प्रमुखी साक्षात् प्राप्तिके अनन्तर सुग्रीवके ये शब्द—

अन-प्रमुख रूप करहु यहि भैती। सब तजि भजन करौं दिन रहती॥

—इनीके इंगित हैं। और भी, यदि कल्याण ही परम अध्यय होता तो जीव उसे छोड़कर आता ही रहे? कल्याणस्वप्न तो या ही, है ही, रहेगा ही। जीवने उस अवस्थाका व्याग केवल भजन-सुखके लिये किया या और उसकी प्राप्ति दिव्यगुणसम्पन्नतापूर्वक नाम-स्मरणसे सहज ही हो सकती है।

नामकी महिमा, गुणकारिता आदिमें अनेक ‘किन्तु’,

‘परन्तु’ लगानेका एक और भी कारण है, इसीके परिणाम-

स्वस्पृष्ट नामके साथ अन्यान्य बन्धन लगा दिये जाते हैं।

परमार्थकी कल्पना हममेंसे सर्वोक्तुष्ट जीवोंका भी सर्वस्व है। सभी

श्रेय और प्रेयकी परिसमाप्ति उसमें ही होती है। वही परमार्थ

केवल एक बार किंति भी भगवन्नामके भाव-कुम्भाव, इच्छा-

अनिच्छा, अद्वा-अशद्वापूर्वक जैसे-तैसे उच्चारित करनेसे

आनायास सहज प्राप्त हो जाता है—इस बातको द्रविड-

प्राणायामी अन्य साधन-मार्ग एवं मार्गी सहज उदार हृदयसे

स्वीकार नहीं कर पाते। उनके मनमें सहज ही प्रश्न

उठता है—जिस परमार्थकी बड़े-बड़े उद्घट, कियाशील,

सदगुर-कारणागत, योगी, योगीूद्ध विद्वान् आजीवन चेष्टा करने-

पर जन्म-जन्मान्तरोंमें भी उपार्जित नहीं कर सकते, उसको

लघावधीमें लिया गया एक भगवन्नाम प्राप्त करा दे—यह क्या

समझकी और जैसे हृदयकी प्राप्त बात हो सकती है?

कदापि नहीं। पर शाश्वतोंकी उक्तियोंपर हृदातल लगाकर

अपनेपर ही कुठाराधात कैसे करें? इसलिये वे उस

सिद्धान्तको तो अस्तीकार कर नहीं सकते, पर अपने

व्यावधानिक ‘किन्तु’, ‘परन्तु’से इसको इतना दुरुह और

अगम्य बना देते हैं कि श्रुति भगवतीने सर्वथा सन्तत्स, असहाय,

निरालम्ब दीनोंके लिये नामेचारणद्वारा कल्याणप्राप्तिकी जो

शोषणा की है, उस प्रमुदत्त आश्वासनमें सहज आश्वास करनेमें

वे बड़े बाधक देते हैं। और इनके माध्यमसे उन दीनोंके

अन्तःकरणमें भी नामसम्बन्धी वे धारणाएँ स्थान पा जाती

हैं। फलतः बेचरे नाम-पारण-मणि पाकर भी दीन-दुखी

ही रहते हैं। इन उद्घटोंने रक्षादुश्चारित कल्याणदायी

नामके सम्बन्धमें ऐसे-ऐसे नियम लगा दिये हैं कि असुक

विधिये, असुक आसनसे, असुक संस्थामें, असुक नाम कल्याण-

कारी होता है। कहेकी आवश्यकता नहीं कि नाम भगवान्

वाङ्मालक्ष्यतर हैं, सबकी सब तरहकी बाज्ञाओंको पूर्ण

करते हैं। फलतः जब कोई मनमें धारता है कि अमुक नाम, अमुक प्रकारसे कल्पणाकारी होगा तो नाम महाराज कहते हैं ‘एवमस्तु, दुम्हारा कल्पण मेरे स्वरूपभूत स्वभवके विशद् दुम्हारी विधिकी पूर्णतापर ही होगा।’ यही कारण है कि सद्यः नामकी महिमा प्रकट नहीं होती।

फलतः जो नामसम्बन्धी सम्पूर्ण शास्त्रकथित एवं व्यवहार-प्रचलित नामपराधोंको यहाँतककी उनकी भारणाको बलात् हटाकर इसमें स्थित हो जाता है कि जैसे तैसे सकुदुच्चारित नाम ही कल्पणाकारी हैं, उसका कल्पण ध्रुव है। नामके सम्बन्धमें कोई भी बोध, कोई भी धारणा न हो—जैसे यचनकी थी, तो नामकी महिमा तत्काल दीखती है। अथवा कोई कल्पना हो भी तो यह कि नामशक्तिको रोकनेवाला कुछ भी नहीं है, तो भी सद्यः प्रकट होती है। परन्तु नाममें ऐसा विषयास स्वस्य पुण्यवानोंको नहीं होता। कहा भी है—

भाष्ट्रसादे गोविन्दे हरेनान्नि तथा गुरै।
स्वल्पुभ्यवता राजन् विक्षासो नैव जायते ॥

प्रसङ्गतः यहाँ एक दुरुह प्रश्न उपस्थित होता है। क्या नामके सम्बन्धमें नामपराध भी न मानें! पिर इस लेखका प्रयोजन क्या? सचमुच बात तो ऐसी ही है। नाम-सम्बन्धी अन्य कुधारणाएँ तो नामपराधकी कल्पनासे इस्ती हैं और नामपराधकी मान्यतारूपी कुधारणा उसके भी परित्यागसे। उस विषयमें व्येन त्यजित तत्यजः की उक्ति अक्षरशः चरितार्थ होती है। और वस्तुतः नामपराध मानना अन्तिम नामपराध है। जबतक नामपराधकी भावना है तबतक नामकी महिमाको समझ नहीं सकते; तबतक वही दशा है, जैसे सूर्यके सम्मुख उपस्थित होनेकी बात कहना और साथ ही शीत और अन्धकारका अनुभव भी करना। और भी यदि नामपराध वास्तविक होता तो स्वयं नामद्वारा ही उसकी निवृत्ति शक्य नहीं बतलायी जाती। जैसे—तीर्थ-पराध ब्रह्मलेप होकर उस तीर्थद्वारा नहीं मिटता, वैसे ही

नामापराध भी नामद्वारा नहीं हटता।

अन्तमें एक और बातकी ओर ध्यान दिलाकर लेख समाप्त किया जायगा। शास्त्रों और संतोंकी कृपासे साधारणतः भारतवासियों और विशेषतः धर्म-विज्ञासियोंमें परम कल्पण-कारी नामका इतना अधिक प्रचार है कि वह अमूल्य—बेमोल, कौड़ीका तीन प्रतीत होता है। जैसे सर्वत्र व्यापक होनेके नाते आकाश और वायुका महत्व विना विचारके साधारणतः नहीं प्रतीत होता, उसी प्रकार नाम भी ‘कुछ नहीं’ के बराबर स्थान पाता है। ‘केवल नाम लेनेसे क्या होगा?’ खाली नाम क्या कर सकेगा? आदि उद्घार इसीके व्यञ्जक हैं। पर यहाँ बड़ी भूल होती है। यह ‘केवल’ या ‘खाली’ नाम सचमुच अमूल्य है—सर्वोपरि अति भूत्यवान् है। विचारना चाहिये कि चौरासी लाख योद्धियोंके अनन्त कोटि जन्मोंके अनन्तर मनुष्योंनि प्राप्त होती है, उसमें भी वर्तमान संसारके ल्याभग पौने दो अरब मनुष्योंमेंसे कितनोंको ‘परम मुरु मुरुल नाम, राखिकृण सीताराम’ की कर्णद्वारा प्राप्ति है। इस दृष्टिसे हम कितने भाग्यशाली हैं, कितना विशेषाधिकार मिला हुआ है—इसकी ओर ध्यान नहीं देनेके कारण ही इम ‘केवल नाम’, ‘खाली नाम’ कहकर नाम भगवान्की उपेक्षा करते हैं। सचमुच नाम खाली नहीं है; इसका साधारण, कम से कम मूल्य है अनन्तकोटि जन्मोंकी अनुभूतिके अनन्तर परम प्रभु नामीकी असीम कूरा। सोचिये तो सही, नाम महाराज कितने मूल्यवान् है—और तो क्या, स्वयं नामीको ही वशमें कर लेते हैं! केवल मनगढ़त बात नहीं है। प्रमाण देखिये—

सुमित्रि पद्मसुत यावन भासु। अपने बस करि राखेऽ रासु ॥

और अन्तमें—

कहौं कहौं रामि नाम बड़ाई । रामु न सक्छिं नाम गुन गाई ॥

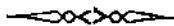
बोलिये प्रेमसे नाम महाराजकी जय !



हरिकी आश करो

हरिन्सा हीरा छाड़ि कै, करै आन की आस ।
ते नर जम्पुर जाहिंगे, सत भासै रैवास ॥

—रैदास



कीर्तनका सविशेष वर्णन

(लेखक—रायबद्धादुर पंचा श्रीवैज्ञानिकी)

मैं यहाँ एक वास्तविक प्रटनाका दाल लिखता हूँ। मेरे एक परिचित मित्र कुछ साधना करते हैं। उन्हें अन्तर्में आदेश हुआ कि, 'तुम असुक तीर्थको जाओ, वहाँ तुम्हें कुछ अनुभव होगा।' वह श्रीकृष्णका तीर्थस्थान था। वहाँ जाकर मन्दिरमें दर्शन कर बैठकर धीर-धीरे कीर्तन करनेपर उन्हें ऐसा भान होने लगा कि मूर्तिमें श्रीकृष्ण निकलकर मेरे साथ नाचते हैं। इनको अपने शरीरकी सुव न रही। ये श्रीकृष्ण-के साथ बहुत ऊँचे लोकमें गये—जहाँ इनके कपड़े, शरीरके अवश्य, बाल आदि सब गिर पड़े और ये केवल प्रकाशके रूपमें रह गये। वहाँ इतना आनन्द था कि वहाँसे लौटनेका मन नहीं होता था। पर कुछ कालके पश्चात् इहाँ लौटा दिया गया। लौटनेपर बाल जेतनामें सब मनुष्योंमें श्रीकृष्णका ही भान होता था। तबसे इन्हें इस प्रकारका अनुभव कीर्तनमें

बर-बार होता है और उस ऊँचे लोकमें इनसे पूछा जाता है कि क्या तुम जगत्की सेवाके लिये इस आनन्दका त्याग करनेको तैयार हो। उन्हें यह भी कहा जाता है कि ये ऊँचे अनुभव करानेका हेतु यह है कि तुम जगत्में जाकर यह बताओ कि सचे कीर्तनमें इस प्रकारकी समाधिकी अवस्थाको प्राप्त होना चाहिये। उस आनन्दको छोड़नेकी तो इच्छा की हो ही नहीं सकती। पर जग-सेवाके लिये उसे त्यागना अवश्यक होता है। इसलिये इनसे कहा जाता है कि 'तुम्हारा कर्तव्य जगत्में जाकर जगत्कल्याणार्थं चेष्टा करना है, न कि उस आनन्द-दशामें रहना।'

यदि किसीको इस कीर्तनके विषयमें कुछ पूछना हो तो उत्तरके लिये टिकट आनेपर उत्तर देनेका प्रयत्न किया जायगा।



साधनका मनोवैज्ञानिक रहस्य

(लेखक—डॉ० श्रीदुर्गाशंकरजी नागर)

संसारमें मनुष्य घड़ीके पेण्डुलम्बके समान कभी प्रसन्नता, कभी अप्रसन्नता, कभी सुख, कभी दुःख, कभी उत्सुकता, कभी अवनतिके संगोग और वियोगके अधीन होकर हिलौरे खाया करता है। अनेक अवस्थाओंमें इधर-से-उधर छुटकता रहता है। रोकहों वार घरानेके और उद्दिश होनेके मौके आते रहते हैं। समय सदा एक-सा किसीका नहीं रहता, सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुखका चक्र फिरता ही रहता है।

आजकल मनुष्यका जीवन ऐसा भाररूप हो गया है कि एक क्षण भी चित्त रिश्त और शान्त नहीं रहता। यह बात अनुभवसे सिद्ध है कि जो लोग किसी साधनका अभ्यास नहीं करते, उनका अन्तःकरण इन्द्रियोंके साथ सम्बद्ध रहता है। अन्तःकरण, महिन्द्र, शानतनु, गतितनु और शरीर—सब तदात्मवत् होकर रहते हैं। शानतनु और शरीरमें बाह्य कारणसे भीष्म उत्पत्ति होते ही अन्तःकरणको पहुँचता है और अन्तःकरणमें जो एक जातिकी वृत्तिका प्रवाह रहता

है, वह खण्डित हो जाता है और विजातीय वृत्तिका प्रवाह प्रबलतासे चलने लगता है।

वाय उपाधि अन्तरकी अस्थिरता तमीकर प्रकट कर सकती है जबतक कि शरीर, इन्द्रिय और प्राणद्वारा अन्तःकरणका अस्थिरताजनक स्वभाव बना हुआ है। किन्तु जिनके अन्तःकरणकी भावनामय व्यापारकी वृत्ति अन्तर्वाया स्थूल-सूक्ष्म साधनद्वारा सिर हो जाती है और अस्थिरता पैदा करनेवाले हेतुओंका लगभग अभाव अथवा विघ्यलता हो जाती है, उनके चित्त अडोल और अकाम हो जाते हैं और प्रतिकूलता तथा परिस्थिति उनके ध्येयसे उन्हें विचलित नहीं कर सकती।

जिस प्रकार मोम-जैसी सुलायम बस्तुपर मोहर द्वारानेहो उस पदार्थकी प्रतिकृति (आप) उस बस्तुपर अद्वित हो जाती है किन्तु पाण्य और लेहेकी बस्तुपर उसका (Impressions) इम्प्रेशन नहीं होता; उसी प्रकार जिन

मनुष्योंने स्थिरता प्राप्त करनेके किसी साधनका अवलम्बन नहीं किया है उनका चित्त दुर्बल होता है और उनके मनपर प्रत्येक प्रसङ्गकी छाप पड़ती है, किन्तु जिनका मन साधन-सम्पन्न होकर इद्द हो गया है उनके मनपर उसकी इच्छाके विना किसी भी प्रतंग या प्रतिकूलताका प्रभाव नहीं पड़ सकता। व्याधारिक जात्यांमें हम देखते हैं कि जिनका मन किसी एक विषयमें तल्लीन हो जाता है अर्थात् एकाग्र हो जाता है, उनके मनपर यातावरणका लेशमात्र भी असर नहीं होता और न दूसरे विषयोंकी उनके मनपर छाप पड़ती है।

वर्तमान शिक्षाप्रणालीमें एक बड़ा भारी दोष यह है कि चेतन मन (Conscious mind) का लक्ष्य रखकर ही प्रशुति हो रही है किन्तु उच्च नीतिका और आध्यात्मिकताका जीवनके व्यवहारमें अभाव दिखायी दे रहा है। चेतन मन (Conscious mind) का साङ्गाज्य होनेसे अन्तर्मन (Sub-conscious mind) मृतप्राय हो जाता है। जाग्रत् मनसे व्यवहार करनेवाले बड़े विचारशील माने जाते हैं किन्तु हमेशा संघारी बने रहते हैं। इनमें अन्तरिक प्रसरताका अभाव रहता है। आत्मविक्षाप एवं ईश्वरके प्रति अद्वाका लोप हो जाता है। अद्वा, भक्ति और प्रेमका अभाव हो जाता है। वेशुष्क तर्क-वित्तकर्म में ही गोते खाते रहते हैं। जरा-जरा-सी बातपर आपेसे बाहर हो जाते हैं। जरा-सी विपत्ति आनेपर आकाश-पाताल एक कर देते हैं। बाल्य जगत्की प्रत्येक घटनाका इनके दुर्बल चित्तपर अप्रतिहत प्रभाव पड़ता है और योड़ा अधिक श्रम करनेसे या रोगसे आक्रान्त होनेपर (Emotional and nervous break down) स्नायुविक दुर्बलता अर्थात् मजातन्तुकी व्याधि होकर इनकी (Will-Power) इच्छाशक्तिका हास हो जाता है और इनका शानतन्त्रब्दूह (Nervous System) और मसिष्क इतना कमज़ोर हो जाता है कि ये रात-दिन अशान्त और परेशान रहते हैं और किसी भी तरह जीवनको अन्त करनेकी सोचते रहते हैं और कोई-कोई तो पागल हो जाते हैं। यह बुद्धिकी पराकाशा है।

साधनका नाम लेते ही कई लोग चौंक जाते हैं। उपासना करनेवाले और संयमका साधन करनेवालेके विषयमें कई बार ऐसा देखनेमें आता है कि अमुक मनुष्यने हनुमान् या देवीकी साधना या उपासना की और वह पागल हो गया। अमुक मनुष्यने मैरवकी साधना की और उसको

चित्तभ्रम हो गया। अमुकने हठबोगका अभ्यास किया और उसको छद्दोग हो गया। अमुकने प्राणायामका अभ्यास किया, उसको अमुक रोग हो गया। अमुकका मुद्राके प्रयोगसे उच्चाटन हो गया। वर्षभरमें बहुत-से साधनभ्रष्ट हमारे यहाँ आते हैं, जिन्हें वास्तवमें हानि हुई होती है, किन्तु इसमें उर्हीका दोष है।

वास्तवमें उपासककी अनधिकार चेष्टा ही हस प्रकारकी विषयिका कारण है। कामनाओंके वशीभूत होकर ये उपासनामें प्रवृत्त होते हैं। इनका चेतन मन (Conscious mind) सुविधिक्षित नहीं होता। कामनाओंकी सिद्धिके लिये लौकिक उपाय भी दौड़-धूपके साथ करते हैं और निष्ठल होनेपर साधनमें लगते हैं। इनका चेतन मन (Conscious mind) निष्ठलाह हो जाता है और कामनाके विचार सतत उठते रहते हैं और इनके अन्तर्मन (Sub-conscious mind) के गर्वभागमें ग्राविष्ट हो जाते हैं।

चेतन मन और अन्तर्मनके अन्य व्यापार बन्द हो जाते हैं और दुर्दशाप्रस्तु विहूल मनकी स्थितिमें ये साधन आत्मभ्रम करते हैं और अन्तर्मनमें प्रवेश करते ही अन्तर्मनकी कामना-पिचाची इनको दबोच लेती है और इनका चित्त अभित हो जाता है या ये पागल हो जाते हैं। चेतन मनकी सत्ता तो वहस्ते ही लोप हुई होती है, इसलिये ये जाग्रत् मनसे कुछ विचार ही नहीं कर सकते। किसी-किसी-को धार्मिक उन्माद (Religious mania) हो जाता है।

दूसरे लोग जो प्राणायाम आदिकी क्रियाओंको दोष देते हैं, वे अपनी क्रियाके धुनमें बंटों अभ्यास करते हैं और जाग्रत्-अवस्थामें आते ही बड़ा कष्ट अनुभव करते हैं।

अन्तर्मनको ही प्रधानता देनेसे इस प्रकारकी दुर्गति होती है।

यदि हम किसीसे भी यह प्रश्न करें कि सब लोग संसारमें क्या चाहते हैं तो वह महीं उत्तर देगा कि सब कोई शान्ति और आनन्द चाहते हैं। शान्ति और आनन्द प्राप्त करनेके लिये सारा जगत् दौड़ लगा रहा है। शान्ति और आनन्दकी प्राप्ति सफलतासे होती है और सफलता किसी साधनका दीर्घ कालतक अवलम्बन करनेसे ही प्राप्त हो सकती है।

जिनमें विश्ववल या सङ्कल्पवल दुर्बल होता है और जिनके मनमें भय, शङ्खा, सद्देहके विचार उठते हैं उनको अन्तर्बल मजबूत और ढड़ करनेके लिये, चित्त स्थिर करनेके लिये साधन करना परम आवश्यक है। अन्तःकरणका स्वभाव ही चलायमान है। साधनद्वारा ही हम अपने अन्तःकरणमें फेर-फार कर सकते हैं। अन्तःकरणमें ढड़ जमे हुए संस्कारको निर्मूल करनेके लिये साधनकी आवश्यकता है।

हमें संसारमें क्या करना चाहिये, हम संसारमें क्यों उत्पन्न किये गये हैं—यह बात ठीक तरह हम उसी समय समझ सकते हैं; जब हम कुछ देरके लिये संतारसे अलग हटकर अपनेको और संतारको देख सकें। ऐसी अवस्था तभी प्राप्त होती है, जब चित्त स्थिर हो जाता है और संकल्पवल ढड़ हो जाता है। शान्त और स्थिर अवस्था प्राप्त करनेके पाश्चात्य और पौरस्त्य सरल साधनोंका यहाँ दिग्दर्शन कराया जाता है, जिनके योड़े दिनोंके अन्याससे ही साधकको अपनेमें विलक्षण परिवर्तन दृष्टिगोचर होगा और साधक अयोग्य प्रभावसे बच जायगा।

पाश्चात्य साधन

एकाग्रता (Concentration)

कई मनुष्योंकी व्यर्थ चेष्टा करनेकी, विना प्रयोजन अङ्ग सञ्चालन करनेकी आदत पड़ जाती है और दुर्बल सानतनुआले या जिनका मस्तिष्क विकृत हो गया है या विलपावर (इच्छाशक्ति) मन्द हो गयी है; उनमें भी ये आदतें पायी जाती हैं। नाखून कुचरना, अङ्गुलियाँ चट्ठाना, मूँछ मरोड़ना, हाथ-पौँछा हिलाना, सिर खुजलाना, मुँह बिगाड़ना, आंखें टिमटिमाना, कोई भी चीज़ पड़ी हुई हो उसको उठाकर ढुक्के कर देना आदि हरकतोंसे (Dissipation of energy) प्राणशक्ति निरर्थक नष्ट होती है। मनुष्य अपने ऊपर अधिकार खो देता है और उसका चित्त विक्षिप्त हो जाता है और एकाग्रता भंग हो जाती है। चित्तको एकाग्र करना सीखना ही तो सर्वप्रथम अपने शरीरपर अधिकार करो। (A would-be psychologist must first learn not to make any movement of the body without any reason) जो व्यक्ति शक्तिसम्पद बनना चाहता है, उसे सर्वप्रथम वह सीखना चाहिये कि वह निष्प्रयोजन अपने शरीरका अङ्ग-सञ्चालन न होने दे।

जो मनुष्य क्षणमें रुट और क्षणमें दुष्ट हो जाता है, उसका अपने मनपर अधिकार नहीं हो पाता। अपने विचार और भावनाका निरीक्षण करो। तुम्हारे मनमें कितने निरर्थक भाव और विचार उठते हैं, इसका विचार करो। जिस प्रकार एक ग्लासमें पढ़ी हुई बास्ट जिसी उपयोगकी नहीं किन्तु उसको बन्दूककी नालमें संभस करनेसे एकग्रता होते ही तत्काल प्राणहरण करनेका सामर्थ्य उसमें आ जाता है, उसी प्रकार एकाग्र किये हुए विचार शक्तिवाले होते हैं और निरर्थक विचार फालू होते हैं।

जब चाहे किसी विषयपर विचार लगाया जा सके और जब चाहे किसी विषयसे विचार हटाया जा सके, यह बलवान् मनका लक्षण है। जिसका मन भटकता रहता है, वह अपनी शक्तियोंको बरबाद करता रहता है। जो बस्तु, जो कार्य हमारे समनें हो, उसपर देखने, सुनने और विचारनेकी शारीरूपित्योंकी लाग देना ही एकग्रता है। विचारको एक ही वस्तुपर अध्यय्य कार्यपर एक ही स्थानपर निरन्तर (Undivided attention) अनन्यात्मक ध्यानसे रोक रखना ही एकग्रताकी कुंजी है। यह उदास स्थान स्थिरोंकि समनेकी बस्तुपर जो एकाग्रता कर सकता है, वही सब जगह कर सकता है। जो अपने शरीर और मनपर अधिकार रख सकता है, वही एकाग्रताका अभ्यास कर सकता है।

मानस चित्रकलना (Visualization)

मानस-शाखाका यह लिङ्गान्त है कि जिसका चित्र हम अपने मनमें अस्तित्व आरूढ़ रखते हैं, परिणाममें हमारे व्यावहारिक जीवनमें वही प्रत्यक्ष हो जाता है। जिस प्रकारका हमारा अन्तर्जीवन होता है, उसी प्रकारकी वस्तुओंका हमारे वास्तवीय जीवनमें आकर्षण होता है। हम लोह-चुम्बकके समान हैं; जैसे लोह-चुम्बक लोहेको अपनी ओर स्थित है, उसी प्रकार हम भी अपने सद्वय पदार्थोंका आकर्षण करते हैं।

जब अमुक चित्रकी मनमें रखना होती है तब उस चित्रके समान ही विचार उत्पन्न होते हैं। ये विचार मनसे बाहर प्रकट होते हैं और सारे शरीरमें व्याप्त हो जाते हैं और हमारी इच्छा, उद्देश्य और मनोइच्छामें फेरफार कर देते हैं।

पूर्ण आरोग्य और बलका चित्र मनमें दीर्घकालतक आरूढ़ हो तो चाहे जैसे हठीला रोग भी नष्ट हो जाता है और शरीर पूर्ण आरोग्यमय बन जाता है।

मानसिक चित्र कोई ऐसी एक व्यक्तु नहीं है कि व्यवहार में जैसे हम स्थूल पदार्थोंको देखते हैं, उसे भी देख सकें। यह तो एक कल्पना, विचार अथवा भावना है और बुद्धि-इच्छिये ही हम उसको देख सकते हैं।

यदि तुम्हारा शरीर कृष्ण और दुर्वल है और तुम मोटेताजे बनना चाहते हो तो उत्तीर्णहका ध्यान करके अपना मानस चित्र देखो। अगर तुम्हारा शरीर बहुत स्थूल है और तुम अपनी चरणी छाँटना चाहते हो तो वैसा ही अपने मनके नेत्रोंसे अपने सुन्दर, सुडौल शारीरको देखो। यदि मानसिक और आत्मिक शक्तिकी अभिष्टुदि चाहते हो तो मानसिक शक्ति और आत्मिक शक्तिके ठदण्डोंसे अपने मनिक्षको भरा हुआ देखो। इह सिद्धान्तको फालू समझकर मत उड़ा दो। इसके अंदर प्रकृतिका एक बड़ा सिद्धान्त भरा हुआ है। जिस तरहका तुम अपना मानसिक चित्र देखेगो, वैसे ही बन जाओगे।

एकान्तमें नित्य एक-एक करके समरण करके स्मृतिपद-पर नित्य इष्ट मानसिक चित्र उपरिषित करनेसे बड़ा लाभ होगा। कोई पदार्थ जो तुम्हारे सामने हो, उसको बारीकीसे छोटे-से-छोटे अंशको देखो। अब नेत्र मूँदकर उस पदार्थको ज्यो-का-त्यों अपने भीतर मानसिक इच्छिसे देखो; फिर नेत्र सोलकर देखो कि किन-किन अंशोंको तुम भूल गये हो। पुनः दूसरे दिन अभ्यास करो। पाँच मिनिट नित्य अभ्यास लगानेसे कुछ दिनोंमें स्मरणशक्ति तीव्र होने लगेगी।

इच्छाशक्ति (Will-Power)

मानस-शाखाका यह नियम है कि जो जैसा अपनेको समझता है, वह वैसा ही बन जाता है। सुननेमें तो यह बात आश्वर्य-सी मालूम होती है, परन्तु वासायमें है विलकुल सत्य। जो बात बार-बार मनमें चला करे, वह विश्वासके रूपमें बदल जाती है और अपने मन और शरीरके सम्बन्धमें जैसा जिसका विश्वास होता है वैसे ही लक्षण प्रकट होने लगते हैं। इस प्रकार बार-बार तुहरनेके लिये जिस वाक्यका उपयोग होता है, उसे (Auto-suggestion) आत्म-योजन कहते हैं।

यादही भावना अस्ति सिद्धि भवति तादृशी।

जैसी जितकी भावना होती है, वैसी ही रिद्दि होती है। तीव्र इच्छाशक्तिको जाप्रत् करनेका सर्वोत्तम उपाय आत्म-

योजन या सूचना है। मनोविज्ञानाचार्य एमीलोका कथन है कि रात्रिको सोते समय अन्तर्मनमें जिस भावनाका चिन्तन करते हुए हम निद्रामें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार हमारे जीवनका निर्माण होता है। अन्तर्मन हमारी स्मरणशक्तिका भाष्ठार है। इसमें जीवनके प्रत्येक क्षणमें हीनेवाली घटना तथावत् अधिकृत रहती है।

प्रत्येक भावना जो हमारे मनमें आती है, उसको यदि अन्तर्मन (Sub-conscious mind) की अचेतन इच्छा प्राप्त कर लेती है तो वह सत्यस्य होकर हमारे जीवनकी एक स्थायी इच्छा हो जाती है।

इह सिद्धान्तके नियमानुसार भावनाओंका प्रभाव हमारे मन, विचार, प्रवृत्ति, शारीरिक संगठन तथा उसके कार्योंपर अवश्य पड़ता है।

आनन्द, सुख, शान्ति, आरोग्य, उत्साह, श्रद्धा, सामर्थ्य, बल आदिकी भावना अन्तर्मनमें भर सकते हों और यही भावनाएँ सत्य होकर तुम्हारे जीवनको उच्च बना सकती हैं।

जो कुछ तुम्हारी इच्छा हो, आवश्यकता हो—जैसे तुम्हें बल प्राप्त करना है तो ‘मैं बलवान् हूँ’ इस सबल भावनाको रात्रिको सोते समय बार-बार दोहराया करो। या इच्छाशक्ति (विल-पावर) को उच्चत करना हो तो निम्न स्वचनाओंको दोहराते हुए निद्रामें प्रवेश करो—

‘मेरी इच्छाशक्ति बलवर्ती है। मैं सब कुछ कर सकता हूँ। अतः मैं अवश्य करूँगा। यही मेरे जीवनके मन्त्र हैं। मैं दुःख और विपरियोंसे कमी नहीं डरता। मैं निर्भय हूँ। मैं अपनी समस्त शक्तियोंको केवल इच्छाशक्तिको बलवर्ती बनानेमें लगाता हूँ। शरीर और मनपर मेरा पूर्ण अधिकार है। मेरा स्वभाव परम शान्त और स्थिर है।’

इस अभ्याससे थोड़े ही दिनोंमें तुम्हारे शरीर और मनमें आश्रयमय उच्चति होगी और इच्छाशक्तिके बढ़नेदेखे तुम्हारा स्वभाव तुम्हारे वशमें आ जायगा।

पौरस्त्य साधन

प्राक्षात्य मानस-शाखियोंने बाहरी एकाग्रताके लिये कल्पना, एकाग्रता और इच्छाशक्तिको उच्चत करनेके उपाय बतलाये हैं, जिनसे हम इस संसारमें लफल जीवन व्यतीत

कर सकते हैं। पाश्चात्य मनोविज्ञानी रात्रिको सोते समय बाह्य मनको विरोधी विचारसे रहित करके इष्ट विचारोंमें तन्मय होकर, जिस स्थितिको प्राप्त करना हो, अन्तर्मनमें प्रवेश करने-का आदेश देते हैं।

हमारे प्राचीन ऋषि सद्गुव्यको स्थिर करनेके लिये सन्धिके समय सन्ध्या करनेका महत्व बतलाते हैं। (१) प्रातः-कालकी सन्धि, (२) मध्याह्नकालकी सन्धि और (३) सायं-कालकी सन्धि—इन तीनों समयपर मनुष्य दत्तचिन्त होकर किसी सद्गुव्यको अन्तःस्थिति प्रवाह रहेगा तो वही जगत् रहेगा और उसीका प्रवाह दिनभर प्रवाहित होगा। सन्धिके समय जिस प्रकारके भाव पैदा हो जाते हैं, उसका असर प्रधानरूपसे अगली सन्धिकाल रहता है। प्रातःकालमें सर्वप्रथम शौच और ज्ञानके पश्चात् सन्ध्या करनेकी ही आज्ञा वेदमें दी गयी है—‘अहरहः स्नात्वा सन्ध्यामुपासीत।’ क्योंकि उस समय सांसारिक व्यवहारके भाव कुछ नहीं होते और मस्तिष्कके केन्द्र और नाड़ी-केन्द्र सब प्रदाणशील अवस्थामें होते हैं और उसम संस्कार दृढ़तासे अङ्गुत हो जाते हैं—क्योंकि प्रकृति इस समय अपनी समरूपताकी अवस्थामें रहती है। सत्, रज, तम—इन तीनों गुणोंकी हलचल बंद रहती है। इसीलिये जप, ध्यान, धारणादि किया करनेके लिये सन्धिकालका इतना महत्व बतलाया है।

इस सन्धिकालमें (Rhythmic Harmony) एक लयबद्ध महान् राग सामाचिकरूपसे सारे विश्वमें प्रवृत्त रहता है। जो लोग इस समय संसारके जंजालसे—निःसको निरन्तर खोभ पैदा करते-याएँ प्रसरणसे अलग होकर कुछ समय एकान्तमें जाकर सन्ध्याके अनुडानमें अपने अन्तरके एक रागको विश्वके एक महान् रागसे सम्बद्ध करते हैं, वे बाही और भीतरी दोनों प्रकारकी एकाग्रत सम्पादन करते हैं और व्यवहार तथा परमार्थ दोनोंमें आर्थ्यकारक उचिति करते हैं। प्रातःकाल, सायंकाल, मध्याह्नकाल था रात्रिको सोते समय—जिस समय अनुकूलता हो, नित्य नियमित समय एवं नियत स्थानपर सुखसे मेवदण्डको सीधा करके आलधी-पालधी मारकर बैठ जाओ और शारीरको बिल्कुल सीधा रखलो। ठोड़ी, सिर और शरीर सीधा रहे। दोनों हाथोंको जंधाओंपर सीधे धर लो, आँख बंद कर लो और नेत्रोंको मूँदे हुए दोनों मौहोंके बीच दृष्टि जमाओ। विश्वरे हुए विचारोंको खीचकर और सब इन्द्रियोंको अपने विश्वोंसे हटाकर अपने अन्तरके एक रागपर शिर करो। इस-बीस बार गहरे शास्त्र-प्रश्नास लो अर्थात्

दीर्घ शास्त्र-प्रश्नास करो। ध्यान अरते समय मनवी अथवा मच्छर काटे तो सहन कर लो और अङ्ग-प्रत्यङ्गको बिल्कुल नहीं हिलने दो।

अपने मनसे दैष, अनुस्ताह, दीनता, दुर्बलता, रोग, एवं अधमताके विचारोंको बाहर हटा दो। अपने अन्यासरहके किवाह बंद करके ध्यानके लिये बैठो। ध्यानके समय कोई विशेष न करे, इस प्रकारकी व्यवस्था करो। प्रथेक स्नायुको शिथिल करो। प्रथेक शानतनुके तानको सुलायम कर दो। शरीर और मन दोनोंको शिथिल करो। भूतकाल, वर्तमान-काल तथा भविष्यकालकी सब सांसारिक चिन्ताओंको छोड़कर मनकी प्रशान्त व्यक्तिमें प्रवेश करो। जैसे शान्तिके महासागरमें गोता लगा रहे हो, इस प्रकार शान्तिमें तल्लीन हो जाओ। ‘सारे विश्वमें एक रागके आनंदोलन चल रहे हैं, उस प्रवाहको मैं अपनेमें ग्रहण कर रहा हूँ—ऐसी भावना करते हुए हृदयाकाशमें अपनी भावनाको शिर करो, यही परमात्मप्रदेश है। यही सम्पूर्ण मुख्यमय आध्यात्मिक जगत् है। इस दिव्य जगत्में प्रवेश करना ही मनुष्यमात्रका कर्तव्य है।

इस अनन्त जगत्के आण-अणुमें यह सुखमय जगत् व्याप्त है। यह सर्वकां कारण है। चैतन्यमय है। इन चैतन्य-मय विचारोंमें तन्मय हो जाओ—

‘मैं चैतन्यसरूप हूँ। मैं जीवन-तत्त्वसे परिपूर्ण हूँ। परमात्म-जीवनसे आरोग्य, शान्ति, पूर्णताका मेरे शरीरके अणु-अणुमें सज्जार हो रहा है। मैं परमतत्त्वमें लीन हो रहा हूँ। वह सर्वव्यापक है और अन्तर्ब्रह्म परिपूर्ण है। मैं सर्वदुःखोंसे, दोषोंसे, व्याधियोंसे अन्तर्ब्रह्मसुक्त हो गया हूँ।’

विश्व-व्यवस्थापक सत्ताके साथ इस प्रकार अमेद-सम्बन्ध स्थापित करनेसे हममें अमर्थाद आध्यात्मिक बल प्रकट होता है। फिर जगत्की कोई स्थिति हमारे अन्तःकरणको चलायमान नहीं कर सकती। इस प्रकार परमात्माका नित्य अखण्ड अनुसन्धान करनेते और उनमें तन्मय होनेसे जीवनमें तत्त्वग परिवर्तन हो जाता है। हमारी आत्मा परमात्माके अधिक-अधिक निकट सम्बन्धमें आने लगती है और हमारा शरीर, मन और आत्मा —सब परमात्माकार हो जाते हैं और दुःखरूप संसारके स्थानपर मुख्यका महासाधनरूप संसार दिखायी देता है।

न जले मार्जनं सन्ध्या न मनोविज्ञानादिभिः ।
सन्धीयते परवद्धा सा सन्ध्या सञ्चिरम्भते ॥
(देवीमात्रवत्)

‘केवल शरीरपर जल छिड़कनेसे अथवा केवल मन्त्रोच्चारण कर लेनेसे सन्ध्या नहीं होती। जिस अवस्थामें परमपर तत्त्वसे एकता हो जाय, सत्पुरुषोंने उसे सन्ध्या कहा है।’

इस प्रकार इस सरल सन्ध्याके अनुष्ठानमें अपने चित्तको स्थिर करनेका अभ्यास नित्य करोगे तो इन्द्रिय, प्राण और मन आत्माके अनुकूल व्यवहार करने लगेंगे। मजातनुजाल (Nervous System) दृढ़ हो जायगा। रोगप्रतिवर्धक-

शक्ति दृढ़ होगी। आधिन्यागि तुमपर आक्रमण नहीं कर सकेंगी और न चित्तहोम या विषेप तुम्हें तंग करेंगे। आत्माको परमात्मामें लीन करनेदे या परम तत्त्वमें तम्भय करनेसे जीव, प्रकृति, ब्रह्मका रहस्य समझमें आयेगा। सब साधनोंका प्रकाशक मुख्य साधन यही है और एकाग्रता सम्पादन करना ही इसकी एकमात्र कुंजी है। तर्वरिद्वयोंका मूल मन्त्र एकाग्रता है और एकाग्रता शक्तिका रहस्य साधन है।

—३५३—

ईश्वर-दर्शनका साधन

(लेखक—पू० पण्डित श्रीशिवदत्तजी शर्मा)

‘समस्त शक्तियोंका भाष्टार, समस्त विष्वका सञ्चालक, समस्त चेतनाओंका शरणरा परमात्मा है’—इस सत्यको मान लेनेसे और इसीपर ध्यान करनेसे तुम्हारे और उसके बीचमें जितने पर्दे हैं, एक-एक करके सब हट जायेंगे और एक दिन तुम और वह एक हो जाओगे। यही प्रथम सत्य है।

‘शिव’ शब्दका अर्थ ईश्वर है और सुख, शान्ति, आनन्द तथा ऐश्वर्यका नाम भी शिव है। यदि तुम पहले शिवको प्राप्त कर लगें तो दूसरे शिव आप-से-आप तुम्हें प्राप्त हो जायेंगे।

एक महात्मने इसी बातको बहुत स्पष्ट शब्दोंमें इस प्रकार कहा है कि यदि तुम्हें किसी भी संसारी वस्तुकी आच्छयकता ही तो संसारके स्वामीसे मिलो और उससे माँगो, क्योंकि वह संसार उसीकी मिलकियत है।

दूसरा सत्य आत्मा है। आत्माका बाचक ‘मैं’ है। इस ‘मैं’ के अंदर ही प्रथम सत्यको प्राप्त कर लेनेकी शक्ति छिपी हुई है अथवा इस दूसरे सत्यमें ही पहला सत्य छिपा हुआ है।

तात्पर्य यह है कि पहले तुम्हें दोनों सत्य समझ लेनेकी जरूरत है। वह और मैं (ईश्वर और जीव)—इसीका नाम द्वैतवाद है। फिर जैसे-जैसे ध्यानका अभ्यास बढ़ता जायगा, वैसे-ही-वैसे वह द्वैत-भावना क्षीण होती जायगी और यह ‘मैं’ भूलता जायगा। जिस समय ‘मैं’ विलकूल भूलकर इसके परेकी अवस्थामें स्थित हो जाती है, उसी अवस्थाका नाम अद्वैत-अवस्था है।

वही सबसे ऊँची अवस्था है। यहाँ पहुँचनेवालेको प्रेम, जीवन, शक्ति, बुद्धि, आरोग्य, प्रसन्नता—ये सब प्राप्त हो जाते

हैं। पहुँचे हुए सिद्ध पुरुषके यही लक्षण हैं। दुखी पुरुषोंके दुःखोंको मिटानेमें ही सिद्ध पुरुष अपनी सिद्धियोंका उपयोग करते हैं।

इस अवस्थाको प्राप्त करनेके पाश्चात्य उपाय

रात-दिनमें किसी समय एकान्तमें बैठकर पहले कहाँ दीर्घ शास्त्र-प्रश्नाकर पालन करो। फिर शान्तिसे ऐसा भान करो कि एक ऐसी वस्तु सब जगह भरी हुई है जो सर्वेन्द्रि, सर्वशक्तिमान् है, आनन्दका समुद्र है—वह मेरे भीतर-बाहर, ऊपर-नीचे, सर्वत्र पूर्ण है।

उस समय तुम्हारी अवस्था बड़ी शान्त हो जायगी। उस समय एकाग्रता होनेसे नये-नये विचार उठते हैं और वे सभी विचार लाभदायक होते हैं। यदि तुम्हारे कुछ पेचीदे विचार हों तो उन्हें सुलझानेका उस समय यक्ष करो।

सब मनुष्योंमें परमात्मा हैं। परमात्मा समस्त शक्तियोंके भाण्डार हैं। परमात्माके पास पहुँचनेका मार्ग ध्यान है। ध्यानके द्वारा मनुष्योंकी सब इच्छाएँ पूर्ण हो सकती हैं। यही पाश्चात्य मनोज्ञानका निचोड़ है।

परन्तु प्राच्य प्रणालीमें ईश्वर-दर्शनका विषय जैसा महत्वपूर्ण है, उसी प्रकार उसका मार्ग भी ‘तुरस्य धारा निवित्त तुरस्या दुर्गम्यः’—द्वूरकी धारा-ता तेज और दुर्गम है। विरले ही साहसी और भाग्ययान् जन वहाँ पहुँच पाते हैं।

पञ्चक्रौष

प्राच्य प्रणालीमें ईश्वर-दर्शनके लिये पहले पञ्चक्रौष-का शान होना आवश्यक है। तदनन्तर उनमें ध्यानदारा

प्रवेश करना चाहिये। पञ्चकोष ये हैं—(१) अन्नमय, (२) प्राणमय, (३) मनोमय, (४) विज्ञानमय तथा (५) आनन्दमय। यहाँ इनका संक्षिप्त विवेचन दिया जाता है—

(१) पहले युचि होकर एकान्त देशमें बैठकर विभिन्नों विकली हुई दृतियोंको स्थीचकर अपने स्थूलशरीरपर लगाना चाहिये। यह शरीर क्या है? रस, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा और शुक्रका बना हुआ एक पुतला है। ये सातों धातु अन्नसे बनी हुई हैं, इसलिये इस पुतलेका नाम अन्नमय कोष है।

अब अन्नमय कोषके भीतर मुझे। वहाँ दूसरा प्राणमय कोष है। प्राण दस हैं—प्राण, अपान, उदान, सपान, व्यान, नाग, कूर्म, कृष्ण, देवदत्त, धनदाय। इन्हीं दस प्राणोंके द्वारा शरीर और मनके सारे व्यापार चलते हैं। इस प्रकार ध्यान करनेको प्राणमय कोषमें प्रवेश करना कहते हैं।

उसके आगे मनोमय कोष है। वहाँ मनके साथ पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। उससे आगे विज्ञानमय कोष है, जहाँ बुद्धिके साथ पाँच ज्ञानेन्द्रियों हैं; और पाँचवाँ आनन्दमय कोष है। वहाँ आनन्दकी प्रतीति होती है।

इस प्रकार एक-एक कोषका ध्यान करते हुए आगे बढ़ते जाना चाहिये। आनन्दमय कोषमें पहुँचनेपर आनन्द क्या वस्तु है, इसका अनुभव होता है—आनन्द प्राप्त होता है।

अब अपने दूदय-देशमें, अङ्गुष्ठ-परिमाण दहराकाशमें अणु-परिमाण लिङ्गशरीरका ध्यान करो। यह लिङ्गशरीर सत्रह तत्त्वोंका बना हुआ है—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच

कर्मेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्राएँ, मन और बुद्धि। इसी लिङ्ग-शरीरके भीतर वह जीवात्मा रहता है, जिसका वाचक 'मैं' है।

जिसे हम 'मैं' कहते हैं, वह इसी लिङ्गशरीरके अंदर रहनेवाला जीवात्मा है। जिस समय कोई मनुष्य ध्यानद्वारा वहाँ पहुँच जाता है अर्थात् अपने असली स्वरूपमें पहुँच जाता है; उस समय उसका बाह्य भाव विलकुल नष्ट हो जाता है। यही उसकी पहचान है।

यह जीवात्मा ईश्वरका मन्दिर है। इसके पहुँचना मानो ईश्वरके मन्दिरके द्वारपर पहुँच जाना है। अब यदि ईश्वर-दर्शन करना है तो मन्दिरके अंदर प्रवेश करना चाहिये।

जैसे हम (जीवात्मा) इस स्थूलशरीरमें रहते हैं, उसी प्रकार ईश्वर हमारे भीतर रहता है; इसलिये परमात्मा-के दर्शनाभिलापीयोंके पहले पञ्चकोषोंके ध्यानक्रमसे जीवात्मातक पहुँचना चाहिये। पिछे जीवात्माके भीतर (अपने-आपके भीतर) ध्यानद्वारा प्रवेश करना चाहिये, तब वहाँ परमात्माके दर्शन हो सकते हैं।

यह प्रक्रिया कठिन अवश्य है, पर ईश्वर-दर्शन कुछ दाल-भातका खाना भी नहीं है। अनेक जन्मोंका पुण्य उदय होनेपर ही मनुष्यकी ईश्वरकी ओर किञ्चित् प्रवृत्ति होती है। ऐसे महान् उद्देश्यकी सिद्धिके लिये महान् प्रयत्न-की ही आवश्यकता है।

यह विषय बड़ा गहन और गूढ़ है। लिखा-पढ़ीमें इतना ही आ सकता है। अधिक जानकारीके लिये किसी जानकार व्यक्तिके साथ प्रत्यक्ष सत्सङ्ग करना चाहिये।

काम क्रोध लोभ मोह मद, तजि भज हरि को नाम।

निस्त्रै सहजो मुस्कि हो, लौह अमरपुर धाम॥

कामी मति भिष्टुल सदा, चलै चाल विपरीत।

सील नहीं सहजो कहै, नैनन माहिं अनीत॥

—सहजोनारे—

—४४४—

मोक्षका मुख्य साधन-भक्ति

(लेखक—२० श्रीविनायक नारायण जौशी साहस्रे महाराज)

‘शङ्करः शङ्कराचार्यः’ कहकर जैसे श्रीमत् शङ्कराचार्य को साक्षात् श्रीशङ्कर ही कहा गया है, वैसे ही ‘शानेशो भगवान् विष्णुः’ कहकर शानेश्वर महाराजको साक्षात् श्रीविष्णुका अवतार बताया गया है। श्रीमत् शङ्कराचार्यने जिस तत्त्वका अर्थात् ‘जीवो ब्रह्मैव नापरः’ का प्रतिपादन किया है, उसीको शानेश्वर महाराजने भी अपने ‘जानेश्वरी’, ‘अमृतानुभव’ और ‘पालश्वरी’ ग्रन्थोंमें उपपत्तिसहित विवाद किया है। अद्वैत आत्मतत्त्व समझनेके लिये वेद-शास्त्राध्ययनका जो अधिकार और बुद्धिका जो विकास अपेक्षित है, वह सब जीवोंके लिये मुलभ नहीं है। अतः श्रीजानेश्वर महाराजने अपने जानेश्वरी ग्रन्थमें यह सिद्ध किया है कि वेद-शास्त्रादि वाक्योंपर जिन लोगोंकी श्रद्धा है और जिनके अंदर तीव्र मुमुक्षा है, उनके लिये मुख्य साधन भगवद्भक्ति है।

जानेश्वरीके सोलहवें अध्यायमें भगवान् कहते हैं कि ‘हे अर्जुन ! जो कोई अपना कल्पण चाहता हो वह वेदोंकी आज्ञाका कभी उल्लङ्घन न करे। यहाँतक कि वेद-शास्त्र यदि सर्वैर्वर्थसम्पन्न सर्वान्नौमि राज्यका त्याग करनेको कहे तो कल्पणकी इच्छा करनेवाले पुरुषको वह त्याग अवश्य करना चाहिये। शास्त्र यदि विषयान भी करनेको कहे तो विषयानमें ही अपना कल्पण जाने। वेदोंमें जिस किसीकी ऐसी अनन्य निष्ठा हो, उसके लिये अनिवार्य नामकी कोई वस्तु ही नहीं रह जाती। अवतारके मुमुक्षु पुरुषको ब्रह्मके साथ अपना ऐक्य बोध न हो तबतक भ्रुतिका कभी त्याग न करे, श्रुतेकशण होकर आत्मानन्द लाभ करे।

श्रुतिका मुख्य सिद्धान्त क्या है, यह गीताके १ वें अध्यायके इन ३५ोंकोंकी टीकाके प्रसंगसे बतलाते हैं—

भया तत्त्विदं सर्वं जगत्पूर्वकमुर्तिना ।
मस्त्वानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्वक्षितः ॥
म च मस्त्वानि भूतानि पश्य मे योगमैक्षरम् ॥

जानेश्वर महाराज भगवान्से कहलाते हैं कि ‘हे अर्जुन ! प्रकृतिके परे मेरा जो मायारहित विशुद्ध परमात्मस्वरूप है, उसमें यदि तुम अपनी कल्पनाको छोड़कर देखो तो परमात्मस्वरूपमें भूतोंका रहना सत्य नहीं है। कारण, सारा दृश्य-

जगत् मैं हूँ। जगत्के अनादि संस्कारसे जीवोंकी औँसोंपर संकल्पका जो क्षणस्थायी सायंकालीन मन्दान्धकार छा गया है, उससे उनकी दृष्टि अर्थात् उनका ज्ञान आच्छादित हो गया है, इतीलिये एकमेवाद्वितीय अखण्ड ब्रह्मसत्त्वमें उन्हें नानात्म भासित हो रहा है। संकल्पकी यह सायंबेला टल जाय तो जगद्वित परमात्मा अपने अखण्ड स्वरूपमें हैं ही। मन्दान्धकारमें पुष्पमालापर होनेवाला सर्पनाम जब निवृत्त होता है तब जैसे पुष्पमालका सर्परूप नहीं रह जाता, वैसे ही परमात्मस्वरूपके अंदर जगत् वस्तुतः नहीं है, जो देख पड़ता है, वह देखनेवालेकी कल्पनाका आरोप है। पर्वतके समीप की जानेवाली ध्वनि जो प्रतिव्यनित होती है, वह पर्वतकी ध्वनि नहीं होती, अपनी ध्वनिकी ही प्रतिव्यनि होती है। दर्शणमें जो मुखद्वा देख पड़ता है वह दर्शणमें नहीं होता, अपने मुखका ही तो प्रतिविम्ब होता है। इसी प्रकार शुद्ध सचिदानन्दस्वरूपमें जो भिन्नभिन्न भूत देख पड़ते हैं वे देखनेवालेके संकल्पसे ही देख पड़ते हैं। भूतोंकी कल्पना करनेवाली यह प्रकृति यदि ब्रह्मविचारसे नष्ट हो जाय तो स्वरूप सजातीय-विजातीयभेददशन्य विशुद्ध ब्रह्मस्वरूप ही अवशिष्ट देख पड़े। विशुद्ध परमात्मस्वरूपमें भूतोंकी उत्पत्ति सम्भायित ही नहीं है। इतीलिये मेरे अंदर न भूत हैं और न भूतोंके अंदर मैं हूँ। इतीलिये अब तुम इन्द्रियोंके कपाट बन्द करके अर्थात् इन्द्रियोंको अन्तर्मुख करके इस ज्ञानका आनन्द अनुभव करो।’

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचनमें पहले अध्यासवाद बतलाकर अजातवाद स्थापित किया गया है। अजातवाद एकाएक किसीकी समझमें नहीं आता। रज्जु-सर्प और शुक्रिका-रज्जतादि दृष्टान्तोंसे अध्यासवाद मन्दबुद्धि मनुष्यकी भी समझमें आ जाता है और अध्यासवादका ही और भी सूक्ष्म विचार करनेते वह स्पष्ट हो जाता है कि सीपमें भासमान रज्जत रज्जत-प्रतीतिके पूर्व नहीं था, सीपका ज्ञान होनेपर नहीं रहता—थही नहीं, बल्कि जिस समय रज्जतकी प्रतीति हो रही थी उस समय भी रज्जत नहीं था। इत प्रकार अध्यस्त रज्जतका त्रिकालमें अत्यन्ताभाव ही देख पड़ता है। इसीको अजातवाद कहते हैं। इस विचारमें जिस बुद्धिका प्रबोध नहीं हो पाता, उसके लिये

ओष्ठ मोहकाशन सगुणोपासन ही है—जिसके फलस्वरूप उसे भगवत्प्रसादसे ब्रह्मात्मैवज्ञान प्राप्त हो जाता है।

इस सगुणोपासना या भक्तिके विवरणसे ज्ञानेश्वरीके अनेक स्थल परिपूर्ण हैं। उनमेंसे कुछ प्रसंगोंके अवतरण आगे दिये जाते हैं। भगवान् कहते हैं—

‘हे अर्जुन ! जो सरल भावुक भक्त मुझ परमेश्वरको जानकर अपने अहङ्कारको चूर करते और अपने सब कर्मोंके द्वारा मेरा भजन-पूजन करते हैं, वे देही होकर भी देहमें नहीं रहते, मेरे स्वरूपमें ही रहते हैं। जैसे वे मेरे स्वरूपमें रहते हैं, वैसे ही मैं भी उनके हृदयमें सम्पूर्णरूपसे निवास करता हूँ। जैसे वटवृक्ष उत्पन्न होनेके पूर्व अपने सम्पूर्ण शासादि विलासके साथ वटवीजमें गुस्त रहता है और वटवीज भी जैसे वटवृक्षमें सर्वतः व्यापक रहता है, वैसे ही भक्त और भगवान्—इस नाम-मेदके रहते हुए भी, मैं जो कुछ हूँ, वही वे मेरे भक्त हैं।’ उन भक्तोंका मन मद्भावनामें ही सञ्चिहित रहता है। मनका हिन्दियके द्वारा जिस वस्तुके साथ सम्बन्ध होता है, मन उसी वस्तुका आकार धारण कर लेता है—तदाकार हो जाता है। उसी प्रकार मेरे भक्तोंका मन मुश्यमें रत रहनेसे मधुप ही हो जाता है। जो भक्त प्रेमभावसे तथा अनन्यभावसे मुझे भजते हैं, वे मत्स्वरूप हो जाते हैं—इसमें आश्चर्य ही क्या ? मेरा भक्त किसी जातिका हो, उसका कुछ भी आचरण हो, पायियोंमें सबसे बड़ा पापी भी वह क्यों न हो—उसने जब अपना जीवन भक्तिकी बेदीपर रख दिया, तब उसे मेरा स्वरूप प्राप्त हुए थिना रह ही नहीं सकता। पहले वह चाहे कितना भी बड़ा दुराचारी रह हो, अन्तमें तो वह मेरा भक्त हुआ; इसलिये वही सर्वोत्तम है। किसी महाजलप्रवाहमें कोई कूद पड़ा और लोगोंने समझा कि यह तो छब्ब मरा; पर जीकर जब वहाँसे अपने घर-गाँवको लौट आया तब सबका यह निश्चय कि वह छब्ब गया, व्यर्थ ही तो हुआ। उसी प्रकार दुराचारका परित्याग कर जिसने अपना सारा जीवन भगवद्भक्तिमें लगा दिया उसके सब पाप उस भक्तिसे नहीं हो गये, अनुताप-तीर्थमें स्नान कर वह मेरे स्वरूपमें आ मिला। पिछला कोई भी दोष फिर उसमें नहीं रहता। यही नहीं, जिस कुलमें उसका जन्म हुआ रहता है वही कुल पवित्र समझो, उसीं उस कुलकी कुलीनता जानो। मनुष्यजन्मका फल, सब पूछो तो, उसीको मिला; सब शास्त्रोंको उसीने तो जाना, सब तप उसीने तो किये। उसके अन्तःकरणमें मेरी ही आस्था है, मेरा ही प्रेम है। वह सब कर्मोंसे

उत्तीर्ण हुआ, इसमें सद्देह ही रक्षा है। कारण, उसने मन, बुद्धि, चित्त, शरीरके सब व्यापार मत्स्वरूपनिषाकी मञ्जूषामें रखकर मुझे अर्पण कर दिये।’

(ज्ञानेश्वरी अ० ५ : ४०८-४१४)

भगवान् अपने ऐसे अनन्य भक्तको कितना प्यार करते हैं, यह आगे बताते हैं—

‘अनन्यविचित्ससे जो मेरा अनुचिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उनकी सेवा मैं ही करता हूँ। कारण, उनका चित्त जब सब तरफसे बद्ध कर मेरी भक्तिमें लगा तब उसी क्षण उनका सारा भार मुक्तपर आ पड़ा। अतः उन्हें जो-जो कुछ करना होता है, वह सब मुझे ही करना पड़ता है। जिन शिशु-प्रक्षियोंके अपी पंख नहीं निकले हैं उन्हें खिलाने-पिलानेका उपाय जैसे उनकी माँको करना पड़ता है अथवा भूख-प्यासका लगना भी जो बच्चे नहीं जानते उनकी सारी चिन्ता उनकी माताको ही करनी पड़ती है, उसी प्रकार समस्त जीवन-प्राणसे जो भक्त मेरी भक्तिमें लग जाते हैं उनका सारा भार मैं बहन करता हूँ। उनकी सब इच्छाएँ, सब भावनाएँ, मैं पूर्ण करता हूँ। देहाभिमान है तो संसार-साधन ही, पर वे इसे मुझ श्रीहरिकी उपालनामें लगाते हैं। संसारके सारे अनायपदार्थोंका लोभ स्वागत कर वे मत्स्वरूपके लोभी होते हैं। उनमें वैष्णविक काम नहीं होता, उनमें मेरी प्रीति होती है। वे संसारको मानो चीन्हते-पहचानते ही नहीं। वे शास्त्रोंको पढ़ते-मुनते हैं मेरे लिये, मन्त्रपाठ करते हैं मेरे लिये। अपने शरीरकी सब चेष्टाओंद्वारा वे मेरा ही भजन करते हैं।’

(ज्ञानेश्वरी अ० ५ : ३४७-३५१)

भक्तिके उपाय और प्रकारके विषयमें आगे कहते हैं—

‘भक्तोंका अपना आपा मुझे अर्पण कर देना ही मेरी प्राप्तिका एकमात्र उपाय है, इस बातको हे अर्जुन ! तुम ध्यानमें रखको। अन्य किसी उपायसे मत्स्वरूपलाभ नहीं हो सकता। वेदोंसे अधिक ज्ञानसम्पन्न भला, कौन हो सकता है ? सहजजिह्वा शैषसे अधिक बोलनेकी शक्ति भला किसमें है ? पर उस शैषको मेरा विद्यावन होकर रहना पड़ा और वेदोंको ‘नेति-नेति’ कहकर लौट जाना पड़ा। सनकादि मेरे पीछे पागल हो रहे। योगीश्वर श्रीशङ्करको अपने तपोबलसे शान्ति नहीं मिली और उन्होंने मत्स्यद्वारा गङ्गाको अपने मत्स्वरूपर धारण किया। तात्पर्य, जो मत्स्वरूपको प्राप्त होना

चाहते हों, वे धन-मानादिकी बड़ाई छोड़ दें, व्युत्पत्ति-शान भुला दें, देहाभिमान ल्याग दें, संसारमें सर्वव्र धिनमग्न होकर रहें; तो ही मुझे पा सकते हैं। मैं भक्तिकी केवल निर्विल भक्तिकी ही आदर करता हूँ। मैं जाति-पॉति नहीं देखता; जो मुझे भजता है, वह चाहे किसी जातिका हो—मैं उसके धर सदा मेहमान बना रहता हूँ। किसी निमित्तसे जिसका चित्त मुझमें लग जाता है, उसे मत्स्वरूपलाभ होता ही है। यह वस्तु-स्वभाव है। सर्वमणिकों कोई कोशवदा फोड़ डालनेके लिये उत्तर लोहेका हथौड़ा चलावे तो सर्व होनेके साथ ही वह लोहा सोना हो जायगा। गोपियाँ काम-नुदिसे ही मेरे पास आयी थीं, पर प्राप्त हो गयी मेरे स्वरूपको। भयसे धूंस और द्वेषसे शिशुपालादि मचित्त होकर मद्रूप हो गये। माता-पिता-बधु-भाष्य-सम्बन्धसे बहुदेव-देवकी और यादव मद्रूप हुए। किंकीका भी चित्त किंकी प्रकार मेरे स्वरूपमें लग जाय, उसे अवश्य मेरी प्राप्ति होगी।'

(शानेश्वरी अ० १। ३६२-४७४)

फिर इदशास्यायकी टीकामें श्रीशनेश्वर महाराज भगवान्के भक्तप्रेमका वर्णन करते हैं। भगवान् कहते हैं—

'हे अर्जुन ! मैं अपने प्रेमी भक्तोंके पीछे कितना पागल हो जाता हूँ, कहाँतक बतलाऊँ ! मैं उन्हें अपने सिरपर लेकर नाचता हूँ !' अर्जुन पूछता है, 'वह कौन-सा भक्त है, जिसे आप सिरपर लेकर नाचते हैं ?' भगवान् इसका उत्तर देते हैं, 'मुक्ति नामकी जो चौथी पुरुषार्थसिद्धि है, उसे अपने हाथमें रखके भक्तिमार्गपर चलनेवाले भोले-भाले भाकुकोंको जो चाँटता किरता है, कैवल्यमोक्षका मानो जो स्थानी है,

चाहे जिसे उत्कादान करता या अपने ही पास रख छोड़ता है—इतने बड़े ऐर्थका स्थानी होकर भी जो सदा जलके समान नम, निरमिमान बना रहता है, उसे मैं प्रणाम करता हूँ, उसे मुकुट बनाकर अपने मस्तकपर रखता हूँ, उसके चरणतल निरस्तर अपने हृदयमें धारे रहता हूँ, उस भक्तके गुण मेरे अलङ्कार बनते हैं और मैं उनसे अलङ्कृत होता हूँ। अपने कानोंसे मैं उसकी कीर्ति सुना करता हूँ। अर्जुन ! मेरा जो अस्प स्वरूप है, उसमें चक्षुरादि इन्द्रिय कहाँ ? पर अपने भक्तको आँखें भरकर देखनेके लिये मैं आँखें बना लेता हूँ। मेरे हाथमें जो कमल है उसे मैंने अपने दूँपनेके लिये नहीं, शटिक जहाँ कहीं मेरा भक्त मिले, उसे तुरत चढ़ानेके लिये रखता है। मैंने दो और दो—चार हाथ जो अपने बना लिये हैं वे भी चारों हाथोंसे भक्तको आलिङ्गन करनेके लिये हैं। भक्तसङ्कके परम मुख्यके लिये ही विदेह होकर भी मुझे देह धारण करनी पड़ती है। अधिक क्या बतलाऊँ ! भक्तसे मेरा जो स्नेह है, उसकी कोई उपमा नहीं है। और तो क्या, मेरे भक्तोंके चरित्रोंको जो श्रवण करते और उनके गुणोंको बतानते हैं, वे भी मेरे प्राणाधिक प्रिय होते हैं !'

इस प्रकार शानेश्वर महाराजने कितने ही स्थानोंमें भक्तिकी महिमाका बड़ा ही मनोहर वर्णन करके सम्पुण्डितकी अल्पत रसर श्रेष्ठता दरसाई है, इसीको मुख्य साधन बताया है। भाग्यवलते जिसे यह भक्ति-साधन प्राप्त हो गया, उसके लिये मोक्ष क्या दूर है ?

भगवान्का विरह

दरिया हरि किरपा करी, बिरहा दिया पठाय ।
यह बिरहा मेरे साधको, सोता लिया जगाय ॥
बिरह बियापी दैहमें, किया निरंतर बास ।
ताला खेली जीवमें, सिसके सौंस उसौंस ॥
दरिया बिरही साधका तन पीला मन सूख ।
ैन न आवै नीदड़ी, द्विवस न लागे भूख ॥
बिरहिन पितुके काले, दूँड़न अनलँड़ जाय ।
निति बीती पित ना मिला, दरद रहा लपटाय ॥

—दरिया शाहेब

अभ्युदय और निःश्रेयसके साधन

(लेखक—श्रीनारायण लालीजी)

अभ्युदय लोकोन्नति और निःश्रेयस परलोकोन्नति अथवा मोक्ष या ईश्वर-प्राप्तिको कहते हैं। लोकोन्नति परलोकोन्नतिका साधन हुआ करती है। इसलिये लोककी उपेक्षा न करके उसे इस प्रकार काममें लाना चाहिये कि वह परलोककी उन्नतिका साधन बन जाय। इस सम्बन्धमें वेदमें एक जगह कहा गया है—

विद्या चाविद्यां च यत्सद्गोभ्यःसह ।
अविद्याय मृत्युं तीर्थां विद्यायासृतमनुत्ते ॥
(कुञ्जवेर ४० । १५)

अर्थात् (विद्या (ज्ञान) और अविद्या (ज्ञानेतर-कर्म) दोनोंको जो साध-साध काममें लाता है, अर्थात् न ज्ञानकी उपेक्षा करता है और न कर्मकी, वह कर्मके द्वारा मृत्युको पार करके ज्ञानके द्वारा अमरताको प्राप्त करता है।) यहाँ वेदने असन्दिनरथ शब्दोंमें व्यतीला दिया है कि मनुष्यका धर्म ज्ञान उपलब्ध करके उसके अनुकूल कर्म करना है। वेदने इस ज्ञान और कर्मका उद्देश्य मृत्युके सबसे बड़े बन्धनको पार करना यत्तलाया है। छोटे-छोटे बन्धनोंको पार करता हुआ ही मनुष्य बड़े बन्धनको पार किया करता है। इसलिये लोककी उन्नतिके लिये मनुष्य ज्ञान और कर्मको इस प्रकार यहाँ काममें लाते जिससे लोकके छोटे-मोटे बन्धन बराबर द्यायित होते रहे। ऐसा होनेपर ही लोकोन्नति परलोकोन्नतिका साधन बना करती है और मनुष्य इन छोटे-मोटे बन्धनोंको दूर करते हुए इस योग्य ही जाता है कि वडे से वडे मौतके बन्धनको भी दूर कर सके। और ऐसा ही जानेपर वह अपने परलोकको भी उत्प्रत कर लिया करता है। यहाँ एक बात समझ लेनी चाहिये कि मोक्ष अथवा ईश्वर-प्राप्ति मनुष्यको दो बातें प्राप्त कराया करती है—(१) मौतके बन्धनसे छुटकारा (२) आनन्द। इनमेंसे वहली बात निर्गुण और दूसरी बात सगुणोपासनाका फल हुआ करती है। जब मनुष्य ईश्वरके निर्गुणताप्रदर्शक गुणोंका विन्दन करता है कि ईश्वर अजर है, अमर है, अभय है—इत्यादि, तो इससे उसके भीतर भी निर्गुणता आती है और वह भी निमित्तसे ही क्यों न हो, अजर, अमर और अभय हो जाया करता है। और जब वह ईश्वरकी सगुणताका चिन्तन करता है कि ईश्वर सचिदानन्द

है, न्यायकारी है, दयालु है—इत्यादि, तो उसके भीतर नैयितिक रीतिहसे क्यों न हो, सचिदानन्द आदि गुणोंका संयोग-सम्बन्धवत् समावेश हो जाया करता है। और इस प्रकार मनुष्यको मोक्षके दोनों पहलू प्राप्त हो जाते हैं। यह तो जीवनोद्देश्यका स्थूल ढाँचा हुआ। यह ढाँचा किन साधनोंसे बना करता है, उसपर थोड़ा विचार करना चाहिये।

योगदर्शनमें वर्णित ‘तज्जपस्तदर्थभावनम्’ की दिक्षाके अनुसार मनुष्यको ईश्वरके गुणवाचक नामोंका साधन जप करके अपने भीतर उनमेंसे अनेकका समावेश करना चाहिये, जिससे वह रूप-संकल्प इतना शक्तिसम्पन्न अवश्य हो जाय कि अपने अंदरसे अहङ्कारको निकाल सके। अहङ्कारकी उत्पत्तिसे जगत्में व्यष्टित्वका समावेश होता है, मनुष्यके भीतर भी अहङ्कारकी कुछ मात्रा या जानेते मेरे और तेरेपनका भाव (ममता) पैदा हो जाता है। ईश्वर प्रकारकी दृष्टिसे परिच्छिन नहीं अपितु विमु है। इस ममताकी उत्पत्तिका फल यह होता है कि ज्यो-ज्यों यह बढ़ती है, मनुष्य ईश्वरसे दूर होता जाता है। जगत् वेशक अहङ्कारसे उत्पन्न होता और अहङ्कारसे ही उसकी स्थिति भी बनी रहती है। परन्तु जब मनुष्य ईश्वरकी ओर चलनेका इरादा करता है तो उसके लिये आवश्यक हो जाता है कि अहङ्कारसे अपनी पीछा छुड़ावे। अहङ्कारसे पीछा छुड़ानेका तरीका आनेको भुला देनेमें निहित है। अपनेको किस प्रकार भुलावे? इसके लिये प्रेम और भक्तिका आश्रय लेनेकी ज़रूरत है। जब मनुष्य ईश्वरको अपने प्रियतमके रूपमें देख-कर उसके प्रेम और उत्कृष्ट प्रेमकी चरम सीमामें अपनेको पहुँचा देता है तब वह प्रमुखमें इतना लौल हो जाता है कि उसे अपनी सुध-बुध भी नहीं रह जाती। इस दरजेपर पहुँच जानेपर अहङ्कार, ममता या मेरे-तेरेपनके भाव उसे व्यथित नहीं कर सकते। इसी अवस्थाके लिये कवियोंने लिखा है—

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हूँ मैं नाय ।

प्रेम गली अति सँकरी, तामे दो न समाप्त ॥

अथवा—

भेदुदी छा जाय ऐसी, दिलसे मिट जवे खुदी ।
उनके मिलनेका तरीका असे खो जानेम है ॥

इस अवस्थापर पहुँच जानेपर यह नहीं हो सकता कि उपासक अथवा प्रेमीकी सत्ता न रहती हो; वह रहती अवस्थ है, परन्तु प्रियतममें लबलीन हो जानेसे उसे हर जगह वही दिखायी देने लगता है—‘जिघर देखता हूँ, उधर दूर्हीन् है’। न उसे अपनी सुध रहती है न दूसरोंकी। योगदर्शन-की परिभाषामें इसीको चित्तकी वृत्तियोंका निरोध कहा जाता है। तात्पर्य इसका यह है कि चित्तकी वृत्तियाँ वहिरुखी हैं और बाहर सारी माया अहङ्कारकी ही हुआ करती है, इसलिये

उन वृत्तियोंके निश्च दो जानेका कल यह हुआ कि चित्तका सम्बन्ध अहङ्कारसे बाकी न रहा। इस सम्बन्धके बाकी न रहनेसे आत्माका सम्बन्ध भी चित्तसे दूट-सा जाता है और इस सम्बन्धके दूट जानेसे आत्मा अपने भीतर काम करने लगता है और वही अवस्था है जिसमें आत्म-साक्षात्कार और परमात्म-साक्षात्कार हुआ करता है। यही अवस्था है, जिसे स्वाद चलनेकी अवस्थासे उपमा दिया करते हैं। यहाँ जो स्वाद आता है, उसे कोई ज्ञानसे कह नहीं सकता। उपनिषदोंने इसीके लिये कहा है—

‘न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृष्णते ॥’



तत्त्वंपदार्थ-शोधन

(लेखक—स्वामी श्रीयेन्दुरोजी महाराज)

साधनेषु समस्तेषु तत्त्वमपदार्थशोधनम् ।
भूत्या प्रोक्तं प्रमुख्यं दै स्तृत्या सुकृत्यावधार्यताम् ॥

साधन-राजमें तत्त्वंपदार्थ ज्ञोधनको प्रमुख स्थान प्राप्त है, यह श्रुतिकी खुल्कि है। परिशोधित ‘तत्’ पदार्थ तथा ‘तं’ पदार्थके अभेदनिश्चयके लिये श्रुति, स्मृति तथा तदनुकूल युक्तिकी शरण लेनी चाहिये।

समस्त साधन एवं तत्त्वातिपादक शास्त्रका सार है जीव-ब्रह्मकी एकलूपता। यही साधकका चरम लक्ष्य है, साध्य-तिद्धि है। जीवात्मा और परमात्माकी एकताके बोधक वैदिक धार्य ‘महावाक्य’ नामसे व्यवहृत होते हैं। इनमें ‘तत्त्वमसि’ विशेष प्रणिदेश और प्रचलित है। गुरु विष्णुको उपदेश देते हैं, ‘तत्त्वमसि’ तू वही (परत्रश्च) है। अनन्तर श्रुति, स्मृति और युक्तिद्वारा मनन करनेपर श्रोताके अन्तःकरणमें ‘अहं ब्रह्मामसि’, मैं (वही) परब्रह्म हूँ—इस प्रकार ब्रह्मपरीक्षानुभवका उदय होता है। इसीलिये ‘तत्त्वमसि’ को उपदेश-महावाक्य एवं ‘अहं ब्रह्मामसि’ को अनुभवात्मक महावाक्य कहा जाता है।

महावाक्यसे जीव-ब्रह्मकी एकताका अखण्डार्थ-बोध होनेके लिये उसके पदार्थशानकी अपेक्षा है। पदार्थशानके अनन्तर वाक्यार्थशान होता है। ‘तत्त्वमसि’ महावाक्यके तत्, त्वम्, असि—ये तीन पद हैं। ‘तत्’ पदका अर्थ है सर्वत्र,

सर्वशक्ति, आनन्दमय परमात्मा। ‘त्वं’ पदका अर्थ है अत्यन्त, अलशक्ति, दुःखमय जीवात्मा। ‘असि’ पद दोनोंकी एकताका सूचक है। परन्तु आनन्दमयत्वादिविशिष्ट ‘तत्’ पदार्थकी और दुःखमयत्वादिविशिष्ट ‘त्वं’ पदार्थकी एकता अत्यन्त निश्च अतः इनके शोधनद्वारा एकताका सम्बन्ध करना है।

पद (शब्द) में अपने अर्थका बोध करानेकी जो सामर्थ्य है, उसे वृत्ति कहते हैं। यह शक्तिवृत्ति, व्यञ्जनावृत्ति तथा लक्षणावृत्ति-भेदसे तीन प्रकार की है। वृत्तिमेदसे अर्थभेद भी होता है। शक्तिसे प्रतीत होनेवाले अर्थको शक्य, व्यञ्जनासे व्यञ्जय और लक्षणसे प्रतीत होनेवालेको लक्ष्य कहते हैं।

शब्दके स्वाभाविक अर्थका भान जिस सामर्थ्यसे होता है, उसे शक्ति और उसके द्वारा प्रतीत हुए अर्थको शक्यार्थ कहते हैं। उदाहरण—‘भक्ता मज्जित्वा भगवन्तम्’, भक्त भगवान्का भजन करते हैं।

शब्दसे स्वाभाविक अर्थके सर्वदा विपरीत अर्थकी प्रतीति होती हो तो उस विपरीत अर्थकी प्रत्यायक सामर्थ्यको व्यञ्जना तथा उस विपरीत अर्थको व्यञ्जयार्थ कहा है। किसी-किसी मतमें इसका लक्षणमें अन्तर्भाव करके दो ही वृत्तियाँ मानी गयी हैं। उदाहरण—‘विष्णु भुक्षत्’, जहर खा लो। कोई सरल व्यक्ति शक्ति के बहकावेमें भूलकर उसका दिया

१. निरहङ्कारता । २. अहङ्कार ।

भोजन खानेको लैयार है। अन्य जानकार सज्जन उसे सावधान करते हैं कि 'विषं मुखश्व' अर्थात् शनुके हाथका उच्चम-से-उच्चम भोजन पानेकी अपेक्षा विष खाना कहीं अच्छा है। यहाँ 'विषं मुखश्व' के स्वाभाविक अर्थसे (शक्याद्यसे) सर्वथा विपरीत अर्थका भान कराना है कि शनुके हाथसे कुछ भी मत खाओ ; अधिक स्पष्टताके निमित्त अन्य उदाहरण—एक मनुष्य दूसरेसे व्यङ्गरूपमें कह रहा है, आप बड़े महात्मा हैं ! यहाँ 'महात्मा' पदके स्वाभाविक अर्थ 'महान् आत्मा' के सर्वथा विशद् अर्थ 'आप वास्तवमें दुष्टात्मा हैं' की प्रतीति होती है।

कभी-कभी तात्पर्यविशेषसे प्रयुक्त पद अरथवा पदसमुदाय- (वाक्य)-से सांकेतिक अर्थका भान होता है। उसकी प्रलायक सामर्थ्यव्युत्ति लक्षणा तथा उस अर्थको लक्ष्य कहते हैं। लक्षणोंके तीन प्रकार हैं—'जहलक्षणा', 'अजहलक्षणा' और 'जहदजहलक्षणा'। इसके अर्थ (लक्ष्यार्थ) को भी तीन तरहका होना पड़ता है। विषय गहन होनेके कारण दुरुह है, सरल करनेका यथासाध्य प्रयत्न किया जायगा। अच्यात्मियतयमें, विशेषतः लक्षणादारा 'तत्त्वमसि' महावाक्यके लक्ष्यार्थनिश्चयमें अनेक शब्दाओंको अवकाश हो सकता है। जिशासुओंकी अपने निकटके मर्मसोंदारा समाधान करा लेना चाहिये।

जहाँ शब्दके स्वाभाविक (शक्य) अर्थका त्यागकर उसके विशद् अर्थका ग्रहण किया जाय, वहाँ 'जहलक्षणा' मानी जाती है। उदाहरण—'गङ्गाश्च धोषः' गङ्गासे धोषियोंके घर (ग्वालों-का गाँव) हैं। यहाँ 'गङ्गा' शब्दके स्वाभाविक अर्थ है महाराज भगीरथके परिश्रमसे इस भारतभूमि पर उत्तरा हुआ दिव्य जल-प्रवाह। उसमें धोषका बसना असम्भव है, अतः वस्तके संकेतानुसार 'गङ्गा' शब्दके स्वाभाविक अर्थका त्याग कर उसके विशद् सांकेतिक अर्थ 'गङ्गातट'का ग्रहण किया जाता है। तटपर धोषका बसना सम्भव हो जाता है। 'गङ्गाश्चाम्' कहनेका सांकेतिक तात्पर्य भी संशष्टित हो जाता है कि 'प्रवाहके एकदम समीप होनेके कारण जैसी पवित्रता, शीतलता आदि प्रवाह (गङ्गा) में है वैसी ही धोषमें भी है। यहाँ 'गङ्गा'पदके शक्यार्थ 'जल'के स्थानपर उससे विशद् लक्ष्यार्थ 'स्थल'का ग्रहण है।

जहाँ शब्दके स्वाभाविक अर्थका त्याग न होता हो, किन्तु उत्तरके साथ अन्य अधिक अर्थका ग्रहण करना पड़ता हो, वहाँ 'अजहलक्षणा' होती है। उदाहरण—'काकेभ्यों

दधि रक्षताभ्', कौञ्चोंसे दही बचाना। यहाँ 'काक' शब्दके स्वाभाविक अर्थ कौञ्चोंका त्याग न कर उसके साथ दधिको हानि पहुँचानेवाले चूहे, कुचे आदि अन्य अधिक अर्थका भी ग्रहण करना पड़ता है; क्योंकि तमाम जीव-जन्मत्रूपोंसे दधिकी रक्षा अपेक्षित है, इसीमें सांकेतिक तात्पर्य है।

जहाँ शब्दार्थके विशद् (विशेषण) भागका त्याग और अविशद् (विशेष्य) भागका ग्रहण किया जाय, वहाँ 'जहद-जहलक्षणा' होती है। इसे 'भागत्यागलक्षणा' भी कहते हैं। उदाहरण—'सोऽयं देवदत्तः', वह वही देवदत्त है। इस वर्ष पूर्व बदरीनारायणमें बद्धाभूषणविभूषित, हृषपुष्ट ढाँडीपर सचार, याथामें खूब दान-पुण्य करनेवाले जिस देवदत्त नामक मनुष्य-को देखा था, उसीको आज रामेश्वरमें फटे चिंधिकोंसे ढका, सोनी, पैर घिसते, भीख माँगते देखकर ब्रह्म बोल उठा—अरे, यह वही है। यहाँ 'यह' और 'वह'के साथ देवदत्तकी प्रकृता दिखलायी गयी है। परन्तु वह तब सम्भव हो सकती है, जब कि 'यह' तथा 'वह' के परस्पर विशद् विशेषणोंका त्याग एवं अविशद् विशेष्यका ग्रहण किया जाय। यह काम 'भागत्याग-लक्षणा'का है। 'यह'का निःकृष्टवस्थाभाग और 'वह'का उक्तकृष्टवस्थाभाग निकाल दिया जाता है, तो एक अभिन्न देवदत्त व्यक्तिका बोध हो जाता है।

प्रकृत 'तत्त्वमसि' महावाक्यमें उपरिष्ठ तत्त्वंपदार्थशोधन-में शक्तिवृत्तिसे काम नहीं चलता। 'तत्'पदके शक्यार्थ एवं 'त्वं'पदके शक्यार्थकी एकता अत्यन्त विशद् है, यह बात पूर्वमें कही गयी है। उपदेशावतर होनेसे व्यञ्जनावृत्तिको स्थान ही नहीं है। शेष रह जाती है लक्षणा। इससे तत्त्वंपदार्थ-शोधन हो जाय तो अच्छी बात है।

प्रथमतः जहलक्षणा प्रस्तुत है; परन्तु वह अभीष्ट विशद् न कर सकती। उसमें स्वाभाविक अर्थका त्याग और विशद्का ग्रहण होता है, जैसा कि उदाहरणमें स्पष्ट हो चुका है। यहाँ 'तत्'पदके स्वाभाविक अर्थ संवेद, सर्वशक्ति और आनन्दमयादिका त्याग कर उसके स्थानमें उससे विशद् अल्पज्ञ, अल्पशक्ति एवं दुःखमयादिका ग्रहण किया जाय तो 'तत्त्वमसि'के अर्थ होंगे—हे शिष्य ! तू अल्पज्ञ, अल्पशक्ति और निरा दुःख-मय तत्पदार्थ है। ऐसा तो वह प्रथम भी मानता था, उपदेश-ने क्या अपूर्बता की ? दूसरे यह भी सम्भव नहीं कि 'तत्'पदका अर्थ कोरा अल्पज्ञ, अल्पशक्ति तथा दुःखमय हो।

दूसरी अजहालक्षणा भी उपयोगी न हो सकेगी । उसमें स्वाभाविक अर्थके साथ और अधिक अर्थका प्रहण है । जहाँ स्वाभाविक अर्थमें ही अनिवार्य विशेष भुता हुआ है, वहाँ और अधिक अर्थ प्रहण करनेपर विशेष कम होना तो दूर रहा, प्रल्युत बढ़ ही जायगा । ‘काकेस्यो दधि रक्षताम्’ में यदि कौओंसे ही दधिरक्षा न हो सकती हो, तो अन्य जीय-जन्मुओंसे कैसे हो सकेगा ? जब कौओंका ही परिचय न हो सका, तो अन्य दध्युपतातक प्राणियोंका परिचय कैसे होगा ? भुतरां दधिरक्षा खटाईमें पड़ जायगी । वैसे ही ‘तत्त्वमसि’ में तत्त्वपदार्थका ही सम्बन्ध नहीं हो सकता तो अन्य अधिक अर्थका किस प्रकार हो सकेगा ? जहाँ तत्त्वपदार्थ-के स्वाभाविक अर्थका ही स्वरूपपरिचय नहीं हो सकता, वहाँ अन्य अधिक अर्थकी विचड़ी पकानेसे विशेष उलझन बढ़नेके अतिरिक्त और बढ़ा हो सकेगा ? अतएव तत्त्वपदार्थका समन्वय असम्भव हो जायगा । इस प्रकार तत्त्वपदार्थशोधनमें इस अजहालक्षणाका भी उपयोग नहीं है ।

अब चलिये जहाँजहालक्षणा (भागत्यागलक्षणा) की शरण । यह साध्य सिद्ध कर देगी । इसमें विरुद्ध भागका त्याग और अविरुद्ध भागका ग्रहण करना होता है । ‘तत्’पदके स्वाभाविक अर्थ (शक्यार्थ) सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, आनन्दमय परमात्माके तथा ‘तत्’पदके शक्यार्थ अल्पशः, अल्पशक्ति, दुःखमय जीवात्माके परस्परविरुद्ध विशेषण भागोंको अलग कर दीजिये । परमात्मामेंसे परम भाव निकल गया, शुद्ध

आत्मा रह गया । जीवात्मासे जीवभाव छूट गया, आत्मामात्र रह गया । ‘असिपदने दोनोंकी एकता बोधित कर दी । अब ‘तत्त्वमसि’ के अर्थ समन्वित (तत्त्वपदार्थके द्वोधन) हो गये । गुरुने उपदेश किया ‘तत्त्वमसि’-वत्स ! तू वही है, तेरा आत्मचेतन ब्रह्मचेतन ही है । उपदेशानन्तर दिश्य मनन करता है, ‘तत्’पदके अर्थ परमात्माके मायाकृत विशेषणोंको हटाइटाकर निर्विशेष चेतनको परिशेष कर लेता है । जीवात्मामेंसे भी अविद्याकृत विशेषणोंको निकाल फेंकना जारी कर देता है, जीवभावकी पतकाइका धावा बोल देता है, एक-एक करके समस्त उपाधियोंका खात्मा कर ढालता है और अशेष अविद्याविरहित अपने आपको निःशेष मायाविवर्जित अखण्डैकरत निर्विशेष ब्रह्मचेतनानन्दसागरके निकट खड़ा पालेता है । तब उसके अन्तस्तलमें गहरी-गहरी “अ...हं... न...हा...सि”—इस प्रकार अनुभवात्मकवृत्ति स्फुरित हो आती है । वह अधिक खड़ा नहीं रह सकता, विशेष विलम्ब नहीं सह सकता । दीप दीख गया, फिर पतंग अलग रह जाय—यह नयी बात नहीं हो सकती । उसने अपनेको होम दिया । जलकी वृंद सागरमें बरस पड़ी, वृंदभाव खो गया, सागरभाव उद्भेदित हो उठा । जीवभाव झड़ गया, ब्रह्मभाव उमड़ आया । वह निरङ्गनमें रहित हो रहा । उसका तुच्छ ‘अहम्’ ब्रह्माहम्’में तुल-मिल गया, एकमेक हो गया । साधन सफल हुए, साधना पूरी हुई, सर्वत्र साध्यही-साध्य व्याप रहा । उसके आगे-पीछे, अगल-बगल, दार्ये-बाये, ऊपर-नीचे, अंदर-बाहर ब्रह्मानन्द ही भरा पड़ा है ।

राम-राम कहो

राम कहो राम कहो, राम कहो जावरे ।
अवसर न चूक भौंवू, पायो भलो दौंघ रे ॥
जिन तोको तन दीन्हो, ताको न भजन कीन्हो ।
जनम सिरानो जात, लोहे कैसो ताच रे ॥
रामजीको गाय गाय, रामजीको रिक्षाय रे ।
रामजीके चरन कमल, चित्त माहिं लाच रे ॥
कहुत मलूकदास, छोड़ दे तै झूटी आस ।
आनंद मगन होइ के, हरि गुन गाव रे ॥

—मद्रकदासगी

भगवान्‌के सम्बन्धमें साधनोंका सामर्थ्य

(लेखक—‘कविशिरोमणि’ देवर्चि महाश्रीगुरुराजाधीश शास्त्री)

‘घन बयार, महवार मह नैया मैंवर मशार ।
करुणावार ! उचारिये निज कर है पतवार ॥’

अपने प्राणप्रेषके विरहमें व्याकुल हुई ब्रजगोपिकाओंने भगवान्‌के खोजनेके लिये कोई कसर न की । अपनी जानमें यमुनातटका एक-एक स्थान छान डाला । सामने जो कोई मिला, उससे पूछा—यहाँतक कि पशु-पक्षी, लता-शृङ्ख, जो कोई भी दिव्यायी दिया, उससे भगवान्‌का पता पूछा । उनके हृदयमें भगवान्‌का अप्रतिरोधनीय असामान्य अनुराग था । भगवान्‌की प्राप्तिके लिये वे घर-द्वार, सम्बन्धी-स्वजन, सब कुछ छोड़ ऊँकी थीं । यहाँतक कि लौकिक-पारलौकिक अर्यादाओंपर भी उनकी दृष्टि न थी । एकमात्र भगवान्‌ ही उनकी प्राप्तिके लक्ष्य थे । उन्हीं प्राणप्रियतमका वियोग, और फिर वह भी ऐसे समयमें जब कि उनकी सब मनोवृत्तियाँ उत्तेजित होकर अपने प्रियतमके एकान्त अभिमुख हो रही थीं ! फिर भला, विकलता क्यों न हो ? विरहाग्निसे हृदय संतप्त हो रहा था । प्रेम और तजनित व्याकुलताका यह हाल था कि उनका एक-एक अवयव, रोम-रोम, भगवान्‌के दर्शनके लिये लालयित था । भला, गोपिकाओंके अनुरागकी कोई सीमा है ! उनकी प्रीतिकी तुलना किसी अन्यसे की ही नहीं जा सकती, प्रत्युत प्रीतिके विषयमें उन्होंकी उपमा सब जगह दी जाती है—‘यथा ब्रज-गोपिकानाम्’ ।

भगवदनुरागके कारण उनकी भाव्यवत्ताको देवता भी सराहते हैं और चाहते हैं कि बुन्दावनमें शृङ्ख, लता, गुल्म आदिमें ही हमारा जन्म हो जाय—जिससे कि आवेजाते समय गोपिकाओंकी चरण-रज तो हमारे मस्तकपर पड़ जाये । वही असामान्य अनुरागिणी गोपिकाएँ भगवान्‌की प्राप्तिके लिये पूर्ण धन कर ऊँकीं, पर आप न मिले । प्रेम और विरहमें विहूल होकर वे कभी भगवान्‌के चरित्रोंको गाती थीं तो कभी प्रलाप करती थीं । अन्तमें तो यह दशा

१. ‘आसामही चरणेगुजुलामहै स्या

बुन्दावने किमपि गुल्मलतौष्ठीताम् ।
या दुस्यत्रे स्वजननार्थपर्यं च हित्वा
मेजुर्युकुन्दपदवीं श्रुतिमिर्षुम्याम् ॥’

सा० अ० २२—३३

हुई कि विरह-व्याकुलताके कारण रोने लगी—‘रुदुः सुखरं राजन् कृष्णदर्शनलालसा’ । परन्तु इसपर भी उनके उपाय और योग्यसे कुछ न हुआ । करुणावक्षणालय भगवान्‌को ही जब उनकी हालतपर दया आयी, तब ‘तासामाविरभूच्छृःरिः स्यमानमुखाम्बुजः’—उनकी प्रणय-प्रीक्षापर हँसते हुए भगवान् उनके ही मध्यमें प्रकट हुए ।

इस कथाकी सङ्कलित कई तरहसे लगायी जाती है और सब जानते भी हैं; किन्तु क्या इस घटनासे वह अभिव्यक्ति नहीं होता कि चाहे जितने अनुकूल और प्रबल साधन क्यों न हों, पर ऐसे शक्तिवर्णके समुख जहाँ कि किसी उपायकी पहुँच नहीं वे साधन अपने स्वरूपसे तो कुछ फल नहीं दिखला सकते । जब वही (सब शक्तिवोंका केन्द्र) उन साधनोंको स्वीकार करना चाहे, तभी कुछ फलसिद्धि हो सकती है । योगसिद्धिसे, देखते-देखते अलश्य हुए वोगीको हम चाहे जितना पकड़ना चाहें, खोजें, किन्तु नहीं पा सकते । वही जब अपनी हृच्छासे हमारे समुख आवे तभी वह इमें गिर सकता है । सर्वसिद्धान्तोंसे जिसका स्वरूप यह रिद्धि होता है कि—‘यतो वाचो निर्वर्तने अप्राप्य मनसा सह अर्थात् जहाँ मनवाणीकी पहुँच नहीं, वे भी उनतक न पहुँचकर जहाँसे निष्ठल लैट आते हैं, वहाँ भला, फिर कौनसे साधन अपना बल दिखायेंगे ?’ इंहें इति ईश्वरः इस ब्युत्पत्तिसे जब उनके सामर्थ्यको ‘अन्यसामर्थ्यानभिभवनीय’ अर्थात् अन्यशक्तिसे न दबने-वाला मानते हैं, तब वहाँ बैचारे साधन कर ही क्या सकते हैं ? और यदि साधनोंने अपना सामर्थ्य वहाँ जमा दिया तो फिर वह ‘अन्यसामर्थ्यानभिभवनीय’ भी कैसे कहलायेंगे ?

ब्यवहारमें भी आप देखते हैं कि हम किसी हाकिमके समुख अपने सब प्रमाण उपस्थित कर देते हैं । साक्षियोंके द्वारा तथा अन्यान्य उपायोंसे अपनी निर्दोषता भरसक अच्छी तरह यिद्ध कर देते हैं, तथापि निर्दोषताका फैसला देना तो उसके ही हाथमें मानते हैं । जब सामान्यसे अधिकारीका इतना सामर्थ्य माना जाता है, तब जो चतुर्दश भुवनोंका ‘ईश्वर’ प्रसिद्ध है, उसके सामर्थ्यकी क्या कोई सीमा हो सकती है ? आप जिस कामको आसान समझते हैं, थोड़े-से

यत्से सिद्ध होनेवाला मानते हैं, यहींपर लाख यक होनेपर भी, बहुत कालतक दौड़-धूप करनेपर भी, कुछ फल नहीं होता । किन्तु जब कोई अदृष्ट शक्ति चाहती है, तभी आपको उसका फल मिलता है । ऐसी दशामें क्या आप अपने साधनोंपर भरोसा वा गर्व कर सकते हैं ? शास्त्र साक्षात् बतलाते हैं कि—(कर्मण्यवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्) ।

जब साधनोंका स्वातन्त्र्येण फल ही नहीं, अपनी इच्छासे फल देनेवाला कोई स्वतन्त्र दूसरा है, तब उन साधनोंमें साधनत्व (साधनपन) ही कहाँ रह गया ? 'साध्यते अनेन तत्साधनम्'—जिसे कोई काम सिद्ध किया जाय, हमारी क्रियासिद्धिमें जो हमारा असाधारण उपकार करे, वही तो 'साधन' कहलाता है । ईश्वरप्राप्तिके विषयमें जब एक-दो साधन क्या, साधनोंका कफिला-का-कफिला ही पीछे रह जाता है, तब पहिर उनसे क्रियासिद्धिकी जाग्रता कौसी ?

तो क्या वेदादिमें बतलाये हुए भगवत्प्राप्तिके उपाय—यज्ञ, याग, यज, तप, व्रत, नियमादि—सब वर्थ हैं ? ऐसी दशामें यज्ञादिको भगवत्प्राप्तादका 'साधन' बतलानेवाले वेदादि शाक्तोंकी अप्रामाण्य तिद्ध होगा । भक्तिमार्गमें कहा जाता है कि 'यज्ञ-यागादि कष्टसाध्य हैं । सब लोग इनके अधिकारी भी नहीं । किन्तु 'भक्ति' में सबका अधिकार है । कलियुगमें उसके ही द्वारा उद्घार हो सकता है, हत्यादि !' परन्तु जब साधनमात्र यहाँ विफल सिद्ध होते हैं, तब 'भक्ति' भी साधन कैसे हो सकती है ? ठीक है । इनपर थोड़े सूख्य विचारकी आवश्यकता है । श्रुति-वेदान्तादि वाक्योंसे सिद्ध होता है कि सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, सर्वसामर्थ्यशाली भगवान्-ने अपनी लीलासे, रमणकी इच्छासे यह सुष्टु उत्पन्न की, प्रपञ्चकी रसना की । धर्मादिकी व्यवस्था करके व्यवहारोंका नियमन किया । जबतक आपकी रमणेच्छा रहे, तबतक यह प्रपञ्चप्रवाह बन्द न हो—इसलिये कर्मादिका सूत्र अनुरूप करके इस संसार-प्रवाहको ऐसा प्रचलित कर दिया कि इसके विरत होनेकी कोई सम्भावना नहीं । परन्तु इस संसारकी व्यवस्था इदं नियमोंके बिना सुशङ्खलासे नहीं चल सकती । इतीर्लिये सदसदिवेचनापूर्वक लोकव्यवस्था करनेवाले शास्त्रादि निर्णाति किये । ये ही शास्त्र हमें भगवत्प्राप्तिके अभियुक्त करते हैं । इनके उपदेशोंके अनुसार यदि हम आचरण करें तो अवश्य हमें भगवत्प्राप्ति होगी, इसमें सन्देह नहीं । अतएव वेदादि शास्त्र और उनके द्वारा बोधित यज्ञ-याग, यज-तप, अनुरूपानादि सभी क्रिया-कलाप

प्रामाणिक सिद्ध होते हैं । किन्तु विचार करनेकी बात है कि इन उपदेशके शास्त्रोंके मूलमें भी भगवान्की शक्ति और इच्छा अनुरूप है । उन्हींकी इच्छासे ये शास्त्र प्रवृत्त हुए हैं । अब आप ही देख लीजिये कि जब इन व्यवस्था करनेवालोंका भी व्यवस्थापक कोई दूसरा है, तब इनका स्वातन्त्र्येण सामर्थ्य कहाँ रहा ?

यहाँ यह कहा जा सकता है कि जब शास्त्रोंके परिचालित नियमोंसे ही सब व्यवस्था चलती है और उसमें कुछ भी व्यत्यास नहीं होता, प्रत्युत शास्त्रोंके प्रवर्तक भगवान्की इच्छा और आशा ही यह है कि वेदादि शास्त्रोंके अनुसार ही चला जाय तो ऐसी दशामें शास्त्रोंको ही स्वतन्त्र प्रमाण मानना उचित प्रतीत होता है । उनके मूलमें भी और प्रमाणान्तर माननेसे अनवस्था हो जायगी । और जब वेदादि स्वतन्त्र व्यवस्थापक सिद्ध हुए, तो उनके द्वारा बोधित यज्ञ-यागादि भी भगवत्प्राप्तिके मति साधन अवश्य तिद्ध होंगे । ठीक है । 'अनवस्था हो जायगी' इस भयसे शास्त्रादिको स्वतन्त्र प्रमाण मान लेना ही कह रहा है कि इस विषयमें स्वतन्त्र व्यवस्थापक अथवा प्रमाण अन्य ही कोई है । जब किसीकी इच्छा अथवा आज्ञासे कोई शासन कर रहा है, तब शासनकालमात्रमें उसका स्वातन्त्र्य होनेपर भी स्वतन्त्र शक्तिशाली उसकी आज्ञा देनेवाला ही माना जायगा । वर्तमान कालमें भी कानूनके हाथमें ही शासनकी बागडोर रहनेपर भी क्या अन्तरात्मा यह नहीं जानता कि कानूनको बनानेवाली शक्तियाँ उससे भी प्रवल हैं, जो आवश्यकता पड़नेपर कभी-कभी अपनी स्वतन्त्रता (अन्यथा-कर्तुं समर्थता) का परिचय दे ही दिया करती हैं ।

अच्छा । और-और साधनोंके विषयमें चाहे कुछ कहा जा सकता हो, किन्तु 'साधन-भक्ति' तो भगवान्की प्राप्तिके लिये अवश्य ही सफल 'साधन' सिद्ध होगी । क्योंकि भक्ति (अनुराग) में शक्ति ही ऐसी है कि जिसके द्वारा वह अपने आलमन (प्रेमी) को बलात् आकृष्ट कर लेती है । मैं समझता हूँ, विस्तार करनेकी आवश्यकता न होगी । बहुत-से दृष्टान्त प्रसिद्ध हैं कि चित्रपर प्रेम-प्रदर्शन करनेमात्रसे थड़े-थड़े सप्ताहाद्यक एक दीनकी कुटियाँमें स्वयं आ उपस्थित होते हैं । भक्तोंके अनुरागसे आकृष्ट हुए भगवान्-ने ही अपने भक्तोंके लिये क्या-क्या कर्य नहीं किये ? और कहाँ-कहाँ आपको नहीं पहुँचना पढ़ा ? वज्रभक्तोंकी कथाको तो जाने

दीजिये, वह तो असाधारण ही है कि जिनके क्षणमात्र दर्शन-के लिये दिव्यदेवानिवासी सुनितक तरसा करते हैं, वही भगवान् जहाँ सेवकों तरह कार्य करते हैं—गोरोंकी 'पादुका' तक उठाते हैं (विभर्ति विविदाशः पीठोक्नमानपादुकम्); किन्तु नरसी आदि भक्तोंके लिये ही भगवान्‌को कहाँ-कहाँ पहुँचना पड़ा है, यह कौन नहीं जानता ! आप स्वयं आशा करते हैं—

अहं भक्तपादीनो श्वस्त्रतन्त्र हव द्विज ।
साक्षिभिर्यत्सहृदयः ॥

अथात् ऐसे भक्तोंके पराधीन हूँ। मुझे विलकुल स्वतन्त्रता नहीं। स्वतन्त्रता तो तब हो, जब मैं पृथक् सत्ता रखता होऊँ। 'अहं तु साधुभिर्यत्सहृदयः'—मेरे हृदयको तो साधु (भक्तोंने) ग्रास कर लिया है, सर्वथा ले रखता है।' अनुरागमें स्वाभाविक रक्षित ही यह है कि प्रबल हैनेपर वह दूसरोंको अपनी तरफ चलात् खीच लेता है। उर्दूका एक शेर सुना है—

'इक सचा है तो बस, एक दिन इन्हा अहा ।
कबे धारे से लिये आप जाने आयें ॥'

ऐसी परिस्थितिमें भक्तिको तो भगवत्प्राप्तिके लिये 'साधन' मानना ही पढ़ेगा।

ठीक है। किन्तु इसपर थोड़े गम्भीर विचारकी आवश्यकता है। क्या एक ओरकी क्रियामात्रसे ही आकर्षण हो जाता है ? दूसरी तरफसे यदि इसपर ध्यान ही न दिया गया तो फिर आङ्कष होकर आना ही किसका होगा ? भारीक विचारसे आपको स्वयं प्रतीत हो जायगा कि भक्तोंके सच्चे अनुरागके करण करुणायुषणालय भगवान्‌की दयाशक्ति भक्तोंके अभिमुख हो जाती है, जिससे भगवान्‌की उद्धार करनेकी इच्छा जाग्रत् होकर भक्तोंके अभीष्टोंसे सिद्धि हुआ करती है। भक्तिग्रन्थोंमें स्थान-स्थानपर यह कहा गया है, जैसा कि भक्त श्रीलक्ष्मीजीके प्रति विनय करता है—

धक्करण करणा धुदमध्य ते क्षितितले भवतीमवतार्य या ।
अहह यातु पुः स्थिरवेदवामगमयजगदर्त्तिनिषुक्तये ॥

'हे जननी ! यह आपकी दया ही अत्यन्त निरदया है, जो आपको हस्त भूमण्डलपर उतारकर जगत्‌की पीड़ा दूर करनेके लिये आपको भी राक्षसादिसे पीड़ा सहन कराती है।' समस्त कल्पाणगुणाश्रय भगवान्‌में यदि दया-गुण न

होता तो भक्तोंके उद्धारका राहता ही कैसे खुलता ? 'अथङ्-मनसगोचर' (वाणी और मनकी भी जहाँ पहुँच नहीं) भगवान्‌हक्के हमारी पहुँच ही कहाँ थी ? जिन भगवान्‌को हमारे शास्त्र 'दिव्योपसूत्र्य' (उत्तमलोकनिवासी ही जिनके सभी पहुँच सकें, ऐसे) बताते हैं, प्रस्तुत कहाँ-कहाँ दिव्य सुनि सनकादितक जिनके पास पहुँचनेसे रोक दिये जाते हैं, वहाँ क्या इन धराधामादियोंकी गति हो सकती थी ? परन्तु लोकानुकम्पासे प्रेरित होकर भगवान् स्वयं अपना रूप आप प्रकट करते हैं। उसी प्राकृत्यावस्थामें भगवान्‌के दर्शन-गुण श्रवण-चरितानुकीर्तिनादिके द्वारा अनेकानेक भक्तोंका उद्धार हुआ है और होता है।

अब आप ही स्वयं देख लीजिये, यदि भगवान् अपनी लीलासे अपना रूप स्वयं प्रकट करना नहीं चाहते तो 'अथाङ्गानसगोचर' उन भगवान्‌को हम अपने साधनोंसे कैसे पाते ? और विना जाने, देखे सुने उनका अनुकीर्तन भी क्या करते ? अतएव यह भगवान्‌की श्री माहिमा है कि वे दया करके लोगोंकी भक्तिको अङ्गीकार करते हैं।

अब लौकिक प्रेमको भी देख लीजिये। जिससे हम प्रेम करते हैं वह हमारी कुछ बात ही न मुनता-समझता हो, अथवा हमारे प्रेमकी पुकार ही जहाँ नहीं पहुँच सकती ही तो भला 'खिंवे चले' अनेकी वहाँ क्या सूरत हो सकती है ? कबे धारेसे लिंचे चले आनेमें शान्दिल चमत्कारकी तो बात दूसरी है, परन्तु इस सूक्ष्ममें प्रेमको परजनेवालेकी करदरदानी ही प्रथान प्रतीत हो रही है, अन्यथा कवि स्वयं अपने मुखसे स्वीकार कर रहा है कि इधर सौंचनेके लिये तो 'कच्चा धागा' है। यदि दूसरी तरफ कुछ भी करदरदानी न हो तो कच्चा धागा तो फिर कच्चा ही ठहरे। हसीलिये भक्तिप्रयत्नमें भगवान्‌के अनुग्रहपर ही निर्भर रहकर 'विनय' के अङ्गोंको ही प्रथानता दी गयी है। फिर प्रेमका तो मार्ग ही निराला है। वहाँ तो अपने प्रेमाधारके प्रेममें लीन हुआ प्रेमी अपने-आपको ही झूल जाता है, अपनी सत्ताको ही झुलाकर 'मैं हूँ' का अभिमान ही पिटा देता है। फिर भला, वहाँ अपने साधन-बलपर अभिमान करनेकी क्या कथा ? सुनिये, प्रेमी भक्तका अद्वैतवाद-

'जब 'मैं' है तब हरि नहीं, हरि है तब मैं नहिं ।

प्रेम-गहरी अति सँकरी, तामैं है न समाहिं ।'

न केवल भक्तिमार्गमें ही, कर्ममार्गमें भी तो यही देखा जाता है। विधिके अनुसार यज्ञ-यागादि क्रिया-कलाप करके भी बड़े-बड़े शृण्णु-नुभितक भगवान्-से यही प्रार्थना करते हैं कि 'हे भगवान्! यदि आपकी अनुकूल हाँ न हो तो हम अपने साधनोंसे कर ही क्या सकते हैं; और हमारे हजार यज्ञ करनेपर भी वह हमारी 'साधना' पूरी ही कैसे हो सकती है?' यदि साधनोंपर ही सब कुछ निर्भर रहता तो फिर इनमें कानून देखनेकी क्या बात थी? किन्तु सभी 'पन्थों' का अन्त एक सिद्धान्तपर ही देखा जाता है कि चाहे तपस्या करिये, चाहे शानयोगका आश्रय लीजिये, चाहे मन्त्रोंपर निर्भर रहिये, चाहे यज्ञ-यागादि क्रियाकलाप कीजिये; जबसक उन कर्मोंपरसे स्वाभिमान हटाकर उन्हें भगवान्-के समर्पण न करेंगे, तबतक असीष्टपितृ नहीं हो सकती। चाहे उनके द्वारा उत्तम लोकादि प्राप्त करके कर्मफलशङ्कर्य होनेपर फिर श्वर-उत्तर भटकेनेका रासा, खोल लीजिये; किन्तु रक्षित (चैन) नहीं मिल सकता। परमहंसुचूडामणि श्रीशुकदेव मुनि कहते हैं—

'तपस्विनो दानपरा यक्षस्विनो'

मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलः।

क्षेमं न विद्वन्ति दिना यदर्थं

तस्मै सुभद्रश्वसे नमो नमः॥'

इसीलिये तो भगवदशानुसार अपने-अपने वर्ण और आश्रमके अनुकूल सब कुछ क्रिया-कलाप करके भी कल-प्राप्तिके लिये साधात्-साधन अन्तमें भगवान्-को ही मानना पढ़ा है। देखिये, कर्मकाण्डपर ही साधनाका बल रखनेवाली वैदिकादि विधियोंमें भी सब साधनोंके साधन अन्तमें भगवान् ही बन जाते हैं। इसीलिये तो वहाँ प्रार्थना की जाती है—

'मन्त्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं जनार्दनं।'

थकृतं तु स्या देव धृतिपूर्णं तदस्तु मे॥'

अन्यथा यह तो स्पष्ट ही असङ्गति है कि साधन-बलपर साधना आरम्भ होती है और साधनोंके बल-संहारपर उसका उपसंहार होता है।

शिष्योंका अवधार भी प्रमाणरूपमें देख लीजिये कि आजतकके सभी शानी-ध्यानी भक्त सम्पूर्ण साधनसम्पन्न होनेपर भी उनमें अभिमान वा भरोसा नहीं लाये। वे तो सदा अपनेको निःसाधन और दीन-दीन समझकर भगवान्-को ही अपना सब कुछ साधन मानते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं—

बैद न पुरान गान, जानौ न विम्मान म्मान,
ध्यान, धारना, समाधि, साधनप्रवैतता।
नाहिन विराम, जोग, जाग, भाग 'तुलसी' के
दया-दीन-दूरबोहे हैं, पाप ही की पीनता॥
लोभ-मोह-काम-कोह दोष-कोग मोसो कोन?
कलहूं जो सीख लई मैरिये मलीनता।
एक ही भरोसो राम रावरो कहावत हैं,
रावर दयालु दीनबंधु, मेरी दीनता॥'
हाँ, अभिमान नहीं करते सो नहीं। करते हैं और खूब
बदकर करते हैं कि सब पुण्यवानोंसे बदकर मैं हूँ। किन्तु
उसका तर्ज देखिये—

'जोग न विराम जप जग तप त्याग ब्रत,

तीरथ न धर्म जानौ बैद-विधि किमि है।

'तुलसी' सो पंच न भरो है, नहि हैं कहैं,

सोचै सब यकि अघ कैसे प्रभु छामिहै॥

मौ तो न छह रुद्रबीर ! सुनौ, सौंडी कहैं—

सल अनर्हैं तुम्हैं, सज्जन न गमिहै॥

मर्जे सुदृशीके संग मोहि तुलैं तौलिये तौ,

नाश के प्रसाद भार मेरी और नमिहै॥'

दयनिधानकी दयापर ही सब 'साधनों' का सामर्थ्य निर्भर मानकर उसका ही अवलम्बन अवताकके व्यवहारमें प्रचलित है। इन पङ्क्तियोंके इस तुच्छ लेखककी भी 'कवणा' कितै गई। इस समस्याकी पूर्ति इसी विषयपर है—

'उदधि अथाह बीच ग्राह सों सतयो जव,

दीन गजराज पै असीम करना भई।

गीथ गुहराज गलिना हूँ पै करी ही दया,

अधम अजामिलहूँ अगम गती लई॥

दुर्मद दुसासने दुसह दुवाई जव,

दुपदसुता यौं तव देही दीनतामई।

मेरी बेर घटी देह कैसे कै की है कालह !

करनानिशान ! तेरी करना कितै गई॥'

निवन्धनका सार यही है कि भक्तिमार्गका वास्तविक रहस्य सुगम नहीं। इसमें अनेक भेद और अनेक तत्त्व विचारणीय हैं, किन्तु 'भगवान्' ही साध्य हैं और भगवान् ही साधन हैं। यह सिद्धान्त बड़ा उच्च और गम्भीर है। इसे प्रत्येक विचारदील मार्मिक मानेगा, इसमें सन्देह नहीं।

'न हि भुक्ति मुक्ति न खलु यदुनायक याचामि।

भक्ति तव पदसरसिजे देहि शरणमुपयामि॥'

मधुर रसकी साधना

(लेखक—पूर्ण श्रीहनोरीप्रसादजी द्विवेदी)

‘मधुर’नामक भक्ति-रसके विचारका उत्त्यापन करते समय श्रीरूप गोस्वामीने भक्तिरसमृतसिन्धु अन्यमें लिखा है कि ‘आत्मोचित विभावादिद्वारा मधुरा रति जब सदाशय व्यक्तियों-के हृदयमें पुष्ट होती है, तब उसे मधुर नामक भक्तिरस कहते हैं। यह रस उन लोगोंके किसी कामका नहीं जो निवृत्त हों (अर्थात्, जैसा कि जीव गोस्वामीने इस शब्दका अर्थ किया है, प्राकृत शृंगार-रसके साथ इसकी समानता देखकर इस मायावत-रससे भी विरक्त हो गये हों), फिर यह रस दुरुह और रहस्यमय भी है; इसलिये यद्यपि यह बहुत विशाल और विताङ्ग है, तथापि संक्षेपमें ही लिख रहा हूँ ।’

‘आत्मोचितविभावाचैः पुष्टि भीत तत्त्व सत्त्वो हृदि ।
मधुरालयो भवेद् भक्तिरसोऽसौ मधुरा रतिः ॥
निवृत्तानुपयोगित्वाद् दुरुहत्वादयं रसः ।
रहस्यव्याच्च संक्षिप्त्य वितताङ्गोऽपि लिख्यते ॥’

गोस्वामिपादके इस कथनके बाद दुनियादारीके शंखटीयोंके हुए किसी भी मादाश व्यक्तिका इस रसके सम्बन्धमें लिखनेका सङ्कल्प ही दुःसाहस है। फिर भी यह दुःसाहस किया जा रहा है। क्योंकि पहले तो गोस्वामिपादने यद्यपि वहै कौशलपूर्वक इसकी दुरुहत्वाकी और ध्यान आङ्कृष्ट कर दिया है, परन्तु कहाँ भी ऐसा सङ्केत नहीं किया कि इस रस-की चर्चा निषिद्ध है; दूसरे, भक्तिशास्त्रकारोंकी और अनुरक्त भक्तजनोंकी चर्चा करते रहनेसे, ऐसा विधान है कि पहले अद्वा, फिर रति और फिर भक्ति अनुकमित होती है—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृकर्णरसायनाः कथाः ।
तज्जोषणादास्थपवर्गवर्त्मनि
भद्रः रतिभक्तिरनुकमिष्यति ॥
(श्रीमद्भागवत ३। २८।२५)

तीसरे, गोस्वामिपादने इसे उन लोगोंके लिये अनुपयोगी बताया है जो निवृत्त हों अर्थात् इस रसके साथ शृङ्गारका साम्य देखकर ही चिढ़क गये हों—उन लोगोंके लिये नहीं जो शृङ्गार-रसके साथ इसका साम्य देखकर ही इधर आङ्कृष्ट हुए हों। शास्त्रोंमें और इतिहासमें ऐसे अनेक भक्त प्रसिद्ध हो-

गये हैं, जो शलतीसे ही इस रससें आ पड़े थे और फिर जीवनका चरम लाभ पा लेनेमें समर्थ हुए थे। कहते हैं, रसतान और धनानन्द इसी प्रकार इस रससे आ गये थे, सूरदास और विल्वमङ्गल शलतीसे ही इधर आ पड़े थे और बादमें वे बया हो गये—यह जगदिदित प्रसङ्ग है।

इन पद्धतियोंके लेखकके समान ही ऐसे बहुत-से लोग होंगे जो साहित्य-चर्चाके प्रसङ्गमें दिन-रात रस्यादिक स्थायी भावों तथा विभाव-अनुभाव-सङ्कारीभाव और सात्त्विक भावोंकी चर्चा करते रहते होंगे या कर चुके होंगे। उन लोगोंको यह जान रखना चाहिये कि भक्तिमें केवल एक ही स्थायी भाव है—श्रीकृष्णाविषयक रति या लगन। अवश्य ही, भक्तोंके स्वभावके अनुसार यह लगन पाँच प्रकारकी हो सकती है—शान्त स्वभावकी, दास्य-स्वभावकी, सख्य-स्वभावकी, वात्सल्य-स्वभावकी और मधुर स्वभावकी। इन पाँचों स्वभावोंके अनुसार रति भी पाँच प्रकारकी होती है—शान्ता, प्रीता, प्रेयसी, अनुकम्पा और काला। जहाँतक जह जगत्का विषय है, इनमें शान्ता रति सबसे श्रेष्ठ है और फिर बाकी चार कमशः नीचे पढ़ती हुई अन्तिम रति कान्ताविषयक होकर शृङ्गार नाम ग्रहण करती है। जड़विषयक होनेपर यह सबसे निकृष्ट होती है। परन्तु जड़ जगत् है क्या चीज़ ? नन्ददासमें ठीक ही कहा है कि यह भगवान्मकी छाया है, जो मायाके दर्पणमें प्रतिफलित हुई है—

या जगकी परङ्गाहं री माया दरपन वीच ।

अब अगर दर्पणकी परङ्गाहकी जाँच की जाय तो स्पष्ट ही मालूम होगा कि इसमें छाया उलटी पढ़ती है। जो चीज़ ऊपर होती है, वह नीचे पढ़ जाती है और जो नीचे होती है, वह ऊपर दीखती है। ठीक यही अवश्या रतिकी हुई है। जड़ जगत्में जो सबसे नीचे है, वह भगवद्विषयक होनेपर सबसे ऊपर हो जाती है। यही कारण है कि शृङ्गार-रस, जो शृङ्गार नहीं कहा जा सकता। केवल ब्रज-सुन्दरियोंके लिये शृङ्गार और मधुर एक रस हैं; क्योंकि उनके

लिये काम और प्रेममें भेद नहीं है। भक्तिरसामृतसिन्धुमें कहा गया है कि गोपरमणियोंका प्रेम ही काम कहा गया है—

प्रेमैव गोपरामणां काम हृत्यगमत् प्रथाम् ।

कारण स्पष्ट है—जडविषयक अनुरागको 'काम' कहते हैं और भागविषयक अनुरागको 'प्रेम'। ब्रजसुन्दरियोंकी सारी कामनाके विषय 'असमानोच्चतीन्दर्यलीलावैद्यसम्पदाम्' आश्रयस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण थे और इसीलिये उनके कामोंको जडविषयक कहा ही नहीं जा सकता। गीतोचिन्दमें कहा गया है कि 'हे सखि, जो अनुराजनके द्वारा समस्त विषयका आनन्द उत्पादन करते हैं, जो इन्द्रीवर-श्रेणीके समान कोमल स्यामल अङ्गोंसे अनज्ञोत्स्वका विस्तार कर रहे हैं तथा ब्रज-सुन्दरियोंद्वारा स्वच्छन्द भावसे जिनका प्रत्येक अङ्ग आलिङ्गित हो रहा है, वही भगवान् मूर्तिभान् शृङ्गारकी भाँति मुख होकर वसन्त-मृतुमें विहार कर रहे हैं—'

विषेशामनुराजनेन जगत्यानन्दमिन्दीवर-
भ्रेणित्यामलकोमलैरुपनयक्षरेनक्षेस्ववम् ।
स्वच्छन्दं ऋजुन्दरीभिरभितः प्रत्यक्षमालिङ्गितः
शृङ्गारः सखि मूर्तिभानिव भवौ मुखो हरिः क्रीढति ॥

सो यहीं भगवान्, जो साक्षात् शृङ्गारस्वरूप है, मधुर रसके प्रधान अवलम्बन हैं। इनकी ऐवासियों वे परम अमृत किशोरियाँ हैं, जो नव-नव उल्काएँ माधुरीकी आधारस्वरूप हैं, जिनके अङ्ग प्रत्यक्ष भगवान्के प्रणय-तरङ्गसे करभित हैं और जो रमणरूपसे भगवान्का भजन करती हैं—

नदनववरमाधुरीधुरीणः
प्रणयतरङ्गकरमित्यतङ्गरङ्गः ।
निजरमणतया हरिं भजन्तः
प्रणमत ताः परमाङ्गताः किशोरीः ॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

इन ब्रजसुन्दरियोंमें भी सर्वश्रेष्ठ राधारानी हैं, जिनके लोचन मरमत चकोरीके लोचनोंकी चालाका हरण करनेवाले हैं, जिनके परमाङ्गादन घदनमण्डलने सूर्पिमाके चन्द्रकी कमनीय कीर्तिका भी दमन किया है, अदिकल कलघोत (स्वर्ण) के समान जिनकी अङ्ग-श्री सुशोभित है, जो मधुरिमाकी साक्षात् मधुपात्री हैं—

मदचकुटचकोरीचाहतचौररादि-

बैद्यन्तरमितराकरोहिणीकाल्पकीर्तिः ।

अचिकलक्षणीतोद्भूतिपैरेयकश्री-

मधुरिममधुपात्री राजते पश्य राधा ॥

जडादिविषयक शृङ्गारादि रसके साथ हस अनिर्वचनीय मधुर रसका एक और मौलिक अन्तर है। अलङ्कारशास्त्रमें विवृत शृङ्गारादि रस केवल जडोन्मुख ही नहीं होते, उनके भावकी स्थिति भी जडमें ही होती है। अलङ्कारशास्त्रमें बताया गया है कि शृङ्गारादि रसोंके रत्यादि स्यायीभाव संस्काररूपसे मनमें स्थित होते हैं। यह संस्कार या वाचना पूर्वजन्मोपार्जित भी होती है और इस जन्मकी अनुभूति भी हो सकती है। अब आत्मा तो नहीं सकते; फिर स्यायी भावके संस्कार आते कैसे हैं? इसका उत्तर शाखोंमें हस प्रकार दिया गया है कि आत्माके साथ सूक्ष्म या लिङ्गशरीर भी एक शरीरसे दूसरोंमें संकेतित होता है। इस सूक्ष्मशरीरमें ही पाप-पुण्य आदिके संस्कार रहते हैं। बृहदारण्यक-उपनिषद्में कहा गया है कि यह आत्मा विश्वान, मन, श्रोत्र, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, तेजस्, काम, अकाम, क्रोध, अक्रोध, धर्म और अधर्म इत्यादि सब लेकर निर्गत होता है। यह जैसा करता है, वैसा ही भोगता है—

स वायभास्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्च-
धुर्मयः श्रोत्रमयः पृथ्वीमय आपोमयो वायुमय आकाश-
मयस्ते जोमयः कामस्मयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो
धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयस्तथादेतत्विद्यमयोऽद्यमय इति
यथाकारी यथाकारी तथा भवति। साधुर्भवति, पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः
पापेन। (बृहदारण्यक० ४ । ४ । ५)

संख्यकारिकामें करीब-करीब इन सभी आतोंको लिङ्ग-शरीर कहा गया है। यत्तया गया है कि प्रकृतिके तेईस तत्त्वोंमें से अन्तिम पांच तो अत्यन्त स्थूल हैं, पर आकृती अठारहों तत्त्व मूल्यके समय पुरुषके साथ-ही-साथ निकल जाते हैं। जबतक पुरुष ज्ञान प्राप्त किये दिना मरता है, तबतक वे तत्त्व उसके साथ लो होते हैं (स०० का० ४०)। अब यह तो स्पष्ट ही है—प्रथम तेरह अर्थात् बुद्धि, अलङ्कार, मन और दोषों शैनिय प्रकृतिके गुणमात्र, अतः सूक्ष्म हैं; उनकी स्थितिके लिये किसी स्थूल आधारकी जरूरत होगी।

पञ्चतन्मात्र इसी स्थूल आधारका काम करते हैं। उपनिषदोंमें इसी बातको और तरहसे कहा गया है। आत्माका सबसे ऊपरी आवरण तो यह स्थूलदेह है। इसे उपनिषदोंमें अन्नमय कोष कहा गया है। दूसरे आवरण क्रमशः अधिक सूक्ष्म हैं; उनमें प्राणमय, ज्ञानमय और आनन्दमय कोष हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि स्थूलशारीरकी अपेक्षा प्राण सूक्ष्म हैं, उनकी अपेक्षा मन, उसकी अपेक्षा बुद्धि और इन सबसे अधिक सूक्ष्म आत्मा है। भगवान्‌ने गीतामें इसी बातको इस प्रकार कहा है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरनिद्रयेभ्यः परं मनः ।

मनस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥

वेदान्तशास्त्रमें कई प्रकारसे यह बात बतायी गयी है। कहीं इसके सत्रह अवयव बताये गये हैं—पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि, मन और पाँच प्राण (वेदान्तसार १३); फिर आठ पुरियोंका उत्तरेश है (सुरेश्वराचार्यका पञ्चीकरण-वार्तिक) —जिनमें पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अङ्गकार, चित्त, पाँच प्राण, पाँच भूतसूक्ष्म (तन्मात्र) अविद्या, काम और कर्म हैं। ऐसे ही और भी कई विधान हैं। इनका शास्त्राकारोंने सम्बन्ध भी किया है (वेदान्तसार १३ पर विद्वन्मनोरञ्जनी टीका)। यहाँ प्रकृत यह है कि स्थायी भावोंके संस्कार इसी लिङ्गशारीरमें ही सकते हैं। वह चूँकि जड़ है, इस लिये उसकी प्रशुति जडोन्मुख होती है। अलङ्कारशास्त्रोंमें यह बार-बार समझाया गया है कि रस न तो कार्य है और न ज्ञाप्य। क्योंकि कार्य होता तो विभावादिके नष्ट होनेपर नष्ट नहीं हो जाता, कारणके नष्ट होनेसे कार्यका नष्ट होना नहीं देखा जाता—स च न कार्यः, विभावादिविनाशेऽपि तत्य सम्भवप्रसङ्गात् (काव्यप्रकाश ४८७ उल्लास)। परन्तु मधुर रस आत्माका धर्म है, यह स्थूल जड़ जगत्की बल्तु नहीं है। उसके विभावादिका कभी विलय नहीं होता, इसलिये उसके लिये सम्भवसम्भव-प्रसङ्ग उठता ही नहीं।

रस कई प्रकारके हैं। सबसे स्थूल है अन्नमय कोषका आस्ताद्य रस। रुदनादि इनिद्रियोंसे उपभोग्य रस अत्यन्त स्थूल और विकारप्रणाल है। इससे भी अधिक सूक्ष्म है मानसिक रस अर्थात् जो रस मनन या चिन्तनसे आवाय है। उससे भी अधिक सूक्ष्म है विज्ञानमय रस, जो बुद्धिद्वारा आस्ताद्य है; पर यह भी जितना भी सूक्ष्म कर्यो न हो,

सूक्ष्मतम आनन्दमय रसके निकट अत्यन्त स्थूल है। आत्म जिस रसका अनुभव करता है, वही सर्वश्रेष्ठ भक्ति-रस है; जिसका नाना स्वभावोंके भक्त नाना भावसे आसादन करते हैं। मधुर रस उसीका सर्वश्रेष्ठ स्वरूप है। स्पष्ट ही है कि इसकी ठीक-ठीक धारणा इनिद्रियोंसे तो हो ही नहीं सकती, मन और बुद्धिसे भी नहीं हो सकती। वह न तो चिन्तनका विषय है न बोधका। वह अलौकिक है। इसलिये भक्तिशास्त्रने इसके अधिकारी होनेके लिये बहुत ही कठोर साधनाका उपदेश किया है। रूप गोस्त्रामीने इसलिये इसे दुरुह कहा है। श्रीचैतन्य महाप्रभु कहते हैं—तुमसे भी सुनीच होकर, बृक्षकी अपेक्षा भी सहनशील बनकर, मान त्यागकर, दूसरेको समान देकर ही हरिके लेवा की जा सकती है—

तुच्छादपि सुनीचेन तरोरपि सदिष्युना ।

अमानिना मानदेन सेवितव्यः सदा हरिः ॥

इन्द्रिय, मन और बुद्धिका सम्पूर्ण निप्रह और वशीकरण जबतक न हो जाय, तबतक इस सुकृमा भक्तिक्षेत्रमें आनेका अधिकार नहीं मिलता। लोक-परलोकके विविध भेगोंकी और मोक्षमुखलकी कामना जबतक सर्वथा नहीं मिट जाती, तबतक इस मधुर प्रेमराज्यकी सीमाके अंदर प्रवेश ही नहीं हो सकता। इसीसे यह सिद्धान्त बतलाया गया है—

सुकिञ्चित्सुहृदा यावद् विशाची हृदि वर्तते ।

तावद् प्रेमसुखस्थानं कथमसुदृश्यो भवेत् ॥

जबतक भेग और मोक्षकी विशाचिनी इच्छा हृदयमें बर्तमान है, तबतक प्रेम-सुखका उदय कैसे हो सकता है?

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—अस्त् शास्त्रोमें आसक्ति, जीविकोपार्जन, तर्कवादप्रकाशभ्यग, शिष्यानुबन्ध, बहुप्रस्थाभ्यास, व्याख्योपेतोग, सहानुआरम्भ—ये सब भक्ति चाहनेवाले के लिये बर्जित हैं—

नासच्छास्त्रेषु सज्जेत नोपजीवेत जीविकाम् ।

वादवादादंस्त्वयेत्कान् पक्षं कं च न संश्वेद् ॥

न शिष्यावनुबन्धीत अन्याचैवाभ्यसेद्वृहून् ।

न व्याख्यासुपञ्चोत नासम्भानारभेत् कवित् ॥

(श्रीमद्भा० ७। १३। ८०७)

इन बातोंके लिये शास्त्रकारोंने बहुतसे उपाय बताये हैं, जो न तो इस द्वुद प्रबन्धमें बताये ही जा सकते हैं और ज

अनपिकारी लेखनीके साथ ही हैं। इसीलिये इस चर्चाको और आगे नहीं बढ़ाया गया। जब तारा अभिमान और अहङ्कार दूर हो जायगा, शान और पण्डित्य शान्त हो रहेंगे, तब वह परमाराध्य जिसकी नर्तमान भ्रूलताके कारण मुखश्री अत्यन्त मधुर हो उठी है, जिसका कण्ठाभाव अशोक-कलिका-से विभूषित है, ऐसा कोई नवीन निकष-प्रस्तरके समान

वेशवाला किशोर वंशीरक्षसे मन और कुदिको बैवर कर डालेगा—

अच्छितापद्मकल्पमधुरननक्षी:
कहेलिक्षेरककरम्बतकर्णपूरः ।
कोऽवं नवीननिकषोपक्षतुल्यवेषो
वंशीरवेष सखि मामवशीकरोति ॥

—३५४—

प्रेम-साधन

(लेखक—म० प्रेमप्रकाशजी)

भगवत्प्राप्तिके अनेक साधनोंमें प्रेम-साधन एक मुख्य साधन समझा जाता है। ईश्वरके प्रति परमानुराग ही प्रेम है। किन्तने ही संतों और भृत्योंने प्रेमको ही साधन और साध्य माना है। देवर्षि नारदने 'स्वयं फलस्पतेति ब्रह्मकुमारा' (ना० भा० सू० ३०) कहकर सन्त्-कुमारादिके मतानुसार प्रेमको स्वयं फलस्पत बताया है। वह प्रेम कर्म, शान और योगसे भी ब्रेष्टतर है 'सा तु कर्मशानयोग्योऽप्यथिकतरा' (ना० भा० सू० २५) ।

प्रेमकी प्राप्ति विशेषकर महापुरुषोंके कृपा अथवा भगवत्पूर्णपक्षके लेशमानसे होती है—'मुख्यतस्य महत्कृपैव भगवत्पूर्णलेखादा'। प्रेमका रूप वास्तवमें तो अनिवार्यनीय है, परन्तु उसके लक्षणोंका अनुभव शान्ति और आनन्दसे हो सकता है। प्रायः अनन्यप्रेमी भक्तोंको भगवान्के नामोंको सुनते ही कण्ठावरोध, रोमाञ्च और अश्वाप्राप्त होने लगता है। कीर्तनसे भी वह प्रेम शीघ्र प्रकट होता है—'स कीर्त्यमानः शीघ्रमेवादिर्भवति, अनुभावयति च भक्तान्।' परमहंस रामकृष्ण कहा करते थे—'कलियुगमें नारदीय भक्ति सार है। ईश्वरका नाम-गुण-गान करने और व्याकुल चित्तसे प्रार्थना करनेपर परमात्माकी प्राप्ति होती है।'

(गोपी या राधा-प्रेमकी एक भी बैंद किसीमें हो तो उसका क्षय कहना है ! उक्ता अनुराग केवल सोलह आने नहीं, बल्कि बीत आने है। इतीका नाम प्रेमोन्माद है। यदि पापल होना है तो संसारकी वस्तुके लिये क्यों पापल हो ? यदि पापल होना है तो ईश्वरके लिये हो !) (श्रीश्री-रामकृष्ण-कथामृत १ । १० । ४)

समस्त प्रेमोंमें गोपी-प्रेम अथवा श्रीराधा-प्रेम सर्वोत्तम समझा जाता है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य—इन पाँच प्रकारके प्रेमोंमें माधुर्य रस ही सर्वोत्तम है और यह माधुर्य-प्रेम श्रीभूषणमधुरुता श्रीराधार्जीमें ही पूर्णरूपसे मिलता है। श्रीराधार्जी ही माधुर्यरसाधिकारी महादेवी हैं। इन्हींकी कृपासे माधुर्य प्रेम ग्रास हो सकता है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्षसे भी बढ़कर प्रेम है। प्रेम पञ्चम पुरुषार्थ है। भगवान्-को दृष्टिमें करनेका एकमात्र उपाय प्रेम ही है। भगवान्-श्रीकृष्ण प्रेमी भक्तोंके अधीन हैं। 'अहं भक्तप्राचीनः' कहकर भगवान्ने दुर्वासा ऋषिको प्रेमी भक्त अम्बरीषके वास लौटा दिया या। जिस प्रेममें किसी प्रकारकी वासना नहीं रहती, साधक केवल अपने प्रियतमके सुखमें ही सुखी रहता है तथा अपना कुछ भी अहङ्कार नहीं रखता, वही प्रेम माधुर्य-रसका है और उसे ही पूर्ण प्रेम कहा जाता है। उस स्थितिमें साधक और साध्य दोनों एकलूप हो जाते हैं। प्रेमी, प्रेम अथवा प्रियतममें कुछ भेद नहीं रह जाता (तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्)। गोस्खामी तुलसीदासजी श्रीरामचरितमानसमें उसी सहज प्रेमका इच्छकार वर्णन करते हैं—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कद्यु तुम्ह सन सहज सनेहु ।
बसहु निरंतर तासु मन सो रातर निज मेहु ॥

श्रीचीतारामका निरन्तर वास उसी प्रेमी भक्तके हृदयमें रहता है, जिसे कोई आशा नहीं रहती और जो प्रेमके अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता। वही प्रेमी भक्त सहज सनेहका पात्र हो सकता है।

अगर कोई नाता भगवान् राम मानते हैं तो वह एक प्रेममत्किका ही सम्बन्ध है। भगवान् रामने भक्तिमती शब्दोंसे कहा है—

कह रघुपति सुनु भासिनि बाता । मालँ एक भासित कर नाता ॥
(रा० मा०)

श्रीरामको केवल प्रेम ही अच्छा लगता है—
रामहि केवल प्रेम पिभारा । जानि लेउ जो जानिहारा ॥
(असोध्या० रा० मा०)

वह प्रेम यिना अनुरागसे प्राप्त नहीं होता अथवा श्रीरघुनाथजी यिना अनुरागके कभी नहीं मिलते—चाहे जितना ही सावध योग, जप, शान, विरागका अभ्यास करे—

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा । किं० जोप जप स्थान विरागा ॥
एक प्रेमके कारण ही एक परमात्मा नानारूपमें स्वयं व्यक्त हो गया है। अकेले रमण नहीं किया जा सकता, इसलिये परमात्मा या भगवान् या ब्रह्म स्वयं अपने भक्तोंमें ही मिल सकता है।

एकाकी न रमते । स द्वितीयमैच्छृ॒ । (श्रुति)
रस अथवा प्रेम ही आनन्द है। यह सिद्धान्त अनुभव करके प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। भगवती श्रुति भी यही कहती है—

स्त्रो चै सः । रसं श्वेताखं लङ्घ्वाऽऽनन्दी भवति ।
परमात्मा सर्वव्यापक रहते हुए भी उसका अनुभव प्रेमसे ही किया जा सकता है। भगवान् शंकर कहते हैं— हरि व्यापक सर्वत्र समाना । प्रेम ते प्रणट हैंहि॒ मै जाना ॥
(रा० मा०)

जगद्विस्थात संत कवेर साहब अपना विचार इस प्रकार प्रकट करते हैं—

योगी पढ़ि॑ पढ़ि॑ जम मुआ, पड़ि॑ भया न काय ।
दाइ॑ अक्षर 'प्रेम' का पढ़ै, सो पड़ि॑ होय ॥
पूर्ण प्रेममें विद्य-निषेध नहीं रहता, वह परम स्वतन्त्र है। श्रीमी लोकसंग्रहके लिये नियम और प्रेम दोनों पालन कर सकता है, परन्तु उसके लिये निजी कोई कर्तव्य नहीं रहता।

नेमु प्रेमु संकर कर देखा । अविचक हृदये मसाति कै रेखा ॥
(रा० मा०)

प्रेमी भक्तके अधीन शान और विशान हैं। श्रीराम-चरितमानसमें स्पष्ट कहा गया है—

सो स्वतन्त्र अकर्त्त्वं न जाना । तेहि आदीन स्थान विश्वासा ॥
एक अपेक्षिक देवी एलेन जी, हाइट (Mrs. Ellen G. White) ने लिखा है कि प्रेम ही ईश्वर है और प्रेम ही जीवनी शक्ति है—(God is Love and Love is Life.)

सबसे सीधा मार्य भगवत्प्राप्तिका यदि कोई है तो वह प्रेममार्य ही है। श्रीउद्धवजीको गोपिकाओंने इस प्रकार कहा था—

'कौन प्रद्युम्न को जोति स्थान कासों कही ऊँचो ।
हमर सुदर स्थाम प्रेमको मारग सूरी ॥'
'कौन जोग जोग हम नाहीं ।
जेहि लगि जोती समस्त भूरे, सो तो है अपु भाहीं ।'

ऐसे विचारोंको सुनकर उद्धवका शानका अहंकार नष्ट हो गया और उन्होंने यह समझ पाया कि शानके परे एक पूर्ण प्रेमकी अनिवार्यनीय दशा भी है।

प्रेमी भक्तकी किसी साधनाकी आवश्यकता नहीं रहती। वह तो स्वयं सिद्धोंका चिद्र रहता है और वह देनेवालोंको वर देनेवाला होता है।

महाराज जनक श्रीभरतजीके प्रेमभावसे सुख होकर कहते हैं—

साधन सिद्धि राम-प्यम नेहू । मोहि लक्षि परत भरत मत एहू ॥
(रा० मा०)

'श्रीरामजीके पदोंका नेह ही साधन और सिद्धि है— यही श्रीभरतजीका सिद्धान्त है।

मरत सरिस को राम सनेही । जगु जप राम रामु जप जेही ॥
(रा० मा०)

श्रीकबीर साहबने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि राम-सनेही सदा अमर है—

'सून्य मैरे, अजपा मैरे, अनहृद हूँ मरि जाय ।
राम सलेही ना मैरे, कह कबीर समुक्षाय ॥'
(बीजक कवीरदास—विष्णुताथ-टीका)

भगवान्मने प्रेमी भक्त देवर्षि नारदसे कहा है कि मैं
खदा प्रेमी भक्तोंके मध्यमें ही मिलता हूँ—

माहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च ।
मञ्जरका यत्रा गायत्रि सत्र तिष्ठामि नारद ॥

'वैकुण्ठमें चाहे मैं न रहूँ, अथवा योगियोंके हृदयमें
भी मेरा पता न लगे; पर जहाँ मेरे प्रेमी भक्त मेरे गुणोंका
गान करते हैं, वहाँ तो मैं अवश्य रहता ही हूँ ।'

श्रीकृष्णभक्ति—प्रेमा-भक्ति, पूर्ण भक्ति अथवा श्रीराधा-
कृष्ण-प्रेम या पराभक्ति तो हजारों जन्मोंतक तपस्या, ध्यान,
समाधिके निरन्तर अभ्यासके बाद प्राप्त होती है—

'जन्मान्तरसहस्रेण तपोद्यानसमाधिभिः ।
नरणां छीणपापानां कृष्ण भक्तिः प्रज्ञायते ॥
अविरल भक्ति विसुद्ध तत्, भूति पुरान जेहि गाव ।
जेहि खोजत जोगीस मुनि, प्रसु प्रताप कोठ पाव ॥'
(रा० मा०)

प्रेमाभक्तिका मिलना भगवान् श्रीकृष्ण या भगवान्
श्रीराम अथवा भगवान् श्रीशिवकी कृपापर ही निर्भर है ।

'भक्तिनिष्ठा तदा ज्ञेया यदा कृष्णः प्रसीदिति ।'
श्रीउत्तरलाचार्यजी भक्त-प्रेमके सम्बन्धमें इस प्रकार
लिखते हैं—

भक्तिलक्ष्मीसमृद्धानां किमन्यदुपश्याचित्तम् ।
पृत्या वा दिविष्णो किमन्यदपश्यचित्तम् ॥
(नारद)

अर्थात् 'परमात्माकी प्रेमाभक्तिलक्ष्मी लक्ष्मीसे समृद्ध
लोगोंको क्या चाहिये ? कुछ नहीं । परमेश्वरकी
दावता सम्पत्तिकी पराकाष्ठा है और इस सम्पत्तिसे रहित
हृतभाग्य पुरुषोंको और छोड़ना क्या है ? इस सम्पत्तिके
न होनेलए दारिद्रश्वरे पिण्ड छुड़ाना ही सत्ये बड़ा कर्तव्य
और पुरुषार्थ है ।'

प्रेमी संत और सत्य भगवान्में कुछ भी अन्तर नहीं है ।
प्रेमी संत भगवान् ही हैं—

'संत भगवंत अंतर निरंतर नहीं
किमपि मतिमहिन कह दास तुकसी ।'
(विनयरत्निका)

'कन्दनयोग' से भी भगवान्का अनन्य प्रेम प्राप्त
हो सकता है । परम विरहास्तिका भाष इस कन्दने प्रकट
होता है—

'चित्त रत होत प्रालयारम्भे निरत है कै,
होत मन सोधक विघ्नत सार छनमे ।
रोमहर्षे लोक शुङ्गालाट हृदय धोति,
भेद दंड स्पंदन प्रकांप होत तनमे ॥
तीन है समाधिमे विसरि अपनायै जल,
या सी बड़े और कौन जोग सोनौ मनमे ।
राज हठ मकि तीनों जोग सधि जात ऊधौ,
एक मनमोहन वियोगके रुदनमे ॥

प्रेमी भक्तके भगवान् अधीन हैं और ज्ञानसे
आगम्य हैं—

'ज्ञानेर असम्य तुमि, प्रेम ते भिलारी,
द्वारे द्वारे माग भेम नमने ते चारी ।'
(विदेशके साधन-तीर्थ केन्द्रविवरमें बाउल-गान)

अर्थात् 'तुम ज्ञानके अगम्य हो पर प्रेमके भिलारी
हो । तुम सजल-न्यन होके प्रेम-भीख माँगते निरते हो ।'
प्रागमार्ग क्यों मधुर है ? यह समझानेके लिये कृष्णदासने
कहा है—

'राम-मणों भजे थेन लालि धर्म-कर्म,
अतपव मधुर रस कदि तार नाम ।'
अर्थात् 'भक्त धर्म-कर्म छोड़कर रागमार्गसे भजन करता
है । अतपव इस रसका नाम मधुर है ।'

जिसके लिये प्रेम स्वाभाविक हो जाता है, वह छिपाये भी
नहीं छिपता—

प्रेम छिपाये ना छिपै, जा घट परगट होय ।
जबपि मुख बैलै नहीं, नैन देत हैं रोय ॥
(कबीर)

वह प्रेम स्वयं ही स्वामी है—
सब घट भेरा साहायैं, सूना घट नहीं कोय ।
बलिहारी वा घट की, जा घट परगट होय ॥
(कबीर)

‘प्रकाशते क्वापि पात्रे’ (न०० भ० स०) — परन्तु वह प्रेम किसी विरले पात्रमें ही प्रकट होता है। भगवान् के नामके प्रेमको ही भगवान् कहते हैं और हरि-सरण ही हरि-मिलन है। उस परमालमाकी कोई खास प्रतिमा नहीं है। उसके नामका बहु यथा है—

‘न तस्य प्रतिमास्ति यस्य नाम भवेष्यतः।’

(यजु: ३२।३)

पूर्ण प्रेमके प्राप्त हो जानेपर सन्ध्यादि साधन-कर्म छूट जाते हैं। श्रीजीव गोत्यामीने कहा है—

हृदयकार्ये चिदानन्दं सुदर्भाति निरन्तरम् ।
उद्यास्तं न पश्यामः कथं सन्ध्यासुषाप्तमहे ॥
सद्भक्तिदुहिता जाता माया भायो मृतानुना ।
अशौचद्वयभास्तोति कथं सन्ध्यासुषाप्तमहे ॥

प्रेमका रसास्वादन गैंगेके गुड़की तरह है। ‘मूका-स्वादनवक्तृ’—देवर्षि नारद कहते हैं। यह अनिर्वचनीय है—‘अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूपम्।’ गुरु नानकके मन्यसाहन-में एक दोहा इस प्रकार आया है—

हरि सम जप्ते वसु नहि, प्रेम पंथ सम पंथ ।
सदगुरु सम सज्जन नहीं, भीता सम नहि पंथ ॥

प्रेमी भक्त और प्रेमपूर्ण भगवान् दोनों अवन्त और अपेक्ष हैं।

भगवान् कृष्ण अपने प्रेमी भक्तका योगक्षेमका भार ल्यं अपने ऊपर ले लेते हैं—

अनन्याशिष्वन्तवस्थो मा ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्यभियुक्तानां योगक्षेमं बहाम्यहम् ॥

(गीता ९।२२)

प्रेमी भक्तको नित्य शान्ति रहती है और उसका कर्मी नाश नहीं होता—

क्षिं भवति धर्मस्या शक्त्वाभ्युत्तिं निगच्छ्वति ।

कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणवत्यति ॥

(गीता ९।३१)

प्रेमी भक्तमें भगवान् श्रीकृष्ण रहते हैं और भक्त भगवान् श्रीकृष्णमें रहता है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।

ये भजन्ति तु मां भवत्या समि ते तेषु चाप्यहम् ॥

(गीता ९।२९)

अब प्रमुकराकर्तु यहि मैंती। सब तजि भजन्तु करौं दिन राती॥

इस प्रकारके भावकी प्रेमभिक्षा भगवान् और उनके प्रेमी भक्त देनेकी कृपा करें तो तुरंत अचल शान्ति और अनन्द प्राप्त हो जाय।

नामका प्रकाश

दीपक बारा नाम का महल भया उजियार ॥
महल भया उजियार नाम का लेज बिराजा ॥
सब्द किया परकास मानसर ऊपर छाजा ॥
इसो दिसा भई सुख बुझ भई निर्मल साची ।
लुटी कुमति की गाँठ सुमति परगट होय नाची ॥
होत छतीसो राम दाग तिर्गुन का छूटा ।
पूरन प्रगटे भाग करम का कलसा फूटा ॥
पलटू अंधियारी मिटो बाती दीन्ही टार ।
दीपक बारा नाम का महल भया उजियार ॥

संस्कार-साधना

(लेखक—डॉ श्रीराजवलीजी वाणिडेव, पम्० ए०, डि० लिट्.)

भारतीय शास्त्रकारोंने जीवनका एक ध्येय निश्चित किया था और उसके पहुँचनेके लिये अनेक साधनोंका आविष्कार । संस्कार भी एक इसी प्रकारका साधन है । उन्होंने जीवनकी सामग्रियोंको दो भागोंमें बांटा है । एक तो वह जिसको लेकर मनुष्य उत्पन्न होता है; दूसरी वह जिसका सञ्चय वह अपने वर्तमान जीवनमें परिवर्तियोंके अनुकूल करता है । शास्त्रकारोंका मत है कि नवजात शिशुका मस्तिष्क कोरी पट्टीके समान नहीं है, जिसपर विलुप्त नया लेख लिखना है; इसके बिन्दू इसपर उसके अनेक पूर्वजन्मोंके तंस्कार अङ्गित हैं । साथ-ही-साथ उनका यह भी विश्वास है कि नवीन संस्कारोंद्वारा सुराने संस्कारोंको प्रभावित, उनमें परिवर्तन, परिवर्द्धन और उनका उन्मूलन भी किया जा सकता है । प्रतिकूल संस्कारोंका विनाश और अनुकूल संस्कारोंका निर्माण ही साधकका प्रयास है ।

संस्कार क्या है ? इसको केवल बाहरी धार्मिक आदानप्रद समव्याप्ति भूल है । इसमें बाहरी कृत्य अवश्य हैं, किन्तु ये आन्तरिक आध्यात्मिक सौन्दर्यके बाह्य दृष्टरूप हैं और इसीमें संस्कारकी महत्ता है । आध्यात्मिक जीवनसे विच्छेद होनेपर ये मूल अधिकारिकारके समान हैं, जिसमें गति और जीवन नहीं हैं । 'संस्कार' शब्दका प्रयोग कई अर्थोंमें किया गया है । कौशिकी^१, छात्यराग^२ और वृद्धारण्यकादि^३ उपनिषदोंने इसका प्रयोग (संस्करणीति) उत्पत्ति करनेके अर्थमें किया है । महर्षि पाणिनिने इस शब्दका प्रयोग तीन विभिन्न अर्थोंमें किया है—(१) उत्कर्ष करनेवाला (उत्कर्षसाधनं संस्कारः), (२) समवाय अथवा संचात और (३) आभूषण । ब्राह्मण और सूक्ष्म-ग्रन्थोंने 'संस्कार' शब्दका व्यवहार यशकी सामग्रियोंको पवित्र करनेके अर्थमें किया है । बौद्ध चिपिटकोंमें निर्माण, आभूषण, समवाय, प्रकृति, कर्म और स्कन्धके अर्थमें इस शब्दका प्रयोग पाया जाता है । बौद्धदर्शनने संस्कारको भवचक-

की बारह शृङ्खलाओंमें से एक माना है । हिन्दूर्धनीमें इसका प्रयोग कुछ भिन्न अर्थमें हुआ है । यहाँ संस्कारका अर्थ भौम्य पदार्थोंकी अनुभूतिकी छाप है । हमारे अव्यक्त मनपर जितने अनुभवोंकी छाप है; अनुकूल अवसर, पानेपर उन सबका पुनरावर्तन होता है । इस अर्थमें संस्कार 'वासना' का पर्यावाची है । अद्वैतवेदात्मतमें आत्माके ऊपर मिथ्या अध्यास-के रूपमें संस्कारका प्रयोग हुआ है । वैदेविकोंने चौबीस गुणोंमेंसे इसको एक माना है । संस्कृत-साहित्यमें बड़े व्यापक अर्थमें 'संस्कार' शब्द व्यवहृत हुआ है—'दिक्षणैः, चमक, सजावट, आभूषणैः, छाप, आकार, सॉचा, क्रिया, प्रभाव-स्मर्तिैः, पावक कर्म, विचार, धारणा, पुण्यादिैः । धर्मशास्त्रियोंने मानवजीवनको पवित्र और उच्छृष्ट बनानेवाले समय-समयपर दीनेवाले, घोड़श धार्मिक इत्योंको संस्कार माना है । प्रायः हरी अर्थमें 'संस्कार' शब्दका प्रयोग किया गया है । संस्कारमें अनेक प्रकारके भावों और अर्थोंका समावेश है । इसीलिये किन्तु विद्वानोंने इसको एक विचित्र अनिवार्यनीय पुण्य उत्पन्न करनेवाला धार्मिक कृत्य कहा है^४ ।

धर्मशास्त्रियोंने जीवनका ध्येय आध्यात्मिक निश्चित किया है; किन्तु उनकी यह भी धारणा है कि शरीर धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका साधन है । इसलिये वे आत्माके पुजारी होते हुए भी शरीरकी अवहेलना नहीं करते । इसके विपरीत वे शरीरको आत्माके अवतरण और प्रकाशके लिये योग्य माध्यम बनाना चाहते हैं । इनका मर्म घोर भौतिकवादियों और एकान्त निवृत्तिमार्गियोंके बीचका है । भौतिकवादी शरीरको ही मानवजीवनका सर्वस्व समझते हैं ।

१. अविद्या, संस्कार, विद्वान, नामरूप, षडायतन, रथशै, वेदाना, तृष्णा, उपादान, भद्र, जाति और जरा-मरण ।

२. निसर्गसंस्कारविनीत इत्यस्ती नृपेण चक्रे युवराजशब्दमात् । (खुदेश ३ । ३५)

३. स्वमावसुन्दर वस्तु न संस्कारमयेष्टते । (शकुलता ४ । २३)

४. संस्कारजन्यं जानं स्मृतिः । (तर्कसंग्रह)

५. फलमुनेया: प्रारम्भः संस्कारः: प्राक्तना इव । (रघुवंश ५ । २०)

६. आरम्भारात्मतरनिष्ठो विद्वितक्षियाजन्योऽतिशयविशेषः संस्कारः । (वीरभिंशोद, संस्कारप्रकाश, भाग १, पृष्ठ १२२)

१—२.६

२—४.१६. २, ३, ४

३—६.३.१

४—६.१, १३७

प्राणायामकी महिमा सभी जानते हैं। शारीरिक स्वास्थ्यकी कृदि, पाप-वासनाओंकी निवृत्ति और चश्चलताको दूर करनेके लिये यह अनुरुत उपाय है। जिसका प्राण बशमें है, उसका मन और वीर्य भी बशमें है। यह प्राणायाम समन्वयक होनेके कारण और भी लाभप्रद है और इसमें जो ज्ञान है, वे तो मानो सोनेमें सुगन्ध हैं।

अधमर्षण और भूतशुद्धि एक ही वस्तु है। 'भूतशुद्धि' शीर्षक लेख देखना चाहिये। सन्ध्यामें अधमर्षणकी किया बहुत ही संक्षिप्त है, फिर भी वह लाभकी दृष्टिसे अत्यन्त उपयोगी है। उसका भाव समझ लेनेपर जान पड़ता है कि उसमें कितना महत्व है।

अर्थदान और सूर्योपस्थान दोनों ही भगवान् सूर्यकी उपासना हैं। न्यासका एक स्वतन्त्र लेखमें अल्पा विचार किया गया है। संक्षिप्तस्पसे इतना समझ लेना चाहिये कि शारीरके प्रत्येक अङ्गमें जब मन्त्र और देवताओंका स्थापन हो जाता है तब सम्पूर्ण शरीर मन्त्रमय, देवमय हो जाता है। 'देवो भूत्वा देवं यजेन्'के अनुसार वास्तवमें तभी देवपूजाका अधिकार प्राप्त होता है। ध्यान, मानस पूजा और जपके सम्बन्धमें आगे निवेदन करना है। सन्ध्याकी प्रत्येक किया ध्यानकी तैयारी है। ध्यानके पश्चात् केवल जप करना ही अवशिष्ट रह जाता है। जपकी महिमा अर्थानीय है। जपोंमें भी गायत्री-जपके विषयमें तो कहना ही क्या है।

यह तो वैदिक सन्ध्या हुई, एक तान्त्रिक सन्ध्या भी होती है। यह विधि कुछ अप्रसिद्ध होनेसे लिखी जाती है। शाक सन्ध्यामें आनन्दनके निम्न मन्त्र हैं—

'ॐ आत्मतत्त्वाय स्वाहा ।' 'ॐ विद्यातत्त्वाय स्वाहा ।'

'ॐ शिवतत्त्वाय स्वाहा ।'

शैव आदिकोंकी सन्ध्यामें केवल आचमन ही होता है। इसके पश्चात् 'गङ्गे च शुभुने' हत्यादि ज्ञानविविधमें लिखे हुए मन्त्रके द्वारा तीव्रोंका आवाहन करके अपने हष्टमन्त्रसे कुदालके द्वारा तीन बार पृथिवीपर जल छिछके और सात बार अपने सिरपर। हष्टमन्त्रसे प्राणायाम और घड़क्षन्यास करके बायं हाथमें जल लेकर दाहिने हाथसे ढककर 'हं यं यं छं रं' इनसे तीन बार अभिमन्त्रित करके हष्टमन्त्रका उच्चारण करते हुए, गिरते हुए जलविन्दुओंसे तत्त्व-मुद्राके द्वारा सात बार अम्बुजण करके शैष जल दाहिने हाथमें ले ले। उसको तेजोरूप निवन्नन करके इडा नाडीसे खींचकर, देहके भीतर रहनेवाले पापको बोकर, उस जलको काले रंगका एवं पापरूप देखते हुए पिङ्गलसे बाहर निकालकर सामने कल्पित वशीविद्याके ऊपर 'फट्' इस मन्त्रका उच्चारण करके पटक दे। इसके पश्चात् हाय बोकर आचमन करके 'हर्षी हं सः अँ धृणः सूर्य आदित्यः' इस मन्त्रसे सूर्यको अर्थ दे और 'ॐ सूर्यमण्डलस्थायै नित्यवैतन्मोदितायै अमुकदेवतायै नमः' इस मन्त्रमें अमुकके स्थानपर अपने हष्टदेवताका नाम जोड़कर तीन बार जलाञ्जलि देनी चाहिये। यह क्रिया हष्टदेवताकी गायत्रीसे भी सम्पन्न होती है। इसके पश्चात् गायत्रीका समयोचित ध्यान करना चाहिये। प्रातःकाल ब्राह्मीका, मध्याह्नमें वैष्णवीका और सायाह्नमें शामवीका ध्यान करना चाहिये। तान्त्रिक सन्ध्यामें हष्टदेवकी गायत्रीका ही जप होता है। गायत्री सबकी पृथक-पृथक हैं। यहाँ कुछका उल्लेख किया जाता है।

विष्णु-गायत्री-त्रैलोक्यसोहनाय विश्वे

नारायण-नार्यश्ची-नारायणाय विश्वे

नृसिंह „ -वज्रनखाय „

राम „ -दाशरथाय „

श्रिष्ठ „ -तत्पुरुषाय „

गणेश „ -तत्पुरुषाय „

शक्ति „ -सर्वसम्मोहिन्यै „

लक्ष्मी „ -महालक्ष्म्यै „

सरस्वती „ -वाणदेव्यै „

गोपाल „ -कृष्णाय „

सूर्य „ -आदित्याय „

कामदेवाय धीमहि

वासुदेवाय धीमहि

तीक्ष्णदंष्ट्राय „

सीतावल्लभाय „

महादेवाय „

क्षेत्रपुण्ड्राय „

विश्वजनन्यै „

महाभिष्यै „

कामराजाय „

दामोदराय „

मार्श्चण्डाय „

तत्त्वो विष्णुः प्रचोदयात् ।

तत्त्वो विष्णुः प्रचोदयात् ।

„ नरविंहः „ ।

„ रामः „ ।

„ श्रद्धः „ ।

„ दत्ती „ ।

तत्त्वः शक्तिः „ ।

„ श्रीः „ ।

„ देवी „ ।

„ विष्णुः „ ।

तत्त्वः सूर्यः „ ।

—इत्यादि इष्टदेवताके अनुसार भिज्ञ-भिज्ञ गायत्री हैं। उनका १०८ अथवा कम-से-कम १० बार जप करना चाहिये। जपके समय सूर्यमण्डलमें अपने देवताका चिन्तन करना चाहिये। तदनन्तर संहारसुदासे देवताको अपने हृदयमें लाकर स्थापित करना चाहिये। ज्ञानविधिमें कहे हुए हंगरसे तर्पण भी कर लेना चाहिये।

सन्ध्या और तर्पण आम्बन्तर भी होते हैं। उनका भी यही उड़खेल कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। कुण्डलिनी शक्तिको जागरित करके उसे मूलाधारादि-क्रमसे सहस्रारमें ले जाकर परम द्विवके साथ एक कर देना ही सन्ध्या है। आम्बन्तर तर्पण भी इसी प्रकारका होता है। मूलाधारसे उत्तिथत चन्द्र-सूर्य-अमिस्त्वरुपिणी कुण्डलिनीको परमविद्वुमें सञ्चिविष्ट करके उससे निकलते हुए अमृतके द्वारा ही देवताओंका तर्पण करना चाहिये। ऐसा भी कहा गया है।

कि ब्रह्मरन्त्रके नीचे आशाचक्रमें चन्द्रमण्डलमध्य पाप्र है। उसको अमृतसारसे परिपूर्ण करके उसीके द्वारा इष्टदेवताका तर्पण करना चाहिये। तर्पणके अनुरूप ही व्यानकी भी व्यवस्था है। कहा गया है कि किरणोंमें, चन्द्रमामें, सूर्यमें और अधिसे जो ज्योति है उसको एकत्र करके केन्द्रित कर दे और किर सबको महाशूल्यमें विलीन करके पूर्णरूपसे स्थित हो जाय। यह निरालम्ब स्थिति ही योगियोंका ध्यान है। इसके पश्चात् पूजामण्डपमें प्रवेश करना चाहिये। पूजाकी सामग्री, पूजाकी विधि आदिपर क्रमशः विचार किया जायगा। हिन्दू साधनाकी एक-एक क्रिया साक्षात् परमात्मासे ही सम्बन्ध रखती है और साधकको सर्वविष उत्तिदान करनेमें समर्थ है। विचारशील पुरुषोंको चाहिये कि वे उनपर विचार करें और उनका अनुष्ठान करें। इस प्रकार अपनी प्राचीन शक्ति और शान्तिका संग्रह करके अभ्युदय और निःश्रेयसका लाभ करें।

शा०

आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें श्रौतकर्मोंका उपयोग

(श्रेष्ठक—प० श्रीरामपतिजी निश्र)

आत्मज्ञानकी प्राप्ति और श्रौत कर्मका परस्पर कार्य-करणसम्बन्ध है। आत्मज्ञानकी प्राप्ति कार्य है और श्रौतकर्म कारण है। आत्मज्ञानका तात्पर्य है आत्मविषयक विस्मृतिकी सर्वतोभावेन निरूप्ति। सर्वतोभावेन आत्मविषयस्मृतिके नाशके उत्तराकालमें ही आत्मा भेदेन भासमान प्रपञ्चका स्वस्वरूपाभेदेन अनुभव करता है और संवादार्थित होकर अपने स्वरूपका अनुभव करता है। यह अनुभव भी व्यावहारिक है। इस दशामें अनुभवकर्ता और अनुभवका विषय—इन दोनोंके स्वरूपमें भेद विद्यमान रहता है। देवविद्योपके अभिमानमें यह दोष है कि वह भेदभुदिको सुरक्षित रखता है। ‘शिवः केवलोऽहम्’, ‘वासुदेवः सर्वम्’, ‘ऐतदात्म्यमिदम्’, ‘नेह नानास्ति किञ्चन’ इत्यादि वाक्योंके द्वारा यथापि परमार्थ अदैतका उपदेश दिया गया है, परन्तु इन वाक्योंके शाब्दबोधसे जो नोंध होता है, वह व्यावहारिक ही है। इनके शाब्दबोधमें उद्देश्यविधया तथा प्रतिवेगिविशया व्यावहारिक वस्तुका मान होता है। ‘शिवः केवलोऽहम्’ इस वाक्यके शाब्दबोधमें उद्देश्यविधया भासमान अहमर्थ व्यावहारिक वस्तु है। ‘वासुदेवः सर्वम्’ इस वाक्यके शाब्दबोधमें उद्देश्यविधया भासमान उर्वशब्दार्थ व्यावहारिक वस्तु है। ‘ऐतदात्म्यमिदम्’ इस वाक्यके शाब्दबोधमें उद्देश्यविधया

भासमान इदमर्थ व्यावहारिक वस्तु है। ‘नेह नानास्ति किञ्चन’ इस वाक्यके शाब्दबोधमें प्रतिवेगिविधया भासमान नानाबोध प्रपञ्च व्यावहारिक वस्तु है। अनुभवका विषय व्यावहारिक है या अनुभवका कर्ता व्यावहारिक है, यदि वह व्यावहारिके द्वारा हात होता है तो शान व्यावहारिक कहा जाता है। यद्यपि इन वाक्योंका तात्पर्य व्यावहारिक वस्तुओंकी स्वतन्त्र सदाका अभावदर्शन है अर्थात् सर्व जायमान वस्तुओंका अविद्यान परमात्मा ही निरविद्यान होनेसे स्वतन्त्र और सत् है तथा व्यवहारमें प्रतीथमान पदार्थ साधिष्ठान होनेसे परतन्त्र और मिथ्या है—इस अर्थका समर्थक है। तथापि तात्पर्यार्थके शाब्दबोधोनरकालभावी होनेसे वह शाब्दबोधकी मर्यादासे अलग नहीं जा सकता।

ऊपर यह लिखा गया है कि ‘आत्मज्ञानका तात्पर्य है आत्मविषयक विस्मृतिका सर्वतोभावेन नाश’। यहाँ यह नहीं सष्ठि किया गया है कि आत्मविषयक विस्मृति किसको होती है। आत्मा तो विश्वी है, जगत्को विषय करता है; वह किसकी स्मृति या विस्मृतिका विषय बनता है। ज्ञान-अशान, स्मृति और विस्मृति—ये सभी केवल नेतृत्वके धर्म हैं; आत्मासे अतिरिक्त भन, इन्द्रिय, शरीर-ये सभी अचेतन

(जड़) हैं । ये आत्माको ज्ञानस्वर्गी सामग्रीका अभाव होनेसे विषय बनानेमें असमर्थ हैं । इस प्रश्नात्मक जिज्ञासाके दृष्टनार्थ आत्मविषयक विस्मृतिका स्पष्टीकरण आवश्यक है । वह यह है—

अधिन्यत्यशक्ति होनेके कारण आत्माके सम्बन्धमें किसी भी कल्पनाकी असम्भावनाको अचकाश नहीं है । स्वप्न इस सिद्धान्तका साक्षी है । आत्मा स्वप्नवस्थामें निज-कल्पित जगत्‌में कभी-कभी अपने सद्ग्राव तथा अभावका भी अनुभव करता है । जाग्रत्‌में भी आत्मा नहीं है; आत्मा देहादिसे अतिरिक्त तत्व है, परन्तु उसका मान परमाणु है; आत्मा स्वतन्त्र तत्व है, मान उसका मध्यम है, अर्थात् जिस देहमें रहता है, उसके मानके समान ही उसका मान है; आत्मा व्यापक है; आत्मा है, परन्तु द्रव्यस्वरूप नहीं है—क्षणिक विज्ञानस्वरूप है; आत्मा है, नित्य है, व्यापक है, ज्ञानस्वरूप है; आत्मा और परमात्मा भिन्न हैं; आत्मा और परमात्मामें वास्तविक मेद नहीं है—इत्यादि अनेक रूपसे आत्मा अपने स्वरूपका अनुभव करता है । यही आत्मविषयक विस्मृति है । शुद्ध-बुद्ध मुक्त-स्वभाव व्यापक आत्माका सुषिंगत सर्व पदार्थमें भान होना आत्मज्ञान है । यही आत्मविषयक विस्मृतिका सर्वतोभावेन नाश है । इसकी प्राप्तिके साधन चिरकालानुषित श्रौतकर्म हैं । उसका प्रकार यह है—

परमात्माने क्रीडाके लिये इस जगत्‌की कल्पना की है । यह कल्पित जगत् असृतमय है, वैसे ही विषमय भी है । शास्त्र और शाश्वत कर्मसे उदासीन होकर जो देहभिमानी जीव इन्द्रियोंके बशमें हो जाता है, उसकी भावना आसुरी बन जाती है । आसुरभावपन्न वह जीव आत्मज्ञानसे शनैः शनैः दूर होता जाता है अर्थात् उसको आत्मविषयक विस्मृति अपनाने लगती है । आसुरी सुष्ठिके उपभोगार्थ कल्पित सामग्रीको प्राप्त कर वह जीव अधिकाधिक उन्मत बनता जाता है । जगत्‌की अशान्तिका निमित्त बनता जाता है । अशान्त जगत्‌को देखकर प्रसन्न होने लगता है । यह उन्मत्ता उस देहभिमानी जीवको अनेक प्रकारकी दुर्गतियोंमें नियम कर देती है । जगत्‌को विषमय भाननेकी परिस्थितिका दर्शन करा देती है ।

जो देही सद्ग्राववश सत्युष्ठवोंकी सङ्कृतिको सौभाग्य समझने लगता है, उसको शास्त्र और शाश्वतिहित कर्मोंमें अद्वा उत्पन्न होने लगती है । वह शास्त्रका अस्याती बननेकी इच्छाके सफल बनानेकी चेष्टा करने लगता है । अधिकारके अनुसार शाश्वतिहित कर्मको करने लगता है । ईश्वरीय विशिष्ट शक्तिसे सम्बन्ध देवताओंसे अभिमत पदार्थोंकी प्राप्ति और प्राप्त पदार्थोंको श्रौतकर्मोंके द्वारा देवताओंके अधीन करनेकी अपना कर्तव्य समझने लगता है । (आरम्भकालमें भोगकी लिप्ताके प्रबल रहनेसे वह देही यह मानता है कि श्रौत-कर्मोंका प्रलय है केवल भोग और उपभोगके बोय पदार्थोंकी प्राप्ति ।) जिस समयसे यह भावना उत्पन्न होती है, उसी समयसे आसुरी भावना क्षीण होने लगती है और दैवी भावना प्रबल । ज्यो-ज्यो दैवी भावना प्रबल होने लगती है, त्यो-ही-त्यो आत्मविस्मृति क्षीण होने लगती है । यह आत्मविस्मृतिकी क्षीणताका आरम्भकाल ही आत्मज्ञानका आरम्भकाल है अथवा आत्मोपासना या उल्की साधनाका काल है ।

आत्मविषयक विस्मृतिका जन्म अशात है । इसके काल्की इय ताका निर्णय अशक्त है । इसका नाश दीर्घकालसे होता है । श्रौत क्रियाएँ दीर्घकालपर्यन्त अनुषित होनेपर साधनाका स्वरूप ग्रहण करती हैं । श्रौतकर्मोंका कर्ता भी दीर्घकालतक निरस्तर श्रौतकर्मोंके अनुज्ञानके पश्चात् साधक कहलाने बोय बनता है । साधक आरम्भकालमें फलकी इच्छासे श्रौतकर्मों प्रवृत्त होता है । देवताप्रदत्त पवित्र सामग्रीके सेवनसे उसका अन्तःकरण निर्मल बनता जाता है (पवित्र पदार्थके सेवनसे निर्मलता प्राप्त होती है । पवित्र पदार्थ वे ही हैं, जो शास्त्रसम्मत देवतोपासनासे प्राप्त हैं ।) अन्तःकरणके निर्मल हो जानेपर साधक संयोगज फलसे उदासीन होकर शान्तिके पश्चात् आस्ट देही जाता है । शान्तिके मार्ग अनेक हैं । साधक यदि नकली न हो तो वे सभी मार्ग शान्तिके भवनतक पहुँचानेमें समर्थ होते हैं । (साधककी शुद्धताके लक्षण हैं शम, दम, उपरति तितिक्षा आदि सदृश ।) शान्तिभवनकी प्राप्ति, आत्मविषयक विस्मृतिकी सर्वतोभावेन निवृत्ति—इन दोनों वाक्योंका तात्पर्यर्थ एकसा ही है ।



साधना-तत्त्व

(लेखक—बीताराचंद्री पांड्य)

तुम्हारा उद्देश्य आनन्द—स्वाधीन, अविनाशी, चिन्ता-रहित, भयरहित पूर्ण सुख है। यह हच्छामें सम्भव नहीं, क्योंकि हच्छा स्वयं ही दुःख है और अभाव (दुःख) का चिह्न है। यह राग (रुचि) में भी सम्भव नहीं; क्योंकि राग होता है किसी खाल वस्तु—वाटिक किसी वस्तुकी खाल अवस्थाएँ ही, जो कि सदा और सर्वथा तुम्हारे वशमें नहीं है और जिससे सुख पाना भी तुम्हारे रागकी मंदता और स्थिरता—तुम्हारे सन्तोष और तुम्हारे दृष्टिकोणपर ही निर्भर है। और किसी खाल वस्तुमें रागका अर्थ उस खाल वस्तुके प्रतिकूलते (जिसकी दुनियामें कभी कभी नहीं) देख है, जो दुःखका ही दूसरा नाम है।

हच्छाका सर्वथा अभाव तभी हो सकता है जब यह प्रत्यय हो जाय कि शरीर (तन, मन, वचन) और सांसारिक सब बाइ पदार्थोंसे स्वाधीन (अतः मिळ), अविनाशी, अखण्ड, स्वतः आनन्दमय और स्वयंपूर्ण मैं हूँ ।

राग-देवका नाय अयवा द्वेषराहित राग तभी हो सकता है जब सब कालोंकी, सब वस्तुओंकी सब अवस्थाओंके प्रति (अर्थात् उनके शानके प्रति) एकसा राग हो अयवा सबके याथ सर्वथा उपेक्षा (उदाशीनता) हो। दोनों बातें एक ही हैं। यही समत्व-भाव है और इसीको बीतारागता भी कहते हैं।

इन्हीं तत्त्वोंको ठीक तौरसे जानकर उनमें इह श्रद्धान करना और तदनुसार अपने आचरणको ढालना—यही

साधनाका सार है। इसी श्रद्धान, शान और चारित्यकी एकताएँ आनन्दकी उपलब्धि होती है। सर्वसता और पूर्णताकी भी तभी सिद्धि होती है।

इनमें श्रद्धान सबसे पहले बरुटी है; क्योंकि श्रद्धान शानके पश्चात् होनेपर भी उस शानको अर्थ-साधक बनाने वाला होता है और श्रद्धान ही उद्देश्यको निर्मित और निखिल कर उसे स्थिर रखता है। चारित्य तो श्रद्धानका ही प्रस्फुटीकरण—विकास है।

वे भद्राङ्ग जो हच्छा-पाशसे अपेक्षाकृत अधिक जकड़े हुए हैं, पर सांसारिक जीवनमें चरम लक्ष्यको सामने रखकर इन तत्त्वोंका अपनी परिदियति और शक्तिके अनुसार आचरण करते हैं और दूसरोंको आचरण करनेकी सुविधा देते हैं, सदगृहस्थ्य कहलाते हैं।

जो इस पथपर आगे बढ़े हुए हैं और जिनका प्रकट और अग्रकटरूपसे एकमात्र यही लक्ष्य है, यही व्यक्षसाय है, वे संत कहलाते हैं।

जो इनसे सर्वथा और सदा के लिये तन्मय—तत्त्वरूप हो जाते हैं, वे जीवन्युक्त, लिद्य या परमात्मा कहलाते हैं। वे ही आदर्श भी हैं—उन्हींके उदाहरण और स्वरूपसे अशानी जीवोंको मार्ग-शान और स्वरूप-शान होता है और उत्साहीनोंका उत्साह तथा साहसहीनोंका साहस जागरित होता है। इसलिये वे साधकोंके लिये साधनस्वरूप भी हैं।

नदी-नाव-संयोग

दूलन यह परिवार सब नदी नाव संज्ञोग ।
उत्तरि परे जहाँ तहाँ बले सबै बडाऊ लोग ॥
दूलन थहि जग आइके का को रहा दिमाक ।
चंद रोज को जीवना आसिर होना लाक ॥
दूलन काया कबर है कहाँ लगि करौं बलान ।
जीवत मनुआँ मरि रहै फिरि यहि कबर समान ॥

—दूलनदासजी

सब साधनोंका सार

(लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

बड़ी सुन्दर धुन थी—पक्षी लगान थी ।

मैं सबं आश्वर्य करता हूँ कि कैत्ते उतना अधिक जय, उतना पाठ, चिरस्थायी प्रगाढ़ ध्यान और वह बज्जो भी विदीर्ण करनेवाली व्याकुलता उन्होंने प्राप्त की थी ।

मेरे आश्वर्यकी तब सीमा नहीं रहती जब वे कहते, ‘मैया, जीवनमें तनिक भी शान्ति नहीं !’ अन्तरका आमन्द मुझसे कोसो दूर है !! विकारोंका भण्डार हृदयसे हटता ही नहीं !!!’ उनके वचनोंको असत्य भी कैसे मान दूँ ?

मैं सोचता ‘जब इन्हे उत्कट साधनमें भी शान्ति नहीं मिलती, विकार दूर नहीं होते, भगवद्गीता दुर्लभ हैं, तो इस युगमें वे सब कोरी कल्पना हैं !’ मैं प्राथः अविश्वासी हो चुका था—धर्म और ईश्वरकी ओरमें ।

एक दिन मैंने उन्हे देखा—न संसारकी सुधि थी और न शरीरकी । मनवाले-से झूम्ते और कुछ गुनगुनाते कहा नाककी सीधमें जा रहे थे । आनन्दसे उनका मुख खिला हुआ था । नड़ी कठिनतासे उन्हे रोककर सावधान कर पाया ।

पर्याप्त टालमटोल करनेके पश्चात् उन्होंने भेरे कण्ठसे कहा, ‘यन्तु, तुम भूलते हो ! मैंने आजतक साधन किया ही नहीं था । दृतना सब करके सोचता था कि मैं वहां साधन-

निष्ठ हूँ और दूसरे तुच्छ सांसारिक विषयी प्राणी । मेरा अद्भुत भेरे पीछे बैठे भैसके बैंबै (बच्चे) की भौति मेरी बड़ी रस्तियोंको सफान्त करता जाता था ।’

वे रुके—कण्ठ बहुत भर आया । कहने लगे, ‘एक दिन अल्पन्त निराश हो गया । समझा कि इस जीवनमें श्वामसुन्दर मुझे नहीं मिलेगे । हताश होकर गया था माता जाह्नवीकी गोदमें शरण लेने । कहने ही बाला था कि मुझे एक दोहा समरण आ गया । जैसे किसीने विजलीके तारसे मेरे स्पर्श करा दिया हो । धम्मे बैठ गया । पीछे कोई खुलकर हँस पढ़ा । मैंने मुख फेरा—वही नदाखट था ।’

वे आगे बिना कुछ शोले फूट-फूटकर रोने लगे और रोते-रोते ही उठकर एक ओर चल पड़े । मैं उनके बर्गनसे इतना सब्ब हो गया था कि उन्हें रोक भी नहीं सका । मुझसे कुछ साधन-भजन तो होता नहीं: कभी-कभी उनके उस दोहिकी आशृति अवश्य कर लेता हूँ । दोहा कोई यन्त्र-मन्त्र नहीं, सीधा-सा पुराना दोहा है—

जब लगि गज निज बल करये, सरयो न पक्षी काम ।
बल धाकये तत्कयो प्रभुहि, आये आथे नाम ॥

राम भजता है, वही धन्य है

मन क्रम बचन विचारि के राम भजे सो धन्य ॥
राम भजे सो धन्य धन्य बपु संगलकारी ।
रामचरन अनुराम परम पद को अधिकारी ॥
काम कोध मद लोध भोह की लहरि न आवै ।
परमात्म चेतन्य रूप महँ दृष्टि समावै ॥
ध्यापक पूरन ब्रह्म है भीखा रहनि अनन्य ।
मन क्रम बचन विचारि के राम भजे सो धन्य ॥

—भीखा साहेब

साधनाकी उपासना

(लेखक—२० श्रीलदेवजी शास्त्री, वेदतीर्थ)

संसारमें मनुष्य अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुवार अवस्था और व्यवस्था देखकर अपने-अपने उद्देश्य स्थिर कर लेते हैं। इसीलिये इस नियुगात्मक संसारमें मनुष्योंके भिज-भिज उद्देश्य रहते हैं, जिनकी प्राप्तिके लिये वे नाम प्रकारकी साधना करते रहते हैं। कभी-कभी वे अपना उद्देश्य तो कुछ और ही बनाते हैं, पर—

‘प्रकृतिस्वर्या नियोद्धति’

‘निष्ठाहः किं करिष्यति ?’

प्रकृति उन्हें किभी ही ले जाती है। प्रकृतिके इस अशात्, अलक्षित प्रभावको मनुष्य समझता नहीं और जब उसको स्वनिर्भासित उद्देश्यकी प्राप्ति नहीं होती, तब वह उस अप्राप्तिके लिये किसी-न-किसीको दोषी ढहराता रहता है। अशानी प्राणी यह नहीं देखता या समझता कि वस्तुतः दोष है उसीके अशानका—मिथ्याशानका, जो कि उसे अपनी प्रकृतिको समझने नहीं देता। पर वह यह भी नहीं सोचता कि—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृदयेऽर्जुन तिष्ठति ।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्मारुतानि मायथा ॥

सबके ऊपर, सबके भीतर एक ऐसी अदृश्य प्रबल शक्ति है, जो प्राणियोंको स्वसंकेतानुसार द्रुमाती रहती है। विवश होकर मनुष्यको कठपुतलीकी तरह नाचना पड़ता है।

इसलिये उद्देश्य स्थिर करनेके पूर्व मनुष्यको खूब सोचना-विचारना चाहिये। यथार्थ उद्देश्यको स्थिर कर लेनेपर भी वह उद्देश्य कभी कर्म-वैगुण्य, कभी कर्तृ-वैगुण्य, कभी साधन-वैगुण्य, इस प्रकार कभी एक वैगुण्यसे, कभी दो वैगुण्योंसे और कभी तीन वैगुण्योंसे सिद्ध नहीं होता। उद्देश्य ठीक हो, साधन भी ठीक हो, करनेवाला कर्ता भी साधना रहे, तब साधना सफल समझो।

संसारके समस्त उद्देश्योंका समावेश धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चारमें समस्तिये। एक-एकके भेद करने वैठें तो अत्यन्त प्राणी इनका अन्त नहीं पा सकता। पर उपर्युक्त चारमें सब आ जाते हैं। इसीलिये यदि उपर्युक्त चारमें एक

उद्देश्य हो, दो हों, तीन हों अथवा चारों हों तो उनके साधना-प्रकार भी मिश्न-भिज्ज होंगे, यह स्पष्ट है।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च वृत्तविधम् ।

विविधा वृथक्येष्टा दैवं वैशाश्र्य यज्ञमम् ॥

तत्रैव लति कर्तारमारमानं केवलं तु यः ।

पश्यत्यकृतशुद्धिवाच स पश्यति दुर्मतिः ॥

साधनाके लिये (१) उत्तम अधिष्ठान चाहिये ।

साधनाके लिये (२) उत्तम साधनान कर्ता चाहिये ।

साधनाके लिये (३) उपर्युक्त उपकरण चाहिये ।

साधनाके लिये (४) उपर्युक्त विविध प्रयत्न चाहिये ।

और सबसे बढ़कर चाहिये (५) दैवकी अनुकूलता—जिसके द्वारा प्रथम चार व्यर्थ हो जाते हैं। जब यह तत्त्वकी बात है, तब जो मूर्ख अपने अशान—मिथ्या शानमें यही समझ बैठता है कि सब कुछ मैं ही करनेवाला हूँ, वह दुर्मति यथार्थ रीतिसे न देखता है, न समझता है।

साधना क्या है ?

सब प्रकारके उपकरण प्राप्त हो जानेपर उनके द्वारा उद्देश्य-प्राप्तिकी ओर बढ़ना ही स्थूल स्थूल समझ साधना है; पर उस साधनामें भक्ति भी परम आवश्यक है, जिसके द्वारा साधना न चलती है, न आगे बढ़ती है, प्रत्युत उप-सी हो जाती है।

संसारकी साधारण-साधारण इच्छाओंकी पूर्तिमें भी जब इतनी-इतनी विष-वाधाएँ आ जाती हैं, तब उत्तम उद्देश्योंकी प्राप्तिमें क्या होता होगा ? इसका अनुमान सहजमें ही लगाया जा सकता है। यथाति-जैसे महाराजको भी अन्तमें हारकर कहना अथवा मानना पड़ा था—

न जानु कामः कामानामुपभोगेन शास्यति ।

हविषा कृथ्यवस्त्रेषु भूय एवमिवद्देते ॥

भल्ला, कभी किसीने अविष्ये बृत डाल-डालकर उसको बुझानेमें सफलता प्राप्त की है ? रामका नाम लो। यह तो हुई कामकी बात।

धर्मको ही लीजिये ।

पहले धर्मके तत्त्वको ही समझना कठिन समझ लें तो
उसपर चलना उससे भी सहजंशुण कठिन है—

**धूरस्य धारा निशिता दुरस्थया दुर्ग पथस्तकवयो
वदन्ति ॥**

तीरण छुरेकी धार है, तीरण छुरेकी धार ! चलना बड़ा
कठिन !

अर्थकी भी यही दशा है ।

कामके संकुचित अर्थ न किये जायें तो अर्थ भी उसीमें
आ जाता है । अब रही मोक्षकी बात । जिन्होंने थोग-
दर्शनका सूक्ष्म अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि मोक्षकी
साधना कितनी कठिन है । वह किसीको एक जन्ममें सिद्ध
हो जाय तो समझ लेना चाहिये कि पूर्वजन्मका कोई तीव्र
पुण्य फलाः नहीं तो वह तो—

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो जाति परां गतिश् ॥
—की बात हो जाती है ।

साधना शब्द यहुत व्यापक अर्थ रखता है । अ-आ-
इ-ई से लेकर पूर्ण विद्वान्, महामहोपाध्याय बननेतक
जो भी अद्वायुक्त कर्म है, सब साधनामें आ जाता है । ए-
बी-सी-टी से लेकर एम्-ए० हेनेटक जो भी कर्म हैं, वे
सब साधनामें आ जाते हैं । चित्तवृत्तिनिरोधसे लेकर
कैन्यप्राप्तिक जो भी करना पड़ता है, सब साधनामें आ
जाता है । पर वह ध्यान रहे सात्त्विकाध्यान भावनासे ओत-
प्रोत साधना ही सच्ची साधना है । राजसी तथा तामसी भावनासे
प्रशुक्त साधना साधना नहीं । सच्ची साधना आध्यात्मिक वातावरण-
में जन्म लेती है, पन्द्री है, पुष्ट होती है, पनपती है, खेलती है,
कूदती है, आगोद-प्रगोद करती है । राजती साधना संतारके
मिश्रित वातावरणमें उत्पन्न होती है और वह कभी मुरझाती
है, कभी खेलती है, कभी हँसती है, कभी रोती है, कभी
अन्धकारमें ठोकरें खाती है, कभी प्रकाशमें खिल उठती
है और तामसी साधना तो यही नहीं समझ सकती कि वह
कहाँ है, क्यों है, उसको स्वा करना है, वह हीखनेमें सबसे
अच्छी, पर वैसे सबसे बुरी रहती है ।

उद्देश्य—सात्त्विक

कर्ता—सात्त्विक

साधन—तदनुरूप सात्त्विक

कर्म—तदनुरूप सात्त्विक

भद्रा—तदनुरूप सात्त्विक

तब साधना फलती-फूलती, करनेवालोंको आनन्द देती,
संसर्गमें आनेवालोंको भी हराती और पूर्णरूपसे फलने-फूलने-
पर संसारको भी नीचेके वातावरणसे ऊपर उठाती हुई एक
अनिर्वचनीय आनन्द देती है । बस, फिर उस आनन्दकी
व्याख्या नहीं हो सकती ।

उपनिषदोंमें नाना प्रकारके आनन्दोंकी व्याख्या है—

मनुष्योंका आनन्द ।

चक्रवर्तीं राजाका आनन्द ।

देवोंका आनन्द ।

उच्चकोटिके देवोंका आनन्द ।

सबसे बड़ा आनन्द मोक्षानन्द है, जिसके एक विन्दुमें वह
आनन्द होता है, जिसकी तुलना समस्त संसारके समस्त अमूल्य
पदार्थोंके आनन्द भी मिलकर नहीं कर सकते ।

वह मनुष्य धन्य, उसका कुल धन्य, उसकी जाति, उसका
देश, उसका राष्ट्र धन्य—जिसमें ऐसा व्यक्ति, संसारसे ऊपर उठा
दुआ, पाप-पुण्यसे ऊपर उठा दुआ, उत्तम हो जाय ।
भारतवर्ष धर्मधूमि है, पुण्यधूमि है । इसकी शृणि-मुनि-
महर्षि-परम्परामें ऐसे महापुरुष सदा होते चले आये हैं, जिनके
कारण आजके भारतवर्षको संकटपूर्ण अतिशय हीन दशामें
भी उसका खिर उसी मधुविद्याके कारण, उसी ब्रह्मविद्याके
कारण, उन्हीं नाना प्रकारके साधन और साधनाओंके
कारण, उन्हीं सिद्ध-साधक महा-महा महापुरुषोंके कारण,
उन्हीं सायुज्य, सालोक्य, सामीय पदोंके कारण, उसी
कैवल्यपदके कारण अब भी संतारमें सबसे ऊँचा उठा
दुआ है । यही नहीं, अपि तु जहाँ ऐसे महापुरुष बैठ-बैठ-
कर तपस्या-साधन कर गये, वे पवित्र हिमालयकी
अधित्यकारैँ, उपत्यकारैँ, गुफाएँ भी अबतक संसारसे
ऊपर सिर उठा रही हैं । इसीलिये हम शृणियोंके ही शब्दोंमें
उन शृणियोंको नमस्कार करके इस तुच्छ लेखको समाप्त
करते हैं—

'ॐ नमः परमर्थिभ्यः, नमः परमर्थिभ्यः ।'

साधक, साधना और साध्यका सम्बन्ध

(शेखक—त्यागमूर्ति गोस्वामी श्रीगणेशदत्तजी महाराज)

साधक, साधना और साध्यका परस्पर वही सम्बन्ध है जो कि ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयका है। साधक भक्त है, साधना उसकी भक्तिका है और साध्य उसका आवश्यक भगवान् है।

साधनाके इच्छुक साधकके लिये यह आवश्यक है कि वह विचेक, वैराग्य, घटसम्पत्ति और मुमुक्षुतासे सम्पन्न हो और सांसारिक विषय-वासना, राग-द्वेष, काम, क्रोध, मोह आदिके कीचड़ने बाहर निकल गया हो। इसमें सन्देह नहीं कि इनसे बाहर निकलना भी एक महान् साधना है, जिसमें बहुत ही योग्ये व्यक्ति सफल हो सकते हैं।

साध्यतक पहुँचनेके लिये साधकको दो बातोंकी आवश्यकता होती है—पहली अपने हृदयमें उत्कट अभिलाषाका होना और दूसरी मनवशस्त्रिका आश्रय।

साधकके हृदयमें साध्यकी प्राप्तिके लिये इतनी अधिक उत्कट अभिलाषा होनी चाहिये, जिसके सामने अन्य सभी सांसारिक इच्छाएँ-अभिलाषाएँ समाप्त हो जायें। प्राप्ति कहा जाता है कि साधकके हृदयमें साध्यकी प्राप्तिके लिये उसी प्रकारकी अभिलाषा होनी चाहिये, जैसी किसी युवतीके हृदयमें अपने प्रियतमको प्राप्त करनेके लिये होती है। पर मैं समझता हूँ, साधकके हृदयमें इससे भी अधिक उत्कट अभिलाषाका होना आवश्यक है। ऐसी अभिलाषा, जो हृदयमें साध्यकी प्राप्तिके लिये बैठनी और तड़प पैदा कर दें, जिससे साधक साध्यके ध्यानमें ही पागल हो जाय, सिद्धिका लक्षण है।

एक बार किसी शिष्यने अपने गुरुजीसे पूछा कि ‘महाराज! भगवान्की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है?’ गुरुजीने कहा, ‘कुछ समझके बाद बताऊँगा।’ दोनों नदीमें ज्ञान करने चले गये। जब शिष्य ज्ञान करनेके लिये नदीके मध्यमें पहुँचा तो गुरुजीने उसके सिरपर जोरसे पैर रखकर पानीके नीचे दिया दिया। कुछ ही पलोंमें शिष्य घबड़ा गया और छटपटाने लगा। अन्तमें कुछ देरतक बहुत प्रथल करनेके पश्चात् पानीके बाहर निकल सका। उस समय उससे गुरुजीने पूछा, ‘जिस समय तुम पानीमें डूबे जाते थे, तुम्हरे हृदयमें क्या विचार आते थे?’ शिष्यने उत्तर दिया, ‘मेरे हृदयमें केवल पानीसे ऊपर निकलनेकी इच्छा थी, उसीके लिये मैं तड़प रहा था, मुझे और किसी भी बस्तु या बातका जरा भी ध्यान न था।’ गुरुजीने कहा—‘त्रैन, जब इस प्रकारकी

उत्कट अभिलाषा और छटपटाहट भगवान्की प्राप्तिके लिये होती है, तभी भगवान्की प्राप्ति हो सकती है।’

अद्योक्तवाटिकामें पहुँचकर जब श्रीहनुमान्जीने सीताजीको रामचन्द्रजीके लिये सन्देश देनेको कहा तो श्रीसीताजीने अपनी दशा यह कहकर व्यक्त की—

विमि मनि विनु व्याकुरु युजान जन विनु व्याकुरु मीन।

तिमि देस रथुनाथ विनु मैं तड़पते हूँ दीन॥

विना मणिके सर्प जिस प्रकार तड़पने लगता है या विना जलके मछली जिस प्रकार छटपटाती है, उसी प्रकारकी तड़प और छटपटाहट साधकके हृदयमें होनी आवश्यक है।

उत्कट अभिलाषाके अतिरिक्त साधकको साध्यतक पहुँचनेके लिये तीव्र सङ्कल्पभावना या मन्त्राभ्यक्ति आवश्यक है। वह मन्त्रके माहन, वशीकरण आदि प्रयोगोंके द्वारा अथवा केवल एक ही मन्त्रका दृढ़ विश्वाससे जप करता हुआ सफल हो सकता है। उदाहरणके लिये यदि ‘ओम्’—इस महामन्त्रका जप करता हुआ साधक अपने हृदयमें यह ध्यान करता रहे कि—‘मैं अ-उ-म्, सत्-चित्-आनन्द हूँ। मैं स्थूल-सूक्ष्म-कारण, मन-बुद्धि-अहङ्कार, जग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, प्राण-अपान-उदान-व्यान-समानसे परे साक्षी संसारानन्दसरूप पूर्ण ब्रह्म हूँ। काम, क्रोध और मोह मुक्ततक पहुँच भी नहीं सकते। मैं सर्वप्रकाश, सर्वज्ञान और सर्व आनन्दका धर हूँ। मैं दृश्य और दृष्टसे परे हूँ, प्रकृतिका अविद्याता हूँ। सोऽहम्, सोऽहम्। मैं भगवान् ही हूँ, और कुछ नहीं।’ मन्त्राभ्यक्ति लेकर इस प्रकारकी भावना करता हुआ साधक साध्यतक पहुँच सकता है।

साध्यतक पहुँचनेके लिये एकवृत्तिका होना अत्यन्त आवश्यक है। एक बार गुरु द्रोणान्नार्यजीने अपने शिष्योंकी परीक्षाके लिये एक ऊँचे पीपलकी शास्त्राके ऊपर एक कुत्रिम पक्षी रख दिया और उसके भस्तकपर एक काला बिन्दु लगा दिया। उस बिन्दुपर बाण मारनेके लिये उन्होंने अपने शिष्योंसे कहा। जब दुयोग्यन लक्ष्यमेंदनके लिये आगे आये तो गुरुजीने पूछा—‘तुम्हें हम सब लोग, पीपलका बृक्ष, पक्षी और उसके सिरपर बिन्दु दिखायी देता है?’ दुयोग्यनने उत्तर दिया—‘जी हाँ, मैं आएको, अपने सहपाठियोंको, पीपलकी और उसके ऊपर पक्षीको तथा उसके सिरपर

काले विन्दु को—सबको अच्छी तरह देख रहा हूँ।” गुरुजीने कहा—“तुम पीछे चले जाओ, तुमसे लक्ष्य-भेदन नहीं होगा।” इसी प्रकार एक-एक करके सभी शिष्योंसे गुरुजीने वही प्रश्न पूछा और उन्होंने प्राप्त: यही उत्तर दिया। जब अर्जुनकी बारी आयी तो उससे भी वही प्रश्न पूछा गया—उसने उत्तर दिया, “गुरुजी! मुझे न आप दिखायी देते हैं, न अपने सद्घाठी। पीपलका पेड़ और पक्षी मुझे कुछ भी नहीं दिखायी देता। केवल एक काला विन्दु मेरी दृष्टिमें आता है। वाकी सब अन्धकार-हीं-अन्धकार प्रतीत होता है।” गुरुजीने कहा—“बस, मैं समझ गया कि तुम लक्ष्य-भेदन कर सकते हो।”

टीक इसी प्रकार साध्यकी प्राप्तिके लिये साधककी दृष्टि होनी चाहिये। उसके लिये संसारकी सारी क्रियाएँ, सारी

घटनाएँ शूल्य हो जानी चाहिये। उसके सम्मुख केवल साध्यके अतिरिक्त किसी भी वस्तुका चित्र नहीं होना चाहिये। जिस प्रकार लक्ष्य तभी बेधा जा सकता है जब तीर चलाने-वाला, तीर और लक्ष्य विलकुल एक सीधमें हों, इसी प्रकार साधक, साधना और साध्यमें भी एकहसिन्दि होना अत्यन्त आवश्यक है। जिस समय साधक अपने अन्तर्गत साध्यके लिये उकट अधिलापा और तड़प पाये, जिस समय उसे मन्त्र और मन्त्रव्यरक्ता ऐक्य प्रतीत हो, जिस समय उसे अपनेमें, साधनामें और साध्यमें एक ही वृत्ति दिखायी दे, उस समय उसे समझ लेना चाहिये कि अब वह और साध्य एक हो गये हैं, जीव ब्रह्ममें मिल गया है, भक्तको भगवान्नने अपना लिया है।

रामनामकी महिमा

राम नाम मनि दीप घर जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहरहुँ जौ चाहसि उजियार॥
हिँ निर्गुन नयनन्हि सगुन रसना राम सुनाम।
मनहुँ पुरट संपुट लसत तुलसी ललित ललाम॥
राम नाम को अंक है सब साधन हैं सूत।
अंक गण्य कहु हाथ नहिं अंक रहे दस गून॥
हम लखि लखहि हमार लखि हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहि का लखहि राम नाम जपु नीच॥
राम नाम अदलंब बिनु परमारथ की आस।
धरयत बारिद बूँद गहि चाहत चढ़न अकास॥
बिगरी जनम अनक की सुंधरै अबहीं भजु।
होहि राम को नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु॥
राम नाम कलि कामतरु राम भगति सुरथेनु।
सकल सुमंगल मूल जग गुरु पद पंकज रेनु॥
राम नाम कलि कामतरु सकल सुमंगल कंद।
सुमिरत करतल सिद्धि सब पग पग परमानंद॥
जथा भूमि सब बीजमय नखत निवास अकास।
राम नाम सब धरममय जानत तुलसीदास॥
हरन अमंगल अद अखिल करन सकल कल्यान।
राम नाम नित कहत हर गावत बैद पुरान॥
राम नाम रति राम गति राम नाम बिसास।
सुमिरत सुभ मंगल कुसल दुँहु दिसि तुलसीदास॥

—तुलसीदासजी

साधन और सिद्धि

(लेखक—स्वामी श्रीशुदामन्दजी भारती)

‘साधना’ किसे कहते हैं ?

‘साधना’ का अर्थ है प्रयत्न करना, उत्तेजा करना, लगना। साधनाका अर्थ सिद्धि भी है। आत्मानुसन्धानके मार्गमें, अपनी आत्माको परमात्मामें लीनकर ‘पूर्णमदः पूर्णमिदम्’ की अनुभूतिके पथमें हमारी जो कुछ भी आध्यात्मिक चेष्टाएँ होती हैं उन सबका नाम ‘साधना’ है। नदौनीकी धारा ऊचे चढ़ती है, नीचे ढलती है, घन-पर्वतको लॉपती हुई बढ़ती जाती है। क्यों, किसलिये ? इसलिये कि वह अन्तमें अपने-आपको समुद्रकी गोदमें सुला दे, लीन कर दे, मिटा दे। मनुष्यकी आत्मा भी भग्यके चढ़ाव-उत्तर, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद और ऐसे ही जीवनके विविध लड़-मठों अनन्त अनुभवोंको पार करती हुई रहता, चिर और आनन्दके एक अनन्त महासागरमें अपने-आपको ढाल देनेके लिये व्याकुल है, बैठता है। नदीका लक्ष्य है समुद्र, मनुष्यका लक्ष्य है भग्यान्। भग्यानके मार्गमें चलनेके लिये जो भी अनुशान किया जाता है, जो भी व्रत लिया जाता है, वह सभी ‘साधना’ हैं और जो कुछ भी इस मार्गमें अवरोधक है, वह है अन्तराय, वह है साधनामें विप्र।

साधनाका श्रीगणेश कहाँ और कैसे होता है ?

मनुष्यमात्र अपने भीतर एक निश्च, एक अव्यक्त अभावका अनुभव करता है। वह ‘कुछ’ खोज रहा है, चाह रहा है; परन्तु वह ‘कुछ’ क्या है, उसे पता नहीं। वह ‘किसी’ को देखना चाहता है। परन्तु वह जानता नहीं कि वह ‘कोई’ कौन है, कहाँ है, और कैसा है। संसारके इन बनने-मिटने-बाले चिनीसे, क्षण-क्षणपर बदलनेवाली वस्तुओंसे उसे स्थायी सुख, स्थायी शान्ति मिले तो कैसे ? आजका विश्वसी मित्र कल घोर शरु हो जाता है, दशा दे जाता है। स्वजन-परिजनोंसे आज घड़ी-दो-घड़ीके लिये एक इत्की-सी सुखानुभूति हुई, परन्तु कल ही उनका दुःख-दर्द देखकर रोना पड़ता है। मनुष्य आज धन-सम्पत्ति जमा करता है, परन्तु कल ही स्वयं उसके बन्धनोंमें बँधकर तङ्पने लगता है, छटपटाने लगता है, उसके भारसे फिसने लगता है। इन्द्रियोंका सुख क्षणभरके लिये उसे सहला तो जाता है, परन्तु फिर सदा के लिये असन्तोष और सन्तापके अथाह सागरमें छोड़ जानेके लिये।

बुद्धिकी दौड़-धूप और उच्छ्व-कूदसे जीवनकी ओर अशान्ति जाती नहीं, मनकी शङ्खा मिटती नहीं। अपने ही मनके रवै हुए जेलमें मनुष्य अपने-आप कैदी है। वह प्रकाशके लिये तहप रहा है, स्वतन्त्रताके लिये किलख रहा है। पिंजड़ोंको तोड़कर, जेलकी दीवारें लॉपकर वह बाहर आना चाहता है। परन्तु, परन्तु “.....” परन्तु शुगनुओंसे कहीं रातका अन्धकार जाता है ! जगत्के सुख-भोगसे कहीं अन्तरकी व्यास मिटती है ! हीरे-ज्वाहर भी तो इस अन्धकारको छिन्न-मिन्न नहीं कर सकते, किर बुद्धिके उबतम विकास और विलाससे मनका संशय कैसे मिटे ? दुनियाभरमें नाम और वशका विस्तार हो गया; परन्तु इससे उसको कौन-सा सन्तोष मिला, कहाँ भी तृप्ति मिली ? इन्द्रियोंके सुख-भोगसे क्षणभरकी जो तृप्ति-सी हुई, उसके पीछे भन सदा के लिये, चिरकालके लिये चञ्चल और क्षुब्ध हो उठा ! भन तो भावोंका, बल खाते हुए भावोंका एक सागर है, और जीवन है उस क्षुब्ध जलमें डरगमगाती हुई एक नहीं-सी नाव। इसके सामने है रहस्योंसे भरा भविष्य, इसके पीछे-पीछे लगा आ रहा है भाग्यका मकर, किसका घड़ियाल। सज्जाओं और तूफान, धूप और वर्षा, ओले और कुहरा मार्गमें आते हैं और नायकी गति-विधिको लेकर रहते हैं। प्रकृतिकी शक्तियोंके सामने हमारी बुद्धि कुछ काम नहीं देती। पग-पगपर वह हमें छकाती है; अब गया, तब गया ऐसा लगने लगता है। एकाएक वह देखता है कि उसकी किशरी हुरी तरह चिर गयी है सर्वनाशी तूफानसे; और तब वह अपनेको पाता है चारों ओरसे असहाय, निराधार और निरवलम्ब। ऐसे ही समय उसके अनन्तसालसे एक पुकार उठती है, एक हूक निकलती है—है प्रो ! है मेरे स्वामी ! मुझे बचाओ, बचाओ ! मैं दीन-हीन हूँ, असहाय हूँ।

बुद्धिविकृष्टिता नाथ समाप्ता मम युक्तयः ।
नान्यत्विक्षिद्विजानामि त्वमेव शरणं मम ॥
त्वमेव नाता च पिता त्वमेव
त्वमेव विद्या ब्रविण्य त्वमेव ।
त्वमेव विद्या ब्रविण्य त्वमेव ।
त्वमेव सर्वं मम देशदेव ॥

‘हे नाथ ! मेरी मति कुण्ठित हो गयी है, मेरी सारी तर्कयुक्तियाँ समाप्त हो गयी हैं, मैं तुम्हारे सिंहा कुछ भी नहीं जानता; बस, तुम ही मेरे एकमात्र शरण हो। तुम्हीं सच्चे पिता हो, तुम्हीं स्तेहमयी माता हो, तुम्हीं विपत्तिसे बचानेवाले बन्धु हो, तुम्हीं सच्चे मित्र हो; शिष्या, धन और सर्वस्व, हे देवदेव ! मेरे सब कुछ तुम्हीं हो।’

हे प्रभो, हे अश्वरणशरण ! आज तुम्हारे सिंहा मेरे लिये कोई सहारा नहीं है; कोई गति नहीं है; तुम्हीं मेरे सर्वस्व हो, जीवनके आधार हो, प्राणोंके अबलम्बन हो; मुझे बचाओ, बचाओ ! तुमसे प्रेम करना ही प्रेम है, तुम्हें जानना ही शान है। प्रभो ! दया कर अपने प्रेमका दान दो, अपने पावरसे मुझे नहला दो, पवित्र कर दो। अपने ज्ञानका प्रकाश दो, जिससे मेरा अन्तर-बाहर ज्योतिर्मय हो जाय—शुभ्र ज्ञानमय हो जाय !

मनुष्यके हृदयसे जब ऐसी करुण पुकार निकलती है, तब समझना चाहिये कि यथार्थ साधनाका श्रीगणेश हुआ है।

साधनाकी आवश्यकता क्यों है ?

हर बातमें उपर्योगिताको हँडेनेवाले यह पूछ सकते हैं कि आखिर साधनाकी आवश्यकता किस लिये है, उससे क्या लाभ है ? कर्त्ता न मनुष्य खाये-पीये, मौज करे, धन संग्रह करे, बम बरसावे, दुनियाको जीतकर उसकी छातीपर अपना शासन स्थापित करे, हुक्मस्त कायम करे ? उसे इस बातकी आवश्यकता ही क्या है कि वह भगवान् और साधनाके विषयमें सोचें-विचारें, मायापची करे ? परन्तु यह भी कोई जीवन है ? यह तो अशान-तिमिरमें भटकना है ! यह जगत्-त्रिगुणमयी भायाकी अनन्त कीडास्थली है। मनुष्य ऑख्य-मिचौनी खेल रहा है। उसकी ऑर्डोंपर अशानकी पट्टियाँ बँधी हैं। अहङ्कारके कारण वह हुँसके गर्तमें जा पड़ा है। कभी इसे छूता है, कभी उसे, दुनियाभरकी खाक छानता फिरता है। अटके कटकतक चीनसे पेरुतक चक्कर लगाता फिरता है और सुख-दुःख, हर्ष-विषादके थपेहुँ खाता फिरता है। जहाँ जाता है, वहीं धके लाता है, हुरुराया जाता है। कहीं भी शान्त नहीं, सुख नहीं, स्तम्भन्ता नहीं, सन्तोष नहीं। अपने-ही-आप अपनी हच्छाओंमें आबद्ध है, बासनाओंमें जकड़ा हुआ है, अपनी ही हच्छाओंका गुलाम है। वह जितना भी सोचता-विचारता है, जितना भी हाथ-पैर मारता

है, उतना ही वह दुःखोंकी जंजीरोंसे अधिकाधिक जकड़ा जाता है, उलझता जाता है।

हठनेहीमें अन्तरकी घटी बज उठती है और भगवान्-का नाम हृदयमें गौँजने लगता है। शाब्द एक स्वरसे कहते हैं—डंकेकी चोट कहते हैं कि भगवान् ही—एकमात्र श्रीभगवान् ही विशुद्ध आनन्द हैं, वात्सल्यिक शान हैं, परात्पर सत्य हैं, सर्वसमर्थ प्रेम हैं। भगवान्के श्रीचरणोंके केवल एक बारके स्पर्शसे ही ऑख्यकी पहुँच खुल जाती है; जीवन उन्मुक्त हो जाता है, सत्य उत्तर आता है और हृदयके अन्तरलालमें आनन्दकी तरङ्गें उठने लगती हैं। नामका अनुसरण और भगवान्के चरणोंका स्मरण साधनाकी पहली सीढ़ी है। भगवान्के परम पावन चरणयुग्मल ही हमारे सचे आश्रम हैं, एकमात्र शारण हैं; और तमाम आधार व्यर्थ हैं, धोखेमें डालनेवाले हैं, भरमानेवाले हैं। भगवान्की प्राप्ति ही सच्ची प्राप्ति है; उसके बिना और सारी प्राप्ति व्यर्थ है, महान् द्वानि है। भगवत्-नेतनाके बिना जीवन दाशन आत्महत्या है, भयानक आत्महनन है। आजकी हुनियामें, जहाँ विज्ञानके नवीन-नवीन अनुसन्धानोंमें मनुष्यका अहङ्कार इतरा उठा है, जहाँ भोगमय साम्राज्यवादकी दानवी ज्वाला-से मानवता पीड़ित एवं क्षुब्ध है—सर्वत्र इसी आत्महननका दौर-दौरा है। यह पैशाचिकता नहीं तो और क्या है कि समुद्रके गर्भमें लोहसुम्बक तारोंका जाल बिछाकर जहाजोंको ढुबा देते हैं और निरीह मानवोंपर बम बरसाये जा रहे हैं ! इस अशानसे मनुष्यको ऊपर उठना होगा, इस अहङ्कारसे पहला छुड़ाना पड़ेगा और तभी वह अपने सत्यस्वरूपकी, उस सनातन शास्त्र सत्यकी उपलब्धि कर सकेगा, जिसके लिये उसके भीतर तड़प है, व्याकुलता है, अग्रावका बोध है। दूसरे शब्दोंमें, उसे साधना करनी होगी और तब उसे अपने सत्यस्वरूपका—जो स्वयं श्रीनारायण है—पता लगेगा। यह साधना जीवनके लिये आवश्यक है, अनिवार्य है। जीवनमें अच, जल, वायु, प्रकाशकी अपेक्षा भी इस साधनाकी आवश्यकता अधिक है।

साधनाके केन्द्र

मनुष्य वस्तुतः दिव्य भागवत् प्राणी है। वह आत्मदृष्टि साक्षात् श्रीभगवान् ही है, मनुष्यताका तो उसमें चोला धारण किया है। मनुष्यकी तमाम पहेलियोंका बस, एक ही हल है और वह यही है कि मनुष्य अपने दिव्य भगवत्स्वरूपकी उपलब्धि करे। मनुष्यके भीतर भगवान्

पञ्चकोषोंमें छिपे हुए हैं। मनुष्यका भौतिक रूप आत्माका परिच्छद है, यही है अन्नमय कोष। उसके बाद है प्राणोंका कोष अर्थात् स्नायुजाल, जो शरीरको धारण किये हुए है। इस स्नायुजालमें ही जीवनकी धाराएँ प्रचाहित होती रहती हैं। मन हन स्नायुओंका पोषण और सञ्चालन करता है। शरीर, मन और प्राण मनुष्यके निष्ठास्तरके केन्द्र हैं। मनके परे विज्ञान है। इस विज्ञानकी दृष्टिमें एक ही तत्त्व चहुत ही स्पष्ट एवं प्राज्ञलरूपमें रह जाता है। विज्ञानके परे आनन्दमय कोष है और इसमें प्रवेश करनेपर मनुष्य आत्मानन्दके हृदयमें प्रवेश कर जाता है। आत्मा हन पाँचों ही कोषोंसे परे है और हमारे हृदय-कमलके कोषमें जगमगा रहा है। साधनाकी तीव्रताके द्वारा जब दिव्य चेतनाका स्फुरण और जगरण होता है, तब इन पञ्चकोषोंकी प्रक्रिया स्पष्ट समझमें आ जाती है। शरीरके सभी अङ्गोंमें भगवान्‌के दिव्य संस्पर्शकी अनुशृत होनी चाहिये। इसके लिये आवश्यकता इस बातकी है कि हमारे समग्र अङ्ग सक्रिय साधनामें लगे। साधना कोई भी क्षयों न हो; यह आवश्यक है कि यह हमारी मन-बुद्धिको उद्वेषित करे और हृदयको स्पर्श करे। और वस्तुतः सच्ची साधना मन-बुद्धि और हृदयको स्पर्श करती ही है। हमारे शरीरके अंदर हृदय और बुद्धिमें ही मगवान्‌का निवास है। मन-बुद्धि साधनामें स्थिर हो जायें और हृदय उसके आनन्द-रसका निरन्तर आस्थादान करता रहे—यही तो साधनाकी सफलताके लक्षण हैं। मन-बुद्धि और हृदयके केन्द्रोंको जो साधना स्पर्श नहीं करती, वह अधूरी ही साधना समझी जायगी। अच्छा, इस सम्बन्धमें फिर आगे विचार किया जायगा।

साधनाके सिद्धान्त

साधनरणतः हमारी चेतना बढ़िर्मुखी होती है। बाहरके विषयोंमें यह मनमाना बेलगाम दौड़ लगती है, खूब उछल-कुद मचाती है और उसकी प्रत्येक उछल-कुदसे हमारी शान्ति और शक्तिका धरण होता रहता है और मन क्षुब्ध एवं चक्षुल होता रहता है। मनपर अच्छी तरह लगाम कसकर और इस प्रकार समग्र विश्वरी हुई चेतनाको आगे अंदर स्पेटकर उसे हृदयमें हुआ देना ही साधनाका गुह्य तत्त्व है। जिस प्रकार मरजीवा समुद्रमें गोते लगाकर रक्ख द्वैद निकालता है, उसी प्रकार साधकों अपने हृदयमें हृदयना होगा। हमारे सभी अङ्ग, हमारे अस्तित्वका एक एक कण मगवत्प्राप्तिकी सजग अभीष्टामें पुलकित हो उठे,

हमारे भीतर दिव्य पवित्रता भर जाय—इसके लिये हमारे अंदर हृद निश्चय चाहिये, अटल निष्ठा चाहिये और चाहिये साधनाके प्रति अदृढ़ अनुराग। ‘अन्तर्सुख होओ, भीतरकी ओर लौटो’—समस्त साधनोंका एकमात्र यही सूत्र है।

साधनाका मूल आधार

हृदयमें स्थित नारायणका साक्षात्कार करनेके लिये तथा समस्त जगतमें उनका संस्पर्श अनुभव करनेके लिये अनेक प्रकाशकी साधनाएँ हैं। उनमेंसे कोई भी साधना लगान और उत्साहके साथ की जाय तो साधक अवश्यमेव अपने लक्ष्यको प्राप्त कर लेगा; क्योंकि हमारी अन्तरात्मा ही हमें जन्म बनाकर^१ साधना करती है। मन, वचन और कर्मकी पवित्रता, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सात्त्विक एवं युक्त आहार-विहार, सत्सङ्ग, एकान्तसेवन, आँख, कान, जिहा, और उपस्थेन्द्रियका पूर्ण संयम, भगवान्‌में पूर्ण विश्वास, नाम-स्मरण, नम्रता, निरपेक्षता, सद्ग्रन्थ-सेवन, साधु-सेवन, श्रीगुरुका आशापालन—ये ही हैं साधनाके मूल आधार और कोई भी साधक, जाहे जिस शैलीकी उसकी साधना हो, इन तत्त्वोंकी अवहेलना कर नहीं सकता।

गुरु

थोग्य गुरुके संरक्षणमें साधना करना सर्वथा सुरक्षित एवं निरापद है। परन्तु सच्चे गुरुके लिये सच्ची खोज हीनी चाहिये। गुरुके जीवनमें जितनी अधिक पवित्रता होगी, जितनी अधिक दिव्यता होगी, उसके मुख्यमण्डलपर निष्ठाकी जितना अधिक विकास होगा, उसकी कहणाभी, क्रांतिर्मी हृषिमें जितनी भी दिव्य आत्मात्मिक ज्ञोति निकलती रहेगी, उसके शान्त, स्थिर, निर्मल, अहङ्कारशून्य, भरत, निश्चल, निर्माण, निर्मांद आचरणमें, उसकी शीतल स्निग्ध वाणीमें, जो सहज ही संशयका उच्छेदन करती है, आनन्द और प्रकाशकी वाणी करती है, जितना अधिक प्रभाय होगा, साधकका उत्तना ही शीघ्र कल्याण होगा। सच्चा गुरु कभी अपनेको अवतार घोषित नहीं करता, न अपनेको सर्वशक्तिमान् ही बतलाता है। इस प्रकाशके अहङ्कारका उसमें लेदा भी नहीं होता। प्रकाशन और प्रचारकी अवेशा मौन और एकान्तसे उसका विशेष प्रेम होता है। वह यह कहता भी नहीं कि मैं गुरु हूँ। सच्चा गुरु एक बारके दृष्टि-निषेपमात्रसे, एक बारके स्वर्णसे, एक बारके सकृत्यसे अपने योग्य शिष्यमें शक्तिपात कर सकता है। वह

मीलों दूरसे अपने शिष्यकी काव्य पलट सकता है; क्योंकि परमणुओंकी गतिमें जो सवेषा है, उससे भी अधिक तीव्र संवेग उसके विचारोंमें, उसके सङ्कल्पमें होता है। वहाँ ही भगवशाली है वह साधक, जिसे ऐसा गुरु प्राप्त हो गया है। ऐसे योग्य गुरु हैं वहुत ही दुर्लभ। भगवान्‌की कृपासे ही वे इस धराधामपर आते हैं। इस संसारमें आजकल ऐसे गुरु वहुत ही योड़े हैं।

कुछ साधनाएँ

साधनाके जिन आवश्यक तत्त्वोंका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, यदि उनका विकास किसी साधकमें हो रहा है तो वह आत्मज्ञानकी निम्नलिखित साधनाओंमेंसे किसी एकका, जिसका निर्देश उसके गुरुदेव करें अथवा जिसका अनुमोदन उसकी अन्तराम्भा करें, आधार ले सकता है—

१. भगवद्गीता, रामायण, भागवत, सूतसंहिता, विवेक-चूडामणि आदि-आदि धर्मग्रन्थोंका अनुशीलन एवं मनन।

२. राम, कृष्ण, शिव, शक्ति, अल्लाह, जैहोवा या भगवान्‌के अन्य किसी भी प्रिय नामका प्रतिदिन कम-से-कम दस हजार जप।

३. भजन गाना, भगवत्येमांसे नाचना और खूब प्रेमसे भगवज्ञामाका ज्ञान-ज्ञानसे उच्चारण और भगवत्कृपाका आवाहन। हृदय-द्वारकों खोलने तथा हृदय-प्रथित्योंको काटनेके लिये वह सर्वोच्चम साधन है।

४. सत्सङ्ग, साधु-सेवा और संत-महात्माओंको भगवान्‌का स्वरूप समझकर उनका सम्मान करना।

५. हमारे धर्मशास्त्रके द्वारा अनुमोदित नित्य नैमित्तिक कर्मानुषासन-सन्ध्यापासन, ब्रह्मयज्ञ, विष्णवदेव आदि पवित्र कर्मोंका विधिवत् पालन करना। इन कर्मोंमें महान् आत्मात्मिक रहस्य भरा पड़ा है।

६. भगवदर्पणबुद्धिसे ही कर्म करना और उन समस्त कर्मोंसे, जो अहंकार उत्पन्न करते हैं और मनकी शान्तिको नष्ट करते हैं, सर्वथा अलग रहना।

७. भगवान्‌की मूर्तिकी उपासना और अचौं। यह भाव दृढ़ रखे कि मूर्तिमें सक्षात् श्रीभगवान्‌का निवास है। यह धारुकी नहीं है, अपितु स्वयं श्रीभगवान्‌का दिव्य मङ्गल-मय विग्रह है। मूर्तिपूजाके अलोचक इस बातको भूल जाते हैं और इसीलिये मूर्तिपूजाके तत्त्वसे अनभिज्ञ ही रह जाते हैं।

सा० अ० ई४ -

८. नियमपूर्वक किसी मन्दिरमें जाना, उसे धोना, दोलना, साफ करना, बत्ती जलाना, धूप दिखाना आदि कैक्षर्य करना।

९. तीर्थ-सेवन, गङ्गा, यमुना, सरयू आदि पवित्र नदियोंमें स्नान करना। यदि सचाईके साथ निष्ठापूर्वक ये कार्य किये जायें तो अवश्य ही इसके द्वारा चित्तसङ्कुचित होती है और भक्तिकी लता लहलहा उठती है।

१०. दान करना-दीन-दुखियों, अपाहिजोंको अन्न देना, पशु-पश्योंको अपनी सन्तान समझकर उनको दाना-पानी पहुँचाना, गो-सेवा करना, पूजाके लिये बाग-बगीचे और कुलधारियोंलगाना, ब्रह्मचारियोंको अन्न-बछड़ा देना, साधु-संस्थासियोंकी आवश्यकताओंका स्थान रखना, पवित्र सद्गुर्नथोंका प्रकाशन करना, सद्गुरानका प्रचार और प्रसार, गरीबोंके लिये, रोगियोंके लिये अस्पताल खुलाना, गरीबों और मजदूरोंके लिये काम-काजकी व्यवस्था करना और उनकी जीविकाकी व्यवस्था बैठाना, उदारात्मपूर्वक दान देना; मानवमात्रको श्रीनारायणका विग्रह समझकर निष्काम-भावसे उसकी सेवा-शुश्रूपा करना। अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये ये कार्य नितान्त अनिवार्य हैं।

११. गुरुसेवा—गुरुके चरणोंमें अपने आपकी अर्पित कर देना, उहाँ साक्षात् श्रीभगवान् समझना और धैर्य तथा उत्साहके साथ उनके निर्दिष्ट पथका, उनकी आश्रितोंका श्रद्धापूर्वक पालन एवं अनुसरण करना, कभी उनकी भगवत्तामें संशय न करना।

१२. हठयोगकी कुछ कियाएँ—आसन, बन्ध, मुद्रा, प्रणाल्यास, कुम्भक, धौति, नौलि, त्राटक आदिका अभ्यास किसी योग्य अनुभवी गुरुके अनुशासन एवं तत्त्वावधानमें करना। हठयोगके आसनोंका अभ्यास एकमात्र नाडीशुद्धि और प्राणशुद्धिके लिये किया जाता है। इससे तुरन्त लाभ यह होता है कि इसके द्वारा साधकका चित्त स्पिर होता है और ध्यान जमता है और शारीरिक शोभ अथवा विशेष नहीं होने पाता। चमत्कारके लिये आसनोंका जो प्रदर्शन होता है, उससे कुछ भी होता-जाता नहीं। पैसेंके लिये तो राहमें यिक्षमगे भी आसन करते देखे जाते हैं। मनके साथ साधुओंका सीधा सम्बन्ध है। योगके आसनोंद्वारा प्राण-प्रवाहपर बहुत ही सुन्दर दंगसे नियन्त्रण किया जा सकता है, मनके बैंगोंपर लगाम करता जा सकता है और इस कारण

आसनोंके द्वाया मन और प्राण स्वस्थ होते हैं और शरीर भी पुष्ट होता है, संगठित होता है। हठयोगका यही लक्ष्य है।

१३. शारदीयोग-राजयोगमें आठ सीढ़ियाँ हैं। यम, नियम, आसन और प्राणायामके सम्बन्धमें ऊपर कुछ उल्लेख हो चुका है। प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिके विषयमें बहुत संक्षेपमें यहाँ चर्चा की जा रही है। पहले न्यार तो वास्तु साधनाके अंग हैं और पिछले चार आन्तरिक साधनाके। पिछले चारके द्वाया मनुष्य भगवान्‌के बहुत निकट पहुँच जाता है। ध्यान ही आभ्यन्तर साधनाका प्राण है। ध्यानका सरल अर्थ यही है कि समस्त बाया वृत्तियोंकी अन्तर्मुख कर हृदयात्मा अथवा हृदयुण्डरीकस्थित आत्म-पुष्पमें लीन कर देना। ध्यानमें सबसे पहले चित्तकी वृत्तियोंको एकाग्र करना पड़ता है। हष्ट देवताकी मूर्ति या चित्रपर हृष्टिको टिकानेसे सहज ही ध्यान जमता है, चित्र एकाग्र होता है अथवा किसी पुण्य, नक्षत्र, सूर्य, आकाश, मन्त्र, ब्राह्मोच्छ्वास अथवा हृदयकी धड़कनपर हृष्टि स्थिर करनेसे सहज ही ध्यान लगने लगता है। तरे और पुष्पको अपने परम प्रियतम प्रभुकी मृदुल मुस्कान समझना चाहिये; आकाश और पृथ्वीको उसका निवासत्यान समझना चाहिये, हृदयको उसका मन्दिर मानना चाहिये। सभी वस्तुओंके रहस्यमें आन्तरिक स्वरूपको ही प्रहण करना चाहिये। ध्यान जब हृदयमें किया जाता है, तब बाहरके किसी भी उपकरण जा सहायताकी आवश्यकता नहीं रह जाती; नक्षेंकि हृदयस्थ चैत्य पुरुषका रिव्व भाव-प्रवाह हमारी समस्त सत्ताको आत्मसंतु कर लेता है और इस कारण हमारी उपासना भी दिव्य हो जाती है। हृदयदेवमें स्थित नारायणका ध्यान लगातार पूरे छः महीने करनेपर हमारी अन्तश्चेतना जाग उठती है और उसके अनन्तर तो साधकोंके केवल ही चातका ध्यान रखना पड़ता है कि उसकी अन्तर्गुफामें जो दिव्य ज्याल्माल जगान्मगा रहा है उसपर उसकी हृष्टि स्थिर रहे। पिर और कुछ करना-धरना नहीं पड़ता, साधना तो स्वर्ण चलती जाती है, होती रहती है। इससे होगा यह कि धीरधीरे जब समग्र चेतना जाग उठेगी तो मन-बुद्धिका आत्मामें विलयन हो जायगा और समाधिका आनन्द प्राप्त होने लगेगा।

१४. भक्तियोग-अपने हष्टदेवके चरणोंमें सर्वात्मसमर्पण ही सर्वशेष साधना है। इससे स्वर्य ही साधकमें साधनाकी सभी आवश्यक जाते जाती हैं। भक्तिकी साधना अत्यन्त सुगम

है और इसमें किसी प्रकारके विद्य-बाधा या अन्तरायका प्रायः भय नहीं है। भगवान्‌के चरणोंमें भक्ति करके संसारमें आजतक कभी किसीको धोखा हुआ नहीं, हो नहीं सकता। गृहस्थोंके लिये, जिनकी संल्या संसारमें १९% (सौमें निन्यानवे) है, यह सर्वोत्तम साधना है। भक्तिके मुख्यतः दो भेद हैं—सगुणभक्ति और निर्गुणभक्ति अथवा अपराभक्ति और पराभक्ति। इनमें सगुणभक्ति अधिक सुगम है और इसका पालन सभी कर सकते हैं। प्रेम कई प्रकारसे व्यक्त होता है। प्रेम भक्त अपने प्रेमको अनेकों प्रकारसे प्रकट करता है। भगवान्‌से वह कई प्रकारका सम्बन्ध जोड़ लेता है—दास्यभाव, सर्वभाव, वात्सल्यभाव, मातुर्यभाव आदि कई सम्बन्धोंको लेकर वह भगवान्‌से जुड़ जाता है। इनमेंसे किसी भी भावसे की हुई भक्तिके द्वारा भगवत्कृपा प्राप्त होती ही है।

१५. ज्ञान-साधन-समाधिके लिये ज्ञान-साधन बहुत ही उत्तम साधन है। विवेक, वैराग्य, आत्मचिचार, अन्तर्दर्शन—यह है प्रक्रिया ज्ञान-साधनकी। हृश्य जगत्के समस्त विषयोंके प्रति—जो अनात्म हैं, तुच्छ और क्षणमङ्गुर हैं—जानी अपनी हृष्टि मूँद लेता है; अपनी इन्द्रियोंको हटा लेता है—खींच लेता है। मैं यह भी नहीं हूँ—‘नाहम्’ ‘नाहम्’से वह शुरू करता है। पिर सहज ही प्रभ उठता है—पिर मैं क्या हूँ, मैं क्या हूँ—‘कोऽहम्’ ‘कोऽहम्’! अन्तमें शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूपमें अपने आपको स्थित पाकर वह कई उठता है—मैं ‘वह’ हूँ, मैं ‘वह’ हूँ—‘सोऽहम्’ ‘सोऽहम्’! जानी इस बातको जानता है कि वह ‘आत्मा’ है, स्वयं ब्रह्म है। अहनिद्य सोते-जागते, उठते-बैठते वह इसी जाग्रत् चेतनामें रहता है और अपने मन, चित्त तथा प्राणको उसी ‘एक’ शाश्वत सत्यमें लय किये रहता है। उसी ‘एक’ का ही वह अपने अन्तर्हृदयमें दर्शन करता है—और आँखें खोलकर बाहरके संसारमें भी वह उसीका दर्शन करता है। ‘उसके तिबा उसके लिये और कुछ रह ही नहीं जाता। वह सर्वत्र और सब वस्तुओंमें उसी एक अद्वितीयको ही और उसी ‘एक’ अद्वितीयमें सब वस्तुओं और सब रूपोंको देखता है। इसीको कहते हैं एकमें अनेक और अनेकमें एकका दर्शन। ऐसे ही आत्मदर्शीं संतका गुणगान गीता और उपनिषद् गाती हैं।

१६. क्षम्य-योगी लोग जाएँत कुण्डलिनीकी उपासना शक्तिरूपमें करते हैं। चक्रवेदधीको प्रक्रियाके द्वारा वह

कुण्डलिनीको छ; चक्रोंको भेदता हुआ सहस्ररम्ये ले जाता है और वह महाकुण्डलिनीका 'पुरुष' से मिलन होता है। इस मिलनसे उँचारकी घटनि स्पष्ट सुननेमें आती है और ब्रह्म-रन्धरमें प्रकाश जगायाने लगता है और कई वर्षकी साधनासे हमारा सम्पूर्ण अस्तित्व-हमारा मन, प्राण, शरीर सब-का-सब दिव्य हो जाता है। नस-नसमें, कण-कणमें चिन्हचिकिका दिव्य विलास होने लगता है और आनन्दकी पुलकसे रोम-रोम तिहर उठता है। परन्तु यह बात स्पर्श रखनेकी है कि तन्त्रकी साधनासे कुण्डलिनी-जागरणद्वारा जो कुछ आनन्दानुभूति होती है, शानीकी सहज समविद्या भक्तके अशेष आत्मसमर्पणमें उससे किञ्चिदंत्रमें भी कम आनन्दानुभूति नहीं होती। तन्त्रका मार्ग सङ्कटपञ्च है और किसी अनुमध्यी योग्य सिद्धि गुरुकी देख रेखमें रहकर ही इस मार्गमें प्रवृत्त होना चाहिये। गुरु ऐसा हो, जो शिष्यमें शक्तिपात कर सके। केवल प्रपञ्चसार, पद्मकमेदन, कुलार्थि या महार्थि तन्त्र पढ़ लेनेसे तन्त्रका शान नहीं हो सकता। और इहें पढ़कर पञ्चमकारकी उपासनामें प्रवृत्त होना तो अपनेको एकदम खतरमें ढालना है। बहुत-से साधक इस मार्गपर चलकर खतरा उठा चुके हैं, घोड़ा खा चुके हैं। इस पथमें पूरी साधानी न रही तो अवाङ्छनीय परिणाम होना स्वाभाविक है। यह जान लेना चाहिये कि भक्ति-साधना और शक्ति-साधना दोनों ही समानरूपसे प्रभावशाली हैं।

पुकारो, भगवान्‌को पुकारो

बचपनमें मैं सहज ही भक्तिके मार्गमें लगा। मेरे दादा एक सच्चे संन्यासी थे। पैदल दो बार मद्राससे हिमालयतककी यात्रा उन्होंने की थी और अपने अन्तिम दिनोंमें वे एक पर्णशालमें रहा करते थे। मेरी अवस्था उस समय छह-सात सालकी थी। मैं बराबर उनकी ऐवा-परिचयमें लगा; रहता था और मेरेलिये तो वे भगवान् ही थे। उनके ही पास रहकर मैंने इट्टयोगके तमाम आवन सीले, प्राणायामकी प्रक्रिया सीखी—और यह सब कुछ हुआ खेल-तमाशेमें। उनकी सेवमें मुझे इतना रस मिलता कि पढ़ना-लिखना सब ताकपर रख दिया और मेरा दिल-दिमाग दुनियाकी किसी भी बातमें रसता ही नहीं था। घरबाले मुझे बुरी तरह फटकारते, परन्तु मैं अपनी लारी बातें चुरचाप अपने दादासे—जिन्हें मैं लाक्षात् नारायण समरक्षता था—कह दिया करता था।

मैं-स्वामीजी ! मेरे पिताजी मुझे पीटते हैं...

बै—एक ऐसा भी पिता है, जो अपने बच्चोंको कभी नहीं

पीटता; उसे खोजो।

मैं-स्वामीजी ! मेरी माँ मुझे बुरी तरह फटकारती है।

बै—एक ऐसी नहीं है जो तुम्हें कभी भी फटकारेगी नहीं। वह केवल तुम्हें व्यारही-प्यार करेगी; उसे हूँढ़ो।

मैं-स्वामीजी ! मेरे मास्टर बैतोसे मेरी खबर लेते हैं।

बै—एक ऐसा भी मास्टर है जो तुम्हें कभी भी बैत नहीं लगायेगा, न तुम्हें छेषेगा ही। वह तुम्हें ऐसी बातें सिखलायेगा जिन्हें तुम्हारे दुनियाके मास्टर सौ जन्ममें भी नहीं सिखला सकेंगे।

मैं—मुझे किताबोंमें कुछ मजा नहीं मिलता।

बै—(मेरे हृदयको धपथपाकर) असली किताब तो यहाँ है; इसे ही खोलकर देखो, पढ़ो। फिर आपही-आप तुम्हें सारा जान हासिल हो जायगा।

दिन-दिन इन उत्तरोंसे मेरे अन्तरकी गँड़े खुलती गयीं और अपने-आप ही मैं आत्मविचारमें लग गया। मेरे मनने वह हृदय निश्चय कर लिया कि उस 'परमपिता'के दर्शन करने ही हैं और उसका शान प्राप्त करना ही है, अवस्थामें रखना है। एक दिन वे बहुत ढंगसे यह समक्षा रहे थे कि जो कुछ है, सब-का-सब भगवान् ही है, एकमात्र भगवान् है, भगवान् सर्वज्ञ है और सब कुछ है। इसपर मैंने पूछा—‘स्वामीजी ! क्या मैं उनका दर्शन कर सकता हूँ ?’

‘हाँ, हाँ—उन्होंने स्नेहके साथ कहा।

‘कैसे ?’ मैंने आतुरतासे पूछा।

‘पुकारो, उसे पुकारो—उन्होंने समझाते हुए कहा।

‘कैसे पुकारँ स्वामीजी ?’

‘अरे भाई, उसे पुकारनेमें क्या दिक्षत है ? वह सर्वव्यापक है, शुद्ध है, पवित्र है, सर्वशक्तिमान् है। चाहे जिस नामसे पुकारो वह सुनता ही है, सुनता ही है, अवश्य सुनता है। उसे शुद्ध ब्रह्म कहो या उसे सर्वशक्तिमान्, सर्वउमर्थ कहो। उसे पुकारो या उनकी शक्तिको पुकारो। अच्छा सुनो, मैं तुम्हें एक मन्त्र सुनाता हूँ; तुम इसे जपा करो और तुम इसके दिव्य चमत्कारको देखोगो। वह मन्त्र है—‘ॐ शुद्ध शक्ति’ ! इससे तुम्हारे सारे मनोरथ तिद्ध हो जायेगे।’

इस मन्त्रके साथ मेरे हृदयका एक विचित्र अकथनीय आर्कषण हो गया, उसके लिये हृदयमें चाह उत्तज हो

आयी और रात-दिन मैं बराबर उसका जप करता रहा। यह मन्त्र मेरे हृदयकी धड़कनके साथ मिल गया। मैं अपने हृदयकी धड़कनमें स्पष्ट लुनता था उस मन्त्रकी व्यवि! मुझे यह दिव्य मन्त्र प्रदान कर वह महात्मा हृषि संसारसे चल चौसे। इरुके जाद मैं अनेकों संत-महात्माओंके संसर्गमें आया और अनेकों प्रकारकी साधनाएँ कीं। परन्तु अन्ततः मेरे लिये तो उस परम शुद्ध शक्तिके वरणोंमें पूर्ण आत्मसमर्पणका ही एकमात्र आधार रह गया है और इसीसे मेरे जीवनमें एक अद्भुत आनन्द है, जिसका मैं निरन्तर पान किया करता हूँ। भक्तिकी ज्याला मेरे हृदयमें अहर्निश प्रज्वलित रहती है। शुद्ध और शक्तिका वही सम्बन्ध है, जो सर्व और उसकी किरणोंका है।

महासाधन

सम्पूर्ण, निःशेष आत्मसमर्पणको ही मैं 'महासाधन' कहता हूँ। साधकोंकी प्राणदीयिनी माता गीताका यह सार-सर्वरूप है। लोग समझते हैं कि समर्पण एक बहुत आसान चीज है, परन्तु यह आसान है नहीं। समर्पणसे सारा कार्य, सारी साधना, समस्त भग्नोरय तफल हो जाते हैं—इसमें कोई भी सन्देह नहीं। मुझे तो एकमात्र समर्पणसे ही पूर्ण शान्ति एवं पूर्ण आनन्दकी अनुभूति हुई है। हठयोग और राजयोगकी अपेक्षा समर्पणका मार्ग अधिक कठिन है। समर्पणमें कर्म, भक्ति और शानका पूर्ण सम्बन्ध है। हाँ, यह बात अवश्य है कि हमारा यह समर्पण पूर्णतः प्रीतिपूर्वक होना चाहिये। नम्रता, आशापालन, प्रमुकी सेवा और मगवक्षालसे जगत्‌के जीवोंकी यथाशक्ति सेवा-सहायता करना—यह तो है शरीरका समर्पण। प्राणोंका स्वर इतना सुदृढ़ होना चाहिये कि वह साधनाके भारको सँपल सके, अहङ्कारको भग्न सके, इच्छा, वासना, मोह, आसक्ति, ईर्ष्या, राग-द्वेष, लोभ, लाल्सा, मद, मत्सरसे साधकको अलग-अछूता रख सके। यह पूर्णतः नरम, कोमल, चिकना, मसुण और संवेदनशील होना चाहिये—जिसमें यह भगवत्कृपाके संसर्पण और प्रभावको बराबर अनुभव करता रहे। किसी भी व्यक्तिगत वासना, किसी भी अद्विकार-पूर्ण माँग या शर्तके द्वारा समर्पणको कलंकित नहीं करना चाहिये। चित्त सर्वथा शुद्ध और निर्मल हो, स्पर हो, दृढ़ हो और हमारी समस्त इच्छाएँ पुक्षीभूत होकर भगवान्को पुकार सकें, भगवान्को ही प्राप्त करनेके लिये तड़प उठें। अहङ्कारको तो एकदम भिटा देना होगा, निःशेष कर देना पड़ेगा।

साधकको इस बातका दृढ़ विश्वास होना चाहिये कि मनुष्य तो भगवान्के हाथमें यन्त्रमात्र है, भगवान् उससे जो कुछ करना चाहते हैं, वही उसे करना पड़ता है। उसे यह अनुभव करना चाहिये कि स्वयं भगवान् ही उसके प्राणोंके प्राण हैं, जीवनके जीवन हैं, मरित्यमें बैठकर भगवान् ही विचार करते हैं, और हृदयमें बैठकर वही आनन्दकी सुष्ठु करते हैं।

साधनाके दो धोर शत्रु हैं—अहङ्कार और ममकार, मैं और मेरा। इनके नाममात्रसे भी साधनाके क्षेत्रमें तब कुछ किया-कराया नौपट हो जाता है। बुद्धिके द्वारा आत्माको अनात्मासे पृथक् करके भगवान्के पथमें आगे बढ़ना चाहिये। मन पाँचों इन्द्रियोंपर पूरी जौकी रखते। इन्द्रियोंकी कमी-कभी मदमाते उद्धाम घोड़ोंकी तरह मनुष्यको लाई-खंदकोंमें गिरा फेंकती हैं और मनुष्य विषय-वास-नाओंके जंगलमें घटकता फिरता है। मनुष्य अशानके हाथकी कठपुतली ही जाता है। मन तो शिष्योंका स्फुरण-शान है। मन हृदयमें द्वृव जाय और हृदयमें भगवान् की ज्योति सदैव जगमगाती रहे—फिर चाहिये क्या। हृदयको इस बातका पूरा-पूरा विश्वास हो जाना चाहिये कि अवेगामी शिष्योंमें कुछ भी है नहीं और प्रेम करने योग्य कोई वस्तु है तो वह है परम प्रियतम प्राणघन हरि। जब दिव्य प्रेम हृदयको संसर्पय करता है तो मार्ग अपने-ही-आप सुगम हो जाता है और सारी कठिनाइयाँ आप-ही-आप हल ही जाती हैं। तब तो ऐसा होता है कि हमारा परम प्रियतम हमें अपनी भुजाओंमें बाँधकर अपने साथ ही लिये फिरता है। जब मन-बुद्धि-प्राण भगवान्में द्वृव जायें, जब हृदयमें उसी एक 'दिलबर' के लिये, उसी एक 'महाबूब' के लिये प्यार और तड़प रह जाय-बस, प्यार-भरी तड़प और तड़पता हुआ प्यार रह जाय, जब जगत्‌के भोग-विलोसें चित्त आप-ही-आप फिर जाय, जब साधक यह समझे, यह अनुभव करे कि शरीर जाय तो जाय, परन्तु भगवान्के पाये विना रह न सकूँगा, जब उसे जीवनकी अपेक्षा भी श्रुति प्रिय लगे, तब उसे यह समझना चाहिये कि भगवदीय चेतनाका उसमें अवतरण एवं स्फुरण हुआ है। तभी उसपर भगवान्की दया उत्तरती है, दिव्य प्रकाश उसपर अपने-आप बरसने लगता है और लभी उसके भीतर भगवान्ती इच्छा अपना कार्य करने लगती है। साधक तब यह समझता है कि वह भगवान्के हाथका एक यन्त्रमात्र है और भगवान्की

जो इच्छा होती है वही उसके द्वारा होता है, अन्यथा कुछ ही नहीं सकता। वह यह अनुभव करता है कि उसके कुम्भकमें भगवान् ही सौंप लेते हैं, उसकी जागी-में भगवान् ही बोलते हैं, भगवान् ही उसके हृदयमें बैठे प्यार करते हैं, उसकी कुदिमें बैठे हुए विचार करते हैं और उसकी आत्मामें रहका आनन्दका आशादान करते हैं। यह है समर्पणीक पराकाष्ठा। इसके द्वारा मनुष्य स्वतः निश्चिन्ता, निर्द्वन्द्व और निर्लेप रहता है और उसके द्वारा भगवती शक्ति अपना कार्य करने लगती है। साधक अपने हृदयमें भगवान्के साथ नित्य सुख रहता है। साधक भगवान्को नहीं छोड़ता, भगवान् साधकको नहीं छोड़ते। साधकका निवास होता है भगवान्में, भगवान्का निवास होता है साधकमें। इस प्रकार से समर्पणकी प्रक्रिया हमारे प्राचीन शृणि-मुनियोंने बतलायी है। और यही है इस युगके लिये परम साधन।

सिद्ध पुरुष

सिद्ध पुरुष यह जानता है कि भगवान् ही उसकी आत्मा हैं। वही यह डंकेकी चोट कह सकता है कि मैं आत्मा हूँ, मैं ब्रह्म हूँ। परन्तु सिद्ध पुरुष इस कारण किसी ऐसे भ्रममें या अद्विकारमें नहीं देखा कि वह सोचने लगे कि वह सर्वशक्तिमान् है, सर्वव्यापक है और स्वयं भगवान् है या उसका प्रतिनिधि है। समाधि-साधकोंको तो इस दिशामें बहुत ही सतर्क रहनेकी आवश्यकता है। नाममात्रका अद्विकार भी उसे ले द्वेषेगा। मनुष्य तो तीमात्रोंसे आपदा है। वह ईश्वरका अंश अवश्य ही है, परन्तु ईश्वर नहीं है। अंश पूर्णके ब्रह्मवर नहीं हो सकता, सूर्य-की एक किरण सूर्यके समान नहीं हो सकती। जलका एक कण लघु सागर है—इसमें कोई सनदेह नहीं, परन्तु यह पूर्ण सागर तो नहीं है। साधक सदैव इस बातका ध्यान रखते कि वह जीवित है, क्योंकि भगवान्का उसमें निवास है; वह सौंप लेता है, क्योंकि भगवान् उसके भीतर बैठे सौंप लेते हैं; वह सोचता-विचारता है, इसलिये कि उसकी कुदिमें बैठे हुए भगवान् अपने प्रकाशसे उसकी बुद्धिको प्रकाशित किये हुए हैं और वह भगवान्का साक्षात्कार करता है; क्योंकि भगवान् ही उसके जीवनकी सार सत्ता हैं। डायनेमो विजलीके प्रवाहसे चलता है। स्वर्य महानिमें क्या शक्ति है कि कुछ भी कर सके। उस अनन्त शक्तिके एक कण-मात्रसे समस्त लोक-लोकान्मार्दोंमें जीवन-प्रवाह ग्रावाहित हो

रहा है। उसी शक्तिसे यह जगत्-चक्र चल रहा है। मनुष्य उस शक्तिकणका करोड़वें हिस्सेका भी कलोड़वाँ हिस्ता है या उससे भी कम। इसलिये उसे यह भूल नहीं जाना चाहिये कि चाहे कितनी भी उसकी शक्ति क्यों न हो, वह देश और कालसे लीमित है, परिच्छन्न है और वह कदापि उस अनन्त, सर्वशक्तिमान् प्रभुकी समानता कर नहीं सकता। इसलिये मनुष्यमात्रके लिये एक ही मार्ग है और वह है समर्पणका। जिस प्रकार भालाके मनिये धारोंमें पिरोवे रहते हैं उसी प्रकार जपसे लेकर समाधितक समस्त साधनांत्रोंका मूल आधार है यह समर्पण, सर्वस्व-समर्पण, निःशेष सर्वात्मसमर्पण।

समर्पण

प्रभो! मेरे देवाधिदेव! मैं यह भूत्यूँ नहीं कि तुम सदैव मेरे हृदयदेशमें निवास करते हो। तुम्हीं मेरे जीवनके सूत्रधार हो। इस क्षण-क्षण बदलनेवाले, पल-पलमें बनने-मिट्टेवाले संसारमें जो कुछ भी हो रहा है, जो कुछ भी सामने आ रहा है, जो कुछ भी हिल-हुल रहा है और फिर औंखोंसे ओङ्कार हो रहा है वह सारा ही तुम्हारी सत्तासे अनुप्राणित है, स्पन्दित है। मेरा मन-प्राण तुममें ही निवास करे, बसे और मेरा यह ज्ञान, यह चेतना बनी रहे कि तुम्हारी इच्छाके सिवा मेरी कोई गति नहीं, कोई आश्रय नहीं, कोई शरण नहीं, कोई अस्तित्व नहीं। यह शरीर तो मृत पिण्ड है, यह सजीव इसलिये है कि तुम इसमें सौंप लेते हो। ओ मेरे प्रियतम, मेरे प्राणाराम! मैं अपने हृदयदेशमें सतत तुम्हारा आलिङ्गन-रस पाता रहूँ। जो कुछ करूँ तुम्हारी प्रेरणा और सङ्केतसे, तुम्हीं मेरे द्वारा अपना कार्य करो, अपना उद्देश्य साथो; मेरे हृदयमें तुम्हारा ही प्रेम विराजे, तुम्हीं प्रेमरूपमें विराजो; मेरी बुद्धिमें तुम्हीं प्रकाशरूप बने रहो, मेरे मस्तिष्कमें तुम्हीं विचार करो। मेरे समस्त अद्विकारको अपनेमें ढुबा लो, प्रभो! मेरे अंदर तुम्हारे सिवा कुछ भी रह न जाय, तुम्हीं-तुम रह जाओ। हे सर्वशक्तिमान्, सर्वसमर्पण सामिन्! भले

ही मैं समाधिकी अवस्थामें तुमसे एकाकार होकर तुम्हारी ही तरह हो जाऊँ; परन्तु यह भूलकर भी मैं यह न मान बैठूँ कि मैं तुम्हारे सदृश हूँ। मैं हूँ ही क्या। एक तुच्छ नगण्य नाचीज़—जो अपनी एक-एक सौंसके लिये तुम्हारी कृपापर अवलम्बित है, तुम्हारी दयाका सुँह जोहता है। तुम्हारे अनन्त महासत्ताके सम्मुख इस कणकी क्या हस्ती है, प्रभो!

मेरा अहङ्कार तुम ले लो, मेरे दयामय हरि। और सुहे नम्रता, दीनता प्रदान करो। ओ मेरे सामी! तुम्हारी इच्छा मेरे जीवनमें पूर्ण हो, तुम्हारी जो इच्छा हो वही मेरे भीतर-बाहर हो—तुम्हीं मेरे भीतर साधना करो और तुम्हीं मेरे भीतर सिद्ध होकर अपनी इच्छा पूर्ण करो।

—३५४—

साधना और सिद्धि

(लेखक—स्वामी श्रीआसानन्दजी महाराज)

साधनाके विशाल एवं व्यापक क्षेत्रपर यदि हम उदार हृषि डालें तो हमारा यह विश्वास इद हो जायगा कि हमारा सम्पूर्ण जीवन साधनाका अनन्त क्षेत्र है। जैसी करनी वैषा फलत—यह एक ऐसा सत्य तिद्वान्त है जो हमारे जीवनके समग्र शारीरिक और मानसिक कर्मोंमें—एक-एक कार्यमें लागू होता है; यह कार्य चाहे जिस प्रकारका हो—उसका सम्बन्ध कलासे हो या साहित्यसे हो, चित्रकारीसे हो, सङ्कीर्तनसे हो या संस्कृतिसे हो—सर्वत्र समानरूपसे यह सिद्धान्त घटता ही है। ऊपर हम जितने भी क्षेत्र गिना आये हैं, उनमें हमें सफलता उत्तरने ही अंशमें मिलती है, जितने अंशमें हम उसमें निष्ठा एवं शक्तिके साथ प्रवृत्त होते हैं। इसलिये यदि हमने अपनी चरम लक्ष्य-सिद्धिके लिये पूरा-पूरा प्रयत्न नहीं किया, जी-जानते परिश्रम नहीं किया तो हमारे लिये अपनी असफलतापर दुःख करनेका, खिल छोड़नेका कोई कारण नहीं है। अतिचेतन और अतीरिद्य परमात्मसत्ताकी उपलब्धिके लिये हम जो कोई भी आध्यात्मिक अनुष्ठान करते हैं—छान, चिन्तन, पूजा, जप, आसन, भजन इत्यादि—सब साधनाकी परिमाणाके अन्तर्गत आ जाते हैं।

सभी संत-महात्माओं तथा धर्मसंस्थापकोंने अत्यन्त कठिन-कठोर साधनाके द्वारा ही आत्मशानका प्रकाश पाया और आत्मानुभूतिके दिव्य प्रकाशमें ही उन्होंने जगत्के लिये भगवान्का पथ ढूँढ़ निकाला, भगवत्साक्षात्कार अथवा निर्वाणका मार्ग आलोकित किया। और यही कारण है कि इन आत्मदर्शी संत-महात्माओंके चरण-चिह्नोंका अनुसरण कर, उनके आदेश और आचरणका अनुकरण कर आज भी प्रकृत सच्चा साधक, भगवान्के पथपर चलनेवाला एक निष्ठावान् पुरुष

आध्यात्मिक साधनाकी एक-एक सीढ़ी चढ़ता हुआ अपने लक्ष्यकी ओर बढ़ता जाता है; क्योंकि वह महात्माओंके बताये हुए उस मर्मारपर चल रहा है, जिसका उल्लेख संसारके धर्म-शास्त्रों एवं अध्यात्मग्रन्थोंमें बहुत विस्तारसे हुआ है। साधनाका यह पथ इतना प्रशस्त, सुरक्षित एवं सुनिश्चित है कि साधकको इधर-उधर भटकनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं है। कारण कि उन संत-महात्माओंने जो कुछ लिखा है वह अपने अनुभवसे लिखा है, उनके उपदेश और आचरणमें पूर्णतः एकत्र थी, वे वही बात लिखते थे जिसका उन्हें अनुभव था और इसीलिये उनके उपदेशोंमें जीवन एवं शक्ति भरी पक्की है। ऐसे संत-महात्मा जिस धर्ममें जितने भी अधिक होंगे, वह धर्म उत्तमा ही दीर्घजीवी और स्थायी होगा। परन्तु खेदका पिपासा है कि बीच-बीचमें अपकर्त्तीकी अन्तर्देशा भी आती रहती है और उस समय उन महात्माद्वारा प्रज्ञलित आत्मशानकी ज्वाला धूमाच्छज्ज हो जाती है। परन्तु यह तेज है तो सनातन, विश्रकाशमान और विद्य। इसी करण वह केवल धूमाच्छज्ज होता है, बुझता नहीं—बुझ सकता ही नहीं। इसलिये एक सच्चा साधक अवसाद और अपकर्त्तीकी अन्तर्देशाएं निराश एवं क्लान्त नहीं होता, अपितु अपनी कठोर तपस्या एवं तीव्र साधनासे वह समस्त साधन-पथके आलोकित कर देता है—उसमें नवीन प्राण, नूतन जीवन ढालकर पुनः जाज्वल्यमान कर देता है।

संसारके धर्मशास्त्रोंका तुलनात्मक अध्ययन करनेपर हम इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि सनातनधर्मके अतिरिक्त सभी धर्मोंने अपने-अपने अनुयायियोंके मानसिक विकासके लिये एक सुनिश्चित साधन-प्रणाली निर्बारित कर दी है

जिसमें एक विशिष्ट प्रकारकी भावना, ध्यान, चिन्तन तथा साधनाकी प्रक्रियाओंका निर्देश है। परन्तु हिन्दूधर्मने अपने अनुयायियोंकी भग्नोददामा, प्रहृति आदिका ध्यान रखकर अनेकों प्रकारकी साधन-शैलीका अनुसन्धान एवं उद्घाटन किया है जिससे सब लोगोंके लिये साधनका पथ सुगम हो—सभी अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार साधना कर सकें। अत्यन्त स्थूल सूर्ति-पूजासे लेकर निरुण निराकार-चिन्तनतक साधनाकी कई सीढ़ियाँ हैं। बाहर-आहरसे देखनेवालोंकी बुद्धिमें ये बातें आ ही नहीं सकतीं, न वे इनका रहस्य ही समझ सकते हैं। सनातनधर्म तो एक ऐसी मात्रके समान है, जो अपनी सन्तानकी वय और शक्तिको देखकर तरह-तरहकी चीजें उसके उपयुक्त तैयार कर विलाती रहती है और उसका स्वेहके साथ भरण-पोषण करती है। सच तो यह है कि हमारे पूर्वपुष्ट, हमारे शृणि-महर्षि और सिद्धि पुरुष—जो हिमाच्छादित, गगनचुम्बी भद्रामहिम हिमालयसे लेकर कन्याकुमारीतक फैले हुए हस आर्यदेशमें एक छोरसे दूसरे छोरतक रहते थे—वस्तुतः शाश्वतानसे बड़े ही निपुण एवं पारंगत थे, ज्ञान-विज्ञानमें विशारद थे। उनके बताये हुए साधन-मार्ग एवं साधन-प्रणालीका सच्चाईके साथ अनुसरण कर हम निश्चय ही अपने दुर्जय-दुर्धर्ष मनपर विजय प्राप्त कर सकते हैं, उसे पवित्र बना सकते हैं; जिसके द्वारा इस शरीर-लूपी पिंजड़ीके भीतर बंद हंस उन्मुक्त होकर कुरेल कर सकता है। हमारे वे शृणि-महर्षि सच्चे अर्थमें विज्ञानवेता थे और आज भी उनके विज्ञान-ज्ञानका संसार लोहा मानता है। क्योंकि उन्होंने जो कुछ भी अनुभव किये, वे मझे ही अवर्णनीय एवं अचिन्त्य हों; परन्तु कल्य सैद्धै उनका अनुभोदन करता है। सत्य सदा उनके अनुभवका आधार है। इसीलिये उनका अनुभव और ज्ञान भी सनातन सत्यकी भाँति शाश्वत है, विचर्त्तन है।

कुशल-कुशाय बुद्धि एवं सत्य-सनातन अनुभवमें यही अन्तर है। अध्यात्मका विशाल, विस्तृत क्षेत्र बुद्धिके लिये सर्वथा अगम्य ही है। यह बैचारी बुद्धि, जिसका हमें बहु गर्व एवं अभिमान है, वस्तुतः है क्या? यह तो देश-काल-कारणसे परिच्छिन्न है और यहाँतक परिच्छिन्न है कि इसका उस लोकमें प्रवेश ही नहीं है, जिसमें प्रवेश करनेके लिये साधकको देश-काल और कारणको या तो सुलाना पड़ता है या लोप करना पड़ता है। यही कारण है कि सनातनधर्मके आचार्य बार-बार हमारे कानोंमें यही कहते हैं कि वेदोंमें

विश्वास करो, आसदाक्षयोंमें विश्वास करो और इन्हींके आखेर साधनमार्गपर चले चलो, चले चलो और तत्त्वतक चले चलो जवतक अन्तरका पट न खुल जाय। साधना करो, साधना करो; सच्चाई, निष्ठा और विवेकके साथ साधना करो; शेष सारी बातें अपने-आप हो जायेंगी—यही है हमारे शान्तों और शृणियोंकी वाणीकी सार समुच्चय। दूसरे लघ्योंके प्रवर्तक तथा आचार्योंका भी यही कहना है और उनकी हस वाणीमें एक दिव्य ज्योति गर्भित है। परन्तु जिन लोगोंको बुद्धिका अर्जीण हो गया है, वे सब बातोंको अपनी बुद्धिकी तुलापर तौलते हैं। उन्हें पता नहीं कि अध्यात्मके पथमें साधनके विना कुछ भी नहीं बनता और इसीलिये वे इन संत-महात्माओं और आचार्योंको कुछ का कुछ समझ लेते हैं।

किसी भी बातके लिये दी हुई शर्तोंको पूरा कर देने-पर ही सफलताका मार्ग सुलता है। यह एक देश नियम है जो ज्ञानके क्षेत्रमें सर्वत्र समानलूपसे लागू है और धर्मके क्षेत्रमें तो विद्येशरूपसे। इसलिये सत्यके, ज्ञानके अथवा भगवद्गीतान्-के सच्चे साधक अथवा आत्मार्थीके लिये कुछ नियम होते हैं, कुछ विधियाँ होती हैं, जिनका सम्बन्धरूपसे पालन करनेपर ही मानव-जीवनकी चरम सिद्धि होती है। अद्वैत-वेदान्तके साधकको भी, जिसके लिये यह जगत् एक मायाजाल है, नित्यानित्यविवेक, इहानुत्र-फलभोगविवाग, शाम-द्वामादि वट्-सम्पत्ति और सुमुकुलकी शर्तें पूरी करनी पड़ती हैं और उन्हें पूरा करनेपर ही वह संसारके बन्धनोंसे छूटकर मुक्तिपथ-में सफलतापूर्वक जा सकता है। वे ही वर्यों, सभी साधकोंको—चाहे वे कर्मयोगी हों, भक्त हों या राजयोगी हों या और किसी मार्गके हों—कठिन साधनाके मार्गपर चलना ही पड़ता है, और तपस्या करनी पड़ती है और तब जाकर वे सच्ची साधनाके सच्चे अधिकारी होते हैं। उन सभी साधनोंमें, जिनका उल्लेख संसारके धर्मशास्त्रोंने किया है, चार मुख्य हैं। वे हैं—अशेष धैर्य, आत्मसंयम, सच्चाई और आत्मोत्तर्ग। केवल कुछ जप या ध्यान कर लेनेसे ही मनुष्य अपने आदर्शको नहीं पा सकता। भगवान् तो सर्वलोक-महेश्वर हैं, उन्हें किसी शर्तमें वौंचा नहीं जा सकता। साधकको चाहिये कि वह असीम धैर्य एवं साहसके साथ अपनी साधनाका अनुष्ठान करता रहे, करता रहे। एक दिन वह देखेगा कि उसके विना जाने ही प्रयुक्ती असीम अनुकूल्याका प्रयाह उसकी ओर मुड़ गया है और दिव्य लोकका द्वारा उसके लिये खुल गया है। देवर्पि नारद तथा

दो साधकोंकी कहानी इस समन्वयमें संसरणीय है और वस्तुतः बड़ी ही भावपूर्ण है। देवर्षि वीणा बजाते भगवानके दर्शनोंके लिये जा रहे थे। राहमें उन्हें दी साधक पृथक्-पृथक् स्थानोंमें साधना करते हुए मिले। पूछनेपर दोनोंने ही यह जानना चाहा कि भगवान्की प्राप्ति कब होगी। देवर्षिने भगवान्से इनकी चर्चा चलायी तो भगवानने कहा कि एकको तो दृष्ट वर्षमें दर्शन होंगे और दूसरेको उतने ही वर्ष लगेगे, जितने उस इमलिके पेड़में पसे हैं, जिसके नीचे बैठा वह साधना कर रहा है। देवर्षि लौटे तो पहलेने पूछा। उसे वह जानकर बड़ी ही निराश हुई कि अभी दस वर्षतक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। इसलिये उसने साधना छोड़-छाड़कर घरकी राह ली। दूसरा जब मिला तो उससे देवर्षिने डरते हुए कहा,—‘मार्हि अभी तो बड़ी देर है। इस इमलिके पेड़में जितने पसे हैं, उतने वर्ष बाद श्रीहरि तुम्हें दर्शन देंगे।’ परन्तु इस साधकके आनन्दका पारावार नहीं रहा। वह आनन्दमें नाचने लगा। ‘मिलेंगे न?’ बस, यही सोचकर वह प्रश्नकी कृपामें आत्मविस्मृत हो दूब गया। भक्तिकी धारा उमड़ पड़ी, साधना तीव्र हो गयी और उसे शीघ्र ही भगवान् भिल गये।

धार्मिक जीवनका मूल आधार है आत्मसंयम। आत्म-संयमके बिना साधना हो नहीं सकती, हो नहीं सकती। क्षुब्ध और कञ्चल शरीर तथा मनसे आध्यात्मिक जगत्-में सफलता मिल ही नहीं सकती। सफलताका मिलना सर्वथा असम्भव ही समझना चाहिये। कारण कि जिस शक्तिको संघटित एवं केन्द्रीकृत करके भगवान्समें लगाना है, वही शक्ति अपोमुख होकर क्षरित हो जाती है, नष्ट हो जाती है।

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा है कि मिथ्याचारी पुरुष लोक और परलोक दोनोंसे ही ऋषि हो जाता है। भगवानने अर्जुनको बुरी तरह फटकारा है—बातें तो करते हो परिषदोंकी सी, परन्तु शौक करते हो उन बातोंका जिनके

लिये शौक नहीं करना चाहिये। परमहंस रामकृष्णदेवने कहा है कि मन और मुखको एक करना ही सच्ची साधना है। सच्चा साधक जब अपने हृदयको टटीलगा तो वह देखेगा कि कई तरहकी दुर्बलता और अशुचिता उसमें भरी पड़ी है और जबतक ये दुर्बलताएँ और अशुचिताएँ बनी हुई हैं, तबतक धाराविक एवं स्थायी सफलता कैसे प्राप्त हो सकती है? यही है आध्यात्मिक जीवनका बीज।

अन्तमें एक बहुत ही आवश्यक बात कहनी है। अध्यात्मपथमें आत्मोत्तर्गती की जितनी भी आवश्यकता समझी जाय, योड़ी ही है। अध्यात्मके आकाशमें हम चाहे जितनी भी ऊँची उड़ात हैं—योगकी चाहे जितनी भी सिद्धियाँ प्राप्त कर लें—हमें यह जान रखना चाहिये कि जहाँतक हमारे अंदर अहङ्कार और ममकार है, जहाँतक इनका सर्वथा चिलोम नहीं हो जाता, जहाँतक भगवद्गीत अथवा मोक्ष एक कल्पनामात्र है। यदि आप भक्त हैं, भक्तिकी साधना करते हैं तो ‘इति, इति’ के मार्गसे चलिये, समन्वयके पथपर चलिये और अपनी इच्छाओंको, अपने तुच्छ ‘अहम्’ और ‘मम’ को भगवदिच्छाके महासागरमें लीन हो जाने दीजिये। यदि आप शानी हैं, तानके मार्गपर चल रहे हैं तो ‘नेति’, ‘नेति’ के द्वारा अपने अहङ्कारको मिटा दीजिये—व्यतिरेकी पद्धतिसे।

गीताके अन्तमें भगवान्से अर्जुनको ‘सर्वधर्मान् परित्यज्य मासेकं शरणं त्रजः’, सब धर्मोंको छोड़कर मेरी शरण लो—यह आदेश किया। श्रीरामकृष्णदेवका भी अपने भक्तोंको कितना दिव्य उपदेश है—‘अहङ्कारके मिठ जानेपर जगजननी मॉ साधकके शब्दपर अपना दृत्य करती है, वह दृत्य जो एक बार झुल होकर फिर कभी बंद नहीं होता।’

इस प्रकार समस्त साधनाएँ सिद्धिके महासागरमें प्रवेश कर जाती हैं।

३५३

नाम विना सब दुःख है

जीवत ही स्वारथ लगे मूर देह जराय।
हे मन सुमिरौ राम कूँ घोले काहि पराय॥
क्षात्री घोड़े धन धना चंद्रमुखी बहु नारि।
नाम विना जमलोक में पावै दुक्षज अपार॥

—कृष्णदासजी

शारण-साधना

(लेखक-पु० श्रीप्रतापनारायणजी, कविरत्न)

अलौकिक कामिनियोंकी ही
कामना कोई करता है।
सुखी संतानोंकी कोई
साधनापर ही मरता है ॥ १ ॥

किसीका सुंदरि-सेवामें
बढ़ा जाता सब जीवन है।
किसीका रमा हुआ रहता
रमामें ही व्याकुल मन है ॥ २ ॥

धाम-धन-द्वौलतको कोई
लोकमें जमा किया करता।
पेट-पालनको ही कोई
माँगकर दान लिया करता ॥ ३ ॥

शीशपर धुन सघार रहती
किसीके नाम कमानेकी।
किसीके भादत पहुँ जाती
देह पर भस्त रमानेकी ॥ ४ ॥

साधना जो येसी करते,
अंत में वे ही पछताते।
कभी वे नहीं सोचते यह—
यहाँ वे क्या करने आते ॥ ५ ॥

आज तुनियामें नकली हैं,
बहुत कम हैं असली भोले।
यहाँ तो अपने मतलबमें
गजबके सब ही हैं गोले ॥ ६ ॥

यहाँका देना ही तो है
वहाँकि लिये साथ लेना।
निकलना जगके जालोंसे
नाथके अपनी है खेना ॥ ७ ॥

किसीकी कथों न साधना हो
अंतमें साधक पछताता।
विश्व है नश्वर, इससे वह
विनश्वर वैभव-सुख पाता ॥ ८ ॥

सर्वदा पूरी होकर भी
अधूरी मनुज-कामना है।
उसे बस, पूरा कर सकती
रामकी सही साधना है ॥ ९ ॥

भक्तको इधर-उधर डुलकर
तरव पर आना ही पड़ता।
मोहमें, ममतामें मुँहकी
अंतमें खाना ही पड़ता ॥ १० ॥

मुक्तिकी इच्छासे बढ़कर
भक्तिकी भव्य भाघना है।
साधनाओंकी इन्द्राणी
इयामकी शारण-साधना है ॥ ११ ॥

भूल सब कलोंको हरिकी
मान लो यह आक्षा सत्वर—
'छोड़ सब धर्मोंको मेरी
एक तूशारण-साधना कर' ॥ १२ ॥

साधनाको गुप्त रखनेका महत्व

(लेखक—डा० शिवानन्द सरस्वती पम्० प०)

उपनिषदोंमें जिस 'परा विद्या' का वर्णन है उसे स्थान-स्थानपर 'गुहा' या रहस्यमय कहा गया है। उसे प्रकट करनेका निषेध किया गया है। गीतामें भगवान्ने 'राजयोग' को 'गुहा' शब्दसे प्रकट किया है। तन्मेंमें तो स्थान-स्थान पर—

गोपनीयं गोपनीयं गोपनीयं प्रथलतः ।
स्वयमपि गोपितश्चं हि न देयं स्वयं कस्यचिद् ॥

—इत्यादि शब्दोंके द्वारा साधनाको प्रकट करनेका निषेध किया गया है। किन्तु साथ ही यह भी कहा गया है कि ये साधनाएँ भोग-मोक्ष देनेवाली, जीव और ब्रह्मको एक बनानेवाली और आवागमनके बन्धनसे मुक्त करनेवाली हैं। इनसे बदकर प्राणियोंका हितकर साधन दूसरा नहीं। अब प्रश्न यह उठता है कि ऐसी हितकर साधनाओंको गुप्त क्यों रखा जाय? इनका तो सर्वसाधारणमें इतना अधिक प्रचार करना चाहिये कि एक भी व्यक्ति इनसे अपरिचित न रहे। सभी इनसे लाभ उटाकर आवागमनके चक्रसे मुक्त हो जायें, संसारके दुःखोंमें न भटककर भगवान् तक पहुँच जायें। हमारे शास्त्रोंमें स्वादिष्ट वस्तु दुसरोंको न देकर स्वयं खा लेने और धन व्यव न करके केंजड़की भाँति गाड़ देनेको धोर पाप बतलाया गया है। यदि इतनी साधारण वस्तुओंको दूसरोंको न देकर स्वयं उपभोग करनेसे ही पातक लगता है तो परवहा को प्राप्त करनेवाली विद्याको छिपानेमें कितना धोर पातक लगेगा?

यह प्रश्न विचारणीय है। धर्मशास्त्रोंमें साधनाओंको गुप्त रखनेका जो आदेश है उसके दो कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि साधनाके प्रकट होनेसे स्वयं साधकको ही हानि पहुँचती है। साधारण-से-साधारण साधना भी जब जन-साधारणके सम्मुख प्रकट हो जाती है तो लोग साधकका सम्मान करने लगते हैं, या यों कहिये कि उससे साधकका यश जनसाधारणमें फैलने लगता है। इस प्रकार यशका फैलना साधकके लिये अत्यन्त अहितकर है। तन्मेंमें लिखा है कि 'यदि जनताको यह शत हो जाय कि यह व्यक्ति तान्त्रिक साधक है तो उसी दिन तान्त्रिककी मृत्यु समझ लेनी चाहिये।' साधनाके प्रकट होनेपर साधकको जितना ही यश प्राप्त होगा, उसनी ही मात्रामें वह साधनाके फलको कम कर देगा।

इसीलिये बाइबिलमें लिखा है कि 'ढोल बजाकर दान-पुण्य न करो। जो ढोल बजाकर दान-पुण्य करते हैं, उन्हें उसका फल उसी समय मिल गया, आगे उनके लिये कुछ भी नहीं रहता।' कहते हैं यथार्थीक यज्ञोंका फल केवल इतनेहीमें नष्ट हो गया था कि रावणने अपने मुँहसे उन्हें प्रकट कर दिया था।

सर्वसाधारणमें यश फैलनेसे जनता साधकका सम्मान करने लगती है, धीरे-धीरे साधक भी यह समझने लगता है कि मैं अवश्य सम्मानके योग्य हूँ। इससे उसके हृदयमें सम्मानके प्रति राग उत्पन्न होता है, उससे अहङ्कार बढ़ता है। हृदय यदि किसी व्यक्तिविशेषने उसी प्रकार सम्मान न किया तो द्वेष या दुःख होता है, उससे क्रोध उत्पन्न होता है। इस प्रकार साधक अपनी साधनाओंको प्रकट करनेसे फिर उसी राग-द्वेष, अहङ्कार, क्रोध आदिके कीचड़में फँस जाता है, जिससे उपर निकलनेका प्रयत्न यह कर रहा है। राग-द्वेष या अहङ्कार-क्रोधके कीचड़में फँसते ही यह समझ लेना चाहिये कि आज ही सारी साधना नष्ट हो गयी है और फिर गीताके शब्दोंमें क्रोधसे सम्मोह, सम्मोहसे स्मृतिविभ्रम, स्मृतिविभ्रमसे बुद्ध-नाश और बुद्धिनाशसे सर्वनाश ही हो जाता है।

साधनाके प्रकट होनेपर अनेकों व्यक्ति अनेकों लालसाओं-से ताधकके पास आकर उसे भेर लेते हैं। कोई पुत्राकामनासे उसके चरण छूता है, कोई धनकी कामनासे पंखा झ़लता है, कोई शशुके भयसे मुक्त होनेके लिये सेवा करने लगता है। इस प्रकार भीड़के उपस्थित होनेसे साधककी साधनामें आधा पहुँचती है। उचित समयपर उसका अपना कार्यक्रम पूरा नहीं होता। मौनत्रत भङ्ग करना पड़ता है। उसका ध्यान साध्य-की ओर न रहकर उन्हीं लोगोंकी बातोंमें लग जाता है। वे सारी सांसारिक बातें होती हैं, इसलिये ध्यान भगवान्नके चरणोंमें न रहकर सांसारिक बातोंमें लग जाता है। इस प्रकार कई प्रकारकी भावनाओंसे प्रेरित होकर साधक कभी-कभी इन सेवा करनेवाले व्यक्तियोंको कुछ आशीर्वाद दे देता है। यह आशीर्वाद देना साधकके लिये अत्यन्त धातक होता है। यदि उसकी साधना इतनी अधिक हुई कि उसका आशीर्वाद उफल हो गया तो आशीर्वादका फल उसकी साधनाके फलमेंसे काट लिया जायगा। इस प्रकार उसे अपनी साधनाका जो

फल मिलना चाहिये था, वह नष्ट होता जायगा । दूसरी ओर यदि साधना थोड़ी ही हुई और उससे आशीर्वाद सफल न हुआ तो साधक झुटा गिना जायगा और उसका अपमान-अपवाह होगा ।

प्रायः किसी साधककी साधना सुनकर जो बहुत-से व्यक्ति साधकके पास आते हैं वे प्रायः कुछ-न-कुछ वस्तुएँ—फल-फूल, अल, मिठाई या धन आदि लेकर साधकके चरणोंमें चढ़ाते हैं । इनको ग्रहण करने या इन्हें खा जानेसे साधककी साधनाको बहुत हानि पहुँचती है । कुलार्णवमें लिखा है—

यस्यामेन तु पुष्टाङ्गो जप्तं होमं समाचरेत् ।
अज्ञादातुः फलस्थार्थं चार्थं कर्तुर्न संशयः ॥

‘यदि कोई ज्ञाति किसी दूसरे व्यक्तिके अप्तसे पुष्ट होकर जप, होम इत्यादि साधना करता है तो उसकी साधनाका आथा फल अबदाताको मिलता है और आधा उसे (करनेवालेको) ।’ इस प्रकार साधक दो रोटियोंके या सामान्य-सी वस्तुओंके लिये अपनी आधी साधना लो देता है । वेष आधे फलमेंसे कुछ तो वे चरण दबाने, पानी भरने, पंखा छालने आदि लेवा करनेवाले लोग छीन लेते हैं और कुछ साधक राग-द्वेष आदिकी भावनाओंमें आकर स्वयं ही लो देता है । इस प्रकार साधकको वर्षोंतक साधना करनेपर भी कुछ नहीं मिलता ।

महाभारतमें एक साधुका वर्णन आता है, जिसने सुनारका अन्न खानेसे उसीके घर चोरी की थी । इस प्रकार यदि साधकके पास किसी ऐसे व्यक्तिका अन्न आया जो पापद्वारा अर्जित किया गया हो, तो साधक केवल अपनी साधनाका अर्धोंश द्वारा नहीं खोयेगा, उसकी मति भी भ्रष्ट हो जायगी ।

इससे भी अधिक हानि उस समय होती है, जब साधकके पास चैलियाँ जुटने लगती हैं । पुरुषोंकी अपेक्षा लियाँ अधिक अद्भुत हुआ करती हैं और किसी भी व्यक्तिके साधारण-से आडम्बरपर विश्वास कर लेती हैं । यदि उन्हें किसी साधकका पता लगा तो किसी-न-किसी उपायसे उसके पास पहुँच जाती है । वे समझती हैं कि बाबाजी धन, पुत्र, सुख आदि सभी इच्छाएँ पूर्ण कर सकते हैं । और, गीताके अनुसार, सज्जसे काम उत्पन्न होता है, इस प्रकार साधकाण साधना और साध्यको भूलकर चेतियोंको धन, पुत्र, सुख आदि देने लगते हैं और भीरे-धीरे उनका कितना पतन

हो सकता है, यह विश्वामित्र-मेनका आदिकी कथाओंसे ज्ञात हो सकता है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साधनाके प्रकट हो जानेपर साधकको स्वयं कितनी हानि पहुँचती है । इसीलिये भगवान् ईसाने अपने अनुयायियोंको कहा था ‘Let not thy left hand know what thy right hand gives’ । ‘अपने बायें हाथको यह न जानने दो कि तुम्हारा दाहिना हाथ क्या पुण्य कर रहा है ।’ साधना एकहीसे होती है । साधना जब दूसरे व्यक्तिपर प्रकट हो जाती है तो उसी दिन नष्ट हो जाती है ।

साधना करते हुए साधकको अनेकों अत्यन्त विचित्र दृश्य स्वप्नमें या प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं । ऐसी अवस्थामें यदि साधक उन्हें गुप्त रख सका तो उनकी परम्परा लगी रहती है और वे साधनाका फल कैसा होगा—यह प्रकट करते रहते हैं । किन्तु यदि उन्हें साधकने तनिक भी प्रकट कर दिया तो फिर वे दृश्य नहीं दिखायी देते और साधकका उत्साह मङ्ग हो जाता है ।

साधनाको प्रकट करनेसे दूसरी हानि यह होती है कि वह अनधिकारियोंके पास प्रकट होती है । कितनी ही साधनाएँ इतनी रहस्यमय होती हैं जिनके तत्त्वको समझना अत्यन्त कठिन है । तान्त्रिक या वाममार्गी साधनाके रहस्यको तो विरले ही व्यक्ति समझ सकते हैं । जब लोग किसी बातको नहीं समझ सकते तो उसकी निन्दा करने लगते हैं । जनता उसकी मजाक उड़ाती है, जिसे वह समझ नहीं सकती । इसीलिये सभी साधनाओंमें उन्हें गुप्त रखनेके लिये कहा गया है । संत मत्तीके सुसमाचारमें कहा गया है—

‘To you it is given to know the mysteries of God, but to them it is not’. ‘उन्हें भगवान्के रहस्योंको जाननेकी आज्ञा दी जाती है, किन्तु उनको नहीं जो इसके अधिकारी नहीं हैं ।’

प्राचीन यूनानमें जब विष्व गुप्तसे दीक्षा लेते थे तो उन्हें अग्निके समुख शपथ लेनी होती थी कि वे कभी भी अनधिकारियोंके सामने अपनी साधना प्रकट नहीं करेंगे । आरम्भमें इसाई-धर्मके माननेवालोंमें से कुछ विशेष व्यक्तियोंको एक प्रकारकी दीक्षा दी जाती थी, जिसको जन-साधारणके पास प्रकट करनेपर मृत्युदण्ड दिया जाता था । इसका कारण यह है कि जो लोग रहस्यको गुप्त न रखकर

अनधिकारियोंके पास प्रकट कर देते हैं, वे उस रहस्यको जाननेके सर्वथा अयोग्य हैं, और ऐसे अयोग्य व्यक्तियोंका रहस्यसे परिचित होना सारे सम्भवायके लिये हानिप्रद होता है। वेट (Waite) ने लिखा है—

'It is a fatal law of the arcane sanctuaries that the revelation of their secrets entails death to those who are unable to preserve them'.

(अनधिकारी साधनाके रहस्यसे कुछ भी लाभ नहीं उठा सकते और दूसरी ओर अधिकारी साधकको हानि पहुँचते हैं।)

अत्थु, आप चाहे कैसी भी साधना करें, उसका महत्व अधिक हो या कम, उसे कभी प्रकट न करें। अत्यर्थमी भगवान् उसे स्वयं ही देख लेते हैं। वे ही उसका फल देनेवाले हैं। जन-साधारण तो उसके फलको छीननेवाले हैं। सर कांसस वर्नार्डने लिखा है—

'Hold fast in silence all that is your own, lest icy fingers be laid upon your lips to seal them for ever.'

'जो कुछ तुहां प्राप्त हो तुका है, उसे अपने ही पास गुत—सुरक्षित रखतो, नहीं तो वर्फ-सी ठंडी ऊँगलियाँ तुम्हारे होठोंको सदा के लिये बन्द कर देंगी।'

तन्त्रोंमें स्थान-स्थानपर साधनाको योगिनिके समाज दूसरोंसे गुप्त रखनेकी आशा दी गयी है। इसका तात्पर्य यही है कि जिस प्रकार कुल-सी अपने अङ्गोंको परपुरुषोंसे छिपाकर केवल अपने पति की ओर प्रकट करती हैं, उसी प्रकार साधकको अपनी साधना दूसरोंसे छिपाकर केवल अपने हृदयस्थित अपने पति भगवानके सामने ही प्रकट करनी चाहिये।

साधकको चाहिये कि नित्य सावधानीसे यह देखता रहे कि उसकी साधना दूसरोंपर प्रकट तो नहीं हो रही है। उसकी साधनाका फल तुरानेके लिये कोई उसके निकट तो नहीं आ रहा है, जानते हुए या अनजाने यह अपनी साधनाको नष्ट तो नहीं कर रहा है ?



साधना

(लेखक—श्रीकृष्णशङ्कर उमियाशङ्कर)

किसी भी वस्तुकी सिद्धिके लिये जो किया की जाती है उसे 'साधना' कहते हैं। साधना संस्कृत शब्द है और धर्मसे मिलता-जुलता सा है, परन्तु आजकलके जडबादी युगमें धर्मका तो नाम सुनते ही लोग चमक उठते हैं, पढ़नेकी चात तो दूर रही। अतएव 'साधना' या 'प्रैक्टिकल साइंस'-जैसे नामसे आजके युवक भी पूरा ध्यान देंगे, ऐसी आशा है।

सन्ध्या, पूजन, जप, तप आदिको दोंग माननेवाले भी जब 'Practical science' नाम सुनते हैं तो तुरंत उसे पढ़नेकी इच्छा करने लगते हैं। सन्ध्या-पूजन आदि भी प्रैक्टिकल साइंस ही हैं, परन्तु यह 'साधना' तो सचमुच 'साइंस' ही है। बहुत से लेखक केवल शास्त्रके शब्द ही उद्धृत कर देते हैं, इससे वह आजके लोगोंको रुचिकर नहीं होता। आजके युगमें तो सूगर-कॉटेड-फैशनमें शब्दोंकी रचना होनी चाहिये।

इतना लिखनेका तात्पर्य यही है कि वहाँ जो कुछ लिखा जाता है, सो केवल लोकल्याणके लिये ही लिखा जाता है। जिन लोगोंकी उम्र पकी हुई है और जिन्होंने

धार्मिक शिक्षा प्राप्त की है, वे तो धार्मिक लेख पढ़ेंगे ही। परन्तु मैं तो नये जगानेके लोगोंको भी इस ओर सर्वोच्चना चाहता हूँ।

'साधना' शब्दका प्रयोग देवी-देवताओंकी उपासनाके लिये भी होता है, जिससे अभीष्ट महान् कार्यकी सिद्धि होती है। देवा, काल, क्रिया, वस्तु और कर्ता—ये पाँचों जब साधनाके लिये उपयुक्त होते हैं, तभी साधना सिद्ध होती है।

साधना दो प्रकारकी होती है—देवी और आसुरी। इन्होंको शास्त्रमें दक्षिण और वाममार्ग कहा गया है। दक्षिणमार्गकी साधनामें साधकको लाभ चाहे न हो, परन्तु हानि तो होती ही नहीं। पर वाममार्गकी साधनामें लाभ नहीं होता तो तुकसान जारूर होता है। दक्षिणमार्गमें तत्काल लाभ नहीं दीखता, धीरे-धीरे कल्याण होता है, परन्तु वाममार्गमें तत्काल ही लाभदानि हो जाती है।

दोनोंमें ही अकोष, शौच और ब्रह्मचर्यका पालन आवश्यक है। इनका पालन न करनेसे दक्षिणमार्गमें कोई फल नहीं मिलता, परन्तु वाममार्गमें बड़ा तुकसान हो जाता

है। कमी-कमी तो प्राणोंपर आ बीतती है। यामभाग्यमें जरा भी कहीं चूके कि बलिदान होते देर नहीं लगती।

मेरे एक मिन्ने किसी मन्त्रकी सिद्धिके लिये ग्रहणके दिन स्मशानमें एक आकके पेड़के नीचे बैठकर साधना शुरू की। उन्हें सामनेके पहाड़से एक अधोरी उत्तरता दिखायी दिया। अधोरीने स्मशानमें पहुँचकर एक बड़ी गड्ढी हुई लाश निकाली और उसे सेककर ला गया। फिर वहीं गुम हो गया। यह देखकर मेरे मित्रका शरीर मरे इसके परीन-परीने हो गया, वे बड़े जोखे चीख भारकर वहीं तुलक पढ़े। वहाँ उनकी कौन सुनता? ग्रहण शुद्ध होनेपर लोग नहानेको आये, चन्द्रमाका उज्ज्याला हुआ; तब किसीने उनको वहाँ पढ़े देखा। उठाकर मन्दिरमें लाया गया। जोसे जर चढ़ा था। तीन-चार दिनों बाद तुलार उत्तरा, पर वे पागल हो गये और कुछ ही घण्टोंके बाद शरीर छोड़कर चल बसे।

वेदमें ब्राह्मण और मन्त्र—ये दो विभाग हैं, किसी भी देवकी सिद्धिके लिये उस देवताकी मूर्ति, यन्त्र और मन्त्रकी जरूरत है। प्रयोगके समय वहाँ एक-दो आदमी उपस्थित रहने चाहिये। कमी-कमी तो मनुष्य एकान्तसे ही डर जाता है और यो उसका सब काता-बुना कपास हो जाता है।

मेरे एक परिचित देवीके उपासक थे। वे अपने धर्म रात्रिको सदा उनके मन्त्रका जप करते। एक दिन उन्होंने एकाएक अपने शरीरपर कुछ विच्छुओंको चढ़ाते देखा। वे कौप उठे। विच्छुओंको हड़ाकर ले ले। फिर मन्त्र शुरू किया, विच्छु फिर चढ़ाने लगे। वस, तबसे उन्हें सिद्धि तो मिली ही नहीं, परन्तु जहाँ जप शुरू किया कि लगे कपड़े हड़ाकरने ! उनके मनमें निश्चय हो गया कि भेरे कपड़ोंपर अमी विच्छु चढ़ रहे हैं। ऐसे समयमें कोई दूसरा पुरुष पाप होता तो श्याद वे रास्तेपर आ सकते !

डामर-तन्त्रके मन्त्र तकाल सिद्धि देते हैं, पर उनका फल योड़े ही समयके लिये रहता है। स्थायी नहीं रहता। वे मन्त्र केवल चमत्कार दिखानेमें ही काम करते हैं।

उग्र देवताकी साधना और उग्र फलकी प्राप्तिके लिये बहुत बार अपने प्राणोंको हथेलीपर रख देना पड़ता है। गँगों और शहरोंमें कितने ही ऐसे साषु-फकीर मिलते हैं, जिनमें कुछ लोग मैली साधनावाले होते हैं; तो कुछ शृण्य साधना करते हैं और जरूरत पड़नेपर किसी-किसी समय वे

उन्हें आजमाते हैं। विच्छु और साँपोंका जहर उत्तरनेवाले मन्त्र-साधक तो हमलोग बहुतरे देखते हैं। हमारे राज्यमें तो ऐसे एक सज्जन सौ रुपये मासिक बेतनपर निशुक हैं।

मेरे एक संबन्धीके घर हमेशा एकाघ विच्छु निकलता रहता। मेरे जातिके एक सज्जन मन्त्र-शाली हैं। मैंने उनसे कहा। उन्होंने जाकर मकानके आसपास अभिमन्त्रित जल छिड़क दिया। प्रायः दस मिनट बाद चारों ओरसे विच्छु आ-आकार इकड़े होने लगे। लगभग पचास विच्छुओंको पकड़-पकड़कर एक बर्तनमें भर लिया गया और उन्हें बे दूर छोड़ आये। तबसे आजतक वहाँ एक भी विच्छु दिखलायी नहीं पड़ा।

मन्त्र-साधनाके लिये धरकी अपेक्षा एकान्त देवमन्दिर, गुफा या किसी बड़ी नदीका किनारा उत्तम है। वहाँ साधनामें सफलता शीघ्र होती है। किसी महापर्वके दिन, ग्रहणके समय, मध्यरात्रि, कालरात्रि, महारात्रि, मोहरात्रि, दावण-रात्रि आदि दिनोंमें साधना करनेसे शीघ्र सिद्धि मिलती है।

लक्ष्मीकी प्राप्तिके लिये मैंने लक्ष्मीसूक्तका 'कांसोसितां' मन्त्र सिद्ध करनेका निश्चय किया। दुर्गापाठमें बतलायी हुई विधिके अनुसार न्यास और ध्यानसहित मैंने उक्त मन्त्रका सम्पुट देकर जाप शुरू कर दिया। लगभग पलट्ट सम्पुट शतचण्डी पूरी हो गयी, परन्तु मेरी साधना सफल नहीं हुई। इसपर भी मैंने प्रयोगको तो चाढ़ ही रखा। एक दिन एकाएक मेरे मनमें स्फुरणा हुई कि इन मन्त्रोंमें श्रीमहादेवीने कील रक्षा है। निष्कील किये विना सिद्धि नहीं मिलती। तब मैंने मन्त्रको निष्कील किया। वस, तुरंत ही, धी और तेलके जो दीपक स्वाभाविक जल रहे थे उनमें ज्योति पैदा हुई और वह मेरी आँखोंतक ऊपरकी ओर उठी। देवताका विहासन मेरे सामने था। दुर्गापाठकी पीठी खुली पड़ी थी। पाठ लगभग पूरा होनेको आशा था। रात्रिके बारह बजे थे। जन्माष्टमीके कारण पास ही देवमन्दिरमें दर्शनोंके लिये दौड़-धूप हो रही थी और कोलहल मचा हुआ था।

इसी बीच इस घटनाके बन जानेसे मैंने सोचा, मेरी आँखोंमें जल भर आया होगा, इसीसे मुझे ऐसा ल्पाता होगा। इसलिये मैंने आसनसे उठकर आँखोंपर जल छिड़का, मुँह धोया और फिर पाठ करना शुरू कर दिया। पाठ शुरू करना था कि फिर वही हाल !

मुझे कुछ डर-सा लगा कि कहीं मैं जल न जाऊँ । अतएव मैं उठकर दर्शन करने चला गया । फिर महा-धोकर अशूर पाठ पूरा करने बैठा । पाठ शुरू करते ही फिर वही हाल हुआ । इस समय रात्रिके दो बजे थे । मनुष्योंके पैरोंकी आहट शान्त हो गयी थी । चारों ओर सुन-सान था । सारी पौथी और सिंहासन तेजोमय हो रहे थे । जैसे-तैसे पाठ पूरा करके मैं उठा । उस समय सबरेके पाँच बजे थे ।

मनवीके दिन मैंने पाठ न करके केवल जप शुरू किया । जप करनेमें भी बैसा ही हुआ । तबसे मैंने लक्ष्मीजी आने लगी । मेरी बकालतकी प्रैविट्स बढ़ती ही गयी । यहाँतक कि किंती-किंसी समय तो खाने-पीनेका भी अवकाश नहीं मिलता और अधिकांश समय मुझे रिफ चाय और चिउरांपर चलाना पड़ा था । रातके दो बजेतक कुरसत नहीं मिलती ।

मैं अपने एक मित्रके साथ गिरनार पहाड़पर जा रहा था । साथु संतोंकी चर्चा चल रही थी । मित्रने कहा, ‘‘तुम्हें यह सब एकाएक कैसे हो गया ?’’ मैंने कहा—‘‘मन्महाकार देखना ही तो अभी दिखाऊँ !’’ मैंने तुरंत ही ‘‘कांसोसिंहां’’ मन्त्रका जप शुरू किया । हमलेग बहुत आगे बढ़ गये, परन्तु कुछ भी हुआ नहीं । मैं कुछ सुन्नाया । जप तो चारदू था । इतनेमें ही एक पेढ़की ओटसे आवाज आयी—‘‘ओ बकील साहेब !’’ आचाज सुनकर मैंने मित्र और मैं साथ होकर इधर-उधर देखने लगे । एक फक्तीसे केवड़ीकी एक पाली और नकद पन्द्रह रुपये पैरोंमें रखकर मेरे चरण छुए । मेरे मित्र यह देखकर मन्त्र-मुग्धन्ते रह गये । मुझे याद नहीं था कि इस फक्तीको लगभग ढेढ वर्ष पहले मैंने फौजदारीसे छुड़ाया था । और ये रुपये उसीकी फीसके थे ।

कई मन्त्र-देवता अन्ये होते हैं । कई बहरे, चौंगी और लूल-लौलके भी होते हैं । ऐसे देवताओंकी साधना कष्टात्म है । हारदशमुद्राओंके साधनसे इनकी सिद्धि प्राप्त हो सकती है, परन्तु अगर कहीं जरा भी चूके कि फिर चौकड़ी भूलते देर नहीं लगती ।

किसी किसी देवतासे साधककी पूरी पट्टी ही नहीं, इससे यह चाहें, कितनी ही साधना करे, हाथमें आरी हुई बाजी भी छूटक जाती है और साधना व्यर्थ होती है ।

सिद्ध-देवकी साधना सिद्धिप्राप्त होनेके बाद भी साधकको चालू रखनी चाहिये । नहीं तो, उस दैवी सिद्धिको अदृश्य होते

देर नहीं लगती; और फिर उसका हाथ लगाना असम्भव हो जाता है ।

साधकके लिये प्राप्त हुई सिद्धिका उपयोग स्वार्थमें न करके परमार्थमें ही करना श्रेयस्कर है । योके समयके लिये साधकको स्वार्थ-साधन होता देखकर सुख होता है, परन्तु इसके लिये आगे चलकर उसे बहुत कुछ सहन करना पड़ता है ।

हमारे यहाँ एक सातांजीके भक्त हैं । उन्हें अपने कार्यमें सिद्धिका उपयोग करनेकी सूझी । मैंने उन्हें सचेत भी किया, परन्तु उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिशा । उनकी जाहोजलली बढ़ती गयी । लखपतिका सा दिलाचा हो गया । सरे शहरमें उनकी कीर्ति फैल गयी । वे शोड़े-से बेतनके छक्के थे । कुछ ही दिनों बाद ऐसे फैसे कि उन्हें जेलयात्रा करनी पड़ी । कोर्टमें भी मैंने उनका ध्यान खींचा था । आखिर चार हजार रुपये दण्ड देनेपर किंती तरह उनकी जान छूटी । इस समय वे चिल्कुल तबाह हो गये हैं ।

‘‘साधना’’ शब्दका प्रयोग केवल धार्मिक वस्तुकी सिद्धिके लिये ही होता है, ऐसी बात नहीं है । महात्मा गांधीजी और देशके अन्यान्य नेताओं जो कार्य कर रहे हैं, वह स्वाराज्यकी साधना कहलाती है । किसी भी डिग्रीकी प्राप्ति तबतक नहीं होती, जबतक मनुष्य तरस्ती (विद्या) की साधना नहीं करता; परन्तु उसके लिये तमुच्चकी आवश्यकता होती है । कोई उस विषयका निष्पातन न हो और केवल पुस्तकों पढ़कर ही एकत्रयेरीमेंट (प्रयोग) करने वैठ जाय तो उसे तो हानि ही उठानी पड़ती है ।

वायुयानकी साधना अभी सम्पूर्णरूपसे सिद्ध नहीं हुई । अभी उसके प्रयोग ही चल रहे हैं । इसमें अवतक मर्जीवों-की भाँति कितनोंका यलिदान हो चुका है, और अभी और भी होना चाही है ।

हमारे शृण्य-मुनियोंने तो हमारे सामने मानो याल परोस कर रख दिया है । हमें नवीन शोध करनेकी आवश्यकता नहीं है । परन्तु अज्ञकल तो साधना करनी ही है किसको ? ‘‘साधना’’ के नामसे ही लोग भड़क कर भागते हैं । यदि विष्वधृत शालानुसार साधना की जाय तो सिद्धि निश्चय ही मिलती है । वह मेरा अपना अनुभव है ।

‘‘कलौ काली-विनायकौ’’ कलियुगमें काली और विनायककी साधना इत्य सिद्ध होती है । वह, इतना मुनकर

मेरे एक बड़ी ल मिशने गणपतिकी साधना आसम्भ थी। जप, तर्पण, मार्जन, होम और ब्राह्मणभोजन सभी साधनाओं में आवश्यक हैं। कुछ खास-खास जप-तप-प्रायश्चित्तदि तो दोषनिवारणके लिये करने पड़ते हैं। इस प्रकार करते उक्त बड़ी ल मिशनको ल्याभग तीन महीने बीत गये। ब्रह्मचर्यका व्रत भज्ज हुआ। इससे चौथे महीनेके चौथे दिन उर्वे रातको समझे हाथी दिलायी दिये, वे उन्हें माननेके लिये आगे बढ़े आ रहे थे। एक-दो बार आगे, परन्तु विशेष ध्यान नहीं दिया। फिर एकाएक जाग उठे और 'युस्ते वे हाथी मार रहे हैं, बचाओ-बचाओ' पुकारते हुए दौड़ने लगे। चिलाइट सुनकर श्री-बचे जागे और उर्वे पकड़कर जल पिलाकर शान्त किया। सबेरे देखा गया; उनके मुँहपर सजन थी। एक समाहतक देखा हुई। अधिर आपरेशन करकर दो महीने अस्पतालमें रहना पड़ा। मुश्किलसे मौतके मुँहसे बचे।

काली और विनायक बहुत उम्र देवता हैं और उनकी शिद्धि भी बहुत उम्र है। सूरतके मेरे एक परिचित सजनने दोनों चौथ शुरू कर्ता हैं। वे जातिके ब्राह्मण हैं और मिलारीकी हालतमें थे। परन्तु प्रभुकृपासे हस समय उनकी ऋद्धि-सिद्धि लालोंकी समझी जाती है। साधनाके बाद ही उनका विवाह हुआ। इस समय वे बाल-बचेवाले और ढैले-तबेलेवाले सुखी हैं।

'साधना' हिन्दूको ही सिद्ध होती है, ऐसी बात नहीं है। कोई भी हो, आसिकता और श्रद्धाके साथ करनेपर साधना सभीको फल देती है।

'One who runs can reach' 'जो दौड़ता है वह यहुँच सकता है।' हमें कुछ करना तो है नहीं है। फिर, 'शास्त्रोंमें सब गपोड़े भरे हैं', यो कहनेसे कोई भी काम सिद्ध नहीं होगा। 'साधना' का शास्त्र 'वरदान' या 'शाप' का शास्त्र नहीं है। यह तो 'कर' और 'देख' का शास्त्र है। साधनासे भद्रकनेका कोई भी कारण नहीं है। भूत मिटानेके लिये हमें रोज अच्छ सिद्ध करना पड़ता है। यह जैसे हमेशाकी 'रुदीन' है; इसी प्रकार किसी बड़े कामकी सिद्धिके लिये हम यड़े लोगोंकी मदद लिया करते हैं। ठीक,

इसी प्रकार हमें देवताओंकी साधना करनी चाहिये। देवताओंकी साधनासे हमें चिरस्थायी सुख मिल सकता है, यह निर्विवाद बात है।

मैं तो ऐसा मानता हूँ कि किसी भी 'साधना' के बिना मनुष्य महान् बन ही नहीं सकता। किसी एक वस्तुकी तो अवश्य लिद कर रखना ही चाहिये। कर्ण, भीम, द्वीप आदिके पास महान् सिद्धियाँ थीं। इसीसे वे महान् बन सके थे।

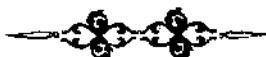
इस समय हम देख रहे हैं कि पश्चिमीय देशोंमें महान् आसुरी लिद्धियाँ काम कर रही हैं। इन सिद्धियोंकी प्राप्तिके लिये लोगोंने बड़ी-बड़ी साधनाएँ की हैं। परन्तु इन आसुरी साधनाओंकी यह चमत्कार होड़े ही दिनोंके लिये है। दैरी साधनामें इनसे विलक्षण और चिरस्थायी शान्ति और अननन्द है।

'राम-नाम' की साधना करनेसे समयपर अवश्य ही दर्शन होते हैं। किसी भी देवताके नामकी धुन लगानेसे मनःकामनाकी अवश्य सिद्धि होती है। विवित करनेसे शीघ्र लग होता है और विवित न करनेसे देर लगती है। यह साधना असफल तो होती ही नहीं।

कभी-कभी मनुष्य साधना शुरू तो करता है, परन्तु सिद्धि न देखकर अवश्यकमें ही छोड़ देता है और फिर शास्त्रोंकी निनदा करने लगता है। असलमें हमें हमें क्या ही कहूँ है? इसीलिये तो हम खोजमें लगनेकी तकलीफ नहीं उठाते।

महात्मा गांधीजी स्वराज्यके लिये साधन कर ही रहे हैं। शारीरिक और मानसिक कितने कष्ट उठाने पड़ते हैं। इसपर भी हम देखते हैं कि वे हिमत हारकर अपनी साधनाको बीचमें छोड़ नहीं बैठते। कितना जबरदस्त मनोनिम्रह है! कैसा अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन! और वाणीपर कितना विलक्षण अधिकार!

इसी प्रकार हमलोगोंको भी मन, वचन और कर्मको काबूमें रखकर—संयमका पालन करके श्रद्धाके साथ यथेष्ट साधना करनी चाहिये।



साधनानविज्ञान

(लेखक—०८० रामनिवासजी शर्मा 'सौरभ')

'The end and aim of all sciences is to find a unit.' (विवेकानन्द)

आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक हृष्ट-सिद्धि और सफलताका भी एक विश्वान है। सम्पूर्ण हृष्ट-सिद्धि और सफलता इसी क्रियात्मक साधना-विज्ञानपर निर्भर है। यही कारण है कि साधनाकी छोटी-से-छोटी प्रक्रियाके दोषसे असफलता ही नहीं मिलती, अपितु कठी-कठी साधक दुर्घट्ये विक्रांत शिकार हो जाता है*। यह साधना-विज्ञान मुख्यतः निष्प्रलिखित भागोंमें विभक्त है—

१. साधनाका स्वरूप

२. साधनाका महत्व

३. साधना-सौन्दर्य

४. साधनाके अङ्गावयव

५. साधनाका सुख्य उद्देश्य

६. साधनाके मूल तत्त्व

७. साधनाका सरल उपाय

८. साधनाका स्वभाव

९. सब कुछ साधनात्मक

१. साधनाका स्वरूप

किसी भी लक्ष्य या उद्देश्यकी सिद्धिके लिये जो स्वाभाविक उपाय किये जाते हैं उन्हें साधना कहते हैं, परन्तु धार्मिक हृष्टिसे विदोपतः हिन्दू-दृष्टिकोणसे उस परम पुरुषार्थको ही साधना कहते हैं जो कि आध्यात्मिक ध्येयकी प्राप्तिके लिये किया जाता है। इस साधनाका अर्थ किसी भी प्रकारकी क्रिया या कर्म होता है और वस्तुतः यही वास्तविक साधना भी है।

२. साधनाका महत्व

पूर्वक साधनानुसार साधना ही असलमें प्रत्येक वस्तुकी प्राप्तिका उपाय है। यह सफलताकी कुंजी है, कविका कवित्व है, भूषिका भूषित्व है; क्योंकि ये सब साधनाके ही द्वारा प्राप्त किये जाते हैं। ऐसे ही भुक्ति-मुक्ति भी साधनाका ही फल है। असलमें संसारमें प्रत्येक वस्तु या तत्त्व साधनारे

* दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णनो वा विष्वाप्रयुक्तो न तर्ममाह।

स वाग्वज्ञो यत्तमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधाद्॥

ही सिद्ध होता है। साधकको साध्यवस्तु साधनाके द्वारा ही प्राप्त होती है। सारांश यह कि सब कुछ साधनाका ही विषय है।

३. साधना-सौन्दर्य

साधनाका सौन्दर्य इसीमें है कि वह दिव्य-सौन्दर्यात्मक हो, उसकी प्रत्येक बात अपने दिव्य साध्यकी उत्तादक हो, वह स्वर्ण सत्य, दिव और सौन्दर्यमय हो, हृदयके प्रसुस स्वर्गीय सौन्दर्यात्मक भावों और विचारोंको क्रियात्मक बनाने-वाली हो, उसमें दिव्य आध्यात्मिक गन्ध और सरसता हो, साध ही वह अलौकिक माधुर्य और ऐश्वर्यकी व्यञ्जनासे व्यञ्जित हो। उसकी सजीद कर्ममय स्वरलहरीसे अनन्तका निमाद निकलता हो कि जिससे मानव-मन और हृदय सौन्दर्यके स्वर्गमें परिषत हो जावे, तभी वह वास्तविक साधना कहलानेके योग्य हो सकती है। बाइबलने इसी सौन्दर्यात्मक स्वर्गीय साधनापर, देखिये, किस तरह प्रकाश डाला है—

'Heaven will be inherited by every man who has heaven in his soul.' अर्थात् 'स्वर्ण उसीको मिलेगा जिसका हृदय पहले स्वर्णीय हो गया है।' हमारे शास्त्रोंकी तो यह उच्च धोषणा है कि—

'उधर्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः ।'

ऐसी दशामें सहजमें यह बात समझे जाती है कि साधना अपने कार्य-कारणात्मक भावों और कलोंसे पहचानी जाती है। साथ ही वह सच्ची तभी हो सकती है जब कि उससे दिव्य भावकी प्राप्ति हो। यही कारण है कि हिन्दू-धर्ममें योगके अष्टाङ्ग अथवा अष्टाङ्ग-प्रधान सम्पूर्ण भाव-भावना और क्रियाको साधन माना है।

४. साधनाके अङ्गावयव

साधनाके अङ्गावयव इस प्रकार हैं—

क. अधिकार

ख. विश्वास

ग. गुरु-दीक्षा

घ. सम्प्रदाय

ड. मन्त्र-देवता

क. साधनामें अधिकार-भेदकी अपार महिमा है। अधिकारकी परवा न कर अहलमें कोई भी साधक साधनाद्वारा साध्यको नहीं प्राप्त कर सकता। इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य जब, जहाँ, जिस अवस्थामें भी हो, वहाँसे अपने लक्ष्यपर पहुँच सकता है; उसे अधिकार और अवस्थाविशद् अन्य मार्ग या सोपानसे जानेकी आवश्यकता नहीं है। उदाहरणके लिये सती 'सतीत्व' से और शूर 'शूरत्व' से ही सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

सारांश यह कि प्रत्येक अवस्था, धर्म और कालमें ही प्रत्येक व्यक्ति साधनासे लाभ उठा सकता है, साधारण साधारणसे और विशेष विशेषसे। परन्तु लाभमें दोनों ही समान रहते हैं। यही कारण है कि बजकी अहीरनियाँ और चन्द्रांशी शूष्मिमहर्षि एक ही दिव्य स्थानको प्राप्त हुए हैं।

ख. साधनामें विश्वास भी अन्यतम साधन है। इसके अनेक कारण हैं, उनमें मुख्यतम ये तीन हैं—

१-विश्वास स्वयं एक दिव्य भाव है। वह निपुटीका कारण और कार्यभी है। साथ ही जिस विश्वासमें शान और प्रेमकी पुष्ट है वह तो दिव्य वस्तु ही होता है। परन्तु यहाँ विश्वासका तात्पर्य अन्ध-विश्वास नहीं, अपितु वास्तविक तत्परता है।

२-आधुनिक दृष्टिसे भी आत्मविश्वास एक महत्वमहीयान् तत्त्व है और यही असलमें तिद्विका साधक है, इसीकी प्रेरणासे कर्मठको इष्ट-फल प्राप्त होता है। यह वस्तुतः एक मनोवैज्ञानिक रहस्य है।

३-परन्तु इसकी योगात्मक व्याख्या विचित्र है। और यही असलमें विश्वास-तत्त्वकी आत्माकी साधना है। इसका सुगम रहस्य इस प्रकार है—

विश्वास शब्द 'वि' उपर्युक्त और 'व्यास' के योगसे बना है। इसका साधारण अर्थ यहाँ साधकका इवासरहित होना है, परन्तु इसका योगात्मक अर्थ इवास अर्थात् इद्विष्ठला-नाडीके सामग्रद्वारा सङ्कल्प तथा शानकी विशुद्धि और आत्मैक्षण्यकी प्राप्ति है।

ग. साधनाका गुण-दीक्षासे भी समधिक सम्बन्ध है। श्यापि अनेक बार यिना गुण-दीक्षाके भी किसी बात अध्यया आन्तरिक प्रेरक कारणसे अथवा संस्कारोंके प्रावल्यसे मनुष्य स्वतः सम्पार्गके द्वारा लक्ष्यविन्दुतक पहुँच जाता है, फिर भी इसका प्रयत्न राजमार्ग तो गुण-दीक्षा ही है। दीक्षामें भी

मुख्य वस्तु शक्तियोंकी मन्त्रद्वारा जागृति और भाव-भावनाका उद्घोषन है। सच्चा गुण मन्त्र-शक्तिद्वारा यथाधिकार विषयमें साधना-विषयक शक्तिका सज्जार कर देता है। इससे शिष्य फिर स्वतः साधना-पथपर अग्रसर हो जाता है।

घ. साधनामें साधकका सम्प्रदायिक होना भी आवश्यक है। यहाँ सम्प्रदायका अर्थ है—साधना-सम्बन्धी वातावरण उत्पन्न करना और सत्त्वका लाभ उठाना। परन्तु इसका सच्चा लाभ तो इस प्रकार है—

जन्मान्तरीय संस्कारोंके सिद्धान्तानुसार जन्मते वर्ण या जाति भाननेपर वर्ण और जातिके परम्परागत गुण सदैव विकासोन्मुख रहते हैं, इसी प्रकार एक ही परम्परागत सम्प्रदायमें सुदीर्घित होते रहनेके भी अनन्त लाभ हैं, इससे भी सम्प्रदायात्मक गुणोंके संस्कार स्वतः विकासोन्मुख हो जाते हैं।

इ. साधनामें मन्त्र और देवताका भी विशेष स्थान है। साम्प्रदायिक दृष्टिसे मन्त्र-देवतात्मक दीक्षा अनिवार्य है, परन्तु मन्त्र और देवता दो वस्तुएँ होती हुई भी एक ही वस्तु है। इन दोनोंका पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है, ये दोनों असलमें एक-दूसरेसे भिन्न नहीं हैं; क्योंकि मन्त्रकी आत्मा ही देवता है और देवताका स्थान मन्त्र है। देवता असलमें मन्त्रात्मक ही है और इसलिये भी कि मन्त्रके द्वारा ही देवताका आकर्षण होता है। किन्तु देवताका चुनाव शिष्यके संस्कारानुसार ही किया जाना चाहिये और देवताके अनुरूप ही मन्त्रका चुनाव भी। साधक, देवता और मन्त्र—ये एक ही वस्तु-विकासके विभिन्न स्तर हैं और इनका सम्बन्ध ही अन्तमें साधकको मुख्य ध्येयतक पहुँचा देता है। इस तरह साधक, मन्त्र, इष्ट-देव, महाशक्ति, परमतत्त्व और मुक्ति आदि सब एक ही विकासके विधिध स्तर हैं और ये ही अन्तमें ब्राह्मी स्थितिमें परिणत हो जाते हैं।

५. साधनाका मुख्य उद्देश्य

साधनाके द्वारा आत्मलाभ होता है और आत्मलाभके द्वारा दिव्यत्व, सर्वशता, सर्वदक्षिमत्ता प्राप्त हो जाती है। आत्मलाभका ही फल अनन्त विमुक्तियोंकी प्राप्ति भी है। भारतवर्ष कर्म-प्रधान और साधना-प्रधान देश है, परन्तु इसकी साधना सुन्दर-परक, आत्म-परक अथवा ब्रह्म-परक है। आप किसी भी सम्प्रदायपर दृष्टिपात नहीं, उसमें साधनाका अभिप्राय

यही मिलेगा । मन्त्र-तन्त्र-सम्प्रदायके अनुयायियोंका भी विश्वास है कि—

मन्त्राभ्यासेन योगेन ज्ञानं ज्ञानाय कल्पते ।
न योगेन विना मन्त्रो न मन्त्रेण विना हि सः ॥
द्वयोरभ्याससंयोगो ब्रह्मसंसिद्धिकारणम् ।
..... ॥

इसका अभिप्राय यह है कि हमारा प्रत्येक सम्प्रदायके साधनात्मक ध्येय उच्च और स्वर्गीय ही है । इस समय भी महात्मा गांधीकी गति-मति और राजनीतिमें मुकिकी ही प्रवानता है । मुकि भी केवल भारतकी ही नहीं, अपितु समस्त विश्वको और बह भी सत्य और अहिंसाके द्वारा ।

६. साधनाके मूल तत्त्व

साधनाके मूल तत्त्व तथा, स्वाध्याय और इंश्वर-प्रणिधान हैं । इनसे साधककी शक्ति और ज्ञानकी वृद्धि होती है । स्वाध्यायसे ज्ञान और तपसे शक्ति बढ़ती है । साथ ही ज्ञान और शक्तिद्वारा ही साधक परम साध्यतक पहुँच जाता है । परन्तु श्रीअरविन्दके मतसे तो अभीप्सा ही साधनाकी मूल भित्ति है; इससे सब कुछ हो सकता है । स्वामी विष्वेकानन्दके मतसे प्रत्येक प्रकारकी साधनासे मनुष्य परम-तत्त्वके मार्गका यात्री हो सकता है । वे लिखते हैं—

'All worship consciously or unconsciously leads to this end.'

'शानपूर्वक अथवा अशानपूर्वक की हुई समस्त साधन-आराधनाका चरण फल आध्यात्मिक लक्ष्यकी प्राप्ति ही है ।'

महात्मा गांधी अहिंसा और सत्यके द्वारा ही बड़े-से-बड़े लक्ष्यतक पहुँचना बताते हैं । प्राचीन लोग ब्रह्मचर्य और तपको ही मुख्यता देते हैं । पातञ्जलयोग चित्त-नृत्तिके निरोधको ही परम पुरुषार्थ और साधना बताता है । स्वर्गीय स्वामी विशुद्धानन्दजी परमहंसने भक्तिको ही समस्त साधनाओंका केन्द्र बताया है । वस्तुतः किसी भी सात्त्विक उपायद्वारा गन्तव्यमार्गकी ओर चल देना ही वास्तविक

साधना है । बस, फिर पूर्व-जन्मके संस्कार स्वयं अपना काम करने लगेंगे ।

७. साधनाका सरल उपाय

साधनमें आवरणको हटानेके लिये यिन्होंका सामना करने और अभावोंको हटानेकी अपेक्षा सद्वाचोंको उत्पन्न कर उन्हें सुषुष्टु करना ही रिद्धिका सबोंतम उपाय है । इससे विनाश स्वतः नष्ट हो जाते हैं और अति शीघ्र सफलता हस्तगत हो जाती है। क्योंकि किसी सीधी रेखाको हाथके द्वारा छोटी करनेकी अपेक्षा उसके बराबर एक बड़ी रेखा खेंच देना ही ठीक है, उससे वह अपने-आप छोटी हो जायगी । यही दशा भल, विक्षेप और आवरणकी भी है । वे भी सात्त्विक तत्त्वोंके सेवनसे अपने-आप नाम-शेष हो जाते हैं । पातञ्जलयोगमें इसी सरल सत्यको इस तरह समझाया है—

'अङ्गिष्ठ वृत्तिके संस्कारोंके द्वारा क्षिष्ठ वृत्तिके संस्कार अपने-आप नष्ट हो जाते हैं ।'

८. साधनाका स्वभाव

स्वभावसे समस्त जीव-राशि उस अनन्त सत्य वस्तुकी और ही जा रही है । आत्माकी गति असलमें परमात्माकी ओर ही हो सकती है, विजातीय वस्तुकी ओर नहीं; नदियाँ समुद्रमें ही जाकर रही हैं । सम्पूर्ण ब्रह्माण्डात्मक जड़-चेतनका अन्तिम ध्येय असलमें आत्मलाभ ही है ।

९. सब कुछ साधनात्मक

हमारे सम्पूर्ण किया-कलाप साधनामय ही हैं । ऐसी दशामें हम कुछ भी करें, कहें और सोचें, सब कुछ साधना ही है, परन्तु इन कियाओंका समन्वय साधनात्मक तत्त्वोंके साथ होना चाहिये । साथ ही इनमें आवश्यक सामग्रीय भी पर्याप्त मात्रामें हो । ऐसी दशामें प्रत्येक साधनासम्बन्ध मार्ग और सम्प्रदाय यथाधिकार पृथक् होता हुआ भी एक ही सम्पूर्ण लक्ष्यका प्रदर्शक हो जाता है । यही कारण है कि लता-गुलम, कीट-पतंग, वशु-पक्षी और देव-मानव एवं ही अपनी-अपनी योनि और सानसे ही कमी-न-कमी अन्तिम लक्ष्यकी ओर ही पहुँचकर रहते हैं ।

जपयोगका वैज्ञानिक आधार

(सेल्फ-.....पं० श्रीमानानन्दासनी अवस्थी, दग० १०)

आश्चर्यने सभीको अद्यक् कर रखता था । विस्मय-विस्फारित नेत्रोंसे सभी ऊँ-पुरुष वह अविश्वसनीय घटना देख रहे थे । यदि उनकी आँखोंके सामने वह न दिखलायी गयी होती तो सुननेपर उन्हें किसी तरह भी विश्वास न होता । पर सामने, होश-हशासके दुर्दस्त रहते, अपनी आँखोंसे देखते हुए वे उसे माननेको विवश थे ।

लार्ड लीटनके एक सजे-सजाये कमरमें ऊँचे दर्जेके खास-खास विद्वानों तथा विद्युषियोंका एक दल एकत्र था । सभी बीसवीं शताब्दीके विज्ञान तथा आविष्कारों—जोड़ोंसे भलीभाँति परिचित थे । बहुत-से तो विज्ञानके पारदर्शी पण्डित थे । उनके सामने एक गायिका एक साथारण-से बाजेपर रागदारीके साथ गाना गा रही थी ।

गायिकाने एक राग छेड़ा । परंपर खास तरहके सितारे-के रूपकी आङ्कुतियाँ नाचती-कूदती दिखायी दीं । रागके बंद होते ही आङ्कुतियाँ भी देखते-देखते गायब हो गयीं ।

गायिकाने दूसरा राग छेड़ा । बात-की-बातमें दूसरे प्रकारकी आङ्कुतियाँ सामने आयीं ।

राग बदलते गये । आङ्कुतियाँ भी बदलती गयीं । कभी तारे दील पड़ते, कभी टेढ़ी-मेढ़ी सर्पाकार आङ्कुतियाँ नज़र आतीं; कभी त्रिकोण, पट्टकोण दिखलायी देते; कभी रंग-विरंगे फूल अपनी शोभासे मुग्ध करते; कभी भीषण आङ्कुतियाले समुद्री जीव-जनु प्रकट होते; कभी फली-फूलोंसे लदे बृक्ष सामने आते; कभी एक ऐसा दृश्य दृष्टिओचर होता जिसमें बीछे तो अनन्त नील समुद्र लहराता नजर आता और सामने नाना प्रकारकी मुन्द्र छोटी-बड़ी चित्ताओंके बीचमें नाना रूप-रङ्ग, आकार-प्रकारके पत्र-पुष्प-फलोंसे लदे बृक्ष मन्द-मन्द बायुके झोकोंसे लहराते, फल-फूलोंकी वर्गी करते दीख पड़ते ।

जैसे-जैसे राग बदलते गये, वैसे-ही-वैसे आङ्कुतियाँ भी बदलती गयीं । दर्शक चकित—स्तम्भित—चित्तलिखे-से चुपचाप देखते रहे । अन्तमें गायिकाने राग बंद किया । आङ्कुतियाँ अदृश्य हो गयीं । दर्शक-मण्डलीको चेत आया । सब अपने-अपने उद्गारोंको प्रकट करने लगे ।

लार्ड महोदयने गायिकाका परिचय देते हुए कहा—
'आप प्रतिद्वं अन्वेषिका श्रीमती वाट्स हस (Watts Hughes) हैं । आपको एक बार इस बाजेपर एक राग छेड़ते समय एक विशेष प्रकारकी उपाङ्कुति प्रकट होती देख पड़ी । फिर आप जब-जब उस रागको छेड़ती तब-तब वही आङ्कुति प्रकट होती । इससे आपने यह निष्कर्ष निकाला कि राग और आङ्कुतिका कोई प्राकृतिक सम्बन्ध अवश्य है । एक खास रागके छेड़नेपर एक खास आङ्कुति प्रकट हो जाती है । तब आपने अनेक वर्षोंतक इसी विषयको लेकर अनुसन्धान किया । उसका जो फल हुआ है, वह आज आपके सामने प्रदर्शित किया गया है ।'

इसी प्रकार फ्रांसमें दो बार इसी विषयको लेकर प्रदर्शन और परीक्षण किये गये हैं । एकमें तो मैडम लैंगने एक राग छेड़ा था जिसके फलस्वरूप देवी मेरी (Virgin Mary) की आङ्कुति यिशु जेस क्राइस्ट (Jesus Christ) को गोदमें लिये हुए प्रकट होती देख पड़ी थी । दूसरी बार एक भारतीय गायकने भैरव राग छेड़ा था, जिसके फलस्वरूप भैरवकी भीषण आङ्कुति प्रकट हुई थी ।

इसी प्रकार इटलीमें भी परीक्षण हो चुका है । एक युवतीने एक भारतीयसे सामयेदकी एक शूचाको सितारपर बजाना सीखा । खूब अभ्यास कर लेनेके अनन्तर उसने एक बार एक नदीके किनारे रेतमें सितार रखकर उसी रागको छेड़ा । उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वहाँ रेतपर एक निवास बन गया । उसने अन्य कई विद्वानोंको यह बात बतलायी । उन्होंने उस चित्रका फोटो लिया । चित्र वीणा-पुस्तकधारिणी सरस्वतीका निकला । जब-जब वह मुक्ती तन्मय होकर उस रागको छेड़ती तब-तब वही चित्र बन जाता ।

पश्चिमी देशोंके अनेक विज्ञानवेत्ताओंने समय-समयपर प्रदर्शन करके यह प्रमाणित कर दिया है कि एक खास तरहके रागके छेड़नेपर एक खास तरहकी आङ्कुति बन जाती है ।

इस विज्ञान और आविष्कारोंके युगमें भी यह प्रमाणित हो चुका है कि रागोंसे आङ्कुतियोंका एक विशेष वैज्ञानिक और प्राकृतिक सम्बन्ध है । (रागके बलपर शून्यसे सर्वर्ज-

साकार आकृतियाँ प्रकट की जा सकती हैं ।) इसी वैज्ञानिक आधारपर भारतमें शताब्दियों पूर्व जपयोगका प्राताद निर्मित हुआ था । ईश्वरप्राप्तिके अनेक साधनोंमें 'जप' एक प्रधान साधन था । साधकोंको विशेष असरोंका उचारण एक विशेषरूपसे करना पड़ता था । साधनामें सफल होनेपर उसे उक्त असरोंसे सम्बन्ध रखनेवाले देवताके दर्शन हो जाते थे । उसके अभीष्टकी सिद्धि हो जाती थी ।

भारतमें बहुत प्राचीन कालमें ही विभिन्न राग-रागिनियोंके रंग, रूप, आकार, प्रकार, गुण, प्रभाव आदिका पता लग जुका था । सिद्ध गायक राग-रागिनियोंका रूप खड़ा कर देते थे । उनके प्रभाव प्रकट रूपमें प्रदर्शित कर दिखाते थे । पर समयने पलटा खाया । वे बातें गपोद्वाजी मानी जाने लगीं । किन्तु इधर पश्चिमी वैज्ञानिकोंके अनुसन्धानने फिर बाजी पलट दी है ।

अनुसन्धानके अनन्तर प्राचीन कालमें तपस्वी-ऋषि-मुनियोंको विभिन्न बीजाक्षरोंका शान प्राप्त हो गया था । इन बीजाक्षरोंके विचिपूर्वक जपद्वारा विभिन्न देवताओंकी आराधना की जाती थी और मनन्ताहीं सिद्धि प्राप्त की जाती थी । इसी प्रकार अनेक ऋषि-मुनियोंको अनेक मन्त्रोंका बोध हुआ था । कठिन तपद्वारा उन्होंने इष्ट मन्त्र प्राप्त किये थे । और उनके जपके द्वारा उन्होंने अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त कर ली थीं ।

उन्हीं मन्त्रोंके जपद्वारा समय-समयपर अनेक साधकोंने अपने-अपने इष्ट देवोंको प्रसन्न करके अपनी-अपनी अभीष्ट वस्तु-की प्राप्ति की है । किन्तु इधरके संशय-युगमें जपयोगसे लगाँगोंकी श्रद्धा उठ-सी गयी है । इसका कारण यह है कि विना यथार्थ शानके पाल्याण्डी प्राणियोंने आडम्बर खड़े करके दुनियाके भोले-भाले छी-पुरुषोंको बेताह टगना आरम्भ कर दिया । दूसरे किसी ताल्कालिक लाभ अथवा इच्छा-पूर्तिकी लालसासे जपयोगके यथार्थ-तत्त्व और उस कार्यके बोग्य वीजमन्त्र और जपको न जानेवाले अशानी पुरुष, जो सामने आया उसी मन्त्रका, विधि आदिके जाने ही विना, लष्टम-पष्टम रूपसे जप शुरू कर देते हैं । इन कारणोंसे जपका जो प्रभाव होना चाहिये वह देखनेमें नहीं आता । भगवान्ने गीतमें कहा है—'यशोंमें जपयश हूँ (यशानं जपयशोऽस्मि) ' । इसका मुख्य कारण यह है कि अन्य यशोंमें जो बाही सामान, तैयारी, सहायता आदिकी आवश्यकता पड़ती है

वे सब कांक्षाएं जपयशमें नहीं होतीं । जपयशमें केवल सार्विक भाष्य, प्रेम, साधना, तन्मता, एकाभ्रताकी ही आवश्यकता पड़ती है । प्रेमभावसे किसी भी ध्यान, अवस्था, समय और परिस्थितिमें इष्टदेवके जप किया जा सकता है । इसी कारण मनके एकाग्र होकर इष्टदेवमें लगते ही जपयोग सिद्ध हो जाता है और अनाथास ही मनन्ताहे फलकी प्राप्ति हो सकती है ।

जपमें मन्त्र, बीजाक्षर या इष्टदेवके नामको एक विशेष विधिसे बार-बार दोहराना पड़ता है । जप करते समय सबसे बढ़ी बात है, मनको एकाग्र करके जप और इष्टदेवके ध्यानमें लगाना । किन्तु यहाँपर एक बात अच्छी तरहसे समझ लेनी चाहिये कि ध्यान और जप दो मिह्न-मिह्न क्रियाएँ हैं । अपने इष्टके रूपका एकाग्रचित्त होकर मनन करना ही ध्यान कहलाता है । नाम या मन्त्रको बार-बार दोहरानेको जप कहते हैं । ध्यान और जप दोनों एक साथ भी चलते हैं और अलग-अलग भी । ध्यान जपसहित भी होता है और जपसहित भी । विना जपके केवल ध्यान करना जपसहित ध्यान कहलाता है । ध्यानके साथ ही, जिसका ध्यान किया जाय उसके, नाम या मन्त्रके जपके जपसहित ध्यान कहा जाता है । जब साधक अपने इष्टदेवके ध्यानमें इतना तन्मय हो जाता है कि उसकी आत्मा इष्टदेवके रूपमें लीन हो जाती है, उस समय साधक तमाधिकी अवस्थामें पहुँच जाता है और उस स्थितिमें जप ध्यानमें लीन हो जानेके कारण समाप्त हो जाता है । केवल ध्यान रह जाता है ।

किन्तु ध्यानकी इस उच्चतम अवस्थाके पूर्व मन, वार्षी और इन्द्रियोंको एकाग्र करके इष्टदेवके ध्यानमें लगानेके लिये जपकी आवश्यकता पड़ती है । जपके नादसे क्षंकारिक वस्तुओं तथा विचारोंसे मनको शीघ्रकर एक और लगानेके लिये प्रेम-भक्तिसे, सद्गुरुपूर्वक इष्टमन्त्र या नामका जप अनिवार्य है । ध्वनिके माधुर्यसे स्विचकर मन इन्द्रियोंसहित एक और लग जाता है । धीरे-धीरे इष्टपर ध्यान एकाग्र होने लगता है और अन्तमें बात विज्ञ-बाधाओं, आकर्षणों, प्रलोभनोंके जालकी तोड़कर मन इष्टमें रम जाता है ।

मनोविज्ञानके विद्वानोंने अनेक प्रकारके प्रयोग, परीक्षण, सोज और छान-बीनके अनन्तर यह सिद्ध कर दिखाया है कि मनुष्यके मस्तिष्कमें बार-बार जिन विचारोंका उदय होता रहता है, वे विचार वहाँ नक्षा हो जाते हैं । उसी प्रकारके

भाव मस्तिष्कमें घर बना लेते हैं। फल यह होता है कि वे ही या उसी प्रकारके विचार मस्तिष्कमें बराबर चक्र लगाया करते हैं। उनसे मनका इतना लगाव हो जाता है कि उन्हींमें वह आनन्द प्राप्त करता है। उन्हींमें भगवन रहने लगता है। ऐसी दशामें दूसरे प्रकारके अच्छे-से-अच्छे विचार और हितकर से-हितकर भाव मनको नहीं रखते। वह उनसे जल्दी ही ऊब उठता है, भगवने लगता है और अपने पुराने विचारोंके बीचमें जाकर शरण लेता है। हमारे शास्त्रकारोंने इसीको संस्कारोंसे प्रेरित होकर मनुष्य अच्छा-बुरा आचरण करता है; और उन्हीं अपने विचारों, संस्कारोंके कारण ही संसारके सामने सज्जन या दुष्ट ठहरता है।

पहले मनुष्यके मनमें विचार उठते हैं। फिर वह उन्हें धन्नन या कार्यद्वारा प्रकट करता है। अस्तु, मनुष्यके आचरणोंका मूल आधार उसके विचारों, भावोंमें ही रहता है। जो मनुष्य जैसे विचार रखता है, वह उसी प्रकारका हो जाता है। मनुष्य अपने विचारोंका व्यक्त या साकाररूप मात्र है।

जपसे मनुष्यके विचार संयत हो जाते हैं। बार-बार उसके मुखसे एक विशेष प्रकारके शब्द उच्चारित होते हैं। कान बराबर उन शब्दोंको सुनते हैं। मन और मस्तिष्कपर उनका निरन्तर प्रभाव पड़ता है। मस्तिष्कके कोरोंमें उनका असर पड़ता है, विहृ बनता, स्कार जमता और एक साथी प्रभाव अङ्गित हो जाता है।

जपके समय साधकके सामने इष्टदेवके रूप, गुण, कर्मका वित्र जाज्वल्यमानरूपसे उपस्थित होता है। उसका प्रभाव पड़ना अनश्वरमानी है। देवोचित गुणोंका प्रभाव हितकर ही होगा।

साधकके पूर्वसंस्कारोंमें परिवर्तन होता है, वे धरि-धीर विदेन-मिटने लगते हैं। इष्टदेवके गुणोंका प्रभाव अङ्गित होने लगता है। साधकके संस्कार इष्टदेवके रूप, गुणके अनुसार बनने लगते हैं।

एक पात्रमें जल भरा है। उसमें पिंवला हुआ शीशा उड़ेला जाता है। जैसे-जैसे शीशीकी धार पात्रकी तहमें खेलती जाती है, वैसे-ही जैसे पानीका अंश पात्रके ऊपरसे बाहर रहने कर निकलता जाता है। अन्तमें जब शीशीकी तह पात्रके मुँह-तक आती है, तब पानीका कुल भाग पात्रसे बाहर निकल जाता है। पात्रमें नीचेसे ऊपरतक केवल शीशा-ही-शीशा भरा नजर आने लगता है।

ठीक इसी प्रकार जब साधक जपके द्वारा अपने इष्टदेवके गुणोंकी धार धीर-धीर किन्तु निश्चित तथा प्रबलरूपसे मस्तिष्क-कोरोंके पात्रमें उड़ेलने लगते हैं, तब एक-एक करके सभी गंदे विचार दूर होने लगते हैं; और अन्तमें मन-मस्तिष्क शुद्ध होकर इष्टदेवके रूप, गुण, कर्मसे भरकर भासित होने लगते हैं। वहाँ अज्ञान-अन्धकारमय असद-विचारोंको स्थान ही नहीं रह जाता। लोम, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, मद, मात्स्य, क्रोध आदि सभी दूषित माव दूर हो जाते हैं। तामस, राजस भावोंके स्थानमें शुद्ध, सात्यिक भाव अङ्गित हो जाते हैं।

आम शब्दके कहनेसे मनमें उसके रूप, रंग, गुण, स्वादका उदय हो आता है। हुर्मूझ्युक गंदी बस्तुओंके नामस्मरण होनेसे मन बिनाने लगता है। उसी तरह इष्ट-देवके नामके स्मरण, उच्चारणसे दैवीगुण मनमें उदय होते हैं। मन शुद्ध हो जाता है। विकार दूर हो जाते हैं। साधक दैवी भावको प्राप्त होने लगता है। जप इष्टदेवकी प्राप्तिका सरल वैशानिक अचूक उपाय है।

राम रम रहा है

दाढ़ देखौं दयाल कौं सकल रहा भरपूर।
रोम रोम में रमि रहा तूं जिनि जापै दूरि॥
दाढ़ देखौं दयाल कौं बाहरि भीतरि सोइ।
सब दिसि देखौं पीच कौं दूसर नाहों कोइ॥

—दाढ़जी

आत्मतत्त्व विद्यातत्त्व शिवतत्त्व तुरीयतत्त्व

(लेखक—श्रीकृष्ण काशीनाथ शास्की)

साधनमें प्रदृश्ट होनेवाले साधकों तत्त्वज्ञान होना आवश्यक है। तत्त्वोंकी आवश्यकताका प्रारम्भ आचमनसे ही होता है। जिस प्रकार साधारण आचमन—

ॐ केशवाय स्वाहा ।

ॐ नारायणाय स्वाहा ।

ॐ माधवाय स्वाहा ।

—हम इन तीन मन्त्रोंसे करते हैं उसी प्रकार दुर्गा, काली, तारा, महाविद्या, षोडशी आदि महाविद्याओंके क्रममें, तथा सभी तान्त्रिक महाविद्याओंके क्रममें तथा सभी तान्त्रिक मन्त्रोंकी साधनाके आरम्भमें मूल-मन्त्रसहित इन तत्त्वोंसे चार आचमन किये जाते हैं। यथा—

ॐ आत्मतत्त्वाय स्वाहा ।

ॐ विद्यातत्त्वाय स्वाहा ।

ॐ शिवतत्त्वाय स्वाहा ।

ॐ सकलतत्त्वाय स्वाहा ।

स्थूलदेह, सूक्ष्मदेह, कारणदेह और महाकारण-देहके शोधनमें भी इन तत्त्वोंका उच्चारण करना अनिवार्य है।

आत्मतत्त्वसे स्थूलदेहका शोधन किया जाता है। विद्या-तत्त्वसे सूक्ष्मदेहका, शिवतत्त्वसे कारणदेहका और सकल-तत्त्वसे महाकारणदेहका शोधन किया जाता है। अब, तत्त्वका स्वरूप क्या है, संख्या कितनी है और तत्त्वातीत क्या है? यह हम इस लेखद्वारा 'कल्याण' के ग्रन्थियोंको समझानेकी चेतावनी है।

यह विश्व ३६ तत्त्वोंसे बना है। ये ३६ तत्त्व प्राय होनेतक विद्यमान रहकर जगत्‌की भोगकी सामग्री देते हैं। ग्रन्थियोंके शरीर, घट, पट—ये तत्त्व नहीं हैं।

आप्रलयं यतिष्ठति सर्वेषां भोगदृश्य मूलगनाम् ।

वत्सवस्मिति प्रोक्तं न शरीरधार्वि तत्त्वमतः ॥

(ग्रन्थरूपिता)

सुषुप्ति-अवस्थामें जैसे जीवोंका संसार लय होकर सूक्ष्मस्तुत्यसे जीवोंमें स्थित रहता है, ठीक उसी प्रकार, प्रलयकालमें यह

जगत् सूक्ष्मस्तुत्यसे परशिवके कुशिगत रहता है। सब जीव, अपने अदृष्ट पञ्चभूत तथा जीवोंके संस्कार सूक्ष्मस्तुत्यसे परशिवमें रहते हैं, जैसे वट-बीजमें वटवृक्ष रहता है। ये संस्कार परशिवके पुनः स्थिति उत्पन्न करनेमें सहकारी होते हैं।

केवल निजबूल्पमें अवशिष्ट परशिवकी जब प्रजोत्पादनकी इच्छा होती है कि 'बहु स्यां प्रजायेय', तब हच्छाशक्ति, शानशक्ति और क्रियाशक्ति, इन तीनोंके योगसे वे जगत् उत्पन्न करते हैं। यह जगत् ३६ तत्त्वोंसे निर्मित है। इन ३६ तत्त्वोंके तीन विभाग हैं—(१) आत्मतत्त्व (२) विद्यातत्त्व और (३) शिवतत्त्व अर्थात् (१) सत् (२) चित् (३) आनन्द ।

आत्मतत्त्वमें ३१ तत्त्वोंका समावेश होता है वे इस प्रकार हैं—

आत्मतत्त्वः—

पृथ्वी	उपस्थ	बुद्धि
आप	पायु	मन
तेज	पाद, पाणि	प्रकृति
वायु	वाक्	जीव
आकाश	प्राण	नियति
गन्ध	रसना	काल
रस	चक्षु	राग
रूप	त्वचा	कला
स्पर्श	श्रोत्र	अथिथा
शब्द	अहङ्कार	माया

विद्यातत्त्वः—

(१) सदाशिव (२) ईश्वर (३) विश्व

शिवतत्त्वः—

(१) परम शिव (२) शक्ति

मायान्तमायमतत्त्वं विद्यातत्त्वं सदाशिवान्तं स्वत् ।

शक्तिशिवौ शिवतत्त्वं तुरीयतत्त्वं समाप्तिरेतेषाम् ॥

अर्थात् 'पृथ्वीसे मायातक ३१ तत्त्वोंकी समष्टि आत्म-
तत्त्व है, यह सत्-स्पृह है। विद्यातत्त्वसे सदाशिवतत्त्वतक
'विद्यातत्त्व' चित्-रूप है; याकि और विद्यतत्त्व 'आनन्दस्पृह'
हैं। इन तत्त्वोंकी समष्टि 'तत्त्वातीत' नामक सचिदानन्द
'तुरीयतत्त्व' है।

अब हम इन ३६ तत्त्वोंकी क्रमशः व्याख्या करते हैं—

(१) परम शिव—

जगत्के उत्पादनकी इच्छासे युक्त परम शिव, यह
'शिव' नामक प्रथम तत्त्व है।

(२) शक्ति

परम शिवकी सिसूक्षा—जगत् उत्पन्न करनेकी इच्छा—
यह दूसरा तत्त्व है।

(३) सदाशिव

मैं जगद्गूप्त हूँ, इस प्रकार परम शिवका जगत्को
अहन्तास्तुपसे देखना—इस वृत्तिसे युक्त 'सदाशिव' नामक
तीसरा तत्त्व है।

(४) ईश्वर

यह केवल जगत् है, इस भेदविषयिणी वृत्तिसे युक्त
'ईश्वर'—यह चतुर्थ तत्त्व है।

(५) विद्या

यह जगत् मेरा ही स्वरूप है, ऐसी जो सदाशिवकी वृत्ति
है, इसको विद्या कहते हैं—यह पाँचवाँ तत्त्व है।

(६) माया

यह जगत् है, ऐसी ईश्वरकी भेद-विषयिणी वृत्ति
'माया' नामक छठा तत्त्व है।

(७) अविद्या

पूर्वोक्त विद्याको तिरोहित करनेवाली तथा विद्याकी
विरोधिणी 'अविद्या' कहलाती है—यह सातवाँ तत्त्व है।

(८) कला

जीवनिष्ठ सर्वकर्तृत्व-शक्तिका संकोच होकर केवल
यत्किञ्चित् करनेका सामर्थ्य होना—यह 'कला' नामक
आठवाँ तत्त्व है।

(९) राग

जीवनिष्ठ जो निलगृहि, वही संकुचित होकर कुछ
विषयोंकी प्राप्तिके लिये अतृप्त रहती है—यह 'राग' नामक
नवम तत्त्व है।

(१०) काल

जीवनिष्ठ निलगृहि का संकोच होकर, जीव इन पट्ट
भावोंसे युक्त होता है—वे पट्ट भाव ये हैं—

(१) अस्तित्व (३) बुद्धि (५) क्षय

(२) जनन (४) परिणमन (६) नाश

इन पट्ट भावोंके सहित जीवकी नित्यताका संकोच—
यह 'काल' नामक दसवाँ तत्त्व है।

(११) नियति

परशिव और जीवका अभेद होनेसे, जिस प्रकार परशिव
स्वतन्त्र है उसी प्रकार जीव भी स्वतन्त्र है, परन्तु अविद्याके
कारण जीवकी आनन्दशक्तिकी स्वतन्त्रताका संकोच होकर
यह जीव दूसरे कारणकी अपेक्षा रखता है—यह 'नियति'
नामक चारहवाँ तत्त्व है।

(१२) जीव

उपर्युक्त नियति, काल, राग, कला और अविद्या—
इन उपायिणोंसे युक्त 'जीव' यह बारहवाँ तत्त्व है।

(१३) प्रकृति

सत्त्व, रज और तम, इन तीनों गुणोंका साम्य 'प्रकृति'
है—यह तेरहवाँ तत्त्व है।

(१४) मन

सत्त्वगुण और तमोगुण दबे हुए हों और रजोगुण-
की प्रधानता हो, इसको 'मन' कहते हैं—यह चौदहवाँ
तत्त्व है। मन सङ्कल्पका कारण है।

(१५) बुद्धि

रजोगुण तथा तमोगुण दबे हुए हों और सत्त्वगुणकी
प्रधानता हो वह 'बुद्धि' नामक पन्द्रहवाँ तत्त्व है।

(१६) अहङ्कार

सत्त्वगुण और रजोगुण दबकर तमोगुणकी श्रेष्ठता हो,
वह विकल्पका कारण 'अहङ्कार' होता है—यह सोलहवाँ
तत्त्व है।

१७ से ३६ तक तत्त्व हैं—

श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, व्याण, वाक्, पाणि, पाद,
पाशु, उपस्थ, शब्द; स्पर्श; रूप, रस, गन्ध, आकाश, वाशु,
तेज, जल, पृथ्वी।

इन २० तत्त्वोंका अर्थ स्पष्ट है।

यह आत्मतत्त्व, विद्यातत्त्व और शिवतत्त्वका अर्थात्
सत्, चित् और आनन्दका वर्णन हुआ। तुरीय-तत्त्व इन तीनों
तत्त्वोंकी समष्टि 'सचिदानन्द' है।

'तुरीयतत्त्व समष्टिरेताम्'

यही 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' है, यही अक्षर है,
अनिदेश्य है, अव्यक्त है, सर्वव्यापी है, अनित्य है, भूत है,
कृदृश है और अनिर्बन्धनीय है। उक्त ब्रह्ममें जो शक्ति
विलीन रहती है, उसका नाम सरस्तती है; उसका वाहन ईंट
है, इकार शिवका वाचक है, सकार शक्तिका वाचक है।
इकार अहंका पर्याय है और सकार इदम् (जगत्) का
पर्याय है, सोऽहम् यह ईंसः का उल्टा है, 'सोऽहम्' प्रपञ्चसे
ब्रह्मकी ओर संसरण करता है और 'ईंसः' यह ब्रह्मसे शक्तिकी
ओर, यही अजपाजप गायत्री है, जिसके २१६०० जप नियम
जीव अपने श्वसोन्दुरासे करता रहता है।

'हकारेण अहिर्वाति सकारेण विशेषतुमः ।'

यही तत्त्वातीतका जप है, जो जीवनभर चलता रहता
है। योगीके लिये यह तत्त्वातीतका जप है, मात्र जनोंके लिये
यह धर्मनीका चलना है।

परब्रह्मके साथ एक्य-सिद्धि प्राप्त करना, यही मनुष्यका
परम पुरुषार्थ है। 'शिवो भूत्वा दिवं यजेत्' स्त्रयं विवरूप
होकर शिवकी पूजा करना है, हस्तिये हमें इस मायामोहरूपी

३६ तत्त्वोंके जगत् का शिवरूप संवित् (ज्ञान) अग्रिमे हृष्ण
करना चाहिये। यथा—

असर्वनिर्मतरमनिन्दनमेघमाने
मोहान्धकारपरिपन्थिनि संविदधौ ।

कस्मिंश्चिद्दुष्टमरीचिविकासमाने
दिक्षं युहोमि वसुधारि शिवावसानम् ॥

'देहमें विना ईंटनके ही निरन्तर प्रज्ञलित रहनेवाली,
असृत प्रकाशसे युक्त, मोहरूपी अन्धकारका नाश करनेमें
कृदृश, ऐसी अनिर्वचनीय संवित् अग्रिमे हम, षट्प्रिंशत् तत्त्व-
मय जगत्—जिसका आदि तत्त्व 'वसुधा' और अन्तिम तत्त्व
'शिवा' है—हृष्ण करते हैं अर्थात् मायामोहके आवरणको भस्म
करके हम उस परमात्माके साथ अपना योग करते हैं।'

तिक्तके दरमे सूक्ष्मे विर्लक्ष्ये भावतजिते ।

न्योमातिते परे तत्त्वे प्रकाशान्वदविग्रहे ॥

दिश्वितीर्णे विश्वमये तत्त्वे स्वात्मनित्यानम् ॥

'जीवात्माका परमात्माके साथ योग करे, जो परमात्मा
सचिदानन्द है, अखण्ड है, महत्से भी महान् है, अणुसे
भी सूक्ष्म है, अलक्ष्य है, केवल भावनाशम्य है, जिसका
प्रकाशानन्द स्वरूप है, जो ३६ तत्त्वोंसे परे है और जो ३६
तत्त्वमय है।' ऐसे परमेश्वरके साथ ऐवसिद्धि प्राप्त करे और
मायना करे कि—

अहं देवो न चान्योऽस्मि ब्रह्मेवाहं न शोकभाक् ।

सचिदानन्दवपोऽहं नित्यमुक्तस्त्रभवदान् ॥

अर्थात् 'मैं प्रकाशरूप हूँ, मैं ही ब्रह्म हूँ, मैं नित्यमुक्त
हूँ, मैं सचिदानन्द हूँ और शोक-मोह-अज्ञानसे परे हूँ'—यही
'जीवशिवयोरैक्यसिद्धि' है। हस्ति सिद्धिको प्राप्त करना
मुमुक्षु साधकका परम पुरुषार्थ है।

राम-नाममें ऐसा चित्त लगे

जो चित्त लगे राम नाम अस ॥ टेक ॥
हृषावंत जल पियत अनैव अति ।
थलकहि गाँव मिलत है जौन जस ॥
निर्धन धन सुत बाँझ बसत चित ।
संपति बदल न धटत जौन अस ॥

—गुलाल साहेब

मध्यम मार्ग

(लेखक—श्री‘प्रतरशेन’)

युक्ताहारविद्वरस्य युक्तवैष्टव्यं कर्मसु ।
युक्तस्मावचोदस्य योगो भवति दुःखश्च ॥
(शीता ६ । १७)

भगवान् बुद्ध एक पर्वतपर आसन ल्पाये बैठे थे ।
उन्होंने आहार, जल और निद्रा सब छोड़कर—

इहासने शुभ्यतु मे करीरं
ध्वगस्थिमासानि लघं प्रगानु ।
अग्राय शोधं बहुद्वयदुलभं
नैवासनात्कायमिदं अलिप्यति ॥

—का इदं निष्ठय कर लिया था । दिन-नर-नदिन और रात-पर-रात वीतीती चली जा रही थी; किन्तु अमिताभके मनमें न तो शान्ति आयी और न शिरता । चिन्त उनका अशान्त था, वे विजित हो रहे थे ।

मैं यह माननेको प्रस्तुत नहीं कि यह विकलता भगवान् बुद्धमें वस्तुतः थी । उन आत्माराम आसकाममें भला उद्दिग्नताको कहाँ अवकाश ! पर जैसे साधकोंके कल्याणार्थ उन्होंने दैराम्यका प्रदर्शन किया, वैसे ही आवेदकी व्यर्थता दिव्यवलानेके लिये उनका यह नाड़क रहा होगा ।

एक-दो नहीं, उस अवस्थामें इस प्रकार चालीस दिन व्यतीत हो गये । अन्तमें सहसा उन्हें अपनी भूल शत्रु हुई । वे धौरेसे आसन छोड़कर हाथ और पैरोंके बलसे विसकते हुए जलके किनारे पहुँचे । शरीर निर्बल हो रहा था । आचमन किया और एक चिथड़ेको धोकर उसकी कौपीन ल्पायी । वहाँसे वे नशरमें आये और मिश्या की ।

मिश्या करके भगवान् पुनः लौटे और उन्होंने बोधिकृक्षके नीचे आसन ल्पाया । यही उन्हें ज्ञान होकर बुद्धत्वकी प्राप्ति हुई और वे उस ज्ञानका प्रसार करने सारनाथ गये ।

भगवान् ने अपने इस साधन-मार्गका नाम ‘मध्यम मार्ग’ रखा । मैं बौद्ध ग्रन्थोंके उन पारिभाषिक शब्दोंके फेरमें नहीं पढ़ना चाहता, जो मध्यम मार्ग ज्ञानको अपने दंगकी व्याख्या करते हैं । मुझे तो उस मध्यम मार्गपर विचार करना है, जिसका सहेत लेखके आरम्भमें दिये गीताके स्तोकमें है ।

सा० अ० दृ०

बौद्ध धर्मके पारिभाषिक मध्यम मार्गकी ओर न जाते हुए भी मैं विवेकित मार्गको मध्यम मार्ग इच्छिये कह रहा हूँ कि वह न तो उग्र हठका मार्ग है और न आलस्यका । जीवनको माध्यमिक दशामें रखकर ही उसका साधन किया जा सकता है । जो साधक अपने साधनमें सफलता चाहता है, उसके लिये यह सर्वोत्तम ही नहीं, अपितु एकमात्र मार्ग है । कोई भी साधन यिना माध्यम स्थितिमें आये पूर्णताको प्राप्त हो नहीं सकता ।

साहित्य एवं उपदेश दो प्रकारके होते हैं—प्रचारात्मक और क्रियात्मक । लोगोंको प्रोत्साहित करने और उनमें रुचि उत्पन्न करनेके लिये अधिकांश प्रचारात्मक साहित्य प्रस्तुत होता है । सभा, कथा, संस्कृत, उपदेश भी अधिक इसी उद्देश्यसे होते हैं । क्रियात्मक साहित्य और उपदेश योद्धा होता है और उसके अधिकारी भी योद्धे ही होते हैं । साधनके आध्यात्मिक पथमें क्रियात्मक बातें गुण भले न रहें, पर वे कुछ निश्चित अधिकारके व्यक्तियोंतक सीमित अवश्य रहती हैं । दूसरोंके सम्मुख होनेपर भी गम्भीरताके कारण वे उसे ग्रहण नहीं कर पाते ।

साधारण समाज ग्रामः ओजपूर्ण उत्तेजनात्मक बातें सुनना और सेचना प्रसन्न करता है । व्यावहारिकताकी कसौटीपर कस्कर उन कँची उड़ानोंकी परीक्षा करनेके लिये वह तत्पर नहीं होता । ऐसी बातोंको वह साहसहीनता, कायरता और हातोत्साह करनेवाली समझकर उनकी उपेक्षा एवं परिहास करता है ।

साधनेच्छु व्यक्ति उसी साधारण समाजमेंसे आता है । अपने गन्तव्य धर्मके विषयमें वह एक अनुभवशूल्य पर्याप्त होता है । उसे आगे आनेवाली कठिनाइयोंका ज्ञान या तो होता ही नहीं और यदि होता भी है तो वह उन्हें कोई महत्व नहीं देता । वह अपनी शक्तिसे अपरिचित होता है । उसे अपने उस अल्प हाती (मन) के स्वभावका तनिक भी पता नहीं होता, जिसके ऊपर उसकी वर्तमान यात्राकी सफलता या असफलता निर्भर करती है ।

वह नव यात्री आता है प्रचारात्मक साहित्यका उबलता जोश लिये हुए । उसके भीतर एक दूफान होता है । वह

उच्च-से-उच्च आदर्शको आदर्शकी भाँति नहीं, कार्यकी भाँति देखते हुए स्वयं ब्रह्मपठ 'योदी सेकी और सा लिया' की भाँति, वैसा बन जानेकी आशा करता है। वह उन कठिनाइयोंको ध्यानमें भी नहीं लाता जो कि उसने पढ़ी और सुनी हैं, जिनसे उसे बार-बार साधान किया गया है।

'मनुष्य-जीवन अमूल्य सम्पत्ति है। यदि वह लोगी तो फिर पश्चात्ताप करते हुए चौरासी लक्ष योनियोंमें भटकना ही हाथ रहेगा। कोई ठिकाना नहीं कि काल कब इस अमूल्य घनको हमारे हाथसे छीन ले। इसलिये उठो और इसी क्षण उस परम लक्ष्यको प्राप्त करनेमें लग जाओ।' तुम उसे प्राप्त कर सकते हो। उसे प्राप्त करनेके लिये ही तुम्हारा यह जीवन है। वह तुम्हारा स्वरूप है। कोई शक्ति नहीं जो तुम्हें उसके प्राप्त करनेसे रोक सके। उठो, पूरी शक्तिसे लग जाओ और लक्ष्यको प्राप्त करो।' ऐसी ही जीवने प्राप्ति: उच्च नव पथिकने सुनी हैं और सुनता रहता है।

प्राप्तः उसके सम्मुख ब्रुव, प्रह्लाद प्रभुतिके आदर्श होते हैं। वह सुग और शक्तिपर ध्यान न देकर सोचता है, मैं भी इसी प्रकार घोर साधन करूँगा। थोड़े ही समयमें मैं अपने लक्ष्यको प्राप्त कर दूँगा।' उससाह और साहस बुरा नहीं है। मैं भी उसकी प्रशंसा ही करूँगा; पर जिसे कार्यक्षेत्रमें आना है, उसे व्यावहारिकतासे परिचित होना ही चाहिये।

प्रारम्भिक साधकको जोश दिलाया गया होता है तीव्रसे तीव्रतर गतिको लेकर बढ़नेका। वह जीतोड़ श्रम करता है; लेकिन उसे श्रम करनेकी रीतिका पता नहीं होता। वह अस्यास नहीं करता। अस्यासको वह जानता ही नहीं। वह करता है बलप्रयोग। भला बलप्रयोग कही स्थायी होता है। आवेशका अनिवार्य परिणाम श्रान्ति है।

उदाहरण लेकर देखिये—एक व्यक्तिने सुना है कि व्यायाम करनेसे शरीर पुष्ट होता है। व्यायाम शक्ति देता है। वह अखाड़ेमें गया और पहले दिन ही उसने दण्ड-बैठकोंमें अपनेको थका लिया। सम्भव है कि दूसरे दिन भी किसी प्रकार वह पहले दिनकी संख्या पूरी कर ले; परन्तु तीसरे दिन उसके लिये उठना बैठना भी कठिन हो जायगा। जबर आ जाय तो भी आश्वर्य नहीं। इस प्रकारका व्यायाम शरीर-के लिये लाभके बदले हानि अधिक करेगा और अन्तमें ऊब-कर वह व्यक्ति व्यायामको ही छोड़ देगा।

प्रकृतिका नियम है कि जहाँ आशात होगा, वहाँ प्रत्याशात होना ही है। साधक जब मनपर अत्यन्त दबाव डालने लगता है तो कुछ समय वह समझता है कि मैं साधनमें अग्रसर हो रहा हूँ। वह दशा 'अधिक दिन नहीं ठिकानी। मनसे उस बलप्रयोगका प्रतीकार होने लगता है। अनेक ऐसे सङ्कल्प-विकल्प उठने लगते हैं जो साधन न करनेके समय भी नहीं उठते थे। मन बङ्गल हो जाता है और लाख प्रयत्न करके भी स्थिर नहीं हो पाता। साधक समझने लगता है कि वह अपनी साधन-सम्यक्ये पूर्वकी विस्तिते भी नीचे पहुँच गया है। उसके मनमें साधनपर ही सङ्देह होने लगता है।

मनपर दबाव डालना साधकके लिये कभी हितकर नहीं होता। भगवान् ने गीतामें 'अस्यासेन तु' कहकर और महर्षि पतञ्जलिने अपने योगदर्शनमें 'अस्यासैवरायाम्या' के द्वारा साधन-पथका निर्देश किया है। बलप्रयोगकी चर्चा कहीं भी नहीं है। गीतामें भगवान् ने हठार्थक शरीरको पीड़ा देकर होनेवाले तपको तामस तप कहा है। उन्होंने बताया है कि—

कर्वयन्तः शशीरस्यं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशशीरस्यं तान्विद्युयासुरनिश्चयान् ॥
(१७ । ६)

'जो मूर्ख शरीरके पाञ्चभौतिक नस, नाड़ी, मास आदिको (बलपूर्वक) खीचते (पीड़ित करते) हैं और (इस प्रकार) मुख शरीरमें रहनेवालेको (परमेश्वर जो जीवात्मारूपसे है उसे) पीड़ित करते हैं, उन्हें आसुर (तामत) निश्चयाले समझो।'

अस्यासका अर्थ है स्वभाव डालना—जितना मन और शरीर सरलतासे सह सके, उससे आरम्भ करके धीरे-धीरे उसे इस प्रकार बढ़ाना कि वह अस्तश न हो और वैसा करनेका स्वभाव बन जाय। आरम्भ एक छोटी मात्रासे करके उसे बहुत धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिये। अस्यासका यह नियम है कि उतना ही बढ़ाया जाय जिसे पिर कभी घटाना न पड़े।

यह अस्यासकम पर्याप्त समयतक चल सकता है। इसमें उद्दिग्दता होनेकी सम्भावना एक प्रकारसे नहीं ही होती। समय लगता अवश्य है, पर साधक मनकी प्रतिक्रियासे सुरक्षित रहता है। उसे उस प्रत्याशातापा सामना नहीं करना पड़ता, जो एक दुःखद अवस्था है और जिसे सहन करना कठिन पड़ता है। फिर उससे कोई लाभ भी नहीं होता।

प्रत्याधातकी शान्तिपर साधको पता लगता है कि उसके बलप्रयोगका कोई प्रभावकारी सुफ़ल उसे नहीं मिला।

वह एक कठिनाई है कि प्रारम्भिक साधको यह अन्यासकम नहीं समझता जा सकता। वह आवेद लिये और उतावला होता है। उसे बलप्रयोगकी धून रहती है। ऐसी बातोंको वह हतोत्साह करनेवाली समझता है। दो-चार चार बलप्रयोग और उसके अनिवार्य परिणाम मनकी चञ्चलताके द्वारा तादृश होकर तब कहीं वह अन्यासकी ओर आता है। वह स्थानाविक होते हुए भी भयहूर है। प्रत्याधातके समय प्रायः ऐसा होता है कि साधकका विवाह साधनपरसे जाता रहता है। वह उसे छोड़ देता है। यहाँतक भी कुछाल है। पर बहुधा वह दूसरा साधन करने लगता है और उसमें भी वही पहली भूल करता है।

मैंने देखा है कि इस प्रकार कई साधन पकड़ने और छोड़नेके पश्चात् साधककी श्रद्धा साधनमात्रपरसे उठ जाती है। वह आव्याधिकताको एक भुलावा मानने लगता है। अपनी भूलके कारण मुख्य-जीवनके लक्ष्यसे दूर जा पड़ता है। वह धातक परिणाम रोका जा सकता है, यदि एक प्रत्याधातके पश्चात् उसे कोई दूसरा उसकी भूल समझा दे और पुनः उसे अन्यासकममें लगा दे। ऐसे अवसरपर साधन बदलनेसे कोई लाभ नहीं।

यह एक भ्रान्ति है कि यदि एक धंटेके जपमें पाँच मिनट मन एकत्र रहता है तो पाँच धंटेके जपमें पचीस मिनट एकत्र रहेगा। यह गणित मनके ऊपर नहीं चढ़ता। मनका स्थान है कि वह किसी भी कामको प्रारम्भमें पसंद कर लेता है और फिर उससे ऊब जाता है। फिर वह उसमें रस नहीं लेता। जो लोग लगातार पूरे दिन साधनमें लगे रहते हैं, उनमें यदि महापुरुषोंको अपवाद मान लिया जाय तो शोप प्रायः या तो ऊँधते रहते हैं, अथवा उनका मन कहीं इधर-उधरकी सोचता रहता है।

मनके लिये कोई एक वस्तु प्यारी नहीं। वह नवीनतासे प्रेम करता है। अच्छी-से-अच्छी वस्तुको भी छोड़ देता है और उससे धरियाको भी चाहने लगता है। सुस्वादु भोजन पानेवाली सम्पन्न पुरुष भी एक बार लखी रोटियाँ पाकर प्रकल्प होता है। इस बातको न समझनेके कारण साधक किसी नये साधनमें एकाग्रता प्राप्त करके उसकी ओर आकर्षित हो जाता है और अपने पुराने साधनको

छोड़ बैठता है। नये साधनकी एकाग्रता भी उसकी नवीनतातक रहती है। मन बादको उसमें भी वैसे ही रुचि नहीं रखता जैसे पहले साधनमें। अतः यह समाज लेना चाहिये कि साधनका बदलना कोई लाभकारी बात नहीं।

मैं पहले कह चुका हूँ कि मन नवीनतामें आकर्षित होता है। विश्वास न हो तो तीव्रवासियों, मनिदरके पुजारीयों, कथाचाचकोंके अपने साधियों और संत-महात्माओंके निकटस्थ व्यक्तियोंके जीवनको देखिये। जहाँ कुछ धंटे रहनेसे आप अद्वा और साखिकतासे भर गये थे, वहाँ सर्वदा रहनेवालोंपर उसका कोई प्रभाव नहीं। वह मूर्ति जो आपको आकर्षणका केन्द्र जान पड़ती है, पुजारीके लिये उसमें कोई आकर्षण नहीं। वह उपदेश जो आपको चिह्नित बना रहे हैं, उपदेशको मार्हीपर उनका कोई प्रभाव नहीं। कारण वह है कि वे उसे रोज-रोज देखते और सुनते हैं। उनके लिये वह सामान्य हो गया है। आपने उसे प्रथम देखा या सुना है, आपके लिये वह नवीन अतः आकर्षक है।

एक हल्लाई स्या मिठाइयोंको दैसे ही चाहता है, जैसे कोई रुखी रोटीसे पेट भरनेवाला गरीब बालक ? पर यदि उसी बालकको मिठाईकी दूकानमें नौकर रख लिया जाय और यथेच्छ मिठाई लानेकी छुट्टी दे दी जाय तो क्या वह सदा पूर्ववर्त मिठाइयोंमें स्वाद और आकर्षण प्राप्त कर सकेगा ? इसी प्रकार आपको भी सारण रखना चाहिये कि जहाँ आज आपने इतना अधिक आकर्षण पाया है, वही यदि सदा रहने लगेंगे तो आपको कोई लाभ नहीं होगा। उस स्थान या व्यक्तिका आपपर कोई प्रभाव सदा नहीं पड़ सकता।

एक दिनके लिये किसी स्थान या व्यक्तिमें आकर्षण देखकर उसके पास रहनेको उतावला होना पागलपन है। इस प्रकार घर छोड़कर बाहर जा बसनेवाले साधक निराशाके अतिरिक्त और कुछ नहीं पाते। यदि साधन किसी एक स्थानमें रहकर नहीं होता तो वह दूसरे स्थानमें जाकर भी नहीं होगा। मन वाद्य प्रभावोंसे एकाग्र नहीं किया जा सकता। ये प्रभाव तो क्षणिक होते हैं। उनकी नवीनताके कारण मन उधर खिंचता है। एकाग्रता तो प्राप्त करनी होगी। वह पैर्य-पूर्वक साधनके क्रमिक अन्याससे प्राप्त होगी। वह आव्यासनकी वस्तु है। बाहर उसको नहीं पाया जा सकता।

जो कुछ भी करना है, वह साधको स्वयं करना होगा। दूसरे उसे केवल उत्साह दिल सकते हैं, भूलें बतला सकते

हैं और नमस्त्रय पथको^१ एक धुंधला परिचय दे सकते हैं। चरम स्थिति कोई बाजा वस्तु नहीं, जिसे कोई उठाकर दे देगा। वह अपने ही अन्तरकी वस्तु है। वह अपने ही साधनसे मिलेगी। किसीके लिये कोई दूसरा साधन नहीं कर सकता। यदि कोई ऐसा करे भी तो वह व्यव्यग्राय है।

लोग विवेकानन्दजीपर परमहंस रामकृष्णकी कृपके समान इँड लेते हैं और कल्पना कर बैठते हैं कि उन्हें भी कोई ऐसा ही महापुरुष मिल जायगा। ऐसे लोग स्वयं तो कुछ करना चाहते नहीं, महापुरुषोंके पीछे पढ़े रहते हैं। एकसे निराश होकर दूसरे और दूसरेसे तीसरे, इस प्रकार एक-न-एकके पीछे पढ़े रहना उनका स्वभाव बन जाता है। मैं पूछता हूँ कि महापुरुष क्यों एक व्यक्तिगत कृपा करके उसे उच्च आत्मात्मिक स्थिति प्रदान करेगा और दूसरेको नहीं? क्या सेवासे प्रसन्न होकर? इसका तो अर्थ होता है कि वह दूसरोंसे अपनी शारीरिक सेवा कराना चाहता है। उसमें शरीरके प्रति मोह है। पिर वह महापुरुष कैसा?

समदर्शी महापुरुष किसीपर कृपा नहीं करते और न किसीपर कोश। उनके लिये तो सब अपने स्वरूप हैं। अथवा वे कृपाके स्वरूप होते हैं। उनकी कृपा सत्पर सदा समान रहती है। उनके द्वारा किसीपर कृपा या कोप जो प्रतीत होता है, वह उसी व्यक्तिके कर्मका फल होता है। परमहंसजीने केवल स्वामी विवेकानन्दपर ही ऐसी कृपा क्यों की? उनके सेवकोंमें तो नेतृत्वसे अधिक दूसरे भी अनुरागी थे। बात तो यह है कि वह विषय कृपाका नहीं। यदि वह विषय कृपाका होता तो अनन्त करणविशुद्धि जगदीक्षके होते किसी जीवको संसार-चक्रमें भटकना ही न पड़ता। उस कृपासिन्धु-से भी अधिक कोई कृपालु हो सकता है, यह बात मानने योग्य नहीं।

पूर्वजन्मके या इस जन्मके साधनसे सम्पन्न अधिकारीका कोई संस्कार आवरण बना रहता है और महापुरुष केवल उसे दूर कर देते हैं। फलतः वह अपने साधनकी पूर्णवस्थाको प्राप्त कर लेता है। महापुरुषोंकी कृपाका यही रहस्य है। साधन तो उसी व्यक्तिको करना होगा। चाहे उसने पहले किमा हो या अब करे। अधिकारी बने विना किसीको पूर्ण स्थिति कमी प्राप्त हो नहीं सकती।

अब रहा यह कि साधन कैसे किया जाय? अधिकारीमें लोगोंकी वह धारणा होती है, विशेषतः साधन प्रारम्भ करने-

से पूर्व कि,—विना घरके काम-काज छोड़े, विना सांसारिक व्यवहारोंसे पूर्यक हुए, साधन नहीं हो सकता। ऐसे लोग जब कभी कुछ देर साधनमें बैठते हैं और मनकी चक्षुलतामें विकल होते हैं, तो उनकी वह धारणा और भी दृढ़ हो जाती है। वे चाहते हैं कि आरम्भमें ही मन क्षटपट पकाय जाने लगे और जबतक वे चाहें, एकाग्र रहे। ऐसा होता नहीं—अतः वे इसका दोष अपने दैनिक कार्योंको देते हैं, जिनका चिन्तन मन साधनके समय करने लगता है। वे समझते हैं कि यदि वे उन कार्योंको छोड़ दें तो मन उनका चिन्तन नहीं करेगा। वह एकाग्र हो जायगा।

सीधी-सी बात है कि जो घरमें मनको एकाग्र नहीं कर सकता, वह जंगलमें कभी न कर सकेगा। घरके थोड़े-से कार्योंको छोड़ देने मात्रसे क्या होगा? जन्म-जन्मान्तरके संस्कार तो हृदयमें भरे हैं। आवश्यक यदि हृदयमें है तो वह रहेगी। घरमें रहनेपर वह घरसे और बनमें रहनेपर बनसे रहेगी। यही दशा दूसरे सभी विकारोंकी है। मनको सोचनेके लिये वहाँ भी बहुत-सी चाहें मिलेगी।

घरमें पूरी साखिकता प्राप्त किये विना कर्मोंको छोड़ देना एक बहुत दुःखद परिणाम प्रकट करता है। बनमें या कहीं भी एकान्तमें जानेमात्रसे साखिकता तो आ नहीं जाती। साधनमें एकाएक भन लगता नहीं। दो-चार दिन उत्तर बलप्रयोग कर भी लें तो वह प्रतीकार कर बैठता है। उधर कर्मोंको छोड़ देनेसे रजोगुण भी दूर हो जाता है। फलतः आता है तमोगुण। प्रायः दिनभर तन्द्रा और आलस्य धेर रखते हैं।

मुझे एक संतके शब्द सदा स्मरण रहते हैं। उन्होंने कहा था, ‘दाका डालना अच्छा है, लड़ाई करना अच्छा है, पर ऊँठते हुए पढ़े रहना अच्छा नहीं। रजोगुणसे सत्त्वगुणमें जानेकी सम्भावना रहती है। पर तमोगुणसे कोई सत्त्वगुणमें नहीं जा सकता। हमें दाकुओंके भक्त होनेका उदाहरण मिलता है। पर किसी निद्रालु या आलसीके भक्त होनेका उदाहरण कोई भी कही नहीं बता सकता।’ मैं प्रत्येक साधकसे कहूँगा कि वे इन शब्दोंको स्मरण रखें। कर्मोंको त्यागकर रजोगुणसे तमोगुणके गर्तमें कूदनेकी अपेक्षा वहीं स्थित रहना अधिक लाभकारी है। सत्त्वगुणकी स्थित वहीं अभ्यासके द्वारा प्राप्त हो सकती है। उसके लिये उत्तापली व्यर्थ है।

साधन कैसे करना चाहिये—वह जात भगवान्ने स्वयं असली है। मध्यम भागमें स्थित रहकर ही साधन किया जा सकता है। इस माध्यमिकताको स्पष्ट करते हुए भगवान् कहते हैं—‘युक्ताहर’ आहार युक्त—संयत होना चाहिये। वह न तो अधिक हो न न्यून।

अधिक आहार साधनमें शाधक है, इस विषयमें कोई भी भ्रमेद नहीं। जीमके स्नादके लिये जो पेठको ढूँसता रहता है, वह उदर भारी होनेसे स्वस्यावतः आलड़ी होगा। जो रसनाको संयत नहीं रख सकता, उससे दूसरी इन्द्रियोंके संयमकी आद्या बहुत कम है। मनका भोजनसे सम्बन्ध है। ‘जैसा स्वाय अब, वैसा बने मन।’ अतएव अनियमित भोजन करनेवाला मनपर नियन्त्रण नहीं रख सकता। साधकका आहार शुद्ध, सत्त्विक, पवित्र परिश्रमसे उपर्युक्त और परिमित होना चाहिये।

जहाँ साधनमें आहारकी अधिकता वाधक है, वहाँ उसका त्याग या अत्यल्पता भी वाधक है। इस दिक्षामें साधक प्रायः भ्रूँ करते हैं। आहारका त्याग तो किसी दिनके विशेष ब्रत या अस्वस्य अवस्थाको छोड़कर कभी नहीं करना चाहिये। साथ ही आहारकी मात्रा इतनी ही और उसमें ऐसे पदार्थ हों, जो शरीरको पर्यांत पोषण दे सकें।

एक सीधी-सी बात है कि भगवान् तपस्यासे नहीं मिलते और न तपसे भनपर विजय पायी जाती है। तपका फल केवल स्वर्ग है। क्योंकि तप स्वर्य एक पुण्य है। यदि तपसे भगवान् मिलते होते तो सभी तप करते, सबसे बड़े तपस्यों महर्षि दुर्वासापर भगवान्का चक्र न चलता। यदि तपसे मन वशमें हो जाता तो घोर तपस्याके पश्चात् भी विश्वामित्रजीमें विद्युष्में बदला लेने और ब्रह्मर्थि कहलानेको वृत्ति शेष न रहती।

‘जवतक भगवान् न मिलें तवतक भोजन न करूँगा।’ यह एक दुराप्रद है और भगवान् ऐसे दुराप्रहसे नहीं मिल सकते। वे मिलेंगे तो प्रेमसे। ऐसे हठी लोग जब अपने दुराप्रहसे कष्ट उठाकर विफल होते हैं तो अविद्याशी और नास्तिक हो जाते हैं।

इसी प्रकार ये मुझी चने चवाकर या आहारको अत्यल्प करनेसे भी प्रभुके दर्शन नहीं हो सकते। ऐसे अपर्याप्त आहार या अनाहारकी अवस्थामें साधन नहीं होता। साधनकी पूर्णताके लिये मन स्वस्य चाहिये और मन शरीरके

स्वस्य रहनेपर ही स्वस्य रह सकता है। महापुरुषोंकी जात छोड़ दीजिये। साधकका मन ऐसी अवस्थामें या तो मूढ़ रहता है या भोजनकी चिन्ता करता है।

आहारको युक्त करनेका आदेश देनेके साथ भगवान् उसी स्वरमें आगे कह गये हैं, ‘विहारस्य।’ विहार-शारीरिक क्रियाओंको भी संयत और परिमित रखना होगा। बच्चा, मब्द प्रश्नति और वूमनेफिरने आदिको न तो पूरी तरह छोड़ना है और न उनके संप्रदामें ही स्वस्त हो जाना है।

वर्षा, धूप और सरदीमें खुले आकाशमें बैठकर तपस्या हो सकती है, साधन नहीं हो सकता। तपस्याके फलके सम्बन्धमें प्रथम कह तुका हूँ। इती प्रकार केवल कौशिन पहनकर प्रत्येक अवस्थामें रहना भी तपस्या ही है। साधकमें भाल बनाने और वस्त्राभूषणोंसे शरीरको सजानेकी कामना हो नहीं सकती। यदि हो भी तो इसे वह साधनमें सहायक नहीं मानेगा। अतः इस विषयमें कुछ कहना व्यर्थ है। पर इनके सर्वथा त्यागका ढूँ भी उसमें नहीं होना चाहिये। साधनको सुचारू रूपसे संचालित रखनेके लिये आवश्यक है कि वर्षा, धूप प्रश्नतिसे रक्षित रहनेके लिये एक स्थान हो, चाहे वह फूलका झोपड़ा ही क्यों न हो। इसी प्रकार शरीरके शीतनिवारणार्थ कुछ बच हों, भले वे चिथड़े या टाट हों। व्यर्थमें शरीरपर दबाव डालनेसे साधन नहीं होता। फिर तपस्या ही होती है। शीत सह लो या ध्यान कर लो। साधक दोनों साथ-साथ नहीं कर सकता।

विहार शब्दके भीतर शरीरको कियाएँ भी आती हैं। उन्हें भी नियत रखनेका इससे आदेश मिलता है। बहुत बोलना, बहुत चलना या वूमना, दृष्टि सदा चब्बल रखना, ये सब साधनके वाधक हैं ही, परन्तु न बोलनेकी प्रतिशा कर लेना, सदा नेत्र बंद ही रखना, आसनसे उठनेका नाम न लेना, कोठी या आश्रमसे न निकलनेका प्रत करना, ये सब भी साधन नहीं हैं। तपस्या ही हैं।

सबसे पहली हानि तो यह है कि आप जिस अङ्गसे काम न लेंगे, वह दुर्बल और निकम्मा हो जायगा। उससे किर कोइ काम नहीं लिया जा सकेगा। दूसरी और प्रबल हानि है मनका सङ्कर्ष। आप जिस कामको न करनेकी प्रतिशा करेंगे, मन उसे बास-बार करना चाहिये। छोटी-सी आवश्यकताको भी वह तूल देगा। अधिकांश समय उससे सङ्कर करनेमें जायगा। साधनमें मन न लगकर उस रोके

हुए कामको करनेकी सोचता रहेगा । साधन तो कूट जायगा और वह निषेध ही साधन हो जायगा । संसारमें बहुत गौण, अन्ये, लूले, लँगडे हैं । आपने घोर दृढ़ करके मनको परास्त किया और वैसे बने तो क्या लाभ ! इस तपश्चये आपको स्वर्ण तो पाना नहीं, फिर साधनके मार्गमें ये रोड़ न्यों अटकाये जायें !

‘युक्तचेष्टय कर्मणु’—कर्मोंमें नियमित चेष्टा भी हो । साधकके लिये दिन-रात्रि कार्यव्यत रहना, इतना परिश्रम करना कि शरीर आन्त हो जाय, कर्मोंमें इतना आसक्त होना और उनकी इतनी उलझन सिंपर ले लेना कि सोते समय भी उन्हींका स्वप्न दिखायी दे, उपयुक्त नहीं है । ऐसा कार्यव्यप्रपुरुष साधन नहीं कर सकता । ऐसा व्यक्ति यदि कुछ समय निकाल भी ले, तो भी उस समय उसका मन उन्हीं उलझनमें पड़ा रहेगा । साधनसे उठनेकी शीघ्रता रहेगी और एकाग्रता प्राप्त न हो सकेगी ।

जैसे कर्मोंका आधिक्य साधनमें बाधक है, जैसे ही उनका सर्वथा अभाव भी । मेरी समझसे यह अवस्था पहलीसे अधिक स्वराप है । प्राप्तः साधक भ्रमवश इस अवस्थाको पाना अच्छा मनते हैं और इसके लिये प्रयत्न भी करते हैं । किन्तु इससे उत्पन्न होनेवाली ब्राह्मार्थोंको वे देखते ही नहीं ।

अनुष्ठानोंकी बात छोड़ दीजिये । एक दिनसे लेकर साल-दो-सालके भी अनुष्ठान हो सकते हैं और उस समय यदि अनुष्ठान बड़ा हुआ तो दूसरे कार्यके लिये समय नहीं मिलता । अनुष्ठान भी एक साधन अवस्था है, पर वह ‘अभ्यासवैराग्याभ्यासा’ वाला मनोनिरोधका साधन नहीं । यदि अनुष्ठान सकाम हुआ तो कामनासिद्धि और निष्काम हुआ तो प्राप्तक्षय होता है । उसके द्वारा मनोनिरोध नहीं होता । बहुत अंदोंमें अनुष्ठान मनपर बलप्रयोग करके होता है और वह मनोनिरोधके विरीत दक्षामें भी ले जानेका कारण हो सकता है । ऐसा अविकांश देखनेमें आया है कि अनुष्ठानके पश्चात् कामनाएँ प्रबल हो उठती हैं ।

अनुष्ठान भी एक प्रकारका आवेश है और आवेश सदा नहीं रह सकता । जो साधक बार-बार अनुष्ठान करके लक्ष्यको प्राप्त करते हैं एवं अभ्यासके राज-मार्गको छोड़ देते हैं, निश्चय ही उनमें कष्ट-सहिष्णुता और राजस आवेश बहुत अधिक होता है । यह आवेश उनके धैर्यको नष्ट कर देता है । उनमें उत्तावलापन आ जाता

है । विफल होनेपर जो कि बलप्रयोगका अनिवार्य परिणाम है, या तो वे आत्महत्या करके उद्देश्यको प्राप्त करनेकी आनंद आशा करते हैं, अथवा धर्म और ईश्वरको मूल्योंकी कल्पना बताने लगते हैं ।

दो बातें स्पष्ट रखनी चाहिये—मन एक ही कार्यमें बराबर नहीं लगा रह सकता और शरीरका प्रभाव मनपर अवस्थ पड़ता है । निरन्तर भजन, पूजन, ध्यान करते रहना किसी महापुरुषके लिये भले सम्भव हो, पर साधकके लिये नहीं । साधक यदि चाहेगा कि उसका प्रत्येक समय सात्त्विक एवं आध्यात्मिक कार्योंमें जाय तो वह अपने साधनको राजस बना लेगा । उसका मन सदा सत्त्वगुणमें रहनेमें समर्थ नहीं । मनको कोई लौकिक कार्य दिया नहीं जाता । फलतः जो कार्य है, उन्हींमें वह राजसिकता एवं तामसिकता लावेगा, धैर्य-धैरी वह ऐसा करनेका आदी हो जायगा और फिर साधनसे उसे कोई सात्त्विकता प्राप्त नहीं होगी ।

साधक साधनसे उठे तो उसमें स्फूर्ति, आनन्द और प्रसन्नता भरी होनी चाहिये । वह सत्त्वगुणसे उठकर आया है, यह स्पष्ट जात होना चाहिये । यदि बात-बातमें क्षळाहट हो, स्वभाव चिङ्गचिङ्ग हो उठे, साधनमें या उठनेपर आल्ट्य जात हो तो समझना होगा कि उसके मनने साधनसे सात्त्विकता ग्रहण नहीं की । उसने साधनको एक कार्य समझ लिया जो उसपर बलात् लादा गया है । वह उससे राजस या तामस प्रभाव ग्रहण कर रहा है । इस अवस्थासे बचनेका यही उपाय है कि साधक पहले साधनकाल थोड़ा रक्खे और धैर्य-धैरी बढ़ावे । जितनी देर प्रसन्नतासे मन लगे, साधन किया जाय । उस समय ऐसा अवसर ही न आने दे कि मनको राजस, तामस अवस्थामें जाना पड़े ।

यह प्रश्न हो सकता है कि साधक साधनकाल तो थोड़ा रक्खे तो किर देश समय क्या करे ? करनेके लिये बहुत काम हैं, उसे अपनी सचिवके अनुसार कोई काम चुन लेना चाहिये । केवल इतना ज्ञान रहे कि वे काम पवित्र हैं, पतनोन्मुख करनेवाले न हों और मन उनमें लगता है । उसे बलात् न लगाना पड़े । कथा, मन्दिर-दर्ढान, सत्संग, बच्चोंके पढाना, दीन एवं रोगीकी सेवा, धरका कोई काम या व्यापार कुछ भी करें; पर पढ़ा न रहे ।

मनको स्वस्य रखनेके लिये शरीरको स्वस्य रहना चाहिये । साधकके लिये वह और भी आवश्यक है । अतः काम ऐसे कुनने

चाहिये जिनमें शरीरके लिये वर्षा स परिश्रम मिले। केवल मानसिक परिश्रमके कारण पर्याप्त नहीं। मानसिक परिश्रम तो साधनमें भी हो जाता है। शारीरिक परिश्रम न करनेले शरीर दुर्बल हो जायगा, फलतः मनपर उसका हानिकर प्रभाव पड़ेगा। स्वस्थ मन स्वस्थ शरीरमें ही रहता है। इन बातोंको स्मरण रखकर साधक कार्य चुन ले। केवल पारमार्थिक कार्योंमें रुचि होना बहुत कठिन है। आरम्भिक साधकके लिये यही मार्ग सुगम है कि वह लौकिक कार्योंको न छोड़े। उन्हें नियमित स्पर्श करता हुआ साधनका समय सुरक्षित कर ले। प्रत्येक आरम्भिक साधक यदि अपनी रुचिके अनुकूल कोई लौकिक कार्य जो निदृष्ट हो, करता रहे तो वह साधनमें आनेवाले विषयोंसे बहुत कुछ सुरक्षित रह सकेगा।

‘युक्तस्वामवोधया’—सोने और जागनमें भी संथम रखें। रात-दिन पढ़े रहनेवाला आलसी कहीं साधक हो सकता है? ठीक ऐसे ही रात-रात जागरण करके भी साधन नहीं होता। जागरण जो अस्ताभाविक हो, यायुको कुपित करता और शरीरमें आलस्य भर देता है। ऐसे समय मन चब्बल भले न हो; किन्तु साधनके लिये तत्पर भी नहीं रह सकता। तमोगुणकी मूढ़ दशा रहती है। अतः साधककी उत्तीर्ण निदा अवश्य लेनी चाहिये जो स्वास्थ्यके लिये आवश्यक है।

बार-बार ऊँघते हुए ध्यान या जप करनेसे कोई लाभ नहीं। अच्छा यही होगा कि यदि साधनके समय नीद तंग करती है तो शरीरको बलपूर्वक लड़ाया बैठा न रखें। उस समय जाकर सो रहना अच्छा है। योक्ता देर सो लेनेके पश्चात् पुनः उठकर जय साधक साधनमें लोगोंगा तो वह नीद पूरी हो जानेसे अपनेमें स्फूर्तिका अनुभव करेगा। उसका मन प्रसन्नतासे उसकी आशा मानकर साधनमें एकाग्र हो जायगा।

‘योगो भवति दुःखदा’—भगवान् कहते हैं कि इस प्रकार अति और पूर्णतः निरोधसे बचकर मध्यम मार्गसे चलनेवाले साधकका योग—साधन दुःख-संसारके आचाराभन घोर क्लेश एवं दैहिक, दैविक सथा मानसिक विविध तापोंका नाशक होता है। इसके पूर्वके श्लोकमें भगवानने स्पष्ट कहा है—

नात्यकातस्तु योगोऽप्तिः न चैकामनमकातःः ।
न चाति स्वामकीलस्य जाग्रसी नैव चार्षन ॥
(गीता ६ । १६)

‘अर्जुन! योग (साधन) न तो बहुत भोजन करनेवाले कर सकते और न सर्वथा उपवास करके रहनेवाले। वह बहुत सोनेवालोंके बसका नहीं और सदा जाते रहनेवाले भी उसे अपनानेमें असमर्थ हैं।’

इस प्रकार आशार, विहार, चेष्टा, कर्म, निद्रा, जगर प्रभृति जीवनके जितने भी कर्म हैं, उनको नियमित करके साधकको अपने साधनपथमें बढ़ना चाहिये। यदि उसने किसीके त्यागका छठ किया तो साधन चल नहीं सकेगा। या तो वह चार-चार परिश्रम करके पिर हताश हो जायगा अथवा लौटकर अपनी भूल उसे सुधारनी पड़ेगी। बुद्धिमानी हसीमें होगी कि आरम्भसे ऐसी भूल न की जाय।

मैं निवन्धुके मध्यमें कथा, सत्तंग, तीर्थवास, देवदर्शन, मौन, अनुष्ठान प्रभृतिके विषयमें बहुत कुछ ऐसी बातें लिख आया हूँ जो किसीमें कुछ विपरीत धारणा उत्पन्न कर सकती हैं। उनका स्पष्टीकरण ही जाना चाहिये। उपर्युक्त सभी कार्य पवित्र हैं और उनसे साहित्यकाती उपलब्ध होती है। उनका निषेध किसीको भी अभीष्ट नहीं हो सकता। इतना अवश्य है कि उनका उपयोग इस प्रकार हो जिसमें अधिक-से-अधिक लाभ हो।

सारांश यह है कि, साधकको अपने सम्मुख यह सिद्धान्त सदा रखना चाहिये कि ‘यलप्रयोग मत करो! किसीकी अति मत करो! उसे यदि अतिकी सीमापर पहुँचाना है तो केवल अपने साधनको। वह भी बलपूर्वक नहीं, अन्यासके द्वारा उसके लिये मध्यम मार्गमें स्थित होकर साधन करना ही राजमार्ग है। इसीके द्वारा वह अपने लक्ष्यतक सरलतासे पहुँच सकेगा। उसे सुननेमें सुन्दर लगनेवाली उत्तेजनात्मक बातोंसे साधन रहना चाहिये। वे केवल रुचि उत्तम करनेके लिये हैं। क्रियात्मक मूल्य उनका उतना नहीं। क्रियात्मकरूपमें तो ऐर्य और संयम चाहिये।

॥ श्रीहरि: शरणमस्तु ॥

शक्तिपात्र से आत्मसाक्षात्कार

(लेखक—श्रीबामन दशावेय शुल्वगी)

अद्वैतानन्दपूर्णाय व्यासशङ्कररूपिणे ।
नमोऽस्तु बालुदेवाय गुरवे सर्वसाक्षिणे ॥
जन्मतान् नरजन्म दुर्लभमतः पुंस्तं ततो विप्रता
तस्माद्वैदिकधर्ममार्गपरता विद्वच्चमस्यापरम् ।
आत्मानात्मविवेचनं स्वनुभवो व्रह्माभ्यना संस्कृति-
मुक्तिर्लोकाटिसुकृतैः पुण्यैर्विना कल्पते ॥
(विवेकचूटामणि)

भगवान् श्रीमत् शङ्कराचार्यजी महाराजने इन श्लोकोंमें इस जगत् में आये हुए जीवके विकासकी पराकाशाका वर्णन किया है। अत्यन्त सूख जन्मन्से विकासके होते-होते दुर्लभ मनुष्य-जन्मलाभ होता है। फिर इसके आगे मनुष्यमें भी पुरुष-जन्म है और फिर पुरुष-जन्ममें भी विप्रता है। इससे भी आगे बढ़नेपर वैदिक धर्ममार्गपरता है, फिर विद्वत्य है। विद्वत्यसे आत्मानात्मविवेचन है। तब ऐष्ट अनुभव है, ‘मैं ही वह ब्रह्म हूँ’ इस भावकी अखण्ड स्थितिरूप मुक्ति है। ‘सा काणा सा परा गतिः’ वही हूँ है, वही परा गति है। ऐसी मुक्ति असंख्य-जन्मकृत पुण्यरूपके विना दुर्लभ है।

मनुष्य-जन्मका लाभ भगवत्कृपासे ही हुआ करता है, यह यात माननी पड़ेगी। कारण, पश्च आदि निम्न योनियोंमें पुण्य-प्रापकलरूप कर्म होता ही नहीं अर्थात् मनुष्य-जन्मके होनेमें इस प्रकारका कोई कर्म कारण न होनेसे भगवत्कृपाके सिवा और कोई कारण मनुष्य-जन्मका नहीं माना जा सकता। परन्तु मनुष्य-जन्म होनेके बादका जो मार्ग है उसपर आरूढ़ होनेके लिये मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह अपने पुण्यकर्मके द्वारा ईश्वरानुग्रह प्राप्त करे। दुर्लभ मानव-जन्मलाभ करके भी जो मनुष्य आत्ममुक्तिके साधनमें यत्कावान् नहीं होता उसे बड़ा आत्महन्ता और कौन ही सकता है?

इतः को न्वति सूदामा यस्तु स्वर्णे प्रमाणति ।
दुर्लभं मानुषं देहं प्राप्य वशापि पौरुषम् ॥

वैदिक धर्मके अन्तर्गत निज-निज वर्णाश्रम-धर्मके अनुसार नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका आचरण करना ही ईश्वराधन है, यह जानकर जो इसका पालन करता है, उसे ईश्वरका प्रसाद प्राप्त होता है।

स्वकर्मणा तसम्बन्ध्यर्थं सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

इस स्वकर्माचरणसे मलविक्षेपका नाश होता है और उससे चित्त शुद्ध और स्थिर होता है। तब ईश्वरीय प्रसादसे ही शाश्वतव्रतके द्वारा नित्यानित्यविवेक होता है और उसके पालनस्वरूप वैराग्य उत्पन्न होता और मोक्षकी ऐसी तीव्र इच्छा होती है। मोक्षकी ऐसी तीव्र इच्छा रखनेवाले सुमुक्षुओं भगवत्प्राप्तादेसे सहूरु प्राप्त होते हैं।

ईश्वरराधनधिया स्वधर्माचरणास्पदाम् ।
ईश्वरप्रसादस्त्रूपः सुकृष्णात् सद्गुरुः ॥

सहूरु-सेवनसे उनका प्रसाद प्राप्त होता है और उससे असम्भायना और विपरीत भावनारूप प्रतिबन्ध कट जाते हैं और महावाक्योपदेशसे तुरंत मोक्षलाभ होता है—‘शानसम-कालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः।’

सद्गुरोः सम्प्रसादेऽस्य प्रतिबन्धक्षयस्तः ।
दुर्भावनातिरस्काराद्विज्ञानं सुकृदं क्षणात् ॥

यह अनादि स्वप्रभास्मरूप संसार अपने आप ही निरस्त ही होता। केवल एक ईश्वर और तदभिन्न सहूरुके प्रसादसे ही इसका निरास होता है।

अनादिस्वप्नभ्रमभोऽयं न स्वयं विनिवर्तते ।
किन्तु स्वैवयोगासैवाचार्यप्रसादवतः ॥

और यह सद्गुरुप्रसाद उन्दीकी अनन्य भावसे सेवा करके ही प्राप्त किया जाता है, अन्य किसी उपायसे यह सम्भव नहीं।

‘अयं गुरुप्रसादस्तोषाध्याप्यो न चान्यथा।’

‘तद्विद्वि प्रणिपातेन परिप्रेक्षेन सेवया।’

‘आत्मविद्या चानन्दसुखस्य गुरुकाहायरहितस्य न वेद-
शाप्तमात्रेणोत्तर्यते।’ तथा च श्रुतिः—

‘शाप्तमात्रा प्रवचनेन लभ्यते

न भेषया न बहुना भूतेन।’ इति ।

गुरुकाशण्यरहित वहिमुख पुरुष केवल बुद्धिके बलपर, बहुतसा श्रवण करके या प्रवचनसे आत्मविद्या नहीं पा सकता।

योगवासिण्यें यद्यपि कहा है कि, 'शतेषु कारणं राम शिव्यप्रत्येयं केवलम्' (अर्थात् हे राम ! शक्तिका कारण केवल शिव्यकी प्रका री है), तथापि—

परिपक्षमता ये तामुख्यादानहेतुशक्तिपत्तेन ।
योज्ञाति परे तत्त्वे स दीक्षयात्मार्थमूर्सिंश्चः ॥

इत्यादि आगमवास्त्वोंसे यही स्पष्ट होता है कि इसमें गुरुप्रसाद ही मुख्य कारण है । 'धृत्य देवे परा भक्तिर्बधा देवे तथा गुरो' इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे भी यही प्रतिपत्त होता है । गुरुप्रसाद अथवा ईश्वरप्रसाद सच्छिद्यको शक्तिपात्रसे प्राप्त होता है और शक्तिपात्रके साथ महावाक्यका उपदेश होनेसे शिव्य कुत्तकार्य हो जाता है ।

शक्तिपात्रेन संयुक्ता विद्या वेदान्तवाक्यजा ।
यदा यथा तदा तत्त्वं विद्युक्तिनां च संशयः ॥

(वेदान्तवाक्यसे प्राप्त विद्या जब शक्तिपात्रके साथ जिसमें संयुक्त होती है, तब उसी क्षण वह मुक्त हो जाता है— इसमें कोई संशय नहीं ।)

ऐसे शक्तिसम्बन्ध सदुरुक्ती शरणमें जानेको कहते हुए श्रीमद् वासुदेवानन्द सरस्वतीने अपने 'इदंशिष्ठा' नामक वेदान्तप्रश्नमें यह वाक्य दिया है—'विशारदं ब्रह्मनिष्ठं श्रोत्रियं गुरुमाश्रयेत् ।' (श्रोत्रियम् अर्थात् शब्दव्याख्यानिष्ठातम्, ब्रह्मनिष्ठम्—संज्ञातापरोशसाक्षात्कारम्, विशारदम्—लौकिकदिव्यान्तोपमत्यादिना शक्तिपात्रेन च वाच्यार्थं ग्राहयितरं गुरुम् अश्रवेत् ।) गुरु यदि श्रोत्रिय हों, ब्रह्मनिष्ठ हों, पर उनमें यदि शक्तिपात्र करनेकी सामर्थ्य न हो तो शिव्यको उसी क्षण साक्षात्कार नहीं हो सकता ।

शक्तिपात्रविहीनोऽपि सम्बद्धं गुरुमकिमान् ।
आत्मार्थं चकुत्वेदान्तः क्रमान्मुख्येत बन्धनाद् ॥

भुरु-भक्तियुत शिव्य शक्तिपात्ररहित होकर भी वेदान्त-वाक्यके श्रवण, मनन, निदिव्यासनसे प्रतिक्रन्धक्षय होनेपर क्रमशः बन्धनसे मुक्त होता है ।'

सूत्यंहितमें मायके बाधका मुख्य साधन इस प्रकार वर्णित हुआ है—

तत्त्वशानेन मायाया बाधो तान्येन कर्मण ।
ज्ञानं वेदान्तवाक्योत्थं ब्रह्माभैक्त्वगोचरम् ॥
तत्त्वं देवप्रसादेन गुरोः साक्षात्पिरीक्षणात् ।
ज्ञायते शक्तिपात्रेन वाक्यादेवाधिकारिणाम् ॥

सा० अं० ३८

'तत्त्वशानसे मायाका निरास होता है, अन्य किसी कर्मसे नहीं होता । वह तत्त्वशान अधिकारी शिव्यको देव-प्रसादके द्वारा शक्तिपात्रपूर्वक ब्रह्मसे आत्माके अभिज्ञत्वका प्रतिपादन करनेवाले वेदान्त-महावाक्यसे ही होता है ।' ऐसे शक्तिपात्रपूर्वक शानोपदेश करनेवाले सदुरुक्ती महिमा सभी धर्मोंके ग्रन्थोंमें गायी गयी है । हमारे देशके उपर्युक्त परमेश्वरसे अथवा शक्तिसम्बन्ध सदुरुक्तसे ही प्राप्त ज्ञानसे सम्बन्ध होनेके कारण उनके ग्रन्थोंमें सदुरुक्तपूर्वकी महिमा-का सर्वत्र ही बलान हुआ है ।

भगवान् श्रीमत् शङ्कराचार्यप्रणीत 'शतस्त्रोकी' के पहले श्लोकमें शक्तिपात्रपूर्वक शानदान करनेवाले सद्गुरुका बड़ा ही मुन्द्र वर्णित है—

दृष्टान्तोऽनेव इष्टांश्चिभुवनजडरे सद्गुरोऽर्णवनद्यतुः
स्पर्शांश्चत्त्वं कर्म्यः स नश्यति चदहो स्वर्णतामस्मरम् ।
न स्पर्शव्यं तथापि त्रितचरणयुग्मे सद्गुरुः स्वीयमिष्ये
स्त्रीयं साम्यं विधत्ते भवति निष्पमस्तेन च लौकिकोऽपि ॥

'इस त्रिमुखनमें शानदाता सदुरुक्ते लिये देनेयोग्य कोई दृष्टान्त ही नहीं हीन्दृशता । उन्हें पारसमणिकी उपमा दें तो यह भी ठीक नहीं जँचती, कारण, पारस लोहेको सोना तो बना देता है पर वारस नहीं बनाता । परन्तु सद्गुरु-चरणयुग्मलका आश्रय करनेवाले शिव्यको सदुरुक्त निज साम्य ही दे डालते हैं । इसलिये सदुरुक्ती कोई उपमा नहीं ।'

शतस्त्रोकीके ११ वें श्लोकमें चाक्षुषी दीक्षाद्वारा शक्ति-पात्रका वर्णन है—

तदहोऽपाहस्मीत्यनुभव उदितो यस्य कल्यापि चेद्वै
पुंसः श्रीसद्गुरुस्त्रामतुलितकस्त्रापूर्णीयूषदृष्टा ।
जीवसुक्तः स एव भ्रमविशुरमता निर्गतेऽनाशुप्रथो
निष्यानन्दैक्याम प्रविशति परमं नष्टसन्देहशुतिः ॥

'श्रीसदुरुक्ती अतुलित करुणामयी अमृतदृष्टिसे यदि किसीके यह अनुभव उदय हो जाय कि 'मैं ब्रह्म हूँ' तो उसका मन अमरहित हो जाता है । उसीसे उसके सब संशय नष्ट होते हैं और वह जीवन्मुक्त होता है । उसकी अनादि उपाधि नष्ट होनेपर वह विगतसन्देहपुरुष परमनित्य-नन्दधामसे प्रवेश करता है ।'

'द्वृप्रसिद्ध महात्मा श्रीएकनाथ महाराजकृत 'एकनाथी भागवत' (श्रीमद्भागवतके दशाम स्कन्धकी मराठी टीका) में

यदु-अवधूत-संचादके अन्तर्गत श्रीदत्तश्रेयद्वारा यदुको आलिङ्गन कर स्पर्शदीक्षा देकर आत्मबोध करानेके प्रत्यक्षका बहु ही दृढ़यग्राही वर्णन है—‘यह सत्यकथा तुम्हे परमार्थ-सिद्धिके लिये कही ।’ यह कहकर ‘अवधूतने रखे ही हृषी-तुम्ह अन्तःकरणसे राजा यदुको अपने दृढ़यसे लगा लिया और दोनों एक ही आत्मबोधमें एक हो गये । जीने जीको पकड़ लिया और सारी सृष्टिमें आनन्दका समुद्र उमड़ आया । उससे वाणीकी गति एक ही, उलटकर बोलना वह भूल गयी । दृढ़यमुबनमें जब यह महान् दृष्टि नहीं समझा तब वह स्वेद अनकर बाहर उमड़ पड़ा । नेत्राकाशमें आनन्दके मेघ छा गये और स्वानन्दवारिकी वर्षा करने लगे । अद्विकारी वैदिकों दृट्_गयी, भवाणवके उस पार पहुँच गये । प्रगाढ़ अशान—अविद्यापर जो विजय पायी उसीकी वैजयन्ती खड़ी की रोमाञ्चके रूपमें । सारा देहमाय समूल नष्ट हो गया, इसीसे देहके सब अङ्ग काँपने लगे । सङ्कल्प-विकल्प जाता रहा, मनका मनोरथ मिट गया । जीव-भाव जो कुछ था, वह सम्पूर्ण राजा यदुने श्रीसत्तुर अवधूतके चरणोंमें अर्पण कर दिया । वही चिह्न उनके अङ्ग-अङ्गपर दीख पड़ने लगा । अवधूत स्वयं दत्तात्रेय हैं, उन्होंने राजा यदुको आलिङ्गन कर इस प्रकार अपने स्वरूपका उन्हें अनुभव-बोध कराया । इस गुरु-शिष्य-संचादका वर्णन करते हुए श्रीएकनाथ महाराजका दृढ़य श्रीगुरुभक्तिसे हतना भर आया कि इसके बाद ही उन्होंने अपने गुरु श्रीजनार्दन स्वामीपर किस प्रकार श्रीगुरु दत्तात्रेयका अनुग्रह हुआ, इसका भी वर्णन कर दिया है । भगवान् दत्तात्रेयकी शिष्य-परम्परा बतलाते हुए महाराज कहते हैं कि ‘पहले शिष्य सहस्रार्जन हुए, दूसरे यदु हुए और तीसरे कलियुगमें जनार्दन स्वामी हुए । गुरु कब कैसे मिलेंगे, इसी चिन्तामें जनार्दन स्वामीके दिन बीत रहे थे । सदूचचिन्तन करते-करते यहाँतक हालत हो गयी कि स्वामी तीनों अवस्थाएँ-भूल गये । भगवान् भावके ही तो भूले हैं, उन्होंने इनके सुदूर अनन्य भावको जाना । श्रीगुरु दत्तात्रेय सामने आकर प्रकट हुए और उनके मस्तकपर उन्होंने अपना हाथ रखा । हाथके रखते ही चिन्मय स्वरूप जाग उठा, प्रपञ्चके मूलका मिथ्यात्म प्रकट हुआ । स्वबोध ही स्वरूप है, इसकी प्रतीति हुई । कर्म करके भी अकर्ता बने रहनेकी शिक्षिका जो अकर्तास्मीबोध है वह उन्हें श्रीगुरुसे प्राप्त हुआ; देहके रहते हुए भी यदेहता उन्हें तत्त्वतः प्राप्त हो गयी । यहस्ताश्रमको बिना छोड़े, कर्मेखाको बिना लौंघे, अपना सब काम करते रहनेकी

अवस्थामें ही उन्हें बह बोध मिला, जो नहीं मिला करता । और उसके मिलते ही मन असन हो गया, उसमें मनवना कुछ रह ही न गया, वह अवस्था उनमें न समा सकी और वे मूर्छित हो गये । तब उन्हें सचेत करके श्रीगुरुने कहा कि, ‘योम सत्त्वकी अवस्था है, इसे भी पी जाओ और निजबोधमें स्थित होकर रहो ।’ जनार्दन स्वामी उठे और श्रीगुरुकी पूजा करके उनके चरणोंपर गिरे । बस, इसी अवकाशमें गुरु दत्त योगमासाका आश्रय कर अदृश्य हो गये ।’

उपर्युक्त दोनों ही उदाहरणोंमें शक्तिपातके सभी लक्षण आ गये हैं—

देहपातलस्था क्रमः परमानन्दद्वयं ।

स्वेदो रोमाङ्ग इत्येतन्त्यक्षिपतस्य लक्षणम् ॥

महाराज्-संतशिरोमणि श्रीशानेश्वर महाराजने श्रीमद्भागव-द्रीताकी अपनी जानेश्वरी (भावार्थदीपिका) टीकामें शक्तिपातका इस प्रकार वर्णन किया है—‘यह दृष्टि जिसपर चमकती है अथवा यह करारगिन्द जिसे स्पर्श करता है वह होनेको तो चाहे जीव ही ही पर बराबरी करता है महेश्वर श्रीशङ्करकी ।’

भक्तराज अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्णने शक्तिपात करके किस प्रकार आत्मानुभव कराया, इसका वर्णन श्रीशानेश्वर महाराज करते हैं—‘तब शरणागत भक्तशिरोमणि अर्जुनको उन्होंने अपना दुर्बनकङ्गणभूषित दक्षिण बाहु फैलाकर अपने दृढ़यसे लगा लिया । दृढ़य-दृढ़य एक हो गये । इस दृढ़यमें जो था वह उस दृढ़यमें ढाल दिया । दैतका नाता बिना तोड़े अर्जुनको अपने-जैसा बना लिया ।’

ऐसे सद्गुरु सच्चिद्यको आप ही मिलते हैं । शिष्यको उनकी दृष्टि—खोज नहीं करनी पड़ती । श्रीशानेश्वर महाराज कहते हैं, ‘जब कर्मसाम्यकी अवस्था आती है तब सद्गुरु स्वयं ही आकर मिलते हैं ।’

चक्षुधी आदि दीक्षाओंके द्वारा जो शक्तिपात किया जाता है, वह शिष्यका कर्मसाम्य होनेपर ही फलप्रद होता है, उससे पहले नहीं ।

अधर्मवर्धमयोः साम्ये जाते शक्तिः पतस्थसी ।

ज्ञानात्मिकं परा शक्तिः शब्दोर्धर्मस्मिक्षिपतिता ॥

तस्य शिष्यस्य विमेद्धाः कर्मसाम्ये स्तु द्विजाः ।

शास्त्रवाची शक्तिस्त्वर्य तस्मिन्बलति विद्युतम् ॥

जन्मोरपश्चिमतनोः सति कर्मसाम्ये
निःशेषपादापटलच्छुदुरा निमेषाद् ।
कल्याणदेविककाकाशसमाग्रव्येण
कारणयतो भवति शास्त्रभवेष्टदीक्षा ॥

तात्पर्य इसका श्रीविद्यारण्य सामीकी हस टीकासे ध्यान-
में आ जायगा—

कर्मसाम्ये सतीति । परमेष्ठरात्मुप्रहवशाहीकासंस्का-
रण भाविजन्मापाद्यकर्मक्षयाद्वृत्तमानजन्मनि च सुखदुःख-
देहुमूलयोः पुण्यपापयोः उपभोगेन क्षीणत्वादापरव्यक्तस्योः
सक्षितवर्तमानकर्मणोः क्षयसाम्ये सतीत्यर्थः ।

इस प्रकार जिस अधिकारी शिष्यमें आचार्यके द्वारा
चाकुषी प्रभूति दीक्षाके द्वारा परमेष्ठरकी ज्ञानात्मिक परा
शक्तिका पात्र किया जाता (या शक्ति प्रेरित की जाती) है,
उसीमें इस शक्तिका सज्जार होता है ।

इसपर यह शंका की जा सकती है कि इस शक्ति द्वार्दसे
यदि अद्वैत चिति अभिप्रेत है तो वह तो स्व-स्वरूपभूत
अनन्त और अमूर्त है, इसलिये उसका पात्र असम्भव है ।
यदि यह शक्ति स्वस्वरूपसे कोई गिर्जा वस्तु है तो उसे
'शानात्मिका' और 'परा' नहीं कह सकते ।

समाधान-शक्तिसे यहाँ अभिप्राय चिति शक्तिका ही
है और चिति अद्वैतात्मस्वरूप ही है और उसका पात्र होना
हत्यादि जो कुछ है, औपचारिक है । श्रीमन्माधवाचार्यने
इसका रहस्य इस प्रकार अपनी टीकामें लिखा है—

अद्वैत रहस्योः—परमेष्ठरस्वरूपभूतत्वेन सर्वेगतायाः
परशक्तेः पश्चानासम्भवाच्छिष्टस्यात्मनि प्राप्तेवावाहिता सा
पाशजासाकृतत्वेन तिशेषिता सती दीक्षासंस्कारेणवरणा-
परामें स्वयमित्यकिमासाद्यक्षी परितेष्युपचर्यते । कर्मदेवात्-
दधोदेशप्राप्तिर्हि पतनं च खलु तारकामस्याः सम्भवतीति ।
कारणमेऽपुरुषम्—

व्यापिनी परमा शक्तिः परितेष्युपचर्यते कथम् ।
ऊर्ध्वाद्यशोभतिः पातो मूर्तस्यासर्वतात्म्य च ॥
सर्वं सा व्यापिनी नित्या सहजा शिवस्तिता ।
किञ्चित्पर्यं मल्लकर्मादिपाशबन्धेतु संस्ता ।
पश्चात्केषु सुम्पका परितेष्युपचर्यते ॥

परमेष्ठरस्वरूपा सर्वेगत पराशक्तिका पात्र होना तो
असम्भव है । अतः शिष्यमें आत्मस्वरूपभूत जो पराशक्ति

पहलेसे ही मौजूद है जो मल-कर्मादि पाशबन्धसे घिरी हुई है
उसे ही, दीक्षा-संस्कारके द्वारा, आवरणको हटाकर,
अभिव्यक्त किया जाता है । इसके इस अभिव्यक्त होनेको
ही शक्तिपात्र कहा जाता है ।

यदि केवल शक्तिपात्रे ही अशानकी निवृत्ति होती हो
तो 'तं ल्योपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' हत्यादि श्रुतिकायोंकी
सङ्कृति कैसे लगे ? दीक्षादिके द्वारा शानके प्रतिबन्धका जब
नाय हुआ तब 'भुरुषोपदिष्टं साक्षात्महावचनमेव विमुक्ति-
हेतुः' वह सिद्धान्त बाधित नहीं होता । शक्तिपात्र कैसे होता
है, आगे के श्लोकमें यही बात कही गयी है—

तदा शिष्यस्य विद्यौ प्रकृतिरूपे कल्पिता भोहस्त्रिणी ।
मात्रा दग्धा भवेष्टिज्ञातदा पतति विग्रहः ॥

इस श्लोकपर श्रीमन्माधवाचार्यकी टीका है—

शिष्यस्य विद्यौ प्रकृतिरूपे कल्पिता भोहस्त्रिणी-
पादेवाविवेकज्ञानमात्मुपचर्यते भोहस्त्रिणीका या मायाग्रिता सा
संक्षिप्तप्रियाः विष्वस्य स्वात्मन्मनिलयक्रायाः पश्चात्क्षेः प्रसादेन
किञ्चिद्दपरसरतीत्यर्थः । तदा पतति विग्रहः । मायास्मकन्ध-
निवन्धनो द्वात्मनः कर्तृत्वमोक्तुल्याविसम्बन्धस्तथाविज्ञस्य-
तमनः स्वोपभोक्त्वात्मुपचर्यते भोहस्त्रिणीकर्म-
वक्ष्यन्ते भोहस्त्रिणीकर्मवक्ष्यन्ते देहाभिमान नायेन विषयते न
मायाया अपरसणादात्मनः कर्तृत्वभोक्त्वादिवन्धनैरिथ्ये
पुण्यपापमित्यस्य देहस्वरूपाद्यस्यापि गलितस्वासदभिमाना-
भावेन तथात इत्यर्थः ।

देहस्वरूपाद्यस्याद्यमुक्तप्रया शिष्यदेहके ।
जनवेदाः समावैषं शास्त्रवं स हि देशिकः ॥

इत्यादि योगवासिङ्गोक्त लक्षणोंसे युक्त गुरुके द्वारा जब
शक्तिपात्र किया जाता है तब शिष्यमें अभिव्यक्त होनेवाली
पराशक्तिके प्रसादेसे शिष्यकी अन्तःस्त्र निवृत्तिको ढाँके हुई
(हेयोपदेय शानको आवृत करनेवाली) माया किञ्चित् हट
जाती है और उससे देहाभिमान नष्ट होता है तथा देहाभिमानके
नष्ट होनेसे देहपात्र होता है ।

देहपात्रादि लक्षण आगममें इस प्रकार बताये हैं—

देहपातस्तथा कृमः परमानन्दहरणे ।
स्वेदो रोमाङ्ग इयेतत्तदक्षिपातस्य काषणम् ॥

निद्रा, मूर्छा, धूर्णा आदि और भी कई लक्षण अन्यथा
दिये हैं । यह जो शक्तिपात्रस्य परमेष्ठरप्राप्त है, वह कर्म-

राम्यके प्रात शिष्यमें उत्पन्न होता है। उसका महत्व तथा शक्तिपातके और भी कुछ लक्षण सूत्संहितान्तर्गत ब्रह्मगीताके चतुर्थ अध्यायमें विस्तारके साथ वर्णित हैं, यथा—

प्रसादो नाम रुद्रस्य कर्मसाम्ये तु केहिनाम् ।
देविकालोकनाज्ञातो विकाशितिशयः सुराः ॥
प्रसादस्य स्वरूपं तु यथा नारायणं च ।
स्मैषापि सुरा बकु न लक्ष्यं कल्पकोटिभिः ॥
केवलं लिङ्गामयं तु न प्रशंखं शिवस्य च ।
शिवराम्य इरे: साक्षान्नाम चान्यस्य चास्तिकाः ॥
लक्षणानि—

महर्षः स्वरनेन्नामविकिता कर्मनं तथा ।
स्तोमः शरीरपतञ्च अमणं ओद्रूपितया ॥
आकाशोऽवस्थितिर्देवः शरीरान्तरसंस्थितिः ।
अवर्धनं च देहस्य प्रकाशत्वेन भासनम् ॥
अग्नधीतस्य शाक्षस्य स्वत एव प्रकाशनम् ।
निग्रहानुभवे शक्तिः पर्वतादेव भेदनम् ॥
एवमादिनि किङ्कानि प्रकाशस्य सुर्विभाः ।
तीव्रातीवतः स्तोमोः प्रसादो न समो भवेत् ॥
एवंस्यः प्रसादम् विद्यता च लिखेन च ।
ज्ञापते न मया नाम्यैव नारायणं च ॥
अतः सर्वं परिष्यज्य शिवावन्यसु दैवतम् ।
तमेव शरणं गम्भेष्टस्यो मुकिं वदीच्छति ॥

इन सब लक्षणोंमें देहपातका महत्व विशेष देख पड़ता है—

शिष्यस्य देहे विभेदाः धरिण्यां पतिते सति ।
प्रसादः शाक्षरस्तस्य हिजाः सज्जात एव हि ॥
यस्य प्रसादः सज्जातो देहपातावसानकः ।
हृष्टार्थं एव विभेदान्न न स भूयोऽभिज्ञते ॥

‘शिष्यका शरीर जब धरतीपर गिरे तब यही समझना चाहिये कि यह थक्करका प्रसाद हुआ। जिसमें देहपात कर देनेवाला प्रसाद होता है, वह कृतार्थ हो जाता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता।’

वस्य प्रसाद्युक्तस्य विद्या वेदान्तवाक्यात् ।
दहस्यविद्यामस्तिं तमः सूर्योदयो यथा ॥
(ऐसे प्रसाद्युक्त शिष्यकी सारी अविद्याको वेदान्तशास्त्रज्ञ
विद्या ऐसे ही जला डालती है, जैसे सूर्योदय अन्वकारको ।)

कुलार्णवतन्त्रमें तीन प्रकारकी दीक्षाओंका इस प्रकार वर्णन है—

स्पर्शदीक्षा—यथा पक्षी स्वपक्षामयी विशेष संवर्धयेष्ठातः ।
स्वर्दीक्षोपवेशस्तु तारशः कथितः ग्रिये ॥

‘स्पर्शदीक्षा उसी प्रकारकी है जिस प्रकार पक्षी अपने पंखोंके स्पर्शसे अपने बच्चोंका लालन-पालन-घर्षन करता है।’ जबतक बच्चा अण्डेसे बाहर नहीं निकलता तबतक पक्षी अण्डे-पर बैठता है और अण्डेसे बाहर निकलनेके बाद जबतक बच्चा छोटा होता है तबतक उसे वह अपने पंखोंसे ढाँके रहता है।

द्वादीक्षा—स्वापत्यानि वथा कूर्मी वीक्षणनीव पोषयेत् ।
द्वादीक्षोपवेशस्तु तारशः कथितः ग्रिये ॥

‘द्वादीक्षा उसी प्रकारकी है जिस प्रकार कछुवी अपने बच्चोंका दृष्टिमात्रसे पोषण करती है।’

ध्यानदीक्षा—यथा माल्सी स्वतन्त्रान् ध्यात्मसाक्रेण पोषयेत् ।
केवलीक्षोपवेशस्तु मनसः स्यात्तथाविदः ॥

‘ध्यानदीक्षा मनसे होती है और उसी प्रकार होती है जिस प्रकार मछली अपने बच्चोंको ध्यानमात्रसे ही पोसती है।’

पक्षिणी, कछुवी और मछलीके समान ही श्रीसहूरु अपने स्पर्शसे, दृष्टिसे तथा सङ्कृत्यसे अपनी शक्तिशिष्यमें डालकर उसकी अविद्याका नाश करते और महावाक्यके उपरेशसे उसे इतार्थ करते हैं। सर्व, इष्टि और सङ्कृत्यके अतिरिक्त एक ‘शब्ददीक्षा’ भी होती है जिसका वर्णन दर्शनात्पर्यनान्तर्भूत्यन्या शिष्यदेहके इस वाक्यमें पहले आ चुका है। इस प्रकार चतुर्थिधा दीक्षा है और उसका क्रम आगे लिखे अनुसार है—

विद्वि स्थूलं सूक्ष्मं सूक्ष्मतः सूक्ष्मतममपि क्रमतः ।
स्वर्दीक्षामाणविद्यानसङ्कृत्यनारवतश्चतुर्धां तम् ॥

‘स्पर्श, भाषण, दर्शन, संकर्षण यह चार प्रकारकी दीक्षा क्रमसे स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम है।’

इस प्रकार दीक्षा पाये हुए शिष्योंमें कोई ऐसे होते हैं, जो दूसरोंको वही दीक्षा देकर कृतार्थ कर सकते हैं और कोई केवल स्वयं कृतार्थ होते हैं, परन्तु दूसरोंको व्यक्तिपात करके कृतार्थ नहीं कर सकते।

सार्वतु शक्तिपात्रे गुरुवस्वस्यापि सामर्थ्यम् ।

चार प्रकारकी दीक्षामें गुरुताम्यासाम्य कैवा होता है, यह आगे बतलाते हैं—

स्फर्त—स्थूलं ज्ञानं द्विविधं गुरुसाम्यासाम्यवश्वम् ।

दीपप्रस्तरश्चयोरिव संस्पर्शात्तिनन्धवस्त्वयतोः ॥

‘किंती जलते हुए दीपक से किंती दूरते दीपदकी पुताल्क या तैलक बत्तीको स्पर्श करते ही वह बत्ती जल उठती है, फिर यह दूसरी जलती हुई बत्ती चाहे किंती भी अन्य किंग बत्तीको अपने स्पर्शसे प्रज्ञलित कर सकती है। यह शक्ति उसे प्राप्त हो गयी, यही शक्ति इस प्रकार प्रज्ञलित सभी दीपोंको प्राप्त है। इसीको परम्परा कहते हैं। दूसरा उदाहरण पारसका है। पारसके स्पर्शसे लोहा सोना बन जाता है, परन्तु इस सोनेमें यह सामर्थ्य नहीं होती कि वह दूसरे किसी लोहखण्डको अपने स्पर्शसे सोना बना सके।’ साम्यदान करनेकी यह शक्ति उसमें नहीं होती, अर्थात् परम्परा आगे नहीं बनी रहती।

शब्द—सदाद् द्विविधं सहमं शब्दशब्दणेन कोकिलाम्बुदयोः ।

तस्मुद्गमयूरश्चयोरिव तद्विशेषं यथासंस्कृतम् ॥

‘कौञ्जोंमें पला हुआ कोयलका बचा कोयलका शब्द सुनते ही यह जान जाता है कि मैं कोयल हूँ। फिर अपने शब्दसे वही बोध उत्पन्न करनेकी शक्ति भी उसमें आ जाती है। भेषका शब्द सुनकर मोर आनन्दसे नाच उठता है, पर यही आनन्द दूसरेको देनेकी सामर्थ्य मोरके शब्दमें नहीं आती।’

दृष्टि—पृथं सूक्ष्मतरमपि द्विविधं कृत्यो निरीक्षणात्तथाः ।

पुरुषात्थेऽव विविर्णीक्षणाल्कोक्षिखुनस्त ॥

‘कठीयके इत्तिनिषेपमाप्तसे उसके बचे निहाल हो जाते हैं और फिर यही शक्ति उन बचोंको भी प्राप्त होती है। इसी प्रकार सदूचकी करुणादृष्टिके पातसे शिष्यमें ज्ञानका उदय हो जाता है और फिर उसी प्रकार करुणादृष्टितसे अन्य अधिकारियोंमें भी ज्ञान उदय करनेकी शक्ति भी उसमें आ जाती है। परन्तु चकवा-चकहीको सूर्यदर्शनसे जो आनन्द प्राप्त होता है, वही आनन्द वे अपने दर्शनके द्वारा दूसरे चकवा-चकहीके जोडोंको नहीं प्राप्त करा सकते।’

सहूत्प—सूक्ष्मतरमपि द्विविधं मर्त्याः सहूत्पत्सु तुहुदितुः ।

तुहिनं गराजिनिर्मान्त्रिकसहूत्पत्त्वं भुवि तद्वप् ॥

‘भछलीके सहूत्पसे उसके बचे निहाल होते हैं। और दूसी प्रकार सहूत्पमात्रसे अपने बचोंको निहाल करनेकी सामर्थ्य फिर उन बचोंको भी प्राप्त हो जाती है। परन्तु मान्त्रिक अपने सहूत्पसे जिन शत्रुओंका निर्माण करता है, उन बत्तुओंमें वह सहूत्पशक्ति नहीं उत्पन्न होती।’

इन सब बातोंका निष्कर्ष यह है कि सदूच अपनी सभी शक्ति एक क्षणमें अपने शिष्योंको दे सकते हैं। यही बात परम भगवद्गतः संत तुकाराम अपने एक अभ्यंगमें इस प्रकार कहते हैं कि ‘सदूचके विना रास्ता नहीं मिलता, इच्छिये सब काम छोड़कर एहले उनके चरण पकड़ ले। वह तुरंत (शरणागतको) अपने-जैसा बना लेते हैं, इसमें उन्हें जरा भी देर नहीं लगती।’

गुरुकृपासे जब शक्ति प्रबुद्ध हो उठती है, तब साधकको आसन, प्राणायाम, मुद्रा आदि करनेकी कुछ भी आवश्यकता नहीं होती। प्रबुद्ध कुण्डलिनी ऊपर ब्रह्मरन्त्री ओर जानेके लिये छटपटानेमें जो कुछ कियाएँ अपने-आप होती हैं, वे ही आसन, मुद्रा, बन्ध और प्राणायाम हैं। शक्तिका मार्ग खुल जाने के बाद ये सब कियाएँ अपने-आप होती हैं और उनसे चित्करो अधिकाधिक शिरता प्राप्त होती है। ऐसे साधक देखे गये हैं, जिन्होंने कभी सभमें भी आसन-प्राणायामादिका कोई विषय नहीं जाना था, न ग्रन्थोंमें देखा था, न किसीसे कोई किया ही सीखी थी, पर जब उनमें शक्तिपात्र हुआ तब वे इन सब कियाओंको अन्तःस्मृतिसे ऐसे करने लगे जैसे अनेक बचोंका अभ्यास हो। योगशास्त्रमें वर्णित विषयके अनुसार इन सब कियाओंका उनके द्वारा अपने-आप होना देखकर बहा ही आश्रय होता है। जिस साधकके द्वारा जिस कियाका होना आवश्यक है, वही किया उसके द्वारा होती है, अन्य नहीं। जिन कियाओंके करनेमें अन्य साधकोंको बहुत काल कठोर अभ्यास करना पड़ता है, उन आसनादि कियाओंको शक्तिपात्रसे युक्त साधक अनायास कर सकते हैं। यथावद्यक रूपसे प्राणायाम भी होने लगता है और दस-पन्द्रह दिनकी अवधिके अंदर दो-दो मिनटका कुम्भक अनायास ही लगने लगता है। इस प्रकार होनेवाली यौगिक कियाओंसे साधकको कोई कष्ट नहीं होता, किसी अनिष्टके भयका कोई कारण नहीं रहता, क्योंकि प्रबुद्ध शक्ति स्वयं ही ये सब कियाएँ साधक-से उसकी प्रकृतिके अनुरूप करा लिया करती है। अन्यथा

हठयोगके साधनमें जरा-सी भी शुटि होनेसे बहुत बड़ी हानि होनेका भय रहता है जैसा कि 'हठयोगप्रदीर्घिका' ने 'अयुक्ताम्यासलयेगेन लर्वयोगसमुद्भवः' यह कहकर चेता दिया है । परन्तु शक्तिपातसे प्रबुद्ध होनेवाली शक्तिके द्वारा साधकसे जो कियाएँ होती हैं, उनसे शरीर रोगरहित होता है, बड़े बड़े अलाभ्य रोग भी भस्त हो जाते हैं । इससे शहस्र साधक बहुत लाभ उठा सकते हैं । अन्य साधनोंके अन्यासमें तो भविष्यमें कभी मिलनेवाले सुख-की आशासे पहले कष्ट-ही-कष्ट उठाने पड़ते हैं, परन्तु इस साधनमें आरम्भसे ही सुखकी अनुभूति होने लगती है । शक्तिका जागना जहाँ एक बार हुआ वहाँ फिर वह शक्ति स्वयं ही साधकको परम पदकी प्राप्ति करानेतक अपना काम करती रहती है । इस बीच साधकके जितने भी जन्म दीत जायें, एक बार जागी हुई कुण्डलिनी फिर कभी दुःख नहीं होती ।

शक्तिस्त्रारीक्षा प्राप्त करनेके प्रभाव साधक अपने पुज्यपात्रसे कोई भी यौगिक किया नहीं कर सकता, न इसमें उसका मन ही लग सकता है । शक्ति स्वयं जो स्थूल अंदरसे प्रदान करती है, उसीके अनुचार साधकको सब कियाएँ करनी पड़ती हैं । यदि उसके अनुचार न करे

अथवा उसका विरोध करे तो उसका चित्त सद्य नहीं रह सकता, जैसे नीदके आनेपर भी जागनेवाला मनुष्य अस्वस्य होता है । साधकको शक्तिके अधीन होकर रहना पड़ता है । शक्ति ही उसे जहाँ जब ले जाय, उसे जाना पड़ता है और उसीमें सन्तोष मानना पड़ता है । एक जीवनमें इस प्रकार उसकी कहाँसे कहाँतक प्रगति होगी, इसका पहलेसे कोई निष्ठा या अनुमान नहीं किया जा सकता । शक्ति ही उसका भाव वहन करती है और शक्ति किसी प्रकार उसकी हानि न कर उसका कल्याण ही करती रहती है ।

योगाभ्यासकी इच्छा करनेवालोंके लिये इस कालमें शक्तिपात-ला सुगम साधन अन्य कोई नहीं है । इससिये ऐसे शक्तिसम्बल गुरु जब सौभाग्यसे किसीको प्राप्त होता है तब उसे ज्ञाहिये कि ऐसे गुरुका कृपाप्रसाद लाभ करे । इस प्रकार वर्णाश्रमधर्मका पालन करते हुए ईश्वरप्रसाद लाभ करके कृतकृत्य होनेमें साधकको सदा प्रयत्नवान् होता चाहिये ।

प्रसादे सति देवेशो दुर्ज्ञोऽपि सुरच्छाः ।
शक्षते मनुजैर्ददुः प्रस्त्वगाम्भतया सदा ॥

शक्तिपात और दोक्षा

(क्लेक—इक जिजायु)

शक्तिपात करनेवाले लोग अब भी हैं । शक्तिपातमें गुरुको थोड़ी देरके लिये शिवत्वको प्राप्त होना चाहिये । वह पूर्ण दयासे प्रेरित होकर इस दशाको यदि प्राप्त हो और शक्तिपात करे तो शक्तिका पतन होगा और वह कार्यकी होगी । मैंने एक-दो गुरुओंको शक्तिपात करते देखा, पर मेरी समझमें उनमें वह भाव न आया और इससिये शक्तिका पतन नाममात्रको ही हुआ ।

दीक्षामें भूतशुद्धि करके गुरु शिवत्वको यथाभ्य प्राप्त होकर एक हाथसे चिवती शक्तिको और दूसरेसे अपने गुरुकी शक्तिको अपने शिव्यके सिरपर अपने दोनों हाथ रखकर भरता है । यदि गुरुने ठीक कार्य किया और शिव्य सत्त्विक है तो वह थोड़ी देरके लिये साध्य हो जायगा और जो मन्त्र उसे दिया जायगा वह क्रियावान् होगा । एक व्यक्ति बहुत काल-से एक मन्त्र जपता था, पर उसे कुछ अनुभव नहीं होता था ।

एक गुरुने भूतशुद्धि कर आति दशके भावसे प्रेरित हो उसे ऊपर लिखी दीक्षा दी तो अब उसे मन्त्रके जपनेसे उस मन्त्रके देवताके दर्शन होते हैं और उसे बहुत आनन्दका अनुभव होता है । एक दूसरे व्यक्तिको भूतशुद्धि कर उपनयनविधिसे गायत्री-मन्त्रकी दीक्षा दी गयी और उसमें शक्तिपात किया गया । उस समय इस व्यक्तिमें उन्नतिकी सम्मावनाके कोई लक्षण न थे; पर अब समय-समयपर उसे दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है; कीर्तनमें उपस्थित अदृश्य देवोंके उसे दर्शन होते हैं; दूरके दृश्य भी कभी-कभी सही दीखते हैं ।

तीसरे व्यक्तिमें किसी संन्यासीसे मन्त्र लिया था । पर उसके जपनेसे उसे कोई लाभ नहीं होता था । उसमें भी इसी प्रकार भूतशुद्धि कर शक्तिपात किया गया और दीक्षा दी गयी और अब उसे भी मन्त्रजपमें आनन्द, दर्शन इत्यादि होते हैं ।

शक्तिपात और कर्मसाम्य, मलपाक तथा पतन

('मनोविनोदाद')

कबीरदासकी उलटबाँसी प्रसिद्ध ही है। उनकी उलटबाँसीयोंका क्षेत्र साहित्यक ही सीमित न था, व्यवहारजगतमें भी परीक्षार्थ उसे कभी-कभी बे उतारा करते थे। कहा जाता है कि एक बार उन्होंने किसी तरणीको 'माई' कहकर समोधित किया। उसने इन्हें साधु भानकर आदर-सकार किया। किसी दूसरे दिन उसीको अपनी उलटबाँसीकी आजमाइशके लिये 'शापकी मेहर' (प्रिताकी छी अर्थात् माई) कहकर पुकारा। वह बैतरह विगड़ी और बदमाश समझकर भाने दीही । ······ठीक यही दशा विद्य-प्रपञ्चकी है। 'होइहैं सोइ जो राम चन्द राखा', 'बदमाशि न तद्रवि भावि चेव तदन्यथा' सोउही आने ठीक है। चाहे व्यवहारजगत् हो वा साधनाजगत्—वल्लुतः यह भेद भी तो सापेक्ष ही है, अन्यथा जिसे हम व्यवहारजगत् कहते हैं, वह भी तत्त्वाद्विसे साधनाजगत् ही है। इस विद्य-प्रपञ्ची-की घटित घटनाओंको नाम-दुर्नाम देना एवं फलस्वरूप, सुखी-दुःखी होना अपने मनकी माया है।

कर्मसाम्य, मलपाक और पतन उपर्युक्त प्रकारसे एक ही भावके द्वातक हैं। तीनोंमें ही, सापेक्षतः, एक उच्च स्थानसे निझतर स्तरपर उतरना, फिसलना, गिराव वस्तुतः व्यावहारिक अर्थमें निन्य पतन नहीं है, प्रत्युत शक्तिपातकी योग्य भूमिका है। कृपालु लदुरु कृपापात्र विद्यपर अपने सहज कृपालु स्वभावसे शक्ति उतारते हैं। इस प्रक्रियाको 'शक्तिपत' करना कहते हैं। इस प्रक्रियामें मुख्य कार्य सदृगुक्ता ही है, शिव्यकी ओरकी तैयारी तो एक प्रकार नहींके बराबर है। शिव्यकी तैयारी केवल इतनी ही है कि यदि वह त्रिगुणोंमें किसी एकके उत्कर्षके कारण विषय-वस्थामें दीता है तो सद्गुरु उस विषयमताको उत्कर्ष गुणके प्रपातसे दूर करते हैं। गुणोंकर्षके इस प्रपातको ही कर्मसाम्य, मलपाक एवं पतन कह सकते हैं। कर्मसाम्यमें सत्त्वोत्कर्ष, मलपाकमें राजसोत्कर्ष और पतनमें तामसोत्कर्षसे प्रपात किया-करता जाता है। कर्मसाम्यमें साधक एवं गुरु दोनोंकी, मलपाकमें केवल गुरुकी और पतनमें साधक तथा गुरु किसीकी भी नहीं, स्वेच्छाका शात सम्बन्ध होता है। यदि साधक और गुरुके इस स्वेच्छापूर्वक शात सम्बन्धको

अला कर दें तो मूलतः स्वरूपसे ये तीनों एक ही कहे जा सकते हैं।

जैसे किसी आधारपर कोई सम वस्तु रखनेके लिये उस आधारको भी साम्यावस्थामें लाना पड़ता है, उसको ऊँचाई-नीचाईरूपी विषमताको उचित काट-छाँटद्वारा दूर करना पड़ता है और इस प्रक्रियामें सुगमता उच्चस्थलके काटनेमें ही है, निझको उच्च बनानेमें नहीं; उसी प्रकार किसी साधक-को शक्तिके अवतारका योग्य आधार बनानेके लिये उसके गुणवैषयको उत्कर्ष-गुणके दूरीकरणद्वारा हटाया जाता है। वामान्यतः अन्य साधनमार्गमें सत्त्वोत्कर्षका अपकर्ष नहीं किया जाता, प्रत्युत वह उत्कर्ष इतना बढ़ाया जाता है कि रजोगुण और तमोगुण सर्वथा आच्छन्न हो जायँ और सत्त्वगुणके चरम उत्कर्षद्वारा एक प्रकारकी साम्यावस्था स्थापित हो जाय। परन्तु, शक्तिपात्रप्रक्रियामें सत्त्वोत्कर्षका भी सापेक्ष अपकर्ष कराया जाता है। कारण, शक्तिपात्रके आश्राम-पात्रमें यदि कुछ भी संक्रियता शेष रहे तो यह प्रक्रिया सफल नहीं हो सकती। जैसा कि ऊपर कहा गया है। शक्तिपात्रके पात्रकी एकमात्र योग्यता परिपूर्ण निष्क्रियता (complete passivity) है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि परिपूर्ण निष्क्रियता किसी एक गुणके चरम उत्कर्ष तथा फलस्वरूप अन्य दोनों विलीनतासे नहीं हो सकती। कारण, किसी भी एक गुणके चरम उत्कर्षमें निष्क्रियता नहीं होती, प्रत्युत उस गुणकी सर्वोपरि संक्रियता होती है।

इस प्रकार, उपर्युक्त परिपूर्ण निष्क्रियताके संस्थापनमें किसी भी गुण-भावका एकाङ्गी प्राव॑ल्य वाधक होता है—शुभ-अशुभ दोनों प्रकारकी वासनाओं-संस्कारोंकी प्रबलता सानु-कृल नहीं होती। फलतः अमोघद्विष्ट कल्याणदर्शीं सद्गुरु कृपापात्र शिव्यके स्वभाव-संस्कारोंकी एकाङ्गी प्रबलताको कुशलताद्वारा हटाते हैं। जिस साधकसे शुभ वासनाओंकी प्रबलता होती है, उसे सद्गुरु लोकेशणके शुभकारोंमें नियुक्त कर उसकी उस प्रबलताको दूर करते हैं। जहाँ सद्गुरुकी साक्षात् कृपाद्विष्ट यह कार्य होता है, वहाँ स्वयं साधकके मनमें तथा संलालकी दृष्टिमें भी इस सत्त्वोत्कर्षके त्यागसे ग़लानि, निन्दा आदिके भाव नहीं उठते। परन्तु, जहाँ सद्गुरुकी साक्षात् कृपाद्विष्ट नहीं होती और यह कार्य परम गुरु, परम

नियन्ताके अमोघ विधानसे बलात् पर सद्गुरुपर्म महोत्तम होता है, वहाँ स्वयं साधकके मनमें समय-समयसे स्थानि, संकोच आदि तथा संसारकी दृष्टिमें निन्दा, आलोचना आदिके भाव उठते हैं। पर यह क्रिया चाहे सद्गुरुकी साक्षात् कृपादृष्टिमें हो अथवा परम गुरु, परम नियन्ताके अमोघ विधानसे हो, दोनों ही अवस्थाओंमें परिणाम एक ही होता है—शक्तिपातकी योग्य भूमिकाका निर्माण। जहाँ इस उत्कर्षका त्वय सद्गुरुके साक्षात् आदेशसे होता है, वहाँ तो यथासमय शक्तिपातकी दृष्टिमें कहना ही क्या; पर जहाँ परम गुरुका अमोघ विधान इस क्रियाको कराता है, वहाँ भी वैराग्यशक्ति, विवेकशक्ति, विचारशक्तिका अवतार—पात—होता ही है।

शुद्ध शुभ वासनाओंके प्राचल्यको इस प्रकार दूर करनेकी प्रक्रियाको कर्मसाम्य कह सकते हैं। इसमें उत्तर होनेपर भी शुभकार्य ही होते हैं और साधक तथा गुरु दोनोंकी स्वेच्छासे होते हैं। इसीलिये कहा गया है कि कर्मसाम्यमें साधक और गुरु दोनोंकी स्वेच्छाका शात सम्बन्ध होता है। पर जहाँ यह उत्तर साधेष शुभाशुभ वासना-प्राचल्यसे होता है और फलतः साधकको अपेक्षाकृत अशुभ कायों, उदाहरणार्थ गृहस्थाभ्यमें प्रवेश, सन्तानोत्पादनादि प्रापञ्चिक व्यवहारोंमें रत होना पड़ता है, वहाँ इस प्रक्रियाको 'मलपाक' कह सकते हैं। मलपाकमें अशुभ वासनाएँ अपने परिपाकसे अपने-आप इट जाती हैं। इसमें, गुरुकी स्वेच्छाकी ही प्रवानाता रहती है, साधककी नहीं। कारण, कोई भी साधक स्वेच्छाधूर्वक विना आदेशके ऐसे प्रसङ्गोंमें पड़नेके लिये हृदयसे तैयार नहीं होता। यह प्रक्रिया भी शब्द सद्गुरुकी साक्षात् कृपादृष्टिमें हो तो स्वयं साधकको भी अधिक झेंप नहीं होती और संसार भी क्षमाकी दृष्टिसे देखता है। महाप्रभु गौराङ्कदेवके आदेशसे नियन्तनन्दकी गार्हस्थ्याश्रमकी स्त्रीकृतिसे इसपर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। वहाँ न तो नियन्तनन्दको स्वयं झेंप मालाम पड़ती है न संसार ही उनपर शृणकी हृषि डालता है। पर यदि यही मलपाक परम गुरुके अमोघ विधानसे हो तो अल्पशीर साधक और दोषदर्शी संसार दोनोंके मनोभावोंमें महान् अन्तर आ जाता है। परन्तु इसे कदापि भूलना न चाहिये कि मूलतः एवं परिणामतः यह प्रक्रिया दोनों रूपोंमें एक ही है।

कर्मसाम्यमें केवल शुभ, मलपाकमें शुभाशुभ भिन्नित तथा पतनमें केवल अशुभ मंस्कारों-भावों-यासनाओंकी

प्रवृत्ति होती है। फलतः पतनमें एकमात्र अशुभ कर्म ही होते हैं। उसका न तो साधक ही स्वेच्छापूर्वक अभिनन्दन करता है, न संसार ही क्षमाहृषिसे ग्रहण करता है, उसमें साधककी आत्मव्याप्ति और संसारकी फटकार होती है। इसी लिये पतनकी उर्धतोमुखी निन्दा, आलोचना, होती है। यहाँतक कि तन्त्र-दाचके कुछ प्रसङ्गोंको छोड़कर पतन-क्रियाको साधनाका अङ्ग कोई माननेको तैयार ही नहीं है। पर यहाँ भी हमें सदा स्मरण रखना चाहिये कि 'पतन' केवल 'पतन' ही नहीं है, प्रस्तुत शक्तिपात्रपी उत्थानका पूर्वीष्ठ है। प्रत्येक पतनक्रियाकी परिसमाप्तिपर ज्ञात वा अज्ञात दैवी शक्तिपात्र होता है। यही कारण है कि 'पतन' के अन्तिम अन्तमरण और दूसरे अङ्ग 'सुरति' के अनन्तर बल्कि इनके समरणमात्रसे 'शशानवैराग्य' हो जाता है और कहनेकी आवश्यकता नहीं कि तीव्र एवं सज्जा वैराग्य केवल इन शशानवैराग्योंका योगकलमात्र ही है। पतनकी प्रापञ्चित्ताभिमें इनी प्रखरता है कि महाकामी स्वनामधन्य पतनप्रेरित गोस्वामी तुलसीदासको निष्कामी-भगवत्कामी-रागी—बना देता है। कारण स्पष्ट ही है। कर्मसाम्य तथा मलपाक जहाँ कहि दृष्टिमें पतनसे श्रेष्ठतर माने गये हैं, वहाँ एक हृषिसे पतनसे निष्ठातर हैं। चाहे कितने ही उच्च कोटिके साधक एवं गुरु कर्मसाम्य और मलपाकमें वर्णों न हों, पर एकान्ततः निरभिमानी नहीं हो सकते, अभिमानावैरोध रहता ही है। पर पतनके साधक वित्त और उसके परम गुरु परमेवरमें यह विशेषता है कि यहाँ अभिमानका मान कुछ भी नहीं रहता है। यही कारण है कि पतनके योग्य आधारपर शक्तिपात्र अलौकिक होता है, अमोघ होता है। इसीलिये संसारकी प्रायः सभी महान् विश्वितायाँ, विशेषतः भर्त-समुदाय अपनेको पतित, 'पतितमें नामी', 'प्रियिद पातकी', 'गम्तसमः पातकी नामी' कहकर संसारके परिसस जीवोंसे अशुधार शिरावाकर प्रशान्त करता है। इस प्रकार, पतन सचमुच परम उत्थानका प्रधान पथ प्रतीत होता है।

अन्तमें, यह स्पष्ट कह देना है कि उपर्युक्त पंक्तियाँ केवल 'भनोविनोदाय' हैं। फलतः, न तो इनके शारीरीक आधारकी ओर हृषि रम्ली गती है और न इन्हें स्त्रीकार कराने-के आग्रहकी ओर ही। फिर भी इसके अवलोकनसे यदि हममें सहिष्णुता आ जाय तो बस है। साधकके लिये सहिष्णुता अद्वाके बाद अद्वितीय महस्यकी वस्तु है। जिसे हम पतित समझकर धृणा कर रहे हैं, उसके प्रति यदि हमारे ये भाव

हो जायें कि पशुपतिके अमोघ संरक्षणमें यह अपने परमपदके पश्चिम अग्रसर हो रहा है तो क्या हम कभी उससे घुणा कर सकते हैं ? कदापि नहीं ! इसीलिये तो इस दृष्टिको फल-श्रुति है—

भोग्ये योगायते सम्बन् दुष्कृतं सुकृतायते ।
योगायते च संसारः कुलधर्मे कुलेक्षणे ॥
इस कुलसे दूर-विसुख-रहना ही परम व्याकुलता
(वि + आ + कुलता) है ।

रहस्यरहित रहस्य

(प्रेम और सत्य)

(क्लेशक—‘प्रलाप’)

अनेकों वर्ष संलग्न विचार और साधान प्रयोग करके मैंने जो कुछ पाया उससे यही नसीजा निकलता है कि सतत, सुहृद और अविचल भावसे सत्यका आचरण करना और प्रेमाभ्यास तथा सहानुभूतिको बढ़ाये चलना, यही सबसे सुगम, सबसे स्पष्ट और सबसे अधिक अमोघ साधन है । सब शास्त्रोंने एक स्वरसे इसी बातको माना है—‘सत्यान्नास्ति परो धर्मः ।’ ‘अहिंसा परमो धर्मः ।’ आदि हिन्दूधर्मके शास्त्रसिद्धान्त सर्व-विभूत ही हैं । ये ही सिद्धान्त बौद्धधर्मके भी हैं । इसमध्ये हक्का भी सबसे यही कहना था कि ‘तुमलोग वहले भगवान्के राज्य और उनके दिव्य गुणोंकी इच्छा करो; और ये सब जींते तुम्हारे साथ जुड़ जायेगी ।’ योग अथवा अध्यात्म-साधनाका भी तो यही सार है, तथापि यह शिक्षा इतनी स्पष्ट और आपाततः इतनी सुगम है कि यह स्पष्टता और सुविधता ही सामान्य साधकोंकी बुद्धिको चक्रमें डाल देती है और उत्साहके साथ इसे भारण करनेमें वे असमर्थ हो जाते हैं । जीवनमें कुछ नहीं, साधनयथ बड़ा विकट है, मन और द्वन्द्योंको बशमें ले आना हँसी-खेल नहीं, यह सब हमलोग कहा करते हैं । परन्तु जो कुछ कठिन, दुस्साध्य-असाध्य है उसीकी ओर हमलोगोंकी कुछ ऐसी आनंदरिक प्रवृत्ति है कि हमलोग उसकी ओर दौड़ते हैं और राह चलते यदि सब रोगोंकी कोई अचूक पर मामूली दवा मिलती है तो उसपर हमें विश्वास नहीं होता; हम उसपर हँस देते हैं, उसकी अन्यर्थता-पर हमें गहरा सन्देह होता है । होमियोपैथिक औषधकी गोलियोंको हममें सबुतेरे इसीलिये कोई चीज नहीं समझते कि उनमें कोई ताव, तेजी या तीतापन नहीं होता । अव्यर्थ शक्तिके साथ प्रतिकूल वेदना और किसी प्रकारकी अटिलता-का होना जरूरी समझनेके हमलोग आदी हो गये हैं । हमलोग बचपनसे ही ‘सत्य’ और ‘प्रेम’की प्रशंसा बराबर सुनते

आये हैं । इसी अति परिचयके कारण ही उनके बल्तुगत गुणोंसे हमरी आँखें अनधी हो गयी हैं । हम समझते हैं कि यह सब बच्चोंके लिये भुलाया है, इतनी मामूली-सी बातमें भला रम्भा ही क्या है ! परन्तु यदि हमलोग अपने श्रूप-मुनियोंके बच्चोंपर कुछ भी विश्वास रखतें और उनके अनु-शास्त्रानोंका पालन करके देखें तो बहुत जल्द ही हमें यह पता चलेगा कि सत्य और प्रेमका आचरण इतना आसान तो नहीं है जितना कि सामान्यतः इन नामोंसे सूचित होता है; यही नहीं, प्रत्युत इनका आस्थापूर्वक पालन करने लग जाएं तो पद-पदर पर ऐसी कठिनायाँ सामने उपस्थित होंगी कि आपके निश्चय और सहिष्णुताकी पूरी परिक्षा होगी, आपके उत्तमोत्तम गुण वाहर निकल आयेंगे और इस प्रकार उन गुणोंका विकास होगा जिन्हें मानवसमाजके महान् आचार्योंने मनुष्यकी परम सिद्धिके लिये अत्यन्त आवश्यक माना है ।

सत्य लीढ़ी-सादी, सबकी समझमें आनेवाली चीज है, प्रेम और सहानुभूति भी ऐसी ही है । इनके बारेमें कोई बात दुर्बोध नहीं है; कोई गुप्त चीज नहीं, कहाँसे बंद या आच्छादित नहीं । तथापि ज्यों ही आप यह अनुग्रह करने लोगों, आप-के उत्तमोत्तम कर्मों और गमीरतम शक्तियोंपर इनका कितना बोहस पड़ता है । इनके लिये आपको अपने सब विचारों, मार्गों और कर्मोंमें बड़ी सावधानी रखनी पड़ेगी और क्रमशः आपके मनकी एकाग्र होनेकी शक्ति खूब बढ़ेगी और वह आत्मसंयम होगा जो सब योगसाधनाओंका चरम लक्ष्य है ।

भगवान्का राज्य और क्या है ? सत्य और प्रेमका ही तो राज्य है; और सब दैवी गुण उसी राज्यकी प्रजा हैं । इस प्रकार सत्य और प्रेमके पथपर सचाईके साथ निरन्तर चलकर

आप एक तरफसे ऊपर भगवद्राज्यमें पहुँचते हैं और दूसरी तरफसे उस भगवद्राज्यको पृथ्वीपर उतार लाते हैं।

योग जो सबसे कठिन साधना है, कहीं मिलन और कहीं समलव कहकर लक्षित किया गया है। दोनों ही सही अभिधान हैं, पर 'मिलन' मैं समझता हूँ कि अधिक अभिव्यक्ति है। अब, मिलनका सर्वोत्तम उपाय क्या प्रेम ही नहीं है, जैसे कि द्वेष विगाड़का निश्चिततम उपाय है? और क्या परमात्माके साथ सायुज्य अर्थात् उनके स्वरूपके साथ संयोग या मिलन ही हमलोगोंके जीवनका परम लक्ष्य नहीं है? और क्या सत्य और प्रेम परमात्माके ही स्वरूप नहीं हैं? और यदि प्रेम तथा सत्य—सत्य और प्रेम भगवानके

ही स्वरूप हैं और सौन्दर्य तथा आनन्दका उनके हृदयोंमें निचास है तो हम क्यों न इन्हीं सरल स्वाभाविक गुणोंके द्वारा सीधे ही उनके समीप चल चलें!—आसन, प्राणायाम, मुद्रा, मन्त्र, कुण्डलिनी-चक्र और न जाने क्या-क्याके फेरमें क्यों पड़ें और हन रासोंकी जोखिमें क्यों उठावें? योगी श्री-अरविन्द टीकी ही तो कहते हैं कि हमारी भागवती माता ही हमें सीधा सच्चा रास्ता दिखाती है, वे ही प्रकृतिके रूपमें प्रकट हैं; और प्रेम तथा सत्य उन्हींकी सन्तान हैं। इसलिये प्रेम और सत्यका स्वागत है, वे ही हमारे रक्षक हैं जो कभी गलत रासेपर नहीं जाते और चाहे जहाँ चाहे जिसके द्वारा पहचाने भी जाते हैं।

महासिद्धि, गुणहेतुसिद्धि, क्षुद्रसिद्धि और परमसिद्धि

(लेखक—पं० श्रीरामचन्द्र कृष्ण कामन)

श्रीमद्भागवतान्तर्गत एकादश स्कन्धके १५, वें अध्यायमें श्रीभगवानने उद्घवको उपर्युक्त सिद्धियाँ और उनके साधन बताये हैं। उस विवरणपर श्रीएकनाथ महाराजकी भी वडी सुन्दर टीका है जिसके आधारपर ही यह लेख लिखा जाता है।

महासिद्धियाँ आठ हैं। इनमें (१) अणिमा, (२) महिमा और (३) लघिमा देहसम्बन्धी सिद्धियाँ हैं। 'अणिमा' सिद्धिसे देहको अणु-परमाणु-परिमाण छोटा बनाया जा सकता है। श्रीहन्मान्‌जीने श्रीसीताजीकी खोजमें अणु-स्पर्से ही लङ्घामें प्रवेश किया था। 'महिमा' सिद्धिसे देहको चाहे जितना बड़ा था भारी बनाया जा सकता है। समुद्रलङ्घन करते समय हन्मान्‌जीने अपने शरीरको पर्वतप्राप्य बनाया था। 'लघिमा' सिद्धिसे शरीर कपासमें भी हल्का, हवामें तैरने लायक बनाया जा सकता है। (४) 'प्राप्ति' इन्द्रियोंकी महासिद्धि है। (५) 'प्राकाम्य' परलोकगत अहश्य विषयोंका परिज्ञान करनेवाली सिद्धि है। (६) 'इश्विना' माया और तदंशभूत अन्य शक्तियोंको प्रेरित करनेवाली सिद्धि है। (७) 'वशिता' कर्मोंमें अलिप्त रहने और विषय-भोगमें आसक्त न होनेवाली सिद्धि है। (८) स्वाति विशुवनके भोग और वाञ्छित सुखोंको अक्षमात् एक साथ दिलानेवाली सिद्धि है।

ये अष्ट महासिद्धियाँ भगवान्‌में स्वभावित हैं, भगवदितरोंको महान् कष्ट और प्रयाससे प्राप्त हो सकती हैं।

ही स्वरूप हैं और सौन्दर्य तथा आनन्दका उनके हृदयोंमें निचास है तो हम क्यों न इन्हीं सरल स्वाभाविक गुणोंके द्वारा सीधे ही उनके समीप चल चलें!—आसन, प्राणायाम, मुद्रा, मन्त्र, कुण्डलिनी-चक्र और न जाने क्या-क्याके फेरमें क्यों पड़ें और हन रासोंकी जोखिमें क्यों उठावें? योगी श्री-अरविन्द टीकी ही तो कहते हैं कि हमारी भागवती माता ही हमें सीधा सच्चा रास्ता दिखाती है, वे ही प्रकृतिके रूपमें प्रकट हैं; और प्रेम तथा सत्य उन्हींकी सन्तान हैं। इसलिये प्रेम और सत्यका स्वागत है, वे ही हमारे रक्षक हैं जो कभी गलत रासेपर नहीं जाते और चाहे जहाँ चाहे जिसके द्वारा पहचाने भी जाते हैं।

गौण सिद्धियाँ दस हैं—(१) 'अनूर्भु' अर्थात् भूधा, नृपा, शोक-मोह, जरा-मृत्यु इन पद् ऊर्मियोंसे देहका बैलाग रहना। (२) 'दूरत्रवणसिद्धि' अर्थात् अपने स्थानसे चाहे जितनी दूरी का भावण सुन लेना। (इस समय यह काम रेडियो कर रहा है। योगी अपने श्रवणेन्द्रियोंकी शक्तिको बढ़ाकर यह काम कर लेते हैं।) (३) 'दूरदर्शनसिद्धि' अर्थात् त्रिलोकमें होनेवाले सब दृश्यों और कार्योंको अपने स्थानमें बैठे ही देख लेना। (यह काम इस समय ऐतिविजन कर रहा है। योगी अपने दर्शनेन्द्रियकी शक्तिको विकसित कर यह काम घर बैठे कर लेते हैं। संजयको व्यासदेवकी कृपामें दूरश्रवण और दूरदर्शन दोनों सिद्धियाँ प्राप्त थीं।) (४) 'मनोजयसिद्धि' अर्थात् मनोवेगसे चाहे जिस जगह शरीर तुरंत पहुँच सकना। (चित्रलेखाको यह सिद्धि तथा दूर-दर्शनसिद्धि भी नारद भगवान्‌के प्रसादसे प्राप्त हुई थी।) (५) 'कामरूपसिद्धि' अर्थात् चाहे जो रूप धारण कर लेना। (६) 'परकायप्रवेश' अर्थात् अपने शरीरसे निकलकर दूसरेके शरीरमें प्रवेश कर जाना। (श्रीमत् शंकराचार्यका परकायप्रवेश सर्वश्रुत है।) (७) 'स्वच्छन्दमरण' अर्थात् (भीमजीके समान) कालके वर्षमें न होकर स्वेच्छासे कलेवर छोड़ना। (८) 'देवकीडानुदर्शन'

अर्थात् स्वर्गमें देवता जो क्रीड़ा करते हैं, उन्हें यहाँसे देखना और वैसी क्रीड़ा स्वयं कर सकना। (९) 'यथासङ्कल्प-सिद्धिर्द्वा' अर्थात् सङ्कल्पित वसुका उरुंत प्राप्त होना, सङ्कल्पित कायोंका उरुंत सिद्ध होना। (१०) 'अप्रतिहतगति और आशा' अर्थात् आशा और गतिका कहीं भी न सकना। (इस सिद्धिसे सम्बन्ध योगीकी आशाको राजा भी सिर औरखो चढ़ाता है। ऐसे योगी चाहे जहाँ जा आ भी सकते हैं।)

क्षुद्रसिद्धियाँ पाँच हैं—(१) 'विकालज्ञता'—भूत, भविष्य, वर्तमान—इन दीनों कालोंका ज्ञान। (महर्षी वाल्मीकीजीको वह सिद्धि केवल अखण्ड रामनाम-स्मरणसे प्राप्त हुई थी और इसीसे वे श्रीरामनन्दजीके जनके पूर्व रामायण लिख सके।) (२) 'अद्वन्द्वता'-शीत-उष्ण, सुख-दुःख, मृदु-कठिन आदि द्वन्द्वोंके बशमें न होना। (ऐसे सिद्ध पुरुष इस समय हिमालयमें तथा अन्यत्र भी देखे जाते हैं।) (३) 'परचिन्तायाभिज्ञता' दूसरोंके मनका हाल जानना, दूसरोंके देखे हुए स्वप्नोंको जान लेना इत्यादि। (इसीको आजकल 'थाट-रीफ़-डंग' कहते हैं।) (४) 'प्रतिष्ठम्'-अग्नि, वायु, जल, शब्द, विष और सूर्यके तापका कोई असर न होना। (५) 'अपराजय'-सबके लिये अजेय होकर सबपर जयलाभ करना।

इन सब प्रकारकी सिद्धियोंको प्राप्त करनेके लिये अनेक प्रकारके साधन हैं। मनमें तरह-तरहकी कामनाएँ रखके हुए लोग इसिद्धिके साधनमें महान् कष्ट सहते हैं। परन्तु भगवान् कहते हैं कि, इन अनेक प्रकारके साधनोंके विना सब सिद्धियोंकी प्राप्ति जिस एक धारणासे होती है वह मैं तुझे बतलाता हूँ—

जितेन्द्रियस्य दान्तस्य जितशास्त्रमनी सुने।

मज्जारणं धारयतः का सा सिद्धः सुदुर्लभा॥

पञ्चजानेन्द्रियों और पञ्चकर्मेन्द्रियोंको जिसने शम-दमसे जीता है, प्रबल वैराग्यके द्वारा जिसने प्राण और अपानको अपने बशमें किया है, विवेकबलसे जिसने अपने चित्तको सावधान बनाया है और मेरे निरन्तर चिन्तनसे जिसने मोरोजय-लाभ किया है और इस प्रकार जो सतत मेरा ही ध्यान करता है, उसके लिये कौन-सी सिद्धि दुर्लभ है? सब सिद्धियाँ उसकी दासियाँ बनकर सदा उसके समीप रहती हैं। पर उसको चाहिये कि वह इन सिद्धियोंका अपने स्वार्थमें प्रयोग न करे।

सिद्धियाँ किसीको जन्मतः, किसीको दिव्य ओषधियोंसे, किसीको मन्त्रसे, किसीको तपसे और किसीको योगभ्याससे

प्राप्त होती हैं। साँपका वायुभक्षण करके रहना, मस्तका जलमें तैरना, पक्षीका आकाशमें उड़ना, ये जन्मतः प्राप्त सिद्धियाँ हैं। राजहंसका नीरक्षीरविकेक, कोकिलका मधुर स्वर, चकोरका चन्द्रामृतप्राशन, ये भी जन्मसिद्ध सिद्धियाँ हैं। ओषधियोंसे प्राप्त होनेवाली सिद्धियोंके सम्बन्धमें श्रीएकनाथ महाराज अपनी दीकामें बतलाते हैं—मंगलवार-की चतुर्थी अर्थात् अंगराकी चतुर्थीका व्रत श्वेतमन्दरके नीचे बैठकर जो कोई बरावर इक्षीस वर्षतक करता रहेगा उसे उस वृक्षके नीचे श्रीगणेशजीकी नूर्ति मिलेगी और उससे उसे सब विद्याओंका ज्ञान प्राप्त होगा तथा उसका धर धन-धान्यसे भरेगा। अजानवृक्षका लासा चाटनेवाला आदमी अजर-अमर हो जाता है। नित्य कहुआ नीम खानेवालेपर कोई विष असर नहीं करता। पातालगारुडीका मुख प्राशन करनेवालेको देहदुःखसे कोई ह्लेश नहीं होता। पृथिकावृक्षकी जड़ महाशक्तिकी एक मूर्ति ही है। इस जड़की हाथमें रखकर कोई चाहे तो अप्सराओंके चीमें चला जा सकता और उनसे क्रीड़ा कर सकता है। ऐसी-ऐसी कितनी ओषधियाँ हैं, जिनसे विलक्षण सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। परन्तु इन्हें पाना सचमुच ही बड़ा कठिन है। उपर्युक्त सिद्धियोंके विवरमें बतलाते हैं कि, 'चूल्हा, पराकृ, चान्द्रायण आदि व्रत, मेघकी जलधारामें बैठ रहना, जलमें तांडे होना, ये सब ऐसे साधन हैं कि जिस भावनासे इनमेंसे जो कोई साधन किया जाता है, उससे वही सिद्धि प्राप्त होती है।' मन्त्रसिद्धिके प्रसङ्गमें कहते हैं—

'रतभर शवपर बैठकर अनुष्ठान करे तो उससे प्रेतोदेवता प्रसन्न होती हैं और भूत, भविष्य, वर्तमान अर्थात् त्रिकालके ज्ञानकी सिद्धि होती है। सूर्यमन्त्रका अनुष्ठान करनेसे दूरदर्शनसिद्धि प्राप्त होती है। मन्त्र जैसा ही और जीरी बुद्धि ही वैसी ही सिद्धि मिलती है।'

इन सब सिद्धियोंके रहनेका एक निधान योगधारणा है। आसन दृढ़कर प्राणायानको एक करके जो योगधारणा करता है, उसे सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। ऐसा होनेपर भी भगवान् कहते हैं कि यह सब कुछ भी न करके जो सुख एक परमात्माको अपने हृदयमें धारण करता है, सब सिद्धियाँ उसके चरणतले आ जाती हैं और जारी सुकियाँ स्वभावसे ही उसकी दासियाँ होकर रहती हैं। अनेक सिद्धियोंकी धारणासे मेरी सलोकता, समीपता और सरूपता भी नहीं प्राप्त होती, सायुज्यताकी तो कोई बात ही नहीं!

जो मेरे अनध अनन्यमत्त क मुकिको भी छोड़कर मेरी भक्तिमें ही नित्य तृप्त होते हैं, वे मेरे लिये पूर्ण हैं ।

परम सिद्धि अर्थात् परमानन्द-श्रापि

मनुष्यका सारा प्रयास आनन्दलभके लिये है । ऊपर जिन सिद्धियोंके लभके प्रचण्ड बटायेपका कुछ वर्णन हुआ, उन सिद्धियोंका लक्ष्य भी आनन्द ही होता है । पर आनन्दको भी परखकर प्रहण करना चाहिये । आनन्द तीन प्रकारके हैं—इन्द्रियगम्य, मनोगम्य और बुद्धिगम्य । इन्द्रियगम्य आनन्द पशुका, मनोगम्य आनन्द मनुष्यका और बुद्धिगम्य आनन्द देवोंका होता है । इसके भी परे विशुद्ध-बुद्धिगम्य आनन्द है जो 'बुद्धिग्राह्यमतीनिद्यम्' है, उसे संत था भक्त लेते हैं । इसीको परमानन्द कहते हैं । संत कबीरदास कहते हैं—

गुप्त होकर परगट होवे, जबे मधुरा कासी ।

ब्रह्मरन्त्रसे प्राण लिकहे, सत्य लोकका बासी ॥

सोईं कच्छा बे कच्छा बे । नहीं मुरुका बच्छा बे ॥

बड़ी-बड़ी सिद्धियोंसे प्राप्त होनेवाला आनन्द शाश्वत आनन्द नहीं है, परमानन्द नहीं है । वैसा आनन्द लेनेवाले योगीको कबीर साहब 'कच्छा' ही बतलाते हैं, उसे 'गुरुका बच्छा, नहीं मानते । इसलिये वास्तविक कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको ऐसे आनन्दके पीछे न पड़कर परमानन्द-की प्राप्तिमें ही प्रयत्नान् होना चाहिये । यहीं सच्चा पुरुषार्थ है । इस परमानन्दका साधन श्रीभगवान् बतलाते हैं—

निर्गुणे ब्रह्मपि मयि धारयन् विशदं मनः ।

परमानन्दमाप्नोति यत्र कामोऽवसीरते ॥

इसपर श्रीएकनाथ महाराजकी टीका है—विचरदेवता सत्त्वगुण है, इन्द्रिय रजोगुण है और विषय तमोगुण । यहीं

परमानन्दका आवरण है । परमानन्दको छिपा रखनेवाले ये ही प्रकृतिके तीन गुण हैं, ये ही परमानन्दकी प्राप्तिमें बाधक हैं । इन तीन गुणोंको छोड़कर जो मेरे निर्गुण ब्रह्मस्वरूपका ध्यान करता है, वह परमानन्दलाभ करता है । (निर्गुणका अर्थ है प्रकृतिगुणोंके परे जो 'विद्यगुण' है वह । भगवान्का सहुण-साकाररूप प्राकृत नहीं ब्रह्म दिव्य है । गीतामें भगवान् ने कहा ही है कि 'जन्म कर्म च मे दिव्यम्'; इस दिव्य जन्म-कर्मको जो तत्त्वतः जान लेता है वह देह छोड़कर मुझे प्राप्त होता है, पुनर्जन्मको नहीं ।) मेरे ध्यानसे परमानन्दलाभ होता है और इस आनन्दमें उसकी सब इच्छाएँ विलीन हो जाती हैं । सर्वोदयके होते ही चन्द्रसहित सब नक्षत्र जिस तरह लृप्त हो जाते हैं, उसी तरह परमानन्दमें करोड़ों इच्छाएँ मिलकर शोष हो जाती हैं । इन्द्रियमुखकी बातें तो मारे लज्जाके जहाँ-की-तहाँ ही ठंडी हो जाती हैं । भगवान् कहते हैं,—हे उद्धव ! सुनो । जबतक परमानन्द नहीं मिलता तबतक लाल उपाय करनेपर भी कामकी निवृत्ति नहीं होती । इसलिये प्रत्येक साधकको परमानन्द पानेमें ही यत्कान् होना चाहिये । यहीं परम सिद्धि है । यह भगवान् के समुद्भव-निर्गुण ध्यानसे प्राप्त होती है । (पर यह ध्यान तीव्र होना चाहिये ।) अन्य सिद्धियोंके लिये जितना प्रयास किया जाता है, उतनेसे ही परम सिद्धि प्राप्त की जा सकती है । भक्तवर तुकाराम कहते हैं—

साधन यहीं सिद्धियोंका है सरल और सुखग्राम ।

श्रीगोपलनाम लेता रह मुखसे आठों याम ॥

संतोंका यह अनुभव है कि अखण्ड नाम-स्वरण अथवा नामोच्चारणसे ही सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं । परम काव्यानिक भगवान् सब साधकोंको ऐसी ही सद्गुद्दि प्रदान करें ।

लालच

खट्टा भीडा चरपरा, जिभ्या सब रस लेय ।

चोरों कुतिया मिलि गई, पहरा किसका देय ॥

माल्वी गुड़में गढ़ि रही, पंख रहो लपटाय ।

द्वाय पलै औ सिर धुनै, लालच बुरी बलाय ॥

—रैदास

पञ्चभूतोंकी धारणा

यह स्थूल संसार जिसे जनसाधारण बज्रके समान ठोस देखते हैं, स्वप्नके दृश्योंसे भी अधिक हल्का और सारहीन है। कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंका भार के बल मन सम्हाले हुए है और वह जबतक उस भारकी बाद नहीं करता तबतक किसी प्रकारका दुःख उसे नहीं होता, जब वह स्थूल वस्तुओंके स्परणमें ही अपनेको जो बैठता है, भूल जाता है, तब मानो उसका सौ-सौ पहाड़ोंके भार आ जाते हैं और वह उनसे दबकर अधोगमी होने लगता है और लघु-सेलमुत्र होकर जड़प्राप्त हो जाता है। अधिकांश लोगोंका मन अपनी विद्यालता, शक्ति और ज्ञानको भूलकर एक शरीरकी प्रवृत्तियोंमें इतना अधिक फँस गया है कि अपनेको शरीरके अविरिक्त और कुछ समझता ही नहीं; और विश्व-ब्रह्माण्डके उद्दवन और विज्ञप्तनकी तो बात ही क्या, उनकी कल्पनासे ही मूर्छित हो जाता है। मनकी यह दुर्बलता बहुत दिनोंसे अभ्यस्त है और इसके कारण संसारके सारे दुर्ख-दूर्दृढ़ हैं। यह मन, जो कि चिन्मय है, जबतक पुनः अपने चिन्मयत्वका अनुभव नहीं कर लेगा तबतक सुखी और शान्त नहीं हो सकता; इसके लिये भावनाकी, अभ्यासकी आवश्यकता है। सन्तोने, शास्त्रोंने इसीके लिये अनेकों प्रकारके साधन बतलाये हैं, उनमेंसे एक प्रमुख साधन पञ्चभूतोंकी धारणा है। इसके द्वारा मनको धैर्य-धैरि अल्पताके कारण-गारसे निकालकर अखण्ड-स्वातन्त्र्यमें, जो कि अनन्त है, स्थापित किया जाता है। बास्तवमें यही उसका स्वरूप है। स्वरूपकी उपलब्धि ही इस साधनका उद्देश्य है, यद्यपि मार्गमें सभी प्रकारकी सिद्धियाँ भी मिलती हैं।

पञ्चभूत हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश। हनकी धारणाका अर्थ है क्रमशः चित्तको इन्हींमें बाँधना। यद्यपि ये सब चित्तमें बैठे हुए हैं, तथापि वर्तमान काल-की शरीरप्राय मनोवृत्तिको देखते हुए, ऊपर उठानेका यही क्रियक उपाय मालूम पड़ता है। इन पाँच भूतोंमें सबसे पहले पृथिवीकी धारणा की जाती है। उस धारणाका यह स्वरूप है कि ये पाँचों भूत, जो इन्द्रियोंसे बाहर दीख रहे हैं, सब-को-सब मनके अंदर हैं। इस मनुष्य-शरीरमें पैसे लेकर जनुपर्यन्त पृथिवी-मण्डल है। उसका वर्ण इतरालके समान पीला है, उसकी स्थिति चतुर्षोण है, उसके अधिष्ठात्री देवता ब्रह्म हैं, उसका बीज 'ॐ' है।

प्राणोंको स्थिर करके पाँच घटिकापर्यन्त उपर्युक्त धारणा करनी चाहिये। यह धारणा करते-करते ऐसा अनुभव होने लगता है कि मैं एक शरीरमें आबद्ध अथवा शरीर नहीं हूँ। मैं सम्पूर्ण पृथिवी हूँ। ये बड़े-बड़े नदी-नद मेरे शरीरकी नस-नाड़ियाँ हैं और सभूर्ण जीवोंके शरीरके रोग अथवा आरोग्यके कीटाणु हैं। समस्त पार्थिव शरीर मेरे अपने ही अङ्ग हैं। बेरण्ड-सिंहितामें कहा गया है कि पूर्वोक्त प्रकारसे पृथिवीकी धारणा करके जो उसे हृदयमें प्राणोंके साथ चिन्तन करते हैं वे सम्पूर्ण पृथिवीपर विजय प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं। शारीरिक मृत्युपर उनका आधिपत्ता हो जाता है और सिद्ध होकर वे पृथिवी-तलमें विचरण करते हैं। योगी याज्ञवल्क्यने कहा है कि पृथिवी-धारणा सिद्ध होनेपर शरीरमें किसी प्रकारके रोग नहीं होते।

जल-धारणा इस प्रकार की जाती है—जानुसे लेकर पायु-इन्द्रियपर्यन्त जलका स्थान है। किसी-किसी आचार्यके मतमें जानुसे लेकर नाभिपर्यन्त जलका स्थान है। परन्तु योगी याज्ञवल्क्य यह बात नहीं मानते। जलमण्डल शङ्क, चन्द्रमा और कुन्दके समान श्वेत-वर्ण है, इसका बीज अमृतमय 'वं' है। इसके अधिष्ठात्री देवता चतुर्मुर्ज, पीताम्बरधारी, शुद्ध-स्फटिक मणिके समान श्वेत-वर्ण मन्द-मन्द मुस्कराते हुए परम कोमल भगवान् नारायण हैं। इस जलमण्डलका चिन्तन करके प्राणोंके साथ इसको हृदयमें ले आये और पाँच घटिकापर्यन्त चिन्तन करे। इसके चिन्तनसे देखा अनुभव होने लगता है कि मैं जल-तत्त्व हूँ। पृथिवीका कण-कण मेरे अस्तित्वसे ही स्तिर्घ है। क्वर्गीय अमृत और विष दोनों ही मेरे स्वल्प हैं। कुसुरोंकी सुकुमारता और पाण्डाओंका पिण्डीभाव मेरे ही कारण है। पृथिवी मेरा ही परिणाम है। मैं ही पृथिवीके स्वप्नमें प्रकट हुआ हूँ। मैं ही नारायणका आवास-स्थान हूँ। अनुभवी सन्तोने कहा है कि जल-धारणा सिद्ध हो जानेपर समस्त ताप मिट जाते हैं। अन्तःकरणके विकार धुळ जाते हैं। अगाध जलमें भी उसकी मृत्यु नहीं होती।

अग्नि-धारणा इस प्रकार की जाती है—पायु-इन्द्रियसे लेकर हृदयपर्यन्त अग्निमण्डल है। इसका वर्ण रक्त है, आकार त्रिकोण है। इसका सुख्य केन्द्र नाभि और 'रं' बीज है। इसके अधिष्ठात्री देवता रुद्र हैं। इनका चिन्तन करते

हुय प्राणोंको स्थित करे । जब यह धारणा सिद्ध हो जाती है, तब ऐसा अनुभव होता है कि मैं अभि हूँ । सम्पूर्ण वस्तुओंका रंग-रूप जो आँखोंसे देखा जाता है मैं ही हूँ । मणिशारी चमक-दमक, पुष्पोंका सौन्दर्य और आकाशें मेरे ही कारण है । सर्व, चन्द्रमा और विशुद्धके रूपमें मैं ही प्रकाशित होता हूँ । जल और पृथिवी मेरी ही लीला हैं । सबके उदरमें रहकर मैं ही शरीरका धारण और धोषण करता हूँ । सबके नेत्रोंके रूपमें प्रकट होकर मैं ही सब कुछ देखता हूँ । समस देवताओंका शरीर मेरेद्वारा बना है । पाँच घटिका-पर्यन्त अग्नि-धारणा सिद्ध होनेसे कालचक्का भय नहीं रह जाता । साधकका शरीर यदि धघकती हुई आगमें डाल दिया जाय तो वह जलता नहीं । इस धारणमें रुद्रका चिन्तन इस प्रकार किया जाता है—रुद्र भगवान् मध्याह कालीन सूर्यके समान प्रसर तेजस्वी हैं, आँखें तीन हैं । सम्पूर्ण शरीरमें भस्त लगाये हुए हैं, प्रसन्नतासे वर देनेको उत्सुक हैं ।

वायुधारणा इस प्रकार की जाती है—दृदयसे लेकर भौंहोंके बीचतक वायु-मण्डल है, इसका वर्ण अङ्गन-पुङ्कके समान काला है । यह अमूर्त तत्त्व-शक्तिरूप है, इसका बीज है ‘ॐ’ । इसके अधिष्ठात्री देवता है—ईश्वर । प्राणोंको स्थिर करके दृदयमें इसका चिन्तन करना चाहिये । इसकी भावना जब पाँच घटिकातक होने लगती है, तब ऐसा अनुभव होता है कि मैं वायु हूँ । अभि मेरा ही एक चिकित्स है । इस अनन्त आकाशमें सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी आदिको मैंने ही-धारण कर रखा है । यदि मैं नहीं होता तो ये सब इस स्थूलमें निराधार कैसे रिक पाते ? मेरी सत्ता ही इनकी सत्ता है । प्रथेक वस्तुमें जो आकर्ण-विकर्षण शक्ति है, वह मैं ही हूँ । ये ब्रह्माण्ड-मण्डल मेरे ब्रीड़ा-कन्दुक हैं, मैं गतिस्वरूप हूँ, सबकी गतियाँ मेरी कला हैं, समुद्रमें मैं ही तरङ्ग उछालता हूँ । बड़े-बड़े चूँकोंको ब्रह्मोरकर मैं ही पुष्प-वर्षा करता हूँ । सबका श्वासेच्छ्वास बनकर मैं ही सबको जीवन-दान कर रहा हूँ । मेरी गति अवाक्षय है । शास्त्रोंमें कहा गया है कि यह वायु-धारणा सिद्ध होनेपर साधक निर्द्वन्द्व भवते आकाशमें विचरण कर सकता है । जिस स्थानमें वायु नहीं हो, वहाँ भी वह जीवित रह सकता है । वह न जल्से गलता, न आगसे जलता, न वायुसे सूखता । बुद्धापा और मौत उसका सर्व नहीं कर सकती ।

आकाशकी धारणाका प्रकार निष्प्रलिखित है—भौंहोंके

बीचसे भूवार्षयन्त आकाशमण्डल है । समुद्रके शुद्धनिर्मल जलके समान इसका वर्ण है । इसका बीज है ‘हं’ । इसके अधिष्ठात्री देवता है—आकाशस्वरूप भगवान् सदाशिव । शुद्ध-स्फटिकके समान इतेवर्ण है, जटापर चन्द्रमा है, पाँच मुख, दस हाथ और तीन आँखें हैं । हथोंमें अपने अख-शश्व लिये हुए, दिव्य आभूषणोंसे आभूषित, वे समस कारणोंके कारण, पर्वतीके द्वारा आलिङ्गित, भगवान् सदाशिव प्रसन्न होकर वरदान दे रहे हैं । प्राणोंको स्थिर करके पाँच घटिकापर्यन्त धारणा करे । इसका अभ्यास करनेसे ऐसा अनुभव होता है कि मैं आकाश हूँ । मेरा स्वरूप अनन्त है, देश, काल सुझमें कल्पित हैं । मैं अनन्त हूँ, इसलिये मेरा कोई अंश नहीं हो सकता । मेरी सम्पूर्ण विशेषताएँ, मनके द्वारा आरोपित हैं । मन ही मुक्तमें हृदयका और वाहाकाशकी कल्पना करता है । मैं घन हूँ, एकरस हूँ । न मेरे भीतर कुछ है और न तो बाहर । मैं सन्मान हूँ । इस आकाश-धारणाके सिद्ध होनेपर मोक्षका द्वारा खुल जाता है, सारी सुष्टि भनोमय हो जाती है । सुष्टि और प्रलयका कोई अस्तित्व अथवा महत्व नहीं रह जाता, मृत्युके वाच्यार्थका अभाव हो जानेसे केवल उसका लक्ष्यार्थ शेष रहता है, जो अपना स्वरूप है ।

इन धारणाओंका साधारण क्रम यह है कि पहले पृथिवी-मण्डलका चिन्तन करके उसको जलमण्डलमें विलीन कर दे, जलमण्डलको अभिमण्डलमें, अभिमण्डलके वायुमण्डलमें और वायुमण्डलको आकाशमें । इस प्रकार क्रमशः कार्यको कारणमें विलीन करते हुए सबको परम कारण सदाशिवमें स्थापित करे और अस्ततः सदाशिवको आत्मस्वरूप, परमात्मस्वरूप जानकर उन्हें कि स्वरूप-रूपसे स्थित हो जाय । इस विषयमें अनुभवी योगियोंको ऐसा उपदेश है कि प्रथेक मण्डलका चिन्तन करते समय प्रणवके द्वारा तीन-तीन प्राणायाम करके कार्यमण्डलको कारण-मण्डलमें इवन कर दे ।

ॐ अमुकमण्डलम् अमुकमण्डले उहोमि स्वाहा ।

इसी प्रकार सम्पूर्ण मण्डलोंका लय करके अपने शुद्ध स्वरूपमें स्थित हो जाना चाहिये ।

ब्रह्मवेता परम योगी देव-बैद्य अक्षिनीकुमारोंने कहा है कि सबके शरीर पञ्चमीतिक हैं, इन शरीरोंमें तीन तत्त्व हैं—ब्रात, पितृ और कफ । पञ्चभूतोंकी इस धारणासे ये तीनों तत्त्व शुद्ध हो जाते हैं । अग्निधारणासे ब्रातज दोष, पृथिवी

और जलधारणासे अनेक दोष निवृत्त हो जाते हैं। वायु-धारणासे पित्तज और स्टेम्बज दोष नष्ट हो जाते हैं। आकाश-धारणासे त्रिदोषजनित सम्पूर्ण रोग नष्ट हो जाते हैं।

पञ्चभूतोंकी इस धारणासे कैसे-कैसे विचित्र अनुभव होते हैं, इसका बड़ा सरस वर्णन योग्याशिषान्तर्गत निवारण-प्रकरणके उत्तरार्द्धमें अद्वारितें सर्गसे बानचे सर्गतक हुआ है। उसको पठनेवे आनन्दका बड़ा विकास होता है। विश्वारभयसे यहाँ उसका उल्लेख नहीं किया जा सकता। साधकोंको

वहीं उसका अनुशीलन करना चाहिये। इस धारणासे यह अनुभूति तो बहुत ही सीम होने लगती है कि यह स्थूल प्रेषण मनोभय है। आगे चलकर मनकी चिन्मयताका अनुभव होता है और यही जड़स्फुर्ति और जड़त्ववासनासे शून्य अन्तःकरणकी शुद्धि है। जब इस शुद्ध अन्तःकरणमें तत्त्वोंको स्तीकार करनेकी योग्यता आ जाती है तब उस विशुद्ध एकरसतत्त्वका बोध होता है। यह बोध ही समस्त साधनोंका चरम और परम फल है। शा०

पञ्चामि-विद्या

(लेखक—पण्डित श्रीजैहरीलालजी शर्मा, सांख्ययोगाचार्य, विद्याधुरीण, विश्वासागर)

उपनिषदोंकी अनेक विद्याओंमें से एकका नाम है पञ्चामि-विद्या। यह पुनर्जन्मका सिद्धान्त बतानेवाली विद्या है। मृत्युके अनन्तर किसका जन्म होता है और किसका नहीं, और जिनका होता है उनका किस प्रकार होता है? इन शातोंका समावेश इस विद्यामें है।

स्थूलशरीरको त्यागनेपर जीव सूक्ष्मशरीरके साथ ही-साथ स्थूलशरीरको जाता है और फिर एक निर्विकृति क्रमसे वापस आता हुआ जन्मान्तरमें स्थूलशरीरको पाता है। उपनिषद्भेदे इस तत्त्वको निम्न प्रकारसे समझाया है। अग्रिमें किसी वस्तुकी आहुति डालनेपर उस वस्तुका रूपान्तरमें परिवर्तित होकर हवामें उड़ जाना हम सभीके अनुभवमें आया है। तोलाभर धी अग्रिमें डालनेसे वह सुगन्धमय धूमके रूपमें बदलकर वायुमें मिल जाता है। धी और उसका उत्तराकालीन परिवर्तित रूप तत्त्वदृष्टिसे एक ही वस्तु है। रासायनिक विश्लेषणकी प्रक्रियाके ही कारण धीमें इतना परिवर्तन हो जाता है और इस परिवर्तनका कारण अग्रिम है।

इस प्रत्यक्ष दृष्टान्तकी सहायताको लेते हुए शृण्यियोंने बतलाया है कि कित प्रकार एक देहको छोड़नेसे दूसरे देहको ग्रहण करनेतक जीवका शरीर अनेक रासायनिक परिवर्तनोंको प्राप्त करता है।

मुत जीवका सूक्ष्मभूतभय शरीर अद्वा कहा जाता है और 'उप्' भी कहलाता है, क्योंकि उस समय उसमें जल-तत्त्वकी प्रभानता रहती है। इस अद्वाका संयोग होता है 'स्तोम्' से और जहाँ यह संयोग होता है, उसको 'परलोक'

कहते हैं। यह प्रथम रासायनिक परिवर्तन भूमिसे ऊर्ध्व प्रदेशमें—अन्तरिक्षमें होता है, अतएव इसे परलोक कहते हैं। परलोकरूपी प्रथम अग्रिमे 'अद्वा' की आहुतिसे इस प्रकार 'स्तोम्' होता है।

यही 'स्तोमरस' पर्जन्यरूपी अग्रिमे पड़कर 'वर्षा' रूपमें परिवर्तित होता है। अतएव पर्जन्य द्वितीय अग्रिम है।

तदनन्तर वर्षाका जल अन्नस्फुर्ति में परिवर्तित होता है और पृथिवीमें इस प्रकारके परिवर्तन होनेके कारण पृथिवीको तुलीय अग्रिम कहा जाता है।

यह अब फिर वीर्यरूपमें परिवर्तित होता है और पुरुष-शरीरमें इस परिवर्तनके होनेके कारण युरुपको चतुर्थ अग्रिम कहा जाता है।

अन्तमें वीर्य ही गर्भरूपमें परिवर्तित होता है और पक्षिमें इस परिवर्तनके होनेके कारण वह पञ्चम अग्रिम कहलाती है।

इस प्रकार पाँच अग्रिमों (Stages of transformation) में होता हुआ 'अद्वा' नामक द्रव्य 'गर्भ' रूपमें आता है। गर्भ वीर्यसे, वीर्य अजसे, अज वर्षसे, वर्षी सोमसे और सोम अद्वासे होता है।

अद्वासे लेकर गर्भतक पाँच दशाएँ बतलायी गयी हैं। जीव अन्तःकरणविहित ही इन पाँचों दशाओंमें रहता है। जिस प्रकार गर्भाशयमें स्थित रजोवीर्यसे उत्पन्न शरीरमें जीव और उसके सूक्ष्मशरीरका सम्पर्क रहता है, उसी प्रकार वीर्यमें, अग्रिमें, वर्षमें और सोममें भी जीवके साथ अन्तःकरणका सम्पर्क रहता है।

प्रथम देहत्यागके अनन्तरकी अवस्थाको भद्रा कहा गया है। यह यह स्थिति है, जिसमें जीवकी अग्रिम यात्राका निश्चय होता है। 'यो वच्छ्रुः स एव सः'।

जन्मभर सत्कर्मोंके अनुशासनसे मरणानन्तर भी शुभ भद्रा ही रहती है और दुष्कर्मोंके आचरणसे दुष्ट भद्रा रहती है। अग्रिम जन्मका निर्णय ही जोनेपर जीव अपने अन्तःकरणके साथ-ही-साथ सोमावस्था, जलावस्था, अचावस्था, वीर्यावस्था और गर्भावस्थाके स्थूल पञ्चभूतोंमें निवास करता है और अन्तिम अवस्थासे ही भूमिपर जन्म लेता है। जन्मानन्तर यूक्ष्मशरीरसंयुक्त जीवसे अधिकृत स्थूलशरीरमें ही बाल्य, यौवन और जराका परिणाम होता है।

इस प्रकार श्रद्धा वा कर्मानुसार जीव संसारमें आवागमनका चक्र आठों चक्रोंके बाटों रहता है और चौराशी लाख

योनियोंमें धूमता-फिरता सुख-दुःखमोहात्मक दशाओंमें रहता रहता है।

जन्म-मरणके चक्रको पितृयान भी कहा जाता है और कृष्ण-गति भी। अज्ञानका रंग काला माना गया है, अतएव अज्ञानसे होनेवाले जन्म-मरणको कृष्ण-गति (Black Route) कहते हैं।

इसके विपरीत शानका वर्ण शुक्र माना गया है और इचलिये शानसे होनेवाली मुक्तिकी दशाको शुक्र गति कहते हैं। शुक्र गतिको देवयान भी कहते हैं।

शुक्र गतिमें अन्तःकरण वा सूक्ष्मशरीर भी हट जाता है। तब आत्मा अपने विशुद्ध रूपमें निवास करता हुआ चिदानन्दका उपभोग करता है।

भीमा और नीराके पवित्र सङ्घमपर

(लेखक—‘शान्त’)

(१)

अभी सूर्योदय होनेमें विशेष विलम्ब या। अस्त्रोदयकी अरुणिमा भी स्पष्टरूपसे नहीं दीख रही थी। बायुमण्डल शान्त था, मलघञ्ज पवनके शीतल झोंके रह-रहकर क्षु आया करते थे। इतनी दान्ति थी उस समय कि नृथ भी सोये हुए-से जान पड़ते थे; तारे टिठके हुए और चन्द्रमा समुद्रके पास। भीमा और नीराके सङ्घमपर जो विशाल बठ्ठक था, उसकी एक लम्ही शावापर दो श्वेत पक्षी जाग रहे थे और केवल वे ही जाग रहे थे। जैसे भीमा शान्त थी और नीरा चञ्चल, वैसे ही उन दोनों पक्षियोंमें भी एक गम्भीर था और दूसरा उत्सुक। गम्भीर पक्षी बड़ा था और चञ्चल छोटा। छोटे पक्षीकी आँखें इधर-उधर ढौङ जाती थीं और कोई ननी बस्तु देखकर वह पूछ बैठता था कि यह क्या है। उस शान्त, नीरव ब्रह्मवेलमें केवल दो ही प्रकारके शब्द थे—एक तो नीरा नदीकी कलहलच्चनि और दूसरे उस चञ्चल पक्षीके चापल्य-निश्चित, उत्सुकतामरे बाल्येवित प्रश्न।

भीमा और नीराके मधुर सङ्घमकी ओर, जो दो प्रिय सत्यियोंके मिलन-जैसा आनन्दमय था, दृष्टि जाते ही छोटे पक्षीको एक नवीन हृदय दीख पड़ा। एक युवक, जिसकी

रेख अभी भिन्नी नहीं थी, झीनी-सी चादरसे अपना शरीर ढके हुए, स्वस्तिकासनसे ध्यानमग्न बैठा हुआ था। न उसकी साँस चलती दीखती थी और न उसके शरीरमें तनिक भी श्वन्दन था। उसके जीवनका चिह्न इतना ही था कि वह शान्त, स्थिर और गम्भीर मुद्रासे बैठा था। छोटा पक्षी उसको जाननेके लिये चञ्चल हो उठा। उसने बड़े पक्षीको सम्मोहित करके पूछा—‘मैया! यह कौन है, क्या कर रहा है? तुम तो अन्तर्यामी हो, इसके मनकी सारी वातें जानते हो, मुझे बताओ। इसके चित्तकी स्थिति जाननेके लिये मेरे मनमें बड़ा कुतूहल है।’ बड़ा पक्षी, जो इस था, उस समय बड़े शान्त भावसे उस युवककी ओर ही देख रहा था। मानो युवकके हृदयकी प्रत्येक गति-विधि उसकी आँखोंके सामने हो। और वह उसे देख-देखकर मुध हो रहा हो। हंसने छोटे पक्षीको सम्मोहन करके कहा—वत्सल! मैं प्रायः दुम्हारे प्रश्नोंको दाल दिया करता हूँ। इसका यह कारण नहीं है कि मैं दुम्हारी उपेक्षा करता हूँ। बात इतनी ही है कि जब मैं स्थूल जगत्‌को छोड़कर सूख्म जगत्‌के किसी गम्भीर रहस्यके चिन्तनमें संलग्न रहता हूँ, तब तुम इतने उथले प्रश्न करते हो, ऐसी चर्चा छेड़ देते हो, जिसके कहने-सुनने, समझानेमें

दृढ़ ही नहीं होती। परन्तु आज अभी इस समय जो तुमने प्रभ किया है, वह इस अवसरके अनुकूल ही है; क्योंकि जो मैं मनकी आँखोंसे देख रहा हूँ, वही तुम पूछ रहे हो। कितनी तन्मयता है उस युक्तमें, कितनी लगत और तल्लीनताके साथ तत्पर है वह अपनी साधनामें! ऐसा मात्रम पहला है कि साधनाका लम्बा सार्थ यह कुछ क्षणोंमें ही समाप्त कर देगा। मैं तो इसके अन्तर्देशके दर्शनसे ही ध्यानस्थ हो रहा हूँ। ध्यान करनेवाला किस प्रकार ध्यान कर रहा है, उसके चित्तमें इस समय किन-किन मार्योंका उदय और विलय हो रहा है, उसके चित्तके चबूतरेपर कौन कौन-सी मूर्तियाँ आकर नाच जाती हैं, उनको देखकर वह किस प्रकार आनन्दविमोर हो जाता है—इन बातोंकी कल्पनासे ही अन्तःकरणमें एक अपूर्व सुख-शान्तिका अनुभव होता है। इस समय यह धीर युवक भगवान्की मधुर और भोगक लीलाओंमें रम रहा है; इसके मन, प्राण, शरीर और रोम-रोममें भगवान्की दिव्यता अवतीर्ण हो रही है। इसकी एक-एक वृत्ति भगवान्को लेकर ही उठ रही है और भगवान्में ही विलीन हो रही है। इस समय यह पवित्रता, शान्ति और आनन्दकी विवेकीमें उन्मत्तन-निमत्तन कर रहा है, छब्ब-उत्तरा रहा है। कितनी महसी है इसमें! देखो तो सही, इसके शरीरमें प्रकाशकी कैरी किरणें निकल रही हैं। इसका सुखमण्डल ज्योतिर्मय हो रहा है, इसके हृदयसे शान्ति और आनन्दकी धारा प्रवाहित होकर आसपासके सम्पूर्ण जह-चेतनाको एक दिव्य प्रेम और रससे सराबोर कर रही है। ऐसा जान पहला है कि यदि इसी प्रकार इसका ध्यान चलता रहा तो योड़े ही समयमें इसकी सम्पूर्ण प्रकृतिका परिवर्तन हो जायगा और न केवल इसका अन्तःकरण ही, बल्कि स्फुटशरीर भी अत्यन्त दिव्य और नाराशयमय हो जायगा।

बत्सलने कहा—“हे राजमरण! दिव्य भगवान्की कृपासे आपको महान् सिद्धि प्राप्त है; आप दूरकी वस्तु देख सकते हैं, दूसरेके मनकी बात जान सकते हैं; भूत और भवित्व, दूर और निकटकी सभी वस्तुएँ आपके लिये करामलक्षण हैं। आपसे कोई भी रहस्य अज्ञात नहीं है। आप मेरी उत्सुकताको मिटानेके लिये कृपा करके यह बतलाइये कि इसने किस प्रणाली और किस क्रमसे ध्यान किया है, जिससे इसे इतनी तन्मयता प्राप्त हो गयी।” राजमरणलने कहा—“यत्सल! यह विषय अत्यन्त गोपनीय है, पिर भी तुम्हारे आग्रह

और प्रेमकी देखते हुए न बताना अनुचित जान पड़ता है। इसलिये सावधानीसे सुनो। मैं तुम्हें इसके ध्यानकी गाढ़ताका कारण बतलाये देता हूँ। नित्य कर्म—सन्ध्यावन्दन आदिके नियमपूर्वक अनुष्ठानसे इसके सम्पूर्ण अङ्गों और हन्दियोंके देवता अनुकूल तथा प्रसन्न हो गये हैं। वे ध्यानकी स्थितिमें किती प्रकाराके विभिन्न भालते। ध्यानके समय वे स्वयं ही इसके शरीर और हन्दियोंको स्थिर और अविचल कर देते हैं। यम-नियमके पालनसे और इस हृद निश्चयसे कि ‘अब मैं कभी पाप-कर्म नहीं करूँगा’ पाप-वासनाएँ तो इसके चित्तमें उठती ही नहीं। प्राणायाम और विचारके द्वारा इसने शुभ कर्मकी वासनाओंका भी तन्त्रकरण सम्पन्न कर लिया है। भूत-शुद्धि और मन्त्र-चैतन्यकी क्रियासे इसके अन्तःकरण और इष्ट-मन्त्रमें भी विशिष्ट शक्तिका विकास हो गया है और अब यह इच्छा करते ही एकाग्र हो जाता है। किसना निश्चद और भावप्रवण हो गया है इसका चिन्त, इस बातके आज मैंने प्रत्यक्ष देखा। आज ब्रह्मवेलके पूर्व ही जब यह यहाँ आकर बैठा और मेरे देखते-देखते ही अन्तर्मुख होकर भावलोकमें प्रवेश कर गया, तब मैं आश्चर्यचकित हो रहा था।

“इस युवकने पहले अभिग्राहकी भावना की, अनुभव किया कि भेरे चारों तरफ एक ज्योतिर्मय चहारदीवारी है और उसके बीचमें मैं सुरक्षितरूपसे बैठकर परमात्माका चिन्तन करने जा रहा हूँ। किसी प्रकारकी दुर्भावना और दुर्वासनाएँ मेरा सर्व नहीं कर सकती।” यह हृद निश्चय करके इसने अपने सर्वज्ञमें कीर्ति आदि शक्तियोंके साथ केशवादिका न्याय किया, जिससे इसके शरीरकी सम्पूर्ण अपवित्रताएँ धुल गयीं और शरीरमें दिव्यता जा गयी। तत्पञ्चात् पीठन्यास करते हुए इसने सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमण्डल और लोकोंको यथास्थान शरीरमें स्थापित किया। इसने क्रमशः ऐसी भावना की कि यह समूर्ण जगत् ब्रह्ममें स्थित है, इसके अधिष्ठान ब्रह्म हैं। इसलिये यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममय है, ब्रह्मस्वरूप है। ब्रह्मकी वह शक्ति भी ब्रह्म ही है, जिसने ब्रह्ममयी प्रकृतिको धारण कर रखा है। ब्रह्ममें आधारशक्ति, आधारशक्तिमें प्रकृति, प्रकृतिमें एक ब्रह्माण्डमण्डलके धारण करनेवाले व्यक्तरूपसे विराजमान कूर्म भगवान् और उनके आधारपर स्थित दीप भगवान्, जिन्होंने यह पृथ्वी धारण कर रखी है। पृथ्वीपर अनन्त विस्तृत उत्ताल तरङ्गोंसे तरङ्गायमान ध्वलातिचवल शीरसागर—जिसमें नाना प्रकारके रङ्ग-विचक्षे क्षमलोंके आसपास अनेकों हंस, सारस आदि दिव्य पक्षी कीड़ा कर रहे हैं और

जिसके मध्यमामार्गे बहा ही विशाल साच्चिकताका साम्राज्य खेतदीप है—हिलोरे ले रहा है। योतदीपमें लताओंके कुञ्जमें मणियोंका सुन्दर मण्डप है और उस मण्डपके अन्तर्गत प्रेमके पुण्य और आनन्दके फलोंसे परिपूर्ण एक दिव्य कल्पवृक्ष है; जिसकी दिव्य सुरभिसे सारा संसार सुवासित हो रहा है। कल्पवृक्षके नीचे मणियोंकी बेदी है और उसपर रक्षाइटि सिंहासन है।”

राजमरालने कहा—“व्यारे वत्सल ! अभी थोड़ी ही देर पहलेकी तो बात है, इन्हीं दिव्य वस्तुओंकी भावना करते-करते यह युवक इस स्थूल सारका उल्लङ्घन कर गया है और दिव्य लोकमें प्रविष्ट हुआ है। वहाँ जाते ही इसने उस रक्षितात्मनपर जो अनेन सान्त स्वरूपमें अनन्तको छिपाये हुए था और अनन्त होनेपर भी सान्त दीख रहा था, द्वादशकलात्मा सूर्य, शोदशकलात्मा चन्द्रमा और दशकलात्मा अग्निको देखा और क्रमशः और यी अन्तर्वर्गतमें प्रवेश करता गया। वहाँ इसने सत्य, रज, तम—इन तीनों गुणोंको देखा; तीनों अवस्थाएँ इसके सामने नाच गयीं; उनके अग्निमानी भी आये और नमस्कार करके चले गये। इसने आत्मा, अन्तरात्मा और ज्ञानात्माके प्रत्यक्ष देखा। इस विष्णुद्वे प्रेम और ज्ञानके राज्यमें, जहाँ दोनोंका एकत्व है, पहुँचते ही इस युवकके सामने भगवान्‌का लीलालोक प्रकट हो गया है। इस समय यह नारायणके शश्वत्त्वक-गदा-पद्मधारी, वर्धकालीन मेघके समान सुन्दर, पीताम्बर और हुए, भधु, मञ्जुल, मञ्जुलमय स्वरूपकी सेवा कर रहा है। इसने अभी कुछ ही क्षण पहले भगवान्‌का चरणामृत लिया है, उन्हें अपने हाथसे माला पहनायी है, अनेकों प्रकारके फल-मूल और व्यञ्जनके नैवेद्य लगाये हैं। और प्रेमार्थके आग्रह करके भगवान्‌को खिलाये हैं। कितने प्रेमी हैं भगवान्, प्रेमका प्रतिदान तौ केवल वे ही जानते हैं। वे नित्यतृष्ण हैं और अपनी अखण्ड महिमामें स्थित हैं, फिर भी प्रेमपरवश होकर अपने भक्तोंके लिये ब्याक्षा नहीं करते। भगवान्‌ने इसकी सेवा सौंकारकी है, इसे अभयदान दिया है और अपनाया है। इस समय प्रेमसुख होकर आरती करता हुआ यह भगवान्‌के सामने नाच रहा है और इसके शरीरमें क्रमशः आठों साच्चिक भाव उदय हो-होकर अपनेको सार्थक कर रहे हैं।”

वत्सलने पूछा—“राजमराल ! तुम्हें तो इसका भविष्य भी शात है; अब आगे बया होगा, यह बतलानेकी कृपा करो।” राजमरालने कहा—“अब प्रातःकाल होनेपर आया।

मुझे यहाँसे बहुत दूर, पण्डरपुरसे पचास मीलपर गुप्तलिङ्ग भगवान् शङ्करका दर्शन करने जाना है; इलिये मैं तो अब चलता हूँ। इसका ध्यान अभी शीघ्र इटनेवाला नहीं, इसका शरीर भी नारायणमय हो जायगा। अभी तो मैं चढ़ूँ।” वत्सलने कहा—“राजमराल ! मुझे भी अपने साथ ले चलें।” राजमरालने अनुमति दी और दोनोंने एक ही साथ बहाँसे यात्रा की।

(२)

महाराष्ट्रमें भगवान् शङ्करके आठ लिङ्ग अन्यत ग्रसिद्ध हैं। उनमें सात प्रकट हैं और आठवाँ गुप्त। वडे महादेव, जो कि हरिहरात्मक लिङ्गमूर्ति हैं, शिवाजीके पूर्वजोंके द्वारा चिरकालसे पूजित हैं। उनके दर्शनमात्रसे आज भी जीवोंके अन्तस्तलमें एक अलौकिक पवित्रताका सज्जार होता है। वहाँसे थोड़ी ही दूर, एक कोसके लगाभग दो पर्वतोंकी संन्धिमें भगवान् शङ्करका गुप्त लिङ्ग है, वहाँ हरे-भरे, सुन्दर-सुन्दर, दृश्य हैं। बारहों मास बहनेवाले ज्ञानने हैं। दो-तीन छोटे-छोटे कुटीर हैं, जिनमें कमी-कमी दो-एक साथ रह जाते हैं और कभी कोई नहीं रहता। गुप्तलिङ्ग भगवान्‌के ठीक ऊपर पर्वतशङ्खपर पीपलके कई बड़े-बड़े बृक्ष हैं। उनमें एक तो मानो वहाँके बुश्योंका राजा ही है। थोड़ी हवामें भी जब उनके पाते बड़बड़ा उठते हैं, तब ऐसा जान पड़ता है मानो भगवान् शङ्करका डमरु बज उठा हो। उस स्थानकी अनन्त महिमा है और अनन्त सौन्दर्य है। राजमराल प्रतिदिन वहाँ जाकर ज्ञानमें ज्ञान करते, शिवकी पूजा करते, पीपलपर बैठकर उनका ध्यान करते। यही उनका सहज कर्म था। न इसमें परिश्रम था और न कृतिमता। जैसे स्वभावतः प्राण चला करते हैं, वैसे ही उनके शरीरसे यह किया हुआ करती थी।

प्रतिदिनकी अपेक्षा आज कुछ विशेषता थी। रोज वे अकेले रहते थे, आज दो थे। जब वे नित्य-कृत्य समाप्त करके बड़ी शान्तिसे पीपलबी एक शालापर बैठे, तब वत्सलने पूछा—“भैया ! उस युवककी क्या स्थिति होगी, अब उसका इस समय क्या भाव होगा ? वह क्या अनुभव करता होगा ?” राजमराल उस समय ध्यानस्थ हो रहे थे, वे किसी भी प्रश्नका उत्तर देना नहीं चाहते थे। वस्तु उनका सब देखरक जुप हो रहा। परन्तु उसके मनमें इस बातकी बड़ी छटपटी थी कि उस युवककी क्या स्थिति है। थोड़ी देरके बाद वत्सलने देखा राजमरालकी आँखोंसे आँखूकी

धारा वह दूही है, शरीर काँप रहा है, सरे शरीरपर रसेद-विन्हु हैं और मुखमष्ठल प्रेमकी ज्योतिसे जगागा रहा है। राजमरालकी यह दशा देखकर वस्तलके उनके शरीरकी बड़ी चिन्ता हो गयी और वह उन्हें अपने पश्चके पश्चें इवा करने लगा एवं अनेकों प्रकारसे उन्हें जगानेकी चेष्टा करने लगा। बहुत उपचारके बाद जब वे होशमें आये और स्थाय हुए, तब वस्तलने पूछा—“मैया, यह तुम्हारी क्या दशा हो गयी थी? किस अनुभूतिमें तुम छू गये थे? तुम्हारे लिये ऐसी कौन-सी अननोनी वस्तु है, जिसे देख-सुनकर या सरण करके तुम विड़ल हो जाते हो? मेरे प्रश्नको सुनातक नहीं। यदि कोई अल्पत रहस्याकी बात न हो तो वस्तलनेकी कृपा करो।” राजमरालने बड़े प्रेमसे कहा—“भाई वस्तल! तुम तो मेरा समझ जीवन ही पूछ रहे हो। मैं जब अपने जीवनकी अतीत घटनाओंका सरण करता हूँ तो भगवानकी अहैतुकी कृपा, उनके प्रेम और अपने महत्वपर उनके वरद कर-कमलोंकी खूबाया देखकर उन्हेंके सरणमें विड़ल हो जाता हूँ। मुझे अपने तन-बदनकी मुखि नहीं रहती। देखो न मैं क्या था, क्या हो गया? कहाँ तो एक पक्षी हंस और कहाँ भगवानकी इतनी महान् कृपा! मेरा जीवन बन्य हो गया, प्रसुकी कृपासे।”

“सारी घटना सरण हो आयी है, कहे जिना रहा नहीं जाता।” यह कहकर राजमरालने फिर बोलना आरम्भ किया—“तुम कैलासपर्वतको तो जानते ही हो, वहाँसे वहि वहाँ जाना हो तो शत-शत पर्वतमालाओंको पार करना पड़ता है। वहीं गौरीशङ्कर चोटीके पास बड़ा विशाल मानस-सर है, जिसमेंसे भक्ति और जनके समान ब्रह्मपुत्र और सिंधु—ये दोनों नद प्रवाहित हुए हैं। मैं उसी मानस-सरके निवासी हूँ। मैं वहाँ अकेला न था, कोटि-कोटि इंस वहाँ निवास करते हैं। उन्हमें एक मैं भी था। सब-के-सब मानस-सरमें कीड़ा करते थे, कमलोंसे खेलते थे; सब-के-सब शुद्ध सात्त्विक थे, प्रेमी थे और नीर-क्षीरविवेकी थे। एक बारकी बात है—सभी इंस इकडे थे, अपनी विवेकशक्तिकी चर्चा चल रही थी। इंसोंकी जाति बड़ी विवेकवती है, पानीमेंसे दूधको अल्पा कर लेती है; यही सबसे महान् जाति है। ऐसी एक भी समस्या नहीं, जिसे यह हल न कर सके। उनी सभामें एक प्रश्न छिका—“इमलें जो मोती तुगते हैं, वे क्या कीज़ हैं? उनकी उत्तरित कैसे? किससे?” इस प्रश्नका उत्तर सहसा कोई नहीं दे सका। अन्तमें यह निर्णय हुआ

कि सब लोग इस प्रश्नपर विचार करें। जो इसका ठीक-ठीक उत्तर देगा, वह हमलोगोंका राजा होगा और मानस-सरके बीचोंबीच जो सभसे बड़ा कमल है, वही उसको आसनके स्थानमें प्राप्त होगा। जिनकी विचारशक्ति प्रत्यक्षर थी, उन्होंने उस स्थानको प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न आरम्भ किया। छः महीनेकी अवधि रक्खी गयी।

“मेरे मनमें न तो उस स्थानका प्रलोभन था और न मेरी विचारशक्ति ही प्रत्यक्षर थी। परन्तु यह प्रश्न मेरे चिन्तमें भी उठा किंजो मोती हमलोग तुगते हैं, वे क्या हैं; इन्हें किसने, किसलिये बनाया है? केवल मोतीके ही सम्बन्धमें नहीं, सम्पूर्ण जगत्के और अपने सम्बन्धमें भी यही प्रश्न उठ खड़ा हुआ। मैंने अबतक कोई साधन-भजन तो किया नहीं था, सत्सङ्कल्पा अवसर भी कम मिला था; ऐसी विचारशक्ति मैं स्वयं क्या विचार सकता? सामने केवल निराशा-ही-निराशा थी। आशा थी तो बह, एक—गौरीशङ्करकी चोटीपर रहनेवाले भगवान् शङ्करको पानेकी—जिन्हे मैंने कभी देखा नहीं था, अहैतुक जानेकी मुस्कम्मे शक्ति नहीं थी; परन्तु जिनके पास आकाशमार्गसे जाते हुए सिर्द्धों, संतों, शृष्टियों और देवताओं-को मैं देखा करता था। आशा थी तो केवल उनकी ही। चिन्तसे प्रश्न टला नहीं था, समाधानका कोई उपाय न था। चिन्तमें इतनी व्याकुलता हुई कि जीवन भार हो गया। भला, वह जीवन किस कामका जिसमें एक तिनकोका भी यथार्थ शान नहीं है—और तो क्या, अपने आपका भी शान नहीं है। अब मैं चूँगा भगवान् शङ्करके पास; यदि रास्तेमें भर जाऊं तो इस अशानावृत जीवनसे वह मरना भला ही है; और यदि जीते-जी व्याहैतक पहुँच जाऊँ तो सारा भेद आप ही खुल जायगा। ऐसा निश्चय करके मैं उड़ा—गौरीशङ्करकी उस चोटीपर चढ़नेके लिये, जहाँ अवधूतके वेशमें भगवान् शङ्कर निवास करते हैं।

“मैं उड़ा, उड़ता ही गया; न जीवनका मोह था न लोभ। इसलिये कष्टोंकी परवा भी न थी। कितनी दूरतक कुहरा पड़ा और कितनी दूरतक अन्धकार, कहाँ जाइसे ठिठुरकर गिर पड़ा, कहाँ ठोकर खाकर—इन सब बातोंकी कोई याद नहीं है। आगे चलकर तो मेरा शरीर उड़ रहा है या नहीं—यह भी भूल गया, केवल मन-ही-मन उड़ता रहा। जब होशमें आता तब शरीर भी उड़ता और मूँचित हो जाता तो कहीं गिर पड़ता। एक बार ऐसे जोरकी ठोकर लगी कि मैं तिलमिला उड़ा, शरीर बेबल हो गया; परन्तु ऐसी आश्चर्य-

जनक घटना घटी कि मैं अलग या और शरीर अलग। शरीरको ढोकर लगनेसे मुझे तनिक भी व्यया नहीं हो रही थी। मैं स्वयं आइचर्चकित हो बोल उठा—‘अरे ! तो क्या मैं शरीरसे अलग हूँ ? क्या मेरा शरीर ही थापड़ होकर पड़ा है, उसके साथ मन भूर्जित नहीं हुआ ?’ शरीर एक व्यक्ति है, मन भी एक व्यक्ति है; जगत्के सम्पूर्ण शरीर और मन भिज्ज-भिज्ज व्यक्ति हैं। शरीरसे मनका और मनसे शरीरका सम्बन्ध है। ये जब जागरित रहते हैं तब पृथक्-पृथक्, सूखत अथवा प्रलीन रहते हैं तब एक; यही समस्त व्यक्तियों-की एक समष्टि है। मोती स्थूल है, मेष स्थूल है; समुद्र कारण है, उसमें मेष और मोती अभिन्न हैं। स्थूल जगत्, सूखत जगत्मैं, दोनों कारण-जगत्मैं और मैं सबसे पृथक्, सबको देखनेवाला। मुझसे कारणका क्या सम्बन्ध है ? मैं ही तो कारणको देख रहा हूँ ? यह कारण मेरे अंदर है या बाहर ? अंदर है तो मुझसे भिज्ज क्यों ? क्या मैं ही कारण बन गया हूँ ? मुझ अनन्त, एकरस, निर्धिकार, देव-आल-बस्तु-परिच्छेदशूल्य, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदरहित चिद्यनमें कार्यकारणकी परम्परा कैसी ? केवल मैं-ही-मैं हूँ। ऐसा निश्चय होते ही मैं समाधिष्ठ हो गया ; कोई प्रश्न नहीं रहा। न आङुला थी, न बान्निं, बस, केवल मैं था।

“जब मेरी समाचि दूटी और मैंने अपने शरीरकी ओर देखा तो वह कैलासके एक निश्चरपर भगवान् गौरीशङ्करकी गोदमें था और वे अपने कृष्ण-कटाक्षोंसे उसे चींचते हुए मुस्करा रहे थे। माताकी वह स्नेहमयी मूर्ति, पिताका वह लोकोत्तर बरदान आज भी मेरी अँखोंके सामने नाच रहा है। उन्होंने अपने कर-कमलोंके स्पर्शसे मुझे जीवनदान दिया और मैं सचेतन होकर उनके चरणोंके पास लोटने लगा। उनका वह कर्पूरोज्ज्वल श्रीविघ्रह, उनकी वह करणामयी भूर्णि कमी भुलायी नहीं जा सकती। उनकी आशासे मैं हँसूमें लौट आया; मेरा अशान नष्ट हो गया, सम्पूर्ण समस्याएँ सुलझ गयीं।

“छठा महीना पूरा होते-न-होते, उसी मानस-समें फिर हँसूकी पञ्चायत इकड़ी हुई; सबने अपने-अपने विचार सुनाये। एकने कहा—‘स्वाती नश्वपर जब सूर्य आते हैं, तब सीपमें वर्षाका जल पड़नेसे मोती बनते हैं।’ इसलिये सीप और मेष तो निभिज्ज-कारण हैं और जल उपादान-कारण। इसी क्रमसे मोतीकी उत्पत्ति होती है। जलमें बो मोती निहितस्वरसे रहता है, वह स्वाती नश्वकी सूर्य-रसियों

और सीपके संयोगसे अभिव्यक्त हो जाता है। मोती पक बस्तु है—कारणस्वरूपमें नित्य और कार्यस्वरूपमें अनित्य। इसलिये उसकी पवित्रता अक्षुण्ण है। उसके कारणस्वरूपपर हाइ रखी जाय तो वह कमी दुःखद नहीं हो सकता।”

“दूसरेने कहा—‘यदि कारणमें सब बस्तुओंका अस्तित्व अलग-अलग स्वीकार किया जाय, तब तो उनका पारस्परिक सम्बन्ध जुड़ना असम्भव हो जायगा। जल पृथक् बस्तु है और उसमें स्थित मोती पृथक् बस्तु है, दोनोंका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है—ऐसा मान ले तो जलसे मोतीके अभिव्यक्त होनेका कोई अर्थ नहीं रह जाता।’ इसलिये कारणमें सब बस्तुओंकी अलग-अलग सत्ता है; ऐसा मानना युकिलज्जत नहीं है। कारण एक है, उसके परिणाम ही भिज्ज-भिज्ज कार्य हैं। मोती, सीप, मेष, सूर्य, समुद्र और जगत्की समस्त भिज्जताएँ, मूलतः एक ही बस्तुके परिणाम हैं। इसलिये प्रिय-अप्रिय और अनुकूल-प्रतिकूलका भेद केवल कार्यपर हाइ रखनेके कारण है। यदि वह स्थूल हाइ निवृत्त करके बस्तु-हाइ रखी जाय तो शोक-मोहके लिये कहाँ स्थान ही न रहे। इसलिये मोतीको मोतीके रूपमें नहीं, उस अद्वितीय कारणके रूपमें देखना ही निःप्रयत्न है।’

“मैं भी वही था, मेरे मनमें भी बोलनेकी आयी और मैं बोल उठा—‘भाई ! जब यह निश्चय किया जाता है कि कारण-दृष्टिसे सब एक ही है, तब निश्चय करनेवाल अपनेको किस कोटिमें मानता है ?’ उसका अस्तित्व तो निश्चिदाद है और उसे किसी-न-किसी कोटिमें भी होना ही चाहिये। ऐसी स्थितिमें यह प्रश्न उठता है कि निश्चय करनेवाला मैं कार्य हुँ अथवा कारण। यदि मैं कार्य हुँ तो कारणको जान ही नहीं सकता। और यदि कारण हुँ तो यह सम्पूर्ण जगत् मेरा ही परिणाम होना चाहिये। परन्तु मैं परिणामी तो नहीं हूँ। क्योंकि मेरा शान और सक्षित्व एकरस, निर्धिकार है; कार्य-कारण-परम्पराकी प्रत्येक स्थितिको मैं जानता हूँ। मैं शन-स्वरूप हुँ और यह कारण-कार्य-परम्परा मेरी हाइके अन्तर्गत है। मुझ अनन्तमें हाइ और हृष्य सम्भव ही नहीं। यह कारण-कार्य-परम्परा एक विवर्त है, जो स्वरूपमें सर्वथा असम्भव है। कहाँ मोती और कहाँ जल ! सब मैं-ही-मैं हूँ।’

“मेरी बात तबके समझमें नहीं आयी। कोई-कोई इस कियत्को अशेय कहकर मौन हो गये और किसी-किसीसे इसे अस्तीकार कर दिया। परन्तु जात यहाँतक नहीं थी, सर्वश्रेष्ठ

कमलके लिंगासनपर बैठना भी था। हँसीमें मतभेद हो गया। उस कोलाहलमें कुछ निर्णय कैसे होता है? परन्तु भगवान्, शङ्खरने वही कृपा की। वे माँ शीराके साथ उसी सर्वश्रेष्ठ कमलपर प्रकट हो गये। अकस्मात् उक्ती आँखें उनकी ओर लिच गयीं और उनके सामने सबके लिए हुक गये। भगवान्ने कहा—‘हँसो! तुम्हारे सामने जो प्रभ है, वह केवल मोतीके सम्बन्धमें नहीं है, वह तो सम्पूर्ण जगत्के सम्बन्धमें है और अपना आपा भी उससे अलग नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् निर्विकार आत्मस्वरूप ही है।’ न इसका आरम्भ है, न परिणाम और न विवर। यह एकरस, अद्वित, चिद्वजन और आनन्दधन है। ऐसी स्थितिमें राजमरालकी बातें ही सत्य हैं और वही सर्वोच्च आत्मके अधिकारी हैं।’

‘भगवान्, शङ्खरकी अहैतुकी कृपाको देख मैं चकित— सम्भित हो रहा था। परन्तु जब उन्होंने सर्वोच्च आसनकी बात कही, तब मेरी मुख्या भज्ज हुई और मैंने उनके चरणोंके पास जाकर आर्तस्वरसे प्रार्थना की—‘हे प्रभो! इस उपाधिसे मेरी रक्षा कीजिये, ऐसे काममें न तो मेरी सचित है और न प्रवृत्ति। अवश्य ही मेरे मनके सूक्ष्म प्रदेशमें इस विषयकी कोई गुप्त वासना होगी, जिसके कारण आप ऐसा कह रहे हैं; अन्यथा मैं तो यही चाहता था कि कहीं एकान्तमें रहकर आपके चरणोंका चिन्तन किया करूँ और फिर कभी इस जंजालमें न पहूँ।’ मेरे भाई-बन्धु और जातीय लोग तो यही चाहते थे कि मैं वही रहूँ और उन्होंके समान संसारके संश्टोंमें फँसा रहूँ। परन्तु मेरा अतिशय आग्रह देखकर भगवान्, शङ्खरने सुसे मुक्त कर दिया और अब मैं उनकी कृपासे स्वच्छन्द विचरण करता हूँ। उनके स्वरूप और कृपाकी कभी विस्मृति नहीं होती। जगत्की परस्परविरुद्ध घटनाओंसे मेरे चिन्तमें कभी किंतु प्रकारका धोष अथवा विकार नहीं होता। मैं प्रत्येक अवस्थामें ही अपनी मुक्तिको जानता और अनुभव करता हूँ। जब भगवान्की कृपा और वे घटनाएँ मुझे सरण हो जाती हैं, तब मैं यिहल ही जाता हूँ—न अपने शरीरकी सुधि रहती है न जगत्की।’

राजमरालकी आत्मकथा सुनते-सुनते वत्सल बहुत कुछ अन्तर्मुख हो गया था। वह उन्हीं घटनाओंको सोचते-सोचते, मन-ही-मन भानस्सर पहुँच गया था और उसे यह ध्यान ही न था कि मैं गुस्तिक्के पास पीपलपर बैठा हुआ हूँ। राजमरालने वत्सलसे कहा—“अब पण्डरपुर चलनेका

समय हो गया; आओ, आजकी रात्रि बहीं चलकर अतीत की जाय।” राजमरालकी बातसे वत्सलका ध्यान भज्ज हुआ और दोनोंने पण्डरपुरकी यात्रा की।

(३)

निस्तव्य निशीथ। भीमा नदीका पावन तट। विहँल-नाथके मन्दिरसे योही दूर, जहाँ भगवान्के चरण-चिह्न हैं, ठीक सामने एक वृक्षपर दो पक्षी बैठे हुए थे। यदि कोई देख सकता तो यही देखता कि उनके शरीर निष्कम्प हैं और उनके चित्तमें केवल पण्डरीनाथ भगवान्की स्मृति है। चिरकालतक वे बैसे ही बैठे रहे। वे देख रहे थे कि विहँल भगवान्की आरती ही रही है और उनकी श्रीमूर्तिपर बार-बार एक दिव्य ज्योति आती है और छिप जाती है। धण्टा-घडियाल बज रहे हैं और विहँल, विहँलकी आकाश-भेदी ध्यानसे दिशाएँ मुखरित हो रही हैं। बहुत समयतक वे हीसे ध्यानमें मग्न रहे। जब आँखें खुलीं तब उन्होंने देखा सामने भगवान्ने वे ही चरण-चिह्न विद्यमान हैं, जो भगवान्ने संशारी जीवोंके कल्याणार्थ थहाँ रख छोड़े हैं।

कुछ समयके बाद वत्सलने फिर वही प्रभ दुर्वारा— ‘अब उस युवककी क्या स्थिति होगी, क्या करता होगा वह? राजमराल! तुमसे तो उसकी कोई भी स्थिति छिपी नहीं है, कृपा करके बताऊओ न।’ अब राजमरालको भी उसकी कथा कहनेमें आपत्ति नहीं थी। क्योंकि अब वे बातचांत करने-की भूमिमें उत्तर आये थे। उन्होंने कहा—“अब उसकी स्थितिका क्या पूछना है, वह भगवान्को प्राप करके कृतार्थ हो गया। हमलोगोंके वहाँसे चलनेके बाद उसकी साथना इतनी तेजीसे बढ़ी कि भगवान्की आरती करते-करते बेसुध होकर वह उनके चरण-कमलोंमें लोट गया। उस दिव्य लोकमें उसका दिव्य शरीर भगवान्का स्वर्ण और आलिङ्गन ग्रास करके आमूल परिचित हो गया और वह भगवान्के श्रीविहारजैसा ही चिन्मय और आनन्दमय हो गया। आनन्दकी इस बादसे उसका स्थूलशरीर, जो भीमा और नीरके सङ्ख्यमपर बैठा हुआ था, प्रामाणित हुए बिना नहीं रहा और उसमें भी स्पष्ट चिन्मयता आ गयी। जब उसकी आँखें खुलीं और जाग जागत्की ओर उठने देखा तो वहाँ भी बही हँस्य, जो अन्तर्जातेमें उसने देखा था। उसकी टकटकी बँध गयी। वह इस प्रकार निर्निमेष नयनोंसे निहारने लगा कि उसके सारे प्राप और सम्पूर्ण अन्तःकरण उस रूपमाधुरीके पानमें महा हो गये, प्रणाम

करनेकी भी स्फुरति न रही। भगवानने स्वयं अपने करकमलोंसे उठाकर उसका आलिङ्गन किया और उसे अपने साथ ही अपने दिव्य धारमें ले गये। उसका जीवन सभा जीवन हो गया, उसके जन्म-जन्मकी आराधना सफल हो गयी और वह भगवान्का साधिष्ठ प्राप्त करके कृतकृत्य हो गया।”

यत्सुलने पूछा—“राजमराल ! उसकी अवस्था तो बहुत छोटी थी, दीर्घ कालतक उसने कुछ साधन भी नहीं किया; फिर भगवान्की कृपाकी यह दिव्य अनुभूति इतनी जल्दी उसे कैसे प्राप्त हो गयी ?” राजमरालने कहा—“भगवान्की कृपाके लिये अवश्य अथवा साधनाकी कुछ भी अपेक्षा नहीं है, वे तो निष्करण ही सबके ऊपर कृपा और प्रेमकी अनवरत वार्षा किया करते हैं। जिसका अन्तःकरण शुद्ध हुआ, जिसके द्वद्यमें उसके लिये सभी व्याकुलता हुई, उसीने उसका अनुभव किया। पूर्वजन्ममें तीव्र तपस्या करनेके फलस्वरूप उसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया था, यासनाएँ, नष्ट हो गयी थीं और भगवत्प्राप्तिकी उत्कृष्ट उत्कृष्ट जाग गयी थी। यही कारण है कि विना किसी साधनाके ही उसे भगवत्प्राप्ति हो गयी।”

यत्सुलने राजमरालसे पूछा—“मैं, क्या उसके पूर्व-जन्मकी साधन बतलानेकी कृपा करेगे ?” राजमराल बोले—“यत्सुल ! जिस दिन पहले-पहल उस युवकसे मेरी जान पहचान हुई थी, उसी दिन उसने अपने पूर्वजन्मकी बातें मुझे बतायी थीं—जो कि अन्तःकरणके शुद्ध होनेपर व्याधनके समय स्तूत ही उसके चिन्तामें स्फुरित हुई थीं। उस युवकने मुझसे कहा था—‘पूर्वजन्ममें मैं एक ब्राह्मण था, विशेष शारीरक न तो या नहीं, यों ही किसी प्रकार अपना जीवननिर्वाह कर लेता। कोई सुख नहीं या तो कोई हुँस भी न था। परन्तु एक बातसे मुझे बही चोट लगी। जिनका मैं विश्वास करता, उन्हींसे घोसा खाना पड़ता। सब-के-सब स्वार्थके सही, निःस्वार्थ कोई बात पूछनेवाला भी नहीं। मेरे जीवनमें सबसे बही व्यथा, सबसे बही पीड़ा यही थी। और इससे कुटकारेका कोई उपाय नहीं था। एक महात्माने मेरी यह मनोदशा ताड़ ली और कृपा करके उन्होंने मुझे एक साधन बतलाया। वह साधन शारीरिक नहीं, मानसिक था; इसलिये उसके अनुष्ठानमें मुझे कोई कठिनाई नहीं मालूम हुई। क्योंकि मन-ही-मन तो न जाने क्या-क्या सोचता ही रहता था, फिर एक

निष्प्रित बातके सोचनेमें आपसि ही क्या हो सकती थी। हाँ, प्रातःकाल कुछ विशेष किया करनी पड़ती थी।

“दो बड़ी रात रहते उठाकर आवश्यक कृत्योंसे निष्कृत होकर स्थिर आसनसे बैठ जाता। दोनों आँगठोंसे दोनों कान बन्द करके, दोनों तर्जनीसे दोनों आँख, दोनों मध्यमासे दोनों नाक और दोनों हाथकी अनामिका और कनिष्ठा अकृतियोंसे मुखका स्पर्श करते हुए प्राण, मन और आत्माकी एकताका चिन्तन करता। कुछ दिनोंतक ऐसा अन्यास करनेए मौहिंके बीचमें कुछ स्पन्दन मालूम होने लगा। उससे कुछ कुछ आनन्दका विकास हुआ और साधनामैं यम उपनी लगा। फिर तो क्रमशः बहुत-से नदी, नद, पर्वत, समुद्र और मूर्तियोंके दर्शन होने लगे। धण्टा, शङ्ख और मृदङ्गकी व्यनियोंके साथ-ही-साथ वंशीके स्वर भी सुनायी पड़ते। भ्रमरोंका मधुर गुजार भी गूँजता ही रहता। मैं प्रायः बाल्य चिन्तनसे विरत हो जाता और उसीके आनन्दमें मस्त रहता।”

“एक प्रक्रिया उन्होंने और बतायी थी—जब मैं सन्ध्याकन्दन आदि वित्य-कर्म करके बैठता तो ऐसी भावना करता कि मेरी नाभिमें जो स्वाधिष्ठनचक्र है, उसमें एक त्रिकोण कुण्ड है; उस कुण्डमें चिन्मय अग्नि प्रज्वलित हो रही है और मेरे दुःखमें, दुर्भाव और दुर्गुणकी आहुतियों पड़कर भस्म हो रही है। मनके लुभासे ‘ॐ अहंतं जुहोमि स्वादा’ इस क्रमसे एक-एक दोष हूँढ़-हूँढ़ हवन करता। थोड़े ही दिनोंमें मुझे बही पवित्रताका अनुभव हुआ और मेरा जीवन सदाचारमय बन गया। इस पवित्रता और सदाचारसे मेरी एकाग्रता बढ़ी और मैं श्रीकृष्णाका ध्यान करने लगा।

“श्रीकृष्णके व्यानमें मुख्यता लीलाकी ही थी, प्रातःकाल मैं प्रातःकालकी लीलाओंका ही चिन्तन करता। मैं भावकी आँखोंसे देखता श्रीकृष्णावनधारमें सबसे बड़ा, सबसे सुन्दर, सबसे विचित्र नन्दबाबाका राजमहल है। उसके मणिमय आँगठोंमें अनेकों दासियाँ दूध और दही मध्य रही हैं। वे धीर-धीरे श्रीकृष्णकी लीला और नामोंका भी गायन करती जा रही हैं। नीलमणिके लबूतरोंपर पढ़े हुए दूध और दहीके बिन्दु इतने मनोहर जान पड़ते हैं कि आँखें उधरसे हटती ही नहीं। नन्दरामी दासियोंके आशा कर रही हैं—‘कोई जोरसे न बोले, मेरा लहड़ा, मेरा कन्हैया, अग्नि सोधा हुआ है; कहीं किसीकी कर्कषा व्यनिसे उसकी नींद न हूँ जाय।’ सभी दासियों बही साधारानीके साथ अपने-अपने काममें

सजग हैं। श्रीकृष्ण एक सजे हुए कमरमें मणि-रक्षजटित शश्वापर सोये हुए हैं और दूसरीकी दृष्टिमें सोते हुए होनेपर भी स्वयं जाग रहे हैं। उनके मुखकमलपर कृपा, प्रेम और आनन्दकी ज्योति स्पष्टरूपसे झलक रही है। ऐसा मालूम होता है कि अब बोल उठते हैं, तब बोल उठते हैं। अब नन्दरानी कहती है कि मेरे लहजाकी नींद न हुई, कलका यका है, तब उनके होठोंपर मुस्कराइन्होंकी एक रेखा खिंच जाती है। माँके वास्तविका दर्शन करनेके लिये आँखें सुलगा चाहती हैं, पर के उन्हें बन्द कर लेते हैं। माँके प्रेमका स्मरण करके उनके सारे शरीरमें रोमाञ्च हो जाता है। उसे के रोक नहीं सकते, परन्तु माँके लिये और उसके प्रेम तथा आनन्दके लिये वे सोये ही रहते हैं। उनकी यह गाढ़ निद्रा तबतक नहीं टूटती, जबतक माँ उनके पास जाकर नहीं जारी हो।

भूर्योदयके पहले ही बहुत-से ग्वालबाल आँगनमें इकड़े हो जाते हैं, बलराम भी उनके साथ हो सेते हैं और वे सब-के-सब इस प्रतीकामें लड़े हो जाते हैं कि श्रीकृष्ण कब उठें और कब उनके दर्शन-स्पर्शनसे हम धन्य हों। कोई कहता—‘मेरी माँ तो अभी आने ही नहीं देती थी, मैं उससे पछां छुड़ाकर भाग आया।’ कोई कहता कि ‘कन्हैयाके बिना न बच्चे दूध पीते हैं न गौए पिन्हाती हैं, इसलिये गौआँके पास न जाकर मैं यहाँ चला आया।’ ग्वालबालोंकी उत्सुकता देखकर नन्दरानी श्रीकृष्णके शश्वाके पास जाकर कहती है—‘लहजा, दुश्हरे बाला तुम्हें बिना जाये ही गोठको चढ़े गये। वे जानते थे कि गौए पिन्हायें नहीं, तुम्हें देखे बिना।’ पिर भी प्रेमवदा उन्होंने तुम्हें जगाना उचित नहीं समझा। ग्वालबाल तुम्हारी प्रतीकामें लड़े हैं, वलड़ोंकी आँखें भी तुम्हारी तरफ लगी हैं। उठो, देखो, आज कितना सुन्दर सूर्योदय हुआ है।’ वे श्रीकृष्णके सिरद्वाने वायें हाथके बल लटककर दहिने हाथसे उन्हें सहाने लाती हैं और श्रीकृष्ण आँगड़ाते हुए, देह तोड़ते हुए, जैभासे हुए उठकर शश्वाके एक ओर बैठ जाते हैं—चरणकमलोंको एक ओर लटकाकर। वे अपने हाथों सोनेकी जारीमें पानी लाती हैं, श्रीकृष्णका मुँह खोती है, उनके विलरे भालोंको सँबारती हैं।

और फिर कस्तूरी-केसरका तिलक करके, यह कहकर बाहर जाने देती है कि ‘बहुत जल्दी लौट आओ, जिससे कलेजमें देर न हो।’ ग्वालोंमेंसे कोई उनका हाथ पकड़ लेता है, कोई बाँसुरी, कोई पीताम्बर पकड़ लेता है तो कोई कमरसे ही छिपट जाता है। इस प्रकार सब नाचते-कूदते, हँसते-सेलते, उछलते-कूदते बाहर जाते हैं और मैं अपनी भाव-दृष्टिसे यह सब देख-सुनकर मुमुख होता रहता।’’

राजमरालने बत्सलसे कहा—“यह सब कहते हुए उन्हें युवकका काठस्तर गाहूद था, आँखोंसे आँखकी धारा बह रही थी और सारे शरीरमें रोमाञ्च हो रहा था। उसने अंगे कहा—‘परन्तु मेरी यह भावना पूर्ण नहीं हो सकी। मेरे चित्तका एक सुखसंस्कार जाग उठा और तबतक मैं उससे नहीं बच सका, जबतक मेरी मृत्यु नहीं हो गयी। परन्तु उन्हीं साधनोंका यह फल था कि मुझे इस जन्ममें सदूर और स्त्र-साधनकी प्राप्ति हुई और अब मैं कुछ-कुछ अपने लक्ष्य-की ओर बढ़ रहा हूँ।’’

राजमरालने बत्सलको सम्मोधन करके कहा—“इसके बाद उस युवककी जैसी स्थिति हुई, तुम सब जानते हो। भगवान्-की कृपासे ही ऐसे बंदोंके दर्शन होते हैं। धन्य है वह भूमि, जहाँ ऐसे प्रेमी भक्त भगवान्का स्मरण, चिन्तन करते हैं। उसके दर्शनमें, वहाँके जल-यायुके संस्पर्शसे चित्तमें पवित्र भावनाओंका उद्ग्रेक होता है। भीमा और नीराके सङ्घमपर, जहाँ बैठकर उस दिन वह युवक श्वानमम् था, जहाँ भगवान्ननें प्रकट होकर उसे अपनाया था, आज भी वे ही इद्य, यदि कोई भावकी आँखसे देखे तो दीख सकते हैं। नया ही अच्छा हो कि इस भी अपना शेष जीवन वहाँ व्यतीत करे।” बत्सलने कहा—‘हाँ, ठीक तो है; चलिये, वहाँ चलकर रहा जाय।’ दोनों चल पड़े।

बहुत दिनोंतक लोगोंने देखा कि दो भ्रेत यशो वड़ी गम्भीरतासे अपना जीवन व्यतीत करते हैं उस बटवृक्षपर, जो शाचीनकालसे स्थित है भीमा और नीराके पवित्र सङ्घमपर।

नीचे बनो

ऊँचे पानो न टिकै, नीचे ही ठहराय।
नीचा होय सो भरि पिबै, ऊँचा व्यासा जाय॥
सब तें लघुताई भली, लघुता तें सब होय।
जस दुतियाको चंद्रमा, सीस नवै सब कोय॥ —कवी

साधन-समीक्षा

(लेखक—साहू प्रशानाधीन)

‘कल्याण’-सम्पादकने साधनाङ्कमें लेख भेजनेके लिये अनुरोध किया है और पन्नके साथ एक विषय-सूची भेजी है। विषय-सूचीके आकार-प्रकारको देखकर ही चित्त धबड़ा जाता है और यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि इन विषयमेंसे किस विषयपर लेख लिखना चाहिये। साधन संघ-के प्राणकी वस्तु है, किसीसे भी साधनके विषयमें मतामतकी जिज्ञासा करना अभद्रता समझी जाती है; क्योंकि इससे साधनके सम्बन्धमें प्रभकर्ता का राग-इष्ट उत्पन्न हो सकता है। अतएव किसीका भी साधनाको जाननेके लिये औत्सुक्य प्रकट करना सज्जन नहीं है। मैं कुछ ऐसे महाभाषोपाध्याय संज्ञनेके विषयमें जानता हूँ कि उनकी साधना दूसरी होनेपर भी वे वेदान्ती बनकर दूसरे पक्षके मतका स्थान बनाकर लोगोंमें अपनेको वेदान्ती बतलाते हैं, साथ-ही साथ वे अपने शिष्योंको कौलप्रथाके अनुलाभ देवीकी उपासनाका उपदेश करते हैं। ऐसी अवस्थामें खण्डनखण्डखाद्यकारका लोक हमें याद आता है—

एकं ब्रह्माक्षमादाय नान्यं गणयतः क्वचित् ।
आस्ते न धीर्वीरस्य भङ्गः सङ्करेत्किञ्चु ॥

सम्पादक महाशयका उद्योग जीवोंके कल्याणके लिये होते हुए भी जो लोग साधनासम्बन्धी लेख भेजेंगे, उनमें अनेकोंको अपने मतका स्थापन करके परमतका खण्डन करना पड़ेगा। मुझे यहाँ ऐसा करनेकी इच्छा न होनेके कारण शास्त्रानुसार साधकोंके लिये जो कुछ सार्वजनीनामावसंप्रकट किया जा सकता है, उतना ही इस लेखमें व्यक्त करूँगा। साधक होनेके लिये क्या-क्या करना चाहिये (क्या प्रथम कर्त्तव्य है), यही यहाँ दिखाया जायगा। इसलिये साधन-समीक्षा अर्थात् साधनका विचार ही यहाँ किया जायगा। एक भावुकने कहा है—

‘आदर कर दृढ़े रेखो आदरिणी द्यामा माके ।
मन तुमि देखो आर आमि देखि आर येन केह नादेखे ।’

‘आदरणीया द्यामा माँको आदरके साथ द्विदयमें रखतो। हे मन ! तुम देखो और मैं देखूँ। और कोई भी न देखने पावे ।’ साधन सबके लिये विषयतम वस्तु है। जो वस्तु जितनी प्रिय होती है, उसे उतना ही छिपाकर रखता जाता है।

धानका भूसा बाहर पड़ा रहता है, उसे कोई चुराने नहीं जाता। धानको गोल्डेमें रखना पड़ता है। सोनेचाँदीको बड़े जटनसे सन्दूकके भीतर बक्समें भरकर रखते हैं। उसी प्रकार गुरुपदिष्ट अभीष्ट द्यामा माँको भी द्विदयमें छिपाकर रखना पड़ता है, जिसमें उसे कोई दूसरा देख न ले। व्यवहार-में भी देखा जाता है कि सभी लोग अपनी छोटीको शुद्धाकारिणी बनाये रखनेकी प्राणपृथिवी रक्षा करते हैं। किसी बन्धु-बान्धवके घर आनेपर छोटीके साथ हँसी-मजाक नहीं किया जाता, इसीलिये आजकलके मनचले बाशू लोग उपपत्ती रखते हैं। जिस दिन बन्धु-बान्धवादिके साथ मध्याह्न करके खेल-तमाशा करनेकी आवश्यकता समझते हैं, उस दिन उस उपर्याको बुलाकर खूब नाच-गान, आमोद-प्रमोद करते रहते हैं; परन्तु अपनी छोटीके सम्बन्धमें यदि कोई भद्री मजाक कर बैठता है तो तल्लार लेकर उसका सिर काटनेको तैयार हो जाते हैं। साधनके विषयमें भी इसी प्रकार समझना चाहिये। कोई किसी प्रकारकी साधना करे, उससे पूछनेपर वह तुम ही जायगा और कहेगा कि इससे तुम्हें क्या प्रयोजन है। यहींसे दलवन्दीका सूत्रपात होता है। नाना प्रकारके साधक एक ही कथावाचककी कथा सुनने जाते हैं। इनमें कथावाचककी जो कथा जिसके साधनके लिये उपयोगी होती है, वह वही कथा ग्रहण करता है, दूसरी कथाका त्याग करता है। कथावाचक यदि अपने मताग्रह-विशेषसे किसी साधनपर कटाक्ष कर बैठता है तो उसे विडंबना भोजनी पड़ती है। अतएव सर्वसाधारण-के लिये जो अनुकूल और हितकारी होता है, कथावाचक अपना मताग्रहविशेष लोडकर उसी नातको कहते हैं। एक आदमीके लिये जो हितकारी है, दूसरे आदमीके लिये वही अग्रिष्ठकारी हो सकता है। इसी कारण साधन, भोजन और औषध—ये तीन कमी सब लोगोंके लिये एक नहीं ही सकते। इसीलिये मुख्य चिकित्सक ही प्रकृति देखकर विभिन्न रसियोंके लिये विभिन्न साधन, औषध और भोजनकी व्यवस्या करते हैं।

जिसकी जिस विषयमें आसक्ति होती है, उसे उस विषयसे हटाकर दूसरे विषयमें लगानेकी चेष्टा करने-से वह उस विषयको तो छोड़ ही नहीं सकता, उलटे

उपदेश के प्रति उसकी अधिकांश ही उत्तर हो जाती है। इसलिये कोई महापुरुष महुत जाने विना किसी व्यक्तिको साधनविद्यक कोई उपदेश नहीं देते। जिस विद्यमें उसका अभिविद्या देखते हैं, उसको उसी विद्यका उपदेश देकर क्षमता: वहाँसे रस्ता दिखलाकर वही उपाय बतलाते हैं, जिससे वह श्रेष्ठलाभ कर सके। कुतर्क, विषयासक्ति, देहात्मवृद्धि और बुद्धिकी मन्दता—वे चार साधकके प्रबल विद्य हैं। इनके गहरे साधनाका उपदेश कार्यरूपमें परिणत होते नहीं देखा जाता। इसलिये साधकको सबसे पहले इन सबका ल्याग करना पढ़ता है। अविश्वाससे ही कुतर्क उत्पन्न होता है। निजकी कोई बुद्धि नहीं और शास्त्रोंका भी अध्ययन नहीं किया, तो भी अपनी साधारण बुद्धिकी प्रेरणासे किसी एक मनमाने मतको उत्तम मनकर शास्त्रों तथा महापुरुषोंके बच्चोंकी जो अवशा की जाती है, उसे कुतर्क कहते हैं। शास्त्र और गुरुवाचनके ऊपर दृढ़ विद्याल कक्षे इस दोपको दूर करना चाहिये। अविश्वासके विना कुतर्क नहीं उत्पन्न होता। अविश्वासी-को उपदेश देनेसे कोई फल नहीं मिलता। एक सच्ची प्रथनाका यहाँ उल्लेख करता है। कुमिळा शाहरके समीप ही दुर्गापुर एक गाँव है। उस आममें एक अति बुद्धिमान् और शानदार् साधु रहते थे। उनमें उपदेश देनेकी असाधारण क्षक्ति थी। उनके गुणोंसे मुख्य होकर बहुत लोग शाहरसे उनका उपदेश सुनने वहाँ जाया करते थे। वे भी जो जिस प्रकारका अविकारी होता था उसी प्रकारका उसे उपदेश देकर चिदा करते थे, किसीमें बुद्धिमें नहीं उत्पन्न करते थे। एक दिन एक ससक्षी कुमिळाके एक डिप्टी साहबको तंग लेकर उनके समीप उपस्थित हुए। डिप्टी साहबको अभिमान था कि मैं विदेश जानवान् हूँ, इसलिये वे साधुको प्रणाम करना भी उचित न समझकर छूट पहने ही उनके पास बैठ गये। साधु महाराज सबके साथ बातचीत करते रह गये और डिप्टी साहबको देखकर भी उनका उन्होंने कोई सम्मान नहीं किया। यह देखकर डिप्टी साहब अपने अभिमानमें ही फूले जा रहे थे। अन्तमें उपेक्षाका भाव देखकर डिप्टी साहबने स्वयं ही प्रभ किया, “महाशय! कुछ जानका उपदेश दीजिये।” साधुने कहा—“हरिनाम लो।” डिप्टी साहब योले—“‘हरि’ शब्दके तो भगवान्, जल, चिह्न और बन्दर आदि अनेक अर्थ होते हैं; शब्दमें क्या रखवा है, जो आप हरिनाम लेनेको कहते हैं। मुझे तो शानोपदेश

कीजिये।” डिप्टी साहबके बचन सुनकर भी साधु महाराज कोई उत्तर न देकर अन्यमनस्कके समान दूसरोंके साथ बातचीत करते रहे। एक बार, दो बार, तीन बार—इस प्रकार उपेक्षासुन्नक वाक्य डिप्टी साहबसे सुनकर साधु बहुत ही रुक्षे स्वरसे जोरसे बोल उठे—“तुम रह साला।” यह सुनते ही डिप्टी साहबके मस्तकपर मानो घासावात हुआ। वे क्रोधसे अन्धे होकर बूट लेकर साधुको मारनेके लिये उठ खड़े हुए। वहाँ जो लोग उपस्थित थे, वे डिप्टी साहबको पकड़कर शान्त करने लगे। साधु महाराजने धीरेसे कहा—“मैंने तो आपको गाली नहीं दी, आप इस प्रकार क्रोधात्म होकर मुझे मारनेके लिये क्यों तैयार हो रहे हैं?” डिप्टी साहबने कहा—“तुमने अभी मुझको ‘साला’ कहा और अब कहते हो कि मैंने गाली नहीं दी। तुम्हारे जैसे मिथ्याचारी पापांडी धूर्त साधु मैंने बहुतसे देने हैं अभी मुझको इसका पूरा मज़ा चखाता हूँ। तुम जानते नहीं कि मैं कौन हूँ। तुमको अभी जेल मेज़ सकता हूँ।” साधुने कहा—“महाशय, आप डिप्टी ही सकते हैं, मैंने तो आपके प्रश्नका उत्तर ही दिया है। इससे यदि मुझे जेल जाना पड़े तो कोई दुःख नहीं, परन्तु आप विचार करके मुझे जेल मेज़े। विना विचारे जेल मेज़नेसे आपका ही अपराध होगा।” डिप्टी साहबने कहा—“उत्तर दिया आपने ‘साला’ गाली देकर।”

साधुने कहा—“आप बार-बार पूछ रहे थे कि ‘हरि’ शब्दमें कौन-सी शक्ति है। मैंने आपके लिये केवल एक ‘साला’ शब्दका प्रयोग किया। ‘साला’ छोके भाईको कहते हैं। मैं जन्मसे ही ब्रह्मनारी हूँ, मैंने कभी लीसहास नहीं किया। मेरे बाबकसे आप मेरे लाले नहीं हो सकते, अर्थात् मैं आपकी बहिनसे विचार नहीं कर सकता। यह ‘साला’ शब्द आपको क्रोधात्म बनाकर मुझे मारनेका उच्चार करा रहा था। यदि शब्दमें कोई शक्ति न होती तो ‘साला’ शब्द आपको इस प्रकार कोथमें पागल कैसे कर सकता?” डिप्टी साहबको अब होश आया, उनकी समझमें आया कि शब्दमें भी शक्ति होती है। डिप्टी साहब हरिनाम लेनेके भी अधिकारी न थे, क्योंकि अविश्वासने और विद्याके मदने उत्तें अन्धा बना रखवा था। परन्तु हरिनामके गुणसे मनुष्यका सारा मद दूर होकर वह साधनके उपयुक्त बन सकता है, इसीलिये साधुने उनको हरिनामका उपदेश दिया था।

साधनका द्वितीय प्रतिवर्ष है विषयासक्ति। विद्यमें

आत्मकि रहते साधन ग्रहण करनेपर भी आलस्यादिके कारण साधनमें अग्रसर नहीं हुआ जा सकता। शास्त्रोंका और लज्जनोंका संग करके यह दोष दूर किया जाता है।

देहात्मबुद्धिसे ही मोगासक्ति उत्पन्न होती है, देहमें आत्मबुद्धि रहते उपदेश कार्यकारी नहीं होता। वार-वार देहकी नश्वरतादिका विचार करनेसे यह दोष निवृत्त हो सकता है।

एक प्रकारके ऐसे मनुष्य भी देखे जाते हैं, जिनमें उपर्युक्त लीनों प्रतिबन्ध नहीं रहते। वे अदिवासी भी नहीं होते, विषयमें उनकी आत्मकि नहीं होती और देहात्मबुद्धि भी नहीं होती। परन्तु पूर्वजन्मके कर्मोंके फलसे उनकी बुद्धिमें देसी जड़ता होती है कि सैकड़ों वार समझनेपर भी वे कुछ भी समझ नहीं सकते। इस प्रकारके मुस्कुरायान करके या गुरुकी सेवा करके अपनी बुद्धिकी जड़ताको दूरकर साधनमें नियुक्त हो सकते हैं।

साधनका प्रयोजन

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चारों पुरुषार्थ कहते हैं। जिनके लिये अर्थ और काम ही परम पुरुषार्थ होता है, उनको संसारी जीव कहा जाता है। अर्थ और कामके सिवा जगत्‌में वे किसी वस्तुको साध्य नहीं समझते। वे कभी किसी धर्मका तेवन करते थे हीं तो केवल काम और अर्थके लिये ही। शरीरके सुखमें जरा भी बाधा आनेपर वे धर्मका त्याग कर देते हैं। ऐसे लोगोंको संसारनिष्ठ जीव कहा जाता है। ये लोग वार-वार जन्म और मृत्युके अथीन होकर संसारमें ही चक्कर काटते रहते। अयोध्यार्जन करके भी जो लोग इस संसारमें सुख नहीं पाते, ऐसे लोग धर्मार्थ दानादि करके परलोकके साधनका संग्रह करना आवश्यक समझते हैं। ये लोग पुरुषार्थी तो हैं, परन्तु आव्यन्तिक पुरुषार्थी नहीं हैं। साधनके द्वारा जो परन्तु प्राप्त होती है, कभी-न-कभी उसका नाम होता ही है। स्वर्गादि भेगोंका भी नाश देखनेमें आता है। इसीलिये स्वर्गादिसे किसी किसीकी उपेक्षाबुद्धि हो जाती है। स्वर्गके तथा इहलोकके सुखोंमें जिनकी विरक्ति होती है, वे ही मोक्षकी जिज्ञासाके अधिकारी हो सकते हैं। देखा जाता है कि एक साधनके द्वारा समस्त कार्य समझ नहीं होते। कुठारके द्वारा लकड़ी चीरी जाती है, परन्तु कलम वनानेके लिये बुरीकी ही आवश्यकता पड़ती है। तलवरके द्वारा मनुष्य और कूप्याण्डादिको भी काटा जा सकता है, परन्तु तरकारी

बनानेके लिये कोई तलवारका अवहार नहीं करता। प्रत्येक कार्यके साधन पृथक्-पृथक् होते हैं। सर्वप्रधान करणको ही साधन करते हैं, जैसे अग्नि भोजन पाक करनेका साधन है। पाक करनेके लिये जल, चावल और पात्रादिका प्रयोगन होनेपर भी अभिके दिना पाक नहीं होता। अतएव अभिको ही साधन कहा जाता है। जलके बदले दूध, बटुलीके बदले लोटा, चावलके बदले आदि हो सकते हैं; परन्तु पाकके लिये अभि ही चाहिये। इसी प्रकार सभ कार्योंके लिये साधनविशेष होते हैं। जो लोग सामयिक दुःखोंकी निवृत्तिके लिये भूत-पिशाचादिकी पूजा करते हैं, उन लोगोंको अशुचि जलादि सामग्रीसे मन्त्रादि साधन संग्रह करना पड़ता है। जो लोग भगवान्के वैद्युष्टमें जानेके इच्छुक हैं, उन्हें भक्ति और शरणागतिरूप साधन संग्रह करना पड़ता है। जिन्हें मोक्षकी उत्कट इच्छा होती है, उनको साधनचूष्ट्य-सम्बन्ध होकर वेदान्तका विचार करके आत्मा और अनात्माके विचारके द्वारा जीवात्मा और परमात्माके एकत्वज्ञानके साधनकी द्यात्रा और गुरुसे जानकर उसीका श्रवण, मनन और निर्दिष्यासन करके तत्त्वज्ञान पानेका यज्ञ करना पड़ता है। इसीलिये बार्तिककार लिखते हैं—

पुरुषार्थोपदेष्ट्याद्यद्वय कार्ये प्रमाणता ।
तथेऽन्तर्में विशेषाङ्गा पुरुषार्थतिशयत्वतः ॥
पुराणान्तर्में सम्प्राप्तिशयत्वस्य च वर्जनम् ।
इच्छाप्रेक्षते योग्यमुपायमपि तत्परः ॥
प्रामादि किञ्चिद्वासं प्राप्त्युमिष्टमिष्ट्यति ।
हेमादि विश्वसं किञ्चित्करस्यमपि लिप्सति ॥
परिहार्यत्याविष्टं कण्ठकादि जिहासति ।
रज्ज्वो सर्पादि किञ्चित्करस्यमेव जिहासति ॥
निचोपायस्त्वाद्वाप्यपरिहार्ययोः ।
विधितः प्रतिषेधात्म साधनप्रेक्षता भवेत् ॥
अज्ञानान्तरितस्वेन सम्प्राप्त्यक्षयोः पुनः ।
यायास्यगमनतौ नान्यतुरुषार्थाय कर्तयते ॥

(२०००० वार्तिक, सम्बन्ध-वार्तिक ८८, ३-८)

कर्मके द्वारा इहलोकके भोग्य प्राप्त होते हैं। कारीर यज्ञ करनेसे वर्षोंके प्रबल प्रतिबन्धक नष्ट हो जाते हैं और वृष्टि होती है। यह यज्ञस्य कर्मका फल है। अतएव यज्ञ कर्मका साधन है। निष्काम कर्म और अहैतुकी भक्ति वैद्युष्टके साधन हैं। योग और हानि मोक्षके साधन होते हैं। इनमेंसे किसीके लिये योग अनुकूल होता देखा जाता है

और किसीके लिये विचार अनुकूल होता देखा जाता है। इसीलिये मगधानन्ते गीतामें दो प्रकारके उपाय बतलाये हैं। समस्त प्रणिधर्मको तीन भागोंमें विभक्त कर कर्म, भक्ति और शान श्रेयःप्राप्तिके उपायरूपसे गीतामें बतलाये गये हैं। सबके अधिकार और सचिव समान नहीं होते। इसी कारण साधन भी विभिन्न होते हैं। देखना होगा कि साधक क्या चाहता है। यदि उसे किसी पार्थिव वस्तुकी कामना है तो मोक्षके साधन बतलानेसे उसे कोई लाभ नहीं हो सकता। वह अपनी इच्छाके अनुकूल वस्तुको पानेके लिये ही लालायित रहेगा। भजनको भी वस्तुप्राप्तिका साधन ही समझेगा। अतएव रोग देखकर जैसे ओषधिकी व्यवस्था की जाती है, उसी प्रकार साधककी इच्छाके अनुसार साधन बतलाया जाता है। ठीक-ठीक साधनकी प्राप्ति होनेपर वस्तु सिद्ध करनेमें देर नहीं होती। इसलिये जो जिस विषयमें अभिज्ञ है उनसे उसीके साधनकी शिक्षा लेकर प्रथम इच्छा-की पूर्ति करके तब मोक्षकी चेष्टा करनी चाहिये। जो लोग देशोदार करनेके लिये योगसाधन करेंगे, उनके मोक्षके मार्गमें प्रतिवन्ध होनेसे उन्हें मोक्षकी प्राप्ति नहीं होगी। सारी इच्छाओंकी निवृत्ति ही मोक्ष है। मोक्षके लिये जो लोग साधन-भजन करते हैं, उनके लिये किसी विषयकी इच्छा न करना ही कर्तव्य है। यहाँतक कि उन्हें कौतूहलवश्य या खेलके लिये भी कभी सिद्धि या स्वर्गादिकी इच्छा नहीं करनी चाहिये। ग्राममें जाना है, यह सोचते हुए बैठ रहनेसे ही कोई आममें नहीं पहुँच सकता। यहाँ चलना ही साधन है। अर्थके लिये व्यापारादि साधन करने होंगे। स्वर्गादि भोगके लिये यज, दम, दया आदि साधनोंका संग्रह करना होगा। मोक्षके लिये सर्वत्यागरूप उपरात ही एकमात्र साधन है। जिस कर्मका जो साधन है, उसको उस कर्मकी सिद्धिके लिये उपर्युक्त स्तरमें संग्रह करना होगा। रज्जुमें सर्वभ्रम दूर न होगा। वस्तुका स्वरूपशान ही वहाँ साधन है। रोदानी लेकर आते ही सर्वभ्रम दूर हो जायगा। रज्जुका शान होते ही सर्वभ्रम चल जायगा। इस विश्वपञ्चका कारण अशान है। शानके द्वारा इसके अधिष्ठानका बोध होते ही विश्वपञ्चकी निवृत्ति होकर मोक्षकी प्राप्ति होगी। मिथ्या पदार्थके प्रति कभी ज्ञानी पुष्टपकी प्रवृत्ति नहीं होनेमें आती। मिथ्याका इदं निश्चय होनेपर उसमें साधककी प्रवृत्ति क्षीण हो जाती है। प्रवृत्ति न होनेसे अन्म नहीं होता और अन्म न होनेसे दुःख नहीं होता। इस प्रकार

अशानकी निवृत्ति होनेसे दुःखकी आत्मनिक निवृत्ति हो जाती है। दुःखकी आत्मनिक निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति एक ही बात है।

गृहस्थकी साधना

स्वर्णाक्षमधर्मेण श्रद्धया गुलोचणात् ।
साधनं प्रमदेषुंसो वैराग्यादिवृष्टुष्टम् ॥

वर्णाक्षमधर्मका जो लोग नियमानुसार पालन नहीं कर सकते, वे क्या किसी प्रकारकी साधना कर सकते हैं? सबसे पहले वर्णाक्षमधर्ममें तीनों वाङोंके लिये जिन नियन्त्रितिक कर्मोंका विधान है, उनका निष्काम भावसे पालन करना पड़ता है। मन, वचन और शरीरके द्वारा जो कुछ किया जाता है, उसका कल भगवानुको समर्पण कर देना पड़ता है और कर्तव्य-बुद्धिसे ही सारे कार्य करने पड़ते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके योगीपर्वती धारण करते ही उनका गायत्री-मन्त्रमें अधिकार हो जाता है। यथाशक्ति तीन माला गायत्री-जप करनेसे शरीर शुद्ध हो जाता है। रात्रिमें जो पाप किया जाता है, प्रातःसन्ध्याद्वारा वह पाप नष्ट हो जाता है। सार्य-सन्ध्याके द्वारा दिनमें किये गये यातोंका नाश हो जाता है। असाधानताके कारण मन, वचन, कर्मसे जो पाप हो जाते हैं उन्हींका नाश सन्ध्याद्वारा हो सकता है। जो पाप जान-बूझ-कर किये जाते हैं, उनके नाशके लिये प्रायदिव्यत्व करना पड़ता है। सूर्खेको द्वयदानादि प्रायदिव्यत्व करके पाप दूर करने पड़ते हैं। पाप दूर होनेसे मन प्रसन्न होता है, शरीर नीरोग और सुन्दर हो जाता है। इस प्रकारकी अवस्था प्राप्त होनेसे ही मनमें विषमोभासंविरग्म और गुरुकी प्राप्तिकी इच्छा उत्पन्न होती है। सूर्खेके पलकपरिपक्ष होनेसे संतोषकी सङ्कृति प्राप्त होती है। उससे विधि और निषेधका ज्ञान होता है तथा सदाचारमें प्रवृत्ति होती है। सदाचारमें प्रवृत्ति होनेसे ही अशेष हुम्कर्तोंका नाश हो जाता है। उससे अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल हो जाता है। तभी सदूरसे कृपा-कटाक्ष-के लिये मन व्याकुल हो उठता है। गुरुके कृपा-कटाक्षसे ही सब प्रकारकी रिद्धि प्राप्त होती है। सब प्रकारके बन्धन नष्ट होते हैं। शेयमार्गके सब विप्र नष्ट हो जाते हैं। सब प्रकारके श्रेयःसाधन स्वयं ही आकर उपस्थित होते हैं। जन्मान्धको जिस प्रकार रूपका शान नहीं हो सकता, उसी प्रकार सदूरसे उपदेशके विना तत्त्वशानकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव सदूरसे कृपा-कटाक्षके लेघमानसे ही तत्त्वशान हो जाता है। इस प्रकार त्रिपादविद्युति उपनिषद्में गुरु करने-

का प्रयोजन कहा गया है। जिन लोगोंका कुलगुणमें विश्वास न हो, उनको निश्चित उपाय करना चाहिये। इस उपायसे उत्तम अद्भुतको एक वर्षमें और मध्यम अद्भुतको तीन वर्षमें गुरुकी प्राप्ति हो सकती है। गुरुप्राप्तिको ही शास्त्रोमें एक सिद्धि कहा गया है। गुरु प्राप्त होते ही समझना चाहिये कि भवसागर पार करनेको नौका मिल गयी। प्रथम करनेसे एक जन्ममें, और प्रयत्नमें शिविलता करनेसे तीन जन्ममें मनुष्य कृतार्थ हो सकता है—ऐसा किसी महात्माका वचन है।

साधनकी प्राप्तिके पूर्व साधनके लिये तैयार होनेके उद्देश्यसे साधनार्थीको प्रतिदिन तीन हजार गायत्रीका जप करना चाहिये तथा निश्चित यन्त्र बनाकर उसकी पूजा करनी चाहिये। इसके द्वारा भगवत् कृपासे शीघ्र ही गुरुकी प्राप्ति हो जाती है। उपयुक्त गुरुके प्राप्त होनेपर अपनेको उनके चरणोंमें अर्पण करके वे जैसी आज्ञा दें, वैसा ही करना चाहिये। परन्तु किसी पाषण्डी वेशाधारीके घर आते ही उसे गुरु मानकर तन-मन-धन अर्पण करनेकी मूर्खता भी नहीं करनी चाहिये। साधु निष्काम, निःसृष्ट और अहैतुकी हुआ करनेवाले होते हैं। जो अपना कोई स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है, उसको गुरुके रूपमें स्वीकार करके धोखा नहीं खाना चाहिये।

आगे दिये जानेवाले यन्त्रके मध्यमें चित्र ल्याकर ध्यान करनेसे शुद्ध चित्रमें गुरुकी मूर्ति दीर्घ पड़ेगी, तब संशयरहित होकर उन्हींको गुरु मानकर उनके आशानुसार चलना चाहिये। दस-बीस पोधियाँ इकही करके अपने मनसे ही एक साधनाकी चित्रही बनाकर कुछ लोगों और मन्त्रोंका संग्रह कर कभी देखीका, कभी देवताका मन्त्र-जप, ध्यान और योग करके व्यर्थ समय नष्ट नहीं करना चाहिये। ऐसा करनेसे कोई साधनमें अग्रसर नहीं हो सकता। अपने विचारके ऊपर विश्वास न होनेसे ये कोई फल प्रदान नहीं कर सकते। विश्वाससे ही मन्त्रका फल प्राप्त होता है। जो जिस विषयका अभ्यास नहीं करता, उसके द्वारा उस मन्त्रको ग्रहण करनेसे भी कोई फल नहीं मिल सकता। सिद्ध महापुरुषसे मन्त्र ग्रहण करनेपर उस मन्त्रका पुरक्षण नहीं करना पड़ता। मन्त्रके साथ ही गुरुकी शक्ति विषयके शारीरमें प्रवेश कर जाती है। सिद्ध गुरुके न मिलनेकी स्थितिमें मन्त्रोंको तन्त्रोक्त नियमोंके द्वारा शोधन करके पुरक्षण करना पड़ता है। भगवान् सदाचित्वने ३२ करोड़ मन्त्रोंकी रचना की है, सिद्ध पुरुषोंके सिया अन्य किसीके द्वारा इन मन्त्रोंके दिये जानेपर

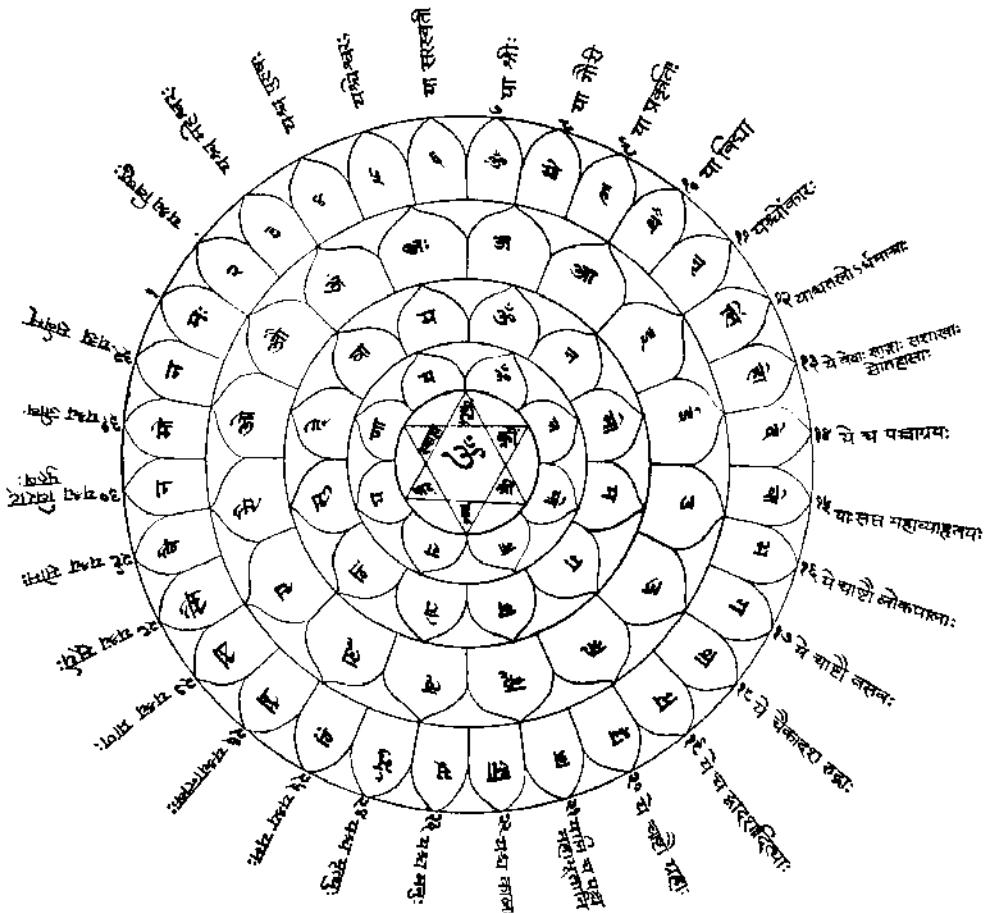
इनका फल नहीं प्राप्त होता। इसीलिये सिद्ध गुरुको खोजना पड़ता है। उनसे मन्त्र ग्रहण करनेपर सब विष दूर हो जाते हैं। शरीरके रोगी होनेपर योगके द्वारा या मन्त्र-जपके द्वारा शरीरको शुद्ध करना पड़ता है। जो लोग कुछ भी न करके या गायत्री-मन्त्रका जप किये दिना ही साधन करते जाते हैं, उनके शरीरमें नाना प्रकारकी व्याधियाँ उत्पन्न होकर साधनमें विष उपस्थित कर देती हैं। व्याधि होनेपर साधन नहीं किया जा सकता। इसलिये व्याधिनाशके निमित्त गायत्री या प्रणयका जप करना होता है।

'रक्षासं सृत्युतारकं सुदर्शनं महाचक्रम्'

नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद् के पञ्चमाच्यायमें इस प्रकारके यन्त्रका उल्लेख है। देवताओंने प्रजापतिने कहा कि अनुष्टुप् मन्त्रवाजनमें हमारे लिये नारायण ह महाचक्रका वर्णन कीजिये। यह सब कामनाओंको सिद्ध करनेमें समर्थ है और योगिजन इसे मोक्षका द्वारा कहा करते हैं। प्रजापतिने कहा कि यह सुदर्शनचक्र पद्धतर हुआ करता है। इसके पट् पत्रोमें पद्धतर रहते हैं। छ: अष्टुर्युँ होती हैं, उन्हींके परिमाणसे इनकी संख्या होती है। इनके मध्यमें नाभि होती है। नाभिमें जिस प्रकार रथके और होते हैं, उसी प्रकार इस नाभिमें पट् पत्र होते हैं। बाहर मायाद्वारा वृत्ताकारमें परिवृष्टि होता है। अत्माकी माया सर्वा नहीं कर सकती, इसीलिये माया शारका आवरण है। इसके बाहर अष्टाक्षर पत्र रहता है। अष्टाक्षरा गायत्री होती है। गायत्रीके समान ही इसकी संख्या होती है। बाहर मायाका परिवृष्टि होता है। इसके बाहर द्वादशादल पत्रका चक्र होता है। द्वादशाक्षर जगती छन्द होता है, उसकी संख्याके अनुसार पद्मके पत्रोंकी संख्या होती है। बाहर मायाका बेष्टि होता है। इसके आगे पोडशादलविशिष्ट चक्र होता है, पुरुषकी घोडश कलाएँ होती हैं। उनकी संख्याके अनुसार ही इनकी संख्या होती है। मायावृत्तद्वारा बाहरसे वेष्टित होता है। इसके बाहर वर्तीस दलोंका पत्र रहता है। अनुष्टुप् के बनीस अक्षर होनेके कारण इसकी संख्याके साथ इह पत्रका मैल हो जाता है। इसके बाहर मायाका बेष्टि रहता है। अराके द्वारा यह यन्त्र सुशुद्ध होता है। वेद ही इसके अरा हैं और छन्द ही इसके पत्र।

इस सुदर्शन महाचक्रके मध्यमें नाभिके अंदर ॐकार रखना पड़ता है। पट् दलोंके मध्यमें पद्धतर सुदर्शन रहता है। अष्टाक्षर 'ॐ नमो नारायणाश' मन्त्र अष्ट

रक्षीघ्रं मृत्युतारकम्
सुदर्शनं महाचक्रम्।



पत्रोंपर लिखना होता है। द्वादश पत्रोंमें द्वादशदल वासुदेव-मन्त्र (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) लिखना होता है। शोडशदलमें महाकाशे प्रारम्भ करके ग्रिन्दुपर्यन्त (अ, आ आदि) शोडशाश्वर लिखने होते हैं। बत्तीष दलोंमें बत्तीष अक्षरका मन्त्राराज नारासिंह अनुष्टुप् लिखना होता है। यह सुर्दर्शन महाचक्र संक्षिप्तमद, मोक्षद्वार, अृज्ञाय, यजुर्वेद, सामग्र्य, ब्रह्मग्र्य और अनुत्तमग्र्य होता है। इसके सम्मुख घण्टगण वास करते हैं। दक्षिणमें आदित्य, पश्चात्त्वागमें विश्वेदेव और उत्तरमें ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर वास करते हैं। नाभिमें सूर्य और चन्द्रमा वास करते हैं और पार्श्वमें यह शृङ्कहारा आवृत्त होता है। जिस दिन इस चक्रको धारण करे, उस दिन एक गोदान करना चाहिये।

मोक्षका साधन

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार प्रकारके पुरुषाभ्यामें मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है, यह निर्विवाद है। यही कारण है कि भूतिके लिये हिन्दू, जैन, बौद्ध, मुसलमान, इसाई आदि ममी जाति, एवं धर्म-सम्प्रदाय सदासे साधन करते आ रहे हैं। मन्त्र-तन्त्र-यन्त्रके द्वारा मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती, ये मोक्षकी प्राप्तिके साधनमें सहायतामात्र करते हैं। वैराग्य ही ज्ञानका सुख्य साधन है। वैराग्यकी प्राप्तिके लिये ही वर्णाश्रम-धर्मोंका पालन करना पढ़ता है, यह वात पहले दिव्यलायी गयी है। वर्णाश्रमधर्मोंके पालनके द्वारा मनके कुछ शुद्ध होनेपर अर्थ और काममें विनृष्टा उत्पन्न होती है। धर्मके फलको उनकी अपेक्षा छोड़ समझकर धार्मिक पुरुष धर्मके लिये अर्थ—अर्थ ही क्यों, ज्ञातकका भी त्याग करनेको तैयार हो जाते हैं। धर्मसे अर्थ और कामका सिद्ध होना स्वाभाविक है, परन्तु अर्थसे धर्म होना कठिन है। अर्थका स्वभाव ही यह है कि वह मनुष्यको कृपण बना देता है। अर्थ और काममें आसक्त पुरुष कमी धर्मकी प्राप्ति नहीं कर सकता। इसी कारण भुजा उठाकर व्यासजीने कहा है—

ऊर्ध्वबाहुर्विर्मैस्येष न च किञ्चित्सूक्ष्मोति मे।

धर्मोद्यर्थका मम तद किम्बद्य न सेष्यते॥

शास्त्रोंमें स्वर्गादिका जो फल बतलाया गया है, उसे सुनकर तथा अनित्य द्रव्योद्वारा जो प्राप्त होता है, वह नित्य नहीं हो सकता—इस प्रकारके द्वारा धर्मका फल अन्त्वन्त जानकर मुसुमु पुरुषकी धर्ममें भी प्रकृति नहीं हो सकती। इस प्रकारके पुरुष योग, ज्ञान या भक्तिमेंसे किसी एक साधनका आश्रय लेकर मोक्षके लिये प्रयास करते हैं।

इनके साधनोंका विभिन्न रूपोंमें अनेको लेखक वर्णन करते हैं और समय-समयपर हम भी 'कल्याण' में वर्णन करते आ रहे हैं। यहाँ सब साधनोंको विस्तारपूर्वक देना असम्भव है। अतएव उक्त ज्ञान, योग और भक्तिमेंसे किसी एक साधनको अपने अनुकूल जानकर साधक प्रयत्न कर सकते हैं। उनमेंसे सब साधकोंको जो साधन अवश्य करने पड़ते हैं, यहाँ में उन्होंका वर्णन करूँगा। सम्प्रदायिक भेदभावको छोड़कर सबको ये साधन समानरूपसे करने पड़ते हैं। इनका पालन किये विना मोक्षकी प्राप्ति असम्भव है।

कामजनित लोभसे कोष उत्पन्न होता है और शत्रुके दोषोंको देखकर इसकी वृद्धि होती है। क्षमाके द्वारा कोषका उत्पाद होता है। सङ्कटसे काम उत्पन्न होता है, कामके निरन्तर सेवित होनेसे उसकी वृद्धि ही होती है; कभी उसका हाल नहीं होता। विचारके द्वारा कामसे विरत होनेपर अर्थात् सङ्कट्या त्याग करनेपर तथा स्वादु भोजनकी स्पृहा त्यागनेपर काम नष्ट होता है। परास्याके द्वारा दूर करना पड़ता है। अज्ञानसे मोह उत्पन्न होता है, पापके अभ्यासके द्वारा हसकी वृद्धि होती है, प्राक्कास कञ्ज करनेसे मोह नष्ट हो जाता है। विश्व शास्त्रोंके देखनेसे संशय उत्पन्न होता है, तत्त्वज्ञान-की प्राप्तिसे संशयकी निवृत्ति होती है। प्रीतिसे शोक उत्पन्न होता है, प्रियविद्योगका शोक अत्यन्त कष्टप्रद होता है। अभिषिकारी समझकर शोकका त्याग करनेसे ही भन स्वरूप होता है। कोष और लोभसे परास्या उत्पन्न होती है, निर्वेद और दयाके अभ्याससे उत्पक्षका क्षय होता है। अहितका सेवन तथा संत्यका त्याग करनेसे मात्सर्य उत्पन्न होता है। साधुजनोंकी सेवा करनेसे मात्सर्य दूर होता है। कुलके ज्ञान तथा ऐश्वर्यसे मद उत्पन्न होता है, इनके स्वरूपका ज्ञान होनेसे वह नष्ट हो जाता है। कामसे हीर्ष्य उत्पन्न होती है और उसमें हीर्ष प्रकाशित करनेसे उसकी और भी वृद्धि होती है। प्रजाके द्वारा उसका ज्ञान किया जाता है। द्वेषपूर्ण वचनोंसे कुत्सा उत्पन्न होती है, लोककी गति देखकर वह कुत्सा नष्ट हो जाती है। शत्रुकी समृद्धिका ज्ञान करना असम्भव जानकर तीव्र असूया उत्पन्न होती है, उसके ऊपर कसणा करनेसे वह असूया दूर हो जाती है। दीन-दुर्लीको देखकर कृपाका प्रादुर्भाव होता है; उसमें ज्यौ धर्मनिष्ठा देखी जाती है; तभी कृपाकी शान्ति हो जाती है। सर्वभूतोंके अज्ञानसे ही लोभकी उत्पत्ति देखनेमें आती है। भोगकी अस्थिरताका चिन्तन करनेसे किसी कस्तुके प्रति लोभ नहीं रह जाता।

सत्त्विक भोजन करनेसे मनुष्य निदाको जय करनेमें समर्थ हो सकता है। उपस्थ और उदरकी रक्षा पैर्यवलभवन-के द्वारा करनी चाहिये। चक्षु और श्रोत्रकी रक्षा मनके द्वारा करनी चाहिये। मन और वाक्यकी रक्षा कर्मके द्वारा करनी चाहिये, अर्थात् मन और वाक्यके द्वारा दुष्ट चिन्तन करनेपर भी कर्मके द्वारा उसका निरोध करना चाहिये। प्रमाद ही भयका कारण है। अप्रमादके द्वारा भयको दूर करना चाहिये। दम्भको साधुकी सेवाके द्वारा दूर करना चाहिये। आल्स्य छोड़कर योगके इन समस्त विषयोंको दूर करना चाहिये। अग्नि और आहारणको प्रणाम और उनकी पूजा करनी चाहिये। देवताओंको प्रणाम करना चाहिये। किंतु को भी अप्रिय वचन न कहना चाहिये। जिससे हिता होती है या किसीके मनमें दुःख होता है, ऐसी वात नहीं कहनी चाहिये।

ध्यान, अध्ययन, दान, सत्य, ही (लज्जा), सरलता, क्षमा, शौच, आचार, चित्तशुद्धि, इन्द्रियजय—इन सबके साधनके द्वारा तेजकी बुद्धि होती और पापोंका नाश होता है। साधकका सारा प्रयोजन इनके द्वारा सिद्ध होता है तथा विज्ञान भी उत्तम होता है। वस्तुकी प्राप्ति और अप्राप्तिमें एकरस रहनेसे पाप नष्ट हो जाते हैं। लघु आहारके द्वारा काम-क्रोधको जय करके ब्रह्मदप्तके लिये प्रयास करना चाहिये। मन और इन्द्रियोंके एकत्र करके रात्रिके पूर्वार्द्ध और प्रातर्द्धमें मनको आत्मामें स्थित करना चाहिये। पञ्च इन्द्रियोंमें स्थित एक इन्द्रिय भी छिन्नमुक्त हो तो उस इन्द्रियके द्वारा उसकी प्रज्ञा बख्तालसे जलके समान बाहर निकल जाती है। मत्स्यजीवी जिस प्रकार कुमत्स्यको पहले पकड़कर अन्य मत्स्योंको क्रमशः पकड़ते हैं, उसी प्रकार साधकको मनस्पी दुष्ट मत्स्यका पहले निग्रह करके तब अन्य इन्द्रियोंका निग्रह करना चाहिये।

कर्मे घटस्य या बुद्धिर्थोपती न सा मता ।
पूर्वं धर्मोनुपायेषु नान्यद्वयेषु कारणम् ॥
पूर्वे समुद्रे यः पन्थः स न गच्छति परिमम् ।
एकः पन्थः हि भोक्षस्य तन्मे विक्षरतः शणु ॥
क्षमया कोष्ठमुच्छिन्नात् कर्मं सङ्कृप्यवर्जनात् ।
सत्त्वसंसेवनादीरो निद्रां चर्ष्णेत्तुमर्हसि ॥

अप्रमादाभ्यर्थं रक्षेद्युक्तासं क्षेत्रजातीक्षनात् ।
इच्छा द्वेरं च कर्मं च जैवेण विनिवर्तयेत् ॥
भ्रमं संस्मौहसावर्तमम्ब्यासाद्विनिवर्तयेत् ।
निद्रां च प्रतिमां चैव शाशाभ्यासेन तत्त्वविद् ॥
उपद्रवांस्तथा रोगान् द्वितीर्णगिरावज्ञनात् ।
लोभं भ्रोहं च सम्बोधाद्विषयोस्तस्तद्वर्जनात् ॥
अनुकूलशादधर्मं च जयेद्युभ्यमवेक्षया ।
आश्रया च जयेदाशामर्थं सङ्कृतिवर्जनात् ॥
धनित्यवेन च स्नेहं क्षुधो योगेन पर्जितः ।
काहग्येनात्मयो मानं लृणां च परितोषतः ॥
उत्थानेन जयेद्यन्द्रीं वितर्कं विश्वाजायेत् ।
मौनेन बहुभाष्यका शौचेण च भयं त्यजेत् ॥
वच्छेदाद्यमनसी बुद्धया तां वच्छेदात्मचमुद्यात् ।
शानमारमायादीपेन वच्छेदाद्यमानमारमान ॥
तदेतदुपयान्तेन बोद्धुर्द्यं शुचिकर्मणा ।
योगाद्वैषान् समुच्छित्पञ्च यान् कवयो विदुः ॥

(महा० शान्ति० २७४।३-१३)

अश्वामरमायणके अरण्यकाण्डके चतुर्थ सर्गमें जीवात्मका ज्ञान किस प्रकार होता है, इसका वर्णन है। जीवात्मा और परमात्मा पर्यायवाचक कल्प हैं, इनके बीच भेद-बुद्धि नहीं करनी चाहिये। अमानिता, अद्रम्भ, अहिंसा, क्षमा, सरलता, मन, याणी और शरीरके द्वारा सदुरुची क्षेवा, वाद्य और आनंद शौच, सत्कर्मनिष्ठता, शरीर-मन-याणीका निग्रह, विषयके प्रति वैराग्य, निरहङ्कारता, समस्त विषयोंमें जन्म-मृत्यु-जन्म आदिकी आलोचना, पुत्र-धन-दारा आदिमें आत्मकिका त्याग, स्नेह-शून्यता, इष्ट और अनिष्टकी प्राप्तिमें समचित्तता, अनन्यरूपसे सब पदयोंमें सर्वत्र भगवद्भावका दर्शन, जन-समूहके समायमका त्याग, शुद्ध देशका सेवन, मूर्ख और जन-समूहके प्रति अरति, आश्वानके लिये सर्वदा उद्योग, वेदान्तशास्त्रका अवलोकन—इन सब साधनोंसे तथा इनके विरोधी साधनोंके त्यागसे जीवात्मका ज्ञान होता है। गीतामें तेरहवें अध्यायके ८वें स्तोकसे लेकर १२ स्तोकतक यही वात कही गयी है।

साधना-तत्त्व

(लेखक—प० श्रीहनूमानजी शर्मा)

विषय गम्भीर और व्यापक है; अति तुच्छ जीवसे लेकर महत्तम देवाचिदेवतक सभी साधनाके साध्य हैं। जिसे जिस साध्यको पनेकी इच्छा हो, उसके लिये उसकी साधना मौजूद है। साधना यदि निष्काम होगी तो उसका फल किसी भविष्य कालमें सर्वोत्कृष्ट (पर अशात्) मिलेगा और यदि सकाम होगी तो तत्काल मिल जायगा। साधना कोई भी हो, उसके साथ साधनानी अवश्य रखनी होगी; अन्यथा साध्य रुद्ध जायगा और साधना विगड़ जायगी।

(२) यदि आपको ब्रह्मकी साधना करनी हो तो नित्यानित्य-विवेकके द्वारा फलभोगका व्याग करशम-द्वामादिकी विपुल सम्पत्तिका संग्रह करना होगा और चलते-फिरते, खाते-पीते, उठते-बैठते मनको ब्रह्ममें ही लगाना होगा। 'ब्रह्म' का स्वरूप क्या है, यह जाननेके लिये चराचर सुधिके प्रयेक प्राणी-पदार्थको ब्रह्मका प्रतिरूप मानकर सर्वत्र उन्हींका अनुसन्धान करना होगा।

(३) यदि आपको भैरव, भवानी, हनुमानजी या अन्य किसी भी देवी-देव, भूत-प्रेत, यज्ञ, राक्षस, गन्धर्व अथवा डाकिनी-शाकिनी आदिको साधना करनी हो तो सर्वप्रथम सद्गुरुके स्मीप रहकर इनके मन्त्र, साधना, गुण और स्वरूपका ज्ञान प्राप्त कीजिये और इनका अभ्यास हो जानेपर साधनामें मन लगाहये। उक्त देवोंमें कोई सत्त्वगुणी, कोई रजोगुणी और कोई तमोगुणी हैं। इसलिये सत्त्वगुणी और रजोगुणी देवोंके साधन-मन्त्र वेदों और मन्त्रशास्त्रोंसे और तमोगुणीके माली, तेली, धोबी और चमार आदिसे प्राप्त कीजिये। इसी प्रकार सत्त्वगुणी तथा रजोगुणी देवोंके स्वरूप शृणिप्रणीत स्तोत्रोंमें अये हुए ध्यानोंसे और तमोगुणीके प्रकृतिकी तात्कालिक विकृतिसे लीजिये। इन सब वातोंको जानकर साधना कीजिये। यह ध्यान रखिये कि साधनाके समय सत्त्व-गुणी देवोंके समीपमें, रजोगुणी देवोंके समने और तामसीके पृष्ठभागमें बैठकर उनके प्रत्यक्ष दीर्घते हुए या ध्यानादिसे जाने हुए स्वरूपको हृदयमें रखकर व्याविष्ठ जप कीजिये और विनयी बने रहिये। इस प्रकार करते रहनेसे अगर आपकी साधना अनुकूल हुई तो उसकी अवधि समाप्त होनेके पहले सात्त्विकी देवता उस काममें आपकी अच्छि

पैदा करेंगे, रजोगुणी उसमें 'देर लगावेंगे और तमोगुणी बाढ़ा ढालेंगे। ऐसी अवस्थामें आप खैर, दृढ़ता और संलग्नतामें मजबूत रहेंगे तो आपकी साधना सफल हो जायगी और कदाचित् कुछ गङ्गबद्ध होगी तो बना-बनाया काम निगड़ जायगा। उचित तो यह है कि साधनात्मप्रब्रह्म होनेतक सब तरहसे सावधान रहें और साध्य देवको साक्षात् ब्रह्म मानकर उसमें मन लगावें। अगर आराध्य देवको प्रत्यक्ष करना हो तो श्रद्धा, अप्यास, साधना और 'लग्नताकी विशेष वृद्धि करें। उससे ब्रह्म, विष्णु, महेशादि या तो स्वप्नमें दर्शन देंगे या किसी अदृष्टपूर्व चिलक्षण दृश्यके रूपमें कुछ कहेंगे। सूर्य, शक्ति या हनूमानजी आदि गो, द्विज, बटुक या महाकाय मर्कटके रूपमें दर्शन देंगे। भैरव-भवानी या भोगियाँ आदि लिंग, ज्वान या सर्पादिके द्वारा मिलेंगे। व्यक्ष-राक्षस या गन्धर्वादि पशु-पक्षी या नारिके रूपमें नजर आवेंगे। भूत-प्रेत और पिशाचादि मेड़, ऊँट या मैंसे आदि बनकर दीखेंगे। यक्षिनी नवयुवती-जैली मादृम होगी और डाकिनी अपने ही विकृत वेषमें आवेंगी। इनमें जिनको भी आप प्रत्यक्ष करना चाहेंगे वही आपको उक्त प्रकारसे दर्शन देंगे। किन्तु ऐसे अनुष्ठानोंमें अनेक आपत्तियाँ आती हैं। कई एक देवता प्रत्यक्ष होनेके पहले कुछ ऐसे हृश उपस्थित कर देते हैं जिनको देखकर सामान्य साधक लहम जाते या वैसुध हो जाते हैं और अन्तमें उनका विगड़ हो जाता है। अतः ऐसी भवानाके बदले शान्त-अशान्त सभीको ब्रह्मके रूपमें परिणत करके सात्त्विकी साधना करें तो अच्छा है।

(४) यदि आप मन्त्र-तत्त्व या कृत्या साधना चाहें तो इस शिष्यके चारोंओंका अध्ययन या अबलोकन कीजिये। इहस-ज्ञानके बिना यों ही किसी सत्यावको सत्ताहीन करनेके लिये 'हाँ'ही। 'हुं-फट्' से मन्त्रशास्त्रोंकी समाप्ति और दूसरोंके सुत-दारा और सम्पत्तिको मिटानेके लिये सेहका सूला, कुमारीका सूत, चाकका डोरा और पद्मोत्तीकी झाड़ु आदिसे तन्त्रशास्त्रोंकी हतिश्री करना अच्छा नहीं; इनका अनर्थकारी अधम कल तत्काल नहीं तो अन्तकालतक अवश्य मिलता है। अतएव इनकी अपेक्षा—

‘ॐ नमः भगवते बासुदेवाय’, ‘ॐ नमः शिवाय’, ‘ॐ

नमो वक्तुण्डाय', 'ॐ नमः सर्थाय', 'ॐ नमः हस्तीय'
'ॐ नमो हनुमते' और 'ॐ नमः परमात्मने'

—आदिके अखण्ड प्रयोगोंसे मंत्रोंका और गन्ध-पुष्पादिसे शोभित, धूतपूर्ण बचियोंसे प्रञ्जलित और अनुष्ठानियोंके द्वारा पूजित प्रकाशमान दीपकों चौराहेमें रखकर दध्येदनादि-की बलि देनेके द्वारा तन्त्रोंका और जनपदनाशादि उत्पातोंके उपशमनार्थ अखण्ड रामध्यनि, अहोरात्र होमाहुति, शतसहस्रायुत चण्डीप्रयोग और प्रतिदिनके प्रतिमोज आदि-की कृत्याओंका प्रचार करना अच्छा है। ऐसे मन्त्र-तन्त्र और कृत्याके अमिट और असिंह फलसे अड़ोसी-पड़ोसी और आप सकुटुम्ब सुखी रहेंगे और आपका यश कैलेगा।

(५) यदि आपको किसी 'मनुष्य' की साधना करनी ही तो साथ चाहें मा-याप, भाइ-बहिन, स्त्री-पुत्र, गुरु-पण्डित, अमीर-गरीब, धनी या निर्वन कोइ हीं, आप उनमें ब्रह्मका अंश मानकर उसी भौति साधना कीजिये जिस भौति आराध्य देवकी करते हैं। सबसे पहले आप उनके खान-पान, व्यवहार और स्वभावको जान लीजिये और फिर उनके मन या मिजाजके मापिक साधिये। वे जो भी चाहें, कहें, करावें उन्होंने तुरंत कीजिये और सब कामोंमें तपतरता दिखाते हुए मीठे शर्तार्थसे उन्होंने विश्वार्ता बना लीजिये। उनके कहे मुताबिक करनेमें कभी देर, संकोच या न्यूनता न होने दीजिये। साधनाके समय अगर आपको धूप, दर्पण या मर्दी आदि सतावें तो उनको भी सह लीजिये। इस भौति करनेमें यदि आपकी साधना सकाम होगी तो साथ आपकी अपना शरीर-तक देनेमें भी संकोच नहीं करेंगे और निष्काम होगी तो सर्वस्यसे बढ़कर शुभाशीष् मिलेगी, जिसका फल परमात्मा देंगे और वह अमिट रहेगा।

(६) यदि आप हार्षी, शोड़े, गाय, बैल या भैंस आदि-की साधना करना चाहें तो इनमें भी उसी ब्रह्मका अंश मान-कर सनुराग साधना कीजिये और ठीक समयर चारादाना-पानी, सफाई और संभाल आदिके सिवा प्यार-कुलार भी करते रहिये। इस भौति करनेमें आपकी साधना सकाम होगी तो उनसे आप हर तरहका काम लेंगे, हर तरहका लाभ उठावेंगे और दूध, दही, घी, छाड़ या मलाई आदि पौष्टिक पदार्थ आपको मिलते रहेंगे—जिनसे स्वास्थ्य और आयुकी वृद्धि होगी। और यदि साधना निष्काम होगी तो भरणानन्तर उनके हाइ, दाँत, चमड़ेका और उनकी सन्ततिका पूरा

लाभ (आपको नहीं, पर आपके पुत्रादिकों या पड़ोसियोंको) अवश्य मिलेगा।

(७) यदि आप तोता, मैना या मुर्गे आदि पक्षियोंकी साधना करना चाहें तो वे भी उसी बापके बेटे हैं, उनको भी उसी भौति साधिये और मैना आदिको 'हरे राम' रटाकर मुक्तिमार्गमें लगा दीजिये। साथ ही मुर्गे आदिसे विश्वमिश्रित भोजनादिकी परीक्षा करवाकर अपाहिज बुधुक्षितोंकी प्राण-रक्षा कीजिये। यदि यह साधना सकाम हो तो उक्त पक्षियोंको बेचकर पैसे पैदा कीजिये और निष्काम हो तो उनको खुले मैदानमें यथायोग दाना-पानी देकर पक्षीमात्रका पालन कीजिये। इस प्रयोगसे आपको शात होगा कि मनुष्योंकी अवेक्षा पशु-पक्षियोंके आहार-विहार, वर्ताव-व्यवहार कितने उत्कृष्ट होते हैं।

(८) यदि आप खूब, वाटिका, वनस्पति या अक्कादि-की साधना करना चाहें तो बड़ी खुशीकी बात है। खूब मन लगाकर कीजिये। उनमें भी उसी ब्रह्मका अंश है जिसका ब्रह्मा, विष्णु, भगवान्में है। इनकी साधना यदि सकाम करोगे तो 'उक्तों' से फल-फूल, छाया और काष्ठसंग्रह होगा। 'वाटिका' से पुष्प-सुग्राद्य और स्वास्थ्यप्रद शुद्ध वायु मिलेगा, 'वनस्पति' से औपरानिर्माणके साधन और 'अक्क' से भरण-पोषण और उदरदीरीका पूरण आदि अनेक लाभ होंगे। और यदि निष्काम होगी तो इनसे आपको होनेवाले सभी सुख-लाभ या स्वास्थ्य-साधन दूसरोंको मिलेंगे, जिसमें आपका यश, पुण्य और नाम पीढ़ियोंतक मौजूद रहेगा।

(९) यदि आपको इन साधनाओंमें यह सद्देह हो कि संसारके अगणित प्राणी, पदार्थ या देवादि सभीमें अकेले ब्रह्मका अंश कैसे आ सकता है तो इसकी निष्पत्तिके लिये आप मुँह देखनेके शीशोंको फोड़कर अगणित ढुकड़े कर दीजिये। वे गोल, चौकोर, चिपटे, पट्टोला, छोटे-बड़े, बारीक—कैसे भी हो, सबको दुपहरीकी धूपमें रख दीजिये। उनके समीप ही अनेक प्रकारके पात्रोंमें धी, दूध, दही, छाड़, जल, तेल आदि पदार्थ भर दीजिये और वहीं हर तरहके प्रकाशमान वस्त्र, शाल, आमूषण और चर्तन रखवा दीजिये और फिर उन सबको अलग-अलग या एक साथ देखिये। उन सबमें ब्रह्मके प्रत्यक्ष स्वरूप तेज़; पुरुष जगदाधार और सहस्रों किरणवाले सूर्यका जो प्रतिविम्ब आकाशमें दीखता है वही यथावत् (ज्यो-का-त्यो) दीखेगा और साक्षात् सूर्यकी भौति उन ख

धस्तुओंमें दीक्षानेवाले प्रतिविष्टहे भी आँखोंमें घकाचौंध आयेगी। इससे आप जान सकेंगे कि हर्षकी भाँति ही ब्रह्माका अंश भी सबमें प्रविष्ट रहता है और उसी तरह सब काम यथावत् करता है।

(१०) साधनाके अनेक प्रकार हैं। उनमें प्रतिदिनकी सेवाके सिधा (१) एक सौ आठ तुल्सी-मंजरियोंसे विष्णुकी, (२) अर्कुष्ठ, विश्वपत्र, पार्थिवपूजन और ब्रह्मामिषकसे शिखकी, (३) प्रति परिकमणमें मोदक अर्पण करनेसे गणेशकी, (४) रक्तचन्दन और लाल कन्नीके पुष्ट्येंसे युक्त १०८ अर्थदान, नमस्कार और परिकमणसे सर्वकी, (५) अनेक प्रकारके पुष्ट्योंकी सौ पुष्ट्यज्ञलियोंसे 'शक्ति'की, (६) रामायणके

पाठके साथ तिलोंके सेलके अविच्छिन्न अभिषेकसे हनुमान्-जी-की, (७) नाथ-नपके साथ नाथक-पुष्ट्य अर्पण करनेसे सीता-की, (८) दूर्वाकुरुक्तें अभिषेकसे गौरीकी, (९) तैलधाराले मैवकी, (१०) मूँग-भातसे 'भोगियाँ' की, (११) जलर्पणसे पीपलकी, (१२) दूजार्पणसे 'वट' की, (१३) गुडमिश्रित गोधूमन्तुणादिते गौकी, (१४) दुले अज्जराशि-से कपोतमण्डलकी, (१५) आश्रयदानादिसे अपाहिंजोंकी और (१६) मनस्तुष्टिके प्रीत्युपहारोंसे परिवारकी साधन। विशेष रूपसे क्षम्भ द्वारा सकती है। उपासनाके ग्रन्थोंमें इनके विधि-विवान विस्तारपूर्वक लिखे हैं। उनको देखकर यथोचित कार्य करें।

वैदिक कर्म और ब्रह्माण्ड

(लेखक—श्रीवसन्तकुमार चट्टमी, ए०, ए०)

पश्चात्य विद्वानोंकी यह कल्पना है कि वैदिक कर्मकाण्ड और औपनिषद ब्रह्माण्डमें परस्परविरोध है। ढां विटरनिज लिखते हैं कि 'जब ब्राह्मणलोग यज्ञ-यागादिके निरर्थक शास्त्रमें प्रवृत्त हों, तब अन्य लोग उन महान् प्रश्नोंके विचारमें लगे थे जिनका पीछे उपनिषदोंमें इतनी उत्तमताके साथ विवेचन हुआ है।' (हिस्टरी आफ संस्कृत लिटरेचर प० २१) मिं ० मैकड़नेल कहते हैं कि 'उपनिषद् यथापि ब्राह्मणाद्वयों-के ही भाग हैं, क्योंकि हीं वे उन्हींके शानकाण्डके विस्तारस्वरूप, तथापि उनके द्वारा एक नये ही धर्मका प्रतिपादन हुआ है, जो वैदिक कर्मकाण्ड या व्यवहारके सर्वया विशद् है।' (हिस्टरी आफ संस्कृत लिटरेचर प० २१८) इन विद्वान् प्रोफेसर-को यह नहीं सहा कि एक ही अन्यके दो भाग एक-दूसरेके विशद् कैसे हो सकते हैं। जो लोग भारतीय संस्कृतिकी परम्परामें नहीं जन्मे, नहीं फैल-फूले, उन विदेशियोंको तो इस गलतीके लिये क्षमा किया जा सकता है। उनका जन्म-जात संस्कार ही वैदिक कर्मकाण्डके विशद् है। उनकी तो यह समझ है कि ये वैदिक कर्म अन्यविद्यासकी उपज हैं, आत्मशानसे इनका कोई सरोकार नहीं। परन्तु इस उन अद्वितीय आधुनिक भारतीय विद्वानोंको क्या कहें जो वैदिक कर्मकाण्ड और औपनिषद ब्रह्माण्डके इस पाश्चात्य विद्वानों-द्वारा करियत परस्परविरोधका ही अनुवाद किया करते हैं। क्या उन्हें भी यह नहीं सूझता कि श्रीमद् शशांकार्चार्य और श्रीरामानुजाचार्य जैसे महान् प्रतिभावाली व्यक्तियोंमें इतनी

समझ तो अवश्य रही होगी कि यदि वेदोंके कर्मकाण्ड और शानकाण्डमें परस्परविरोध है तो दोनों ही काण्ड सब नहीं माने जा सकते। यह बात स्मरण रहे कि श्रीशङ्करचार्य और श्रीरामानुजाचार्य तथा भारतीके सभी प्राचीन आचारोंने यह माना है कि वेद, जिनमें उपनिषद् भी आ जाते हैं, अपेक्षये हैं अर्थात् सर्वया सत्य हैं।

इस कर्मकाण्ड और शानकाण्डके परस्परविरोधकी कल्पना जिस आधारपर की जाती है, उसका यदि इस परीक्षण करें तो हमें यह देखकर आवश्यक होगा कि इतने बड़े-श्वेत विद्वान् मूर्खोंमें ही इतनी बड़ी गलती कैसे कर गये। वैदिक कर्मकाण्ड-की यह फलश्रुति है कि इन कर्मोंके आचरणसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है। उपनिषदोंने कहीं भी इसका खण्डन नहीं किया है। इसके विपरीत उपनिषदोंके अनेक वाक्य इसके समर्पक हैं। इसके दो अवतरण नीचे देते हैं—

'वये हैं वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव सोकमभिजयन्ते।' (प्रश्नोपनिषद् ११९)

'जो लोग यश करना, वापी-कृप-तड़ागादि खुदबाना और वरीचालगवाना आदि इष्टापूर्तस्य कर्ममार्गका ही अवलम्बन करते हैं, वे चन्द्रलोकको प्राप्त होते हैं।' (चन्द्रलोक स्वर्गका ही एक भेद है)।

स्तेषु वशवरते श्रावसनेतु

चन्द्राकांकं चहुतयो द्वादशाम् ।

तं नयन्त्रेतः सूर्यस्व रक्षमवो
यत्र देवानां पतिषेकोऽधिवासः ॥
(मुष्टक १।२।५)

‘इन दीतिमान् जिहाओंमें जो यथाकाल आहुति देता हुआ अभिष्ठोऽ करता है, उसे वे आहुतियाँ सूर्यकी रशिमयों के साथ मिलकर वहाँ ले जाती हैं। जहाँ देवताओंका एक पति सबसे ऊपर विराजता है।’

मुण्डकोपनिषद् स्पष्ट ही भवताता है कि वैदिक कर्मकाण्ड सचा अर्थात् अवर्यथ पालप्रद है। यथा—

‘तदेतत् सर्वं सम्ब्रेत्तु कर्माणि कवयो यान्यपश्चद्’
(मुष्टक १।२।१)

‘शृणियोने मन्त्रोंमें जिन कर्मविधियोंको देखा, वे सत्य हैं।’ प्रथमतः मन्त्र प्रकट हुए, तथा उन मन्त्रोंके साथ वैदिक कर्म करनेकी विधियाँ ब्राह्मणग्रन्थोंमें समाविष्ट की गयी। ये ब्राह्मणग्रन्थ वेदोंके ही अंग हैं और अपौरुषेय वेदमन्त्रोंसे ही निकले हैं। इस प्रकार वेद मन्त्र-ब्राह्मणात्मक हैं, जैसा कि ‘यशस्विभाषासूत्र’ में महर्षि आपस्तम्भ कहते हैं—

‘मन्त्रभाषाणयोर्वेदनामधेयम्।’

‘वेद नाम मन्त्रों और ब्राह्मणोंका है।’

वैदिक कर्म और औपनिषद् शानके बीच परस्परविरोध केवल आधुनिक पण्डितोंकी कल्पना है, यह बात इससे भी स्पष्ट हो जायगी कि उपनिषदोंने कितने ही स्थानोंमें वेदोंके मन्त्रभागसे प्रमाण उद्दृश्य किये हैं—यह कहकर कि ‘तदेतद् श्रुत्वाभ्युक्तम्’ अथवा ‘तदेष फ्लोकः’ इत्यादि (अगांत् शूक्रमें ऐसा कहा है, अथवा वेदमन्त्र ऐसा है)।

ब्रह्मकी महिमाका वर्णन करते हुए एक जगह मुण्डकोपनिषद्में यह मन्त्र आता है—

तस्माद्वचः साम यजूषि दीक्षा
यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च ।

संचरसरदेव यज्ञानश्च लोकः:

सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः ॥

(२।१।६)

‘उन परब्रह्मसे श्रुत्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, दीक्षा, यज्ञ, क्रतु, दक्षिणा, संचरसर, यज्ञान और विविध लोक, जिनमें चन्द्र और सूर्य चलते हैं, प्रकट हुए हैं।’

कठोपनिषद्में यह देखा जाता है कि नन्त्रिकेताको ब्रह्मशान देनेके पूर्व उन वैदिक वर्षोंको करनेकी दीक्षा दी गयी, जिनसे स्वर्णकी प्राप्ति होती है।

इस प्रकार यह सर्वाया स्पष्ट है कि उपनिषद् वैदिक वर्षोंद्वारा स्वर्णकी प्राप्तिका होना धोषित करते हैं। परन्तु इस विषयमें यह भी तो कहा जा सकता है कि वर्षोंसे स्वर्णलाभ भले ही होता हो, पर उपनिषदोंका लक्ष्य तो स्वर्ण नहीं प्रत्युत मोक्ष है और इसलिये उपनिषद् देख कैसे कह सकते हैं कि कोई अपना समय और शक्ति वैदिक यज्ञानामादिमें व्यर्थ ही व्यय किया करे। परन्तु यह कुतके ही है। उपनिषद् तो स्पष्ट ही विधान करते हैं कि यश करो। स्वातंत्रके समावर्तन-संस्कारमें आचार्य शिष्यको स्पष्ट ही आदेश देते हैं कि—

‘देवपितृकर्त्त्वाद्यान्मानं न प्रमदितव्यम्।’ (नै००२।१।१२)

‘देवों और पितरोंके लिये यह करनेमें कभी प्रमाद न करना।’ मुण्डकोपनिषद्के उपर्युक्तमें यह कहा है कि—

तेषामेवैतां ब्रह्मविदिं वदेत

सिरोवतं विविव्यैस्तु चीर्णम् ॥

(मुष्टक ३।२।१०)

‘यह ब्रह्मविद्या उन्हींसे कहे, जिन्होंने विविव्यैक शिरोवत् (एक वैदिक वर्ष) सम्पन्न किया हो।’ कठोपनिषद्की कथामें वैदिक वर्षोंकी विद्या पश्चे बताकर तब ब्रह्मविद्याको बताना इसी बातको ही तो सूचित करता है कि ब्रह्मविद्याका अधिकार वैदिक कर्मका विविव्यैक पालन करनेसे ही प्राप्त होता है।

फिर भी यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि वैदिक कर्म स्वर्णके ही देनेवाले हैं तो जो मनुष्य स्वर्ण न चाहता हो, मोक्ष ही चाहता हो, उसके लिये वैदिक कर्मकी आवश्यकता ही क्या हो सकती है? इसका उत्तर बृहदारण्यकोपनिषद् के इस वचनसे मिलता है—

‘तमेतं वेदानुवदनेन ब्राह्मणा विविदिष्वित्य यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन।’ (४।४।२२)

‘ब्राह्मणलोग वेदाध्ययनसे तथा कामनारहित यज्ञ, दान और तपसे उस (ब्रह्म) को जानेकी इच्छा करते हैं।’ इस वचनमें अनाशकेन (कामनारहितेन) पद विद्योप अर्थात् यह है कि वेदोंके

ब्रह्मादि कर्म जब आसक्तिहित किये जाते हैं, तब उनसे स्वर्गलाभ होता है और जब आत्मकरहित किये जाते हैं, तब कामकोषधिकोंसे मुक्त होकर कर्ताका चित्त धुङ्क हो जाता है। यही बात गीताने इन श्लोकोंमें कही है—

यज्ञवानतपःकर्म न त्यज्य कार्यमेव तत् ।

बजो दानं तपैव यावनानि मनीषिणाम् ॥

एतान्यपि तु कर्मणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।

कर्तृत्यानीति मे शार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥

(१०। ५-६)

‘यज्ञ, दान, तप आदि कर्म त्यज्य नहीं हैं, अवश्य करणीय हैं; यज्ञोंके बे मनीषिणोंके पावन करते हैं। इन कर्मोंको भी आसक्ति और फलेच्छाको छोड़कर करना चाहिये, यही मेरा निश्चित उत्तम मत है।’ उपनिषद् के ‘अनाशक्तेन’ पदको ही गीताके ‘सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च’ शब्दोंने विशद किया है।

अब उपनिषद् के उस मन्त्रका भी विचार कर लीजिये, जिसमें आधुनिकोंको वैदिक कर्म और औपनिषद् स्थानमें परस्परविरोध देख पड़ता और यह कहनेका भौका मिलता है कि उपनिषदोंने तो वैदिक कर्मकाण्डका खण्डन किया है। मन्त्रार्थका टीक तरहसे विचार करनेपर अवश्य ही यह प्रतीत होगा कि खण्डन वैदिक कर्मकाण्डका नहीं, बल्कि उसके पलस्त्रस्य स्वर्गभोगकी इच्छाका खण्डन है। मन्त्र इस प्रकार है—

पुरा येते भद्रा यक्षरूपा

अष्टादशोक्तम्बरं येषु कर्म ।

पृथच्छेष्यो येष्मिननन्दनित मृदा

जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥

(मुण्डक ० १ । २ । ७)

अर्थात् ‘विनपर शानवर्जित कर्म अवलम्बित है—ऐसी ये अठारह यशसाधनरूप नौकाएँ अढ़ात हैं। इन्हें जो श्रेय जानकर इनका अभिनन्दन करते हैं, वे मृढ हैं। वे फिसे जरा और मृत्युको प्राप्त होते हैं।’ यहाँ यज्ञोंको ‘अढ़ानौकाएँ’ कहा है; क्योंकि ये नौकाएँ मृत्युसागर पार नहीं करतीं, ब्रह्मविद्या ही मृत्युसागरके पार पहुँचती है। इसका यह मतलब तो नहीं हुआ कि इन यज्ञोंका कोई प्रयोगन ही नहीं है। इसके पूर्वके दो मन्त्रोंमें यह भात कही जा तुकी है कि जो लोग यह करते हैं, वे मृत्युके पश्चात् स्वर्गको जाते हैं। इस मन्त्रसे यह भी न उमझाना चाहिये कि इसका अभिप्राय यज्ञोंके

खण्डनमें है। कारण, अन्य मन्त्रोंमें, जो पहले उम्हृत किये जा चुके हैं, यज्ञोंका आग्रहपूर्वक विधान किया गया है। यहाँ ‘अढ़ानः’ पदसे इतना ही सुनिचत किया गया गया कि यही अन्तिम और सबसे बड़ी चीज़ नहीं है।

आधुनिकोंके चित्तमें यह यज्ञा उठ सकती है कि वैदिक यज्ञोंके करनेसे मनकी शुद्धि कैसे हो सकती है। हस्तका समाधान यह है कि मनकी जो विविध कामाएँ हैं जो आत्मवश्यताके न होनेसे ही उत्पन्न होती हैं, मनकी मलिनता या अशुद्धि हैं। वैदिक कर्मकाण्ड आत्मवश्यमकी शक्तिके ही बद्धाता है। केवल बाह्य विधिका ही सम्पादन यथेष्ट नहीं होता। आत्मशुद्धि और शानप्राप्तिकी सच्ची अभिलाषा भी होनी चाहिये। जहाँ ऐसी इच्छा होती है, वहाँ बाह्य विधिसे बड़ी सहायता मिलती है। मनुष्य शरीर भी है और शरीरी जीव भी। वह जबतक अपने शरीरको योग्य नहीं बना लेता, तबतक वह आध्यात्मिक उत्कर्षका अधिकारी नहीं होता। एक दूसरे ढंगसे भी इस प्रश्नपर विचार किया जा सकता है। हमारा चित्त अनेक प्रकारके कुक्कमोंसे मलिन हो गया है। इन सब मलोंको हटानेके लिये सत्कर्मोंका किया जाना आवश्यक है। सत्कर्म करना ही वैदिक कर्मकाण्डका सहेद्य है। इशोपनिषद् का यह वचन है कि मोक्षके लिये अविद्या और विद्या दोनों आवश्यक हैं। विद्याके विना केवल अविद्यासे काम नहीं चलता; अविद्याके विना केवल विद्या उससे भी खराब है। श्रीमद्रामानुजाचार्यने विद्यासे अर्थ ग्रहण किया है शानका और अविद्यासे शाळोक्त कर्मका—एक साधनाका तात्त्विक अङ्ग है और दूसरा व्यावहारिक। शाळोक्त कर्मोंके करनेसे चित्त शुद्ध होता है और तब ब्रह्मविद्या, श्रवण करनेसे, फलवती होती है। अषुद्धचेताको उस अवश्यसे छुट भी लाभ नहीं हो सकता। ब्रह्मशानकी प्राप्तिमें साधनरूपसे वैदिक कर्मोंकी फलवता भवायान् वेदव्याप्तसे ब्रह्मसूत्रोंमें प्रतिष्ठित की है—

सर्वपैश्च च यज्ञादिशुतेरश्वद् । (३ । ४ । २६)

अर्थात् परम शानके लिये वेदोक्त कर्मोंका आचरण देखें ही आवश्यक है, जैसे एक स्थानसे दूसरे स्थानको जानेके लिये घोड़ेकी सवारी आवश्यक होती है। घोड़ेके साथ जीन और लगाम आदिकी भी जरूरत होती है। इसी प्रकार परम शानकी प्राप्तिमें केवल वेदानुबचनसे ही काम नहीं चलता, बल्कि वेदोक्त कर्म करनेकी भी आवश्यकता पड़ती है। (श्रीरामानुजाचार्यकृत ‘श्रीभाष्य’)

विहितस्थाप आभ्रमधर्मापि । (३ । ४ । ३३)

सहकारित्वे च । (३ । ४ । ३३)

—इन सूत्रोंमें यह स्पष्ट कहा गया है कि आभ्रमधर्मोंका पालन भी ब्रह्मविद्यामें साधक होता है और आहारादिके विषयमें भी शास्त्रविधिये युक्त आचरण तथाकारी होता है। काम-क्रोधादि विकार ईश्वरस्थानमें बाधक होते हैं। वेदोंके वर्णाश्रमधर्म काम-क्रोधादिको जीतनेकी सामर्थ्य देता है। यह सच है कि वर्षाश्रमधर्मके आचरणके विना जग, तप, उपवास और दानसे भी ब्रह्मशान प्राप्त किया जा सकता है। छान्दोग्योपनिषद्के रैंक, बृहदारण्यककी बाचकवी, महाभारत-के भीष्म किंवद्दि आश्रममें नहीं ये अर्थात् उन्होंने वर्णाश्रमधर्मसे विहित कर्मोंका विधियुक्त आचरण नहीं किया, तथापि वे ब्रह्मविद्या-लाभ कर ब्रह्मशानी हुए। मनुष्णहिताका यह बचन है—

जप्तेनापि च संसिद्धयोग्राहक्ये नाम संसाध ।

कुर्याद्यन्त वा कुर्यास्यैत्रो ब्राह्मण उपदत्ते ॥

(२ । ८७)

सत्रांश यह कि 'जप्ते भी ब्राह्मणको संसिद्धि प्राप्त होती है, चाहे वह कोई अन्य कर्म करे या न करे।' वेदव्याख्याने इस बचनका 'अपि च सर्वते' (३ । ४ । ३७) इस सूत्रमें प्रामाण्य दरसाया है। तथापि जप-तप-दानादिकी अपेक्षा वर्णाश्रमधर्म ही ब्रह्मप्राप्तिमें अधिक फलप्रद है—

अतस्त्वितरञ्ज्याचो लिङ्गाच । (श्लोदक ३ । ४ । ३९)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि परम शानकी प्राप्तिके साधन-में बाह्य आचरणके नियमनकी भी उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि आन्तर अभ्यासकी।

न्यासका प्रयोग और उसकी महिमा

न्यासका अर्थ है स्थापन। बाहर और भीतरके प्रत्येक अङ्गमें इष्टदेवता और मन्त्रका स्थापन ही न्यास है। इस स्थूलशरीरमें अपवित्रताका ही साम्राज्य है, इसलिये इसे देवताभूजाका तबतक अधिकार नहीं जबतक यह शुद्ध एवं दिव्य न हो जाय। जबतक इसकी अपवित्रता बनी रहती है, तबतक इसके सर्पर्ण और सरणसे चित्तमें ग्लानिका उदय होता रहता है। ग्लानियुक्त चित्तप्रसाद और मायोदेकसे शूल्य होता है, विक्षेप और अवसादसे आक्रान्त होनेके कारण चार-चार प्रमाद और तन्द्रासे अभिभूत हुआ करता है। यही कारण है कि न तो वह एकतार सरण ही कर सकता है और न विविधिधानके साथ किसी कर्मका ताङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान ही। इस दोषको मिटानेके लिये न्यास सर्वश्रेष्ठ उपाय है। शरीरके प्रत्येक अवयवमें जो भावनाशक्ति सुरुपत हो रही है, इष्टदेवके अन्तरालमें जो भावनाशक्ति सुरुचित है, उनको अगानेके लिये न्यास अव्यर्थ महौषधि है।

न्यास कई प्रकारसे होते हैं। मातृकान्यास, स्वर और वर्णोंका होता है। मन्त्रन्यास पूरे मन्त्रका, मन्त्रके पदोंका, मन्त्रके एक-एक अश्रुका और एक साथ ही सब प्रकारका होता है। देवतान्यास शरीरके बाह्य और आन्तर अङ्गोंमें अपने इष्टदेव अवता अन्य देवताओंके यथास्थान न्यासको

कहते हैं। तत्त्वन्यास वह है, जिसमें संसारके कार्य-कारणके रूपमें परिणत और इनसे परे रहनेवाले तत्त्वोंका शरीरमें यथास्थान न्यास किया जाता है। यही पीठन्यास भी है। जो हाथोंकी सब अङ्गुलियोंमें तथा करतल और करपुष्टमें किया जाता है, वह करन्यास है। जो त्रिनेत्र देवताओंके प्रसङ्गमें शड़ज और अन्य देवताओंके प्रसङ्गमें पञ्चाङ्ग होता है, उसे अङ्ग-न्यास कहते हैं। जो किसी भी अङ्गका सर्व किये विना सर्वाङ्गमें मन्त्रन्यास किया जाता है, वह व्यापकन्यास कहलाता है। शूल्यादिन्यासके छः अङ्ग होते हैं—सिरमें शूल्य, मुखमें छन्द, दृढ़यमें देवता, गुणस्थानमें शीज, पैरोंमें शक्ति और सर्वाङ्गमें कीलक। और भी बहुत से न्यास हैं, जिनका वर्णन प्रसङ्गानुसार किया जा सकता है।

न्यास चार प्रकारसे किये जाते हैं। मनसे उन-उन थानोंमें देवता, मन्त्रवर्ण, तत्त्व आदिकी स्थितिकी भावना की जाती है। अन्तर्न्यास केवल मनसे ही होता है। बहिर्न्यास केवल मनसे भी होता है और उन-उन थानोंके स्पर्शसे भी। सर्वा दो प्रकारसे किया जाता है, किंवद्दि पुष्पसे अथवा अङ्गुलियोंसे। अङ्गुलियोंका प्रयोग दो प्रकारसे होता है। एक तो अङ्गुल और अनामिकाको मिलाकर सब अङ्गोंका सर्व किया जाता है और दूसरा पिन्न-पिन्न अङ्गोंके स्पर्शके

लिये भिज-मिज अङ्गुलियोंका प्रयोग किया जाता है। जिमिज अङ्गुलियोंके द्वारा न्यास करनेका क्रम इस प्रकार है—मध्यमा, अनामिका और तर्जनीसे हृदय, मध्यमा और तर्जनीसे फिर, अङ्गुठेसे शिखा, दर्ता अङ्गुलियोंसे कवच, तर्जनी, मध्यमा और अनामिकासे नेत्र, तर्जनी और मध्यमासे करतल-करमुड़में न्यास करना चाहिये। यदि देवता त्रिनेत्र हो तो तर्जनी, मध्यमा और अनामिकासे, द्विनेत्र हो तो मध्यमा और तर्जनी-से नेत्रमें न्यास करना चाहिये। पञ्चाङ्गन्यास नेत्रको छोड़कर होता है। वैष्णवोंके लिये इसका क्रम भिज प्रकार है। ऐसा कहा गया है कि अङ्गुठेको छोड़कर सीधी अङ्गुलियोंसे हृदय और मस्तकमें न्यास करना चाहिये। अङ्गुठेको अंदर करके मुट्ठी बौधकर शिखाका स्पर्श करना चाहिये। सब अङ्गुलियोंसे कवच, तर्जनी और मध्यमासे नेत्र, नाराचमुद्रासे दोनों हाथोंको ऊपर उठाकर अङ्गुठे और तर्जनीके द्वारा मस्तकके चारों ओर करतलभ्यनि करनी चाहिये। कहीं-कहीं अङ्गन्यासका मन्त्र नहीं मिलता, ऐसे स्थानमें देवताके नामके पहले अक्षरसे अङ्गन्यास करना चाहिये।

शास्त्रमें यह बात बहुत जोर देकर कही गयी है कि केवल न्यासके द्वारा ही देवतवकी प्राप्ति और मन्त्रसिद्धि हो जाती है। इसमें भीतर-बाहर अङ्ग-प्रलङ्घमें देवताओंका निवास है, हमारा अन्तस्तल और बाह्य शरीर दिव्य हो गया है—इस भावनासे ही अदम्य उत्साह, अद्वृत सूर्ति और नवीन चेतनाका जागरण अनुभव होने लगता है। जब न्यास सिद्ध हो जाता है, तब तो भगवान्से एकत्व स्वयंविद्ध ही है। न्यासका कवच पहन लेनेपर कोई भी आध्यात्मिक अथवा आधिदेविक विज्ञ पास नहीं आ सकते; जब कि यिना न्यासके जप, ध्यान आदि करनेपर अनेकों प्रकारके विज्ञ उपरिक्षेत्र हुआ करते हैं। प्रत्येक मन्त्रके, प्रत्येक पदके और प्रत्येक अवसरके अलग अलग शृणि, देवता, छन्द, वीज, शक्ति और कीलक होते हैं। मन्त्रसिद्धिके लिये इनके ज्ञान, प्रसाद और सहायताकी अपेक्षा होती है। जिस शृणि से भगवान् शङ्खरसे मन्त्र प्राप्त करके पहले-पहल उस मन्त्रकी साधना की थी, वह उसका शृणि है। वह शुरुस्थानीय होनेके कारण मस्तकमें स्थान पाने चाहिये है। मन्त्रके स्वर-वर्णोंकी विशिष्ट गति, जिसके द्वारा मन्त्रार्थ और मन्त्रतत्त्व आच्छादित हहते हैं और जिसका उचारण मुखके द्वारा होता है, छन्द है और वह मुखमें ही स्थान पानेका अधिकारी है। मन्त्रका देवता, जो अपने हृदयका घन है, जीवनका सञ्चालक है, समस्त

भावोंका प्रेरक है, हृदयमें ही उसके न्यासका स्थान है। इस प्रकार जितने भी न्यास हैं, कभी एक विशान है और यदि वे न्यास किये जायें तो शरीर और अन्तःकरणको दिव्य बनाकर स्वयं ही अपनी महिमाका अनुभव करा देते हैं। अभी योड़े ही दिनोंकी बात है—गङ्गा और सरयूके सङ्गमके पास ही एक ब्रह्मचारी रहते थे, जिनका साधन ही या न्यास। दिनभर वे न्यास ही करते रहते थे। उनमें बहुत-सी सिद्धियाँ प्रकट हुई थीं और उन्हें बहुत बड़ा आध्यात्मिक लाभ हुआ था। यहाँ संक्षेपसे कुछ न्यासोंका विवरण दिया जाता है—

मातृकान्यास

ॐ अस्य मातृकामन्त्रस्य शब्द ऋषिर्गायत्रीच्छन्दो मातृका-सरस्वती देवता ह्लो वीजानि स्वराः शक्तयः क्षूँ कीलकं मातृ-कान्यासे विनियोगः ।

—यह विनियोग करके जल छोड़ दे और ऋष्यादिका न्यास करे। स्वरमें—ॐ ब्रह्मो शृष्टये नमः। मुखमें—ॐ गायत्रीच्छन्दसे नमः। हृदयमें—ॐ मातृकासरस्वत्यै देवतायै नमः। गुह्यस्थानमें—ॐ हल्म्यो वीजेभ्यो नमः। पैरोंमें—ॐ स्वरेभ्यः शतिभ्यो नमः। सर्वाङ्गमें—ॐ क्षूँ कीलकाय नमः। इसके पश्चात् करन्यास करे—

ॐ अं कं खं गं घं हं आं अङ्गुष्ठाभ्यां नमः ।

ॐ हं खं छं जं झं झं हं तर्जनीभ्यां स्वाहा ।

ॐ उं टं टं हं दं घं ऊं ऊं मध्यमाभ्यां वचट् ।

ॐ एं तं थं धं धं नं एं अनामिकाभ्यां हुम् ।

ॐ ओं पं कं खं भं भं भीं कनिष्ठाभ्यां वौषट् ।

ॐ अं थं रं लं वं शं थं सं हं लं क्षं अः करतक्कर-पृष्ठाभ्याम् अस्त्राय कट् ।

इसके अनन्तर इस प्रकार अङ्गन्यास करे—

ॐ अं कं खं गं घं हं आं हृदयाय नमः ।

ॐ हं खं छं जं झं झं हं शिरसे स्वाहा ।

ॐ उं टं टं हं दं घं ऊं ऊं शिखायै वचट् ।

ॐ एं तं थं धं धं नं एं कवचाय हुम् ।

ॐ ओं पं कं खं भं भं भीं नेत्रवन्याय वौषट् ।

ॐ अं थं रं लं वं शं थं सं हं लं क्षं अः अस्त्राय कट् ।

इस अङ्गन्यासके पश्चात् अन्तमातृकान्यास करना चाहिये। शरीरमें छः चक्र हैं; उनमें जितने दल होते हैं,

उत्तरे ही अक्षरोंका न्यास किया जाता है। इसकी प्रक्रिया समग्रदामानुसार मिज़-भिज़ है। यहाँ वैष्णवोंकी प्रणाली लिखी जाती है।

पाथु-इन्द्रिय और जननेन्द्रियके बीचमें सिवनीके पास मूलाधारचक्र है। उसका वर्ण सोनेका-सा है और उसमें चार दल हैं। उन चारों दलोंपर प्रणवके साथ इन अक्षरोंका न्यास करना चाहिये—ॐ वं नमः, शं नमः, षं नमः, सं नमः। जननेन्द्रियके मूलमें विद्युतके समान पद्मदल स्थानिष्ठान कमल है, उसके छः दलोंपर प्रणवके साथ इन अक्षरोंका न्यास करना चाहिये—ॐ वं नमः, भं नमः, यं नमः, रं नमः, लं नमः। नाभिके मूलमें नील मेघके समान दशदल मणिगूरुकचक्र है, उसमें इन वर्णोंका न्यास करना चाहिये—ॐ ङं नमः, दुं नमः, रं नमः, तं नमः, यं नमः, दं नमः, धं नमः, नं नमः, पं नमः, फं नमः। हृदयमें स्थित मैंगोके समान लाल द्वादशदल आनाहतचक्रमें—ॐ कं नमः, खं नमः, गं नमः, धं नमः, झं नमः, चं नमः, ञं नमः, झं नमः, जं नमः, ङं नमः, अं नमः, टं नमः, टं नमः। कण्ठमें धूम्रवर्ण पोड़दश-दल विशुद्धकचक्र है; हृदयमें—ॐ अं नमः, ओं नमः, इं नमः, ईं नमः, उं नमः, ऊं नमः, ऋं नमः, लं नमः, लं नमः, एं नमः, एं नमः, ओं नमः, औं नमः, अं नमः, अः नमः। ध्रूमध्यस्थित चन्द्रवर्ण दिवदल आज्ञाचक्रमें—ॐ हं नमः, क्षं नमः। इसके पश्चात् सहस्रापर, जो कि स्वर्णके समान कान्तिमान् और समस्त स्वर-वर्णोंसे भूषित है, त्रिकोणका ध्यान करना चाहिये। उसके प्रत्येक कोणपर ह, ल, श—ये तीनों वर्ण लिये हुए हैं। उसकी तीनों रेखाएँ कमशः ‘अ’से, ‘क’से और ‘थ’से शुरू हुई हैं। इस त्रिकोणके बीचमें सुष्ठु-स्थिति-ल्यास्क विन्दुरूप परमात्मा विराजमान है। इस प्रकारके ध्यानको अन्तर्मांत्रिकान्यास कहते हैं।

वृद्धिर्मात्रकान्यास

इस न्यासमें पहले मातृकासरस्तीका ध्यान होता है, वह निम्रलिखित है—

पञ्चाशालिषिभर्विभक्तमुखदोःपन्मध्यवक्षःस्थलं
भास्वन्मौलिनिवद्वचन्द्रशकलामापीनतुङ्गस्तीम् ।
सुद्वामक्षेगुणं सुधाक्षयकलशं विश्वामृहस्तमुजै-
विभ्राणां विश्वदेवमां विनयनां वाग्देवतामाश्रये ॥

‘पचास खर-वर्णोंके द्वारा जिनके मुख, बाढ़, चरण, कटि और वक्षःस्थल पृथक्-पृथक् दीख रहे हैं, सूर्यके समान

चमकीले मुकुटपर चन्द्रसच्च शोभायमान है, वक्षःस्थल बढ़ा और ऊँचा है, कर-कमलोंमें मुद्रा, वद्राष्टमाला, सुधापूर्ण कल्प और पुस्तक भारण किये हुए हैं, अङ्ग-अङ्गसे दिव्य ज्योति विस्वर रही है, उन त्रिनेत्रा वाग्देवता मातृकासरस्तीकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ।’ ऐसा ध्यान करके न्यास करना चाहिये। इस न्यासमें अङ्गुलियोंका नियम अनिवार्य है। इच्छिये उन-उन स्थानोंके साथ ही अङ्गुलियोंकी संख्या भी लिखी जा रही है। न्यास करते समय उनका ध्यान रखना चाहिये। संख्याका सङ्केत इस प्रकार है—१—अङ्गृठा, २—तर्जनी, ३—मध्यमा, ४—अनामिका और ५—कनिष्ठा। वहाँ जितनी अङ्गुलियोंका संयोग करना चाहिये वहाँ उतनी संख्या लिख दी गयी है।

ललाटमें—ॐ अं नमः ३, ४। मुखपर—ॐ आं नमः २, ३, ४। आँखोंमें—ॐ इं नमः, ॐ ईं नमः १, ४। इसी प्रकार पहले ॐ और पीछे नमः जोड़कर प्रत्येक स्थानमें न्यास करना चाहिये। कानोंमें—ॐ, ऊं, ऊं १, ५। कोपोलोगर—लं, लं २, ३, ४। ओषधेमें—एं, ३। अधरमें—एं ३। ऊपरके दाँतोंमें—ओं ४। नीचेके दाँतोंमें—ओं ४। ब्रह्मस्त्रमें—अं ३। सुखमें—अः ४। दाहिने हाथके मूलमें—कं ३, ४, ५। केहुनीमें—खं ३, ४, ५। मणिवन्धमें—गं। अङ्गुलियोंकी जड़में—घं। अङ्गुलियोंके अप्रभागमें—डं। इसी प्रकार वायें हाथके मूल, केहुनी, मणिवन्ध, अङ्गुलीमूल और अङ्गुल्यग्रमें—चं छं जं झं अं। दाहिने पैरके मूलमें, दोनों सनियोंमें, अङ्गुलियोंके मूलमें और उनके अप्रभागमें—टं टं डं ढं अं अं। वायें पैरके उन्हीं पाँच स्थानोंमें—तं थं दं धं नं नं। दाहिने हाथलमें—पं, वायें—पं और पीठमें—वं (वहाँतक अङ्गुलियोंकी संख्या केहुनीयाली दी समझनी चाहिये)। नाभिमें—भं १, ३, ४, ५, ६। पेटमें—मं १ से ५। हृदयमें—यं। दाहिने कन्धेपर—रं। गलेके ऊपर—लं। वायें कन्धेपर—बं। हृदयसे दाहिने हाथतक—शं। हृदयसे वायें हाथतक—यं। हृदयसे दाहिने पैरतक—सं। हृदयसे वायें पैरतक—हं। हृदयसे अन्ततक हथेलीसे न्यास करना चाहिये।

संहारमात्रकान्यास

बाह्यमात्रकान्यास जहाँ समाप्त होता है, वहसि संहार-मात्रकान्यास प्रारम्भ होता है। जैसे हृदयसे लेकर मुखतक—ॐ क्षं नमः। मुखसे पैरतक—ॐ लं नमः। इस प्रकार उल्टे चलकर ललाटके पहुँच जाना, यह संहारमात्रकान्यास है। इसके पूर्व वह ध्यान किया जाता है—

अक्षरां इरिणपोतमुहमदङ्गं
विद्वा कौरवितरं दधतीं जिवेत्तम् ।
अविन्दुभीलिमक्षमाभिविन्दुमां
कर्णेष्वर्तं प्रणमत लावभारमक्षाम् ॥

‘जो अपने चार करकमलोंमें सदा रुद्राक्षकी माला, हरिण-शावक, पत्थर फोड़नेकी दीखी टॉकी और पुस्तक लिये रही हैं, जिनके तीन आँखें हैं और मुकुटपर अर्द्ध चन्द्रमा हैं, शरीरका रंग लाल है, कमलपर बैठी हुई हैं, स्तनोंके भारसे छुक्की हुई उन वर्णेश्वरीको नमस्कार करो।’ संहारमातृकान्यासके सम्बन्धमें कुछ लोगोंकी ऐसी सम्मति है कि यद्य केवल संन्यासियोंको ही करना चाहिये। बाह्य मातृकान्यासमें अक्षरोंका उच्चारण चार प्रकारसे किया जा सकता है। केवल अक्षर, विन्दुयुक्त अक्षर, सविर्यां अक्षर और विन्दु-विसर्वयुक्त अक्षर। विशिष्ट कामनाओंके अनुरूप इनकी व्यवस्था है। इन अक्षरोंके पूर्व बीजाक्षर भी जोड़े जाते हैं। वाक्यादिके लिये ऐसे शीघ्रदिके लिये भी, सर्वसिद्धिके लिये नमः, वशीकरणके लिये भी और मन्त्रप्राप्तादानके लिये अः जोड़ा जाता है। मन्त्रशास्त्रमें ऐसा कहा गया है कि मातृकान्यासके विना मन्त्रसिद्ध अत्यन्त कठिन है।

पीठन्यास

देवताके निवासस्थानको ‘पीठ’ कहते हैं। जैसे कामाख्यादि शासनविदेश पीठके नामसे प्रसिद्ध हैं। जैसे वायु आसनविदेश शाक्यी विधिके अनुडानसे पीठके रूपमें परिणत हो जाता है, वैसे ही पीठन्यासके प्रयोगसे साधकका शरीर और अन्तःकरण शुद्ध होकर देवताके निवास करने योग्य पीठ बन जाता है। वर्तमान युगमें जो दो प्रकारके पीठ प्रचलित हैं, समन्वक और अमन्वक उन दोनोंकी अपेक्षा यह पीठन्यास उत्तम है, क्योंकि इसमें वायु आलम्बनकी आवश्यकता नहीं है। यह साधकके शरीरमें ही मन्त्रशक्ति, मायशक्ति, प्राणशक्ति और अचिन्त्य दैवी शक्तिके सम्मिश्रणसे उत्पन्न हो जाता है। विचारटट्टिसे देखा जाय तो पीठन्यासमें जितने तत्त्वोंका न्यास किया जाता है वे प्रत्येक शरीरमें पहलेसे ही विद्यमान हैं। स्मृति और मन्त्रके द्वारा उन्हें अव्यक्तते अत्यं किया जाता है, उनके सूक्ष्मरूपको स्थूलरूपमें लाया जाता है। यह सुष्ठिक्रमके इतिहासके सर्वथा अनुकूल है और यह साधकको देवताका पीठ बना देनेमें समर्थ है। इसका प्रयोग निम्नलिखित प्रकारसे होता है—

प्रत्येक चतुर्थ्यन्त पदके साथ, जिनका उल्लेख आगे

किया जा रहा है, पहले ढूँ और पीछे नमः जोड़कर यश-स्याम न्यास करना चाहिये—जैसे ढूँ आधारशक्तये नमः। इसी प्रकार क्रमशः सबके साथ ढूँ और नमः जोड़कर न्यासका विधान है।

दूदयमें—आधारशक्तये, प्रकृत्यै, कृमांय, अनन्ताय, पूर्णियै, श्रीरामसुदाय, शेतद्वीपाय, मणिमण्डपाय, कल्पवृक्षाय, मणिवेदिकायै, रक्षसिंहासनाय।

दाहिने कन्धेपर—धर्माय
बायें कन्धेपर—श्रान्ताय
बायें ऊपर—वैराग्याय
दाहिने ऊपर—ऐश्वर्याय
सुखपर—अश्रव्याय
बायें पार्श्वमें—अक्षनाय
नाभिमें—अवैराग्याय
दाहिने पार्श्वमें—अनैश्वर्याय

फिर हृदयमें—अनन्ताय, पश्चाय, अं सूर्यमण्डलाय हृदय-कलामने, उं सोममण्डलाय थोड़ाशकलामने, मं चाह्निमण्डलाय दक्षकलामने, सं सत्त्वाय, रं रजसे, सं तमसे, आं आमने, अं अन्तरामने, पं परमामने, हीं शानात्मने।

सबके साथ पहले ढूँ और पीछे नमः जोड़कर न्यास कर लेनेके पश्चात् हृदय-कमलके पूर्वांदि केसरीपर इष्टदेवताकी पद्मितिके अनुसार पीठशक्तियोंका न्यास करना चाहिये। उनके बीचमें इष्टदेवताका मन्त्र, जो कि इष्टदेवस्वरूप ही है, स्थापित करना चाहिये। इस न्याससे साधकके हृदयमें ऐसा पीठ उत्पन्न हो जाता है, जो अपने देवताको आकृपित किये विना नहीं रहता।

इन न्यासोंके अतिरिक्त और भी बहुत-से न्यास हैं, जिनका वर्णन उन उन मन्त्रोंके प्रसङ्गमें आता है। उनके विस्तारकी यहाँ आवश्यकता नहीं है। वैष्णवोंका एक केशवकीर्त्त्यादि-न्यास है, उसमें भगवान्के केशव, नारायण, मायथ आदि मूर्तियोंको उनकी शक्तियोंके साथ शरीरके चिभित्र अङ्गोंमें स्थापित करके ज्ञान किया जाता है। उस न्यासके परम्परामें कहा जाता है कि यह न्यास प्रयोग करनेमात्रसे साधकको भगवान्के समान बना देता है। वास्तवमें ऐसी ही शक्ति है।

न्यासके प्रकार-भेदोंकी चर्चा न करके यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि सुष्ठिके गम्भीर रहस्योंकी दृष्टिसे

न्यास मी एक अतुलनीय सावन है। वर्णोंके न्याससे वर्णमयी सुषिका उद्घोष होकर परमात्माके स्वरूपका ज्ञान और प्राप्ति हो जाती है, क्योंकि जब वह सुषित नहीं थी, तब प्रथम कल्पनके रूपमें प्रणव प्रकट हुआ और उस प्रणवसे ही समस्त स्वर-वर्णोंका विसार हुआ। उनके आनुपूर्व-संघटनसे वेद और वेदसे समस्त सुषित है। इस क्रमसे विचार करनेपर ज्ञात होता है कि ये समस्त महान् और अणु, स्थूल एवं सूक्ष्म पदार्थ अन्तिम रूपमें वर्ण ही हैं। वर्णोंके न्यास और इनकी वर्णात्मकताके ध्यानसे इनका वासाविक रूप, जो कि दिव्य है, दृष्टिगोचर ही जाता है और पिर तो सर्वत्र दिव्यता-ही-दिव्यता छा जाती है। समस्त नाम-रूपात्मक जगत्से अव्यक्त-रूपसे रहनेवाली दिव्यताको व्यक्त करनेके लिये वर्णन्यास अथवा मन्त्रन्यास सर्वोत्तम साधनोंमें एक है।

पीठन्यास, योगवीठन्यास अथवा तत्त्वन्यासके द्वारा भी हम उसी परिणामपर पहुँचते हैं, जो साधनाका अन्तिम लक्ष्य होना चाहिये। अधिडान परब्रह्ममें आधारशक्ति, प्रकृति एवं क्रमशः सम्पूर्ण सुषित है। क्षीरसागरमें मणिमण्डप, कल्पनुक्ष, रत्नसिंहासन आदिकी भावना करते-करते अनन्तकरण सर्वथा अनन्तर्मुख हो जाता है और इष्टदेवताका ध्यान करते-करते समाधित लग जाती है। एक ओर तो उस सुषिकमका ज्ञान होनेसे बुद्धि अधिष्ठानतत्त्वकी ओर अप्रसर होने लगती है और दूसरी ओर मन इष्टदेवको प्राप्त करके

उन्हींमें लक्ष्य होने लगता है। इस प्रकार परमानन्दमयी अवस्थाका विकास होकर सब कुछ भगवान् ही है और भगवान्के अतिरिक्त और कोई अन्य ज्ञान नहीं है, इस सत्यका साक्षात्कर हो जाता है।

विरमे शृष्टि, सुखमें छन्द और हृदयमें इष्टदेवताका न्यास करनेके अतिरिक्त जब उच्चारणमें—यों कहिये कि रोम-रोममें सत्यकिक देवताका न्यास कर लिया जाता है, तो मनको इतना अवकाश ही नहीं मिलता और इससे मधुर अन्तर कहीं स्थान नहीं मिलता कि वह और कहीं बाहर जाय। शरीरके रोम-रोममें देवता, अणु-अणुमें देवता और देवतामय शरीर ! ऐसी स्थितिमें यह मन भी दिव्य हो जाता है। जड़ताके चिन्तनसे और अपनी जड़तासे यह संवार मनको जड़स्थिरमें प्रतीत होता है। इसका वास्तविक स्वरूप तो चिन्मय है ही, यह चिन्मयी लीला है। जब चिन्मयके ध्यानसे इसकी जड़ता निकृत हो जाती है, तो सब चिन्मयके स्वरूपमें ही स्फुरित होने लगता है। जब इसकी चिन्मयताका बोध हो जाता है, तब अनन्ददेशमें रहनेवाला निर्गृह चैतन्य भी इस चिन्मयसे एक हो जाता है और केवल चैतन्य-ही-चैतन्य अवशेष रहता है।

यहाँ न्यासके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा गया है, वह न्यासके स्वरूप और महिमाको देखते हुए बहुत ही स्वल्प है। हमारी परिस्थितिको देखते हुए विज्ञन क्षमा करेंगे। शा-

नाम और प्रेम

नाम दिन भाव करम नहिं छूटै ।

साधुसंग और राम भजन विन काल लिरंतर लूटै ॥

मल सेती जो मल को धोवै, सो मल कैसे छूटै ?

प्रेम का साधुन नाम का पानी दोय मिल ताँतर लूटै ॥

भेद अभेद भरम कर भाँडा, चाँडे पड़े पड़े पूटै ।

गुरमुख सज्ज गहै उर अंहर, सकल भरम से लूटै ॥

राम का ध्यान तू घर रे ग्रामी भमृत का मेह बूटै ।

जब दरियाव अरप दे आया जरा भरन तब लूटै ॥

तन्त्रमें गुरुसाधना

(लेखक—डॉ भवलीदाससर्वी मेहरा०, बी०एस०टी०, एल० एस० एम० एफ०)

साधनपथका श्रीगुरु गुरुसे ही होता है, अतएव साधनाके सभी भागोंमें गुरुका पद सर्वोच्च स्वीकार किया गया है। यों तो प्रायः सभी वर्मण्योंने गुरुकी इस खोयोच्छता और महिमाका गान किया है, किन्तु तन्त्रमें गुरुकी सर्वोक्तुष्टताका जैसा वर्णन किया गया है, वैसा अन्यत्र कहीं ढाँगोचर नहीं होता। तन्त्रने श्रीगुरु और इष्टदेवमें अभेदका वर्णन किया है—

मथा देवे तथा मन्त्रे वथा मन्त्रे तथा गुरुै ।

मथा गुरी तथा स्वामन्येवं भक्तिकमः स्मृतः ॥

और भी—

यथा घटश्च कलाः कुम्भस्त्रैकार्थवाचकाः ।

तथा मन्त्रो देवता च गुरुस्त्रैकार्थवाचकाः ॥

(सुदीर्तापिणी)

‘तामिच्छाविग्रहां देवीं गुरुरुणां विभावयेत् ।’

(नित्याहृत्य)

लिलितालहसनामके ‘गुरुमण्डलस्त्रिणी’ और ‘गुरुप्रिया’ (श्लोक १८९-१९०) के गुरुपदसे भास्कररायने अपने सौभाग्यमाल्कर-भाष्यमें शिवका ही अर्थ ग्रहण किया है। निर्वाणतन्त्रानुसार शिव ही गुरु हैं और गुरु, परम गुरु, परमेष्ठी गुरु एवं परतपर गुरु शिवके ही अंश हैं।

शिरःपदे भद्रदेवक्षयैव परसो गुरुः ।

तत्पत्तो भास्त्रे देवेति शूलो हि भुवनत्रये ॥

तदेवं चिन्तयेदेवि जाङ्गे गुरुस्त्रुष्टव्यम् ।

मूलाधारादि घट-चक्रोंमें सर्वोपरि स्थान श्रीगुरुदेवका ही नियत किया गया है। अधोमुख सहस्रदल-कमल-कर्णिकान्तर्परत मृणालस्त्री चिंकिणी नाडीसे भूषित गुरु-मन्त्रात्मक द्वादश वर्ण (इस खंडे इस क्ष मल वरयं)-स्त्री द्वादशदल पद्ममें अ क य आदि त्रिरेखा और ह ल क्ष कोणसे भूषित कामकला त्रिकोणमें नाद-विन्दुरूपी भण्ठीष्ठ अथवा इंसपीठपर शिवस्वरूप श्रीगुरुका स्थान है (पादुकापञ्चक १, २, ३) ।

शिरःपदे शुरुे दशशत्रुले केसराते

पतञ्जीर्णं तत्ये परमशिवस्वरूपं निष्पुस्य ।

(भ्रष्टाकल्प)

सहस्रदलव्यस्तमन्तरास्मानसुतसम् ।

तत्त्वोपरि नाश्विन्दोमेष्वे सिंहासनोज्ज्वलम् ॥

वस्तिन् निजगुरुं निर्व्य इजताचक्षसिभम् ।

(कहुलमालिनीनन्द)

तन्त्रवर्णित श्रीगुरुका ध्यान शिव-शक्तिका ध्यान है—

‘निरशिरसि द्वेषत्रयीं सहस्रदलकमलकर्णिकान्तरस्त्रवन्द-मण्डलोपरि स्वगुरुं शुक्लगुणं शुक्लालङ्घारभूषितं ज्ञानानन्द-भुवितमानसं संविदानस्त्रद्विग्रहं चतुर्पुरुजं ज्ञानसुदापुस्तक-कर्माभ्यकरं त्रिनयनं प्रसादवदनेक्षणं सर्वदेवदेवं वामाङ्गे वामाहस्तृष्टतीलाक्षमलया इक्षवसनाभरणया स्वप्रियवया दक्ष-भुजेनालिङ्गितं परमशिवस्वरूपं शान्तं सुप्रसक्षं ध्यात्वा तत्त्वरा-कमलयुग्मविगलद्वृष्टवद्वारया स्वाप्नानं प्लुतं विभाष्य मानसोपचरैराश्रयं’

तन्त्रमें श्रीगुरुका सर्वोच्च पद स्वीकार किया गया है, अतएव तन्त्रमतानुयायी साधकके लिये गुरुपूजा अत्यावश्यक मानी गयी है। गुरुपूजा विना साधककी सब साधना मिष्ठाल होती है—

गुरुद्वाजं विना देवि स्वेष्टद्वाजं करोति यः ।

मन्त्रस्य तस्य तेजांसि हरते भैश्वः स्वयम् ॥

(कालीविलासतन्त्र १, १३)

दद्रयामलानुसार—

शूलाकाले च चार्वक्षि वाग्वच्छेच्छुष्यमन्दिरम् ।

गुरुर्वा गुरुपुरो वा पश्ची वा वस्त्रवर्णिनि ॥

तदा एवां परित्यज्य पूजयेत्स्वगुरुं प्रिये ।

देवतापूजनर्थं यद् गन्धपुष्पादिक्षा यत् ॥

तस्मै गुरुवे दद्यात्पूजयेत्तदामन्दिनि ।

तदैव सहस्रा देवि देवता प्रीतिसामुग्राम् ॥

श्रीगुरुपूजाका विस्तृत वर्णन तन्त्रोंमें किया गया है। देवोपासनाके पञ्चाङ्गकी तरह गुरुपटल, गुरुपद्मति, गुरुकवच, गुरुसोत्र और गुरुसहस्रनाम ये अनेकों तन्त्र-ग्रन्थोंमें नाना प्रकारसे वर्णित हैं। त्वन्द-पुराणान्तर्नात गुरुगीता प्रसिद्ध है। दद्रयामलतन्त्रका गुरुपादुकासोत्र एक अद्भुत चमत्कारी रहस्यमय सोत्र है। वामके धरतन्त्रमें गुरुसत्र वर्णित है।

कुञ्जिकातन्त्रमें उः भोकोंका श्रीगुरुसोत्र है। इसमें शिवस्त्रपे श्रीगुरुकी स्तुति की गयी है। श्रीशिवोक्तपादुकापञ्चक विच्छिन्नत है। कालीचरणकी 'अमला' नामक टीकामें इसके गूढ़ रहस्यको सोला गया है।

तन्त्रवर्णित श्रीगुरुपूजामें सभसे विचित्र यात श्रीगुरुमण्डलार्चन है। मुखमण्डलार्चन-मन्त्र कई एक तन्त्र-ग्रन्थोंमें मिलता है। यह एक अपूर्व अद्भुत रहस्यमय मन्त्र है। प्रायः किसी एक तन्त्र-ग्रन्थमें इसका विस्तृत रहस्य नहीं सोला गया है। किसी-किसी तन्त्रमें कहीं-कहीं इसका उल्लेख देखनेमें आता है। 'आप्नायसत्सविशितरहस्य' में इसका अधिकतर रहस्य सोला गया है। इस ग्रन्थमें आप्नायमेदसे देवसमूहका विभाग करके श्रीगुरुमण्डलके देवताओंका उल्लेख किया गया है। यह ग्रन्थ अभीतक अप्रकाशित है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति जम्मूमें श्रीरघुनाथजीके मन्दिरके पुस्तकालयमें सुरक्षित है। एक हस्तलिखित प्रति मण्डीनरेश राजा सर योगेन्द्रसेनके चिन्ह-भण्डारमें भी विद्यमान है। नीचे श्रीगुरुमण्डलार्चनके विचित्र मन्त्रका विस्तारपूर्वक विवरण कई एक तन्त्र-ग्रन्थोंसे संप्रह करके लिखा जाता है। इस लेखमें अधिकतर 'आप्नायसत्सविशितरहस्य' का आश्रय लिया गया है। जहाँ कहीं मतभेद है, वहाँ अन्य तन्त्र-ग्रन्थोंमें वर्णित भेदादि स्पष्ट कर दिये गये हैं। श्रीगुरुमण्डलार्चनके समय साधक पृथक्-पृथक् देवताओंका मन्त्रसहित नाम उच्चारण करके अन्तमें 'श्रीपादुका पूजयामि तर्पयामि नमः' ऐसा उच्चारण करते हैं। इस लेखमें देवताओंके मन्त्र सेवके अधिक विस्तृत हो जानेके भयसे और उनके गुणतम होनेके कारणसे प्रकाशित नहीं किये जाते।

मन्त्र-ठँूँ श्रीनाथादिगुरुग्रंथं गणतंत्रं पीठग्रंथं भैरवं

सिद्धौषं बटुकग्रंथं पद्मदुर्गं दूरीकमं मण्डलम्।

वीरानष्ट चतुर्कण्ठस्त्रिनवकं वीराकलीं पञ्चकं

श्रीमन्मालिनिमन्त्रशसाहितं वन्दे गुरोमण्डलम्॥

१. श्री० श्रीलक्ष्मी

२. नाथादि०

आप्नायसत्सविशितरहस्यमें इसका अधिक उल्लेख नहीं किया गया; किन्तु विद्यार्थव-निबन्धमें जिन ओषधय (दिव्य, सिद्ध और मानव) का घोडशोपासनामें वर्णन है, वे स्पान्तरसे आप्नायसत्सविशितरहस्यमें दिये हैं।

१. दिव्यौषः—

१. श्रीशिवानन्दनाथ पराशक्तव्यमा
२. श्रीसदाशिषानन्दनाथ विच्छक्तव्यमा
३. श्रीईश्वरानन्दनाथ आनन्दशक्तव्यमा
४. श्रीददेवानन्दनाथ इच्छाशक्तव्यमा
५. श्रीविष्णुदेवानन्दनाथ शानदात्तव्यमा
६. श्रीब्रह्मदेवानन्दनाथ क्रियाशक्तव्यमा

२. सिद्धौषः—

१. श्रीसनकानन्दनाथ ७. श्रीदत्तात्रेयानन्दनाथ
२. श्रीसनन्दनानन्दनाथ ८. श्रीरैवतानन्दनाथ
३. श्रीस्त्रिलोकानन्दनाथ ९. श्रीवामदेवानन्दनाथ
४. श्रीसनत्कुमारानन्दनाथ १०. श्रीवालानन्दनाथ
५. श्रीशौकानन्दनाथ, ११. श्रीगुरुकानन्दनाथ
६. श्रीसनत्सुजातानन्दसाध

३. मानवौषः—

१. श्रीदृष्टिंशानन्दनाथ ४. श्रीमहेन्द्रानन्दनाथ
२. श्रीमंशानन्दनाथ ५. श्रीमाध्वानन्दनाथ
३. श्रीमारकरानन्दनाथ ६. श्रीविष्णुदेवानन्दनाथ

कादिविद्योपासकानामोषत्रयम्—

दक्षिणामूर्तिसम्प्रदायानुसारतः—

१. दिव्यौषः—

१. परमकाशानन्दनाथ ५. शुक्रदेवम्बानन्दनाथ
२. परदिवानन्दनाथ ६. कुलेश्वरानन्दनाथ
३. परामृतयन्मानन्दनाथ ७. कामेश्वरमानन्दनाथ
४. कौलेश्वरानन्दनाथ

२. सिद्धौषः—

१. भैरवनन्दनाथ ४. समयनन्दनाथ
२. क्लिन्नानन्दनाथ ५. सहजानन्दनाथ

३. मानवौषः—

१. गणनानन्दनाथ ५. भूवनानन्दनाथ
२. विश्वानन्दनाथ ६. लीलानन्दनाथ
३. विमलानन्दनाथ ७. स्त्राव्यानन्दनाथ
४. मदनानन्दनाथ ८. प्रियानन्दनाथ

शानार्थव-तन्त्रके मतसे घोडशी-उपासनामें भी ओषधप्रय-
की यही परम्परा है।

हादिनियोपासकानां परम्परा—

१. दिव्यौधः—

- | | |
|--------------------------|-------------------------|
| १. परमशिवानन्दनाथ | ५. सर्वानन्दनाथ |
| २. कामेश्वर्यम्बानन्दनाथ | ६. प्रकाशेष्वर्यम्बानाथ |
| ३. दिव्यौधानन्दनाथ | ७. प्रकाशानन्दनाथ |
| ४. महौधानन्दनाथ | |

२. सिद्धौधः—

- | | |
|-------------------|------------------------|
| १. दिव्यानन्दनाथ | ४. अनुदेव्यम्बानन्दनाथ |
| २. चिदानन्दनाथ | ५. भद्रोदयानन्दनाथ |
| ३. कैवल्यानन्दनाथ | ६. लिङ्गानन्दनाथ |

३. मानवौधः—

- | | |
|-----------------------|--------------------|
| १. चिदानन्दनाथ | ५. परानन्दनाथ |
| २. विश्वानन्दनाथ | ६. मनोहरानन्दनाथ |
| (विश्वात्मानन्दनाथ) | ७. स्वात्मानन्दनाथ |
| ३. रामानन्दनाथ | ८. प्रतिभानन्दनाथ |
| ४. कमलानन्दनाथ | |

पोटयुपासकानां परम्परा—विद्यार्णवनिवन्धे

१. दिव्यौधः—

- | | |
|-------------------|---------------------|
| १. व्योमातीताम्बा | ४. व्योमचारिण्यम्बा |
| २. व्योमेश्वम्बा | ५. व्योमस्थाम्बा |
| ३. व्योमाकाम्बा | |

२. भिद्धौधः—

- | | |
|-----------------------|---------------------------|
| १. उन्मनाकाशानन्दनाथ | ६. ध्वनिमात्राकाशानन्दनाथ |
| २. समनाकाशानन्दनाथ | ७. अनाहाताकाशानन्दनाथ |
| ३. व्यापकाकाशानन्दनाथ | ८. विन्दाकाशानन्दनाथ |
| ४. शक्त्याकाशानन्दनाथ | ९. इन्द्राकाशानन्दनाथ |
| ५. ध्वन्याकाशानन्दनाथ | |

३. मानवौधः—

- | | |
|----------------------|--------------------|
| १. परमात्मानन्दनाथ | ६. सम्भ्रमानन्दनाथ |
| २. शाम्भवानन्दनाथ | ७. चिदानन्दनाथ |
| ३. चिन्मुद्रानन्दनाथ | ८. प्रतज्ञानन्दनाथ |
| ४. वाम्भवानन्दनाथ | ९. विश्वानन्दनाथ |
| ५. लीलानन्दनाथ | |

भन्दादिविद्यानां परम्परा—

१. दिव्यौधः—

- | | |
|---------------------|-----------------|
| १. परप्रकाशानन्दनाथ | ५. अमृतानन्दनाथ |
|---------------------|-----------------|

- | | |
|--------------------------|------------------|
| २. परविमर्जानन्दनाथ | ६. लिङ्गानन्दनाथ |
| ३. कामेश्वर्यम्बानन्दनाथ | ७. पुरुषानन्दनाथ |
| ४. मोहानन्दनाथ | ८. अघोरानन्दनाथ |

२. सिद्धौधः—

- | | |
|-------------------|--------------------|
| १. प्रकाशानन्दनाथ | ३. लिङ्गौधानन्दनाथ |
| २. सदानन्दनाथ | ४. उत्तमानन्दनाथ |

३. मानवौधः—

- | | |
|------------------|--------------------|
| १. उत्तरानन्दनाथ | ५. लिङ्गानन्दनाथ |
| २. परमानन्दनाथ | ६. गोविन्दानन्दनाथ |
| ३. सर्वानन्दनाथ | ७. शङ्खानन्दनाथ |
| ४. सर्वानन्दनाथ | |

प्रोपासकानामोघत्रयम्

(परशुरामकल्पसूत्र, अष्टम स्तंष्ठ, पराक्रम-सूत्र २६)

१. दिव्यौधः—

- | | |
|------------------|-------------|
| १. परा भट्टारिका | ३. श्रीकण्ठ |
| २. अघोर | |

२. सिद्धौधः—

- | | |
|------------|-----------|
| १. शक्तिधर | ३. अग्रबक |
| २. कोष | |

३. मानवौधः—

- | | |
|---------------------|-------------------|
| १. आनन्द | ५. मधुरादेव्यम्बा |
| २. प्रतिभादेव्यम्बा | ६. जान |
| ३. वीर | ७. श्रीराम |
| ४. संविदानन्द | ८. योग |

३. गुरुत्रयम्—

- | | |
|--|--|
| १. श्रीमद्भुम्बालहित श्रीविश्वानन्दनाथ श्रीगुरु । | |
| २. श्रीमद्वजपूर्णम्बालहित श्रीविश्वेश्वरानन्दनाथ श्री- | |
| परम्परु । | |

- | | |
|---|--|
| ३. श्रीमत्परम्बासहित श्रीपरात्मानन्दनाथ श्रीपरमेष्ठि- | |
| गुरु । | |

४. गणपतिः—

श्रीमहागणपति

५. एडुत्रयम्—

- | | |
|--|--|
| १. श्रीकामगिरिठ ब्रह्मामकशत्रूपम्बा | |
| २. श्रीपूर्णगिरिठ विष्णुवात्मकशत्रूपम्बा | |
| ३. श्रीजालभूरपीठ सद्रात्मकशत्रूपम्बा | |

६. भैरवः—

१. श्रीमन्यान भैरव
२. श्रीषुभूक भैरव
३. श्रीफट्टकार भैरव
४. एकात्मक भैरव
(एकान्त, आग्राय) ५. श्रीदिव्यभैरव
(रविभैरव आग्राय)
६. श्रीचण्ड भैरव
७. श्रीनमोनिमल भैरव
८. श्रीभगवान्मास्कर भैरव

७. सिद्धौषधः—

१. श्रीमहादर्मनामा सिद्ध ५. श्रीभीमामा सिद्ध
२. श्रीसुन्दर्यमा सिद्ध ६. श्रीकरत्तमा सिद्ध
३. श्रीकरालिकामा सिद्ध ७. श्रीखराननामा सिद्ध
(विश्वोदयमा सिद्ध आग्राय) ८. श्रीबिधिशालीनामा सिद्ध
४. श्रीत्रिवाणामा सिद्ध (विश्वालक्ष्ममा
(शशीदीजामा सिद्ध आग्राय) आग्राय)

८. चटुकत्रयम्—

१. श्रीस्तंल चटुक ३. श्रीविरचि चटुक
२. श्रीचित्र चटुक

९. पद्मयुगम्—

१. श्रीप्रकाशचरणम् २. श्रीविमर्शचरणम्

१०. दूतीकमः—

१. श्रीयोन्यमा दूती
२. श्रीयोनि सिद्धनाथामा दूती
३. श्रीमहायोन्यमार दूती
४. श्रीमहायोन्यमा दूती
५. श्रीदिव्ययोन्यमा दूती
६. श्रीदिव्ययोनि सिद्धनाथामा दूती
७. श्रीशङ्क्रयोन्यमा दूती
८. श्रीशङ्क्रयोनि सिद्धनाथामा दूती
९. श्रीपद्मयोन्यमा दूती
१०. श्रीपद्मयोनि सिद्धनाथामा दूती
आग्रायसत्विशतिरहस्यमें कवल आठ दूतियों
वर्णित हैं, प्रथम और द्वितीय नहीं।

११. मण्डलम्—

१. सोममण्डल ३. अग्निमण्डल
२. सूर्यमण्डल

१२. धीरा अष्ट—*

१. श्रीदृष्टिवीरभैरव ६. श्रीमृत्युवीरभैरव
२. श्रीस्थितिवीरभैरव ७. श्रीमद्रवीरभैरव
३. श्रीसंहारवीरभैरव ८. श्रीपरमार्कवीरभैरव
४. श्रीरक्तवीरभैरव ९. श्रीमात्पंडवीरभैरव
५. श्रीयमवीरभैरव १०. श्रीकालामिष्ठदवीरभैरव

१३. चतुर्षकषष्ठिः—

श्रीमङ्गलानाथ, चण्डिका, कन्तुका, पट्टा, कूमे,
धनदा, गन्ध, गणन, मतङ्ग, चम्पका, कैवर्त, मातङ्गगम,
सर्वभैरव, नभोभैरव, खौतिका, रुपिका, देहापूज्य, धूमाक,
ज्याला, गान्धार, गणेशर, भासा, महामाया, नित्या, शान्ता,
विष्णा, कामिनी, उमा, श्रीणा, सुभगा, सर्वगा, लक्ष्मी,
विद्या, भीमा, अमृता, सन्द्र, अन्तरिक्ष, सिद्धा, श्रद्धा,
अनन्ता, शम्भरा, उत्क, जैलोक्या, भीमा, राक्षसी, मर्लिना,
प्रचण्डा, अनन्तविष्णि, रथि, अनभिमता, ननिदनी, अभिमता,
सुन्दरी, विश्वेशा, काल, महाकाल, अभग्ना, विकार, महा-
विकार, सर्वगा, सकला, पूतना, शार्वरी, व्योमा । ६४

१४. नवकमः—

१. सर्वसंक्षेपिणी ६. सर्वमहाकुरी
२. सर्वविद्राविणी ७. सर्वलेच्छी
३. सर्वाकर्षिणी ८. सर्वथीजेश्वरी
४. सर्ववशङ्करी ९. सर्वयोनि
५. सर्वोन्मादिनी
आग्रायसत्विशतिरहस्यके अनुषार—
१. तुरीयमा ७. ताराम्बा
२. महाधर्षमा ८. (१. वनदुर्गाम्बा,
३. अध्यारुदाम्बा ९. जयदुर्गाम्बा)
४. मिश्राम्बा ३. महिषमर्दिनी दुर्गाम्बा)
५. वाग्वादिन्यमा ९. मुद्रानवकाम्बा
६. महाकाल्यम्बा

१५. वीरावली—

१. श्रीत्रिवीरावली ४. श्रीईश्वरवीरावली
२. श्रीचिष्णुवीरावली ५. श्रीसदाशिववीरावली
३. श्रीकद्रवीरावली

* (मन्त्रमें 'वीर' की गणना ८ है किन्तु अन्योंमें १०
दिये हैं ।)

१६. पञ्चकल्प—

१. पञ्च लक्ष्यः—

१. श्रीमहालक्ष्मीश्वरीबृन्दमण्डितासनसंरियता सर्वसौभाग्यजननी श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी श्रीविद्यालक्ष्म्यम्भा
२. श्रीमहा—
श्रीएकाश्वरलक्ष्मीलक्ष्म्यम्भा
३. श्रीमहा—
श्रीमहालक्ष्मीलक्ष्म्यम्भा
४. श्रीमहा—
श्रीविद्याकिलक्ष्मीलक्ष्म्यम्भा
५. श्रीमहा—
श्रीसर्वसाम्राज्यलक्ष्मीलक्ष्म्यम्भा

२. पञ्चकोशा—

१. श्रीमहाकोशेश्वरीबृन्दमण्डितासनसंरियता सर्वसौभाग्यजननी श्रीविद्याकोशाम्भा
२. श्रीमहा—
श्रीपरज्योतिकोशाम्भा
३. श्रीमहा—
श्रीपरनिष्कलशाम्भवीकोशाम्भा
४. श्रीमहा—
श्रीअजपाकोशाम्भा
५. श्रीमहा—
श्रीमानुकाकोशाम्भा

३. पञ्च कल्पलता

१. श्रीमहाकल्पलतेश्वरीबृन्दमण्डितासनसंरियता सर्वसौभाग्यजननी श्रीविद्याकल्पलताम्भा
२. श्रीमहा—
श्रीत्वरिता कल्पलताम्भा
३. श्रीमहा—
श्रीपारिजातेश्वरी कल्पलताम्भा
४. श्रीमहा—
श्रीत्रिपुरा कल्पलताम्भा
५. श्रीमहा—
श्रीपञ्चवाणेश्वरी कल्पलताम्भा

४. पञ्च कामदुष्टा

१. श्रीमहाकामदुष्टेश्वरीबृन्दमण्डितासनसंरियता सर्वसौभाग्यजननी श्रीविद्या कामदुष्टाम्भा

२. श्रीमहा—

श्रीअमृतपीठेश्वरी कामदुष्टाम्भा

३. श्रीमहा—

श्रीसुधासु कामदुष्टाम्भा

४. श्रीमहा—

श्रीअमृतेश्वरी कामदुष्टाम्भा

५. श्रीमहा—

श्रीअमृपूर्णा कामदुष्टाम्भा

५. पञ्च रक्षविद्या

१. श्रीमहारक्षेश्वरीबृन्दमण्डितासनसंस्थिता सर्वसौभाग्यजननी श्रीविद्यारक्षाम्भा
२. श्रीमहा—
श्रीयिदलक्ष्मीरक्षाम्भा
३. श्रीमहा—
श्रीमातक्षेश्वरीरक्षाम्भा
४. श्रीमहा—
श्रीसुवनेश्वरीरक्षाम्भा
५. श्रीमहा—
श्रीवाराहीरक्षाम्भा

१७. श्रीमन्मालिनी—

ॐ अं ओं ॥

१८. मन्त्रराज—

श्रीनुसिंहमन्त्र

उपर्युक्त विवरण से तात्त्विक उपासनाकी गम्भीरता स्पष्ट होती है। तन्त्रवर्णित श्रीगुरु आज्ञकलके नामा आडम्बर-भूषित गुरुसे सर्वथा भिन्न हैं। तन्त्रातुसार श्रीगुरु इष्टदेवके ही रूप हैं। और जिस प्रकार तन्त्रमतानुयायी साधक गुरु-साधना करते हैं उससे न केवल मन्त्रदाता गुरुकी पूजा होती है, किन्तु स्वेष्टदेवाभिन्न शिव-शक्तिसामरस्यस्वरूप नादविन्दु-कलातीत परमानन्द तत्त्वकी पूजा होती है और यही तन्त्रवर्णित श्रीगुरु और श्रीगुरुसाधनाकी अद्भुत सर्वकृष्टता है।

श्रीआदिनाथचरणारविन्दार्पणमस्तु

दिव्य चक्षुका उन्मीलन

(लेखक—श्रीचित्रशुभरत्नपती)

प्रत्येक जीवात्माके सिरमें तीन नेत्र होते हैं। एक नेत्र बंद रहता है और दो खुले होते हैं। यानी एक नेत्र गुप्त होता है और दो प्रकट होते हैं। उस गुप्त या प्रधान नेत्रको पण्डितलोग दिव्य चक्षु कहते हैं। उस असली आँखको योगीलोग शिवनेत्र कहते हैं और उस नूरेनजरको साधक-लोग तीसरा नेत्र कहते हैं।

सर्वसाधारणका जो वह विश्वास है कि शिवनेत्र केवल शङ्खरङ्गीके शरीरमें है, वह अमरपूर्ण है। योगविद्वां घोषित करती है कि तीसरा तिल सबमें विद्यमान है और जो भी चाहे, भगवान् शङ्खरङ्गी तरह, अपने दिव्य चक्षुका उन्मीलन कर सकता है—फिर चाहे उससे आग निकाली जाय या पानी; क्योंकि वहाँ पञ्चतत्त्वका एक केन्द्र रहता है।

शिवनेत्रमें ब्रह्मका, दाहिने नेत्रमें काल्का और बायें नेत्रमें शक्तिका निवास है। इन तीनों अंशोंकी संयुक्तावस्था ही परमेश्वरका रूप है। विराटमें जो आत्म-मण्डलकी चिपुटी है, वे तीनों नयन उसीकी छाया हैं। शिवनेत्रका सम्बन्ध द्वाषमण्डलसे, दाहिनेका सर्वमण्डलसे और बायेंका सम्बन्ध चन्द्रमण्डलसे है। शिवनेत्रसे विचार उत्पन्न होता है, दाहिने नेत्रसे इच्छा पैदा होती है और बायेंसे किया उत्पन्न होती है।

दिव्य चक्षुका प्रमाण

प्रत्येक घटमें दिव्य चक्षुके होनेका एक प्रत्यक्ष प्रमाण भी है। जब आप सो जाते हैं, तब ये बाहरी दोनों नेत्र बंद हो जाते हैं। फिर आप जो सपना देखते हैं, वह उसी भीतरी नेत्रके प्रकाशसे देखते हैं। दिव्य चक्षुका प्रकाश बाहरी दुनियामें तबतक नहीं हो सकता, जबतक उसका बाकायदा उन्मीलन न किया जाय। परन्तु दिव्य चक्षुका प्रकाश भीतरी दुनियामें—(सूक्ष्म जगत्, कारण जगत् और आत्मजगत्में) स्वयं भरपूर रहता है। इसी कारण स्वप्नमें जो कुछ होता है, वह दिखायी पड़ता है। सपनेको

मन नहीं देखता; क्योंकि मनमें देखनेकी शक्ति नहीं होती। अगर मन ही देखता तो अपने मनका आकार क्यों दीखता? सपनेमें अपना मन आकार धारण कर लेता है और सपना देखनेवालेकी दूरत धारण कर लेता है। अगर मन ही देखता होता तो आप अपने मनका धारण किया हुआ साकार कैसे देख सकते ये? सपनेमें आपसहित सभी बातें दिखायी दिया करती हैं। शिवनेत्रका प्रकाश ही आपके मनका आकार आपको दिखाता है। अतः सपनोंका दीखना मनकी शक्तिके अन्तर्गत नहीं—दिव्य चक्षुकी शक्तिके अन्तर्गत है। सिनेमाके परदेपर जो खेल होता है, वह फिल्मरुपी मनकी लीला जाल है; मगर उस लीलाको प्रकाशित करनेका श्रेय उस रोशनीको है, जो ऊपरसे आकर उस परदेपर पढ़ रही है। विजलोहप दिव्य चक्षु ही परदेपर प्रकाश ढालता है। तभी सब खेल दिखायी पड़ते हैं।

उन्मीलनका विधान

पद्मासनसे बैठो। नेत्रोंको बन्द करो। जीभको ताश्की और चढ़ा लो। अपने ध्यानको दोनों भृकुटिके मेलेके स्थानसे—यानी नाककी जड़से—दो अङ्गुल ऊपर जामाओ। यह ध्यान सिरके बाहरी भागपर न होना चाहिये—भीतरी भागपर होना चाहिये। ध्यानके समय 'शिव' मन्त्रका जाप मनसे करना चाहिये।

फल

जिनका दिव्य चक्षु खुल गया है, उनको शान और शक्तिसे काम लेनेका अधिकार प्राप्त हो जाता है। उनको सब स्थानोंकी घटनाएँ दिखलायी पड़ने लगती हैं। उनका मन धूर-धूर स्वयं एकाग्र हो जाता है। अपने और परायेके भविष्यका हाल मालूम हो सकता है। अपना जीवन बढ़ाया जा सकता है। देवदर्शन प्राप्त होता और स्वास्थ्य बढ़िया रहता है।

मन ही साधन है

(लेखक—श्रीचक्रपाणि)

साधनकी अपेक्षा साधकको होती है, साधककी अपेक्षा साध्यको होती है। अर्थात् वहले साध्य, पीछे साधक और तब साधन। साध्य कोई बस्तु साधकके पहले से है, साधक उसीकी इच्छा करता है और उसका यह इच्छा करना ही साधन बनता है। इष्ट (जिसकी हम इच्छा करते हैं) साध्य है, इच्छा साधन है और साधक इन दोनोंका संयोजक है। यह साधक कौन है, जो साध्यकी इच्छा करता है?

यह मन है, जिसकी इच्छा ही उसकी गति है। हम जो चाहते हैं, वही तो करते हैं और वही तो होता है। संसारमें क्या हो रहा है? युद्ध। युद्ध ही सही। पर क्या यह हमारी इच्छाओंका ही संघर्ष नहीं है? जगत्‌में जितने जीव हैं, सब किसी-न-किसी वस्तुको पानेकी इच्छा करते हैं और ये इच्छाएँ एक दूसरीसे टकराती हैं—यही संघर्ष है, वही युद्ध है। संसारमें युद्ध न हो, यह भी एक इच्छा है और वह कभी युद्धकी इच्छाकी दबाती और कभी स्वयं उससे दबती है। इसलिये संसारमें शान्ति और युद्ध दोनों ही बने रहते हैं। यदि कहीं ऐसा हो जाय कि कोई जीव कोई इच्छा ही न करे तो युद्ध असम्भव है। पर क्या कभी ऐसा हो सकता है? हम अपनी ही बातको देखें तो यह कहना पड़ेगा कि एक क्षण भी हमारा ऐसा नहीं भीतता, जब हम किसी इच्छाके वशमें न हों। प्रत्येक क्षण हम अपनी इच्छाके पीछे चल रहे हैं। मेरे इच्छाएँ (हमारी अपनी ही) कभी-कभी इतनी परस्परविरोधिनी होती हैं कि इच्छाके उदयकालमें तो हमें उनके परस्परविरोधी फलोंका अनुसान नहीं होता, पर फलोदयकालमें ये फल इतने परस्परविरुद्ध होते हैं कि हम घबरा जाते हैं कि यह क्या हो रहा है। ऐसा मालूम होता है कि हमने ऐसी विकट संघर्षमय परिस्थितिकी तो कभी इच्छा नहीं की थी, इश्वरने यह क्या कर दिया! हमने अपनी परस्पर-विरोधिनी इच्छाओंका कोई साता नहीं रखता है; इसलिये हम हितात्र फैलाकर यह नहीं देख सकते कि यहाँ हमारे जिम्मे क्या देना-पाना है। पर इतना तो स्पष्ट है कि इच्छा ही हमारी पूँजी है और उसीसे उसका व्याज बढ़ता जा रहा है और व्याजसे पूँजी भी बढ़ती जा रही है। यह एक प्रकारका साधन ही लो है; क्योंकि हम जब इच्छा करते हैं, तब किसी साध्यको पानेकी ही इच्छा करते हैं और जो इच्छा करते हैं

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धसोक्षयोः।

अच्छा तो अब यह विचारें कि मनुष्योचित सामान्य साध्य क्या है? 'सामान्य' शब्दका प्रयोग हम इसलिये करते हैं कि जितने मनुष्य हैं, उन सबकी मति भिन्न-भिन्न है और उसके अनुसार साध्य भी सबके भिन्न-भिन्न अर्थात् विशेष-विशेष हो सकते हैं। सब मनुष्योंका मनुष्यके नाते एक सामान्य साध्य है, उसीको हम मनुष्योचित सामान्य साध्य कहते हैं। यह सामान्य साध्य सब मनुष्योंका है और प्रत्येक मनुष्यका भी, इसीलिये इसे सामान्य साध्य कहते हैं। कोई मनुष्य हस्त सामान्य साध्यके बिना मनुष्य नहीं रह सकता; क्योंकि मनुष्यका जो सामान्य लक्षण है, वह उसमें नहीं है। यह साध्य क्या है? साध्य सदा ही इतना ऊँचा होता है कि वहाँतक हमारे हाथ नहीं पहुँचते और पहुँचानेकी हमें इच्छा होती है। अर्थात् वह अवस्था मनुष्यकी सामान्य अवस्थासे ऊँची होती है। इस अवस्थाको हमलोग आमानव, अलौकिक अथवा दिव्य कहते हैं। मनुष्यके नीचेकी योनियोंमें एक ऐसी सोपानपरम्परा देख पड़ती है, जिसमें प्रत्येक सोपानके जीव अपनेसे ऊपरके सोपानके जीवोंको देखते हैं और सम्भव है उहीकी अवस्थाको साध्य भानकर अपना जीवन उसीकी प्राप्तिमें लगा देते हैं और इस क्रमसे अन्तमें मनुष्योनिको प्राप्त होते हैं। पर मनुष्योनिमें आकर इसके ऊपरकी योनि उत्तरी स्पष्ट नहीं देख पड़ती जितनी कि पशु-पक्षियोंको मनुष्योनि देख पड़ती है। मनुष्यका अनियत दुःखमय लौकिक जीवन ही उसे नित्य सुखमय दिव्य योनिकी सत्ताका भान करता है। उस सत्ताकी पाना ही मनुष्यका साध्य है, मनुष्य ही उसका साधक है और उसे प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाला उसका मन ही उसका साधन है।

यह साधन हम कैसे करें ? यह साधन क्या है ?—मन। साध्य क्या है ?—मनुष्यके मनके ऊपरकी स्थिति। वह, उसीमें हस्त मनको लगा दो—साध्यमें साधनको लगा दो। ‘लगा दो’ कहनेसे भी नहीं होगा। संसारमें हम अपने मनको लगाते हैं; ज्ञानोंकि मनुष्य उसकी इच्छा करता है और जिनकी इच्छा करता है, उसे वह पा लेता है। कैसे ? मनको लगाकर, मनको तन्मय करके, मनको उसीका सङ्कल्प और कर्म करनेमें प्रवृत्त करके, मनको उसीके सामने छुकाकर, उसीको साध्य भानकर साधनसहित उसका रास्ता चलकर। इसीलिये मनके ऊपर मनुष्यका जो महान् अमानव

अलौकिक अमृत आनन्दमय साध्य है, जो साधकके पहलेसे वहाँ स्थित है और जिसने ही यह साधन—मन मनुष्यको दे रखा है, उसीकी यह बाणी है—

मन्मथाभ मन मनुष्यकी भाँ वनस्कुल ।
मन्मेषैव्यसि शुभ्रवैदमाल्मार्गं मत्वरावचः ॥

वहाँ साध्य सामने हो, साधकका मन तत्परायण हो, वहाँ साध्य-साधक-साधनकी लिदिमें और क्या चाहिये ? साधनकी सीढ़ीपर जिसने पैर रखा, वह साधनके ऊपर साध्यका हाथ पकड़कर ही उसके समीप जा रहा है। यह साधन है मन, इसीका साध्यके साथ योग होना मनुष्यजन्मका लक्ष्य है।



साधन-रहस्य-सार

(लेखक—श्री ‘बुदान’ नेहरीय)

राईं शानमर्दीं हृष्ट्वा चक्षेद् ब्रह्ममयं जगत् ॥

सवका ध्येय एकमात्र अविनाशी, अतृसिकर, परम पूर्णानन्द ही है। स्वर्गादि सुख, सिद्धिवैपद्य और दिव्यज्यादि विकारी अपूर्ण प्रकृतिक्षेत्रगत पदार्थ हैं; इनसे यह पूर्णानन्द नहीं मिल सकता। सखिदानन्दस्वरूप परब्रह्म ही उस पूर्णानन्दके अविहान हैं। उससे मिल किसी भी फलके लिये किये जानेवाले साधन नहीं हैं। कारण ‘थल्यं तन्मर्त्यम्’, ‘भूमा चै तस्मुखम्’, ‘नालये सुखमस्ति’, ‘आनन्दो ब्रह्मोत्ति’—यही श्रुति-सिद्धान्त है और यही संतोंका अनुभव है। इसलिये ब्रह्मानुभवके विना कमी किसीको पूर्णानन्द न मिल न मिल सकता है। अतः इस सदौत्तम ध्येयको छोड़ और किसीके लिये कोई साधन नहीं किया जाय !

यह ब्रह्मतत्त्व सर्वत्र-सर्वव्यापक है, अतः हमरे अंदर भी है; केवल अंदर ही नहीं है, हम स्वयं तदूप ही हैं—‘जीवो ब्रह्मैव नापरः।’ इस प्रकार यद्यपि ब्रह्म सबको प्राप्त है, तथापि कल्पनाके इस घटायोपमें उसका कहीं पता नहीं चलता। ‘हम कौन हैं ?’ इसीका हमें कोई पता नहीं है। हम वहे जा रहे हैं अपने आपको मुलाकर कल्पनाके प्रवाहमें न जाने कहाँ किए और! इसलिये पहले अपने आपको छूँदना होगा, इसके विना सुखका पता लग नहीं सकता।

प्रकाशकी ओर देखते-देखते यदि हठात् इस अपनी हृषिको छायामें, अन्वकारमें ले जायें तो वहाँ इस सहसा

कुछ भी न देख सकेंगे, केवल अन्वकार ही देखेंगे। परन्तु हृषिको वहाँ कुछ समय स्थिर करके रखें तो अन्वकारमें छिपी रखली चस्तुओंको भी वह देख सकेंगी, अन्वकारमें उसे प्रकाश मिलने लगेगा। यही बात इमरी नित्यतित्की भी है। बाय व्यवहारोंमें लगी हुई बुद्धि अंदरकी चस्तुओंको कैसे हैँदे ? अंदर उसका घबरा जाना ही स्वाभाविक है, इसीलिये कुछ दिन इसे अंदरके विचारमें स्थिर करना होगा। इससे अंदर देखनेकी इसकी शक्ति बढ़ेगी।

गैंदले, चञ्चल और अँधेरे पानीके हैंजमें पढ़ी हुई किसी चीजको अथवा अपनी परछाईको कोई कैसे देख सकता है ? मल, विक्षेप और आवरणसे युक्त बुद्धि भी, इसी प्रकार, आत्मतेजोको प्रत्यक्ष कैसे कर सकती है ! निर्मल, निश्चल और प्रकाश (सात) युक्त बुद्धि ही आत्मानुभवमें समर्थ होती है। कपड़ा सीनेके लिये सर्दकी जरूरत होती है, कुदाल-की नहीं। सूर्यातिसूर्य जो आत्मतत्त्व है उसके साथ युक्त होनेके लिये, उसी प्रकार, अव्यन्त सूर्य बुद्धिकी आध्यकाता होती है; स्थूल बुद्धिसे वहाँ काम नहीं चलता। अर्थात् आत्मानुभवके लिये चित्तकी बुद्धि, मनकी स्थिति और बुद्धिकी सूखमता होनी चाहिये और जिस उपायके करनेसे यह काम बन जाय, उसीको इस साधन कहेंगे। सद्ग्रन्थों और साधु-संतोंने जहाँ-जहाँ जो-जो साधन बताये हैं, उन सबका मर्म यही है। साधन जाहे जितने भी कठिन हैं; पर

जिनसे वह काम न बनता हो वे साधन नहीं, केवल भ्रमविलास हैं।

बहुत लोग परमानन्दलभक्ती इच्छासे साधनमें लगते हैं। परन्तु रहस्यको न जाननेवाले इन साधनोंसे कोई लाभ उठाते नहीं नज़र आते। प्रायः यही देखनेमें आता है कि लोग साधनके सौन्दर्य, काठिन्य और वैशिष्टयका ही अधिक आदर करते हैं और कठिन साधनोंके पीछे पढ़ जाते हैं। परन्तु साधनके वास्तविक्यामें क्या रक़ता है? परमार्थहिंसे उसका कोई विशेष महत्व नहीं। वृत्तिको मुधारनेका काम है, यदि वह घर बैठे होता ही तो यही सबसे अष्ट्र साधन है। कहते भी हैं—‘मन चंगा तो कठोरीमें गङ्गा।’

बहुतेरे यही रोना रोते हैं कि ‘हमने कितने ही साधन किये, जप किया, दान किया, तीर्थयात्रा की, कितने ब्रत किये, पर चिन्तकी शुद्धि नहीं हुई; मन जहाँ पहले भटका करता था, वही अब भी भटकता ही है।’ आखिर ऐसा क्यों होता है? बात यह है कि इन बेचारोंको वही पता नहीं है कि चिन्त है क्या चीज़ और जब यही नहीं जानते, तब शुद्ध और स्थिर तो किसको करें और कैसे करें? इसलिये चिन्त क्या है, यह पहले जानना चाहिये; तब उसे शुद्ध और स्थिर करना अनायास ही हो जायगा।

आप जो चिन्ता या चिन्तन करते हैं, आपके इस स्वभावको ही चिन्त कहते हैं। चिन्त कोई स्वतन्त्र पदार्थ है ही नहीं। यह कहना कि चिन्त शुद्ध नहीं होता, केवल अपनी मूर्खता प्रकट करता है। यदि अशुद्ध चिन्तन करते ही रहेंगे तो सैकड़ों साधनोंके करनेसे भी क्या होगा? जबतक आप शुद्ध चिन्तन न करेंगे, तबतक वास्तविक साधनोंसे कुछ भी न होगा। हाँ, यह बात सही है कि ‘हम अशुद्ध चिन्तन न करेंगे’ केवल ऐसा निश्चय कर लेनेसे ही चिन्त शुद्ध हो जाता हो—यह बात नहीं है। कारण, आप सासारिक सुखकी इच्छा तो करते ही होंगे—सुख, सौन्दर्य और प्रेमकी अनुभूति तो आपको जगत्-में होती ही होगी। यदि ऐसा है तो इनका चिन्तन भी आप अवश्य ही करेंगे, वह कैसे छूट सकता है? और फिर इस हालतमें अन्य साधनोंकी भी क्या आवश्यकता है? इसमें तो केवल एक ही साधन है और वह है विवेक। विवेक इसी बातका कि सुख, सौन्दर्य, प्रेम संसारमें सचमुच ही है या यह केवल कल्पनाविलास हैं; शान्ति भी इस संसारमें संसारके किसी पदार्थसे किसीको मिलती है या केवल ऐसा भ्रम होता है? यहाँ मेरे पराये धर्मार्थमें कौन है? कौन कवताके

मेरे साथी हैं और उसके बाद नहीं? अन्तमें फिर यह शूलुक्या है? इसको हम क्या समझें? कैसे इसका सामना करें? इत्यादि। यह विवेक जैसे-जैसे होता जायगा, वैसे-ही वैसे कामना और आसानी कम होती जायगी और भगवद्गुण और महिमाका श्रवण करनेसे श्रद्धा-भक्ति बढ़ती जायगी। इस प्रकार चिन्तका विरागानुरागयुक्त होना ही चिन्तशुद्धि है। उपर्य सरल है, पर जो अपने चिन्तको शुद्ध करना चाहें उनके लिये। चिन्तशुद्धिकी आवश्यकता तो तब ही प्रतीत होती है जब विवेक हो चुकता है; उससे पहले विवेक ही साधन है और इसके लिये सत्सङ्ग करना चाहिये और सद्गुर्योंको पढ़ना-सुनना चाहिये।

मन स्थिर क्यों नहीं होता? मनका स्वरूप है मानना, मनन करना। आप भला-बुरा, सच्चा-छोटा सब कुछ तो मना करते हैं, चाहे जो मनन करते रहते हैं; तब मन स्थिर हो तो कैसे? आप मानना, मनन करना छोड़ दीजिये; मनका कहीं कोई चिह्न भी बाकी न रहेगा। केवल ऊपरी साधनोंसे कुछ न होगा।

मन यदि किसी तरह बन्द न होता हो तो भगवानकी किसी मूर्खिका ही मनन करो, इसी एक संस्कारमें मनको लगा दो, इसीके स्मरण-ध्यानमें मनको केन्द्रीभूत कर दो; इससे मन स्थिर होगा। परन्तु चिन्त जबतक शुद्ध नहीं होता, तबतक मनको स्थिर करना सुलभ नहीं होता। वैराग्यसे चिन्तशुद्धि और अन्याससे स्थिरता होती है—

‘अम्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्णते॥’ (गोता)

मनकी कल्पनाओंके प्रवाहमें बहना छोड़ दो, और तटस्थ होकर साक्षील्पसे उन्हें देखते रहो तो मन स्थिर ही समझो।

कोई कोई पूछते हैं, इसे ज्ञान कैसे प्राप्त होगा? बड़े-बड़े पण्डितों और तपस्वियोंकी जहाँ दाल नहीं गलती, वहाँ हमें कौन पूछता है? बहुत ग्रन्थ देखे, भेस लिया, आश्रम-धाम छूटे, संतोषीं सेवा-टहरोंकी; पर आश्रमका कोई पता नहीं चला! ठीक ही तो हुआ। आत्मा क्या बाहर है, बनों और जगलोंमें है, मटों और आश्रमोंमें है? और क्या उसके लिये पण्डित या तपसी होना पढ़ता है? जो कुछ किया, आपने अच्छा किया; अब सुपचाप बैठिये, बाहरी ग्रन्थोंको रख दीजिये-अंदरका मन्य पढ़िये। मन-बुद्धिके मूलका पता लगाइये और इन मन-बुद्धिको जाननेवाले जो आप हैं, उन-

अपने आपको पहचानिये । मनको अत्यन्त सुरियर रखकर अपने आपको छूँटिये, पता ल्या लीजिये; पता चल जायगा । बुद्धिको सूक्ष्म करनेके लिये महायाक्षके विवरण, श्रवण, मनन और निदिध्यासनकी बड़ी आवश्यकता है । पर ग्रन्थवचनमें से आत्मविषयक (विशेषण या लक्षणके अनुसार) कल्पना और तर्क भत कीजिये । ब्रह्म या आत्मा-नामसे किंति अन्य पदार्थको छूँड़ना नहीं है, अपने आपको ही तो जान लेना है ।

'हम' या 'मैं' इस शब्दका प्रयोग आप जिस वस्तुके लिये करते हैं, उसे शान्ति और सुकृतिके साथ अपने अंदर ही छूँटिये । मूलमें 'मैं', 'हम', 'अहम्' आदि शब्द नहीं हैं; केवल एक आत्मसत्ताका स्वतः स्फूर्त सतत बोधमात्र है । 'मैं' पनकी मांग और कल्पनाको अपनेसे हटा दो; 'मैं' और मेरा का जो-जो कुछ लगाव है, सब अपनेसे अलग कर दो । स्वरण-विसरणसे रहित होकर स्वभावमें स्थिर हो जाओ । इस स्वभावको जाननेवाला (प्रकाश करनेवाला) आपका जो स्वरूप है, वही आप हैं । अपनी सत्ताको स्फुरित न करके स्वस्थ रहो । बस, यही आप हैं; वही आत्मस्वरूप है । 'स्वरूप' कहते हैं 'उस असूजको जो तत्त्वनिरसनके परे है ।' (रामदास)

सबको जाननेवाली, त्रिगुण अंस्कारको भी जाननेवाली जो चेतना है उसे भी आप ही प्रकाशित करते हैं । उस चेतनाको पहचानो और फिर उसे पहचाननेवालेको भी पहचानो; पहचाननेकी तब कोई चीज न रहेगी, तद जायगा केवल आत्मस्वरूप । 'जाननेवालेको जहाँ जान लिया, वही मैंपनका मूल कट गया (रामदास) ।' जरा गहराईके साथ, शान्तिके साथ छूँटो; जिसकी उत्ताठे छूँडा जायगा, वही आप हैं । छूँडनेकी उपाधिको छोडो, छोड़नेकी उपाधिसे बचो । तब जो कुछ रहा, वह आत्मस्वरूप ही है ।

मन जब स्थिर होता और कल्पना नष्ट होती है, तब क्या रहता है ? 'कुछ नहीं' यही प्रत्यय होता है । इस 'कुछ नहीं' (शून्य) का अभिमान भत धारण करो (कारण, अभिमानधारकत्व ही जीवत है) । इस ल्यको जो प्रकाशित करता है, वही आत्मा है । 'तुकाराम कहते हैं कि जब मन लीन हो जाता है, तब जो कुछ रहता है, वही तुम हो ।' 'वही ब्रह्म मैं हूँ' यह भावना भी आपका ही मन्त्रव्य है । इसे

भी छोडो और केवल आप ही-आप रहो—'केवल सत्तामात्र-स्वरूपं भावं परं ब्रह्म' इति श्रुतिः । शुक्लसे इसका अनुभव करो, पर अन्य होकर नहीं ।

त्रिपुरी कोहं हो, वह आपका सत्ताविलास है । ध्याता, शाता आदि भी आप नहीं हैं, आपकी केवल एक लहर है । अथवा आपके आश्रयमें क्रीड़न करनेवाली कल्पनाके कार्यानुसार आपपर होनेवाले वे मिथ्या आरोप हैं । ध्याता-ध्यान-ध्येय, शाता-शान-श्रेय इत्यादि त्रिविधि बस्तुओंको जो प्रकाशित करता है वही आत्मा है । वही आप हैं ! त्रिपुरीका अतिकम करके देख लीजिये, तन्मय हो जाइये । किंतु प्रक्रियासे हो, अपनी सहज आत्मस्थितिको अनुभव करना ही तो सब साधनोंका सार है । अनुभवी महात्माओंका आश्रय ग्रहणकर अन्तर्युक्ति सीख लीजिये और अनुभव करिये; बस, इतना ही काम है ।

गुरु कृष्ण जेहि नरपर कीही तिनह मह जुहति मिठानी ।
मानक लीन भयो गोविद सँग जर्म पानीमे पानी ॥

उस युक्तिको जानना ही यथार्थमें गुरुकृष्ण है ।

सारा संसार एक महास्थम है । केवल कल्पित नाम-रूपसे सब भेद देख पड़ते हैं । परन्तु यथार्थमें अस्ति, भावित, प्रियत्वके सिवा और कुछ भी इस संसारमें नहीं है । संसार संसाररूपसे मिथ्या और सक्षिदानन्दरूपसे सत्य है । अर्थात् जगत् या देहकी कल्पना आदि मिथ्या और एक तत्व ही अखण्ड है । भेदभावकी कल्पना जहाँ कुटी, वहाँ सभ एक ही है । इस प्रकार यथार्थ जानकर जो लोग अद्वण्ड अनुसन्धान करते हैं, वे स्वानन्द-सिंधुमें खेलते हुए अन्तमें उसीके साथ सर्वथा समरस हो जाते हैं । जो कुछ प्राप्तव्य है, वही है ।

तात्पर्य—

(कु०) परमानन्दहि ध्येय है, है वह हरिका नूर ।
दूर दूर द्वा सोचता, है सबमें भरपूर ॥
है सबमें भरपूर, सचिदानन्द वहो तू ।
मृषा नाम अरु रूप, छाड अध्यास तुही तू ॥
चाह कल्पना छोड, मृषा तज मैथन कंथहि ।
तह जा तुम्ह सुदाम ! सहज तू परमानन्दहि ॥

अनाहत नाद

(लेखक—स्वामी नथनानन्दजी सरस्वती)

संत-समाजका एक बड़ा भारी भाग अनाहत नाद या अनहृद नादका उपासक है। कवीर, रैदास, नानक और राधात्मानीने केवल अनहृद-योगका प्रचार किया था। उक्त आचार्योंने, अपने-अपने अलग-अलग मत या सम्प्रदाय कायम किये और उनको अनहृद नादका साधन बतलाया।

विराटमें जितने मण्डल हैं—उनमें से दस मण्डलोंने शब्द भी जारी किये हैं। इन मण्डलोंमें प्रत्येक मण्डल अपना एक शब्द रखता है। विराटमें कुल छत्तीस मण्डल हैं और वे सब अपना-अपना एक-एक शब्द रखते हैं। परन्तु केवल दसका शब्द प्रकट स्वरमें चालू है और शेष छत्तीस मण्डलोंके शब्द स्वररूपसे गुप्त आचार्यमें चालू रहते हैं। उपर्युक्त ३६ मण्डल अलग-अलग अपना रंग, रूप, शब्द और अधिकार रखते हैं। उन सबकी अर्द्धमात्राएँ अलग हैं, उनके बीज यानी शिव भी अलग-अलग हैं। प्रत्येक मण्डलसे जो सूत्र यहाँ आता है, वह सबर या शब्दके रूपमें ही होता है। इसराज नामक बाजेमें जो ३६ तार होते हैं, वे ३६ मंजिलके सारक हैं और ३६ प्रकारके अनाहत नादके घोतक हैं। दस प्रकारका अनहृद कानसे सुना जाता है। बाकी २६ प्रकारका अनहृद—जो स्वररूप है—केवल अनुभवके कानसे सुनायी पड़ता है। वे लोग यथार्थ नहीं जानते, जो अनहृदको केवल दस ही प्रकारका जानते या मानते हैं। कारण यह कि जो दस मण्डल अखण्ड अर्द्ध-मात्राके नीचे—अर्द्धचन्द्राकार धेरेमें—आवाद है—वहाँसे प्रकट शब्द हुआ करता है और अनहृद नादके जितने प्रचारक संसारमें आये, वे सब उन मण्डलोंके ही शिव लोग ही थे। अवण्ड अर्द्धमात्रासे लेफर पूर्णमात्रातक जितनी मंजिलें हैं—या जितने मण्डल हैं, उनके शिव या कारण-शरीर इस मायिक भूमिकापर नहीं आये। इसीलिये उनके मण्डलोंका स्वर लोगोंको सुनायी नहीं पड़ा। हाँ, परमरथ्य भविष्य महाकालमें वे सब इस भूमिकपर अवतार लेंगे। उसी समय छत्तीस तारबाला इसराज बजेगा! तबतक दस तारबाली सारंगी बजाते रहिये।

अनहृदसे लाभ

१—अगर भरते समय किसी नादको पकड़ लिया जाय

तो मृतककी आत्मा उसी मण्डलमें जा पहुँचेगी, जहाँसे वह शब्द आ रहा है।

२—नादके प्रथिको यमदूत नहीं पकड़ सकते, क्योंकि वे मण्डल यमलोकसे बहुत ऊँचे हैं।

३—नादके अन्यासीकी बुद्धि विकसित होती रहती है। उसकी समझमें सत्यका प्रकाश आने लगता है।

४—नादके अन्यासीको एकदम किसी-न-किसी स्वर्गके मण्डलमें स्थान मिल जाता है। जिस तारको पकड़कर रुह चढ़ेगी, उसी तारकी सरकारमें वह जा पहुँचेगा। परन्तु पाप-पुण्यके चक्रसे बह भी सुरक्षित नहीं। जब उसका पुण्य समाप्त होगा, वह पिर अपने पाप भोगनेके लिये इसी भूमिकपर उतार दिया जायगा।

५—नादके अन्यासीपर कामादि पैँछों शैतानी तत्त्व अपना प्रभाव कम ढाल सकते हैं।

अनहृद नाद

नंबर मण्डलका नाम स्वर है या शब्द उसकी उपमा

१	संहारक देवका लोक	शब्द	पावजेवकी ब्रह्मार-सी
२	पालक देवका लोक	„	सामरकी लहर-सी
३	सुजक देवका लोक	„	मृदङ्ग-सी
४	सहस्रदलकमल	„	शङ्क-सी
५	आनन्द-मण्डल	„	तुरही-सी
६	चिदानन्द-मण्डल	„	मुरली-सी
७	सच्चिदानन्द-मण्डल	„	बीन-सी
८	अखण्ड अर्द्धमात्रा	„	सिंहगर्जन-सी
९	अगम मण्डल	„	नफीरी-सी
१०	अलख मण्डल	„	बुलबुल-सी
२६	उपर्युक्त १० मण्डल अपराके इलाकेमें हैं और शेष		

२६ मण्डल पराके इलाकेमें हैं।

नादका अन्यास

प्रातःकाल चौचादिसे छुटी पाकर किसी एकान्त स्थानपर चले जाओ। सुरदा आत्म लगाओ यानी सीधे लेट जाओ। हाथके दोनों अँगूठोंसे दोनों कान बंद करो। अपने ही घटमें शब्द सुनायी पड़ना शुरू हो जायगा। अपनी दाढ़ी औरके शब्दोंको सुनना चाहिये। बार्फी औरके शब्द मायाके हैं और त्याज्य हैं।

साधनाकी एक भाँकी

मन कल्पनाओंका पुळ है। सुधुसिमें जो कल्पनाएँ विलीन रहती हैं, वे ही स्वप्नमें और जागरितमें उठा करती हैं और जिन बस्तुओं और घटनाओंका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है, उनका बनावटी सम्बन्ध जोड़कर व्यवहारकी विशाल घब्र अटिल परम्परा खड़ी कर देती हैं। मैं तो कभी-कभी इन कल्पनाओंके जालमें देसा उलझ जाता हूँ कि उनसे छुटकारा पाना कठिन हो जाता है। ऐसा अनेकों बार होता है। किसी-किसी दिनकी कल्पनाएँ बड़ी मनोरक्षक और लाभप्रद हो जाती हैं, पीछे उनके सारणसे भी मनोरक्षन और लाभ होता है। इसलिये एक दिन ब्रह्मदेवामें, जब कि वृत्तियोंको निस्सङ्कल्प करके मुझे शान्त-भावसे बैठा रहना चाहिये था, जिन कल्पनाओंके प्रवाहमें मैं वह गया था, उनका सरण किया जाता है।

दरबार लगा हुआ था। बहुत-से दरबारी मौन-भावसे अपने-अपने स्थानपर बैठे थे। सबसे ऊँचे आसनपर अपनी धर्मग्रन्थी बुद्धिदेवीके साथ महाराज अहङ्कार विराजमान थे। उस सभाके सदस्योंमें मूर्तिमान रूपसे दस इन्द्रिय, पाँच प्राण, पाँच भूत और मन उपस्थित था। कुछ अव्यक्तरूपसे थे और कुछ छोटे-मोटे दूसरे लोग भी थे; परन्तु उनका कोई विशेष महत्व नहीं था। यह विशाल सभा-मण्डप और उसकी प्रत्येक क्रिया मेरी आँखोंके सामने थी। परन्तु मैं कहो हूँ और किस रूपसे देख रहा हूँ, यह मुझे पता नहीं था; मैं केवल देख रहा था। राजासाहसने मनको बुलाया और कहा कि यहाँ जितने सदस्य उपस्थित हैं, उनको एक-एक करके मेरे सामने लाओ; मैं उनका परिचय, जीविका और उनके जीवनका उद्देश्य जानना चाहता हूँ। मनने हाथ जोड़कर उनकी आशा द्विरोधी की।

एक अपेह जीके साथ मन उनके निकट उपस्थित हुआ। अहङ्कारने पूछा, ‘तुम कौन हो?’ उस भीने उत्तर दिया, ‘मेरा नाम पृथिवी है।’ उन्होंने पूछा, ‘तुम्हारी जीविका क्या है?’ पृथिवी—‘मुझे जीविकाके लिये कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। मुझे प्रत्येक समय सदीं, गर्मी, ठवा, और अवकाश मिलता रहता है और सहज रूपसे ही मैं समस्त भूत-प्राणियोंको धारण किये रहती हूँ। न मुझे कोई चिन्ता होती है और न तो अज्ञानि। यही मेरी जीविका है और

इसीमें मैं लग रहती हूँ।’ अहङ्कार—‘तुम्हारे जीवनका उद्देश्य क्या है?’ पृथिवी—‘मेरा स्वतन्त्र जीवन ही क्या है कि उसका कोई उद्देश्य हो?’ जिसने मुझे अस्तित्व दिया, जिसने मुझे प्रकृतिकी गोदसे निकाला, जो मुझे धारण किये हुए है, वह जैसे नचाता है नाचती हूँ। मेरी एक-एक चेष्टा उसके इशारेसे ही होती है। शायद इससे वह रीक्षता हो; परन्तु मैं उसको रिक्षती हूँ, ऐसी बात नहीं। मेरा कुछ उद्देश्य नहीं और उसके उद्देश्यका मुझे पता नहीं।’ अहङ्कार—‘यह यदि तुम्हें पानीमें गला दे, आगमें जला दे, तुम्हारा अस्तित्व नष्ट कर दे तो क्या तुम्हें दुःख नहीं होगा?’ पृथिवी—‘विलुप्त नहीं। उसकी इच्छा ही मेरा जीवन है और मृत्यु भी वही है। जीवन-मृत्यु नहीं हैं, उसकी इच्छा है।’ फिर अन्तर क्या? मेरे चिन्तमें दुःख और सुखकी कल्पना ही नहीं उठती।’ अहङ्कार—‘अच्छा, जाओ। अपने स्थानपर रहो। तुमसे कुछ नहीं कहना है।’

मन एक दूसरे सदस्यके साथ पुनः उपस्थित हुआ। अहङ्कार—‘तुम्हारा नाम?’ आगन्तुक सदस्य—‘जल।’ अहङ्कार—‘तुम्हारी जीविका क्या है?’ जल—‘मुझे चाहे जो अपने काममें लावे, मैं आपत्ति नहीं करता। पृथिवी मुझसे लिंगध हो, सूर्य मेरा पान करे, वायुमण्डल मुझसे शीतल हो और मैं आवश्यकताके अनुसार उनका उपयोग कर लैँ। वस, यहीं मेरी जीविका है।’ इसके लिये न मुझे चिन्ता करनी पड़ती है न कोई श्रम।’ अहङ्कार—‘तुम्हारे जीवनका उद्देश्य क्या है?’ जल—‘यह मैं नहीं जानता। जितने मुझे अस्तित्व दिया है, उज्जीवित किया है, उसीकी प्रेरणासे बादलसे पर्वतपर, पर्वतसे भूमिपर, भूमिसे समुद्रमें और समुद्रसे बादलमें धूमा करता हूँ। जो धुमाता है, वह इसका रहस्य जानता होगा।’ अहङ्कार—‘तब इस यात्रामें तुम्हें रसका अनुभव होता होगा, कभी यह बन्द हो जाय तो?’ जल—‘मैंने कभी नहीं चाहा या कि मुझे कोई धुमावे, यह भी नहीं चाहता कि यह धूमना बन्द हो जाय। जब धूमने-न-धूमनेकी इच्छा ही नहीं है, तब मेरे लिये कोई भी परिस्थिति नीरस कैसे हो सकती है?’ अहङ्कार—‘तुम्हें कोई जला दे, मुस्ता दे, नष्ट कर दे तब?’ जल—‘जल जाऊँगा, सूख जाऊँगा, नष्ट हो जाऊँगा।’ अहङ्कार—‘तुम्हें दुःख नहीं होगा?’ जल—‘न, बरबर

ही तो हैं सब । जब जीना दूसरेकी इच्छासे, तब भरना भी दूसरेकी इच्छासे । दूसरेकी इच्छा ही अपना जीवन है । न इसमें दुःख है न मुख । अहङ्कार—ठीक है, जाओ ।

मनने एक तेजसी मूर्तिके साथ प्रवेश किया । अहङ्कार—कौन हो तुम ? अग्नि—मैं अग्नि हूँ । अहङ्कार—क्या जीविका है दुम्हारी ? अग्नि—जिसकी जितनी इच्छा हो, मुझसे उधारा और प्रकाश ले ले । मैं भी वायु, जल, पृथिवी आदिका उत्तरोग कर लेता हूँ । यही मेरा स्वरूप है । न इसमें मेरा कर्तृत्व है और न आसन्न ही । अहङ्कार—यह किसकिये करते हो तुम ? अग्नि—कहो करता है मुझसे ? अहङ्कार—न करावे तो ? अग्नि—नहीं करूँगा । अहङ्कार—वह तुम्हें नष्ट कर दे तो ? अग्नि—नष्ट हो जाऊँगा । अहङ्कार—यह सम्बल तुम्हें कहाँसे प्राप्त हुआ ? अग्नि—यह भी उसीका दिया हुआ है । मुझे अभिमान था कि मुझमें भी कुछ शक्ति है; पर उसने मुझे अनुभव करा दिया कि वह शक्ति उसीकी है, मैं जो कुछ हूँ उसीका हूँ । चाहे वह नष्ट कर दे या रक्खे, उसकी मौज ! अहङ्कार—अच्छा, जाओ तुम ।

नायुकी बागी आयी । अहङ्कारके पूछनेपर उसने कहा—मैं वायु हूँ । मेरी जीविका है—संहृष्टि । मैं विद्युत, प्रणशक्ति और अग्निका निर्माण करता हूँ । संसारकी सम्पूर्ण गतियाँ मेरा आश्रय लेती हैं । अहङ्कार—इतनी शक्ति तुम्हें कहाँसे आयी, वायु ? वायु—जहाँसे मैं आया । वे मेरो शक्तियाँ हैं—यह तो कहनेकी बात है । यह सब सहज रूपसे होता है, मेरे सोच-विचारकर कियं बिना ही । मैं तो एक यन्त्र हूँ । मेरी यन्त्रता भी किसीकी इच्छा ही है, तब मेरी क्या विशेषता है । अहङ्कार—यदि तुमसे ये सारी शक्तियाँ छीन ली जायें तो ? वायु—इसका अर्थ है कि मैं भी छीन लिया जाऊँगा । जिसका मैं हूँ, जिसकी ये शक्तियाँ हैं, वे यदि लींच ले अपने जापसे, अथवा नष्ट ही कर दें तो इससे बढ़कर प्रसन्नताकी बात क्या होगी ? अहङ्कार—ठीक है, तुम जा सकते हो ।

आकाशने उपस्थित होकर अहङ्कारके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए कहा—मैं आकाश हूँ । अकाश और शब्द ही मेरा स्वरूप है । मैं चारों भूत और उनसे बने हुए पदार्थोंको

धारण करता हूँ । यह भी उन भूतोंकी दृष्टिसे ही मैं कह रहा हूँ । मेरी दृष्टिमें तौ वे पराये नहीं हैं । मुझे वे नहीं दीखते । जब मैं देखता हूँ, मैं ही दीखता हूँ । इसमें बनावट नहीं है, जिसका यह सहज स्वरूप ही है । अहङ्कार—यदि कोई दुम्हारा नाश कर दे तो ? आकाश—‘उस नाशके रूपमें तो मैं ही रहूँगा ।’ अहङ्कार—‘मान लो तुम रहो ही नहीं, तब ?’ आकाश—‘उस समय अवश्य ही वह रहेगा जिसका मैं हूँ, जिसमें मैं हूँ ।’ यदि मेरा अस्तित्व नष्ट होकर उसका अस्तित्व प्रकट हो सके तो मेरा नष्ट होना ही अच्छा है । अहङ्कार—‘परन्तु तुम नष्ट हो जाओ और वह प्रकट न हो तब ?’ आकाश—‘अवश्य ही वह उसकी आँखभित्री होगी । उसकी लीलाके लिये मेरा मिट जाना ही सर्वोत्तम है ।’ अहङ्कार—‘तुम पाँचोंका समर्पण पूर्ण है ।’

अहङ्कारकी प्रेरणासे मन एक ऐसे व्यक्तिको लेकर उपस्थित हुआ जो एक होनेपर भी पाँच रूपोंमें दीख रहा था । यों समझिये कि एक मूर्ति यी और चार उसकी छाया । पूछनेपर उसने बताया कि ‘मेरा नाम प्राण है ।’ एक होनेपर भी स्थानभेद और क्रियामेंद्रसे समर्पित और व्यष्टि दोनोंमें ही मैं पाँच प्रकारका हो जाता हूँ । जगतमें जितनी भी चेष्टाएँ हो रही हैं, मेरेद्वारा । स्थूल जगत् यदि किया है तो मैं उसके अंदर रहनेवाली शक्ति हूँ ।’ अहङ्कार—‘तुम समर्पित हो या व्यष्टि ?’ प्राण—‘मैं तो मैं समर्पित ही हूँ, मुझमें व्यष्टिका भेद है ही नहीं । परन्तु यह कहनेकी बात है । मैं व्यष्टि हूँ और इस प्रकार व्यष्टि हूँ कि समर्पितोंको जानता ही नहीं ।’ अहङ्कार—‘तब तुम अपना मोह और बन्धन स्थीकार करते हो ।’ प्राण—‘जी हाँ । मैं ऐसा मानता हूँ कि मेरे ही कारण शरीर जीवित है और फिराभिसरण, पाचन आदि कियाएँ मेरे ही द्वारा होती हैं—गहाँतक कि मेरे बिना पलक भी नहीं गिर सकती ।’ अहङ्कार—‘यह शक्ति दुम्हारे अंदर कहाँसे आयी ?’ प्राण—‘मैं तो वैसी स्थितिकी कल्पनासे ही कहाँसे लगता हूँ । मेरी रग-रगमें मृत्युकी भयानकता भरी हुई है ।’ अहङ्कार—‘तब तो दुम्हारे अंदर सम्बलका अभाव है ।’ प्राण—‘सच्य है ।’ अहङ्कार—‘इस विषयमात्रके अपराधका दण्ड भोगना पड़ेगा तुम्हें ।’ प्राण—‘दण्ड तो मैं अभी भुगत रहा हूँ । जितना दण्ड मैं भोग रहा हूँ इस समय, हस्ते अधिक और लपा दण्ड होगा ?’ अहङ्कार—‘अवश्य ही तुम

बन्धनमें जकड़े हुए हो। परन्तु इससे छूटनेका उपाय भी नहीं है कि तुम और भी बाँध दिये जाओ। तुम्हारी किया सीमित हो जाय। इडा और पिंगलाके मार्गमें समरूपसे चलते रहो, यह समता सुखम्याका रूप धारण कर ले। तुम्हारा घटना-बदना और स्वेच्छाचार सर्वया बन्द हो जाय, तुम मेरे सामने रहा करो। एक क्षणके लिये भी मेरी आँखोंसे ओश्ल मत होओ। तुम्हारे लिये जो यह दण्डकी व्यवस्था की गयी है, यह तुम्हारी उद्देश्यहीनताके कारण है। अवश्य ही इससे तुम्हें दुःख होगा, परन्तु वह दुःख तुम्हारे वर्तमान सुखसे तो बहुत ही उत्तम होगा। तुममें जन्म और मृत्युके प्रति समत्व नहीं है, परमात्माके प्रति समर्पण नहीं है, उद्देश्यकी ओर तुम्हारी गति नहीं है। इतलिये प्राण! तुम कैद कर लिये गये। मेरी आँखोंके सामने स्थिर भावसे खड़े रहो। प्राण सखा हो गया। परन्तु वह बहुत ही धीरे-धीरे काँप रहा था।

अहङ्कारने मनसे कहा—‘इन्द्रिय दस हैं, सबको मेरे पास लानेकी आवश्यकता नहीं है। उनकी सम्मतिसे एक प्रमुख इन्द्रियको ले आओ, जो सबका प्रतिनिधित्व कर सके।’ तत्क्षण मनने आशा विरोधीर्थ की ओर इन्द्रियोंकी सम्मतिसे वारिन्द्रियको लेकर उपस्थित हुआ। इन्द्रियोंके सम्बन्धमें प्रश्न करनेपर वाकने कहा—‘हमलेंगोंकी संख्या दस है—पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं और पाँच कर्मेन्द्रिय। कर्मेन्द्रिय शानेन्द्रियोंके पूरकमात्र हैं। जैसे—नेत्र कोई स्थान देखना चाहता है तो पैर वहाँ पहुँचा देते हैं, त्वक् स्पर्श करना चाहती है तो हाथ उसका स्पर्श करा देते हैं—इत्यादि। प्राचानाता शानेन्द्रियोंकी ही है, उनकी जीविका और उनके जीवनके उद्देश्य भिज्ञ-भिज्ञ हैं। कोई शब्दजीवी है तो कोई स्वर्यजीवी और कोई रूपजीवी। उनके जीवनका उद्देश्य है अपने-अपने विषयोंकी पूर्णता प्राप्त करना। जैसे कान चाहता है मधुर शब्दोंके केन्द्रमें स्थित होना, आँखें चाहती हैं रूपराशि और त्वक् सुकोमल स्पर्श। कुदु शब्द, असुन्दर रूप और रुक्ष स्पर्श आदिसे उनका द्रेष भी है। सभी अपने-अपने लक्ष्यकी पूर्ति भिज्ञ-भिज्ञ दिशामें मानते हैं। इसीसे उन्होंने अपने जीवनमें हन्दकी सुषिठ कर रखती है।’ वाक-

अहङ्कार—‘क्या उन्होंने भगवानके भी सम्बन्धमें कुछ विचार किया है? उन पाँचोंने यह भी सोचा है क्या कि हम सबके उद्देश्यकी पूर्ति एक ही भगवानमें होती है?’ वाक—

‘नहीं। वे अपने-अपने उद्देश्यको पृथक्-पृथक् समझते हैं और उनकी धारणा है कि इनकी पूर्णता ही भगवान् है।’ अहङ्कार—‘जहाँ उन विषयोंकी आंशिक अभिव्यक्ति रहती है, वहाँ न्या वे भगवान्-रसकी अनुभूति नहीं प्राप्त करते। जिन्हें वे कटु, रुक्ष एवं अप्रिय समझते हैं उनमें भी तो उनके जीवनका उद्देश्य किसी-न-किसी रूपमें है ही।’ फिर वैष्णव-भावसे द्रेष-की सुषिठ करके दुःखी होना उनका अपराध है। इतलिये उनको इसका दण्ड मिलना चाहिये। वाक्—‘वे दण्ड भोगने-को तैयार नहीं हैं।’ अहङ्कार—‘यही तो उनका सबसे बड़ा अपराध है। पहला अपराध उनका यह है कि उन्होंने रूप, रस, गन्धादि सबके केन्द्रस्वरूप भगवान् ही हैं—इस बातको जीविकार नहीं किया। दूसरा यह है कि उन्होंने सर्वंत्र अपने प्रिय उद्देश्यको ही नहीं देखा और द्रेषकी सुषिठ की। दूसरको जन्म देकर उन्होंने सारे संसारको दुःखमय बना दिया। अब दण्ड भोगनेको भी तैयार नहीं। इतलिये मैं उन्हें दण्ड देता हूँ कि वे अपने-अपने गोलकोंमें स्थिर हो जायें। न बाहर जायें न भीतर। एक हंच भी यदि इधर-उधर हटी, राम-वत्ता प्रिय वस्तुओंकी ओर बढ़ी और द्रेषवश अप्रिय वस्तुओं-की ओरसे हटी तो उन्हें नष्ट कर दाला जायगा।’ वाक्—‘भगवन्, यह तो इन्द्रियोंके लिये मृत्यु-दण्ड है।’ अहङ्कार—‘जो जीवित रही हैं, उन्हें मरना भी पड़ेगा। जीवन और मृत्युकी एकसमस्ताका अनुभव करना ही प्रत्येक व्यक्तिका भाष्य है, परन्तु यह मृत्यु वर्तमान जीवनसे झुन्दर है। सब सावधान हो जायें। मेरी आज्ञा इसी क्षणसे जारी है।’ वाक्—‘जहाँ-की-तहाँ उच्च रह गयी। समस्त इन्द्रियों अपने-अपने स्थानमें गड़ गयीं। अब उस सभामण्डपमें भन, बुद्धि और अहङ्कारके अतिरिक्त और कोई नहीं था। मैं केवल देख रहा था।

क्षीण हो रही हैं और मैं भर रहा हूँ। परन्तु नहीं, नहीं; मैं मरना नहीं चाहता। मुझे बचाओ, मेरी रक्षा करो।'

बुद्धि—‘अब तुम्हारी रक्षा असम्भव है, तुमने अपनेको और सरे संसारको क्षुब्ध कर दिया। जिसके हो, उसको नहीं जाना। अन्न होनेपर भी यन्त्रताका अनुभव नहीं किया। जीवन और मृत्युकी समतामें तुमने ही वैष्णवका आरोप किया और उसे दृढ़ किया। अभृतको विष बना दिया तुमने। तुम्हारे अपराधका यही समुचित दण्ड है कि तुम नष्ट हो जाओ। हाँ, तुम नष्ट हो जाओ।’ देखते-ही-देखते मनके शरीरकी छाया भी नहीं रही वहाँ, केवल बुद्धि और अहङ्कार दो ही व्यक्ति थे। मैं केवल देख रहा था।

बुद्धिने अहङ्कारसे कहा—‘अब हम और तुम दो ही हैं, मेरा जीवन तुम्हारे आश्रयसे ही है। तुम न रहो तो मैं रह नहीं सकती। अगतक यथाशक्ति तुम्हारी सेवा करती रही हूँ। परन्तु तुमने मुझे अपना रहस्य नहीं कहाया। भला, यह भी कोई प्रेम है? जिनका जीवन समर्पित है, तुमने उनकी प्रशंसा की है; जिनमें अहंता थी, आसक्ति थी और ममता थी उन्हें तुमने दण्ड दिया है। परन्तु क्या तुम्हारा जीवन समर्पित है? क्या तुमने भी वही अपराध नहीं किया है, जो उन लोगोंने किया है? तुम्हारे पास इन प्रश्नोंका क्या उत्तर है?’

अहङ्कार—‘तुम्हारे प्रश्न हम दोनोंके लिये ही हितकर नहीं हैं, मैं जान-बूँदकर इस रहस्यको छिपाये हुए था। उसका भेद लोल देनेपर न तुम रहोगी न मैं।’ बुद्धि—‘यह तो तुम्हारे कथनके ही विशद है। अभी तुम हित-अहित और जीवन-मृत्युमें समत्वका पाठ पढ़ा रहे थे। हम दोनोंका नाश हो जाय, यह स्वीकार है; परन्तु हम सत्यके ज्ञानसे बच्चित रहे, यह स्वीकार नहीं।’ अहङ्कार—‘इस प्रकार आत्मनाश क्यों किया जाय।’ बुद्धि—‘जहाँ आत्माका ज्ञान ही नहीं, वहाँ आत्मनाश कैसा? क्यों? क्यों? का प्रश्न तो वह कर सकता है जो आत्माको जानता हो। मेरा प्रश्न ‘क्यों? नहीं ‘क्या’ है।’ अहङ्कार—‘अच्छा तो लो, जानो, यह सब मेरा एक खिलवाड़ था। इन्द्रियोंके साथ रमना, तुम्हारे साथ सोचना, फूलकर बैठे रहना और सो जाना—यह सब मेरी एक लीला थी, केवल दिलवायामर था। मैंने सब कुछ किया, पर मैं कुछ नहीं था। मैं एक वोल हूँ, मैं एक प्रतीति हूँ। व्यवहारमें व्यवहारी बनकर रहा, साधकोंमें साधकके रूपमें प्रतिष्ठित हुआ, परमार्थियोंमें परमार्थ हो गया।

किसीने पूजा की और किसीने तिरस्कार। परन्तु न मैं व्यावहारिक हूँ न प्रातिभासिक, परमार्थिकी तो बात ही क्या है। मैं हूँ नहीं, और तुम देखो, मैं नहीं हूँ।’ बुद्धिने आँखें उठाकर देखा, वास्तवमें अहङ्कार नहीं है! वह किंकर्तव्यविमूद-सी हो गयी। उसने चकित होकर कहा—‘अरे! जिसने सब कुछ किया वही कुछ नहीं, आश्वर्य है। परन्तु तब यह सब किया ही क्यों? ठीक है; यदि यह सब नहीं करते तो आज मैं उन्हीं प्रतीतियोंमें उलझी रहती। यह अवसर ही न आता, जिससे मैं सत्यको जान पाती। करनेसे ही कुछ न करनेका बोध होता है। उनका करना ठीक था, उनका कहना ठीक था। वे कुछ नहीं थे और मैं भी कुछ नहीं हूँ। उनके बिना मैं कैसी? बास्तवमें कुछ नहीं हूँ।’

मैंने देखा बुद्धि भी नहीं है, परन्तु मैं देख रहा हूँ। समाप्तिय भी नहीं है, परन्तु मैं देख रहा हूँ। मैंने इतने बड़े प्रपञ्चके भाग और अभाव दोनोंको अपनी आँखोंसे देखा। पञ्चभूत, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहङ्कार—इतना ही क्यों, निरिखल दृश्यपञ्चमे मेरी आँखोंके सामने नाशकर अहश्य हो गये और मैं उनकी इस कार्य और कारण दोनों ही अवस्थाओंको देखता रहा और केवल देखता रहा। परन्तु यह देखना क्या है? मैं देखनेवाला कौन हूँ? यदि ये सब होते तो इनका अभाव न होता। परन्तु ये जब नहीं रहे तो इनका अस्तित्व ही सन्दिग्ध है। सन्दिग्ध ही क्यों है ही नहीं। तब किसे कौन देख रहा था? मैं ही मैंको देख रहा था। भला, कर्ता कर्म कैसे हो सकता है? कर्ता कर्म नहीं हुआ था, साक्षी साक्ष्य नहीं हुआ था। कर्ता और कर्म, साक्षी और साक्ष्य-दोनों ही प्रतीतिमात्र हैं और सदस्तु अर्थात् मैं (‘मैं’ पदका लक्ष्यार्थ) प्रतीत-अप्रतीत सबका अधिकान है और वस्तुगत्या सब कुछ है। केवल मैं-ही मैं हूँ।

विचारोंकी धारा यहाँ आकर समाप्त हो गयी और मैं स्थिर एवं निष्कर्ष स्वरूपसे स्थित हो गया। अवश्य ही उस समय समयकी स्फुरणा नहीं हुई। जब मैंने आँखें खोलीं, तब सूर्योदय हो रहा था। मेरी आँखोंके सामने उन कल्पनाओंका दृश्य होने लगा। पञ्चमहाभूतोंका समर्पण, प्राणोंकी स्फुरता, इन्द्रियोंकी सजा, मनकी मृत्यु और अहङ्कारका खोलालपन—सब-का-सब मुझे स्मरण हो आया और मुझे मालूम हुआ कि मेरी इस कल्पनामें परमार्थके

साथ ही व्यवहारके सम्बन्धमें बहुत-सी उपादेय वाले हैं। यदि प्राण, इन्द्रिय आदि अपनी विषमताओं, दृढ़ोंको परित्याग करके पञ्चभूतोंके समान यन्त्रवत् व्यवहार करने लगा जायें तो हनके निरोधकी कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। ये स्वयं निश्चद हो जाते हैं। यदि ये समर्पित भावसे काम नहीं करते तो

इनके निरोधकी आवश्यकता है और वही आवश्यकता इस कल्पनामें अभिव्यक्त हुई है और उसका फल भी प्रत्यक्ष है।

कथा यह कल्पना केवल मनोरक्षण है अथवा इससे कुछ साधनाका भारी भी स्पष्ट होता है?

— अमृत-कला —

अमृत-कला

(लेखक—यो० शीणार्थनाथजी)

सहस्रदल कमलके मध्यमें जो सिंहासन है, उसके नीचे दो कलाओंके दो केन्द्र—जंक्शन हैं। एकका नाम है—अमृत-कला और दूसरीका नाम है—मृत्यु-कला।

एक तत्त्व तो सहस्रदल कमलकी शाहीसे नीचेकी तरफ उत्तराता रहता है। उसका रंग जुग्नू-जैसा है। उस तत्त्वको देखते ही शहदसे भी सौ गुना ‘धूर—मधुर भुग्नवित स्वाद’ अपने-आप आने लगता है। अगर उसे पी लो, तो फिर क्या बात! उसी तत्त्वको यानी उसी ‘शाहीसूख’को—उसी ब्रह्मसूखको अमृत-कला कहते हैं। उसको जाननेवाला सर्वदा तथा सर्वथा १६ सालका रहता है। इसलिये इस अमृत-कलामें ‘घोड़दी’ नामक शक्ति निवाप करती है। घोड़शी अथवा अमृत-कलापर यिचार तभी किया जा सकता है, जब उसके जाननेवाले काफ़ी हों।

सहस्रदल कमलके ‘शिव-शक्तिसंयुक्त सिंहासन’ के नीचे जो ‘कर्णिका’ है, वहसे अमृत-कलाका तत्त्व यानी सोता था सूत्र जारी है और जो सहुरुका लालड़ा ल्धका उस सोतेका ‘आवेष्यात’ पीने लगता है, वह खुद घोड़शी बन जाता है। घोड़शीकी शक्ति ही सहस्रदल कमलके परमात्माकी आत्मा है।

वहाँपर कैवल्यरूपसे केयल अमृत-कला ही है। मगर जीवनके उस चन्द्रकी जो चाँदीनी वहाँ फैली है, उसे मौतका घोर अन्धकार जकड़े हुए है। इसलिये वहाँ मौतका भी जंक्शन है। एक हीकर भी वहाँ दो हैं—चाँदीनीस्त्री जीवन है, अन्धकाररूप मरण है। वही दोनों महातत्त्व रहते हैं। सिंहासनके नीचे दो घटाएँ हैं—एक अमृतमयी और दूसरी मरणमयी।

अमृत-कलाके काम

१—अपने साधको दीर्घ जीवन देती हुई जीवन-मरण-की शिक्षा देती है।

२—अपने साधको बुद्धापा और मौतसे बचाये रखती है।

३—अपने साधको ऐसे महात्माओंसे मिलाती रहती है, जो बहुत दिनोंसे उसके विद्यार्थी हैं—ताकि उसका ज्ञान विस्तृत हो।

अमृत-कलाके सूत्र

अमृत-कलाका सूत्र कुण्डलिनीके भीतर होता है। जिनकी कुण्डलिनी जाग्रत् नहीं हुई, उनको अमृत-कलाका परिचय नहीं हो सकता। उनके लिये अमृत-सूत्र होनेपर भी नहीं है। क्योंकि सहस्रदल कमलवाला वह अमृतवर्षण कुण्डलिनीकी नामनी ही पी जाती है। जीवात्मको पीनेके लिये वह प्राप्त नहीं होता।

भूगोलकी मुरुमशुमारी दो अरब है। उसमें बहुत थोड़े ही व्यक्ति अमृत-कलासे सम्बन्ध रखते हैं, योप सब मृत्यु-कलासे सम्बन्ध रखते हैं। जो अमृत-कलामें नहीं गया, वह मृत्यु-कलामें स्वयं फैस जाता है। इस प्रकार प्रायः समस्त संसार मृत्यु-कलासे परिचय रखता है और वह सबके लिये मृत्युको अनिवार्य देखता है।

अमृत-कला चाहती है कि सारा संसार अमर हो जाय। परन्तु वह कुण्डलिनी-आवद्ध होनेसे अपना पूरा काम सफलतापूर्वक नहीं कर सकती। मृत्यु-कला कुण्डलिनीसे आवद्ध नहीं है, इसलिये उसका प्रभाव सर्वत्र सर्वदा पड़ा करता है।

जो लोग कुण्डलिनीबद्ध हैं, उनके लिये अमृत-कलाका परिचय नीचे लिखे साधनोंसे प्राप्त हो सकता है। बाहरी जगत्के करियर पदार्थोंमें भी अमृत-कलाकी कला विद्यमान है और वह अमरत्वका प्रचार करती रहती है। जगत्में

बहुत योद्धे अमर लोग ऐसे हैं, जिन्होंने सद्गुरुकृपासे कुण्डलिनीको जाग्रत् करके अमृत-कला प्राप्त की है। शेष सब अमर लोग बाहरी पदार्थोंसे अमर हुए हैं।

१—अमृत-कलाका एक सूत्र प्रलेक छीमें मौजूद रहता है। किसी छीकी दाहिनी आँखमें होकर वह सूत्र नीचेकी तरफ उत्तरता है और किसीकी बायीं आँखमें होकर। जिस नेत्रमें गुलाबी रंगत छायी हुई हो, समझलो कि उसी तरफसे अमृत-कलाका सूत्र आ रहा है। छीको सीधा लिटा देना चाहिये और उसीनसको हाथके अँगूठेसे रगड़ना चाहिये, जो अमृतवाहिनी नष्ट है। इस साधनसे अमृत प्राप्त हो जाता है। उसे धो डालना चाहिये। वह पानीमें मिलता नहीं है। अमृतका रंग हिंगुल-सा सुरक्ष होता है। शहद-सा वह गाढ़ा होता है। उसमें कस्तूरी-की खुशबू होती है। किसी चीज़में मिलता नहीं। परेकी तरह अपनी सत्ता अलग रखता है। पीनेमें अत्यन्त मधुर। संसारकी सारी मधुरता मात द्वे जाती है। कम से-कम एक छटाँक पीनेसे अमृतत्व प्राप्त होता है।

२—हिमालय-प्रदेशमें तजीवन बूटी नामक एक जड़ी होती है। उसकी पहचान यह है कि अंधेरी रातमें उसका हर एक पत्ता जुगनूकी तरह चमकता है। लक्षणजीकी जश अकाल मृत्यु आयी थी, तब इसी बूटीने उनको अमरत्व प्रदान किया था। खिंच पुरुषोंमें बहुतेरे इसी सज्जीवनीद्वारा दीर्घजीवी हो सके हैं।

३—जीभका जो हिस्सा नीचे जुड़ा रहता है, उसको कटवा देना चाहिये और मध्यनके सहारे उठ जीभको खींच-खींचकर लंबा करना चाहिये। इसके बाद शीर्षसन लगाना

चाहिये। नीचे सिर और ऊपर पैर कके खड़ा होना चाहिये। कानोंको हाथोंके दोनों अँगूठोंसे बंद करना चाहिये। नेत्र भी बंद रखने चाहिये। ताल्की तरफ जीभको बढ़ाना चाहिये। अमृत-कलाका जो अमृत घटमें प्रकट होता है, उसको इस साधनद्वारा जीभसे पीना चाहिये। इस साधन-वालेके सामने कुण्डलिनीका कपट हार जाता है।

अमर-कलावाला सर्वदा जीवित रहेगा, ऐसी बात नहीं है। अमर-कलावालेकी मौत उसीके अधिकारमें हो जाती है। वह जब मरना चाहे, मर भी सकता है। अपना जीवन-मरण अपने हाथमें कर लेना ही अमृत-कलाका लक्ष्य है।

जीवनके तीन दंजे हैं—(१) मर (२) अमर (३) अविनाशी। जो सौ सालके भीतर मर जाते हैं, उनको मर कहते हैं। अमर लोग अपनी इच्छा-शक्तिद्वारा मरनेवालोंको मारा करते हैं। जो अपनी मृत्यु अपने हाथमें रखते हैं—जिनको जीवनका स्वराज्य मिल गया है, उनको अमर कहते हैं। वे या तो अपनी इच्छासे मरते हैं या कोई दोष हो जाने-के कारण उनको कोई अविनाशी मार डालता है। रावण था अमर—राम थे अविनाशी। रावणने अपना काल अपनी चारपाईसे बाँध रखवा था। इसका मतलब यही है कि रावण-की मौत उसीके हाथमें थी। वैसा ही हुआ भी। उसने जान-बूझकर एक अविनाशीसे तकरार की और जानसे हाथ खींचा।

आशा है कि इस लेखसे पाठक लोग यह बात समझ गये होंगे कि अमृत-कलाद्वारा सबको दीर्घजीवन प्राप्त करने-का अधिकार है।

—३५४—

शरीरका गर्व न करो

गर्व भुलाने देह के, रचि रचि द्वाधि पाग ।
सो देही नित देखि के, चौंच सँचारे काग ॥
सुंदर देही पाय के, मत कोइ करै गुमान ।
काल दरेरा खायगा, क्या बूढ़ा क्या ज्वान ॥
इस जीने का गर्व क्या, कहा देह की प्रीत ।
आत कहत ढह जात है, बारू की-सी भीत ॥
देही होय न आपनी, समुद्र परी है मोहि ।
अवहीं तैं तजि राख तैं, आखिर तजि है तोहिं ॥

—मधुकरासनी

महापुरुष-पूजा

(लेखक—शास्त्रवाचस्पति डा० प्रभुदेवजी शास्त्री, एम० ए०, पी-एच० डॉ०, श्री० एस-सी०, विज्ञासागर)

सत्यकी उपलब्धिके नानाविध साधन हैं। हमारे आध्यात्मिक अधिकारकी जो विभिन्न भूमिकाएँ हैं, उन्हींके अनुरूप कर्म, भक्ति और ज्ञानकी एक साधन-परग्राम है। पर इसी साध्यका एक इससे भी सुगम साधन है और वह है महापुरुषोंके चरित्र और आचरणका तत्त्वतः अनुकरण करनेका अभ्यास करना। हिन्दू-शास्त्रोंने सत्सङ्गको सर्वदुःखहर भेषज कहा है ('सत्तां सङ्गो हि भेषजम्')। महापुरुषोंका सामीप्य भी, अध्यात्मकी दृष्टिसे, बड़ा कल्याणकारी होता है। इसीलिये तो भारतवर्षमें साधु-महात्माओंकी सेवा और आदर करनेकी परम्परा अबतक अखण्डरूपसे चली आयी है।

महापुरुष शिक्षा-दीक्षासे महान् नहीं बनाये जाते, वे जन्मतः ही महान् होते हैं। उनकी चाहे कोई अलग जाति न हो, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनमें महात्मासिकी योग्यताका अद्भुत सङ्ख्य होता है। मनुष्य कर्मके विविध क्षेत्रोंमें महत्ता-लाभ कर सकता है, पर भौतिक महात्माकी अपेक्षा बौद्धिक महत्ता श्रेष्ठ होती है और जहाँ कोई वास्तविक बौद्धिक महत्ता होती है वहाँ उसके पीछे आध्यात्मिक पृष्ठ-भूमि भी होती ही है। किसीकी वास्तविक महत्ता उसके चरित्र-से प्रकट होती है।

जो लोग धन कमानेमें लगते और वाश्चीवनके सभ मुखोंका संग्रह करते हैं, उनका बहुत लोगोंपर बड़ा प्रभाव होता है, परन्तु व्यथार्थमें ये लोग महान् नहीं होते। हममेंसे बहुतेरे ऐसे हैं जो, अच्छी नीतिके होते हुए भी, आसुरी सम्पदाका ही पीछा करते हैं। वास्तविक महत्ता उस दैवी सम्पदाके साथ एकत्र-लाभ करनेसे ही मिलती है; जिसका वर्णन श्रीमद्भगवद्गीताके सोलहवें अश्वामें हुआ है। महान् पुरुष महान् तभी माने जाते हैं जब ये सत्य, अभय, सत्त्व-संशुद्धि, परोपकार, क्षमा, इन्द्रियनियन्त्रण, असंतोषि, अक्रोध, अद्वैष और अनहंकारिताका ही जीवन व्यतीत करनेका पूरा-पूरा प्रयत्न करते हैं।

महान् पुरुषोंकी दो कक्षाएँ हैं—एक वे जो इस अध्यात्म-पथपर हैं और अधिकारिक सदाचार-सिद्ध लाभ कर रहे हैं और दूसरे वे जो सिद्ध हैं। पूर्वोंकी भी हैं तो महान् ही; पर उत्तरोक ही महापुरुष हैं। ऐसे सिद्ध महापुरुष

सामान्य विधिनिषेधके परे पहुँच जाते हैं और उनका जीवन राग-द्वेष, हर्ष-शोक, लाभालाभ, जय-पराजयादि द्वन्द्वोंसे रहित अवशुक्ता-सा होता है। इस अवस्थामें उनके लिये कुछ भी शास्त्रोक कर्तव्य नहीं होता, उनका आचरण ही उनका शास्त्र और अधिकार होता है। उनके उदाहरण देखकर सामान्य लोगोंका कहीं बुद्धिभेद न हो, हृतलिये वे उस अवस्थामें भी वैसे ही आचरण करते हैं, जैसे दूसरे लोग करते हैं।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्क्रिनाम् ।
जोपयोऽसर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥

(गीता ३। २६)

महापुरुषोंके लक्षणोंको एक दूसरी ही पृष्ठ-भूमिसे देखना भी मनोरञ्जक होगा। इसके लिये उदाहरण-स्वरूप हम विगत शताब्दीके एक ऐसे तत्त्ववेत्ताको लेते हैं, जिन्हें लोगोंने यथावृत्त समझा ही नहीं है। ये तत्त्ववेत्ता हैं—नीच्छे (१८४०-१९००)।

यूरोपके तत्त्वज्ञानके इतिहासमें नीच्छे (Nietzsche) की महापुरुष-कल्पना एक अनोखी चीज़ है। इस विषयमें उनके विचार बहुत उद्घोषक हैं। 'दज स्पैक जरथुट्र' (१८८२) इस नामकी अपनी पुस्तकमें उन्होंने 'सुररमैन' (महापुरुष) शब्दका बारम्बार प्रयोग किया है। चर्नार्ड शाने इस शब्दका प्रयोग करना अरम्भ किया, इसीसे प्रायः यह शब्द अंग्रेजी भाषामें चल पक्का। नीच्छेके भी पूर्व नेपोलियन, गेटे (Goethe), हाइने (Heine), शोपेनहौअर (Schopenhauer), वाग्नर (Wagner), विस्मार्क आदि 'सुररमैन' कहे जाते थे। इन व्यक्तियोंको अवश्य ही सद-यूरोपियन, अति-राष्ट्रीय अध्यया उत्तर भानव कहा जा सकता है, परन्तु दूसरे नीच्छेके 'महापुरुष'—लक्षण नहीं हैं।

बहुत लोगोंकी यह धारणा है कि नीच्छेका महापुरुष कोई महाकाय, महाबल, महायिजयी दानव है जिसको देखते ही मनुष्य भयभीत होकर जमीन चूम लें। परन्तु वस्तुतः नीच्छेने इस कल्पनाका खण्डन ही किया है और यह माना है कि नम्रता और शान्तिमें जो शक्ति है वह दूसरी शक्तियोंसे अधृष्ट है तथा लोगोंको डराना-धमकाना और रौदना-कुचलना उसके लिये कोई जरूरी बात नहीं है, बल्कि उसके द्वारा

सामान्य जनसमुदाय स्वस्थ और उपकृत ही होगा। 'भले-
बुरेके परे' (Beyond Good and Evil) नामकी
अपनी एक अनुष्ठानोंका स्वभाविद्व स्वामी' इनके
विचारणे, वह मनुष्य है 'जो किसी इष्ट कार्यका नेतृत्व करे,
संकल्पको कार्यमें परिणत करे, शृतमें निषावान् हो, खीको
अपने वशमें रखें, वदमाशको दण्ड दे और उत्ताह दे, ...'
जिसका क्रोध अपने वशमें हो और तलबार अधीन हो,
दुर्बल, दुःखी, दलित मनुष्य और पशु भी प्रसन्नतासे जिसका
मुँह ताके और जिसके होकर रहें।'

महत्त्वाका मूल है ज्ञान और ज्ञान है शक्ति (जैसा कि
बहुत समय पहले बेकनने कहा है)। बुद्धिका बल शारीरिक
बल और भौतिक पराक्रमसे श्रेष्ठ है और वस्तुतः तत्त्वज्ञान ही
सबसे महान् पुरुष है। नीच्छेने वह भी लिख रखता है कि
शक्ति दूसरोंको अपने अधीन करनेमें ही नहीं, बल्कि उनके
दूसरोंको जीतनेमें है, अन्यथा ऐसी शक्ति 'अपूर्ण' ही होती
है। यदि नीच्छेके तत्त्वज्ञानका यही वास्तविक मर्म है तो
शक्तिके साथ उदारता और क्षमाका अवहार करने और
उसका जो कुछ है उसे लौटा देनेकी जो भारतीयी
पुरातन रीति है, उसके साथ नीच्छेका यह विचार मिलता-
जुलता है। वही बात एक प्राचीन इटालियन ग्रन्थकाने
वडी लूबीके साथ यों कही है कि, 'विजय करना तो वही
जानता है जो क्षमा करना जानता है।'

यदि महान् पुरुष सामान्य मनुष्योंके से नहीं होते वर्तिक
कई बातोंमें विशिष्ट होते हैं तो इससे यही सिद्ध होता है कि
सब मनुष्योंमें उच्चति करनेकी एक सी क्षमता नहीं होती।
अर्थात् सब मनुष्य स्वतन्त्र और समान नहीं, बल्कि सभी एक
दूसरेसे भिन्न होते हैं; और इनमें कुछ ही लोग ऐसे होते हैं
जो नेता बननेके लिये ही पैदा हुए होते हैं और फिर इन
नेताओंमें से भी कुछ ही ऐसे होते हैं जो सिद्ध महापुरुष हों।
कर्मविद्याक-सम्बन्धी हमारे सिद्धान्त ('कर्मसापेक्षत्वात्') से
ही जीवनके इस तर-तम भावकी सङ्गति लगती है। नीच्छे भी
इन भेदोंको, इस 'श्रेष्ठ-कनिष्ठ-भाव' को, इस अधिकार-भेदको
बहुत कुछ बैसा ही मानते हैं, जैसे हिन्दू गुण-कर्म-विभागसे
वर्ण-भेदकी सुष्ठि मानते हैं।

श्रेष्ठ-कनिष्ठ-भावको इस प्रकार माननेके कारण नीच्छे
स्वभावतः ही प्रजातन्त्रको राज्यकी सर्वोत्तम व्यवस्था नहीं
मानते। जब यह बात है कि महान् पुरुष ही अपने स्वगत

विशिष्ट गुणोंके कारण ही नेतृत्व तथा शासन करनेके लिये
पैदा हुए होते हैं, तब प्रजातन्त्र तो केवल निम्न और मध्यम
श्रेणीके लोगोंका राज्य हुआ, उत्तम श्रेणीद्वारा शासित उत्तम
राज्य नहीं। इसलिये नीच्छेके विचारमें प्रजातन्त्र 'राज्य-
व्यवस्थाके क्षीण होनेका ही एक रूप है, महान् पुरुषों और
विष्ट जनोंपर विश्वास न होनेका ही एक चिह्न है।'

नीच्छेका यह भी सिद्धान्त है कि महान् पुरुष अपने
कर्तव्योंका पाठ अपनेसे वाहरकी किसी संस्थासे नहीं ग्रहण
किया करते, उनका सर्वप्रधान कर्तव्य 'आत्मसम्मान' होता
है। महान् पुरुष, जहाँ कहीं भी हों, सदा 'असंसक्त' रहते
हैं। उन्हें प्रकान्तर्ये आनन्द मिलता है, वे स्वयं बहुत कुछ
एककी होते हैं। 'महान् जो कुछ हुआ करता है, वह हाट-
बाटसे दूर ही हुआ करता है।'

महान् पुरुषोंका एक दूसरा लक्षण यह है कि उनका
जीवन सदा और संयत होता है। वे हुँसको भी
आत्मसिद्धिके लाभके लिये तपके तौरपर सहर्ष स्वीकार
करते हैं। दुःख सहनेकी क्षमता सचमुच ही महत्त्वाका ही
एक चिह्न है। महान् पुरुष दारिद्र्य और दैनंदिको प्रसन्नता-
पूर्वक सहते हैं। जो कुछ मिथ्याप्रयुक्त, मिथ्याशात् या
मिथ्यानिन्दित है, उसे वे बचाते हैं। ये उच्चतर वातावरणमें
उठ जाते हैं, केवल कभी-कभी नहीं, प्रत्युत वही रहते ही
हैं। ये आत्मसंयमके अन्यासी होते हैं, अपने चिनकी
दृष्टियोंपर जथ-लाभ करते और असंसक्तिको बढ़ाते हैं,
यह उच्चालाभसन्तुष्ट रहते और अपने जीवनके लिये कृतज्ञ
होते हैं।

सिद्ध महापुरुषमें ये सब गुण होते हैं, पर महत्तर-
रूपमें। सिद्ध महापुरुषोंका कोई समाज नहीं होता।
महापुरुष अपनी ही एकान्त-महिमामें स्थित रहता है। उसमें
बच्चेकी-सी सरलता होती है, कभी-कभी वह हँस पड़ता है तो
वह सेनेकी-सी चमकवाली उसकी हँसी विलक्षण ही होती है।
‘सबसे अधिक हुँस उठानेवाला पशु मनुष्य ही तो है और
उसीने हँसना हँजाद किया।’

एक मनुष्य दस इजार या दस लाख मनुष्योंके बराबर
है, 'यदि वह सर्वोत्तम हो'। ऐसा मनुष्य कौन है? वही-
महापुरुष। महापुरुष मनीषी भी होता है और साथ ही कर्मी
भी। वह सदा ऐसी परिस्थितियोंका स्वागत करता है, जिनमें

बढ़ी विपत्ति और बढ़ी भारी जोखिम है, क्योंकि आपकालमें ही वैयक्तिक पुरुषत्वको बढ़नेका अवसर मिलता और वह अपने महस्तको प्राप्त होता है। ऐसी विपत्तिका परिस्थितियोंसे ही मनुष्य और भी बलवान् होकर बाहर निकलता है। इस कोटिके मनुष्य ही महापुरुषका सादृश्यन्लाभ करते हैं।

इन विचारोंसे वहप्रकट हुआ कि हर कोई पुरुष मनुष्योंका नेता नहीं हो सकता। नेतृत्वका भी एक सहजसिद्ध अधिकार होता है। विरगिनीसे या बोट गिरकर बड़े-बड़े प्रश्न हल नहीं किये जा सकते। कुछ ही लोग होते हैं जो अपने सहज अधिकारसे नेतृत्व कर सकते हैं, बहुजन-समाजका काम इतना

ही है कि वह उनकी आशाका पालन करे। यही उभातिका रास्ता है। जिन लोगोंके मन उसम कोटिके नहीं हैं, उन्हें शासन करनेके बजाय आशाधारक होना चाहिये। बौद्धिक महस्ता शासक होनेकी क्षमताका चिह्न है, वह बौद्धिक महस्ता अवश्य ही ऐसी होनी चाहिये जो आध्यात्मिक महत्ताकी ओर आगे बढ़े। सच्चा नेतृत्व पूजनीय है और सबे महान् पुरुषोंका नेतृत्व ही जो-जो कुछ हमलोगोंके चाहने योग्य है, उसे पानेका सबसे नजदीकीकरा रास्ता बना देता है। इस प्रकार महापुरुष-पूजा परम पुरुषार्थकी प्राप्तिका बहुत ही अच्छा साधन है।

शरणागतिसाधन

(लेखक—पै० श्रीराजमहलनाथजी त्रिपाठी, एम.६ ए०, एल-ए०८० बी०, साहित्याचार्य)

इस त्रिपुणितिका सुष्टुमें तापत्रयसे विमुक्त होनेके लिये लोक-कल्याणकामनासे राग-द्वेषन्यु ऋषियोंने अनेक मार्गोंका अन्वेषण करके समस्त तिद्धियोंको सुलभ कर दिया है। प्रयेक साधक अवस्थामेंके अनुसार कल्याण-तिद्धिके लिये किरी-न-किरी साधनका अवलम्बन करता है और साधनानुकूल तिद्धियों भी प्राप्त होती ही है। परन्तु भगवानकी लीला विचित्र है। महामायाकी कृपासे मन कामिनी-काङ्क्षन-कीर्तिके पादमें बेतरह फैसा है; फैसना उसका स्वभाव है। अतः इस पादसे मुक्त होना सहज नहीं है। सुष्टुके भ्रमजाल-से मुक्तिकी युक्ति भगवत्-शरणागतिमें ही सूक्ष्म सकती है। शास्त्रोंके तथा गीतादि सद्ग्रन्थोंके अनुशीलन और तपःपूर्त भक्तोंके सत्सङ्गके द्वारा विवेक उत्पन्न होता है। परन्तु हरिकृष्णके विना तो वह भी सम्भव नहीं। भक्तकुलचूडामणि तुलसीदासजी कदाचित् इसी संकटमें बोल उठे थे—

‘हे हरि, कदन जतन अम भागे ?

देखत सुनत चिचारत यह मन निज स्वामय नहीं त्यागे ॥

भयाति ग्यान बैराम सकल साधन यहि लगि उपर्यु । (परन्तु)

काऊ भल कहहु देउ कलु कोऊ असि बासना न जाई ॥’

ऐसा बासनासक है यह मन ! यह उस परिज्ञेसे भी बेढ़व है जो जलनेके हेतु ही अधियों कृदता है। अनन्त लौकिक शक्तिशाली अर्जुनको भी कल्याण-साधनमें मनकी परक्षाताकी विकट स्थितिका अनुभव हुआ था। अखिल साधनाओंके प्रवर्तक करुणासिन्धु योगेभरने युक्त बतलायी—

‘अस्यासेन सु कौन्तेय वैश्वयेण च गृह्णते ।’

—साधकका काम इतनेपर भी नहीं चला। किन्तु उसकी

आर्ति इतनी बढ़ी कि दयासागरको और भी उमड़ना पड़ा। भगवान् बोले—सब छोड़कर मेरी शरणमें आ जाओ, सम्पूर्ण काम अपने-आप बन जायेंगे। यही तो मूल साधना है। उसका रहस्य है ‘एके सावै सब सवै ।’ एकान्त ज्ञानके साधक कवीरको भी मनके मत्तव्यकी प्रश्नलता खली। बोले—

‘मैं मंता मन मारि र आन्दा करि करि पीस ।

तब सुख पावै सुंदरी ब्रह्म फूलकै सीस ॥’

किन्तु मन हमारी कोरी चेतावनीसे सचेष्ट कैसे हो ? उसमें अनासक्षीभावका उदय तो तब होगा जब उसे तपकी अधिसे तपा लिया जाय। आसक्षिके समस्त उपकरणोंको भगवत्प्रीत्यर्थ भगवान्को ही समर्पण कर दिया जाय। अनन्यशरणागति-रूप साधनामें भक्ति, ज्ञान, वैराग्यादि सब साधनोंका समावेश हो जाता है। आत्मसमर्पण करते ही साधककी स्थितिमें महान् परिवर्तन होता है। अनन्यशरणागतिसे मन-माया-मिळनका विच्छेद होना अवश्यम्भावी है। फिर मोहपाशकी शृङ्खलाओंके दूनेमें विलम्ब नहीं लगता। अर्जुनने कहा था—

नष्टो मोहः स्तुतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युतः ।

स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥

—यह उक्ति साधकोंकी आशाको निरन्तर हड्डतर करने-

वाली है।

अर्जुनकी विजय हुई। समस्त संसारने विस्मयान्वित हो विस्फारित नेत्रोंसे देखा। न देखनेवालोंके लिये, सोते हुओंको ज्ञानेके लिये संज्ञये अपनी अमरवाणीको अन्तमें सुनाया-

यत्र गोरोक्षरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।

तत्र श्रीविजयो भूतिश्च नीतिर्भृतर्भम् ॥

साधन-सत्य

(लेखक — डॉमर इंडियन थीटी बुक्स, एम० ए०, डी० लिट०)

जमीन फोड़कर जब नदीका पानी पहाड़ी घाटीमें निकल आया तब उसने यह किसीसे न पूछा कि समुद्र किधर है और मैं किस मार्गसे उसके पास पहुँचूँ ? जोशसे मतवाली वह नदी कूदती-पाँदती छलाँग भरती बस चल पड़ी । उसके हृदयमें तो एक अनन्त समाया हुआ था । उसके दिलने कहा—‘तू चल पढ़, पूछ मत, पृथ्वीके चारों ओर समुद्र-ही-समुद्र है ।’ वह दौड़ पड़ी । पत्थर उसे देखकर हँसते थे । वे, बड़े-बड़े पत्थर, उसके रास्तेमें जा चैठे, उसका मार्ग रोकनेके लिये—उसे प्यारेसे न मिलने देनेके लिये । कैसा कहा पत्थर-सा उनका कलेजा था । लेकिन नदी दीवानी थी । जो पत्थर उसके मार्गमें रोक ढाले पढ़े थे, उनसे भी वह चिना प्यारेसे मिले, यिन गले लगाये, आगे न बढ़ी । प्यार-भरे हृदयमें वृणा कहाँ ? जिन पत्थरोंने उसे टकरे लिलायीं, उनके प्रति भी उसने प्रेम आर्पित किया, अपने स्लेह-स्पर्शसे उनका ताप ह्रण किया, अपने प्यारसे उनकी विश्रमता हरी और उन्हें मुड़ौल बनाया । जो पत्थर उसे दीवानी कहते थे, उसे हँसते थे, वे कहाँ पढ़े रहे और वह प्रेममलीभरी नदी हजारों

मील दूर निकलकर जिसके मिलनके लिये वह पागल थी उससे एक होकर सुख पा सकी । जिसके मनमें दीवानापन होता है, वही प्यारेको प्यार होता है । मीरा श्रीकृष्णको प्यारी हस्तिये हुई कि वह प्रेम-दीवानी थी । अपना स्यानापन ही हमारा सबसे बड़ा बैरी है ।

जबतक यह दीवानापन नहीं होता तबतक कोई मन्त्र क्या करेगा ? साधना मनसे या बुद्धिसे नहीं होते । साधना एकाङ्गी प्रयत्न नहीं है । साधना सर्वाङ्गी है, चौदीसों धंटीकी एक-एक क्षणकी, प्रेम-बाढ़, जिसमें मन, बुद्धि, वाणी, स्वत्व सब कुछ बह चले ।

और जब ऐसी प्रेम-बाढ़में वह चले तो मन्त्र कैसा और क्या पथ पूछना ? जिधर पाँव ले जायेंगे उधर ही प्यारा है । जो नाम निकलेगा वही मन्त्रवत् होगा । साधन-पथके लिये मन्त्र केवल एक है—प्यारेका नाम; प्रियतमके हजारों नामोंमेंसे वही, जिसे लेते ही प्रेमी अधीर हो जाय, उसके शरीरमें पुलकाबलि हो जाय और आँखोंसे अटूट जलधार वह चले ।

इन्द्रादि देवोंकी उपासना

(लेखक — गजोत्तरीनिवासी परमहैत परिजानकाचार्य श्रीमद्भृद्धिदत्तसामी शिवानन्दजी सरस्वती)

**महा दक्षः कुवेरो यमवरुणमरुद्धिचन्द्रश्चरुदः
शैव्य नद्यः समुद्रा ग्रहाप्यमनुजा देव्यगच्छन्दनागाः ।
दीपा नक्षत्रासारा रविवसुमन्दो व्योमभूराश्विनौ च
संक्षेपा यत्थ सर्वं व्युपि स भगवान् पातु चो विश्वरूपः ॥**

हम देखते हैं, उपासना-जगतमें उपासक अनन्त हैं । कोई सौर है, कोई गणपत्य हैं, कोई शैव हैं, कोई शक्त हैं और कोई वैष्णव हैं । हस्ती प्रकार और भी कई तरहके उपासक हैं । अतः प्रसन्न होता है कि देवता कितने हैं ।

भगवान् अनन्त विभूतिमय हैं । वे विश्वेत्यर, विश्वरूप और विश्वमय हैं । जल, स्थल, मरुत्, व्योम सभी उनसे व्याप्त हैं । वे सबके आधार और सर्वमय हैं । इन्द्रादि देवताशीरोंमें उनका अंश सम-भावसे विश्वामान है । समस्त देवोंमें वे अपने पूर्ण अंशसे विराज रहे हैं—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है । इसीसे हमारे शास्त्रोंमें देव-देवियोंकी आराधनाका इतना विशद और विस्तृत विधान है । इसीसे हिन्दुओंके

देव-देवी असंख्य हैं, अगणित हैं, उनकी संख्या तैतीस कोटि बतायी जाती है । तथा इसीसे इन्द्रादि समस्त देवताओंमें भी हिन्दुओंकी पूर्ण आराध्यबुद्धि देखी जाती है । यद्यपि आराध्यदेव ‘एकमेवादितीयम्’ ही है, तथापि आराधनाके तारतम्यानुसार हिन्दुओंके उपास्यदेव तैतीस कोटि भी हैं । आराध्यके सम्बन्धमें सभी चंडाएँ सम्भव हैं, क्योंकि जो सर्वमय, सर्वस्वरूप और सर्वशक्तिमान् हैं, उन भगवान्के लिये क्या सम्भव और क्या असम्भव हो सकता है ? अपने आराध्यके विषयमें अभिज्ञता प्राप्त करनेके लिये कुछ काल गुरुदेवकी शरणमें रहनेका नियम है । हिन्दुओंमें यह बात सदासे चली आयी है । उनकी अस्तिथ, मज्जा और धमनियोंमें यही शिक्षा गूँज रही है कि ‘देवता एक है और वही तैतीस करोड़ भी है !’ हिन्दुओंके योगी, प्रृथिवी, और तपस्वी, हिन्दुओंके वेद, वेदान्त और उपनिषद्, हिन्दुओंके पुराण, उपपुराण और संहिता, हिन्दुओंके

गाईस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास तथा हिन्दुओंकी साकार-निराकार सब प्रकारकी उपासनाएँ पर्यायकमसे यही शिक्षा दे रही है कि, देवता एक है, देवता अनेक हैं, देवता असन्त हैं—देवता विराट् हैं, देवता अल्प हैं एवं देवता अणु-परमाणुमात्र हैं। इससे मातेश्वरी श्रुति भी अवण-मधुर स्वरमें कहती है—‘बृहच्च तदित्यमिच्छ्वर्षं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति।’

अतः विराट्की विश्वाल धारणाको अपने लिये विश्वम समझकर पीछे हटनेकी आवश्यकता नहीं है, तुम भगवानके अणुरूपका ही आश्रय लेकर आगे बढ़ो। इससे भी तुम ऊँची-से-ऊँची साधनापर बढ़ी आकाशनीसे अधिकार प्राप्त कर लोगे। अतएव देवता असंख्य हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, काली, तारा, महाविद्या; राम, कृष्ण, वामन; मत्स्य, कूर्म, वाराह; नूरिंह, परशुराम, कुद्ध; कल्पि, कपिल, दत्तात्रेय; इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, वरण, यम, दुर्बेर—ये सभी देव हैं। यहाँतक कि श्रीहनुमान्‌जी भी हिन्दुओंके यहाँ देवताके रूपमें पूजित होते हैं। वस्तुतः इन सब रूपोंमें वे एकमात्र विश्वरूप विश्वेश्वर ही विराजमान हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वरादि विभिन्न नाम और रूपोंद्वारा भी उन्होंकी उपासना होती है। हाँ, नाम और रूपकी विलक्षणताके कारण उनकी पूजाप्रदत्तिमें भी भेद अवश्य है।

श्रीमद्भगवद्गीता, नवम अध्यायमें पाण्डुकुलभूषण अर्जुनने श्रीभगवान् कहते हैं—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यज्ञसे ध्रद्यान्वितः।

तेऽपि मासेव कौन्तेय वजन्त्यविभिर्पूर्वकम् ॥ २३ ॥

अहं हि सर्वज्ञानां भौक्ता च प्रमुखेव च ।

न तु सामभिज्ञानन्ति नवेनावश्यवन्निति ॥ २४ ॥

यान्ति देवता देवान् पितॄन्यान्ति पितॄवतः ।

भूतानि यान्ति भूतेज्ञा यान्ति मायान्तिरपि माद् ॥ २५ ॥

हे अर्जुन! जो लोग अन्य देवताओंमें भक्ति-भाव रखकर अद्वारूपक उनकी आपासना करते हैं, वे भी अविधि-पूर्वक मेरी ही पूजा करते हैं, योंकि मैं ही सारे यज्ञोंका भोक्ता और अधिष्ठाता हूँ। वे मुझे पूर्णतया जानते नहीं हैं, इससे परमार्थसे परिवत हो जाते हैं। उनमें जो देवोपासक होते हैं, वे देवताओंके पास जाते हैं, जो पितॄगणकी पूजा करनेवाले होते हैं, वे पितॄलोकोंमें जाते हैं और जो भूतपूजक होते हैं, वे भूतोंकी प्राप्त होते हैं। किन्तु जो मेरी उपासना करते हैं, वे तो अन्तमें मुक्तको ही पाते हैं। तात्पर्य यह कि देवोपासकोंको देवण, पितॄज्ञकोंको पितॄण एवं भूतोपासकोंको भूतगणकी प्राप्ति होती है तथा मेरे भक्त मुझे प्राप्त होते हैं। इस प्रकार उन उपासकोंको फल देनेमें मेरा कोई पक्षपात नहीं है। मेरा तो यह अटल नियम है कि सभ जीवोंको निरपेक्ष-भावसे उनके कर्मोंका फल देताहूँ। अपने भक्तोंसे भी मैं कोई विशेष वस्तु नहीं चाहता। मुझे तो वे जो कुछ पत्र, पुस्तक, फल, जल भक्ति-भावसे भेंट कर देते हैं, उसीको बड़ी प्रसन्नतासे स्वीकार कर लेता हूँ। उस शुद्धचित्र भक्तकी भेंटको मैं तत्क्षण भक्षण कर लेता हूँ।

तात्पर्य यह है कि एकमात्र सचिदानन्दस्वरूप मैं ही परमेश्वर हूँ। मुझसे भिन्न कोई अन्य देवता नहीं है। लोग जो मेरी ओर लक्ष्य न रखकर इन्द्रादि अन्य देवताओंकी उपासना करते हैं, वह उनका भ्रम ही है, क्योंकि अपने निज रूपसे मैं सर्वदा अप्राकृत प्रपञ्चातीत सचिदानन्द तत्त्व हूँ।

तुम एकाग्रचित्त होकर यदि सावधानीसे विचारोगे तो तुम्हें स्पष्टतया मालूम होगा कि वे सब देवण मेरे ही गौण अवतार हैं। जो लोग मेरे वास्तविक तत्त्वको समझकर उन-उन देवताओंकी मेरे गुणावतारस्वप्नसे उपासना करते हैं उनकी वह उपासना वैष्ण-विष्णियुक्त अर्थात् उच्चतिकी सोपनस्त्वा मानी जाती है। और जो उन्हें वित्य समझकर पूजते हैं, वे मोहपङ्कमें फँसकर ब्रथीजालके फँदेमें पड़ प्रमादसे अविधूर्वक असार और अनित्य सुखकी ही उपासना करते हैं। इससे उन्हें नित्य फँलकी प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि मैं ही समस्त यशोंका भोक्ता और प्रभु हूँ। किन्तु वे मुझे जान नहीं पाते, इसलिये स्वर्गपदपर पहुँचकर फिर भोग समाप्त होनेपर वहाँसे लौट आते हैं। इस प्रकार जो लोग अन्यान्य देवताओंकी ही उपासना करते हैं, वे अनित्य और असार वस्तुका आश्रय लेनेके कारण उस देवताके अनित्य लोकको ही प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार जो पितॄ-गणकी उपासना करते हैं, वे पितॄ-लोकको और जो भूतोंको पूजते हैं, वे भूत-लोकको जाते हैं। किन्तु जो नित्य चित्तस्वरूप मेरी उपासना करते हैं, वे तो अन्तमें मुक्तको ही पाते हैं। तात्पर्य यह कि देवोपासकोंको देवण, पितॄज्ञकोंको पितॄण एवं भूतोपासकोंको भूतगणकी प्राप्ति होती है तथा मेरे भक्त मुझे प्राप्त होते हैं। इस प्रकार उन उपासकोंको फल देनेमें मेरा कोई पक्षपात नहीं है। मेरा तो यह अटल नियम है कि सभ जीवोंको निरपेक्ष-भावसे उनके कर्मोंका फल देताहूँ। अपने भक्तोंसे भी मैं कोई विशेष वस्तु नहीं चाहता। मुझे तो वे जो कुछ पत्र, पुस्तक, फल, जल भक्ति-भावसे भेंट कर देते हैं, उसीको बड़ी प्रसन्नतासे स्वीकार कर लेता हूँ। उस शुद्धचित्र भक्तकी भेंटको मैं तत्क्षण भक्षण कर लेता हूँ।

पत्रं पुस्तं फलं तोयं यो मे भक्तस्य प्रबच्छति ।

तश्च भक्तस्युपहृतमदरासि प्रवतास्मनः ॥

(गीता ९। २६)

किन्तु जो अन्य देवताओंकी उपासना करनेवाले होते हैं वे यदि वहे परिश्रमसे बहुत-सी सामग्री जुटाकर वडे

आदम्बरके साथ ऊपरी शङ्खाए मेरी पूजा करते हैं तो मैं उसमेंसे कुछ भी स्वीकार नहीं करता, क्योंकि वे किसी-न-किसी निमित्त या फलकी इच्छाओंही ऐसा करते हैं। ऐसे उपासकोंको जिस-जिस कामनाए जिस-जिस देवताकी उपासना करनी चाहिये—इसका विवरण श्रीमद्भागवत, द्वितीय स्कन्धके तीसरे अध्यायमें इस प्रकार दिया है—

ब्रह्मवर्चसकामस्तु यजेत् ब्रह्मणस्पतिम् ।
इन्द्रभिन्नद्युक्तामस्तु प्रजाकामः प्रजापतीन् ॥ २ ॥
देवीं मारीं तु श्रीकमस्तेजकामो विभावसुम् ।
वसुकामो वसुन् रुद्रान्वीर्यकामोऽथ वीर्यवान् ॥ ३ ॥
अशाश्वकामस्तविर्ति स्वर्गकामोऽदिदेः सुतान् ।
विश्वान्देवान् राज्यकामः साध्यान्संसाधके विशाम् ॥ ४ ॥
अत्युष्मामोऽक्षिवनो देवी वृष्टिकाम इलौ यजेत् ।
प्रतिष्ठाकामः पुरुषे रोदसी लोकमातरै ॥ ५ ॥
रुद्राभिकामो गन्तव्यान्दोकामोऽस्तरडवशीम् ।
आधिपत्यकामः सर्वेषां यजेत् परमेष्ठिनम् ॥ ६ ॥
यज्ञं यजेत्यशस्कामः कोशकामः प्रघेतसम् ।
विश्वाकामस्तु गिरिर्दानपर्यार्थं उमां सरीम् ॥ ७ ॥
धर्मार्थं उत्तमश्लोकं तन्तुं तन्त्वन्पितृन्यजेत् ।
रक्षाकामः पुण्यजनानोजस्तामो मस्त्रणान् ॥ ८ ॥
राज्यकामो मनून्देवान् निर्झर्ति व्यभिचरन्यजेत् ।
कामकामो यजेत्सोममकामः पुरुषं परम् ॥ ९ ॥

जिसे ब्रह्मतेजकी इच्छा हो वह ब्रह्माजीकी, जिसे इन्द्रियोंकी पटुताकी अभिलाषा हो वह इन्द्रकी, जिसे प्रजाकी इच्छा हो वह द्वादशि प्रजापतियोंकी, जिसे सौभाग्यकी कामना हो वह दुग्धदीयीकी, जो तेज चाहता हो वह अग्निकी, जिसे धनकी इच्छा हो वह वसुगणकी, जिसे वीर्यकी कामना हो वह रुद्रकी, जो अचकामी हो वह अदितिकी, जो स्तर्वाकी इच्छा रखता हो वह द्वादश आदित्योंकी, जिसे राज्यकी अभिलाषा हो वह सत्यगणकी उपासना करे। जो शीतायु चाहता हो उसे अकिन्तिकुमारोंकी, जिसे पुष्टिकी इच्छा हो उसे शस्यमाला वसुन्धराकी, जो प्रतिष्ठाकामी हो उसे अन्तरिक्षकी, जो रूप चाहता हो उसे

गन्धवैकी, जिसे खीकी इच्छा हो उसे उर्वरी अस्तराकी तथा जो सत्का आचिपत्य चाहता हो उसे प्रजापतिकी आराधना करनी चाहिये। यशकी इच्छावाला यशमगवान्नकी उपासना करे। जो कोशकी कामनावाला हो वह वृश्णदेवकी उपासना करे। विवाभिलाषी श्रीशङ्करकी आराधना करे और दाम्पत्यकी इच्छावाला उमा देवीका पूजन करे। जो धर्मसञ्चय करना चाहता हो उसे श्रीनारायणकी, जो सन्तान-वृद्धिकी इच्छावाला हो उसे पितृगणकी, जिसे रक्षाकी कामना हो उसे यक्षोंकी, जो बल चाहता हो उसे महाद्रृणकी, जिसे राज्यकी इच्छा हो उसे मनुओंकी, जो अभिचार करना चाहता हो उसे राक्षसोंकी, जो भोगोंकी इच्छा रखता हो उसे चन्द्रमाकी और जिसे कोई इच्छा न हो उसे परमपुरुष परमात्माकी उपासना करनी चाहिये। इस प्रकार लोकमें भिन्न-भिन्न कामनाओंसे भिन्न-भिन्न देवताओंकी आराधना की जाती है। जो लोग किसी वस्तुको पानेके लिये देवताकी उपासना करते हैं वे उसे पाकर ही कृतकृत्य हो जाते हैं। अतः उन्हें किसी अन्य परमार्थतत्त्वको पानेकी अवेक्षा नहीं होती। किन्तु जिनकी उपासना परमार्थतत्त्वकी उपलब्धिके लिये होती है, वे अन्तर्में भगवत्तत्त्वस्वरूप मुहको ही पा लेते हैं, क्योंकि वे प्रकाशन्तरसे तत्परतापूर्वक अन्य देवतामें भी मेरी ही उपासना करते हैं।

इसके आगे भगवान् अर्जुनका कर्तव्य बताते हैं। वे कहते हैं—‘अर्जुन! तुमने धर्म-वीर और कर्म-वीर रूपसे इस मर्यालोकमें भेरे साथ अवतार लिया है। तुम निरन्तर मेरी लीलापुष्टिमें नियुक्त हो। इसलिये तुम मेरे सकाम या निष्काम भक्तोंमें ही नहीं गिने जा सकते। तुम्हारे द्वारा तो निष्कामकर्म और शान दोनोंसे मिली हुई भक्तिका अनुश्रान होना चाहिये। अतः दुष्कारा यही कर्तव्य है कि—

यत्करोषि यददृशसि यज्ञुहोषि ददासि थत् ।
यत्परस्पर्सि कौन्तेय तत्कृत्य भद्रपणम् ॥
(गीता ९।२७)

‘तुम जो कर्मनुष्ठान करो, जो भोजन करो, जो हृवन करो, जो दान दो और जो तप करो वह सब मुझे ही अर्पण कर दो।’ दूसरे—

‘अतः तुम मूलमें अपने कर्मको ही मुझे अर्पण करते हुए भक्ति-भावसे उसका अनुष्ठान करो। इससे तुम कर्मजनित शुभाशुभ फलसे मुक्त हो जाओगे एवं कर्मार्पणरूप त्यागसे युक्त होकर मुक्ति-लाभपूर्वक मंत्रे स्वरूपभूत तत्त्वको प्राप्त कर सकोगे।’

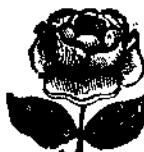
अतः भगवान्के उपर्युक्त शब्दोंसे यह निश्चय होता है कि इन्द्रादि देवताओंके उपासकोंको भी यदि भगवद्गुरुओंका समागम होनेसे भगवान्के प्रति अधिचल भक्ति-भाव उत्पन्न हो जाता है तब तो उन्हें परम पुरुषार्थकी प्राप्ति समर्हनी चाहिये, नहीं तो उनका सारा प्रशास व्यर्थ ही है। वे किसी-न-किसी लौकिक या अलौकिक वस्तुको पाकर ही अपनेको कृतकृत्य मान बैठेंगे। परन्तु यदि इन्द्रादि देवताओंकी भी परमात्मवृद्धिसे ही उपासना की जाय तो उसका फल भी परमात्माकी प्राप्ति ही होगा। भगवद्गुरुद्वारा होनेसे किसी भी देवताकी उपासनाके फलमें न्यूनाधिकता नहीं होती। यही बात भगवान् वादराणने भी कही है—‘विष्ण्योऽविशिष्टफलत्वात्’ (ब्र० स० २। ३। ५९) किन्तु जिन्हें किसी वस्तुकी इच्छा नहीं है अथवा जो पूर्वोक्त सारी ही कामनाएँ रखते हैं वे भी समस्त देवोंके आधारभूत श्रीहरिकी उपासनाद्वारा अपना अभीष्ट-लाभ कर सकते हैं क्योंकि जिस प्रकार मूलको संचनेसे वृक्षके पत्ते, शाखा और स्कन्ध सभीका पोपण हो जाता है तथा प्राणोंको खुराक मिल जानेसे सभी इन्द्रियाँ सचेत हो जाती हैं, वैसे ही श्रीहरि-की पूजासे समस्त देवताओंकी पूजा दो जाती है। यही बात मत्तशिरोमणि देवर्पिणी नारदजी कहते हैं—

बधा तरोर्मूलानिवेचनेन
तृष्ण्यन्ति तरस्कन्धयभुजोपशास्त्राः ।
प्राणोपहारश्च यथेन्द्रियाणां
तथेव सर्वार्हणमन्युत्तेज्या ॥
(श्रीमद्भा० ४। ११। १४)

परमपुरुष संविदानन्दमय भगवान् विष्णु सभीके उपास्यदेव हैं। सौर, गाणपत्य, शाक, शैव कोई भी हो—सभी सम्प्रदायोंके साधक भगवान् विष्णुकी अराधना कर सकते हैं। जो जिस देवताके मन्त्रमें दीक्षित है, उन्हें उस मन्त्रके देवता या देवीकी ही उपासना करनी चाहिये—यह तो ठीक है, किन्तु उनकी वह उपासना श्रीविष्णुभगवान्की प्रसन्नताके लिये ही होनी चाहिये। प्रत्येक साधकको प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष-भावसे पूजा या आद्य-तर्पणादि के समय दृश्यकी निर्भरता, प्राणोंकी वेदना और आन्तरिक एकाग्रता-के साथ श्रीविष्णुभगवान्के प्रति ही अपनी सारी साधना लगा देनी चाहिये। अतः उपासकके कामनाकान्त, यासन-विजडित, कामकोषादिकञ्चित चिन्तकी शुद्धिके लिये भुवर्देवतिरोमणि सर्वशास्त्र सर्वदास्तिमान् श्रीविष्णुभगवान्की उपासना ही परम उपयोगी एवं मङ्गलमयी है। जिस प्रकार जल मेषादिकमसे सूर्यसे उत्पन्न होकर फिर वाष्पादिकमसे उसीमें लीन हो जाता है तथा जैसे स्थावर-जङ्घम समस्त प्राणी पृथिवीसे उत्पन्न होकर अन्तमें उसीमें समा जाते हैं, वैसे ही यह चेतनाचेतनस्यरूप समस्त प्रपञ्च भगवान् दृश्यसे उत्पन्न होकर अन्तमें उन्हीमें लीन हो जाता है। अतः—

स्वस्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां
श्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो चित्या ।
मनश्च भद्रं भजताद्भोक्षजे
आवेशतां नो मतिरप्यहैतुकी ॥

हे अद्यरणशरण ! हे जगत्पते ! विश्वका मङ्गल हो ।
दुष्ट पुरुष अनुकूल हो जायें। समस्त प्राणी आपसमें मिल-
कर कल्याणकामना करें। उनका मन अपने मङ्गलकी ओर
प्रवृत्त हो और हमारा चित्त अकारण ही आपमें लग
जाय ।



शोभा-सिन्धु

मोहन-बदन बिलोकत अँखियन उपजत है अनुराग ।
तरनि ताप तलफत चकोरगति पिवत पियूष पराग ॥
लोचन नलिन नये राजत रति पूरन मधुकर भाग ।
मानहु अलि आनंद मिले मकरंद पिवत रतिफाग ॥
मँवरि भाग ब्रकुटी पर कुमकुम चंदन बिंदु विभाग ।
चातक सोम सकेधनु धनमें निरखत मनु वैराग ॥
कुंचित केस मधुर चंद्रिका मंडल सुमन सुपाग ।
मानहु मदन धनुष-सर लीन्हें बरसत हैं बन बाग ॥
अधरविंच बिहँसान मनोहर मोहन मुरली राग ।
मानहु मुधा-पश्चोधि धेरि धन ब्रजपर बरसन लाग ॥
कुंडल मकर कपोलनि झलकत श्रम-सीकरके दाग ।
मानहु मीन मकर मिलि क्रीडत सोभित सरद-तड़ाग ॥
नासा-तिलक ग्रस्तन पदवि पर चिखुक चारु चित खाग ।
दाढ़िम दसन मंदगति मुसकनि मोहत सुर-नर-नाग ॥
श्रीगोपाल रस रूप भरी हैं 'सूर' सनेह सोहाग ।
ऐसो सोभा सिन्धु बिलोकत इन अँखियनके भाग ॥

—तुरदासजी

इन्द्रादि देवोंकी उपासना

हमारे पूर्वजोंका भी एक युग था । उनकी धन-सम्पत्ति पूर्ण थी, शरीर आरोग्य था, परिवार सुखी था, सबके हृदयमें शान्ति थी, संसारके व्यवहार उनके लिये क्रीड़ा-कौतुक थे, उनके स्मरण करनेसे बड़े-बड़े देवता आ जाते थे, इच्छा-मात्रसे उनका शरीर ब्रह्मलोकतक जा सकता था, उनके रथ और विमानोंकी गति अप्रतिहत थी, हजारों कोस दूरसे किसी भी वस्तुको वे देख लेते थे, सुन लेते थे, भविष्य और भूतका, दूर और निकटका व्यवधान उनके लिये नगण्य था । समस्त वस्तुओंका ज्ञान उनके करामल-कवत् था । जिसपर प्रसन्न होते वरदान देते, जिसपर सृष्टि होते दण्ड भी देते । उनमें निग्रह-अनुग्रहकी पूर्ण क्षमता थी । स्वर्गके देवता उनकी सहायताके लिये अपेक्षा किया करते थे । प्राचीन ग्रन्थोंमें इस बातके अनेकों प्रमाण हैं । वे केवल मनगढ़न्त नहीं, ऐतिहासिक हैं, सत्य हैं ।

परन्तु आज हम कहाँ हैं ? हमारे पास अपनी कहनेके लिये एक विचा जमीन नहीं, पेट भरनेके लिये दो रोटी नहीं, दुर्भिक्ष, महामारी, अतिशृष्टि, अनावृष्टि, दुर्दैव और अल्याचारोंसे पीड़ित होकर आज हम सुखसे सो नहीं सकते, एक क्षणके लिये मनको समाहित करके शान्तिका अनुभव नहीं कर सकते । चाहे धनी हो या गरीब, शरीरके भोगों और उपकरणोंके लिये ही इन्हें चिनित हो रहे हैं कि हम केवल स्थूलताओंके बन्धनमें ही जकड़कर मोद्दरस्त और त्रस्त हो रहे हैं और इसीमें इन्हें उलझ गये हैं कि इस बातका पता ही नहीं रहा कि इन स्थूलताओं और स्थूल बन्धनोंके ऊपर हमारा एक सूक्ष्म रूप है और उसके भी रूपी, साथी, सहायक और भी बहुतसे लोग हैं, जिनके द्वारा शारीरिक और मानसिक दुःखोंसे त्राप पाया जा सकता है और जिनके साथ सम्बन्ध कर लेने मात्रसे लौकिक, पारलौकिक और पारमार्थिक उत्तरिको बहुत कुछ सरल बनाया जा सकता है । जो लोग केवल स्थूलशरीरको सत्य समझकर इसीको सुखी करना चाहते हैं, जो केवल स्थूल जगत्के उलझनोंमें लो हुए हैं, यदि वे संसारमें एकच्छ्र लभाट् हो जायें तब भी वे पूर्ण नहीं हो सकते; क्योंकि कोई-नकोई अमाव उनके साथ लगा रहेगा । कारण स्थूल जगत्का जीवन सूक्ष्म जगत्की अपेक्षा बहुत न्यून है और हमारा हृदय स्थूल जगत्की नहीं, सूक्ष्म जगत्की वस्तु है ।

अध्यात्मवादी हमें क्षमा करें । हम उनके चरणोंमें सिर रखकर प्रार्थना करते हैं कि आप जहाँ हैं वहाँसे विचार नहीं कर रहे हैं । जहाँ आपको पहुँच जाना चाहिये, वहाँसे विचार करते हैं । इस स्थूल जगत् और भगवत्प्राप्तिके दीनमें एक सूक्ष्म जगत् भी है, जो कि अध्यात्मिक उत्तरिमें सीढ़ीका काम करता है । उसकी सहायता लिये विना आप अध्यात्म-पथपर अग्रसर हो रहे हैं, इसका यह अर्थ है कि आप विना किसी सहारेके, विना किसी अदलम्बनके आकाशमें विचरण करना चाहते हैं । यदि आप स्थानसे ही यात्रा प्रारम्भ करते, जहाँ कि आप बालवर्षमें उलझे हुए हैं, तो आप देखते कि इन स्थूलताओंके भीतर एक महान् सूक्ष्म लोक है, जिसमें इस लोककी अपेक्षा अधिक ज्ञान, अधिक शक्ति, अधिक सुख और अधिक सुव्यवस्था है । वहाँके शासक स्थूल जातपर भी आधिपत्य रखते हैं और वहाँकी प्रगति एवं प्रवृत्तियोंमें उनकी मुख्य भूमिका रहती है । जैसे यह स्थूलशरीर आप नहीं हैं, इसके अंदर इन्हें जीव हैं; वैसे ही पृथ्वीमें, जलमें, अग्निमें, वायुमें, चन्द्रमें, सूर्यमें, प्रलेक ग्रहमण्डल और भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें एक दिव्य जीव निवास करता है, जिसको पृथ्वीदेवता, अग्निदेवता आदि नामसे कहते हैं, ये स्थूल पृथ्वीमण्डल, जलमण्डल आदि जिनके शरीर हैं । इनकी एक सुव्यवस्थित राजधानी है, सेवक हैं, सहायक हैं, न्यायाधीश हैं और राजा हैं । पृथ्वीकी नियमित मति, जलकी नियमित धारा, अग्निकी उष्णता, स्थूल जगत्के रोग-शोक, इन्द्रियोंके द्वारा नियन्त्रित हैं, भर्यादित हैं । इनका एक संगठित राज्य है और उनके पद और पदाधिकारी, उनके समयकी अवधि, सब कुछ नियमसे होता है । कोई प्रत्येक युगमें बदलते हैं, कोई प्रत्येक मन्वन्तरमें बदलते हैं, कोई प्रत्येक कल्पमें बदलते हैं । कमी-कमी इन पदोंपर बड़े-बड़े तपत्वी जीव भी जाते हैं और कमी-कमी ब्रह्मलोकसे अधिकारिक पुरुष भी भेजे जाते हैं । देवताओंके राजा इन्द्र हैं । न्यायाधीश धर्मराज हैं । धनाध्यक्ष कुबेर हैं । इन सबके आचार-व्यवहार, सामर्थ्य-शक्तिके वर्णन वेदोंसे लेकर काव्योंतक सप्तूर्ण संस्कृत-साहित्यमें और बाह्यविल, कुरान आदि अन्य धर्मोंके ग्रन्थोंमें भी मिलते हैं ।

हमारे पूर्वजोंको जो ऐसी महान् शक्ति प्राप्त हुई थी, वह इन्हीं देवताओंकी उपासना और सम्बन्धका फल था ।

यह स्थूल जगत् तो सूक्ष्म जगतकी प्रतिच्छाया मात्र है। सूक्ष्म जगतसे सम्बन्ध होनेपर और उसमें अधिकार प्राप्त होनेपर स्थूल जगतमें मनमाने परिवर्तन किये जा सकते हैं। लौकिक उच्चति उच्चतेकी इच्छा हो तो वह सरलतासे सिद्ध हो सकती है। ये देवोपासनाके छोटे-से-छोटे फल हैं। जो लोग इससे उपर उठते हैं, स्थूल शरीर और स्थूल जगतकी क्षणिक समझकर सूक्ष्म जगतमें ही विहार करना चाहते हैं, वे देवोपासनाके द्वारा स्वर्गमें कल्पमरके लिये स्थान प्राप्त कर सकते हैं। वे अपनी तपस्या और उपासनाके अनुसार इन्द्र ही सकते हैं। और इन्द्रकी तो बात ही क्या, ब्रह्मातक ही सकते हैं। देवोपासनाके द्वारा यह सब कुछ बहुत ही सुलभ है। इस युगमें सबसे बड़ा हस्त इस देवोपासनाका ही हुआ है। अध्यात्मवादियोंने यह कहकर कि 'हम ब्रह्मलोकतकके मोगपर लात मारते हैं' और आधिमौतिकोंने यह कहकर कि 'सूक्ष्म लोक कोई वस्तु ही नहीं है' देवोपासनाका परित्याग कर दिया। वर्तमान समय इस बातका साक्षी है कि दोनों ही अपने-अपने प्रयासमें असफल हो रहे हैं। अधिकांश अध्यात्मवादियोंका वैराग्य उन लोकोंके न देखनेके कारण अथवा उनपर विश्वास न होनेके कारण है। यह कितने आश्वर्यकी बात है कि जो लोग इस जगत्के एक पुष्टके सौन्दर्य और सौरभ पर लुभा जाते हैं, वे सूक्ष्म लोकोंके अतुलनीय भोगोंपर लात मारनेकी बात कहते हैं। आधिमौतिकोंके सम्बन्धमें यदौं कुछ कहना अप्रासङ्गिक है, क्योंकि उन देवताओंकी इस विषयमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। क्या ही अच्छा होता कि वे हमारे प्राचीन इतिहासोंके सत्य मानते और श्रद्धासुकृत विवेकसे काम लेकर देवताओंके अकिञ्चन एवं महत्वको मानते और उनकी सहायतासे शीश-से शीश अपने लक्ष्यका पहुँच जाते।

इस कथनका यह भाव कदापि नहीं है कि अध्यात्मवादी उन लोकोंके बैपतसे विरक न हों। विरक तो होना ही चाहिये, परन्तु वह विरकि आत्मवज्ञना नहीं हो, पूर्ण हो। पूर्ण वैराग्यमें देवताओंकी उपासना बाधक नहीं लाधक ही है। देवता कष्ट हीं तो इन्द्रियों और मनका संयम अत्यन्त कठिन हो जाता है। क्योंकि वे हनकी अधिष्ठात्र-देवता हैं। इसीसे प्राचीनकालमें शृणिगण यश-यागादिके द्वारा इनको सनुष्ट किया करते थे। देवताओंकी उपासनामें सुखवता राजसूय, बाजपेय आदि वैदिक यज्ञोंकी ही है। समस्त वेदान्ती और भक्त आचार्योंने एकस्वरसे स्वीकार किया है कि ये यज्ञ, देवोपासना आदि यदि सकामयावसे किये जाते हैं, तो

इस लोककी समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाले होते हैं और परलोकमें इन्द्रिय और परमेष्ठ्यको भी देनेवाले होते हैं, और यदि ये ही कर्म निष्काम-भावसे किये जाते हैं तो अन्तःकरणको शुद्ध करके भगवान्‌की भक्ति अथवा तत्त्वानामें हेतु होते हैं। चाहे सकाम हो या निष्काम, किंतु भी अवस्थामें देवोपासना लाभदायक ही होती है। जो लोग इन्द्रियोंका संयम करके मनको एकाग्र एवं परमात्मामें स्थिर करना चाहते हैं, उनके लिये भी देवोपासना बड़ी सहायक है। सूर्यकी उपासनासे, जो कि उनके सामने बैठकर गायत्री-के जपसे होती है, ब्रह्मचर्य स्थिर होता है और आँखें बुरे विषयोंपर नहीं जातीं। नित्य और नैमित्तिक कर्मोंमें देव-पूजाके जितने भी मन्त्र हैं, उनमें कहा गया है—‘अमुक देवता मेरी इन्द्रियोंको संयत करें, मनको विषयोंसे विमुत करें और अपराधोंकी पुनरावृत्ति न हो, ऐसी कृपा करें।’ सन्त्वा और पञ्चमहायज्ञ-जैसे नित्यकर्म भी एक प्रकारसे देवोपासना ही हैं और देवताओंकी सहायता प्राप्त करते रहनेके लिये ही आर्य-जीवनसे उनका घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़ दिया गया है।

वर्तमान युगमें सर्वसम्मतिसे यह स्वीकार कर लिया गया है कि गीता अध्यात्मशास्करा एक उज्ज्वल प्रकाश है। इसकी गम्भीरता, महत्त्व और तात्त्विकता सर्वमात्र्य है। गीता ग्रन्थमें प्रसङ्गवद्या कई बार देवपूजाका उल्लेख हुआ है। सात्त्विक युरोपोंका वर्णन करते हुए स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है कि सात्त्विक पुरुष देवताओंकी पूजा करते हैं ‘यजन्ते सात्त्विका देवान्।’ शारीरिक तरीकोंमें सर्वप्रथम स्थान देवपूजाको ही प्राप्त है। इसके अतिरिक्त और भी अनेक श्वलोंमें जैसे यज्ञके साथ प्रजाकी सुष्ठि बतलाते हुए कहा गया है कि यज्ञके द्वारा तुम उज्ज्वलि करो। यश तुम्हारी समस्त कामनाओंको पूर्ण करे। वहाँ स्पष्ट कहा गया है कि मनुष्य यज्ञके द्वारा देवताओंको प्रसन्न करे और देवता मनुष्योंको उज्ज्वल करें। इस प्रकार एक दूसरेके सहकारी बनकर परम कल्याण प्राप्त करें। आगे चलकर तो यह भी कहा गया है कि संसारकी समर्पण सुख-सम्पूर्ण देवताओंसे ही प्राप्त होती है। इसलिये उनकी चीज उनको दिये विना जो भोगते हैं, वे एक प्रकारसे चोर हैं—‘त्वेन एव सः।’ भगवान्‌की यह वाणी प्रत्येक साधकको सर्वदा स्परण रखनी चाहिये कि इस यश-चक्रका जो अनुष्ठान नहीं करता, वह इन्द्रियोंके भोगोंमें रथनेवाला पापी वर्य ही जीवन धारण करता है। भगवान्‌के ये

बचन इतने स्पष्ट हैं कि इनकी टीका-टिप्पणी आवश्यक नहीं है। हाँ, यह बात अवश्य है कि भगवान्ने सकामताको हम बतलाया है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि कर्मका ही स्वाग कर दिया जाय। यश करके यशका फल नहीं चाहना यह गीताका सिद्धान्त है। उपासना न करनेवाले की अपेक्षा तो उपासना करनेवाला श्रेष्ठ ही है। चाहे वह सकाम-भावसे ही क्यों न करता हो। पुराणोंमें और उपासनासम्बन्धी ग्रन्थोंमें ये बातें बहुत स्पष्टरूपसे लिखी हुई हैं।

परमार्थदृष्टिसे परमात्माके अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं होनेपर भी व्यवहारदृष्टिसे सब कुछ है और ज्यों-का-त्यों सत्य है। इसलिये थिद स्थूल लोक सत्य है, तो सूक्ष्म लोककी सत्यतामें कोई सन्देह नहीं रह जाता। फिर इनकी उत्तरितिका क्रम और इनकी व्यवस्था भी स्वीकार करनी ही पड़ती है। मूलतः इस सुष्ठिके कर्त्ता, भर्ता, हर्ता एकमात्र ईश्वर ही हैं। वही परम देव हैं। उन्हको कर्त्तापनकी दृष्टिसे ब्रह्मा, भर्तीपनकी दृष्टिसे विष्णु और हत्तोपनकी दृष्टिसे शिव कहते हैं। ये तीनों नाम एक ही ईश्वरके हैं। इसलिये ये भी परम देव ही हैं। इन तीनोंमें से ब्रह्माकी उपासना प्रचलित नहीं है; क्योंकि वे अपने कामको स्वाभाविकरूपसे करते रहते हैं और सुष्ठिके लिये प्रार्थना करना आवश्यक नहीं है। संसारकी स्थितिके लिये अथवा संसारसे मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त करनेके लिये उपासना की जाती है। यही कारण है कि विष्णु और शिवकी उपासना अधिक प्रचलित है। संसारकी विभिन्नाओंके स्वामीके रूपमें गणेशकी और प्रकाशकके रूपमें सूर्यकी उपासना होती है। इन सबके साथ यों कहिये कि सबके रूपमें भगवान्नकी अनिन्त्य शक्ति है, इसलिये केवल शक्तिकी भी आराधना होती है। इस प्रकार विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश और शक्ति—ये पाँचों भगवान् ही हैं। इसलिये उपासनेवाले हन्तीका सुख स्थान है। जिस देवताओंकी जो शक्ति होती है वही उसकी पक्की है और शक्ति-मानके साथ शक्तिका अभेद है। सामान्य देवताओंसे विलक्षण होनेके कारण इन पाँचोंकी गिनती देवताओंमें नहीं होती। समय-समयपर इन सभीके अवतार हुआ करते हैं और इस प्रकार निखिल जगत्की रक्षा-दीक्षा होती है।

सहम ज्ञातके देवताओंमें अनेकों भेद हैं। ब्राह्मसर्गके देवता, माहेन्द्रसर्वार्थके देवता और भौमसर्गके देवता, इनमें कुछ तो प्रजारूपसे निवास करते हैं और कुछ अधिकारीरूपसे। उनके शरीरमें स्थूल पञ्चभूत बहुत ही व्यून परिमाणमें

होते हैं और पृथ्वी, जलकी मात्रा तो नहींके बराबर होती है। इसीसे उन्हें पार्थिव भोजनकी आवश्यकता नहीं होती, केवल सूँघनेसे या अमृतपानसे ही उनका जीवन परिपूर्ण रहता है। ब्राह्मसर्वार्थमें तो गन्ध या पानकी भी आवश्यकता नहीं होती, इसलिये यश-थपादिका सम्बन्ध अधिकांश माहेन्द्रसर्वसे ही है। भौमसर्गके देवता पितर हैं।

देवता दो प्रकारके होते हैं। एक नित्य देवता और दूसरे नैमित्तिक देवता। नित्य देवताओंका पद प्रवाह-इरुपसे नित्य होता है। जैसे प्रत्येक प्रलयके बाद इन्द्रपथ रहेगा ही। ऐसे ही दिक्षाल, लोकपाल आदिके भी पद हैं। इनके अधिकारी बदलते रहते हैं किन्तु पद ज्यों-का-त्यों रहता है। इस समय जो बलि हैं, वे ही आगे इन्द्र हो जायेंगे। इनके बदलनेका समय निश्चित रहता है। यह नियम प्रत्येक ब्रह्माण्डमें चलता है। नैमित्तिक देवताका पद समय-समयपर बनता है और नष्ट हो जाता है। जैसे कोई नवीन आशका निर्माण हुआ तो उसके अधिकारीके रूपमें नये आम-देवता बना दिये जायेंगे। नवीन गृहके लिये नवीन वास्तु-देवता भी नियुक्त कर दिये जायेंगे। परन्तु उस आम और घरके दूलते ही उनका वह अधिकार नष्ट हो जायगा। आम-देवताकी पूजासे आशका और गृह-देवताकी पूजासे गृहका कल्याण होता है। अब भी भारतके गाँवोंमें किसी-न-किसी रूपमें आम-देवता और गृह-देवताकी पूजा चलती है।

देवताओंकी संख्या नहीं हो सकती। जितनी वस्तुएँ हैं, उतने ही देवता हैं। इसीसे शालोंमें देवताओंको असंख्य कहा गया है। तैतीस करोड़का हिसाब अक्षरादने दिखलाया है। कहीं-कहीं देवताओंकी संख्या तैतीस हजार तैतीस सौ तैतीस कहीं गयी है। मुख्यतः तैतीस देवता माने गये हैं। उनकी संख्या इस प्रकार पूरी होती है। प्रजापति, इन्द्र, द्वादश आदित्य, आठ वसु और ग्यारह यद्र। निकलके दैवत-काण्डमें देवताओंके स्वरूपके सम्बन्धमें विचार किया गया है। वहाँके वर्णनसे यही तात्पर्य निकलता है कि वे काम-रूप होते हैं, वे स्वेच्छासे रहीं, पुष्ट अथवा अन्यरूप भारण कर सकते हैं। वेदान्त-दर्जनमें कहा गया है कि देवता एक ही समय अनेक स्थानोंमें भिन्न-भिन्न रूपसे प्रकट होकर अपनी पूजा स्वीकार कर सकते हैं। देवताओंके सम्बन्धमें और भी बहुत-सी जातव्य बातें हैं, परन्तु विस्तारभयसे उनका उल्लेख नहीं किया जा सकता है। अपने लोकमें वे जिस रूपसे निवास करते हैं, वही उनका स्थायी रूप माना जाता है। उन्हीं रूपमें उनका

ध्यान एवं उपासना की जाती है। देवोंमें प्रायः सभी देवताओंका वर्णन आया है; जैसे इन्द्रके लिये 'वज्रहस्तः पुरुदरः'। उनके कर्मका भी वर्णन है कि वे वर्षाके अधिपति हैं और वृत्रवध आदि कर्म करते हैं। वैदिक यजोंके द्वारा देवताओंकी जिस प्रकारसे उपासना की जाती है, यहाँ उसका संक्षिप्त दिव्यदर्शन भी सम्भव नहीं है। तात्त्विकपूजा-पद्धतिके अनुसार कुछ देवताओंके ध्यान और मन्त्र लिखे जाते हैं।

इन्द्र

इन्द्रका वर्ण यीला है, उनके शरीरपर मधुर-पिञ्चलके सदृश सहस्र नेत्रोंके चिह्न हैं, उनके एक हाथमें वज्र है और दूसरेमें कमल। अनेकों प्रकारके आभूषण धारण किये हुए हैं। दिक्षुपतियोंके स्वामी इन्द्रका इस प्रकार ध्यान करना चाहिये। इन्द्रका मन्त्र है—ॐ ह इन्द्राय नमः।

अग्नि

अग्निका वाहन छाग है। सात ज्वालाएँ निकलती रहती हैं, शरीर स्थूल है, पेट लाल है; भौंह, दाढ़ी, बाल और आँखें पिङ्गल वर्णकी हैं। हाथमें रुद्राक्षकी माला और शक्ति है। अग्निका मन्त्र है—ॐ अग्नये नमः।



इन्द्रादि देवोंको उपासना

(लेखक—मुखिया श्रीविद्यासागरजी)

कानूनकी किताब ही कानून नहीं है। कानून केवल ताजीरातमें ही नहीं है। वेद, गीता, रामायण, कुरान और हिंजील भी कानूनी किताबें हैं। गीतामें एक दफा यों आयी है कि—

'जनताको चाहिये कि वह देवोंको सन्तुष्ट करे और देवोंको चाहिये कि वे जनताको सन्तुष्ट करें।'

(गीता १।६)

इस प्रजापालक दफापर किसीने भी ध्यान नहीं दिया। इस दफाके अंदर खेतीका ग्राण रख दिया गया है—इसकी खबर किसीको नहीं हुई। वडे-वडे नेताओंकी टीकाएँ, बहुत प्रसिद्ध हुईं। मगर उन्होंने भी इस दफाकी आवश्यक व्याख्या करना जरूरी न समझा। अंग्रेजीवालोंने तो इस दफाका मुताला अधकारोंसे साय किया है। वे सोचते हैं कि गीतामें भी कहीं-कहीं 'मुर्दा दफाएँ', मौजूद हैं। क्योंकि अंग्रेजीवाले देवता और प्रेतोंमें धिक्षास लाना नपुंसकता

कुबेर

कुबेर धनाध्यक्ष हैं। उनके दो हाथ हैं और शरीर नाटा है। पीताम्बर धारण किये हैं। सर्वदा प्रसन्न रहते हैं। यज्ञ-युत्सुकोंके स्वामी हैं और धन देनेवाले हैं। इस प्रकार कुबेर-का ध्यान करके उनके मन्त्रका जप करना चाहिये। कुबेरका मन्त्र है—ॐ नमः कुबेरेण।

वास्तुदेव

वास्तुदेवका शरीर सोनेके रंगका है। उनके शरीरसे लालिमा निकलती रहती है। कानोंमें श्रेष्ठ कुण्डल हैं। अत्यन्त शान्त सौभाग्यशाली और सुन्दर वेश है। हाथमें दण्ड है। सब लोगोंके आश्रय एवं विश्वके बीज हैं। जो प्रणाम करता है, उसके भयको नष्ट कर देते हैं। ऐसे वास्तु-पुरुषका ध्यान करना चाहिये। इनका मन्त्र यह है—ॐ वास्तुपुरुषाय नमः।

देवताओंकी उपासनासे सभी प्रकारके अभाव पूर्ण हो सकते हैं। अनुकूल होनेपर ये भगवत्यातिमें भी सहायक होते हैं। इसलिये इनकी उपासना करनी चाहिये। भिज-भिज देवताओंकी उपासनापद्धति भी प्रथक्-प्रथक है। जिसकी उपासना करनी हो, उसकी पद्धतिके अनुसार करनी चाहिये।

भूतयोनि, वास्तविक है या काल्पनिक ! ऐसे ही लोग कहा करते हैं कि गीतामें भी मुदापन है और रामायणमें भी विरोधाभास है ! वे लोग अपने दिमागका मुदापन नहीं देखते, अपने दिलका विरोधाभास नहीं देखते ।

संसारका जीवन लेतीपर निर्भर है । चौकीदारसे लेकर शादशह तकका सम्बन्ध खेतीसे है । संसारका समस्त विश्वान, समस्त विद्याएँ, समस्त कलाएँ, समस्त व्यापार और समस्त कारखानोंकी जड़ खेती है । खेती ही जीवनका जीवन है और खेती ही प्राणोंका प्राण है । अतः खेतीके विषयमें सबको एकमत होना चाहिये ।

दिन-रातके चौबीस घंटोंमें कम-से-कम तीन बार जीवोंको अनाजदे जीवनीशक्ति लेनी पड़ती है । भोजनके सिवा जिन बब्बोंद्वारा लोगोंकी इज्जत सुरक्षित रहती है, वे भी खेतीसे ही प्राप्त होते हैं । अतः खेतीके मामलेमें सबको मदद हेती चाहिये ।

यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि संसारकी सञ्चालक एक इजर शक्तियोंमें चार शक्तियां प्रधान हैं । वे हैं—
(१) हल, (२) कल्य (सरस्वती), (३) रुपा (लक्ष्मी) और
(४) लाटी (बल) । इन चारोंमें प्रधान खेती है । अतः खेतीके बारेमें सबको दिलचस्पी लेनी चाहिये और विशेष आत्माओंको तो दिलचस्पी लेनी ही चाहिये ।

मनुष्य नर-नारियोंका ही जीवन खेतीसे सम्बद्ध है—ऐसा नहीं । नर-नारी, पशु-पक्षी और भूत-देवता भी अपने-अपने जीवनका निवांइ खेतीसे ही किया करते हैं । अतः समस्त सचराचरको मिलकर खेतीकी उत्तिकरनी चाहिये; क्योंकि अन्यपूर्णके द्वारके सभी भिखारी हैं ।

‘एके उसी मुख्य कार्य खेतीकी आज पूर्ण दुरुशा है । भारतमें जो अशिक्षित हैं, जिनके किये अन्य कोई उच्योग नहीं हो सकता, वही लोग खेती करते हैं । अर्थात् उत्तम कामका सम्पादन निकृष्ट लोग करते हैं—पिर भला सफलता हो तो कैसे ? इही कारण कृषि-कला मुद्दा हो रही है । भारतमें इस समय प्रति-बीघा एक मनकी उपजका औसत लग रहा है । इस गिरी हुई उपजके कारण भारतीय किसान आधा पेट रक्कड़ यमयातना सहता है । किसानोंके हाहाकारी चीकारसे सारा भूगोल काँप रहा है ।

सरकारने खेतीका महकमा अलग काम किया है । उसके

प्रधान अफसर ‘डायरेक्टर आफ्र एश्रीकल्चर’ कहलाते हैं । यह महकमा जगह-जगह फार्म खोले बैठा है । लाखों रुपया सालाना खर्च किया जा रहा है । प्रायः फार्म घटेपर चल रहे हैं । इसका कारण यह है कि वास्तवमें अंग्रेज जाति कृषिकलाको नहीं जानती । इसके सिवा, खेतीके कामसे देवताओंका अट्ट सम्बन्ध है और देवताओंके नामसे इन लोगोंको छुट्टार चढ़ आता है ।

यूरोपमें बनवान् और शानवान् लोग खेती करते हैं । वे लोग विजानकी सहायतासे खेती करते हैं । बीज, खाद, जुताइ और सिन्चाईके कामोंमें निपुण हैं । इसी कारण उनकी उपजका औसत पी बीघा दस मन है । पर वैशानिक उत्सलोंसे ही कृषि-कलामें परिपूर्णता नहीं आ सकती । यूरोप-वाले प्रत्येक कलामें अपनेको प४० प० मानते हैं, जो उनका कोरा भ्रम है । कानून और कृषिमें वे लोग पूरी तैरसे फेल हुए हैं । अतः भारतीय अशिक्षित किसान और यूरोपीय सुशिक्षित किसान—दोनों ही कृषि-कलामें पूरे ‘बुद्ध’ प्रभाणित हो चुके हैं । वर्तमानकी अधूरी कृषि-कलापर सफलताकी आशा लादना पूरी चक्कास है ।

संसारमें जितने चकवर्तीं समादृहुए हैं, एकको छोड़कर उनमेंसे किसीको भी परिपूर्ण कृषि-कला प्राप्त नहीं हुई । केवल महाराजा रामने कृषि-कलाका परिपूर्ण विधान प्राप्त कर लिया था । जबतक भूयोलका कृषिक्षेत्र महाराजा रामके विधानको स्वीकार नहीं करता, तबतक वह खुद भी भूखों मरेगा और दूसरोंको भी मरता रहेगा ।

महाराजा रामको खेतीकी पूरी कला विदित थी, इसीलिये भारतमें दस हजार सालतक खेती खूब फूली और खूब फली । रामराज्यमें न तो कभी ओले पढ़े और न कभी तुषार पढ़ा । न कभी अनावृष्टि हुई और न कभी अतिवृष्टि हुई । न कीदोने उपजको चौपट किया और न सूरजने बीजको सुखाया । न कभी चूहे आये और न कभी टिक्की आयी । भला, यूरोपके कृषिकलायिशारद लोग और भारतीय खेतीके डायरेक्टर लोग जबाब दें कि उनके पास ओला, पाला, तुषार, कीदा, अनावृष्टि और अतिवृष्टिके लिये क्या माकूल जबाब है ? इतना ही नहीं, रामराज्यमें किसानोंको जो चीज बो दी वही दस हजार सालतक बराबर पैदा होती रही । मता यह कि उपज इसमाल बढ़ती जाती थी ।

किसानका काम था खेतीकी निकाई करना और खेती काटना। जोतना और बोना बन्द। जिस तरह जावाकी खेती एक साल बो देनेसे इस सालतक चलती है, उसी तरह रामराज्यके सभी बीज सर्वदा त्वयं उगा करते थे। कृषि-कला जब परिपूर्ण होती है तब नर-नन्दी, देव-पितर, भूत-प्रेत और पशु-पक्षी अनाजसे तृप्त हो जाते हैं। बच्चा हुआ अनाज ही खाद बनकर खेतमें डाला जाता है—इतनी उज्ज बद जाती है।

महाराजा रामने कृषि-कलाको दो भागोंमें बाँट दिया था—(१) वाष्पजगत्के ५ साधन और (२) अन्तर्जगत्के ५ साधन। बस, यही परिपूर्ण कृषि-कलाकी चाही उनके पास थी।

बाहरी साधन

(१) अच्छी जुताई, (२) अच्छी खाद, (३) अच्छा बीज, (४) अच्छी निकाई और (५) अच्छी सिंचाई।

मीतरी साधन

हन्द्रादि देवोंका साधन—(१) हन्द्र, (२) सूर्य, (३) पृथ्वी, (४) वायु और (५) गणेशके घण।

यों तो देवतालोग तीतीस प्रकारके होते हैं। परन्तु खेती-के काममें उपर्युक्त पांच देवताओंका ही सहयोग पर्याप्त है। इन पांचों देवताओंका सम्मिलित वश रामनवमीके दिन समस्त भारतमें जारी करा दिया गया था। रामराज्यने उन वैदिक मन्त्रोंको खोज निकाला था कि जो खेतीके सहायक देवताओंके लिये बेदने निश्चित किये हैं।

मान लीजिये कि खेतीके काममें १० पदार्थ सहायक हैं। ५ वाष्पजगत्के साधन और ५ अन्तर्जगत्के साधन। अब यदि कोई १० आवश्यक पदार्थोंमेंसे केवल ५ पदार्थोंकी ही सहायतासे ही सुकामिल खेती करनेका बीड़ा उठावे तो यह कैसे हो सकता है? खेतीके काममें कुदरतने हन्द्रादि देवताओंकी सहायता अनिवार्य कर दी है। मगर मूल

मनुष्य उसके बायकाटपर तुला हुआ है और मजा यह कि वह कृषि-कलामें पूर्णता भी चाहता है।

जब सूर्य, वायु, गणेश, पृथ्वी और हन्द्र आपकी खेती-में काम करेंगे, तब क्या आप उनको उनकी मजदूरी वशके रूपमें अदा नहीं करेंगे? नहीं करेंगे, तो वे भी अपना काम सीधा नहीं करेंगे बल्कि उल्टी माला फेर देंगे, जैसा कि वर्तमान समयमें हो रहा है। यदि देवोंको तृप्त किया जाय और वे लोग भद्रद न दें या अनुकूल आचरण न करें तो उनपर मुकदमा कायम हो सकता है और गीताकारकी अदालतमें उनको शरमिन्दा किया जा सकता है। लेकिन यिन उनको तृप्त किये उनसे काम लेनेका अधिकार गीता नहीं देती कि जो न्यायानुकूल उचित भी है।

हन्द्रादि देवोंकी उपासनाका फल

१—गणेश=खेतीमें चूहा, टिही और दीमकसे रक्षा करते हैं।

२—सूर्य=किरणोंद्वारा खेतीका शोषण नहीं—पोषण करते हैं।

३—पवन=अनुकूल समयार आदलेंको लाते हैं।

४—पृथ्वी=उपज बढ़ाती है।

५—हन्द्र=ठीक समयपर जलकी उचित वर्षा करते हैं।

सरकार प्रत्येक गाँवमें ग्रामसुधार-योजनाके अनुसार ‘विचायत’ कायम करा रही है। उन पंचायतोंको तीन काम दिये गये हैं—(१) ग्रामकी सफाई, (२) ग्राममें साकरता-प्रचार तथा (३) ग्रामके मामलोंका निपटारा। परन्तु जबतक हन्द्रादि देवताओंकी पूजाकी व्यवस्था न होगी, तबतक न खेतीमें पूरी सफलता मिलेगी, न ग्रामसुधार ही होगा।

अतएव हन्द्रादि देवोंकी उपासना आवश्यक है, उसके यिन न तो संसारिक जीवनकी अन्यान्य हन्द्रादि पूर्ण हो सकती हैं और—

‘न मुक्तिमिल खेतीका कामयान प्रोग्राम’ ही बन सकता है।

—४४८—

गोविन्दके गुण गाओ

दादू देही देखताँ सब किसद्दी कर जाइ।

जब लग साँस सरीरमें गोविन्दके गुण गाइ॥

—दादू॥

साधनाका प्रथम पद

(लेखक—जीदेवराजबी विज्ञावाचस्पति)

मनुष्यको किसी भी लक्ष्यको सिद्ध करना हो तो सबसे यहले उसे यह दृढ़ निश्चय करना चाहिये कि उसको असुक लक्ष्य अवश्य ही सिद्ध करना है । सिद्ध करनेकी इच्छामें ज्यवतक दृढ़ता न आवे तबतक उसको सिद्ध करनेके लिये प्रवृत्ति नहीं होती, यदि प्रवृत्ति हो भी तो उस प्रवृत्तिमें बल न होनेसे कार्य अधूरा ही रह जाता है । ऐसे लोग जो कार्य प्रारम्भ करके बीचमें ही छोड़ देते हैं, मध्यम कोटिके कहलाते हैं । वे मनुष्य जो किसी प्रकारकी आशङ्काके कारण कार्य करनेके लिये प्रवृत्त ही नहीं होते, अधम कोटिके मनुष्य कहलाते हैं, परन्तु जो मनुष्य सब प्रकारकी आशङ्काओंके परिवारका उपाय करके प्रबल इच्छाके साथ कार्यको सिद्ध करनेमें लग जाते हैं और अवश्य सिद्ध कर डालते हैं, वे उत्तम कोटिके मनुष्य कहलाते हैं ।

दुर्व्यसनोंमें पहुए हुए अनेक मनुष्य जानते हैं कि इमें दुर्व्यसन छोड़ना चाहिये, उससे हमारी हानि है, तो भी वे आशङ्काओंके कारण छोड़नेमें प्रवृत्त ही नहीं होते, तथा बहुतसे प्रवृत्त होकर भी एक जाते हैं । दृढ़ सङ्कल्पका बल एक ऐसा बल है, जिसके द्वारा मनुष्य कटिन-से-कटिन कार्यके भी पर पहुँच जाता है । मनुष्यका इतना ही करतव्य है कि दृढ़ताके साथ अपनी व्यक्तिगत शक्तिके द्वारा कार्य करना आरम्भ कर दे । यदि ऐसे दृढ़ सङ्कल्पके साथ कार्य आरम्भ हुआ है कि जो कदम आगे बढ़ तुका है वह पीछे नहीं

हटेगा—‘कार्य वा साधयें देहं वा पातयेयम्’—तो उस कार्यको सिद्ध करनेके लिये जितने भी साधन चाहिये वे यथासमय अवश्य ही उपस्थित हो जायेंगे । इसमें कुछ भी संशय नहीं है ।

कार्यको सिद्ध करनेकी इच्छामें जो प्रबल दृढ़ता है वह तप है । इस तपके कारण ही मनुष्य लक्ष्यसे च्युत करनेवाले तथा बीच-बीचमें आमेवाले अबान्तर विषयोंमें भटकनेसे बच जाता है, उनसे थिरक रहता है । ज्यवतक कार्य समाप्त नहीं हो जाता तबतक भनके अंदर ‘यह कार्य मुझको अवश्य ही पूरा करना है’ ऐसी आश्रुति लगातार बनी रहती है ।

इस आश्रुतिके ल्यातार बने रहनेका नाम ‘अभ्यास’ है । इस अभ्यासके कारण ही लक्ष्यच्युति नहीं होती । तप ही अभ्यास और वैराग्य दो भागोंमैं बँट जाता है । व्यवहारमें अपने-अपने कार्योंको करते हुए इमलोग अभ्यास और वैराग्यका साधन कर सकते हैं । अभ्यास और वैराग्यके द्वारा चित्तकी चञ्चलता शान्त होती है और कार्य सिद्ध होता है । तपकी वृद्धिके साथ चञ्चलता दूर होनेसे कमशः सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है । जितना ही अधिक सत्त्वगुणका उदय होता है, उतना ही अधिक मनुष्य लक्ष्यके समीप होता है ।

साधकका सबसे प्रथम पद लक्ष्यको सिद्ध करनेके लिये चित्तमें विद्यमान अशुद्धिको दूर करना है । तपके द्वारा चित्तमें रजोगुण (चञ्चलता) और तमोगुण (अप्रकाश, अप्रवृत्ति) के मलोंको दूर करना ही सबसे प्रथम पद है ।

सोते क्यों हो ?

कवीर सोया क्या करै, जागिके जपो मुरार ।
एक दिना है सोवना, लंबे पाँच पसार ॥
कवीर सोया क्या करै, उट्ठि न रोकै तुक्क ।
जाका बासा गोरमें, सो क्यों सोवै सुक्क ॥
कवीर सोया क्या करै, जागनकी कर खौप ।
ये दम होरालाल है, गिनि गिनि गुरुके सौंप ॥

माया, महामाया तथा योगमायाका भेद

(लेखक—यो० श्रीपारसनाथजी)

पुरुषकोंके पदनेसे ही माया, महामाया और योगमायाका भेद नहीं मालूम हो सकता। इस विषयको बस्तुतः वही जान सकता है कि जिसे समाधिके द्वारा अनुभव करनेकी क्षमता प्राप्त हो।

परमात्माने जब जगत्-प्रपञ्च रचनेकी इच्छा की तब इच्छाशक्ति पैदा हुई। वही साकार इच्छाशक्ति जगत्-रचनामें सुख्य कारण है।

कर्त्ता इच्छादेवीने ही तीन प्रकारकी मायाको उत्पन्न किया। उन्हींको योगमाया, महामाया तथा माया कहते हैं।

परमात्मामें समस्त तत्त्व घनतत्त्व हो रहे हैं। योड़ेसे घनतत्त्वोंको लेकर इच्छाशक्तिने योगमायाके द्वारा समस्त तत्त्वोंका पृथक्करण किया। पिछे हुए तत्त्वोंको अलग-अलग किया और उन सब तत्त्वोंके नक्शेमें अपने-आप ही योगमाया व्यापक होकर बैठ गयी। एकसे लेकर दस शाङ्खतककी पूरी संख्याको बनाया है इच्छाशक्तिने, परन्तु एकको दूसरी संख्यासे जुड़ा करना और हरेक संख्याकी कीमत स्थिर रखना—यह योगमायाका काम है। सुष्ठिके परिपूर्ण हिरण्यगम्भीरमें तदाकार व्यापकता रखना योगमायाका काम है। कलम बतौर इच्छाशक्ति है। परन्तु, कलमके अक्षरोंमें जो व्यापक स्थाई है—यह योगमाया है। मेरी रामसे इस लेखकी सुरक्षामें एक कमी रह गयी है। मायाके भेद तीन नहीं—चार हैं। जबतक चारों रूपोंकी आलोचना न की जायगी, मायामण्डलसे पूरी जानकारी न हो सकेगी। पूरी सुरक्षी यो है—

‘माया, महामाया, योगमाया तथा इच्छाशक्तिका भेद।’

इच्छाशक्तिकी परिभाषा

जब सुष्ठि नहीं थी तब केवल परमात्मा था। एकाएक उस परमतत्त्वसागरमें यह विचार पैदा हुआ कि ‘हमीं-हम हैं—अब यह देखना चाहिये कि हममें कैसा शान है और कितनी शक्ति है?’

यह जानकर भी कि सम्पूर्ण शान एवं सम्पूर्ण शक्तिके केन्द्र हमीं हैं, परमात्माने अपने शान और शक्तिको लेकर खेलनेकी इच्छा की। उसी परमात्मीय इच्छाशक्तिने समस्त

सा० अ० ४३—

जगत्की रचना की है। हमलोग जितनी इच्छाएँ किया करते हैं, वे सब उसी इच्छाशक्तिसे निकलती हैं और उसीमें लय होती हैं। अतएव कर्त्ता इच्छाशक्ति है। लोग कहते भी हैं कि ‘यह भगवानकी इच्छासे हुआ।’ यह बात कोई नहीं कहता कि अमुक काम भगवान्ने किया। यही कहा जाता है कि भगवानकी इच्छासे हुआ। अमर यह कहा जाय कि अमुक घटना भगवान्ने की तो वह गलत है; क्योंकि भगवान् दृश्य हैं, कर्ता नहीं। कर्ता इच्छारूपी परमात्मा हैं। परमात्मा निराकार है और इच्छाशक्ति साकार है। भगवान् भी शक्तिको लेकर ही साकार हैं। इच्छाशक्तिने जो जगत्‌का विश्र बनाया है, उसीमें माया, महामाया तथा योगमायाका विवरण मौजूद है।

योगमायाकी परिभाषा

भगवानकी इच्छाशक्तिके द्वारा बनाये हुए जगत्में जो व्यापक शक्ति धर्तमान रहती है, उसको योग-माया कहते हैं। योगमाया नवशा है, योगमाया ही साकारता और प्रत्येक आकारकी महिमा है। योगमायारूपी मकानके भीतर, माथा एवं महामायाका निवास है। योगमायाकी क्षमता, माया और महामायाकी क्षमतासे कहीं अधिक है। माया और महामायाका सञ्चालन योगमाया करती है और योगमायाका सञ्चालन इच्छाशक्ति करती है। इच्छाशक्तिको इजिनका ड्राइवर मानना चाहिये। समूचा इजिन बतौर योगमाया मानना चाहिये। ठीक समयपर सूर्य निकलता है। केवल बारह घंटेके लिये सूर्य निकलता है। सूर्यका निकलना और छिपाना योगमायाके हाथमें है। योगमाया चाहे तो महीनेभरतक रात ही बनी रहे। वह चाहे तो छः महीनेकी रात कर दे। वह चाहे तो छः महीनेतक सूर्यदेव तपते ही रहें। वह चाहे तो जयद्रथ-बाला सूर्य कर दे। है भी और नहीं भी। सूर्य नहीं—सूर्यके प्रत्येक परमाणुपर योगमायाका परिपूर्ण अधिकार है। सूर्यसे केवल उपमा दी गयी है। समस्त आध्यात्मिक और भौतिक परिवर्तन योगमायाके द्वारा ही होते हैं। परन्तु स्वयं योगमाया कुछ नहीं करती। वह इच्छाशक्तिके द्वारा आज्ञा पाकर आज्ञानुसार काम करती है। संसारका प्रत्येक

अबतार इस इच्छाशक्तिका ही अवतार है। इसी कारण—योगमायाजी अवतारके अधीन रहती हैं। योगमायापर केवल इच्छाशक्तिका शासन रहता है। इच्छाशक्तिका जो शासन माया तथा महामायापर चालू होता है वह योगमायके द्वारा ही सञ्चालित किया जाता है।

महामायाकी परिभाषा

जगत्के दो विभाग हैं—(१) विगुण और (२) विगुणातीत। जगत्को आदमी-जैसा एक साकार मान लीजिये। छातीसे पैरतक विगुण है, यानी मायाका अधिकारक्षेत्र है और छातीसे चौटीतक महामायाका अधिकारक्षेत्र है। उसे विगुणातीत कहते हैं। विराट्के अंदर महामाया एवं माया—दोनोंके स्थान हैं। अधोगतिके भागकी व्यवस्थापिका भाया है और ऊपरी भागकी मैनेजर महामाया है। निरंजन चक्र यानी सहस्रदल-कमलसे लेकर—अथाह मण्डलतककी निरंगानी महामाया करती है। इसके अलावा—विवाहका काम महामाया अपने हाथमें रखती है। अर्धाङ्ग-जीवनरूपी विवाहका भेद महामाया ही छिपाये हुए है। जीवन-मरणका कारण महामाया ही है।

मायाकी परिभाषा

सत्, रज और तम नामक दोनों गुणोंमें खेलनेवाली शक्तिको माया कहते हैं। पञ्चतत्त्व और तीन गुण—हन आठ जीजोंका जो जगत् है, उसकी व्यवस्थापिका माया है। पातालसे लेकर सहस्रदल-कमलतक जो सुष्ठुपि है, उसकी स्वामिनी माया है। महामायाके आधे जगत् जो सुष्ठुपि है, उसमें न तो स्थूल पञ्चतत्त्व शामिल है और न स्थूल तीन गुण ही।

निष्कर्ष

उपमाके तौरपर यों उमसना चाहिये कि मकानकी बनानेवाली—रचनारूपी मकानकी कर्ता—इच्छाशक्ति है। योगा इच्छाशक्ति ही रचनाके मकानकी मालिक है।

मकान ही योगमाया है। उस मकानमें एक माता और एक पुत्री रहती है। माता महामाया है और पुत्री माया है। मायाके काममें महामाया दखल दे सकती है, परन्तु महामायाके काममें माया दखल नहीं दे सकती। महामायाके कितने ही भेदोंको माया जानती भी नहीं है। अतः मायाकी अफसर महामाया है; परन्तु दोनोंके स्थान और दोनोंके काम अलग-अलग हैं।

माया और महामायापर योगमायाका शासन है। परिचर्त्तोंकी सूचना, नये आईर और विचित्र घटनाएँ, योगमायाके द्वारा महामाया और मायापर प्रकट होती हैं। परन्तु योगमायाकी अफसर इच्छाशक्ति है।

इच्छाशक्ति—जगत्को बनानेवाली और जगत्का सञ्चालन करनेवाली भगवान्तक। दुःखान्तक तथा सुखान्तक दो नाटकोंद्वारा जगत्में ईश्वरीय तमाशा करनेवाली महादेवी। जगत्के प्रथम प्रभातसे दुःखान्तक नाटक शुरू किया गया, परिच सुखान्तक नाटक शुरू होगा। दोनों खेलोंके विधि-विघानकी जिम्मेदारी तथा जवाबदेही, इच्छाशक्तिपर है। इच्छाशक्तिका आईर योगमायापर उत्तरता है। वह महामाया तथा मायापर सीधा हुक्म जारी नहीं करती; क्योंकि इच्छाशक्तिका सम्बन्ध केवल योगमायासे है।

योगमाया—हिरण्यगर्भमें साकारता, विभिन्नता तथा प्रत्येक आकारका महत्त्व योगमाया प्रदर्शित करती है। उस वेरेका नाम हिरण्यगर्भ है, जिसमें योगमाया फैली हुई रहती है। योगमाया अपने ऊपरके आईरोंकी तामील महामाया तथा माया—दोनोंपर करती रहती है। आईरोंकी तामीलपर योगमाया भौंर भी रखती है। ऐसा नहीं है कि योगमाया महामायाको आईर दे और महामाया मायाको दे। दोनोंसे योगमायाका अलग-अलग सम्बन्ध रहता है। चूंकि महामाया और मायाके दो विभिन्न जगत् हैं, इसलिये एक दूसरेसे कोई स्थान लगाव नहीं है।

महामाया—यह परा विचावाले ऊर्ध्व जगत्की व्यवस्थापिका है। उस्दों और देवताओंपर महामायाका राज्य है। महामाया अपना अकालर योगमायाको मानती है। यह यह नहीं जानती कि योगमाया स्वतन्त्र नहीं है और वह इच्छाशक्तिके द्वारा परिचालित है। महामायाका इच्छाशक्तिसे कोई परिचय नहीं है। विवाह और जीवन-मरणकी समस्या महामायाके हाथमें रहती है। इन तीनोंके गुप्त भेदोंसे वह किसीको भी जानकार नहीं होने देती।

माया—पञ्चतत्त्व और विगुणपर राज्य करती है। मतुष्ठ, पञ्च और पक्षी आदि सभी जीवोंपर उसका शासन है। वह अपरा जगत्की स्वामिनी है।

यही इन चारों मायाओंकी वास्तविक परिभाषा है।

सत्यसाधन

(लेखक—वेदाचार्य ए० शोदंशीभरजी मिथ 'मीमांसाचार्णी')

लंसारमें पक सत्यसाधन ही ऐसा है कि जिसके साथ लेपेपर सब नियम-ब्रतादि अपने-आप ही सध जाते हैं। जातकके सब नियम लिखकर दूतकार इसी बातको कहते हैं— 'सत्यदेवनमेव वा' (पा० ग० स० २।८।८) अर्थात् यदि ज्ञातक अन्य नियमोंका पालन न कर सके तो सत्य-भावणरूप नियमका ही पालन करे, उसीसे सब नियमोंका पालन हो जाता है। संक्षेपमें 'सत्य' शब्दके अर्थ नियम-विवित हैं।

श्रीमती श्रुति सत्यको परब्रह्म परमात्मा कहती है—
'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ० २।१।१)

पुराणमें 'सत्य' शब्दका अर्थ—

यथार्थकथनं च च सर्वलोकसुखप्रदम् ।
तस्यसत्यमिति विज्ञेयमस्तर्यं तद्विपर्ययः ॥
(पशुपुराण)

'सब लोगोंको सुख देनेवाला जो यथार्थ कथन है, उसी-को सत्य कहते हैं, उससे विपरीत असत्य (मिथ्या) कहलाता है।'

'सत्यं च विकलाभाप्याख्यम्' हस्ति वेदाचार्णिः ।

'तीनों कालमें जो अवाधितरूपसे रहे, उससे सत्य कहते हैं— ऐसा वेदान्ती मानते हैं।'

'यथार्थज्ञानविषयस्यं सत्यत्वम्' हस्ति नैचाचिक्षः ।

नैचाचिक्षलोग यथार्थ ज्ञानके विषयको सत्य कहते हैं। असु ।

यह निर्विवाद सिद्ध है कि सब शास्त्रोंमें, सब धर्मोंमें, सब सम्प्रदायोंमें और सब आश्रमोंमें सबसे अधिक सत्यका ही महत्व है। ऐसा कोई धर्म, सम्प्रदाय तथा आश्रम नहीं, जिसमें सत्यको सबसे पहला साधन न माना गया हो। साशाद् वेद भगवान्की आकृति है—

'सत्यं चदृ' 'सत्याङ्ग प्रमदिवाक्यम्' (तै० उ० २।१।१)

सत्य बोलो। सत्य बोलनेते कभी प्रमाद मत करो।

'अग्ने ब्रतपते ब्रतं चरिष्यामि तष्ठकेयं तन्मे रात्यताम् ।

इदमहमनृतासत्यमुपैष्ठमि' (शु० य० स० १।५)

'हे ब्रतके स्वामी अग्निदेव ! मैं ब्रतका आचरण करूँगा, तुम्हारी सहायतासे उसको मैं कर सकूँ, वह मेरा सफल हो, यह मैं कृठसे कृठकारा पाकर सत्यको प्राप्त होता हूँ।' अर्थात् मिथ्याभावण छोड़कर सत्यभावण करनेका नियम कर रहा हूँ।

इष्ट रूपे च्याकरोऽसत्यानूदे प्रजापतिः ।

अप्रदामनृतेऽदधार्ष्यद्वादृ लत्ये प्रजापतिः ॥

(शु० य० स० १।५ । ७७)

'प्रजापतिने देवकर सत्य और सूर्य इन दोनों रूपोंको अलग किया; कृठके लिये मनुष्यके हृदयमें अश्रद्धा पैदा कर दी और सत्यके लिये अद्वा पैदा कर दी।'

सुविज्ञानं विकृतुषे जनाय सत्त्वात्त्वं वचसी परमृधाते ।

तयोर्यत्सत्यं यतररजीयस्तदित्प्रोमोऽवति हन्त्यासत् ॥

(श० स० ३।१।०४ । १२)

'ज्ञानवान् मनुष्य हस्त बातको अच्छी तरह जानता है कि असत्य और सत्य वाक्य आपसमें सर्वांगी करते हैं, इन दोनोंमें सत्य अधिक सरल है और परमात्मा उसकी रक्षा करते हैं तथा असत्यका नाश करते हैं।'

ये ते पाक्षा वच्चा सत्यसत् ब्रेत्र तिष्ठन्ति विविता रक्षान्तः ।

छिन्नन्तु सर्वे अनुत्तं विद्यन्ते यः सत्यबाल्पति तं सूजन्नु ॥

(अर्य० ४।४।२६ । ६)

'हे वृश्ण ! जो तुम्हारी तीन तरहकी सात-सात फौंसें गाँधेनेवाली हैं, वे सब मिथ्याभावण करनेवालोंको बैरंग और जो सत्यादी हैं, उसको छोड़ दें।' उपनिषदोंमें भी सत्यकी बहुत प्रशंसा है—

'सत्यम् त्वाण्यायमद्वत्ते च' 'तद्वि तपस्तद्वितपः' ।

(तै० उ० १।९।१)

सत्य बोलना, स्वाध्याय करना, प्रवचन करना, यह सब तप है।

'सत्यमेव जयते वानृतं

सत्येन पन्था विततो देवधानः ।

देवाकमन्त्रवृत्तयोः

सत्यकामा

यत्र तत्सर्वत्यं परमं निधानम् ॥

(मुण्डक ३।१।६)

‘सत्यकी जीत होती है, शुटकी नहीं, सत्यसे देवयान-मार्ग विस्तृत है, जिस मार्गसे तृष्णारहित उपासक लोग वहाँ जाते हैं, जहाँ वह सर्वोत्कृष्ट सत्यसाधनका स्थान है।’

‘सत्यं ब्रह्म’ ‘देवाः सत्यमेवोपासते’ ।

(इष्टदा० ५।५।१)

‘सत्य ही ब्रह्म है। देवता सत्यकी ही उपासना करते हैं।’

‘तत्सत्यसत्यं बद्धन्तमाहुर्धर्मं बद्धीति ।’

(इष्टदा० १।४।१४)

इसलिये सांसारिक लोग भी सत्यभाषण करनेवालेको ‘वह धर्ममय वचन बोलता है’—ऐसा कहते हैं।

अश्वमेघसहस्रं च सत्यं च तुल्या धर्मद्वय ।

अश्वमेघसहस्राद्विं सत्यमेव विशिष्यते ॥

‘हजारो अश्वमेघ यार्गोंको और सत्यको यदि तुलासे तोला जाय तो हजार अश्वमेघ यज्ञोंसे एक सत्य ही विशिष्ट पड़ता है।’

नारदिं सत्यसम्मो धर्मो न सत्याद्वित्ते परम् ।

न हि तीव्रतरं किञ्चिदनृतादिह विचारते ॥

‘इस संसारमें सत्यके समान कोई धर्म नहीं तथा सत्यसे अधिक कोई उत्तम नियम नहीं और शुठसे बढ़कर कोई तीखी वस्तु नहीं है। इस सत्यरूप धर्ममें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्यज, पुरुष, स्त्री—इन सबका समान अधिकार है। इसके सेवन करनेसे छोटे-से-छोटा मनुष्य भी बड़ा बन सकता है। सत्य बोलनेवाला पुरुष निःसन्देह निर्विक द्वीती है और उसमें आत्मवल अधिक होता है।

सत्य बोलनेवालेको निन्दा-स्तुतिका भय नहीं होता—

‘निन्दन्तु नीविनिपुणा वदि वा सुषुप्तु ।’

यह सत्यसाधन वस्तुतः कोई कठिन मार्ग नहीं है, अपितु अस्यात करनेपर बहुत ही सरल है। इसका प्रकार यह ही सकता है कि मनुष्य पहले यह सङ्कल्प करे—‘आजसे मैं अकारण मिथ्याभाषण कभी नहीं करूँगा।’ इस प्रतिज्ञाका पालन इस तरह ही सकता है—प्रतिदिन मनुष्य यह विचार करे कि मैंने कल कितनी बार मिथ्या भाषण किया और अमुक मिथ्या भाषणकी जगह सत्य बोलनेसे भी कार्य चल सकता था, यह मैंने बड़ा अनुचित किया। और भगवान्से क्षमा माँगे कि ‘भगवन्! मैंने बड़ा अपराध किया, अब अग्रे ऐसा नहीं करूँगा।’ ऐसा करते-करते कुछ दिनोंमें पूर्ण अस्यास ही जायगा तब यह प्रतिज्ञा करे कि याहे प्राण भले ही चले जायें, किन्तु मिथ्याभाषण करायि नहीं करूँगा। बुधा लोग ऐसा कहा करते हैं कि—‘सत्य बोलनेसे सांसारिक कार्य नहीं चलता।’ यह उनकी सरासर भूल है। उब कार्य अच्छी तरह चल सकता है। इस समय भी ऐसे महापुरुष हैं, जो सत्य ही बोलते हैं उनके सब कार्य चलते ही हैं। इतिहासके देविये, राजा हरिश्चन्द्र, महाराज उथिक्षिर कैसे सत्यवादी थे? जिनका नाम आज भी अजर-अमर है!

जबसे हमलोगोंने सत्यको छोड़कर मिथ्याका आश्रय लिया, तभीसे वहीं-वहीं आपत्तियोंका सामना करना पड़ रहा है। जिस समय इस देशमें सत्यका खूब प्रचार था, उस समय यह धन-धन्यसे समृद्ध था और सब लोग सुखपूर्वक रहते थे। वब भी सत्यका प्रचार होनेसे सब सुख मिल सकते हैं। अतः मनुष्यमात्रका कर्तव्य है कि यथासाध्य सत्यका प्रचार करे। सत्यका प्रचार व्याख्यानोंसे नहीं होगा। वह होगा स्वयं सत्यका आदर, सत्यका पालन और सत्यकी प्रतिज्ञा करनेसे। श्रीविश्वनाथजीसे हाथ जोड़कर प्रार्थना है कि इस देशमें पुनः सत्यका प्रचार हो।

सत्याज्ञालिं परो धर्मः ।

रुक्षी रोटी अच्छी

रुक्षा रुक्षा खाइ कै, ढंडा पानी पीव ।
देखि बिरानी चूपड़ो, मत ललचावै जीव ॥
क्षीर सारै मुज्जह को, रुक्षी रोटी देय ।
चुपड़ी माँगत मैं ढरूँ, (कहुँ) रुक्षी छीनि न लेय ॥

—कारी

साधना और नारी

(लेखिका—कुमारी अशान्ता शास्त्री)

जीवनका चरम लक्ष्य—जीवका चरम लक्ष्य आनन्द ही है। संसारमें जितने प्राणी हैं वे सभ एकमात्र आनन्दकी ही सोजमें हैं। दुःखमें रहना मनुष्य तो क्या, कोई भी प्राणी नहीं चाहता। अतः सुखके लिये ही मनुष्यका सारा प्रयत्न है। इसीकी पानेके लिये वह या तो भौपोंकी ओर दौड़ता है या उनकी ओरसे उदासीन होकर अपवर्गकी सोजमें लग जाता है। जिसे अपवर्गकी प्राप्ति हो जाती है उसे तो फिर कुछ करना नहीं रहता। किन्तु जो लोग भोगोंमें रम रहे हैं उनकी दौड़-धूप कभी शान्त नहीं होती। वे एक-से-एक बढ़कर विलास-सामग्री सञ्चित करते हैं, नित्य नये-नये आमोद-प्रमोदके साथनोंका आविष्कार करते हैं। परन्तु क्या इनसे उन्हें शान्ति मिलती है? वे तो उनकी भोगलिंगाको बढ़ाकर उन्हें और भी अधिक अशान्त कर देते हैं। इनके माथा-जालमें फँसकर वे और भी अधिक भटकने स्थाने हैं। इनके पीछे भटकते हुए शान्तिकी आशा रखना तो ऐसा ही है जैसे कोई घुलकी धारा छोड़कर अग्रिको शान्त करना चाहे। आजकल हमारी दशा ऐसी हो रही है जैसे किसीकी सूर्खे गुम हो गये, और वह प्रकाश न होनेके कारण उसे ढूँढ़ता जारी-में। हमें शान्ति पानेके लिये कहीं यादृ जानेकी आवश्यकता नहीं है, वह जहाँ सोयी है उसे वहाँ छूँदना चाहिये। शान्ति-का घर तो तुम्हारा हृदय ही है। तुम अशान्तव्यकारके कारण उसे उपलब्ध नहीं कर रहे हो। तनिक शानदीपक जलाओ, वह तुरंत तुम्हें मिल जायेगी।

उस सच्ची शान्तिके मिलनेपर भोग-विलास तथा शौक-शृङ्खालके संक्रामक रोगोंसे तुम्हें सदाके लिये विल्कुल कुटकारा मिल जायगा और तुम्हें वह पद प्राप्त होगा जहाँ पहुँचनेपर किसी प्रकारका भय नहीं रहता, मृत्युकी भी मृत्यु ही जाती है और फिर कभी उस विद्युतिसे पीछे नहीं लौटना पड़ता। 'तपेव विद्वितातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्युतेऽयनाय', 'यद्यत्वा न निवर्तन्ते तद्वाम परमे मम', 'यस्मिन्नाता न निवर्तन्ते भूयः', 'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते' हस्तादि श्रुति और स्मृति भी इसी परमपदका महत्व गा रही हैं। इस पदको जान लेनेपर मनुष्यकी कोई अभिलाषा शोष नहीं रहती। उसे जो पाना होता है वह सब मिल जाता है और वह योगसूत्रोंके भाष्यकारकी भाषामें ऐसा अनुभव करने लगता है—

'प्रासं ग्राषणीयम्, क्षीणाः क्षेत्रध्याः क्षेत्राः, छिक्षः क्षिलष्टपर्वां भवसंक्रमो यस्याविच्छेदाजनित्वा ज्ञायते सूख्वा च जायते।'
(यो० गा० १। १६)

'मुझे जो पाना था वह मिल गया, जिन्हें क्षय करना था वे क्षेत्रा क्षीण हो गये, जिसका छेदन न होनेसे जीव जन्मकर मरता और मरकर जन्म लेता है वह संसारचक अपनी यतिथोके शिथिल हो जानेसे कट गया।' इस परमपदका साक्षात्कार हो जानेपर क्या नहीं मिल जाता? हृदयकी गोठ खुल जाती है, सारे संशय नष्ट हो जाते हैं तथा सारे कर्म धीण हो जाते हैं। अतः मनुष्यका प्रथान कर्तव्य इस परमपदको प्राप्त कर लेना ही है।

साधना—इससे यह तो निश्चय हो गया कि परमात्माकी प्राप्तिके लिये मनुष्यकी कोई अन्य गति नहीं है, यही उसका अन्तिम लक्ष्य है। अब देखना यह है कि इस लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये किस प्रकारकी साधना आवश्यक है। ऐसा कौन उपाय है, जिससे सुगमतासे इसकी उपलब्धि हो सकती है। गीतामें भगवान्ने योगीकी बहुत प्रशंसा की है। यहाँतक कि उन्होंने योगीको तपसी, जानी और कर्मसे भी बढ़कर बताया है—

तपस्यिभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि भर्तोऽधिकः।
कर्मस्यश्चाधिको योगी तस्माज्ञोगी भवार्जुनः॥
(६। ४६)

एक दूसरी जगह वे कहते हैं—

'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।'
(गीता १३। २४)

'कई लोग ध्यानके द्वारा आत्माका अपने अन्तःकरणमें साक्षात्कार करते हैं।' अतः भगवत्प्राप्तिका सर्वोत्तम उपाय योग ही है। इसीका निरूपण करनेके लिये महर्षि पतञ्जलिने योगदूननामक एक स्वतन्त्र दर्शनकी रचना की थी। उसमें—

'यमनियमात्मनप्राणात्मामप्याहारधारणाध्यानसमाध्यो-
श्चावहानि।'
(२। २३)

इस सूत्रद्वारा यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार

धारणा, ध्यान और समाधि—ये योगके आठ अङ्ग बताये हैं। इससे पहले सूक्तमें इनके अनुशासनका फल बताया है—‘योगाज्ञान-षट्कानादसुदिक्षये शानदीसिता विवेकव्यादेः’—‘योगके अज्ञोंका अनुशासन करनेसे अच्छुदि दूर होनेपर विवेकव्यातिर्यन्त शानका विकास हो जाता है।’ इन योगाज्ञोंमें सबसे अन्तिम समाधि है, यही योगसाधनकी सर्वोत्कृष्ट सीढ़ी है। इसकी उपयोगिता और महिमाका वर्णन जगह-जगह किया गया है। भगवान् शङ्कराचार्यजी समाधिसुखको वाणीका अविषय और केवल अनुभवमात्र ही बताते हैं—

समाधिनिर्धूतमलक्ष्य
विवेकित्वात्मनि यस्तु स्वं भवेत् ।
न शक्यते वर्णयितुं निरा तदा
स्वयं तदमृतकरणेन गृहते ॥
(विवेकनूडामणि)

अतः योग ही भगवत्प्राप्तिका सर्वोत्तम ताथन निश्चित होता है।

अधिकारिनिर्णय—अब विचार यह करना है कि इस योगसाधनाके अधिकारी कौन हैं। वस्तुतः भगवत्प्राप्तिकी योग्यता तो मनुष्यमात्रमें है। मनुष्ययोनि है ही साधनाद्वारा भगवान्का साक्षात्कार कर लेनेके लिये। अतः मनुष्यमात्र इसका अधिकारी है। किन्तु ‘मनुष्य’ का अर्थ केवल पुरुष ही नहीं है, ‘प्रात्वा कर्मणि सीव्यतीति मनुष्याः’ इस व्युत्पत्ति-के अनुसार जियों भी मनुष्य ही हैं। अतः जियोंको भी योगसाधनाका वैता ही अधिकार है जैसा कि पुरुषोंको। हम सभी भगवान्के पुत्र और पुत्रियाँ हैं, अतएव उनके पास पहुँचनेके लिये किसीको रक्षावट करों। परम पिता परमात्मा तो वहे व्यापी हैं, उन्हें कोई पक्षपात कैरे हो सकता है। वे तो अपनी पुत्रियोंको पुत्रोंकी अपेक्षा भी अधिक प्यार करते हैं।

कुछ लोगोंका विचार है कि जियों तो मन्दमति, अपवित्र और अब्रला हैं; उनमें भगवद्भजनकी योग्यता नहीं है और न उनका योगार्थमें प्रवेश ही हो सकता है। परन्तु ऐसी बातोंमें सार कुछ भी नहीं है। शारीरिक हृषिसे तो छी-पुरुष सभी अपवित्र हैं, सभीके शरीरोंमें हड्डी, मांस, बधिर आदि अपवित्र वस्तुएँ ही भरी रुही हैं। परन्तु यदि पुरुषोंके समान जियोंमें भी भगवत्प्राक्षात्कारकी उत्कृष्टा और योग्यता है तो वे भी उसके अधिकारसे विश्वित कैसे की जा सकती

हैं। साधनमें तो अद्वा और सरलतासे ही अधिक सफलता मिल सकती है और वे गुण बुद्धिप्रधान पुरुषोंकी अपेक्षा हृदयप्रधान नारियोंमें अधिक हैं। इसलिये कोई कारण नहीं कि जियोंको साधनमें सफलता न मिले। जी कोई ऐसी धृणित वस्तु नहीं है, वृणाके योग्य तो पुरुषोंकी अपनी ही भोग-लिप्यासे उत्पन्न हुई उनके प्रति आसक्त ही है। यदि जीरूप और जीनामें ही कोई दोष होता तो साक्षात् श्रीभगवान् ही जगजननी दुर्गाके रूपमें क्यों पूजे जाते? और भावुक भक्त उन्हें ‘करणमामी माँ’ कहकर क्यों पुकारते? भगवान्ने तो स्वयं गीतमें कहा है—

‘कीर्तिः श्रीबांक्न नारीणां सृतिर्मेदा चतुः श्वमा ॥’
(१०। ३४)

‘मैं जियोंमें कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और श्वमा हूँ।’ जिस प्रकार ये त्रैत देवियाँ भगवान्की विभूति हैं वैसे ही साधना देवी भी तो छी ही हैं। वे स्नेह और श्रद्धारे स्वामत करनेवाली अपनी सजातीया नारियोंसे दूर-दूर रहना ही क्यों चाहेंगी? अतः भगवत्प्राप्तिके लिये किसी जातिविशेष या लिङ्गविशेषकी आवश्यकता नहीं है, ‘न लिङ्गं धर्मकारणम्।’ भगवान्को तो जो निष्ठलभावसे भजता है, वही प्यारा है यो मद्रक्तः स मे प्रियः। यीतामें वे स्वयं कह रहे हैं—

मां हि पार्थं व्यप्तश्चित्य वेऽपि स्युः पापवोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्त्वा शूद्रास्तेऽपि वान्नितं परां गतिश् ॥

(९। ३२)

‘हे पार्थ! मेरा आश्रय लेकर तो जो परमयोनियाँ तथा छी, वैश्य और शूद्र हैं, वे भी परमगति लाभ कर लेते हैं।’ इससे अधिक भगवान्के भजन और भगवत्प्राप्तिमें सबका अधिकार धोषित करनेवाली और कौन विविध होगी? अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि जियोंको भी ब्रह्माशनका पूर्ण अधिकार है। ‘दे भगवान् भी पुरुषकी अपेक्षा छीकी उत्कृष्टता धोषित करते हुए कहते हैं—

‘दत्तत्वा छी शक्तिपसी पुंसो भवति वस्यते। अदेवत्राद्वारावसः।’
(क० ५। ५। ६३। ६)

‘(उत) यह प्रसिद्ध है कि (अदेवत्राद्) देशार्चन-हीन और (अराधतः) ईश्वराराधन न करनेवाले (पुंसः) पुरुषसे (छी) छी (शशीयसी) प्रशस्तर और (वस्त्री) अधिक धर्मनिष्ठ होती है।’

इन सब बातोंसे निश्चय होता है कि साधनाका अधिकारी कोई लिङ्गविशेष नहीं है, अपितु पवित्रता ही साधनाकी सीढ़ी है। वह चाहे पुरुषमें हो चाहे ज्याँमें।

गृहस्थाश्रम और साधना—बहुत लोगोंका विचार है कि गृहस्थाश्रम साधनमें वापक होता है, परन्तु बात देसी नहीं है। एक अनुकूल साथीके मिल जानेवे तो किसी भी भार्यामें अप्रसर होनेमें सुविधा ही रहती है। अतः यदि ज्याँ और पुरुष परस्पर विवाहबन्धनमें बँधकर भगवप्राप्तिको ही अपना लक्ष्य बनाकर चलें तो अपनी संयुक्तशक्तिसे तो वे अकेलेकी अपेक्षा अधिक सरलतासे ही संसारको पार कर सकते हैं। येशभगवान् भी कहते हैं—

‘या दृष्ट्यासि समनस्या सुनुत आ च धावतः। वेदासो निरव्यथादिरा’

(वा० ८।५।३१५)

जो दृष्टि एक साथ एकमन होकर प्रार्थना-उपासनाके द्वारा परमात्माके निकट जाते हैं, उन्हें कदमपि छोड़ा पीड़ित नहीं करते। अतः विवाहबन्धनसे तो हम सब प्रकारने लौकिक और पारलौकिक बन्धनोंको सुरामातसे खोल सकनेके लिये ही बँधते हैं—भोगोंमें बँधनेके लिये नहीं।

गृहस्थाश्रम एक प्रकारका शिक्षालय है। यहाँ मनुष्य प्रेम करना सीखता है। ज्याँको पति और मांको बचा दे दिया जाता है और कहा जाता है कि ‘लो इसर अभ्यास करो, किर इस अन्यत व्रेमको पवित्रोंके पति परमात्मापर आरोपित कर देना।’ इस प्रकार इस पठशालामें रहकर ज्याँ और पुरुष प्रभुप्रेमका ही पाठ पढ़ते हैं।

साधनकी सुविधा भी गृहस्थाश्रममें कम नहीं है। यहाँ ज्याँ और पुरुषके कार्योंका विभाग ही जानेके कारण उनकी जिम्मेवारीका ओहा भी हल्का हो जाता है। पुरुष धरकी चिन्तासे मुक्त होकर द्रव्योपार्जन करता है और ज्याँ धनसंग्रहकी चिन्तासे छूटकर धरका प्रबन्ध कर लेती है। उसे किसी प्रकारकी अर्थिक चिन्ता नहीं रहती। चित्तकी एकाभ्यासमें निश्चिन्ताकी जड़ी आवश्यकता है। इसके सिवा बरहीके भीतर रहनेसे उसे बहुत-सी संतारी बातोंको सुननेका भी अवसर नहीं मिलता तथा साधनके लिये समय भी खूब मिल जाता है। भगवान्को द्वृढ़नेके लिये तो कहीं बाहर जानेकी आवश्यकता है नहीं। वे तो सर्वत्र विराजमान हैं। ऐसा कौन-सा स्वल्प है जहाँ उनका अस्तित्व नहीं है। अतः भारतीय नारियोंका इधर-उधर

न भटककर धरमें रहना भी उनकी साधनके लिये तो सदायक ही है। भगवान् कहीं बाहर नहीं हैं, वे तो हमारे अन्तःकरणोंमें ही विराज रहे हैं। हम उन्हें इन चर्चन्चक्षुओं-से नहीं देख सकते। उन्हें देखनेके लिये तो मन-मन्दिरके कपाडोंको खोलनेकी आवश्यकता है। जब उन्हें खोलकर हम शानदीपकसे देखेंगे तभी उनकी जाँकी होगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि छियोंके पास साधनोंकी कमी नहीं है, कमी है साधनाकी, जिससे वे ब्रह्मशान प्राप्त करके उस स्थितिपर पहुँच जायें। जिसले, ये सांसारिक भोग तो क्या, देवताओंके ‘इह आस्यताम्, इह रम्यताम्, कमनीयोऽप्य भोगः’ हृत्यादि प्रश्नोभन भी हमें तिलभर विचलित न कर सके।

शिक्षा और साधना—हमारे देशकी छियाँ प्राप्तः पदी-लिली बहुत कम हैं। अतः किन्हीं-किन्हीं विद्वानोंका विचार है कि हम साधना कैसे कर सकती हैं, हम कुछ जानती तो हैं नहीं। परन्तु वे सब मानें कि जिन्हें वे पदी-लिली और समद्वार समझती हैं, वे इस विद्यासे कोसों दूर हैं। बहुत सम्भव है उनकी अपेक्षा तो, जिन्हें आजकलकी भाषामें अशिक्षिता कहा जाता है वे बहिनें इस दिवायां अधिक उत्तमि कर सकें, क्योंकि इनकी अपेक्षा उनमें अद्वा और दृढ़ अध्यवसायकी भात्रा अधिक है। इन लौकिक भाषाओंको कितना ही सीख लो अध्यात्मकी ओर बढ़नेमें तो इनका मूल शूल्यके ही वरावर है। सीखना तो उस एक ही विद्याको चाहिये, जिसे जान लेनेपर सब कुछ जान लिया जाता है। ‘यस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।’ उसका नाम है ‘ब्रह्मविद्या।’

कुछ उदाहरण—यह बात कभी नहीं समझनी चाहिये कि छियाँ ब्रह्मशान नहीं पा सकतीं। इतिहासमें इसके अनेकों उदाहरण हैं। महाराज जनककी ब्रह्मसंदर्भमें जब याशवस्त्वने अपनेको सबसे बड़ा ब्रह्मशानी घोषित करनेके लिये अपने शिष्योंको गौएँ ले जानेकी आज्ञा दी तो ब्रह्मवादिनी गार्गीने उस समय उससे जैसे-जैसे प्रसन्न किये हैं उनसे उसकी ब्रह्मशाना स्पष्ट सिद्ध होती है। भगवान् शङ्कर-नार्य और उनकी मध्यस्थिति करनेवाली भारती ब्रह्मविद्याशूल्य हो—यह सम्भव नहीं है। भारती स्त्रीं मण्डन-मिश्रजीकी ज्याँ थी—गार्हस्थ्यधर्मका ही पालन करती थी।

फिर भी वह पूर्ण ब्रह्मवेर्णी थी। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि गहस्याभ्रम ब्रह्मशानमें वाष्पक नहीं है।

सुलभा-ब्रह्मवादिनी थी—यह तो प्रसिद्ध ही है। वह ब्रह्मशा होनेरर भी गहस्याभ्रममें प्रवेश करनेको तैयार थी। इसलिये नहीं कि उसे सांसारिक भोगोंकी इच्छा थी, अपितु इसलिये कि मैं अपनेते अधिक ब्रह्मनिष्ठ पति पाकर अपनी निष्ठाको और भी सुट्ट बना लकूँ। किन्तु ऐसा कोई ब्रह्मनिष्ठ वर न मिलनेए ही वह ब्रह्मचारिणी रही। इसी प्रकार लोपामुदा आदि और भी कई भद्रिलाएँ अपनी ब्रह्मनिष्ठाके लिये प्रसिद्ध हैं। इसलिये यह कहना ठीक नहीं कि जियाँ ब्रह्मशान प्राप्त नहीं कर सकतीं। जियाँ तो जगजननी हैं, वे ही सबकी आदिगुरु हैं। यदि उनमें ब्रह्मशानकी योग्यता नहीं होगी तो औरंगेमें आवेदी कहाँसे?

ब्रह्मशानके अनविकारी—तो फिर इसके अनविकारी कौन है? इस विषयमें उपनिषदें कहती हैं—

नाविरतो दुश्चरितवाङ्मास्तो नासमाहितः।

नाशास्तमानसो वापि प्रक्षावेनेमानुयाद्॥

(कठ० १। २। २४)

‘जो व्यक्ति दुरान्वारसे दूर नहीं रहता, जो अशान्त है, जिसका मन चञ्चल है और जो अशान्तचित्त है वह इसे शानपूर्वक प्राप्त नहीं कर सकता।’ इसके लिया भगवान् कहते हैं—

नायदनतस्तु योगोऽप्ति न चैकनन्तमनन्तः।

न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन्॥

(गीता ६। १६)

‘जो अधिक खानेवाला है अथवा जो बिल्कुल नहीं खाता तथा जो बहुत सोता है और जो जागता ही रहता है, उससे योग नहीं हो सकता।’ तात्पर्य यह कि जिसका जीवन असंबंध और अनियमित होता है, वह योगसाधनमें विद्येष उप्रति नहीं कर सकता। अतः स्त्री ही अथवा पुरुष जो—अशान्त, असंयमी और चञ्चलचित्त है, वही योगका अनविकारी है और उसीको ब्रह्मविदा भी नहीं मिल सकती।

उपसंहार—इससे निश्चय होता है कि जिन्हें योगमार्गमें

चलना हो उन्हें अपने जीवनको नियमित बनाना चाहिये। जो नियमसे काम करता है, उसे ही सर्वत्र सिद्धि प्राप्त होती है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।

युक्तस्वप्नावबोधस्य व्योगो भवति दुःखहा ॥

(गीता ६। १७)

जिसका आहार-विहार नियमित होता है और जिसकी कर्मोंमें भी नियमित प्रवृत्ति होती है तथा जो नियमानुसार सेवा और जागता है उसीको दुःखहारी योगकी प्राप्ति हो सकती है।

अतः स्त्री ही अथवा पुरुष जो नियमनिष्ठ है, उसीको योगभी बरमाला पहनाती है। इसलिये माताओं और बहिनोंको चाहिये कि अपने जीत्यको हेयद्विषे न देखकर जीवनको नियमित बनावें। बरहीमें रहते हुए घरके सब कामोंको नियमसूत्रमें बाँधें और योगसाधनाद्वारा ब्रह्मको प्राप्त करें। यदि जियाँ ही इस ओर प्रवृत्त न होंगी तो होगा कौन? उन्हींके संस्कार तो बच्चोंमें भी आवेगे। अतः मानवजातिमें ब्रह्मविद्याका प्रसार करनेके लिये माताओं-को स्वयं ब्रह्मशान प्राप्त करके अपनी सन्ततिको ब्रह्मविद्या प्रदान करनी चाहिये। देखिये, मदाल्पसने अपने चारों पुत्रोंको ब्रह्मशानी बनाया था। मैं तो वह कही है, जिससे उसी प्रकारके कई बीज निकलेंगे। अतः उसके लिये तो पुरुषोंकी अपेक्षा भी साधनाकी अधिक आवश्यकता है। यद्यपि नारीका जीवन ही साधनामय है, उसने अपने पति, पुत्र एवं अन्यान्य सम्बन्धियोंके लिये अपना क्या नहीं दे सकता है? इस प्रकार आत्मोत्सर्गपूर्वक सेवाधर्मको निभाते हुए यद्यपि उसने परम पिता परमात्माके आदेशका खब अच्छी तरह समरण रखला और पालन किया है, तथापि इस आज्ञापालनके साथ इसें उस पिताको भी नहीं भूल जाना चाहिये। जब हम पिताकी आश्रयोंका पालन करती हुई उनके पाल जाकर कहेंगी, ‘पिता, बजा आये तेरे आदेशको?’ तो क्या पिता झट इमें गोदमें उठाकर प्यार न करेंगे? उस समय हमें क्या मिलेगा? ‘आनन्द! आनन्द! परम आनन्द!’

संतमतमें साधना

(लेखक—श्रीसम्पूर्णनन्दजी)

भारतके भार्मिक जगत्के इतिहासमें संतमतका एक विशेष स्थान है। संतमत उस प्रकारका सम्प्रदाय नहीं है, जैसे कि वहाँम या मध्यया किसी एक पुष्पद्वारा प्रवर्तित दूसरे सम्प्रदाय है; वह एक धारा है जो आजसे लगभग पाँच सौ वर्ष पहले प्रकट हुई और अबतक वह रही है। सभसे पहले उसके सम्बन्धमें कवीर साहबका नाम उल्लेख है; फिर नानक, दादू, दरिया, चरणदास, सहजोबाई, गरीबदास, पल्लदास, महादास आदिने अपने-अपने सम्बन्धमें इस धाराको पुष्ट किया। बहुत-से अंग्रेजोंकी और उनकी माँति सोचनेवाले कुछ भारतीय विद्वानोंकी यह राय है कि संतमत एक संप्रहास्मक (eclectic) सम्प्रदाय है, जिसमें कुछ बातें हिंदूधर्म और कुछ बातें इस्लाम-से लेकर मिला दी गयी हैं। ये लोग संतोंको सुधारकमात्र मानते हैं। उनका ख्याल है कि हिंदू-मुस्लिमानोंके आपसी संगड़ोंको और दीनोंमें प्रचलित कुरीतियोंको देखकर कुछ दवालु ईश्वरभक्तोंने समाजके कल्याणके लिये एक सरल मार्ग निकाला, जिसपर दोनों सम्प्रदाय मिल-जुलकर चल सकें। उन्होंने एक ईश्वरी भक्तिका उपदेश किया, छुआछूत और जात-पाँतकी निन्दा की; भूत-प्रेतकी पूजा, कुर्बानी, बलिदान आदिका निषेध किया; पीर, औलिया, कब्रकी बन्दना-से लोगोंको रोका; सदाचारकी महिमा बतलायी, हिंदू-मुस्लिमान-को मिल-जुलकर रहना सिखाया। इनमें कई अव्याहार थे, कुछ जन्मना हिंदू भी नहीं थे। संस्कृत तो इनमेंसे स्थान ही कोई जानता था, इसलिये इन्होंने अपने उपदेश हिन्दीमें दिये। इस कारण पण्डितवर्यों तो इनसे अप्रसन्न हुआ, पर जनतामें खूब प्रचार हुआ।

ये बातें कुछ हृदयक सच हैं। संतोंने निःसन्देह एक ईश्वरकी निष्ठा सिखायी, कुरीतियोंका निषेध किया, ऐदुर्दिका खण्डन किया। पर इसका कारण यह नहीं था कि वे समाज-सुधारक थे। वे संत थे और संतोंके उपदेशोंमें वे बातें स्वभावतः अजाती हैं। इसके लिये उनको दस धर्मोंकी पौरियोंसे सामग्री जुटाकर भानमतीका कुनबा जोड़नेकी आवश्यकता नहीं पड़ती।

भारतमें मुस्लिमानी शाखनकी स्थापनाने एक विचित्र परिस्थिति उत्पन्न कर दी। हिंदूओंका राज्य चला गया,

स.० अ.० ४८

उनका गौरव नष्ट हो गया, विभूति लुट गयी; देवस्थान भ्रष्ट हो गये, स्वाभिमान जाता रहा। विद्या और कलाके लिये स्फूर्तिका द्वार बंद हो गया। मौलिक रचनाओंकी जगह टीकाकान्योंने ली, जीवित काव्योंके स्थानमें परतन्त्र रजवाइँके दरबारोंमें पलनेवाली अधम कौटिकी शृङ्खारी तुक-बंदीकी थैली फट पड़ी। जो जाति ऐसी आपत्ति अवस्थामें पढ़ जाय, उसकी अव्योगतिका रुक्ना कठिन होता है; उसका तो शतमुख विनिपात अवश्यमात्री हो जाता है। पर अभी हिंदूजातिके दिन अच्छे थे, उसकी आत्माकी अमर ज्योति नष्ट नहीं हुई थी। उसमेंसे दो किरणें निकलीं, जिन्होंने अंगरें धरोंके फिरसे प्रकाशित किया और मृतप्राणियोंको अमृत पिलाकर पुनरुज्जीवित किया।

एक किरण तो भक्तिमार्गकी थी। इस मार्गको तुलसी, सूर, मीरा आदिने प्रशस्त किया। दुर्बलोंसे कहा गया कि हिम्मत भत हरो, तुम्हारा बल मगवान् है। यहाँ तुम्हारी कोई न सुनें; पर वह तो सदा तुम्हारे पास है, तुम्हारे तुःख-सुखका साक्षी है, तुम्हारी सुनता है, तुम्हारी भक्तिपर रीक्षकर तुम्हारे लिये सब कुछ करता और कर सकता है। जो आज विजित थे उनको उनके पूर्वजोंके, राम और कृष्णके, गौरवकी स्मृति दिलायी गयी; याँश्चमध्यर्थकी मयोदा रखते हुए, ऊँच-नीच सभीके सम्में भक्तिका थाल परसा गया। उपदेशीकी भाषा हिन्दी थी, इसलिये सबने ही इस रसका आसादान किया। कुछ मुस्लिमान कुलोंमें उत्पन्न व्यक्तियोंतकार इसका प्रभाव पड़ा। दीन-दुर्विद्या हिंदूजाति मरते-मरते बच गयी। मैं इस विषयपर विस्तारसे यहाँ नहीं लिख सकता; पर इतिहासने ऐसा कहा वार दिखलाया है कि विजित, दरिद्र, दुखी जातियोंमें भक्तिसम्प्रदाय और भक्तिसाहित्यका उदय हुआ है। जितना भक्तिसाहित्य हमारे देशमें पिछले चार-पाँच सौ वर्षोंमें निकला है, उतना पहले कभी नहीं बना। स्वतन्त्र आयोंके, जो सभ्य जगत्के गुरु और विशाल साधार्योंके सामी थे, मुझसे यह गाना कम ही निकल सकता था—‘निर्बल के बल राम’। जो स्वयं बली था, वह उपासनाकालमें भी अपनेको भूल नहीं सकता था। इसका प्रभाव उन ओजस्ती मन्त्रोंमें मिलता है, जिनमें धैरिक आर्थ इन्द्रांदिसे बल था विजयका वरदान

माँगते हैं। जहाँ भक्तिकालीन हिंदू रोता-गिरगिराता है, वहाँ वैदिक आर्य इस प्रकार बात करता है जैसे कोई अपने हक्कों माँग रहा हो और लेकर छोड़नेकी सामर्थ्य रखता हो।

जातिकी आत्मासे जो दूसरी किरण निकली, उसका ही नाम संतमत है। इस आकाशके कुछ नक्षत्रोंके नाम मैं ऊपर गिना चुका हूँ। यही योग संत कहलते हैं। इन्होंने सुरुण-साकारकी उपासनाके स्थानमें निर्मुण-उपासना, योग और ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया। यों तो भक्तिमार्गमें भी ऊँच-नीचका भेद नहीं होना चाहिये; परिं भी उसमें जिन साधनोंका प्राप्त: काम पड़ता है—मन्दिर, पूजाको सामग्री आदि—वह बहुतोंको अप्राप्य है। तुलसीदासजीने कलियुगके लक्षणोंका वर्णन करते हुए शुद्धोंके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा है, उससे यह प्रतीत होती है कि इन वडे आचारोंके भाव क्या थे। पर योगाभ्यासके लिये तो कोई बाहरी साधन नहीं चाहिये। पूजाकी सामग्रीके लिये वैसे नहीं चाहिये। इसलिये यह मार्ग सचमुच सबके लिये सुलभ, सुगम है। कठिन अवश्य है, पर सच्ची भक्ति भी तो कोई दिल्लीकी चीज़ न होगी। इसलिये इधरकी ओर अधिक व्यापक आकर्षण हुआ। नाई, धोबी, लूलाहा, मोजी, जम्मके मुसलमान भी आये; ऊँची जातियाले भी आये।

इस मार्गमें एक और विशेषता थी। सच्चा जीवन केवल चुपचाप साँस लेनेमें नहीं है। उसका लक्षण है जाग्यति, क्रियाशीलता। सजीव प्राणी इस आसरे नहीं बैठा रहता कि कोई सुकापर आकर्षण करे तो मैं अपनेको किसी प्रकार बचा दूँ; वह आक्रमणकारीपर आये बढ़कर आकर्षण करता है। भक्तिमार्गने मुमूर्ख हिंदूजातिमें जान डाली, संतमतमें सक्रियता प्रदान की। केवल अपने कोनेमें पड़े रहनेके बदले मुसलमानोंके दोषोंका खुलकर निरदर्शन होने लगा। योगीमें बल होता है, आत्मविश्वास होता है। उसकी व्याधीमें अपूर्व शक्ति होती है। इससे जनतामें भी आत्मनिर्भरता आयी। उसी आत्मनिर्भरताकी एक कली सिंख-सङ्घठन और भद्रारजा-रणजीतसिंहके राज्यके रूपमें खिली।

इन बातोंके साथ ही दो और बातोंको भूल न जाना चाहिये। संतमत और भक्तिमार्ग कोई नये आविष्कार न थे। दोनोंकी परम्परा बहुत ही प्राचीन कालसे चली आ रही है। इसके अतिरिक्त यह भी सरण रखना चाहिये कि दोनों-

के बीच कोई ऐसी ऊँची दीवार न थी, जो एक मार्गको दूसरे मार्गसे बिल्कुल दृथक् कर दे। पतञ्जलिने ‘ईश्वरविद्यानान्दा’ सूत्रमें ईश्वरविद्यनको भी योगका एक मार्ग माना है। जो योगाभ्यासके मार्गपर आरुद्ध होगा उसमें भी उन अद्यादि गुणोंका होना आवश्यक है, जो भक्तिके लक्षण हैं; भक्तको जब एकाग्रता प्राप्त होगी, तब उसको भी जैसे ही अनुभव होगे, जैसे कि योगीको होते हैं। इस बातका प्रमाण हमको अपने यहाँके आध्यात्मिक साहित्यमें पूरा-पूरा मिलता है। एक ओर तो संतमतके आचारोंकी रचनाओंमें भक्तिभावसे ओतशेत बाक्य मिलते हैं, दूसरी ओर भक्तिसम्प्रदायके प्रवर्तकोंके प्रनयोंमें योगके अनुभवकी झलक आती है। उदाहरणके लिये नीचे दी अवतरण देता हूँ।

पहला कवीर साहबके प्रधान वैष्णव धर्मदातजीकी रचना है।

दरसन दीनै नाम सनेही । तुम बिन दुख पावे भरी देही
दुखित तुम बिन रटन निस दिन, प्रगट दरसन दीनिये ।
बिनति सुन, प्रिय स्वमियै । बल जाँ बिलैब न कीये ।
अन्न न भावै, नैद न आवै, बार बार महिं बिरह सतवै ॥
बिबिन बिनि हम भई ब्याकुल, बिन देख जिव ना रहे ।
तपत तन, जिव उठत जलास, कठिन दुख अन को सहै ॥
नैनन चलत सजन जलथारा, निस दिन पंथ निहाहै तुम्हारा ॥

—इत्यादि

दूसरा मुरसागरसे लिया गया है—

अपुनपौ आपुनही में पायो ।
सन्दहि सन्द भयो उनियाँसि सतगुरु भेद बतायो ॥
सुदास समुझे की यह मति मनही मन मुसकायो ।
कहि न जाय या सुखकी महिमा ज्यो मैंगु ढ़खायो ॥

भक्तिमार्ग संतमतसे पहले चल चुका था। उसने जो वैष्णव वातावरण पैदा कर दिया था, उसका प्रभाव संतोंपर भी पड़ा था। उन्होंने भी ईश्वरके लिये विष्णुके पर्वत्य हरि, माघव, गोपाल, राम आदि शब्दोंका प्रयोग किया है। इसका एक कारण यह भी था कि कवीर साहबने, जो आदि संत कहलाते हैं, प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य रामनन्दजीसे पहले-पहले दीक्षा प्राप्त की थी।

जहाँतक आध्यात्मिक उद्धरन्तकी बात है, संत लोग प्राप्त: सभी शाश्वत अद्वैतमतको मानते थे। ‘प्राप्तः’ मैंने इसलिये कहा है कि किसी-किसीने शुद्धाद्वैत मत और विशिष्टाद्वैत मतका भी प्रतिपादन किया है; द्वैतवादी इनमेंसे कोई भी

न था । इस लेखमें संतोंके दार्शनिक विचारोंकी विवेचना करना अप्रासङ्गिक होगा, क्योंकि इसका मूल विषय साधना है; किंतु भी उदाहरणके लिये मैं कुछ अवतरण देता हूँ । सुन्दरदासजी कहते हैं—

ब्रह्म निरीह निरामय निर्मुच, नित्य निरंजन और न भासे ।
ब्रह्म असंदित है अथ करण, ब्रह्म हीतर ब्रह्म प्रकाशे ॥
ब्रह्म हि सूच्छम स्थूल जहाँ ली, ब्रह्म हि साहब, ब्रह्म हि दासे ।
सुंदर और कालू भट जानहु, ब्रह्म हि देखत ब्रह्म तमासे ॥

एक जगह पलटदासजी कहते हैं—

कोटिन तुग पड़े भई, हमहीं सिरजनहार ।
हमहीं सिरजनहार, हमहीं करता के करता,
अकर करता ताम, आदि में हमहीं रहता ॥

—इत्यादि

यह वही भाव है, जो छान्दोग्य उपनिषदमें ‘अहं मनु-रभवं सूर्यभ्य’ इत्यादिसे व्यक्त किया गया है ।

दादूदयालजी कहते हैं—

तन भन नाहीं, मैं नहीं, नहीं माया, नहिं जीव ।
दादू पक्के देखिए, दह दिस मेरा पीर ॥

जीवन्मुक्तके वर्णन अनेक स्थलोंपर आये हैं । दृष्टान्तके स्परमें मैं उनमेंसे दोको उद्भूत करता हूँ । पहलेमें चरणदास-जी कहते हैं—

जब हो एक दूसरा नामै ।
बंध गुकिकी रहे न साँसै ॥
मृतक अवस्था जीत्रत आई ।
करम रहित अस्मिर गति पाई ॥
जब कोइ मितर, कैरी नाहीं ।
पाप पुण्य की पौरे न छाँही ॥
म्यान दसा ऐसी करि गाई ।
चरणदास सुकदेव बताई ॥

दूसरेमें कवीरसाहब यों कहते हैं—

भर्तृ, कोई सत्तगुरु संत कहावै, नैन अलख लखावै ।
दोस्रत डिंगे न बोलत बिसरे, जब उपेदस ढङ्गावै ॥
प्रान पूज्य किरिया ते न्यारा, सहज समाधि सिखावै ।
द्यार न हैं, पवन न रोके, नहिं अमहूद अरुकावै ॥
यह मन जाय जहाँ लग, जबहीं परमात्म दरसावै ।

करम कौर निकरम रहै, जो ऐसी जुमल लखावै ॥

सदा बिलास जास नहिं मन में, भोग में जीव जगावै ।

—इत्यादि

एकावको छोड़कर संतोंने निष्ठितरूपसे पुस्तकें नहीं लिखी हैं । उनको कुछ स्फुट रचनाएँ मिलती हैं, जिनको समय-समयपर उनके शिष्योंने लिख लिया था । इनमेंसे जो गाने लायक हैं उनको ‘शब्द’ तथा शेषको—जो प्रायः दोहा, सोरठा आदि छन्दोंमें हैं—‘साखी’ कहते हैं ।

‘अब मैं इस लेखके मूल विषय ‘साधना’ की ओर आता हूँ । इतना तो पहले भी सङ्केत किया जा चुका है कि ये लोग योगाभ्यासको मोक्षका साधन प्रतिपादित करते हैं । पतञ्जलिके अनुसार ‘अथ्यासवैराग्याभ्यां तज्ज्ञोधः’ अर्थात् अभ्यास और वैराग्यसे चित्तकी दृष्टिका निरोध होता है, दूसरे शब्दोंमें योगमें सिद्धि प्राप्त होती है । वैराग्यका उपदेश देनेवाले पद संतोंकी वानियोंमें भरे पड़े हैं । मैं केवल एक उदाहरण देना पर्याप्त समझता हूँ—

नाहक गर्व करे हो अंतिं खाक में मिलि जायगा ।
दिना चारि को रंग कुमुख है, मैं मैं करि दिन जायगा ॥
बालुक भंडिल ढहत भार नहिं, फिर थाडे पठितायगा ।
गचि रचि भंडिल कलक बनाये, तो घर कियो है अबसा ॥
घर में चौरैनै दिन मूसहिं, कहुँ कहाँ है बासा ।
पहिरि पट्टबर भयो लालिला, बन्यो छैल मदमता ॥
मैंकी ज्वर फिरे सिर झपर, छिन मे करै निपाता ।
नेकु धीर नहिं धौर बालरे, धौर धौर चित जाते ॥
देवहर पूजत तीर्थ नेम ब्रत, फोकट को रंग रते ।
कासे कहैं, कोउ संग न साथी, खलक संवै हैराना ॥
कहैं गुलाल संत पुर बसी, जम जीतो है दिवाना ॥

वैराग्यवृत्तिको हड़ रखनेमें सत्सङ्गसे बड़ी सहायता मिलती है । इस सम्बन्धमें उदाहरणके लिये चरणदासजीकी एक साखीको उद्ध्वत करना काफी होगा—

तप के बरस हजार हैं, सतसंगति धड़ि एक ।
तौ मी सदबरि ना करै सुकंदव किंश लिंग ॥

बिना एक अच्छे गुरुकी सहायताके योगाभ्यास करना और उसमें सफलता प्राप्त करना यदि असम्भव नहीं तो बहुत कठिन अवश्य है । बहुत-सी ऐसी बातें हैं, जिनको अनुभवी व्यक्ति ही समझा सकता है; बहुत-सी ऐसी भूलें हैं, जिनको वही दूर कर सकता है । कभी-कभी तो गलती कर-

हेनेसे योगाभ्याससे शरीर और मस्तिष्कके लिये भयावह परिणाम लड़े हो सकते हैं। उपनिषद्का उपदेश है—‘स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्याणिः श्रोतिवं ब्रह्मनिष्ठम्।’ दुःखकी बात यह है कि आजकल ‘गुरु’ शब्द तो चारों ओर सारामारा फिरता है; परन्तु इस बातकी छानवीन नहीं की जाती कि जो लोग गुरु बनते हैं, वे ब्रह्मनिष्ठ हैं भी या नहीं। यदि सौभाग्यसे सदगुरु मिल जायें तो फिर यह पुराना वाक्य सर्वथा सारथक होता है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।

तस्यैते कथिते श्वर्थोः प्रकाशन्ते महाप्रमनः ॥

संतोने सदगुरु-महिमामें सच्चमुच कलम तोड़ दी है। यहाँपर तो केवल योहेसे ही उदाहरण दिये जा सकते हैं—
बिनु सद्गुरु कोउ भेद न पावा । भरती से आकास तौ धावा ॥
(बजहन)

दादू काहै काल मुख, अधे लोचन देझ ।

दादू ऐसा गुरु मिल्या, जीव ब्रह्म करि लेझ ॥ (दादू)

गुरु चरनन पर तन मन बालै । गुरु न तजूँ, हरि को तजि ढालै ॥
(सहजोर्दाई)

सतगुरु आदि अनादि है, सतगुरु मध अरु मूरू ।

सतगुरु हैं सिजदा करै, एक फलक नहिं भूए ॥

(रीविदास)

सतगुरु मारा बान भरि, डोला नहिं सरीए ।
कहु चुंबक क्या कर सकै, सुख लाए दोहि तीर ॥
सतगुरु मारा तानकर, सब्द सुरंगी बान ।
मेरा मारा फिर जियै, तो हाथ न गहँ कमान ॥

(कर्वर)

ऐसा सदगुरु धन इत्यादिका भूत्वा नहीं होता। वह जिसको अधिकारी समझेगा, उसको अवश्य ही सदुपदेश प्रदान करेगा। जो शिष्य बननेका हैैसल रखता हो, उसमें अटल अद्भा और अग्रह धीरता होनी चाहिये। उसको पलटू साहब वह परामर्श देते हैं—

पढ़ा रहै संत के द्वारे, धका धनी का स्थाय ।

कन्हूँ तो धनी निवाजिहैं, काज सहज हो जाय ॥

पतञ्जलिने योगको अष्टाङ्ग कहा है। कुछ लोग उसको इस कारण पठड़ भी कहते हैं कि यम और नियम केवल

योगी ही नहीं वरं मनुष्यमात्रके लिये उपयोगी हैं। तोने विशेषरूपसे योगकी कोई पोयी तो लिखी नहीं है, इसलिये पठड़-अष्टाङ्गका शास्त्रीय विवेचन भी उन्होंने नहीं किया है। परन्तु जो बातें यम-नियममें परिणित हैं, इनपर उन्होंने बहुत जोर दिया है। उदाहरणस्वरूप कवीरकी कुछ साक्षियाँ देता हूँ—

जूआ, चोरी, मसखी, व्याज, धूस, घर नार ।

जो चाहै दीदार को, एती बस्तु-निवार ॥

कामी, कोषी, लालची, इन से भक्ति न होय ।

भक्ति कौरे कोइ सूमा, जाति, बरन, कुल खोय ॥

गोश्ज, गज धन, बाज धन और रतन धन खान ।

जब आवै संतोष धन, सब धन धूरि समान ॥

भरि जाँ, भाँ, भर्ही, अपमे तन के काज ।

परमारथके कारने भोहि न आवे लाज ॥

साँचे लाय न लाहाई, साँचे काल न लाय ।

साँचे को साँचा मिलै, साँचे भाहिं समाय ॥

गुरु पसु नर पसु नारि पसु, बेद पसु संसार ।

मातुप सोई जानिए, जाहि बिवेक बिचार ॥

निदक नियर राखिए, अँगल कुटी छाय ।

बिनु पनी, साबुन बिना, निरमल कैर सुमाय ॥

योगाभ्यासकी कई रीतियाँ प्रचलित हैं। इनमें लक्ष्यगत कोई भेद नहीं है। मुख्य भेद धारणा अर्थात् चित्तकी वृत्तिको एकाग्र करनेके अन्तर्मुख साधनके सम्बन्धमें है। श्रुतिमें भी इस प्रकारकी कई रीतियाँ भिन्न भिन्न विद्याओंके नामसे परिणित हैं। प्रायः सभी संतोने जिस प्रक्रियाका मुख्यतः उपदेश किया है, उसे ‘सुरत शब्दयोग’ कहते हैं। यह कोई नूतन आविष्कार नहीं है, परन्तु संतकालके पहले इसका स्थात् इतने विस्तारसे अवलम्बन नहीं हुआ। सुरत, जिसे सुरति भी कहते हैं, ‘स्वेत’ शब्दका अपन्नाश है। दर्शनग्रन्थमें स्वेतका अर्थ है ‘चित्तवृत्तिप्रवाह’; अतः सुरत शब्दयोग वह पद्धति है, जिसमें शब्दकी धारणा की जाती है अर्थात् चित्तकी वृत्तिका प्रवाह शब्दमें ल्प किया जाता है। शब्दका किसी बाह्य मन्त्रसे तात्पर्य नहीं है। शरीरके भीतर और शरीरके बाहर एक प्रकारकी ज्वनि बराबर हो रही है, जिसे अनाहत—जो बिना किसी प्रकारका आपात किये दुए उत्पन्न हो—कहते हैं। संतोने इसे अनाहद कहा है। गुरु-पदिष्ठमार्गसे अभ्यास करनेवे इस ज्वनिकी होर हाय आ जाती है और फिर उसके सहारे चढ़कर चित्तकी वृत्ति बीची

भूमिकाओंको पार करती हुई असम्प्रश्नत समाधिपदमें सहज ही लीन हो जाती है। नादविन्दूनिष्ठदमें इसका वर्णन इस प्रकार आता है—

भावप्रणवसम्बन्धान् नादे ज्येतिर्भवः चित्तः ।
 स्वयमात्रि भवेदात्मा भेषापायेऽनुमानिव ॥ ३० ॥
 पत्र कुञ्चिति वा नादे लगति प्रथमं मनः ।
 तत्र तत्र शिरीभूता तेन सार्वं विलीयते ॥ ३१ ॥
 सर्वविन्द्वन्ति समुद्भव्यं सर्वं विवर्जितः ।
 नादभेदानुसन्देशादे चित्तं विलीयते ॥ ३२ ॥
 नियामनसम्भोवितं नितादो निशिताङ्कुशः ।
 नादोऽन्वस्तुत्साराहृष्णन्त्वे वागरायसे ॥ ३३ ॥

इसी प्रकार अनानविन्दूप्रियदर्मे भी बतलाया है—
 अनाहतं तु यम्भुदं तस्य शब्दस्य वयरम् ।
 तस्य विन्दते यस्त स योगी छिसंशयः ॥ ३ ॥

शिवसंहिता आदि ग्रन्थोंमें भी अनाहत ध्वनि और उसके द्वारा चिन्तावृत्तिके उपशामक वर्णन आया है।

इसी स्वनिका आश्रय लेकर योगीको अन्तरमें आदि-स्वनि अर्थात् प्रणवका अनुभव होता है। पतञ्जलि कहते हैं कि प्रणव अर्थात् उँचार ईश्वरका वाचक है। उँचारके अकार, उकार, मकार—इस प्रकार दुकुड़े करके अनेक प्रकारसे अर्थ किये गये हैं। योगीकी इष्टिये उँचार आदि शब्द अर्थात् पाञ्चमौतिक जगत्का आदिम रूप, शब्द-तन्मात्राका सूक्ष्मतासूक्ष्म सार, हीनीलिये पाञ्चमौतिक जगत्में ईश्वरकी पृथ्ली अभिव्यक्ति है। इसीलिये यह उसका वाचक या पवित्रतम नाम कहा जाता है। श्रुतिमें प्रणवकी अनेक प्रशास्तियाँ हैं। पथा—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
 तपाऽसि सर्वाणि च यद्गदन्ति ।
 यदिष्ठुन्तो ब्रह्मतये चरन्ति
 तत्त्वे पदः संभवेण ब्रवीयो मित्यतत् ॥५॥
 न ज्ञायेवाक्षरं ब्रह्म होत्पदेवाक्षरं परम् ।
 न ज्ञायेवाक्षरं जात्वा यो यदिष्ठति तत्त्वं तत् ॥६॥
 (कठोपनिषद् द्वितीय वली)

जिस प्रकार वैदिक ग्रन्थोंमें उँकारको प्रणब, उद्दीथ
आदि अनेक नामोंसे पुकारा गया है उसी प्रकार संतोंने
इसे प्रायः नम या सत्त्वानाम (सत्यानाम) कहकर पुकारा है ।

सत्यनामकी अपार महिमाका उन्होंने भी बार-बार वर्णन किया है। वे भी कहते हैं कि नादके पुरे जो भूमिका है, वह निःशब्द 'अनामी' लोक है। इस सम्बन्धमें कुछ अवतरण देता है—

ओ॒इ॑म॒कार पानी अ॒रु पवन । सूर्य, अंद्र, द्वि॒नि, महि॒न म॒न ।
 ओ॒इ॑म॒कार पूजा अ॒रु मान । ओ॒इ॑म॒कार जप संज्ञम् ध्यान ॥
 ओ॒इ॑म॒कार तप तीरथ दान । ओ॒इ॑म॒कार राहै सुर म्यान ।
 ओ॒इ॑म॒कार गुरु अ॒रु जैला । ओ॒इ॑म॒कार रह रासी मेला ॥
 ओ॒इ॑म॒कार निरंतर बानी । किंत जनी तिन गुरुमुख जानी ।

(नानक)

सत्तानाम निज सार है, अमरलोक की जाय ।
 कह दरिया सत्तगुण मिलै, संसय सकल मिटाय ॥(दरिया)
 मूर्खत्र निज नाम है, सुख सिंचु के तीर ।
 वैकी बानी असरमें सुर नर धर्म न धीर ॥(गरीब)
 ता पर अकह लोक है भाई, पुष्क अनामी तहाँ रहाई ।
 जो पहुँचै जानैव वाही, कहन सनन से न्याय है ॥(कबीर)

संतोने सुर शब्दयोगको ही निदिभ्यासनकी प्रधान प्रक्रिया माना है। वे इसीको 'भजन' भी कहते हैं। अभ्यास करते-करते योगीको जो अनुभव होते हैं, उनका वर्णन बतेता श्वतरोपनिषदमें अति संख्यामें हस्त प्रकार हआ है—

नीहारधूमाकानलानिलाना
 ख्योतविशुस्टफटिकाशनीनाम् ।
 एतानि रूपाणि पुरास्त्राणि
 द्रव्यग्रभिदयकिकशणि योगे ॥१॥
 पृथ्वयन्नेजोअनिलखे समुद्रियते
 पञ्चात्मके योगागुणे प्रहृते ।
 न तस्य रोगो न जरा न सख्यः
 प्राप्तस्य योगाग्रिमयं जारीरम् ॥२॥

—हत्यादि । (अध्याय २)

इसी विषयका नादविन्दु आदि उपनिषदोंमें किञ्चित् अधिक विस्तारसे वर्णन है। योगदर्शनके विभूतिपादमें 'भास्मिचके कायव्यूहशानम्', 'भुवनशानं सूर्ये संयमात्' इत्यादि सुन्दरोद्धारा कुछ और विस्तार किया गया है। तन्त्रग्रन्थोंमें भी कर्कि-कर्कि अच्छा वर्णन आया है।

संतोने भी इह अनुभवका वर्णन किया है और मेरा तो विश्वास है कि संस्कृत-प्रन्थ्योंमें भी इह सम्बन्धमें इससे लिलित भाषाका प्रयोग नहीं किया गया है। ये शब्दोंको अभ्यासके

प्रसादसे चतुर्दश भुवनमें कोई भी वस्तु अशात नहीं रह जाती, यह अणिमादि सिद्धियोंका स्वामी हो जाता है। यह असम्भव है कि जो अनुभव ख्यातवेद है, जो पद 'नेति नेतीति वाच्यम्' है, जहाँ मन और वाणीकी पहुँच नहीं, उसका वर्णन शब्दों-में किया जा सके। हाँ, नीचेकी कुछ बातें बतलायी जा सकती हैं—वे भी संकेतोदारा। इस वर्णनका भी रस उसीको मिल सकता है, जिसकी इस मार्गमें कुछ गति हो। दूसरा इतना ही अनुमान कर सकता है कि किसी प्रकारकी विचित्र और आनन्दमयी अनुभूति होती होगी। मैं नीचे कुछ अवतरण इस सम्बन्धके भी देता हूँ। इनमें कुछ पारिभाषिक शब्द भी आये हैं। इनमें सभी योगविषयक संस्कृत-ग्रन्थोंमें पाये जाते हैं।

अनहृद तालूक घैरै घैरै जाजै।

सकल मुवन जाकी ज्योति विराजै॥

ब्रह्मा विस्तु सङ्के सिव द्वार।

परम उज्योति सौ करै जुहार॥

गमन मैँडल में निरतन होय।

सतगुरु मिलै तो देखै सोय॥

आठ पहर जन बुल्ला जाजै।

भक्तिमान भाये पर छाजै॥

(बुडा साहब)

उक्त देखो घट में ज्योति प्रसार।

विनु बाजे तहै धुमि सब होइ, विगासि कमल कचनार॥

तैठि पतल सूर ससि बाँदै, सर्वे विकुटी द्वार।

गंग जमुनके वासपार विच, भरतु है अमिय करार॥

झैशा पिंगला सुखमन सोधौ, बहत सिलर मुख वार।

सुरत निरत है वैतु गमन पर सहज उठे झनकर॥

सोहं डोरि मूल गहि बाँधौ, मनिक भरल लिलर।

कह गुलाल सतगुर बर पायो, भरो है मुकि मंडार॥

(गुलाल साहब)

निर्वान निर्मुन नाम है, जप नाम अनहृद तन की।

विमल ग्यान विराग उपजै, धैसत धारा ध्यान की॥

ध्यान धरकै सिलर देखौ, बिकर रारंकार की।

जपत अजपा गमन देखौ, लखौ एक मस्यालची॥

दहिने घंटा संख जाजै बाँई किंगरी साँई॥

मुरुर मुरुली मध्य जाजै, ज्योति एक विराजती॥

मही है एक कथा निर्मुन धूमी नहीं जानते।

जगजिवम प्रानहि सोधिकै कुटि जात आवस्मान ते॥

(जगजीवन साहब)

बाबा बिकट पंथे रे जोगी, तते छोड़ सकल रस मोगी।

परश्वम सिद्धि ग्नेस सनाओं मूल कमल की मुद्रा।

किलियम जाप जपै हरि हीरा, भिटै करम सब छुद्रा॥

करम बाय पर संस बाय है, तासु द्वैत बदगारम्।

दोहैं जीत जनम जुग जोगी अवगत लेत अपारम्॥

नाभि कमल में नाद समोओ नाभिन निद्रा मारौ।

दो पुंकार संखिनी जीतौ उरै जनम विचारे॥

हिरदै कमल सुरत का संजम निरत कला निरस्वैसा।

सोहं सिंधि दैल पद कीजै ऐसे जहो अकासा॥

कंठ कमल से हरहर बैले थोड़स कला उगानी।

यह तो सब मारग सतगुरु का पंथ बूझ ब्रह्मयानी॥

त्रिकुटी मढ़े मूरत दरसै दो दल दरपन मार्ही॥

कोट जतन कर देला भाई बाहर भीतर नाही॥

वह तो सिंधि दोउ से न्यारा कही कहाँ ठहराए॥

सुज बेसुज मिलै नहीं भौंरा, कहाँ रहत धर पाए॥

अनहृद नाद बजाओ जोगी, बिना चरन चल नमरी॥

काया कासी छौड़ि चलाये जाय बसौ मन मधरी॥

धरती धूत अंकार न पाऊ भेल्दंड पर मेला॥

गमन मैँडल में आसन करहूँ तो सतगुरु का चेला॥

तिळ परमान बढ़ दरवाजा, तिस घाठां ते आऊँ॥

चोटी के पथ हस्ती बैंधू अधर धार ठहराऊँ॥

दक्षिण देस में दीपक जाऊँ, उत्तर धहैं वियाना॥

पठिन देसमें देवल हमरा, पूरब पंथ प्याना॥

पिंड ब्रह्मांड दोक से न्यारा आम ग्यान गोहगाऊँ॥

दास गीव अगम गति आवै सिंधि मिलाऊँ॥

(गरीबदात)

आगासी तस बजिया नीर, ता महैं करौं बहुत विस्तीर।

भौंरा लोमवा ताँको गंध, नानक बैले विश्वी संव

बाहृ सोलह सम करि गहैं, आसण सहजि निरानन्दु वहैं

चेतनी ढोरी गुडि लावै, नानक कहै जोग दड़े पावै

मेल्दंड सूरा करि राखै, गुह प्रसाद अग्नितु रस चासै

देने शराह हकठी घैर, नानक बैले जीवत मैर

उलै पीण उलै काया, शब्द अनाहृद शब्द अजाया

धुनि अंतर मनु राखै थीर, नानक बैले अडालि फकीर

(नानक साहब)

गमनके बीचमें ऐन मैदान है, ऐन मैदानके बीच गही सहस दल कैवलमें मैवर गुजारहै, कैवलके बीचमें सेत कली इडा और पिंगला मुखमना घाट है, मुखमना घाटमें लकी भल्ही

सुन्न सागर भरासतके नामसे तेहिके बीचमें सुरति हल्ली
अँडे एक बृच्छ है तेहिके डारिमें, पड़ा हिंदोलना प्रेम मुहुरी
अमीरस चुवै सोह प्रियत एक नामिनी, नामिनी मरिके बुद रही
बंकके नालपर तहाँ एक ऊँच है, तेहुके सीस अदि जोति बली
जोतिके बीचमें तहाँ एक राह है, राहके बीचमें माद चली
नादके बीचमें तहाँ एक रूप है, स्पष्टके देखिके रह तसली
दास पलटू कहे होय आरु जब, संतको सहज समाधि भक्षी
(पलटू साहब)

महगम होय सो जानै साथो, ऐसा देस हमारा ॥
बेद कंठब पार नहिं पावत, कहन सुनन सो न्याया ॥
जाति बरन कुल किरिया नाहीं संया नेम अचारा ॥
विन जड़ बुद परत जहौं भारी, नहिं दीठ नहिं क्षारा ॥
सुक्र महलमें नैबत बाजे, किंगरी बीन सितारा ॥
विन बादर जहौं विजली चमके विन सूज उजियारा ॥
विन नैन जहौं मोती पोहै विनु सुर सब्द उचारा ॥
ओ नलि जाय ब्रह्म तहौं दरसे अपन अपन अपारा ॥
कहै कबीर वहौं रहनि हमारी, बूझ गुरमुख प्यारा ॥
(कबीर साहब)

अन्तमें मैं दो शब्द अपने दादारुर बाबा रामलालजीके
देना चाहता हूँ—

- (१) झूंझूरुक्षरी बैर ममाला । दरसे अमृत ज्योति ससाला ॥
दसुँहुरिया महै दामिनि दमकै । दहिने बाम रबि चंदा चमकै ॥
हरित चक्र त्रिपुरी रह छाई । फलिपति रूप अजव दरसाई ॥
स्थाम स्वरप निंजन जलकै । दीप शिखा सम माया दमकै ॥
त्रिगुम निंदव बहुत दरगाही । रंग अंग बरनि नहिं जहौं ॥
कोटि कोटि ब्रह्मांड तमासा । रामलाल चहि लखत अकासा ॥
- (२) मूल संव करि बंध निचारी । पट चक्रहि नव सोधहि नारी ॥
संधिकं मंसदंड ठहरना । सहज मिलावै ग्रान अपाना ॥
बंक नल गहै मल मूता । निहैसत अष्टकमल दल फूता ॥
घटियम दीसा लागि किवारी । सतकुंजी सन लेह अधारी ॥
जस मकरीका लागा तगा । दैरेहि प्रेम बड़े अनुरागा ॥
उसदा पवन चढ़े जस मीना । है सतगुर का मारग शीना ॥
अजया जाय लिकिर मुनि ध्याना । संवि सब्द महै पवन समाना ॥
आदी सब्द अहै अँकारा । उडे सब्द धुनि रास्कारा ॥
दरसे दिसा होइगे उंजियारा । इलकत जगमग जंति अपारा ॥
संवि मिले जब संव समाना । है अलमस्त अमीरस पाना ॥
कामदंड नहीं जम श्रासा । देखत सैबी सैब तमासा ॥

जो अस छौं सुन्य मिल जाई । ता कर आवाममत नसाई ॥
रामलाल कोउ बिरला भावा । निरधन घनी निसान नचाना ॥

मैं समझता हूँ कि इतने अवतरण पर्याप्त हैं । जैसा मैंने
जपर लिखा है, इनका और इनके जैसे दूसरे पदोंका
रसास्वादन बही कर सकता है, जो इस मार्गपर चल रहा है ।
जो मनुष्य अपने अनुभवके कारण या किन्हीं ऐसे महात्माओं-
के वचनोंके प्रभाण माननेके कारण, जिनका उसको सत्सङ्ग
प्राप्त हुआ हो, योगको मोक्षका उत्कृष्टतम साधन मानता है
वह प्रकृत्या संतवानीकी ओर आकृष्ट होगा; और मेरा ऐसा
विश्वास है कि उसका इसमें परम कल्याण होगा । आजकल
ऐसा कहनेका दस्तूर-सा चल पड़ा है कि इस युगमें
योगाभ्यास नहीं किया जा सकता; और मुमुक्षुओंसे दूसरे
साधनोंके नाम लिये जाते हैं, जो योगकी अपेक्षा अधिक सुलभ
और सुकर हैं । योग कठिन है, इसमें कोई सन्देह नहीं ।
पतञ्जलि कहते हैं—

‘स तु दीर्घकालं नैन्तर्यं सत्कारासेवितो दद्भूषिः ।’

जिस चित्कारा निप्रह गीताके शब्दोंमें वायुके चाँथनेके
समान दुष्कर है, उसकी वृत्तियोंका निरोध सहज नहीं हो
सकता । निरन्तर सरतक रहनेकी आवश्यकता पड़ती है । पदे-
पदे पतनकी सम्भावना है । कबीरने योगीके इस मानस
रणक्षेत्रका इन शब्दोंमें अच्छा वर्णन किया है—

सायं संग्राम है, बिकट बेहाजती, सती और सूकी चाल आये ।
सती घमसान है प्रत्क दो चारका, सूर घमसान भल एक लाये ॥
सायं संग्राम है रैम दिन जूझना, देह पर्यंतका काम भाई ।
कहत कबीर दुक बाग ढंगी कैर, उलट भन ममनसे जसी आई ॥

इसलिये कोमलबुद्धि लोगोंका, जो दोनों हाथ चाँदी
चाहते हैं, चित्त इस मार्गसे धबराता होगा । परन्तु किया
क्या जाय ? दूसरा बास्तविक मार्ग है भी नहीं । आजसे दो
हजार वर्ष पहलेकी बात है । एक मिश्री राजकुमार
रेखागणित पढ़ रहा था । उसने धबराकर अपने अध्यापकसे
पूछा ‘क्या इन तथ्योंके सीखनेका कोई सरल उपाय नहीं
है ?’ उत्तर मिला—‘नहीं, नरेशोंके लिये रेखागणित सीखने-
का कोई अलग मार्ग नहीं है ।’ उसी प्रकार मुमुक्षुओंके लिये
भी कोई सरल मार्ग नहीं है । हाँ, अधिकारिभेदसे अनेक
प्रकारकी यश, याग, जप, पूजा आदि उपासना-पद्धतियाँ हैं,
जिनसे सत्त्वकी शुद्धि होती है और अपान कमशः प्राप्त
प्राप्त करता है । इनकी उपयोगिता अस्वीकार नहीं की जा

सकती। इनमें से कई तो योगके अङ्गोंपाँडोंके पर्यायमात्र हैं—जैसे नियमोंमें परिगणित हैश्वरपणिभानकी भक्ति नामसे महिमा गाना। भगवती श्रुति भी किसी दूसरे मार्गाका प्रतिपादन नहीं करती। संतमतके आचार्योंने दिल्ला दिया है कि इस सुगमें भी वह द्वार पहलेको ही भाँति खुला है।

सिद्धियोंकी प्राप्ति भी योगका एक परिणाम है। पतञ्जलिजी कहते हैं—

‘ते समाधानपरमां ब्रुत्वाने सिद्धयः।’

संतोंने भी इसी दृष्टिसे सिद्धियोंकी निन्दा की है पर उनकी ओर संकेत भी किया है। उनकी पिभूतियोंकी बहुत-सी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। पर इन बातोंका उल्लेख करना मैं अनावश्यक समझता हूँ।*

संतोंकी सहज-शून्य-साधना

(लेखक—आचार्य श्रीकृष्णमोहन सेन शास्त्री, पद्म० ए०)

मध्ययुगके भक्त और साधकगण बहुत समय गुहकी दुलाना शून्यसे करते हैं। जीवनके सहज विकासके लिये शून्य—एक मुक्त आकाशकी ज़रूरत होती है। गुरु भी ऐसा ही होना चाहिये। इसीलिये रजबाजीने कहा ‘स्ततु शून्य समान है’ (गुरुदेव अंग, ५६)। ये ‘शून्य’ और ‘सहज’ शब्द बौद्धों, निरंजन और नाथपंथी योगियों, सहजियों और वाडल आदि संतोंमें भी हैं। मध्ययुगके भी बहुतेरे साधक अपनेको सहज-पंथी कहते थे। देखा जाय, इसका अर्थ क्या है?

धर्म सहज हो तो यह सहज सकल वादाहीन होकर अनन्त आधारके चाहता है—यही शून्य है। इसीलिये सभी सहज-वादी किसी-न-किसी रूपमें शून्यको स्वीकार करते हैं। ‘शून्य’ का भावात्मक जीवनाधार महाकाश न मिले तो कोई भी

जीवन-बीज अङ्गुरित नहीं हो सकता। इसीलिये सहजमतमें गुहको शून्य कहा गया है। यदि गुरु अपने व्यक्तित्वसे शिष्यके व्यक्तित्वको दबा दे तो धर्म-जीवन अङ्गुरित होनेके बदले पिस जायगा। इसीलिये शून्य ही गुरु है और गुरु शून्य है।

प्रत्येक अङ्गुर जीवन्त होकर उठते समय शून्य आकाशकी ओर अपने प्राणोंको प्रकाशित करता है। अतिशय क्षुद्र जो अङ्गुर है और क्षुद्रतम जो पुष्प है, वह भी अपने मस्तक-पर अनन्त शून्य आकाशको न पाये तो अपने उस छोटे-से जीवनको विकसित नहीं कर सकता। आकाश यदि शून्य न होकर ठोस हो तो सारा जीवन दबकर तहस-नहस हो जाय। इसी तरह समस्त प्रकारके जीवनके विकासके लिये एक

* नोट—भीमके सब परिस्थितिक शब्दोंका, जो संतवानीमें आये हैं, अर्थ लिखना न तो उचित है न सम्भव। किर भी मैं उन लोगोंको सुविद्याके लिये, जो संस्कृतके योगसाहित्यसे मिलान करना चाहें, दो-एक बातोंको और सङ्केत कर देना चाहता हूँ।

इहा, पिङ्गल और सुषुम्णा नाडियोंको प्रायः इंगला, पिंगला, और सुखमाना और सांकेतिक मापमें गङ्गा, यमुना और सरस्वती कहा गया है। इहा और पिङ्गला ही चन्द्र और भूर्य हैं। मेल्दण्ड पृष्ठालिंग है। सुषुम्णा उसीके बीचमेंसे जानेवाली नाडी है, जिसका बंध्योगी नाम त्याहानल नाड़ है। इसी नाड़ोंमें बे छः विशिष्ट स्थान है, जिसको पट्टक कहते हैं। चक्रोंके नामों और स्थानोंका व्यौदा इस प्रकार है:—

चक्रका नाम	स्थान	चक्रका नाम	स्थान
मूलाधार	मेल्दण्डका सबसे नीचा स्थान	अनाहत	हृदय
स्वाधिष्ठान	योगि	विशुद्ध	कण्ठ
सण्पिरू	लाभि	आहा	नेत्रोंके बीचमें; निळ

इन चक्रोंके क्रमशः गणेश, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, अविद्या और पुरुष अभिष्ठातु देवता हैं। इन चक्रोंके ऊपर सद्वलदल कमल या लहरार, बहुरन्त्र आदि वे स्थान हैं, जो मेल्दण्डसे क्षयर मस्तिष्कमें हैं। जिस स्थानपर इहा और पिङ्गल सुषुम्णासे भिन्नकर अपनी-अपनी दिशा बदल देती है अर्थात् दक्षिण नाडी वाम और वाम नाडी दक्षिणकी ओर चली जाती है, उसको त्रिकुटी या त्रिकुटीसङ्कर कहते हैं। प्रत्येक चक्रके साथ कैसा कमल सम्बद्ध है, किस स्थानपर कौन-सी वायु है, कैसा नाद है, संपिणी अर्थात् कुण्डलिनीका स्थान कहाँ है? और वह किस प्रकार ऋष्येगमिनी बनायी जा सकती है, ये सब अंदरातः योगसम्बन्धी पुरुषों और मुरुखों अपने अनुभवसे ही जाननेकी बातें हैं।

प्रकारकी शृंगता जरूरी है। जहाँ प्राणका विकास नहीं है, वहाँ इस शृंगताका प्रयोजन नहीं हो सकता है; किन्तु जहाँ कहीं प्राण है, वहीं उसके विकासके लिये शृंगताका प्रयोजन है। घर्म और भाव भी सो जीवन्त वस्तु हैं, इसीलिये इनके विकासके लिये भी शृंगताका एक अनुकूल आकाश चाहिये। परन्तु यह शृंगता नास्तिष्ठमात्मक वस्तु नहीं है।

रामानन्दधारामें गुरुपरम्पराले प्रथमांशु एक नमस्कार इस प्रकार है—

नमो नमो निरंजन नमस्कार गुरुदेवतः ।
बन्दनं सर्वं साधवा परनामं पारंगतम् ॥

यह न हिन्दी, न संस्कृत प्रणाम बहुत पुराना है। दादूने अपने नामसे इसे चलाया है—

‘इहूं नमो निरंजनं नमस्कार गुरुदेवतः’—इत्यादि

अर्थात् निरञ्जनको प्रणाम करता हूँ, उन्हें समझनेके लिये प्रणाम करता हूँ गुरुदेवताको। गुरु उसी अनादि अनन्त निःसीमा निरञ्जनको समझनेके सुगम उपाय हैं। किन्तु यदि राता ही हमें सीमाबद्ध कर दे तो? इसीलिये मुस्तिका पथ खुला रखनेके लिये कहा गया—‘बन्दनं सर्वं साधवा।’ जितने भी साधक हों और जिस भावसे भी उहोने निरञ्जनको प्राप्त किया हो, उन्हें नमस्कार। ऐसा करनेसे ही यह प्रणाम सीमाबद्ध नहीं होगा। समस्त संकीर्णता और समस्त साम्प्रदायिकताकी वाधा पार कर जायगा। तभी यह प्रणाम होगा ‘पारंगतः’ अर्थात् समस्त सीमाके पार कर गया हुआ सीमा-हीन प्रणाम।

इसीलिये गुरु यदि शृंग हों तो किसी विपत्तिका ढर

नहीं। यह शृंगता ही आत्माके विहारकी सहज भूमि है, इसी सहजमें आत्माकी नित्य केलि और आनन्द-कल्पोत्तका स्थान है। यहीं संगीत और कलाकी उत्पत्ति है, क्योंकि कलामात्र ही अनन्तमें आत्माकी हंसके सहज संगीतका कल्पोत्त है (दादू परचा अंग ६१) ।

भक्तप्रबर सुन्दरदासने अपने सहजानन्दनामक ग्रंथमें लिखा है कि हिंदू हो या मुसलमान—यदि साधक वाह आचार, अनुष्ठान और कृतिम कर्मकाण्ड न माने, उपरी भेष और चिह्न न धारण करे, अन्तरमें सहज अविद्याला जला रखें, सहज ध्यानमें मग्न हो, सहजमें छबकर सहजभावसे ही रहे, तब उसके जीवनमें सहज ही भगवान्का नाम अपने-आप निःशब्द भावसे अधिकृत होता रहता है। कृतिम जप-तपकी कोई ज़रूरत नहीं होती (सहजानन्द ग्रंथ २-४) । इसी ग्रंथमें अन्यत्र (२१) कहा गया है कि सरण, ध्यानयोगके लिये ये कालाकाल नहीं मानते, सहजमें छबकर ये कृतिम विचार वे भूल जाते हैं। सहज सर्वद्यावी निरञ्जनमें छबकर साधक विद्य-ज्ञातकी सब साधनाओंके साथ योग्युक्त होता है। कवीरदासने नाना भावसे नाना स्थानपर इस सहजवस्थाकी बात कही है। दादूने कहा है कि ‘कुछ नाहीं’ का नाम धरके सारा संसार भरम रहा है, इसीलिये भीतरके देवताको छोड़कर व्यर्थ ही वाहर चक्र भाव रहा है—

कुछ नाहीं का नाहैं जरि भरम्या सब संसार ।

फूँजनहारं पासि हैं, देही मा हैं देव ।

दादू ता कौं छाड़ि करि, बाहरि माँडी सेव ॥

(साच अंग १४६, १४८)

प्रार्थना

मैं अपराजी जनम का, नखसिख भरा विकार ।
तुम दाता तुख-भंजना, मेरी करौ सम्हार ॥
अवगुन मेरे बापजी, बक्सु गरीबनिवाज ।
जो मैं पूत कपूत हूँ, तऊ पिता कौ लाज ॥
औगुन किये तो बहु किये, करत न मानी हार ।
भावै बंदा बकसिये, भावै गरदन मार ॥

—कवीर

श्रीमद्भागवतकी साधना

(लेखक—सेठ श्रीकृष्णयालालकी पोषण)

साधनका विषय अत्यन्त व्यापक होनेके कारण बहुत जटिल है। परि श्रीमद्भागवतमें निरूपित साधनोंपर लिखनेका अधिकार तो महातुमाय विदानोंका ही है। मेरे जैसे अलग-द्वारा इस विषयमें दुःसाहस किया जाना अवश्य ही अनधिकार चेष्टा है। अतएव इस धृष्टताके लिये मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

अन्य पारमार्थिक प्रभ्योंमें जिस प्रकार ऐहिक, पारलैकिक और पारमार्थिक श्रेयस्कर अनेक साधनोंका निरूपण किया गया है, उत्ती प्रकार यथापि श्रीमद्भागवतमें भी सभी प्रकारके साधनोंका निरूपण मिलता है, किन्तु ऐहिक और पारलैकिक कामानोंके लिये योगक्रियाओंद्वारा उपलब्ध होनेवाले सर्वोपरि अणिमादि सिद्धियोंके साधनोंके विषयमें भी श्रीमद्भागवतमें स्वयं भगवान् ने अपने परम भक्त उद्घवके प्रति यह आशा की है—

अन्तरायान् वदन्त्येता युज्ञतो योगमुच्चम् ।

भया सम्प्रथमनस्य कालक्षण्यहेतवः ॥

(११।१५।३३)

इसके द्वारा स्पष्ट है कि श्रीमद्भागवतमें कल्याणमार्गके पथिक भगवद्भक्तोंके लिये तो अणिमादि सिद्धियाँ भी केवल समयको व्यर्थ नष्ट करनेवाली ही बतलायी गयी हैं। अतः श्रीमद्भागवतका लक्ष्य पारमार्थिक श्रेयके साधनोंका निरूपण ही है। उनमें भी प्रसङ्गानुकूल अनेक श्वलोपर सांख्य, योग और शून्यैराग्य आदि विभिन्न साधनोंका अधिकारिभेदसे निरूपण किया गया है। जैसा कि सूत्ररूपमें भगवान् श्रीकृष्णने—

योगस्थायो भया प्रोक्ता दृष्टां श्रेयोविधिस्या ।

शान्तकर्म च भक्तिश्च नोपायोऽप्योऽस्ति कुञ्चचित् ॥

निविष्णानां शान्तयोगो न्यासिनामिह कर्मसु ।

तेष्वानिविष्णाणचितानां कर्मयोगाद् कर्मिनाम् ॥

यद्यच्छया मरुक्षयादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।

स निविष्णो नातिस्वको मर्कियोगोऽस्य सिद्धिवः ॥

(श्रीमद्भा० ११।३०।६-८)

—इन वाक्योंमें कहा है कि मैंने मनुष्योंके कल्याणकी इच्छाएँ ज्ञान, कर्म और भक्ति—इस प्रकार तीन योग बतलाये

हैं। इन तीनोंके सिवा और कोई चौथा साधन नहीं है। इनमें जो कर्मफलोंको दुःखरूप जानकर उनका त्याग करने वाले संन्यासी हैं, वे शान्तयोगके अधिकारी हैं। जो लोग कर्मोंको सुखरूप लमझकर कर्मसे विरक्त नहीं हुए हैं—जिनको संसारसे वैराग्य नहीं हुआ है, वे कर्मयोगके अधिकारी हैं। और इनके अतिरिक्त अकस्मात् किसी भाग्योदयसे जो लोग मेरी कथा आदिके कहने-सुननेमें भद्रा उत्पन्न हो जानेपर कर्मके फलोंमें न तो अत्यन्त आसक्त हैं और न अत्यन्त विरक्त ही हैं, वे भक्तियोगके अधिकारी हैं। किन्तु श्रीमद्भागवतमें कदाचित् ही कोई ऐसा स्थल हो, जहाँ विभिन्न साधनोंके वर्णनमें भगवद्भक्तिको सर्वोपरि प्रधानता न दी गयी हो। देखिये—

प्रीणनाय मुकुन्दस्य न दृश्यं न बहुज्ञता ॥

न दानं न तपो नेत्र्या न शौचं न ग्रान्ति च ।

प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिस्त्वद्विष्वनम् ॥

(श्रीमद्भा० ७।७।५१, ५२)

परम भक्त श्रीप्रह्लादजी दैत्यबालकोंके प्रति कहते हैं कि ‘दृश्य, बहुज्ञता, दान, तप, शौच और ब्रतादिसे मुकुन्द भगवान् प्रसन्न नहीं हो सकते; वे तो केवल विशुद्ध भक्तिमें ही सन्तुष्ट होते हैं। भक्तिके सिवा और सब विष्वनामात्र है।’

भगवान् कपिलदेव भी माता देवहृतिजीसे यही कहते हैं—

न युज्यमान्या भक्त्या भगवत्यविलामन्ति ।

सद्व्योऽस्ति शिवः पन्था योगिनो ब्रह्मविद्यये ॥

(श्रीमद्भा० ३।२५।१९)

योगिजनोंको ब्रह्मप्राप्तिके लिये कल्याणकारक भार्ग भक्तिके समान दूसरा कोई नहीं है। और भी—

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदद्यः ।

तीव्रेण भक्तियोगेन भन्ति भव्यर्थितं स्विरम् ॥

(श्रीमद्भा० ३।२५।४४)

—इस संसारमें तीव्र भक्तियोगद्वारा मनको स्थिर करके मुक्तमें लगाना ही मनुष्योंके लिये एकमात्र निःश्रेयसकारक है।

भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं उद्घवजीके प्रति यह स्पष्ट कहा है—

न साधयति मो योगो न सांख्यं धर्मं उद्दयः ।
न स्वाध्यायस्तपस्यागो यथा भक्तिर्मोर्जिता ॥
(श्रीमद्भा० ११।४।२०)

‘हे उद्दय ! मुझमें बढ़ी हुई भक्ति जिस प्रकार मुझे यश कर सकती है उस प्रकार न योग, न शान, न धर्म, न वेदाध्ययन, न तप और न त्याग दी मुझे यश कर सकते हैं।’

प्रभु हो सकता है कि भगवद्गतिको इस प्रकार सर्वोपरि महत्व दिये जानेका स्था कारण है, जब कि श्रुति-स्मृतियोंमें एवं श्रीमद्भागवतमें भी अन्य साधनोंका भी महत्व प्रतिपादित है ! इसका समाधान श्रीमद्भागवतके निष्पलिखित शास्त्रोंदार हो जाता है—

ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया स्वात्मसङ्ख्ये ।
अऽऽः पुंसामविद्युतां विद्वि भागवतान् हि तान् ॥
यानास्थाय नरो राजत्रे प्रमाणेत कर्हिष्चित् ।
धावकिसीलय वा नैत्रे न स्वलेक्षण पतेदिह ॥
(११।२।३४, ३५)

योगीश्वर कवि श्रीजनक महाराजसे कहते हैं कि ‘हे राजन ! भगवान्ने स्वयं श्रीमुखसे जो धर्म* आत्मतत्त्वकी उपलब्धिके लिये बतलाये हैं—जिनके द्वारा सर्वसाधारण अल्पश जन भी सुखपूर्वक—सहज ही भगवत्तासि कर सकते हैं, वे ही भगवत्त धर्म हैं । उन भगवत्त धर्मोंका अनुशासन करता हुआ पुरुष कभी प्रमादको प्राप्त नहीं हो सकता—जिस प्रकार राजमार्गमें आँख बंद करके भी दौड़ते हुए मनुष्यको गिरनेका भय नहीं होता, उसी प्रकार भगवत्त धर्मोंमें प्रवृत्त होकर आँख मूँदकर दौड़ते हुए चलनेपर भी किसी प्रकारके विप्रका खटका नहीं होता ।’ अर्थात् अन्य श्रुति-स्मृतियिहित धर्मोंके साधनोंमें कुछ भी त्रुटि होनेपर साधक पथभ्रष्ट हो जाता है । किन्तु भगवद्गतिमें श्रुति-स्मृतिप्रतिपादित धर्मोंका यथावत् अनुशासन न होनेपर भी भगवद्गत्क कदापि पथभ्रष्ट नहीं हो सकता । और देखिये—

यवस्वा स्वधर्मं चरणम्बुजं हरे—
भजनायकोऽय पतेततो यदि ।
यद च वाभद्रमभृत्युष्य किं
को वार्य आहौऽभजता स्वधर्मतः ॥
(श्रीमद्भा० १।५।१७)

* भगवान्के बतलाये हुए ‘श्रद्धानुष्ठानाभ्’ आदि धर्मोंका वर्णन आगे चलकर किया गया है । —तेलक

देवर्षि नारद भगवान् वेदव्याउजीसे कहते हैं—नित्य-नैयितिक स्वधर्मचरणके त्यागकर भगवद्गतिकरता हुआ पुरुष यदि भक्तियोगकी परिपक्व अवस्थाको प्राप्त न होकर मर जाय अथवा भक्तिमार्गसे च्युत हो जाय तो भी क्या उस पुरुषका कभी अमङ्गल हो सकता है ? कभी नहीं । इसके विपरीत भगवद्गतिको न करके केवल कर्म-व्यवहरमें फँसाने-बाले धर्मोंके करते-करते जो लोग मर जाते हैं, उनको क्या फल मिलता है ? अर्थात् उस धर्मके प्रतिफलसे कुछ काल स्वर्गादि सुख मोगकर पुनः उनको हुःखमय संसारचक्रमें ही घूमना पड़ता है । मयपि श्रीमद्भगवत्तीताके—

न इदिभेदं जनयेद्वाजानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोवयैत् सर्वं कर्माणि विद्वान् सुकः समाचरन् ॥

—इस मगवद्गत्यमें अल्पशोके लिये कर्मोंका साधन उपादेय बतलाया गया है, किन्तु वह शानके जितासुओंके लिये ही कहा गया है । कर्योंके ज्ञानके लिये अन्तःकरणकी शुद्धि परमावश्यक है और वह मिळानम कर्मोंद्वारा ही प्राप्त हो सकती है । किन्तु भक्ति तो अनपेक्ष ही अन्तःकरणकी शुद्धि करनेवाली है । कहा है—

केविकेवलया भक्त्या वासुदेवपरायणः ।
अर्घं धून्वन्ति कास्त्व्यैन नीहारमिव भास्करः ॥
(श्रीमद्भा० ३।१।५)

श्रीमद्भागवतमें तो भक्तिरहित ज्ञानको भी केवल क्लेश-कारक ही बतलाया गया है—

श्रेयःसुतिं भक्तिसुदस्य ते विभो
क्षिस्मन्ति ये केवलबोवलव्यये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यतथा स्यूलतुपावधातिनाम् ॥
(१०।१।४)

भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुतिमें ब्रह्माजी कहते हैं—‘हे स्वामिन् ! समस्त श्रेयोंकी मूल-स्रोत जो आपकी भक्ति है, उसे न करके जो पुरुष केवल शुष्क ज्ञानके लिये परिश्रम करते हैं, उनको केवल क्लेशमात्र ही प्राप्त होता है । जैसे ज्ञानके छिलकोंको कूटनेवालोंको सिवा क्लेशके और कुछ हाथ नहीं ल्पाता ।

—इत्यादि अनेक वाक्योंद्वारा स्पष्ट है कि श्रीमद्भागवतका चरम लिङ्गान्त भगवद्गतिका प्रतिपादन ही है । किन्तु

भक्तिका महस्य प्रतिपादन करनेवाले वाक्योंका तासर्थ शानादि साधनोंको हेय बतलानेका नहीं। वस्तुतः उनका अधिग्राह यह है कि शानादि अन्य सभी साधन भक्तिसंपर्क हैं—वे स्वतन्त्रस्वयं भक्तिके विना भगवद्वासिमें सहायक नहीं हो सकते। कहा है—

नैकम्भूम्यस्तुतमाववर्जितं

न शोभते शानमलं विरक्षनम् ।

कुलः पुनः शशदभव्यमीवरे

न चारिसं कर्म यथप्यकारणम् ॥

(श्रीमद्भा० १ ५ । १२)

महर्षि व्यासजीके प्रति देवर्षि नारदजी कहते हैं—‘राग-द्वेषादि उपाधिरहित ब्रह्मतादात्मकारक शान भी जब भक्तिके विना शोषित नहीं होता—मोक्षमें सहायक नहीं हो सकता, तब साधन और फल दोनोंमें दुःख देनेवाले सकाम कर्म भगवान्के अर्पण हुए विना किस प्रकार मोक्षकारक हो सकते हैं?’ क्योंकि—

आद्या हृच्छेण प॑ पदं ततः ।

पतस्त्वद्वोऽनादतस्तुम्भवक्ष्यतः ।

‘अन्य साधनोंद्वारा महान् ल्लोकाते परमपदको पा लेनेपर भी आपके चरणाराविन्दीकी भक्ति न करनेवाले वहाँसे नीचे गिर जाते हैं।’

इसके सिया एक बात और भी है। भगवान् स्वयं आशा करते हैं—

तस्मान्मझकियुक्त्य योगिनो वै भद्रामनः ।

न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः अयो भवेद्दिः ॥

यत्कर्मभिर्यत्पत्ता ज्ञानवैराग्यतत्त्वं यत् ।

योगेन द्वानवर्णेण श्रेयोभिरितरैरपि ॥

सर्वं महक्षियोगेन मद्भक्तो लभतेऽज्ञासा ।

(श्रीमद्भा० ११ । २० । ३१-३२)

‘अतएव मेरे भक्तको—ऐसे भक्तको जिसने आत्माको मुक्षमें लीन कर दिया है एवं जो मेरी भक्तिसे युक्त है—शान और धैराग्य आदि श्रेयके अन्य साधनोंकी आवश्यकता नहीं रहती। जब कि कर्मकाण्ड, तप, शान, वैराग्य, योग, दान और धर्म एवं अन्यान्य श्रेयके साधनोंसे जो फल प्राप्त होते हैं, वे सब मेरे भक्तको केवल भक्तिवोगद्वारा अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं।’

ऐसी परिस्थितिमें शानादिके लिये अत्यन्त छिप्प साधनोंका

किया जाना आवश्यक नहीं। इसके विषद् मुगम मार्गको ग्रहण न करके गहन भार्ग ही जिनको वाज्डनीय है, उनके लिये श्रीमद्भागवतमें भी इच्छानुसार शानयोगादि अनेक भार्गोंका निर्देश किया ही गया है।

भक्तिके भेद

यों तो भक्तिग्रन्थोंमें भक्तिके अनेकों भेद-भ्रमेद कथन किये गये हैं। उन सबकी स्पष्टताके लिये यहाँ स्थान कहाँ। संक्षेपमें साधारणतया भक्तिके दो भेद हैं—साध्य-भक्ति और साधन-भक्ति।

साध्य-भक्तिका ही नामान्तर परा भक्ति या प्रेमलक्षणा भक्ति है। प्रेमलक्षणा भक्तिके अधिकारी भगवान्के अनन्य भक्त ही होते हैं, जिनके विषयमें भगवान्ने स्वयं कहा है—

न पारमेष्ठं न महेन्द्रधिष्ठयं

न सावधौर्मं न रसाधिपत्यम् ।

न योगसिद्धीरपुनर्वेदं वा

मध्यर्थितात्मच्छति मद्विनान्यत् ॥

(श्रीमद्भा० ११ । १४ । १४)

‘जिसने मुझमें मन अर्पण कर दिया है वह मेरा अनन्य भक्त मुझे छोड़कर ब्रह्मजीका पद, इन्द्रका आसन, चक्रवर्ती सम्प्राप्त्य, लोकाधिपत्य, योगजनित तिद्धियाँ ही नहीं, किन्तु मोक्षपदकी भी इच्छा नहीं करता है।’ अतः परा भक्तिका परमानन्द अनिर्वचनीय है। पराभक्तिप्राप्त भगवान्के भक्तोंको देहानुसन्धान भी नहीं रहता, उनकी परमानन्दमयी अवस्थाका वर्णन योगीक्षर कविने इस प्रकार किया है—

श्रवन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-

जन्मानि कर्मणि च यानि लोके ।

नीतानि नामानि तद्यथेकानि

गायन् विलङ्गो विचरेदसङ्गः ॥

पूर्ववतः स्वप्रियनामकीर्त्या

जातानुरागो दुरुचित उरचैः ।

हस्ययो रोदिति रोति गाय-

स्पुम्पादवशृङ्ख्यति लोकबाहुः ॥

(श्रीमद्भा० ११ । २ । ३५-४०)

‘चक्रपाणि भगवान्के सुन्दर मङ्गलमय-कल्याणकारी जन्म और कर्मोंकी कथाओंका श्रवण करता हुआ एवं उन अन्म-

कर्मोंके अनुसार महाजनोंद्वारा गये गये नामोंका लोक-लज्जा छोड़कर गान करता हुआ भगवान्का अनन्य भक्त संसारमें अनासन्दर रहकर विचरता है। इस प्रकार अपने शिष्यतम भगवान्के नामकीर्तनादिका व्रत धारण करते हुए जब प्रेमी भक्तको अनुराग उत्पन्न हो जाता है, तब वह प्रेमसे द्रवितचित होकर विवशतया कभी तो—भगवान्को भक्तोंसे पराजित समझकर—अद्वाह करने लगता है, कभी यह विचार कर कि हा! इन्हें कालतक में भगवद्विमुख स्थीर हो—रोने लग जाता है, कभी दर्शनोंकी उत्कट उत्कण्ठासे चिढ़ाने लग जाता है, कभी भाववेशमें भगवत्त्रिग्रनान करने लगता है और कभी—लोकातिरिक्त लायण्यसिन्धु भगवान्के त्वर्षपक्षका दर्शन करके—इर्षीद्रेकपूर्वक प्रेमविभोर और उन्मत्त होकर वृत्त करने लगता है।

भक्तिके साधन

भक्तिका सर्वोपरि प्रधान एवं प्रथम साधन सत्सङ्ग है। भगवान् ने स्वयं श्रीमुखसे आशा की है—

न रोपयति मा योगो न सांख्यं धर्म उद्दव ।
न स्वाध्यायस्तप्तस्तकागो नेष्टपूर्त न दक्षिणा ॥
जतानि यशश्वन्द्वासि तीर्थोनि नियमा यमा: ।
यथावरुद्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गपरहो हि मम् ॥
(श्रीमद्भा० ११।१२।१०)

हे उद्दव! यथापि योगीं, सांख्यं, धर्मं, वेदाध्ययनं, तर्हं, त्यागं, इर्षीपूर्तौ, दानं, व्रतं, यज्ञं, वेदं, तीर्थं, यम और नियमादि—ये सभी मुख्ये प्रसन्न करनेके साधन हैं; किन्तु जिस प्रकार अन्य समस्त सङ्गोंको निवारण करनेवाले सत्सङ्गके द्वारा मैं बद्धीभूत हो सकता हूँ, उस प्रकार योगादि उपर्युक्त साधनोंसे नहीं।

सत्सङ्गको इतना महत्व इसलिये दिया गया है कि भगवद्विक्ति सत्सङ्गके विना उपलब्ध नहीं हो सकता।

- १. असन, प्राणायामादि अद्याहयोग !
- २. तर्होंके विवेचनात्मक प्रकृति-पुरुषके स्वरूपतः शान ।
- ३. सामान्य तथा अहिंसा आदि ।
- ४. कृष्णचान्द्रायणादि ।
- ५. संन्यासत्पर्म ।
- ६. इष्ट—अस्तिहोवादि कर्म और पूर्ण-दूर्घे, लालाज, देवस्थान, शाग आदिका निर्माण ।

राजा रहुगणके प्रति परमहंस जडभरतजीने कहा है—

रहुराणैतत्पसा न यति
न चेष्टया निर्बेषणाद् गृहाद्वा ।
न च्छन्दसा नैव जलाद्विष्वृच-
विना महत्पद्मजोऽभिवेकम् ॥

(श्रीमद्भा० ५।१२।१२)

हे रहुगण, भगवत्तत्वका ज्ञान, महापुरुषोंके चरणोंकी रज जबतक सिरपर धारण नहीं की जाती, न सप्तसे, न यशादि कर्मोंसे, न अज्ञादिके दानसे, न संन्याससे, न वेदाध्ययनसे, न जल, अग्नि और सूर्यकी उपासनासे प्राप्त हो सकता है—यह तो सत्सङ्गसे ही प्राप्त हो सकता है! सत्सङ्गद्वारा भगवद्विक्तिका आविर्भाव किस प्रकार होता है, इस विषयमें भगवान् कपिलदेव कहते हैं—

सत्तां प्रसङ्गात्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृष्कर्णस्यायनाः कथाः ।
तज्जोषणादाश्वपवर्गर्वर्मीनि
प्रद्वा रतिर्भक्तिरनुकमिष्यति ॥
(श्रीमद्भा० ३।२५।२५)

सत्सङ्गोंके निरन्तर सङ्गमें मेरे महात्म्यसुचक चरित्रोंकी कानोंमें सुधा वरसानेवाली दृद्याकर्षिणी कथा होती है, उन कथाओंके श्रद्धापूर्वक सेवनसे शीघ्र ही हरि भगवान्में क्रमशः श्रद्धा, रति और भक्ति बढ़ती जाती है।

सत्सङ्गके पश्चात् भगवद्विक्तिके अनेक साधन बहुत-से प्रसङ्गोंपर श्रीमद्भागवतमें बतलाये गये हैं। स्वयं भगवान् ने भी उद्भवीसे कथन किया है—

श्रद्धाभृतकथायां मे शथन्मदनुकीर्तनम् ।
परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिः स्तवनं मम ॥
आहृः परिचर्यायां सर्वाङ्गेरभिवन्दनम् ।
मन्त्रक्तपूजायादिका सर्वभूतेषु मन्त्रातः ॥
मदयेष्वज्ञेष्व च वचसा मद्रगुणेणम् ।
मध्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम् ॥
मदधेऽर्थपरिवागो भोगस्य च सुखस्य च ।
इष्टं दत्तं हुतं जसं मदर्थं यहस्तं तपः ॥
एवं वैष्णवेनुभाणासुखात्मनिवेदिनाम् ।
मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योर्धौऽस्याचक्षिष्यते ॥
(श्रीमद्भा० ११।११।२०-२४)

अर्थात् निरन्तर अमृतके समान मेरी कथामें अद्वा, मेरे नामों और गुणोंका कीर्तन, मेरी पूजामें अत्यन्त निष्ठा, स्तुतियोगारा मेरा स्वचन, मेरी परिचर्चामें आदर, सर्वाङ्गोंसे मुझे प्रणाम, मेरे भक्तोंकी विशेषरूपसे पूजा, सब प्राणियोंमें मुझे देखना, मेरे लिये सारे अङ्गोंकी चैष्टों, बार्तालापमें भी मेरे ही गुणोंका वर्णन करना, मनको मुझमें अर्पण करना, छांसारिक सभी कामनाओंका त्याग करना, मेरे निर्मित इच्छ्य, भोग और सुखका त्याग करना, मेरे लिये ही यर्थ, दान, होम, जप, तप और नृत आदि सब कर्म करना । हे उद्घव ! इन धर्मोंके द्वारा आत्मनिवेदन करनेवालेको मेरी प्रेमलक्षणा भक्ति प्राप्त हो जाती है । फिर उसके लिये कुछ भी साधन अथवा साध्य शोष नहीं रह जाता ।

यहाँ यह बात स्थानमें रखने योग्य है कि जैसे अन्य कोई साध्य वस्तु प्राप्त हो जानेपर उसके साधनोंका त्याग कर दिया जाता है, वैसे यहाँ प्रेमलक्षणा भक्तिके जो अवण, कीर्तन आदि साधन हैं, उनका त्याग नहीं किया जाता;

क्योंकि अवण, कीर्तनादि साधन तो प्रत्युत उत्तरोत्तर भक्तिको सहस्रगुण परिवर्द्धन करनेवाले ही हैं और भक्तके अति प्रिय हैं ।

साधन-भक्ति

उपर्युक्त भगवद्वाक्योंमें जो प्रेमलक्षणा भक्तिके साधन कथन किये गये हैं, उनमें अवणादि बहुत-सी साधन-भक्तियोंका समावेश हो जाता है । प्रधानतया—

अवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सर्वमात्मनिवेदनम् ॥

अवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सर्व और आत्मनिवेदन—यह नवधा भक्ति बहुमतसे साधन-भक्ति ही है । इनमें प्रत्येकका वर्णन श्रीमद्भागवतमें अनेक स्थलोंपर बहुत विशदरूपसे किया गया है और वह प्रातङ्गिक भी है, किन्तु विस्तारभयसे इनके विषयमें स्पष्टीकरण इस लेखमें नहीं किया गया है । यह भी महत्वपूर्ण विषय है, अतएव स्वतन्त्र लेखमें विशदरूपसे लिखने योग्य है ।



१. यहाँ निरन्तर (शश्वत्) का सम्बन्ध क्या आदि सभी साधनोंके साध है ।
२. आवाहनादि वैदिशोपचार एवं ।
३. भगवान्नके मन्दिर भवित्वा यरिमार्जन आदि, जैसा कि 'सम्मार्त्तोपलेषभ्यां सेनःपण्डलवर्त्तनैः । गृहद्वाषपो मद्यं दासवधद्-मात्या ॥' (श्रीमद्भा० ११ । ११ । ३०) में कहा है ।
४. दोनों पैर, दोनों हाथ सीधे पसारकर दण्डके समान सीधा होकर सिर, मन, मुद्रि और बाणीसहित सादाह्र प्रणाम करना ।
५. भगवान्नके आरापनके निर्मित उच्चान्तनिर्माण, उपसवादिके निर्वहके लिये आपादिकवीं जीविका निवाहना—जैसा कि भगवान्नके ११ । २७ । ३८-३९ लोकोंमें कहा है । अङ्गोंका प्रयोग करना । जैसा कि 'स वै मनः कृष्णपदार्थवन्योः ॥ १ ॥ इत्यादि भागवतके १ । ४ । १८-२० तक तीन श्लोकोंमें अम्बरीषके प्रकरणमें सारे अङ्गोंका भगवान्नके लिये प्रयोग किया जाना कहा गया है ।
६. भगवान्नके निर्मित मन्दिर और उत्पवादिमें इच्छ व्यय करना ।
७. लौकिक भोग और सुखोंकी तो बात ही क्या, ब्रैलीव्यके ऐश्वर्यके लिये भी भगवान्नके भजनका त्याग न करना कहा है—
विमुवनविमरहेनवेऽप्युपुष्टस्मृतिरवितात्मसुररिमित्वैश्च्यात् । न चलति भगवद्वारविन्दाहृतिमित्वैष्मण्यः स वैष्णवाद्रपः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २ । ५३)
८. जैसा कि भगवान्नने श्रीमद्भगवद्वातामें भी कहा है—
शतकोपि यदभ्रासि यजुहोपि ददासि यद् । यत्पससि कौन्तेय तत्कुरुत्वं यदर्पणम् ॥

भगवती साधना

(लेखक—पं० श्रीशुकदेवजी उपाध्याय, पम० ८०, साहित्याचार्य)

श्रीमद्भागवत संस्कृत-धर्मिंक-ग्रन्थोंमें एक अनुपम स्थान रखता है। उसके समान अन्य ग्रन्थ मिलना बिल्कुल असम्भव-सा है—वह ग्रन्थ जिसमें पाणिङ्गत्य तथा कवित्व दोनोंका मणिकाञ्जन योग हो, सिवा इस ग्रन्थरक्तके हमारे लिये सुलभ नहीं है। ‘विवादती भगवते परीक्षा’ इस सुप्रसिद्ध लोकोचित्से ग्रन्थकी दुर्लक्षिता का परिचय भी पर्याप्तमात्रामें हो सकता है। अतः भगवतमें किस साधना-पद्धतिका किस प्रकारसे उल्लेख किया गया है, इसका ठीकटीक विवेचन भागवतके पारदृश्या विवेचक विदान् ही साङ्गोगाङ्गरूपसे कर सकते हैं; परन्तु फिर भी अपनी दुष्टिसे इस विषयका एक छोटा-सा वर्णन पाठकोंके सामने इस आदान-प्रस्तुत किया जाता है कि अधिकारी विदान् इसका यथात्त्व विस्तृत निरूपण प्रस्तुत करें।

हमारे देखनेमें भगवती साधनाका कुछ विस्तृत वर्णन द्वितीय स्कन्धके आरम्भमें तथा तृतीय स्कन्धके कपिलानी-घाले अध्यायोंमें किया गया मिलता है। कपिलकी माता देववृत्तिके सामने भी वही प्रथम या कि भगवान्के पानेका सुलभ मार्ग कौन-सा है। इसी प्रश्नको उन्होंने अपने पुत्र कपिलजीसे किया, जिसके उत्तरमें उन्होंने अपनी माताकी कल्पण-बुद्धिसे प्रेरित होकर अनेक ज्ञात्वय वार्ते कही हैं। परन्तु संसे अधिक आवश्यकता थी इसकी राजा परीक्षितको। उन्होंने ब्राह्मणका अपमान किया था; सातवें दिन उन्हें अपना भौतिक पिण्ड छोड़ना था। तस, इतने ही स्वल्पकालमें उन्हें अपना कल्पण-साधन करना था। बेचारे वडे विकल थे, बिल्कुल बेचैन थे। उनके भाग्यसे उन्हें उपदेश मिल गये शुकदेवजैसे ब्रह्मानी। अतः उनसे उन्होंने वही प्रथ किया—हे महाराज, इतने कम समयमें क्या कल्पण सम्पन्न हो सकता है? पर शुकदेवजी तो सबे साधककी खोजमें थे। उन्हें ऐसे साधकके मिलनेपर नितान्त प्रसन्नता हुई। शुकदेवजीने परीक्षितसे कहा कि भगवान्से परोक्ष रहकर बहुत-से घरोंसे क्या लाभ है? भगवान्-से विमुख रहकर दीं जीवन पानेसे भला, कोई फल सिद्ध हो सकता है? भगवान्-के स्वरूप-को जानकर उनकी संक्षिप्तिमें एक क्षण भी चिताना अधिक लाभदायक होता है। जीवनका उपयोग तो भगवत्त्वाच्च और भगवद्गुणकीर्तनमें है। यदि वह सिद्ध न हो सके, तो दीर्घ

जीवन भी कृष्णीतल्लिपर भारभूत है। खट्टवाङ्गनामक राजपूंडी-ने इस जीवनकी असारताको जानकर अपने सर्वस्वको छोड़कर समस्त भयोंको दूर करनेवाले अभय हरिको प्राप्त किया। उन्हें तो अभी सात दिन जीना है। इतने कालमें तो बहुत कुछ कल्पण-साधन किया जा सकता है।

इतनी पूर्वीठिकाके अनन्तर शुकदेवजीने भगवती भागवीरथीके तीरपर सर्वस्व छोड़कर बैठनेवाले राजा परीक्षितसे भागवती साधनाका विस्तृत वर्णन किया। अष्टाङ्ग योगकी आवश्यकता प्रायः प्रत्येक मार्गमें है। इस भक्तिमार्गमें भी वह नितान्त आवश्यक है। उन्होंने कहा कि साधकको चाहिये कि किसी एक असानपर बैठनेका अभ्यास करके उस आसनपर पूरा जय प्राप्त कर ले। अनन्तर प्राणोंका पूरा आयमन करे। संसारके किसी भी पदार्थमें आसक्ति न रखें। अपनी इन्द्रियोंपर पूर्ण विजय प्राप्त कर ले। इतना ही जानेपर साधकका मन उस अवस्थामें पहुँच जाता है, जब उसे एकाग्रता प्राप्त हो जाती है। अनें मनको जित स्थानपर लगावेगा, उस स्थान-पर वह निश्चयरूपसे टिक सकेगा। अभी भगवान्-के स्थूल रूपका ध्यान करना चाहिये। भगवान्-के विराट् रूपका ध्यान सबसे पहले करना चाहिये। यह जगत् ही तो भगवान्-का रूप है। ‘हरिरेव जगजगदेव हरिर्हरितो जगतो नहि भिज-तनुः’। इस जगत्-के नौदहों लोकोंमें भगवान्-की स्थिति है। पातोल भगवान्-का पादमूल है, रसातल पैरका पिण्डल भगव है, महातल पैरकी एकी है, तलातल दोनों जड़ोंपैँहैं, सुतल जानु-प्रदेश है और दोनों ऊरु वितल तथा असल लोक हैं। इस प्रकार अधोलोक भगवत्-शरीरके अधोभागके रूपमें है। भूमितल जगनस्थल है तथा इससे ऊर्ध्वलोक या ब्रह्मलोक भगवान्-का मस्तक है। इस जगद्वार प्रागवतकारने भगवान्-के विराट् रूपका वर्णन वडे विस्तारके साथ किया है। जगत्-की जितनी चीज़ है, वे सब भगवान्-का कोई-न-कोई अंग या अंश अवश्य हैं। जब यह जगत् भगवान्-का ही रूप ठहरा, तब उसके भिज-भिज अंगोंका भगवान्-के भिज-भिज अवश्य होना उचित है। यह हुआ भगवान्-का स्वविष्ट—स्थूल-सम स्वरूप। साधकको चाहिये कि इस रूपमें इत प्रकार

अपना मन लगावे, वह अपने स्थानसे किञ्चिन्मात्र भी चलायमान न हो। जबतक भगवान्‌में भक्ति उत्पन्न न हो जाय, तबतक हस्त स्थूलरूपका ध्यान नियतरूपसे साधक-को अपनी नित्यकियाओंके अन्तमें करना चाहिये। कुछ लोग इसी साधनाको श्रेष्ठ समक्षकर इसीका उपदेश देते हैं।

पर अन्य आचार्य अपने भीतर ही हृदयकाशमें भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान करना उत्तम बतलावे हैं और वे उसीका उपदेश देते हैं। आसन तथा प्राणपर विजय प्राप्त कर लेनेके अनन्तर साधकों चाहिये कि अपने हृदयमें भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान करे। आरम्भ करे भगवान्‌के पादसे और अन्त करे भगवान्‌के होठोंकी मृदुल मधुर मुसुकानसे। ‘पादादि यावद्सिंतं गदाधृतः’ का नियम भागवतकार बतलाते हैं। नीचेसे आरम्भ कर ऊपरके अङ्गों-तक जाय और एक अङ्गका ध्यान निश्चित हो जाय, तब आले अङ्गकी ओर बढ़े। इस प्रकार करते-करते पूरे स्वरूपका ध्यान ढढ़ रूपसे सिद्ध हो जाता है। इस तरहके ध्यानका विशद वर्णन नृतीय स्कन्धके २८ वें अध्यायमें किया गया है। पहले-पहल उस रसिकशिरोमणिके पैरसे ध्यान करना आरम्भ करे। श्रीभगवान्‌के चरण-कमल कितने सुन्दर हैं! उनमें घज्ज, अङ्गुष्ठा, ध्वजा, कमलके चिह्न विद्यमान हैं तथा उनके मनोरम नस्त इतने उत्तम तथा रक्त हैं कि उनकी प्रभासे मनुष्योंके हृदयका अन्धकार आपसे-आप दूर हो जाता है। श्रीमद्भगवान्‌का उद्भव इहीमें हुआ है। ऐसे चरणोंमें चित्तको पहले लगावे। जब वह चहँ स्थिररूपसे स्थित होने लगे,

तब दोनों जानुओंके ध्यानमें चित्तको रगावे। तदनन्तर ललित पीताम्बरसे शोभित होनेवाले ओजके खजाने भगवान्‌की जड़ाओंपर ध्यान लगावे। तदनन्तर ब्रह्माजीके उत्सचित्यानभूत कमलकी उत्पत्ति जिससे हुई है, उस नामिका ध्यान करे। इसी प्रकार वक्षःस्थल, बाहु, कण्ठ, कण्ठस्थ मणि, हस्तस्थित शङ्ख, चक्र, पद्म, गदा आदिका ध्यान करता हुआ भगवान्‌के मुख्यारविन्दतक पहुँच जाय। तदनन्तर कुटिल कुन्तलसे परिवेषित, उच्चत झूसे मुद्रोभित, मीनकी भौंति चंगल नयनोंपर अपनी चित्त-चृति लगावे। मनुष्योंके कल्याणके लिये अवलार धारण करनेवाले भगवान्‌के कृष्ण-रससे सिद्ध, तापत्रयकी शमन करनेवाली चित्तवनको अपने ध्यानका विषय बनावे। अन्तमें भगवान्‌के होठोंपर विकसित होनेवाली मन्द मुचुकानमें अपना चित्त लगाकर बस, वही ढढ़ धारणसे टिक जाय। वहाँसे टले नहीं। वही अन्तिम स्थान ध्यानका हुआ। पर इस स्थानपर निश्चितरूपसे शित होनेका प्रधानतम उपाय हुआ भक्तियोग। जबतक हृदयमें भगवान्‌के प्रति भक्तिका सञ्चार न होगा, तब-तक जितने उपाय किये जायेंगे वे सर्वथा व्यर्थ मिद जायें। अशङ्क योग भी तो यिना भक्तिके छूटा ही है—नीरस ही है। भक्ति होनेपर ही तो भक्तका प्रयोग कार्य भगवान्‌की पूजाका अङ्ग हो जाता है, अतः इस भक्तिका पहले होना सबसे अधिक आवश्यक है।

अतः भागवतकार्यको पूर्वोक्त प्रकारकी ही साधना अभीष्ट है, क्योंकि ध्रुव आदि भक्तोंके चरित्रमें इसी प्रकारकी साधनाका उपयोग किया गया मिलता है।

मन्त्र-विवरण-

भजनमें जर्दी करो

भजन आतुरी कोजिये और बात में देर ॥
 और बात में देर जगत् में जीवन थोरा ।
 मानुष-तन धन जात गोड़ धरि करौ निहोरा ॥
 काँच महल के बीच पवन इक पंछी रहता ।
 दस दरवाजा खुला उड़न को नित उठि चहता ॥
 भज लीजै भगवान् एहो में भल है अपना ।
 आवागौन छुटि जाय जनम की मिटे कलपना ॥
 एलू अटक न कोजिये चौरासी धर केर ।
 भजन आतुरी कीजिये और बात में देर ॥ —पहल

श्रीभगवान् भक्तिप्रिय हैं, वे केवल भक्तिसे जितने सम्भुष्ट होते हैं उतने पूजन, यज्ञ और व्रतसे नहीं होते। भगवानकी पूजाके लिये ये आठ पुण्य सर्वोत्तम हैं—अहिंसा, इन्द्रियनिग्रह, प्राणियोपर दया, क्षमा, मनका निग्रह, ध्यान, सत्य और धक्षा। इन आठ प्रकारके पुण्योंसे पूजा करनेपर भगवान् बहुत ही प्रसन्न होते हैं।

सूर्य, अग्नि, ब्रह्मण, गौ, भक्त, आकाश, वायु, जल, पृथ्वी, आत्मा और समस्त प्राणी—ये सभी भगवानकी पूजाके स्थान हैं। अर्थात् इनको भगवानसे पूर्ण—भगवान् समझकर इनकी सेवा करनी चाहिये। इनमें गौ और ब्रह्मण प्रधान हैं। जिसके पिण्डकुल और मातुकुलके पूर्व-पुरुष पर नरकोंमें पढ़े हैं, वह भी जब श्रीद्वारिकी सेवा-पूजा करता है तो उन सबका नरकसे उसी क्षण उद्धार हो जाता है और वे सर्वगम्भी चले जाते हैं। जिनका चित्त विश्वमय वासुदेवमें आसक्त नहीं है, उनके जीवनसे और पशुओंकी तरह चेष्टा करनेसे क्या लाभ है?

किं तेषां जीवितेनेह पशुक्षेष्टेन किम् ।
येषां तु प्रवर्णं चित्तं वासुदेवे जगन्मये ॥

अब श्रीभगवानके ध्यानकी महिमा सुनिये—हे राजन्। अग्रिमपधारी दीपक जैसे वायुरदित स्थानमें निश्चल भावसे जलती हुआ सरे अन्धकारका नाश करता है, वैसे ही श्रीकृष्णका ध्यान करनेवाले पुरुष सब दोषोंसे रहित और निरामय हो जाते हैं। वे निश्चल और निराश होकर दैर और प्रीतिके बन्धनोंको काट डालते हैं और शोक, दुःख, भय, द्वेष, लोभ, मोह एवं भ्रम आदि इन्द्रिय-प्रियषोंसे सर्वथा छूट जाते हैं। दीपक जैसे जलती हुई शिखके द्वारा तेलका शोषण करता है, वैसे ही श्रीकृष्णका ध्यान करनेवाले पुण्य ध्यानलिपी अडिसे कर्मोंको जलाता रहता है। अपनी-अपनी स्थिति और रुचिके अनुसार भगवानके निराकार और साकार दोनों ही रूपोंका ध्यान किया जा सकता है। निराकारध्यान करनेवाले विशारके द्वारा शानदृष्टिसे इस प्रकार देखें—

वे परमात्मा धृष्टपैरवाले न होकर भी सब वस्तुओंको

भ्रष्ट करते हैं और सर्वज्ञ जाते-आते हैं। मुख-नासिका न होनेपर भी वे आहार करते और गन्ध सूखते हैं। कान न होनेपर भी वे जगत्पति सर्वसाक्षी भगवान् सब कुछ सुनते हैं। भिन्नकार होकर भी वे पञ्चेन्द्रियोंके वश होकर रूपवान्-से प्रतीत होते हैं। सब लोकोंके प्राण होनेके कारण वे ही चराचरके द्वारा पूजित होते हैं। वे जीभ न होनेपर भी वेद शास्त्रानुकूल सब वचन बोलते हैं। त्वक् न होनेपर भी समस्त शीतोष्णादिका स्वर्य करते हैं। वे सर्वदा आमन्दमय, एकरस, निराश्रय, निर्गुण, निर्मम, सर्वव्यापी, सर्वदिव्यगुणात्मपन्थ, निर्विल ओजस्व, किसीके बड़ा न होनेवाले, सर्वदा अपने वशमें रखनेवाले, सबको यथायोग्य सब कुछ देनेवाले और सर्वव्रत हैं। उनको कोई मौ नहीं उत्पन्न करती, वे ही सर्वमय विभु हैं।

जो पुरुष एकान्त विनाशे इस प्रकार ध्यानके द्वारा सर्वमय भगवान्को देखता है, वह अमृत अमृतमय परमधामको प्राप्त होता है।

अब साकारध्यानके विषयमें सुनिये—

‘उनका सज्ज मेघोंके समान श्यामर्घा और अत्यन्त चिकना शरीर है। सूर्यके समान शरीरका तेज है। उन जगत्पति भगवान्के चार चाढ़ी सुन्दर सुजाएँ हैं। दाहिनी भुजाओंमें महामणियोंसे जड़ा हुआ शङ्ख और भयानक अमुरोंको मारनेवाली कौमोदीकी गदा है। चारी भुजाओंमें कमल और चक्र शोभा पा रहे हैं। भगवान् शार्ङ्ग भनुष धारण किये हैं। उनका गला शङ्खके समान, गोल मुखमण्डल और नेत्र कमल-पत्रके सदृश हैं। उन हृषी-केशके कूनद-से अति सुन्दर दौत हैं। उन पश्चानाम भगवान्के अधर प्रवालके तुल्य लाल हैं, मस्तकपर अत्यन्त तेजपूर्ण उज्ज्वल किरीट शोभा पा रहा है। उन केशध-भगवान्के हृदयपर श्रीवत्सका चिह्न है, वे कौस्तुभ मणि धारण किये हुए हैं। उन जनार्दनके दोनों कानोंमें सर्वके समान चमकते हुए कुण्डल विराजमान हैं। वे हार, बाजूबंद, कड़े, करघनी और अङ्गठियोंके द्वारा विभूषित हैं और सर्वांके समान पीताम्बर धारण किये गरुड़जीपर विश्रित हैं।’

हे राजन्! पापसमूहका नाश करनेवाले भगवान्के साकार स्वरूपका इस प्रकार ध्यान करनेसे मनुष्य शारीरिक, वाचिक और मानसिक—तीनों पार्षोंसे छूट जाता

है और सारे मनोरथोंको पाकर तथा देवताओंके द्वारा पूजित होकर श्रीभगवान्के दिव्य परमधामको प्राप्त होता है।

यं च आभिलेखत् कामं तं तं प्राप्नोति निवितम् ।
पूज्यते देवदैवश्च विष्णुलोकं स गच्छति ॥
(पञ्चपुराणके आधारपर)

गीतामें तत्त्वों, साधनों और सिद्धियोंका समन्वय-साधन

(लेखक—दीवान बहादुर के० एत० रामस्वामी शास्त्री)

ऑगस्ट कॉर्टेने बहुत ठीक कहा है कि प्रथेक सिद्धान्त एक पूर्वपक्ष बनता है, उससे उसका उत्तरपक्ष उत्पन्न होता और फिर दोनोंका एक महान् समन्वय साधित होता है। गीता इसी प्रकारका एक महान् समन्वय-ग्रन्थ है। इसमें तत्त्वोंका समन्वय है, साधनाओंका समन्वय है और सिद्धियोंका समन्वय है। हमलोग गीताको तबतक ठीक तरसे नहीं समझ सकते, जबतक इसकी स्तुतिके यथार्थ भर्मको न समझें कि 'सब उपनिषदें गौण हैं' अर्जुन बछड़े हैं और श्रीकृष्ण दूधके दुहनेवाले हैं तथा गीताराजी अमृत ही दूध है। गौणें भिन्न-भिन्न रंगकी ही सकती हैं, उनके हील-डौल भी अलग-अलग हो सकते हैं; पर जो दूध उनसे दुहा जाता है वह शुभ ही होता है, और सब गौओंका दूध मिलकर एक हो जानेसे वह बढ़ा ही उत्तम आश्वार बनता और उसमें विविध रस लिये हुए, एक रसका विलक्षण माधुर्य उत्पन्न होता है। यही नहीं, गीता स्वयं एक 'उपनिषद्, व्याख्यात्मका और साय ही योगशास्त्र' कहाती है। इसका यह अभिप्राय है कि गीता अशानको नष्ट करती और शानका प्रकाश देती है और केवल लक्ष्यको ही परिलक्षित नहीं कराती प्रस्तुत उसका रास्ता भी दिखाती है।

जिस भार्यिक आचार-विचारकी भूमिपर गीता प्रतिष्ठित है, उसकी ज्ञानमें रखते हुए यदि हम गीताके महत्वको समझनेका यक्करे तो इसके समन्वयका स्वर और भी अधिक स्पष्ट सुनायी दे। आधुनिक संस्कृति धर्म और तत्त्वज्ञानको एक दूसरेसे अलग रखती है और इसपर उसको गव्य भी है। परन्तु भारतीय संस्कृतिका यह तरीका नहीं है। सदासे ही उसने धर्म और तत्त्वज्ञानको परस्परसम्बद्ध रखता है। इसी प्रकार आशा और निराशा, अहम् और इदम्, अद्वैत और द्वैत, एकेश्वरत्व और बहुदेवत्व, पक्षति और परमेश्वर, माया और लीला, त्याग और भोग इत्यादि विचारों और भावोंका एक दूसरेके साथ सर्वथा पर्याप्त्य हिन्दुस्थानमें कभी रहा ही नहीं है। यह भी स्मरण रहे कि हिन्दुस्थानमें शानका

लक्ष्य जीवनका सच्चा मार्ग ही रहा है, केवल शौद्धिक विश्लेषण-का मानस विलास नहीं। यह लक्ष्य केवल इसी जीवनके ही मार्गका नहीं या बल्कि परम जीवनके मार्गका भी। केवल न्यायशास्त्रको अथवा धर्मशास्त्रको ही हिन्दुओंने जीवनका अध और इति नहीं माना। धर्मशास्त्रमें भी स्वत्वोंकी अपेक्षा कर्त्तव्योपर ही अधिक ध्यान दिलाया गया है और न्याय-शास्त्रकत्वमें यह यात मान ली गयी है कि न्यायशास्त्रके परे भी कोई और चीज़ है। जगत्को (जो अपरा प्रकृति है) भगवान्का मन्दिर मानना, सब जीवोंको (जो परा प्रकृति है) प्यार करना और इन दोनोंमें आत्मरूपसे रहनेवाले भगवान्-की प्रगाढ़ रागमयी भक्ति करना हिन्दू-तत्त्वज्ञानका सार-भर्म रहा है।

आधुनिक हिन्दू-तत्त्वशोधनविद्या (Indology) का दिमाग तो बहुत ऊँचा है, परन्तु हिन्दू-संस्कृतिकी शोभाको उसकी आँखें अभी प्राप्त नहीं देख सकती हैं। इसने वेदोंमें वर्णित विषयोंको प्राकृत हस्तोंका वैदिक देवकरण कहा है और इन देवताओंकी सुति, अर्चा, यजन आदिको अनेक-देववाद और देवविद्येवाद आदि मनमाने नाम दिये हैं। परन्तु यथार्थमें वेदोंने इन सब देवोंको एक ही कहा है और ईश्वरको जगत्में अन्तर्विस्त तथा जगत्के परे भी माना है—‘अग्निं यमं मातृत्रिशानमाहुः। एकं सद्ग्निं बहुधा वदन्ति।’ इत्यादि वेदोंको देवस्तुति केवल प्रकृतिपर देवतवका आरोप या वेदोंका बहुधा देवाभिधान अनेकदेववाद नहीं है। अग्नवेदके शृण्य दिव्य प्रकृति (गोपा शृ॒तस्य) के व्यक्त भावस्वरूप धर्मके अनुशासनको जितना जानते थे, उतना ही प्रकृतिके विधानको भी जानते थे। अद्वैतवाद, विशदेवतवाद आदिकी जो आधुनिक परिभाषाएँ (मोनिज्म, पैनथीज्म) हैं, वे बहु चक्रवर्तमें डालेवाली हैं। हिन्दुओंका सिद्धान्त तो सदासे यही रहा है कि ईश्वर ही जगत्का उपादान और निमित्त कारण है और वह जगत्में अन्तर्विस्त भी है और जगत्के परे भी है तथा व्यष्टिपुरुष और समष्टिपुरुष तत्त्वतः दोनों एक हैं।

‘हिन्दू-तत्त्वशोधनविद्या’ का यह आविष्कार है कि पुनर्जन्म वैदिक सिद्धान्त नहीं है, वेद तो स्वर्ण और नरको नित्य भानते हैं। इस अभिनव विद्याका फिर यह भी कहना है कि उपनिषदोंमें सिद्धान्त वेदोंके विरुद्ध हैं, उपनिषदोंने वेदोंके कर्मकाण्डको लहसनहस कर डाला। भारतीय हिन्दू-तत्त्वशोधक भी इन सब विषयोंमें तोतेकी तरह वही भ्रात रटा करते हैं, जो उन्हें इस विद्याके उनके पाश्चात्य गुरुओंने पढ़ा दी है। इस संकुचित अन्यानुकरण-प्रणालीको वेदव्यासकृत ब्रह्मसूत्रों और गीताके वचनोंकी समन्वय-दृष्टिके समाने रखकर देखा जाय तो इसका विकृत रूप आप ही देख पड़ेगा और समन्वयके सिद्धान्तकी महत्वा प्रकट होपी। भगवान् गीतामें कहते हैं—

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेदो वेदास्त्वकृद्विदेव चाहम् ॥

(१५ । १५)

यात यह है कि ‘मत्वं ज्ञानमनन्तम्’ का सिद्धान्त और विश्वके देवताओंके अनेकत्वका सिद्धान्त—ये दोनों परस्पर-विरोधी सिद्धान्त नहीं हैं वस्तिक एक ही सुसङ्गत, सुसमन्वित, एकीभूत सिद्धान्तके दो अङ्ग हैं। सुरुण और निरुणके समन्वयमें जो अधिग विवाद पीछे नले, उनको गीताके ही समन्वय-साधक वचनोंसे शान्त करनेका प्रयास हुआ था। ईश्वरको जगत्-सम्बन्धमें देख सकते हैं अथवा जगद्रहित दृष्टिसे भी देख सकते हैं। ईश्वरका जगत्कर्तृत्व और ईश्वरका आनन्दमय स्वरूप—इन दोनोंमें भला, कौन-सी तात्त्विक विसंघारिता है ? ‘तज्ज्वलनित शान्त उपसीति’ इस छान्दोग्य श्रातिके साथ ‘नेदं यदिदमुपासते’ इस केनोपनिषद्यन्त्रका कौन-सा ऐसा विरोध है जो नहीं मिट सकता ? आरम्भावाद, परिणामावाद और विवर्तावाद क्या एक दूसरेके ऐसे शत्रु हैं जिनमें मैल नहीं हो सकता ? क्या भावाको अस्त् और भ्रमके साथ ही समालीन करना होगा और अविद्याको अज्ञान और अवोधके साथ ? क्या ये दोनों ही नाम-स्वरूप साधक तत्व नहीं हैं ? अबत ब्रह्मका सान्त होना बैता ही आश्रम्यमय है जैसा जगत् और जीवका ब्रह्म होना है। जीव करते और भोक्ता है और जगत् वह नीज है जो बदलती रहती और इस कर्तृत्व तथा भोक्तृत्वको अवसर देती है। ब्रह्म अनन्द नित्य आनन्द है। सामान्य जीवमें यह आनन्द कर्तृत्व और भोक्तृत्वसे आच्छ रहता है। अवतारों और जीवन्तुक पुरुषोंमें यह अवगण नहीं होता। ब्रह्म अज्ञेय नहीं है किन्तु परम शेष, परम भोग्य और परम भाव्य है (‘अथ भत्योऽमत्यों

भवति’, ‘अत्र ब्रह्म सम्पन्नते’।) ब्रह्म जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—हम तीनों अवस्थाओंके परे हैं। वह तुरीय क्या, बल्कि तुरीयातीत अवस्था है। यह जाग्रत्-तत्त्वशरहित सुषुप्तिकी अवस्था है। अहङ्कारकी विवेक और वैराग्य, भक्ति और श्रवण-मनन-निदिष्यासनके द्वारा परिशुद्ध करके बाही स्थिति-में पहुँचाना होगा।

मेरे कथनका यह अभिप्राय नहीं है कि भारतीय तत्त्वशान बुद्धिशील नहीं था। मैं केवल यह कहना चाहता हूँ कि वैदिक शूष्यियोंको ऊँचे-से-ऊँचे तत्त्वोंके प्रत्यक्ष दर्शन हुए थे, आप इसे दर्शन या अन्तःस्फूर्ति जो चाहे कह लीजिये। इनके इन स्वानुभवोंका वीछे विविध प्रकारसे समन्वय हुआ और जो सबसे महान् समन्वय हुआ, वही यह गीता है। प्रोफेसर रामले ठीक ही कहते हैं कि ‘उपनिषदोंमें कोई एक ही दर्शनप्रणाली नहीं है, बल्कि कितनी ही प्रणालियाँ हैं जो पर्याप्तश्रेणियोंके समान एकके ऊपर एक उठती-सी देख पड़ती हैं और अन्तमें एकमेयाद्वितीय ब्रह्मको प्राप्त होती हैं।’ हिन्दू इस सिद्धान्तको ‘मानते हैं कि जगत् अनित्य और दुःखमय है।’ फिर हिन्दूओंका यह भी सिद्धान्त है कि जीवन परमानन्दका ही उद्देश है। जो योग इन दोनों सिद्धान्तोंको एक दूसरेको काटनेवाले समझते हैं, वे यह नहीं जानते कि हिन्दू जगत्को क्या समझते हैं। अज्ञान और राग ही मृत्यु और दुःखके कारण हैं; ज्ञान, त्याग और योग आनन्दके साधन।

रागद्वेषविवृत्यैस्तु

आत्मवद्वैर्यविद्यात्मा

विषयानिनिद्रैश्चरन् ।

प्रसादमधिगच्छति ॥

(गीता २ । ६४)

धर्म, अध्यात्मशाख और योग—तीनों उपनिषदोंमें आकर एक हो जाते हैं। शारिदर्य जो कुछ कहते हैं उसके विरुद्ध यात्मवद्वैर्यके कथनको मत छूँड़ लायें, प्रत्युत दोनोंके वचनोंमें दोनोंके अनुभवों और अनुशासनोंकी जो परस्पर-पूर्णि है उसपर ध्यान दीजिये।

यहाँतक हमने उपनिषदोंकी इसलिये चर्चा की कि ज्ञाततक लोग ब्रह्मसूत्रोंद्वारा साधित समन्वयकी हृषिके उपनिषदोंकी ओर नहीं देखेंगे तबतक गीताको भी कदापि नहीं समझ सकते। ये तीन ग्रन्थ ही तो हमारे प्रथानन्त्रय हैं। गीतामें उपनिषदोंका स्वाद आ ही जाता है। गीताके कई श्लोक कठोरप्रिष्ठद्वारा लिये गये हैं—जैसे ‘य एवं देति हन्तास्मः... न जायते... इन्द्रियाणि पराण्याहुः...’

इत्यादि, जो गीताके द्वितीय अध्यायके १६, २० और ४२ वें श्लोक हैं। भाव भी कई उपनिषद्मन्त्रोंके गीतामें ज्यो-केत्यों आये हैं—जैसे ‘न कर्म लिप्यते नरे’ (इशावास्य) उपनिषद्-का यह भाव ‘लिप्यते न स पापेन पश्चपत्रमिवाम्भात’। इउ प्रकार गीता (५। १०) में प्रतिष्ठविनित हुआ है। पुरुष-सूक्तका पुरुषवर्णन और मुण्डकोद्दिनपृष्ठका ‘अभिमूर्धी चक्षुषी चन्द्रसूरी’ यह मन्त्र गीतान्तरंगत विश्वरूपवर्णनके पूर्वरूप हैं। कठोपनिषद्-में जिस संसाररूप अश्वत्थमूर्खका वर्णन है, वही गीताके पन्द्रहवें अध्यायके अश्वत्थवर्णनका वीज है। अन्य अनेक उपनिषद्मन्त्र गीतामें प्रतिष्ठविनित हुए हैं।

यदि इस गीताके साधन-समन्वयको ध्यानमें ले आँदें तो इससे बढ़ा लाभ हो सकता है यदि इस साधन-समन्वयका हम तत्त्वोंके समन्वयके साथ तथा सिद्धियोंके समन्वयके साथ समन्वय कर लें। गीता अध्याय २ के ५४ वें श्लोकका भाष्य करते हुए श्रीमत् शशकाराचार्य कहते हैं—

‘सर्वश्रैव इष्टात्मशास्त्रे कृतपर्यक्तशङ्खानि यानि तान्येव साधनान्युपादिश्यन्ते यत्प्रायद्वयात्।’

‘अर्थात् अध्यात्मशास्त्रमें सर्वत्र ही जिसके जो लक्षण बतलाये गये हैं, वे ही उसकी प्राप्तिके साधनरूपसे उपदिष्ट होते हैं, क्योंकि वे यत्प्राय हैं।’ इस प्रकार गीतामें मुक्त पुरुषके जो लक्षण बतलाये गये, वे ही मुक्तिके साधन हैं। साधन-समन्वयमें जो बात मुख्यतया ध्यानमें रखनेकी है, वह यह है कि साधनमात्र ही साधककी आत्मभूमिका तथा जगत् और ईश्वरसम्बन्धिनी उसकी भावनाके अनुरूप ही हुआ करता है। साधनसम्बन्धी इस मूल तिद्दान्तका ध्यान न रहनेसे ही जातमें नाना प्रकारके धार्मिक और साम्पदायिक लागड़े हुआ करते हैं।

गीताके तेरहवें अध्यायका यह बाईसवाँ श्लोक वडे महत्वका है—

उपदृष्टानुभेद्या च भर्ती भोक्ता महेश्वरः।

परमार्थमेति आप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥

इससे यह मात्रम् होता है कि जीवात्मा जो परमात्मासे अभिन्न है, भिन्न-भिन्न दृष्टियोंसे देखा जा सकता है। हम उसे उसके जगत्तात्मबन्धकी दृष्टिसे देख सकते हैं, जगत्-में देख सकते हैं और जगत्-में पृथक् भी देख सकते हैं। हम इसे जगत्-में निमग्न भोक्तारूपमें या जगद्व्यवहारी कर्त्तारूपमें धा मनके द्वारा होनेवाले कार्योंके अनुमन्तारूपमें अथवा साक्षी या सक्षम या निरवेश ब्रह्मरूपमें देख सकते हैं। ये विभिन-

भाव साधकके आत्मसाक्षात्कारके विभिन्न स्तर हैं। इस श्लोक-की नीलकण्ठी टीका इस प्रकार है—‘पहले यह बतला चुके हैं कि गुणसङ्कट ही जन्मका कारण है। यह सभी चार प्रकारका होता है—पुरुषका अपलाप और गुणोंकी ही प्रधानता हो अथवा पुरुषको अन्तर्भूत करके गुणोंकी प्रधानता हो या गुणोंकी अप्रधानता हो। पहले देह, इन्द्रिय, मन आदिरूप गुणसङ्कृतको ही आत्मा जानकर भोक्ता बनता है, जैसे चार्वाकादि। दूसरे, गुणोंकी प्रधानतासे अपने अंदर वास्तविक कर्तृत्वादिका अभिमान करके भर्ती बनता है—जैसे तार्किकादि। तीसरे, गुणोंकी समप्रधानतासे उस भोक्तृत्वको, जो यथार्थमें गुणगत ही है, बत्यं असङ्ग होते हुए भी अपने अंदर बद्ध-में भल्लातक (भिलावे)के चिह्नके समान, अनुमति दे लेता है—जैसे सांख्य। चौथे, गुणवर्णोंका अपनेसे कुछ भी लगाव न देखकर यह गुणोंद्वारा होनेवाले कार्यका केवल दर्शक अर्थात् उपद्रष्टा होता है, जैसे अपने यहाँ साक्षी। इन चारों प्रकारके गुणसङ्कृतोंमें उपद्रष्टा उत्तम है, अनुमन्ता मध्यम, भर्ती अध्यम और भोक्ता अधमाधम है। वही जब गुणोंको वशमें करके क्रीड़ा करता है, तब महेश्वर कहाता है। सुष्ठु-स्थिति-प्रलयका कर्त्ता जो जगदन्तर्यामी प्रभु है, वही गुणोंको दूर करके परमात्मारूपसे स्थित और उक्त होता है। इस प्रकार एक ही इस देहमें विद्यमान है जो पर है, गुणातीत है, जो गुणोंको अपने अंदर प्रलीन करके अवार्डेकरसरूपरूप स्थित है। आक्षा गुणसङ्कटसे पड़विध होता है। इसका यही प्रभाव है। अनुमन्ता, भर्ती और भोक्ता—इन रूपोंसे यह बढ़ होता है; उपद्रष्टा, महेश्वर, परमात्मा—इन रूपोंमें नित्यमुक्त एकमात्र है।’

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हमें आत्माकी इस कर्तृत्व-भोक्तृत्व-अनुमन्त्रन्त्र-भावनासे उठकर साधित्य और परमात्मा-के साथ एकत्वके भावको प्राप्त होना होगा। जीवात्मा और परमात्माका परस्पर समन्वय बतलाते हुए गीता कहती है कि परमात्मा माता, पिता, बन्धु और स्वामी हैं और जीव उन्हींका एक अंश है जो उनसे अभिन्न है।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।

वेदं पवित्रमोङ्कार ज्ञजसाम यनुरेव च॥

गति भर्ती प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।

प्रभवः प्रलयः स्थानं निघानं वीजमन्वयम्॥

(९। १७, १८)

मर्मैवांशो जीवस्त्रोके ओचभूतः सनातनः । (१५।७)
स्वेच्छं चापि मां चिदि सर्वंसेषेषु भारत । (१६।२)

क्या ये सब विभिन्न अनुभव परस्परविलंबादी हैं ? कदापि नहीं । ये मिलन और एकत्रके उन्नोत्तर उच्च स्तरोंके अनुभव हैं ।

इसी प्रकार सगुण और निर्गुण ब्रह्म, अन्तर्भाव और परमभाव, मातृभाव और पितृभाव, पतिभाव और इंश्वरभाव—इन सबमें जो सामझदार्य है, उसे साधना होगा । गीताके द्वादशाध्यायमें यह बतलाया गया है कि सगुण ब्रह्मके उपासक और निर्गुण ब्रह्मके उपासक दोनों ही एक ही ब्रह्मको पाते हैं—

ते प्राण्युचन्ति मायेव सर्वंभूतिहेते रताः । (१२।१५)
तेषामहं समुद्भृता स्मृत्युसंस्कारसागरात् । (१२।१७)

अपनी पुस्तक Problems of The Bhagavad Gitaमें जो 'कल्याण-कल्पतरु'में प्रकाशित हो चुकी है, मैंने 'ब्रह्मव्यापा' (५।२१) और 'भयोगा' (१२।११) के भावोंको स्पष्ट करनेका यत्न किया है । इनमें जो भेद है वह स्तरोंका नहीं है, बल्कि ये दो प्रकारके अनन्त नित्य धारा हैं और दोनों ही परम आकृत्य और आनन्दमय हैं । अर्जुन श्रीकृष्णको परम ब्रह्म, परम धारा, परम पवित्र, शाश्वत पुरुष, आदिदेव, अज और विमु (१०।१२), ये विशेषण लगाते हैं । दूसरे अध्यायके ७२ थे ८० खोकमें तथा नवें अध्यायके २४ से २६ तकके खोकमें 'ब्रह्मनिर्वाण' की विशेषणस्पत्तें चर्चा हुई है और उतने ही विशेषणपते 'ब्रह्म'को परम अक्षर और अठायें अध्यायके तीसरे और चौथे खोकमें 'वासुदेव' को अधियक्त कहा गया है । तेरहवें अध्यायके १२ से १७ तकके खोकमें 'ज्ञेय' परब्रह्मका विस्तृत वर्णन है और फिर उसी अध्यायके १४ थे १८ खोकमें मगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं अमृत अव्यय ब्रह्म, शाश्वत धर्म और प्रेक्षनितके सुखका धारा हूँ । इस प्रकार भगवद्गुप्त साध्यके सम्बन्धमें गीताका समन्वय साधकरूप जीवके समन्वयका सा ही अन्यन्त महत्वपूर्ण है ।

जगतुस्मवन्धी जो समन्वय गीतामें है, वह भी इतना ही महत्वपूर्ण है । हमलोग इस समय जगत्की सत्यासत्यताके विषयमें एक बड़े चक्रमें पड़े हुए हैं । प्रथम यह होता है कि यह दुर्घालय है या आनन्दकदमें इसकी स्थिति है । गीता कहती है कि यह दुर्घालय है, अशाश्वत है (८।१५) और अनित है, असुख है (९।३३); पर इसी जगह

हम परमानन्दका सुधास्वादन भी कर सकते हैं—'प्रसाद-मयिगच्छति' (२।६४), 'प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते' (२।६५) (पाँचवें अध्यायके २३ से २६ तकके खोक भी देखिये ।), 'सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्पतं सुखमनुते' (६।२८), 'सुखुर्वं कर्तुमव्ययम्' (९।२) । दुःख और सखुका कारण तो काम है । गीतामें मृत्युका और बट, सुखण्ड और अलङ्कार, रज्जु और सर्प, शुकिका और रजत, मक्षमूर्मि और मृगजल, ऐन्जालिक और इन्द्रजाल इत्यादि प्रचलित उदाहरणोंका कोई पता नहीं है । श्रीकृष्ण केवल आकाश और वायु (१।६, १३।३२) तथा सूर्य और पृथ्वी (१।२३)का उदाहरण देते हैं । जगत् उत्पन्न किया भगवान्, धारण करते हैं उसे भगवान् और भगवान् ही उसमें व्यापक हैं । सूर्य, चन्द्र, अग्निका जो तेज है वह उन्हकी तेजसे निकला है (अ० १५, खोक १२ से १८ तक) ।

दसवें अध्यायमें जगत्की भगवान्की विभूति कहा है । जगत् उत्पन्न होता है भगवान्से और भगवान्में ही ल्य होता है । भगवान्की महिमासे इसकी महिमा है और इसकी सत्यता परापूर्ति है । जब हम निरपेक्ष ब्रह्मका विचार करते हैं और जगत्की उसका एक अशाश्वतरूप मानते हैं, तब हम विवरित्यादसे काम लेते हैं । जब हम अपनी हृषिको प्रत्येक कल्पमें आवद न रखकर जगत्के पुनःपुनः उत्पन्न होने और लीन होनेका दृश्य एक साथ देखते हैं, तब वह परिणाम-बाद होता है । जब प्रत्येक कल्पमें अपनी हृषिको परिसीमित करते हैं, तब अपरम्परावाद ग्रहण करते हैं । रही मायाकी बात, वह बहुत कुछ मायिक ही है । मायावादके प्रवक्त्रक श्रीमत् शङ्कराचार्य नहीं हैं, न यह बौद्धोंके शून्यवादका ही संविधान है । माया बहुत उपनिषद्की है । ईशायाम्यके—

'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिदितं सुखम् ।'

(सूक्ष्मे सुवर्णपात्रके द्वारा सत्यका मुख छिपा हुआ है ।)—इस भन्नमें मायाका भाव स्थान आ गया है । मुण्डको-परिषद्में वर्णित हृदयमन्त्य मायाका ही एक दूसरा रूप है । हृदारण्यकके—

'अस्तो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योमा अमृतं गमय ।'

इस भन्नमें माया एक तीसरे ही रूपमें लामने है । कठोपनिषद्के 'अशुद्धेषु भ्रवं तत्' वे पद और एक रूपमें

मायाको पेश करते हैं। माया कहनेसे भ्रम और मिथ्यात्वका बोध होता है। 'माया' शब्दका प्रयोग शक्ति-अर्थमें भी होता है (इन्द्रो मायाभिः पुरुषं इयते)। शेषाखतर उपनिषदमें माया, प्रकृति और शक्ति-तीनों शब्द एक ही अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं (माया तु प्रकृति विद्यान्मायिन् तु महेश्वरः देवात्मशक्ति स्वगुणोर्निर्गूढाम्)। गीतामें भगवानने 'माया' शब्दका प्रयोग अपनी प्रकृति और शक्तिके अर्थमें किया है—'प्रकृतिं स्वामविद्वाय सम्भेदात्मात्ममाया' ॥ (४।६) ऐसी होपर गुणमयी सम माया' (६।१४), 'माययापहृतज्ञानाः' (६।१५), 'ईश्वरः सर्वभूतानाम्' 'भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारुदानि मायया' ॥' (१८।६१)।

इस प्रकार एक दृष्टिसे ज्ञान-ईश्वरको छिपाता है, दूसरी दृष्टिसे ईश्वरको प्रकट करता है। जब जगतसे ईश्वरका छिपना होता है, तब मायाका अर्थ है मनुष्यके मनका भ्रम; जब उससे ईश्वरका प्राकृत्य होता है तब मायाका अर्थ है विद्या। जब हम अनेकों एकके ही व्यक्त रूप देखते हैं, तब मायाका अर्थ है शक्ति। जब हम एकको अनेकमें और अनेकों एकमें, विभिन्नतामें एकता और एकतामें विभिन्नता देखते हैं तब मायाका अर्थ है प्रकृति। जब हम अनेकों एक ही देखते और नानात्वको केवल अव्यापीप, तब मायाका अर्थ होता है भ्रम या मिथ्यात्व। सूर्य मन्त्रनिर्णय करता है और उसके छोटे-छोटे जल-विस्तुओंके साथकोपर इन्द्रधनुष चमकाता है, जिसमें तरह-तरहके रंग देख पड़ते हैं; ये सब रंग अनेक हैं, फिर भी हैं तो एक ही।

इसी दृष्टिसे गीताके साधनोंका जब हम विचार करते हैं तो यह देख पड़ता है कि इसमें सामन्यिक रुहिण्युता और सहिण्य समन्वय मरा हुआ है। साध्यस्वरूप भगवान् इसमें सबको ग्रहण कर रहे हैं।

सम वर्त्मानुवर्त्मते मनुष्याः पार्थं सर्वदाः ।

(२।२३; ४।११)

समोऽहं सर्वभूतेऽनु न मे द्वेष्योऽस्मि न प्रियः ।

ये भजन्ति तु मां भस्त्या मयि से तेषु चाप्यहम् ॥

(१।२९)

श्रीकृष्ण भावके भूम्भूते हैं, बाय आडभरके नहीं

(१।३०; ३१)। सर्वमें करनेवाला पुरुष कभी दुर्गतिको नहीं प्राप्त होता (६।४०)। भगवान्के भक्तका कभी नाश नहीं होता (३।३१)। गीता किसीकी श्रद्धाबुद्धिमें भेद नहीं उत्पन्न करती (३।२६)। साथ सबका एक है और वह है नित्य अनन्त परमानन्द। इसे पानेके अनेक रास्ते हैं। जनकादिकोंने कर्मयोगके द्वारा इसे प्राप्त किया (३।२०)। इस कर्मयोगमें ध्यान और ज्ञान भी शामिल हैं, पर ज्ञानोत्तर कर्ममें इसकी जड़ है।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।

सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥

(५।१०)

यह 'योगः कर्मसु कौशलम्' है, क्योंकि बन्धनके साधनको यह मोक्षका साधन बना लेता है। यह पारस-मणि है, जिससे संसारका लोहा मोक्षका सोना बन जाता है। यह वोगमत्व है (२।४८)। गीता कर्मका संन्यास नहीं सिखाती, बल्कि कर्ममें संन्यास तिखाती है; कर्मसे मुक्त होना नहीं बताती, कर्ममें मुक्त होना बताती है। सारा गीता-रहस्य, अवश्य ही, कर्मयोग ही नहीं है। ध्यान या राजयोग, राजनयोग, भक्तियोग—इन सबके साधकोंको गीतामें मोक्षकी प्राप्ति कही गयी है। कर्मयोगमें ध्यान, भक्ति और ज्ञानका अंश भी है ही। अकेला—इन सबसे रीता कर्मयोग कोई मोक्षाधान नहीं है। श्रीकृष्ण सभी मार्गोंको एक-से-एक बढ़कर बतलाते हैं, पर अपना उदाहरण कर्मयोगके प्रसङ्गमें ही देते हैं—यह विशेष चात है (३।२२से२४)। तेरहवें अध्यायके २४वें और २५ वें इलोकोंमें अनेक मार्ग एकत्र संकलित हैं। उनमें सबसे सुगम और सुनिश्चित भक्तियोग ही है—

भक्त्या ल्बन्न्यया शब्द्य अहमेवंविद्वाऽऽमृत ।

शांतुं द्रष्टुं च तर्केन प्रवेष्टुं च परंतप ॥

(१।५४)

गीताका लक्ष्य वही है, जो उपनिषदोंका है—अर्थात् निःश्रेयसकी प्राप्ति। मार्ग कोई हो, यदि वह ईश्वरकी ओर ले जानेवाला है तो उसीसे चलकर मनुष्य उसके पास पहुँच सकता है। सब उसीके मार्ग हैं, सबका एक लक्ष्य है, सब भगवान्की ओर जा रहे हैं। इस प्रकार ज्ञानकर अपने

मार्गपर चलता हुआ जो भक्तिभावसे भगवान्को मज्जा है, वह
भगवद्भूषण, भगवद्येम और भगवद्नमूर्तिकी प्राप्त होता है।
इदं क्षानमुपाश्रिय मम साधन्यमापातः ।
सर्वेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न वश्यन्ति च ॥

(१४१२)

बहुभूतः प्रसक्षाप्ता न शीघ्रति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मन्त्रिं लभते पराम् ॥
भक्त्या मामाभिजानाति यादान् यश्चास्मि वश्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो शक्त्या विशते तदनन्तरम् ॥

(१८१५४-३५)

गीतोक्त साधन

(लेखक—प० श्रीकलाभरजी त्रिपाठी)

(१) साधन-फल

'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्य माम् ॥'

(गीता १।२३)

इन सोलह अक्षरोंमें पोडशकलासम्पन्न पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीके सुन्दर गीतोपदेशका सार है। सभी प्राणी सुख चाहते हैं, परन्तु उन सबका सुख एक ही प्रकारका नहीं है। अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार कुछ लोग तो आत्मबुद्धिके प्रसादसे उत्तम सुखमें ही रमते हैं (गीता १८।३७); कुछ विषय और हिन्दियोंके नंगेपर से जो सुख होता है, उसमें ही अपने ही क्रतार्थ भानकर उसकी प्राप्तिके लिये अनेक कर्म करते हैं (गीता १८।३८) और कोई-कोई निद्रा, आलस्य एवं प्रमादसे उद्दूसु सुखमें ही अपनेको सुखी समझते हैं (गीता १८।३९)।

जो मनुष्य भगवान्का भजन जिस रूपमें करते हैं, भगवान् उसी रूपमें उनका मनोरथ पूर्ण कर देते हैं (गीता ४।११); इसीलिये वेदमें भगवद्वर्णन (वेदैश्च सर्वैरहमेव वेदः) और स्वर्गादिके सुखका सम्पादन (गीता २।४३) दोनोंका ही विधान है।

यज्ञार्थ (भगवदर्थ) कर्मके अतिरिक्त जो कर्म किया जाता है, वह बन्धनका कारण होनेसे (गीता ३।१९) उत्तके कर्त्ताका जीवन ही व्यर्थ है (गीता ३।१९)। एतदर्थ वेदार्थको जानकर, दैवी प्रकृतिके आश्रित पुरुष नित्य-सुखस्वरूप भगवान्की सेवा निरन्तर निष्काम भावसे करते हैं (गीता १।१३) और अपने साधनके अनुसार उत्तम, ऐकानिक, आत्मनिक तथा अक्षय सुख पाते हैं। परन्तु जिनकी रजोगुणी दृष्टि सकाम साधनमें लधी हुई है, वे भगवान्को जानकर भी स्वर्गादि भोगोंके प्राप्त्यर्थ भगवान्की विषयत् उपासना करते हैं (गीता १।२७), भगवान् उनको

वेदविहित कर्म करनेके कारण अभीष्ट फल प्रदान करते हैं; परन्तु कुछ समयके पश्चात् उनका कर्म-फल क्षीण हो जाता है (गीता १।२१)। कुछ ऐसे भी मनुष्य हैं, जो देवताओं-को ही कर्मफलका दाता जानकर सकामभावसे देवताओंकी उपालना करते हैं; उनकी कामनाको भी भगवान् पूरा कर देते हैं। इनका फल भी अन्तवान् होता है; अतएव ये नित्यसुखसे वञ्चित ही रहते हैं। इनके अतिरिक्त आसुरी सम्पत्तिसे सम्पन्न, तामसिक प्रकृतिके कुछ ऐसे भी हैं जो अज्ञानवश भगवान्की सत्ताको न मानकर वेदविरुद्ध कर्म करते हैं। ये लोग बारंबार अथव योनिको प्राप्त होते हैं (गीता १६।१५-२०) यथापि ये भी इन्द्रवरके अंश, चेतन और इस्तेज अमल सुखरासी हैं तथापि राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृतिके वर्याभूत होकर, जड और चेतनमें ग्रन्थि पड़ जानेसे, मोषशान, मोषाशा तथा मोषकर्ममें फँसे हुए (गीता १।१२) नित्यसुखग्रद भगवद्भजनको ल्यागकर, विषय-दर्शन, विषय-कामना और विषय-सुखके निमित्त कर्म करते हैं, जिसके कालस्वरूप संसारी बने रहकर अनेक दुःख भोगते हैं। इन संसारी जीवोंके समक्ष, विश्वरूप भगवान्के स्थानपर, विश्वपट उद्घाटित रहता है और शब्द, सर्व आदि विषयोंके सम्बन्धसे इनका आत्मा विषयद्वारा सर्वथा आच्छन्न रहता है, जिसके कारण इनको भगवद्वर्णन नहीं होता—

'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमाचृतः ।'

परन्तु जब इन दीन अत्यन्त जनोंपर दीनानश्वरी कृपा होती है, तब विश्वपटल पलट जाता है और प्रलेक जड एवं चेतन पदार्थमें विश्वात्मा भगवान्का अनुभव होने लगता है। अर्थात् श्वासुदेवः सर्वमिति' अथवा 'सीय राममय सब जग जानी' की अनुभूति होती है और उस समय प्रत्येक कर्म भगवन्निमित्त किया जाता है।

2642

भगवान्के परम कृपापात्र भक्त अर्जुनने भी तदर्थ कर्म न करनेवाले, मोषज्ञानविचेता संसारी जीवोंके उद्धारके लिये धर्मसमूद्देशेता मनुष्योंके समान लीला की थी। उस समय वे स्वजनोंके जीवनकी मोषादा (कामना) में ही सुख मान रहे थे (गीता १ । ३३)। अतएव कुलधर्मकी रक्षाके अर्थ चिन्ता करते हुए (गीता १ । ३८-४०) पिण्डोदकनियाओं ही पितरोंके उद्धारका एकमात्र उपाय जाननेके कारण, उसके लुप्त हो जानेके भयसे निष्ठाल रहकर अपने विषयियोदारा मारे जानेके 'धोषकर्म' में ही कल्पणा समझ रहे थे (गीता १ । ४२-४६)।

अपने प्रिय सत्त्वाको संसारके मोषमस्त मनुष्योंके समान बातें करते देखकर तथा शिष्यभावसे शरणागत होनेपर (गीता २ । ७) भगवान्ने लोकहितके निमित्त अपने मतका उपदेश किया है और उसके अनुष्टानके लिये जो विधि बतलायी है उसमें कर्म, उपासना और ज्ञानका निर्वर्ण है; अतएव वह सभीको उपादेश है।

कर्मयोगी (गीता ६ । ४७), भगवान्के भक्त (गीता १२ । २०) और सुणातीत ज्ञानी (गीता १४ । २६)—सभी इस अनुष्टानमें तत्पर हैं; जीवनसुकृ प्राणी भी इसका रसास्वादन करते हैं—

सुक सनकादि मुक्त विचरत, तेऽ मजन करत अजहै ।
(विनयपत्रिका)

(२) साधन

मयि सद्बोगि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निरगशीर्णिर्मसो भूत्वा युद्धस्य विगतज्वरः ॥

(गीता ३ । ३०)

भगवान्ने अपने उपर्युक्त मतदारा प्रत्येक मनुष्यके लिये इस साधनका उपदेश दिया है कि साधक संसारके विषयोंकी आशा (कामना) और ममताको त्यागकर, शोकहित हो शास्त्रविहित कर्म करते हुए कर्मफलको मेरे अर्पण करे।

मनुष्यका यह स्वभाव है कि वह थोड़े-से ही प्रथासद्वारा बहुत बड़े कलबी आकाङ्क्षा करता है अर्थात् स्वत्य परिश्रमसे ही महीन तिदिं चाहता है। इसलिये दयालु गुरु (भगवान्) ने अपने आर्त शिष्य अर्जुनको ऐसे ही सुखम साधनका उपदेश किया है, जिसकी योऽसी साधना करनेपर भी

सा० अ० ५१ —

संसारके अल्पज्ञ दुःखी जीवोंका महान् भयसे उद्धार होता है (गीता २ । ४०)।

जिस तरह कुशल वैद्य रोगीके रोगका ठीक-ठीक निदान मालूम करके रोगका उपचार करता है उसी तरह भगवान् भी संसारके दुःखसे ग्रस्त जीवोंके दुःखका मूल कारण अविद्या-ग्रन्थि, हृदयग्रन्थि अर्थात् अविद्या*, कामना†, और कर्मको‡ जानते हुए, जो श्रीगीतामें मोषज्ञान, मोषादा और मोषकर्मके नामसे कथित हैं, उनको दूर करनेके लिये क्रमशः अव्यात्मचेता बनाने, निराकृति: एवं निर्मम होने तथा शास्त्र-विहित कर्मोंका फल अपने अर्थं करनेकी शिक्षा दी है।

इसी ईश्वरप्रणिधानको महर्षि पतञ्जलिने अपने क्रियायोगमें मुख्य मानते हुए इसीसे समाधिसिद्धिका उपदेश किया है। और महर्षि ज्यासज्जीने अपने भाष्यमें ईश्वरप्रणिधानका अर्थ 'स्व कर्मोंको परम पुरुष (परमेश्वर) के अर्पण करना' किया है।

भगवान्के उपर्युक्त मतका अनुष्टान करनेसे, जिसका उपदेश श्रीमद्भगवद्गीता (३ । ३०) में है, साधक पञ्चक्लेशसे मुक्त हो जाता है—जिनका वर्णन इसी मतके आगे और पीछे के दो-दो श्लोकोंमें है। अर्थात् कर्मफलके सन्याससहित ईश्वरमें कर्म अर्पण करनेसे अविद्याजनित आसक्ति नहीं रहती (गीता ३ । २५)। अव्यात्मचेता होकर सेवकके समान स्वामीके प्रसन्नतार्थ कर्म करनेसे 'मैं कर्म करता हूँ' इस प्रकारकी 'अस्सिता' नप्त हो जाती है (गीता ३ । २७)। निराकृति: होकर कर्म करनेसे कर्मफलके प्रति रागादि नहीं रहते (गीता ३ । ३४) और निर्मम होनेसे अभिनिवेश दूर हो जाता है, साधक स्वर्थमें साधनमें ही मरणके भयके बदले निधनको श्रेय समझता है (गीता ३ । ३५)।

भगवान्के इस सुगम एवं सुलभ मतमें सब कर्मोंके सन्यासका आशय यह है कि साधक जो शास्त्रविहित कर्म करता है (जिस प्रकार अर्जुनका शास्त्रोक्त कर्म सुदृढ़ या) —जिसके न करनेसे सिद्धि, सुख और सद्गति नहीं मिलती

* अविद्या—भगवान्को न जानना, आत्मज्ञान न होना अर्थात् सांसारिक पदार्थोंकी ईश्वरसे एधक् स्वतन्त्र सत्ता समझना।

† कामना—पदार्थोंवास स्वाधीन सत्ता ज्ञानवर उनके पानेकी इच्छा।

‡ कर्म—उनके पानेके लिये कर्मका अनुष्टान।

§ 'समाधिसिद्धिर्विश्वरप्रणिधानाद्'। (यो० द०)

(गीता १६ । २३-२४)—यह कर्म अर्थात् यज्ञ, दान, तप* और यज्ञसे वचे हुए अमृततुल्य भगवान्का भोजन भगवान्का नाम लेकर करना चाहिये और उसका फल भगवदर्पण कर देना चाहिये (गीता १ । २७) । ऐसा करनेसे उसको शुभाशुभ फलका कर्मवन्धन नहीं होगा ।

इसलिये अद्वैतमतके प्रवर्तक आस्तिकशिरोमणि स्वामी श्रीशङ्कराचार्यजीने भी प्रथिं सर्वाणि कर्मणि संन्यस्य का अर्थ गीता ३ । ३० के भाष्यमें ‘परमेश्वरके लिये सेवकके समान सद कर्म करना’ किया है । और श्रीरामचरितमानसमें परमभक्त कामधुक्षुण्डजीवा भी यही मत है—

सेवक सद्य भाव छिनु भर न तरिप्त उग्गारि ।

मन्तु राम पद प्रक्षम अस सिद्धांत विचारि ॥

(उत्तरकाण्ड)

और अद्वैतमतके आचार्य श्रीविद्यारण्य स्वामीने अपने विख्यात ग्रन्थ पञ्चदशीमें अविद्यान्कामना-कर्मरूपी हृदय-ग्रन्थिके निवारणार्थ वैराग्य, ब्रोध और उपरतिका जो वर्णन किया है, उसका आधार भी भगवान्का यही मत है; अर्थात् कर्मफलका त्याग (वैराग्य), अस्त्यन्तचेता होना ‘बोध’ और निराशीर्निर्मम होना ‘उपरति’ है ।

तथा भक्तिमार्गके आचार्य श्रीवल्लभाचार्यजीने संसारिक विषयोंके प्रति अनासक्ति और भगवदर्शणोंमें आसक्ति होनेके लिये विद्याके जो पाँच मेद—सांख्य, योग, तप, वैराग्य और भक्ति—बतलाये हैं, उनका सिद्धान्त भी भगवान्के इस मतमें उपदिष्ट साधनों अर्थात् कर्मफलके संन्यास तथा अस्त्यन्तचेता, विगतज्वर, निराशी और निर्मम होनेपर निर्भर है । इसीलिये भगवान्का यह मत कर्मयोगी, भक्तियोगी और शानयोगी सभीकी साधनाके लिये है ।

(२) साधक

ये मे मदमिदं नित्यमनुष्टिष्ठन्ति मानवाः ।

अद्वावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥

(गीता ३ । ३१)

जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक, दोषदृष्टिको त्यागकर अर्थात् इन्द्रियसंयम, मनन, ज्ञानतत्परता और निषाढारा इन्द्रिय, मन और बुद्धिके दोषोंको दूर करके भगवान्द्वारा उपदिष्ट मतके अनुसार अनुशासन करते हैं, वे कर्मवन्धनसे छूट जाते

* देव-द्विज-उरुभ्राष्ट-पूजनादि सार्विक तप ।

हैं । साधकको यह बुद्धियोग भगवान्का प्रेमपूर्वक भजन करनेसे प्राप्त होता है (गीता १० । ५७) ।

निर्गुणमतसे इस संगुणमतमें यह विशेषता है कि निर्गुणोपासक अपने उद्धारका भार स्वयं अपने ही ऊपर ले लेता है, जिससे उसको अनेक विज्ञोंका सामना करना पड़ता है; परन्तु संगुणब्रह्म-भगवान्का भक्त अपने समस्त कर्मोंका फल दयासागर भगवान्को सौंपकर निश्चिन्त हो जाता है ।

इसीलिये ज्ञाननिष्ठ साधक, सब प्राणियोंके मुहूर्द पुरुषोत्तम भगवान्की सर्वप्रकारसे सेवा करके कृतार्थ होते हैं (गीता १५ । १९-२०) ।

यद्यपि भक्तजन, सर्वभूतहितरत होकर, अहर्निश भगवान्की सेवामें ही मग्न रहते हैं और जन्म-मरणके त्राससे अभय होनेके लिये भगवान्से प्रार्थना न करके उनके स्मैहकी ही कामना करते हैं—

कुटुंब कर्म के जाहिं भोहि जहें-जहें अपनी बरिआह ।

तहें तहें जनि छिन छोह छायियो कमठ अंडको नाई ॥

(विनयपत्रिका)

तथापि भक्तभयहारी भगवान् उनको केवल सम्पूर्ण विष्णोंसे ही पार नहीं कर देते (गीता १८ । ५८) अपितु उनका योगक्षेम भी स्वयं वहन करते हैं (गीता १ । २२) ।

केवल सदाचारी भक्तोंपर ही भगवान् अनुग्रह करते हैं, यह बात नहीं है; प्रत्युत यदि दुराचारी भी भगवान्की सेवा करने लगें तो वे भी धर्मत्वा और साधु होकर शान्ति पाते हैं (गीता १ । ३०-३१) ।

एतदर्थं सभी मनुष्योंकी शोभा भगवान्की सेवा करनेमें है—

कला सिंधु भक्त चिंतामनि सोमा संवतहूँ ।

(विनयपत्रिका)

परन्तु जो साधक भगवान्के उपर्युक्त मतमें उपदिष्ट सम्पूर्ण साधनको एक साथ करनेमें असमर्थ हैं, उनकी सुविधाके लिये भगवान्ने नैष्ठर्यसिद्धिका यह सोपान बताया है कि साधक परमात्मा मन और बुद्धि ल्पाकर अस्त्यन्तचेता बनें (गीता १२ । ८) ; जो ऐसा नहीं कर सकते, वे अभ्यासके द्वारा संसारकी समस्त कामनाओंको छोड़कर अर्थात् निराशी होकर केवल भगवद्वान्की इच्छा करे

(गीता १२।९); जिनके लिये यह भी अशक्य हो, वे भगवदर्थ कर्म करें (गीता १२।१०) और जो हस्तमें भी अशक्त हों, वे कर्मफलकी ममता त्यागकर कर्म करें (गीता १२।११)।

अवश्य ही ऐसी दशामें साधकों तत्त्वदर्शी शाननिष्ठ गुरुके समीप जाकर साधनका अभ्यास करना चाहिये। क्योंकि बिना गुरुके शान नहीं होता—गुरु विनु होइ कि ग्यान ॥

भगवान्के साधनका तत्त्व समझनेके लिये श्रीगुरुकी शरणमें जानेके पूर्व साधकों प्रदावान्, शानतप्यर, संदेतन्द्रिय, गुरु-शृणुषादिसे युक्त और परिग्रह करनेकी मतिये सम्भव होना चाहिये—जैसा कि भगवान्नने अर्जुनको उपदेश किया है (गीता ४।३४, ३९) और छान्दोग्योपनिषदमें भी भूमिक्याके प्रकरणमें साधकके लिये इन्हीं सब अर्थात् श्रद्धा, विश्वान, मति, निष्ठा (गुरु-शृणुषादि) और कृतिं (इन्द्रियसंयम) को आवश्यक बतलाया गया है।

इन्हीं पञ्चसाधन अर्थात् श्रद्धा, शान, मति, इन्द्रियसंयम और निष्ठाका वर्णन रामचरितमानसमें काकभुगुण्डजीने इस प्रकार किया है—

सदगुर द्वैद बचन विस्तारात् । संजम॑ यह न विषय कै आसा ॥
रघुषति मति सजीवनं सूरी । अनूपान श्रद्धा मति पूरी ॥
गहि विधि मलेहि सो रोग नसाही । नाहि त जतन कोटि नहि जाही ॥
जानिष तब मन विहज गोसाहै । जब उर बल विराग अधिकाहै ॥
सुमिति छुया बाहै नित नहै । विषय आस दुर्लक्षता गर्दै ॥
विमल ग्यन जल जब सो नहाहै । तब रह राम भगति उर छाहै ॥
(उत्तरकाण्ड)

ऐसे साधनसम्बन्ध साधककी स्थितिका वर्णन गोस्वामी-जीने इस प्रकार किया है—

जानकीजीवन की बलि जैही ।

कित कहै राम सीधपद परिहरि अब न कहै असि जैही ॥१॥

* मति—अर्थात् मननपूर्वक परिप्रश्न करना ।

+ निष्ठा—गुरुशृणुषादितपरत्वं ब्रह्मविद्यानाय ।

(छा० उ० शास्त्ररमाय)

‡ कृतिरिन्द्रियसंयममित्यत्तेकायताकरणं च ।

(छा० उ० शास्त्ररमाय)

§ 'गुरुके वचनमें विशाल से विद्याका तात्पर्य है ।

× इन्द्रियसंयम अर्थात् कृति ।

¤ छान्दोग्योपनिषदमें भी भूमाको अमृत कहा गया है ।

उपजी उर प्रतीति सप्तमेहुँ सुख प्रभु पद विमुख न जैही ।
मन समेत या तनु के बासिन्ह इहै सिद्धावन दैही ॥२॥
श्रवननि और कथा नहि सुनिहीं, रसनाँ और न जैही ।
रोकिहीं नयन बिलोकत ओरहि, सीस ईसही नैही ॥३॥
नातो नेह नाथ सा करि सब नतो नेह बहैही ।
मह छर भार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैही ॥४॥
(विनयपत्रिका)

इस विनयमें भगवान्के उक्त मतमें उपदिष्ट सभी साधनोंका समन्वय रुचिर रूपमें मिलता है । यथा—

(१) 'जानकीजीवन की बलि जैही ।'

अर्थात् जिस प्रकार श्रुतिमें देवताओंद्वारा परमात्माको भेट अर्पण करनेका वर्णन है—

ता यो वैद । स वैद्र व्रह । सर्वेऽस्मै देवा वस्त्रिमावहन्ति ।

(तै० उ० १५१.५)

—उसी प्रकार साधक अपना समस्त कर्मफल भगवान्के अर्पण कर देता है, भगवान्पर अपना सर्वस्व निष्ठावर कर देता है ।

(२) 'चित कहै राम सीधपद परिहरि अब न कहै चित जैही ।'

भगवान्के चरणचिन्तनके अतिरिक्त किसी अन्य विषयमें चित्तका न लगाना ही अस्यात्मचेताका सुन्दर लक्षण है ।

(३) 'उपजी उर प्रतीति सप्तमेहुँ सुख प्रभु पद विमुख नैही ।

मन समेत या तनु के बासिन्ह इहै सिद्धावन दैही ॥२॥

श्रवननि और कथा नहि सुनिहीं रसनाँ और न जैही ।

रोकिहीं नयन बिलोकत ओरहि, सीस ईसही नैही ॥३॥

अर्थात् भगवान्के द्विवा किसी दूसरे विषयकी कुछ भी कामना न करना और अवश्य, नयन आदि इन्द्रियों तथा मनको सब औरसे खींचकर भगवद्विषयमें दिशर कर देना ही अस्यात्मचेताके साथ-साथ निराशीः होना है ।

* इस विनयकी पहली, दूसरी और तीसरी पक्षिमें पञ्चदशी-विहित वैराग्यके वारण, स्वरूप और फल, चौथी और पाँचवीं पक्षिमें वोधका कारण, छठीमें स्वरूप और फल तथा सातवीं और आठवीं पक्षियोंमें उपरतिके वारण, स्वरूप और फलके लक्षण क्रमशः समाप्त हैं । इसी प्रकार श्रीवल्लभानाथजीका 'साँख' पहली पक्षिमें, 'योग' चौथी, पाँचवीं और छठी पक्षियोंमें, 'तप' और 'भक्ति' तीसरी पक्षिमें तथा 'वैराग्य' सातवीं और आठवीं पक्षिमें वर्णित है ।

(४) 'नातो नेह नाय सो करि सब नातो नेह बहैहौ ।'

यह अध्यात्मचेताके साथ सांसारिक विषयोंमें ममता न रखनेका उत्कृष्ट उदाहरण है ।

(५) 'मह छर मार ताहि तुलसी जग जाओ राम कहैहौ ।'

और यदि सांसारिक सम्बन्धोंको तोड़ देनेसे कोई बुरा माने तो इसकी चिन्ता भी साधकको नहीं रहती । वह संसारकी सब निन्दा-स्तुतिका भार भगवान्को सौंपकर शोक एवं सन्तापसे रहित हो जाता है । यहीं विगतज्वर हो जाना है ।

इसीलिये अनित्य सुखको छोड़कर परमात्माका भजन करनेसे परमानन्दकी प्राप्ति होती है । इस भजनसे भगवान्की उस सेवासे तात्पर्य है जो भगवान्की प्रिय हो, अर्थात् जो भगवान्को रुचिकर हो । भगवान् सब प्राणियोंके सुदृढ़ हैं तो इस सब सेवकोंको भी सर्वप्राणियोंके हितमें रत रहना चाहिये; भगवान् साधुओंके परिचारके लिये अवतार लेते हैं, इसीलिये

हमलोगोंको भी साधुसेवी होना चाहिये; भगवान् धर्मकी संस्थापना करते रहते हैं तो हमारे लिये भी भगवान्के आशानुसार धर्मका यालन करना उचित है; भगवान् आलस्यरहित सब कर्मोंमें दर्त रहे हैं, अतएव हमलोगोंको भी चाल्लविहित स्व-वर्णाश्रमोचित कर्तव्य कर्मोंमें लगे रहना चाहिये (गीता १८।४५) । इन कर्मोंद्वारा भगवान्की सेवा करनेसे ही हमलोगोंको सिद्धि मिल सकती है (गीता १८। ४६) और असक्तबुद्धिसे निष्काम होकर भगवान्की सेवा करनेपर नैकर्यसिद्धि (गीता १८। ४९) अर्थात् परमधुखकी प्राप्ति होती है (गीता ३। १९) । साधक चाहे तो नित्य विभूतिके सुखमें और चाहे भगवान्की लोलायिभूतिमें रमण कर सकता है; अवश्य ही उसको संसारसे मुक्त होकर श्रीचरणोंमें पहुँचनेका अधिकार प्राप्त हो जाता है ।

सब साधन कर सुखल सुहावा । लखन राम सिय दरसन पावा ॥

(रामचरितमानस)

प्राणशक्तियोग और परकायप्रवेशविद्याका पूर्वरूप

(लेखक —पण्डित श्रीदयम्बक भास्कर शास्त्री खेर)

प्राण क्या है, प्राणशरीर क्या है—इत्यादि विषयोंका विस्तारपूर्वक विवेचन अवश्यक विस्तारपूर्वक विवेचन अवश्यक विस्तारपूर्वक विवेचन किसी व्यञ्यमें नहीं मिला । इस कठिन काममें हाथ डालनेका हेतु यही है कि इस लेखको पढ़कर इस विषयका विचार करनेमें वाठकोंकी प्रवृत्ति हो । प्राणशक्ति क्या है और प्राणशक्तियोग किसको कहते हैं ? इसीका ऊहपोह, इसलिये, इस लेखमें किया जायगा । विषयका सम्बन्ध उद्घोषन हो, इसके लिये इसके नीचे लिखे अनुसार आठ विभाग किये हैं—

(१) प्राण क्या है ? (२) प्राणमय शरीर किसको कहते हैं ? (३) प्राणायाम क्या है ? (४) अन्नमय कोशके साथ प्राणमय कोशका क्या और कैसा सम्बन्ध है ? (५) प्राणायामके द्वारा प्राणमय शरीरको अन्नमय कोशसे बाहर निकाल ले जानेकी प्रक्रिया । (६) जीव प्राणमय कोशको अन्नमय कोशसे बाहर ले जाकर किस प्रकार आपाततः लथा, बुद्धिगृहीत कर्म करता है ? (७) प्राणमय कोशके शानसे लाभ । (८) प्राणशक्तियोगकी फलश्रुति ।

१. सर्वसाधारण लोगोंकी धारणा यह है कि प्राणायाम ही

प्राण है । प्राणायामका विवेचन करते हुए योगमन्त्रोंमें प्राण-वायुको प्राण और प्राणायामको श्वासायाम कहा गया है । श्रीपतञ्जलि महामूर्तिका वचन है—‘तसान् ऋति श्वासप्रश्वासयोगतिविच्छेदः प्राणायामः । । प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ।’ अर्थात् श्वास-प्रश्वासकी गतिको नंद करना प्राणायाम है । अमृतनादोपनिषद्में भी प्राण-प्राणायामकी ऐसी ही परिभाषा की गयी है—

‘स्वचिरं रेचकं चैव वायोराकर्षणं तथा ।

प्राणायामभावः प्रोक्ष्य रेचकुम्भपूरकः ॥

त्रिः पठेद्वायतः प्राणः प्राणायामः स उच्यते ।’

श्रीमद्भगवतमें द्वश कृत्वा विषवणं मासादवार्ग् जितोऽनिलः । यह कहकर यह बतलाया है कि प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल—तीनों समय नित्य दस प्राणायाम तीन महीनेतक बराबर करे तो वह मनुष्य जितानिल हो सकता है अर्थात् वायुको जय कर सकता है । श्रीमद्भगवद्गीतामें भी ‘प्राणायामनै कृत्वा नासाम्यन्तरचारिणौ ।’, ‘अपाने सुहृति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।’, ‘प्राणान् प्राणेषु जुहति’

इत्यादि वचनोंके प्राणशब्दका अर्थ प्राणवायु ही किया जाता है।

२. पुरुषसूक्तमें 'प्राणाद् वायुरजायत' यह वचन है। इसमें यह बतलाया है कि वायु-तत्त्व प्राण-तत्त्वसे उत्पन्न हुआ है। अर्थात् प्राण और वायु दो मिल तत्त्व हैं। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश—ये पञ्चतत्त्व यथाक्रम एक-से-एक अधिक सूक्ष्म हैं; उनी प्रकार प्राणतत्त्व भी वायुतत्त्वकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है।

प्राणदृढ़व खलिल्लिति भूतानि जायन्ते। प्राणेन जातानि जीवन्ति । प्राणं प्रयत्स्यभिसंविशन्तीति ॥

—यह तैत्तिरीयश्रुति है। 'प्राणो वा ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च' (छान्दोग्य), 'प्राणो वै वलम्' (बृहदारण्यक), 'प्राणो वा अमृतम् । आयुर्वेदः प्राणः । राजा मे प्राणः ।' इत्यादि इसी आशयके उपनिषद्-वचन हैं। काशी गुरुकुलके संसापक श्री-अमरानन्द सगस्तीने प्राणायामविधिर एक अन्थ लिखा है। उसमें प्राणविद्यानामक अध्यायमें प्राणका धर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'परमात्मा प्रकृतिमें प्राण बनाता है।' प्राण सामान्य और विशेष भेदसे दो प्रकारका है। प्राणतत्त्व सम्पूर्ण जगत्में व्यापक है, अर्थात् दृश्य और शेष जगत्की अपेक्षा वह अधिक सूक्ष्म है। अर्थवेदमें प्राणकी महिमा वह कहकर गयी गयी है कि 'प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे ।' अर्थात् उस प्राणको प्राणाम है, जिसके वशमें यह सारा जगत् है। प्राण पृथ्वीपर है, अन्तरिक्षमें है, युलोकमें है। युलोकमें प्राण सूर्य-किरणोंद्वारा आता है और अन्तरिक्षमें स्थित प्राण पर्जन्यके द्वारा पृथ्वीपर आता है और पृथ्वीपर आनेके पश्चात् यह वायुतत्त्वमें मिलकर रहता है। युलोकगत और अन्तरिक्ष-गत प्राण ही सब जीवोंकी जीवनशक्ति है। प्रश्नोपनिषद् के

'अथादित्य उदयन् यत् प्राची दिवां प्रविशति तेन प्रच्यान् प्राणान् रश्मिमूल सक्षिप्तते । यहसिणां यत्प्रतीर्ची यदुवीर्ची यदधो यदृष्ट्वा यदन्तरा दिशो यस्त्वं प्रकाशविद्यानि तेन सर्वतः प्राणान् रश्मिमूल सक्षिप्तते ।'

—इन वचनोंसे यही पता लगता है कि सूर्यदेव अपने रश्मिमूलसे युलोकका प्राण पृथ्वीपर लाते हैं। इसी प्रकार 'प्राणो हि सर्वः प्राणश्चन्द्रमः । प्राणमादुः प्रजायतिः प्राणो विराद् प्राणो देही प्राणं सर्वमुपासते ।' इन वचनोंसे यह मात्रम् होता है कि सूर्य, चन्द्रमा, प्रजापति, विराद् आदि प्राणरूप ही हैं। 'प्राणापानौ श्रीहियों अनड्बान् प्राण उच्यते ।' इस वचनमें प्राण और अपानको श्रीहि और यव कहकर उनका संग्रह करनेवाले अनड्बान्

(बैल) को प्राण कहा है। इन सब वचनोंमें यही सिद्ध होता है कि प्राणतत्त्व प्राणवायुसे भिज है।

३. प्राणतत्त्वका प्राणवायुसे भिज होना व्यावहारिक उदाहरणमें भी दरसाया जा सकता है। जीव जब गर्भाशयमें होता है, तब उसे प्राणवायुके मिलनेका साधन नहीं रहता; गर्भमें रहते हुए शावसे वह प्राणवायु नहीं ले सकता। तथापि सातवें महीनेसे ही वह हिलने-झोलने लगता है और उसके हृदयमें रक्ताभिसरणकी क्रिया होती रहती है। ऐसी हालतमें उसका जीवन प्राणवायुपर नहीं, बल्कि प्राणतत्त्वपर निर्भर करता है। मृत शरीरमें प्राणवायु जा-आ सकता है; पर उससे मनुष्य जी उठे, यह नहीं हो सकता। मूर्छिंस मनुष्य, जलमें डूबा हुआ मनुष्य, डाक्टरके चीरा देनेके पहले दवा सुंप्राकर शरीरकी स्मृति खोया हुआ मनुष्य और समाधिमें स्थित योगी—इन सबके शरीर मृतवत् हुए रहते हैं, शास-प्रश्वासकी क्रिया उनमें नहीं होती। परन्तु उनके शरीरमें प्राणतत्त्व बना रहता है, इसलिये शास-प्रश्वासकी क्रिया उनमें फिरसे आरम्भ हो जाती है। कर्नल टाउनरोडने अपनी इच्छासे अपना प्राणसय शरीर अपने अन्नसय शरीरसे शाहर निकाल लिया था। उस समय तीन सर्जनोंने उनके शरीरकी परीक्षा करके यह नियंत्रण दे दिया था कि इनकी मृत्यु हो गयी। उनकी नाई, रक्ताभिसरण और हृदयकी क्रियाएँ सब बंद थीं। शरीर ढंडा पड़ चुका था, नसें तन गई थीं। परन्तु फिर भी कर्नल टाउनरोडने फिरसे अपने प्राणसय शरीर-के साथ उस शरीरमें आ गये और ऐसे उठ बैठे जैसे कोई सोकर उठा हो। मास्टो शाहरकी एक बालिका १४ दिन मृद्धितावस्थामें थी। तीन बार उसका प्रेतसंस्कार भी किया गया। पर हर बार अन्तिम क्षणमें वह जागकर उठ बैठती। महाराज रणजीतसिंहके दरवारके योगीकी कथा प्रसिद्ध ही है। छ: कुटी नीचे जमीनमें उन्होंने अपने-आपको गाड़ लिया, अपरसे वह जमीन जाती-बैठी गयी, उसकी चारों ओर संभीनका पहरा बैठाया गया। सात दिन बाद योगी महाराज-के सामने बाहर निकले। महाराजसे उन्होंने कहा, 'मैं बहुँ यहूँ आनन्दमें था।' इस तरहकी योगक्रिया करनेवाले लोग आज भी मौजूद हैं। इन उदाहरणोंसे यही स्पष्ट होता है कि प्राण एक स्वतन्त्र तत्त्व है।

४. वैशेषिक दर्शनमें प्राणतत्त्वका कोई धर्णन नहीं है, पर आकाशको ही प्राणतत्त्व और नित्य द्रव्य माना है। जैन-दर्शनमें आकाशतत्त्वके लोकाकाश और अलोकाकाश दो भेद

हैं, लोकाकाश मर्यादित और अलोकाकाश अमर्यादित और निय है; शरीरके जीव और पुरुष—दो भेद हैं; पर प्राण और प्राणमय कोशका कोई वर्णन नहीं है। कणाद (अणु-अणु) कहते-कहते उसीमें मगन हो रहे और महिं पतञ्जलि यह बतला गये कि मनःसंथम करो और इससे विभिन्न विभूतिस्प ज्ञानमण्डारकी कुड़ियाँ अपने हाथमें कर लो, जैसे 'नाभिचके कायबृहशानम्।' परन्तु शरीरको जीवित रखनेवाले प्राणतत्वका या प्राणमय शरीरका उन्होंने पता नहीं दिया।

५. सूक्ष्म दृष्टिसे विचारिये तो सुष्ठिके इस मूर्त्तरूपको प्राप्त होनेमें ईशंसंकल्प, देवसंकल्प और शूष्पिसंकल्प-ये तीन संकल्प कारण हुए हैं। ईशंसंकल्पके सूक्ष्म परमाणु हुए, देवसंकल्पके उनकी अपेक्षा स्थूल और शूष्पिसंकल्पके उनसे भी अधिक स्थूल हुए। ईशंसंकल्पसे देव निर्माण हुए और देवसंकल्पसे शूष्पि और मानव निर्माण हुए। ईशंसंकल्पसे प्रथमतः मन और अनन्तर आकाशादि अपश्चीकृत पञ्चतत्त्व निर्माण हुए और इन अपश्चीकृत पञ्चतत्त्वोंसे पञ्चीकृत स्थूल पञ्चतत्त्व उत्पन्न हुए। ईशंसंकल्पके ये स्थूल मूर्त्तरूप ही प्रकृति-परमाणु हैं। ईशंसंकल्पसे धाता उत्पन्न हुए और उनमें 'यथापूर्वे कल्पयामि' की भावना उत्पन्न हुई। उस भावनासे आदित्य-परमाणु और उनसे सूर्यग्रहोंसहित सूर्यमाला उत्पन्न हुई। इहके अनन्तर मानसपुत्रादि मानस सुष्ठि हुई और फिर जारज सुष्ठि। जन्मको प्राप्त होनेवाला जीव जगदात्मा सूर्यसे सूर्य-परमाणु और फिर मनके लिये चन्द्रमण्डलसे चन्द्र-परमाणु ग्रहण करता है और नीचे उत्तरते हुए वह अन्य ग्रहोंसे भी अपने प्रारब्धकर्मभोगके लिये तत्त्व प्रग्रहणग्रहोंके शूर्यमाशुभ-फलदारी परमाणु ग्रहण करके पृथ्वीपर आता और माताकी कोखमें आकाश, तेज, अप्, चायु, पृथ्वी—इन पञ्चीकृत तत्त्वोंसे अपने प्राणशरीरके सजातीय प्राण-परमाणुओंका ग्रह कर अपना अन्नमय शरीर निर्माण करता है और इस प्रकार पूर्वकर्मनुरूप भोग भोगनेके लिये अपने प्राणमय, मनोमय, धातनामय, विश्वानमय और अनन्दमय कोशोंसहित भोगायतन अन्नमय शरीर धारण करके माताकी कोखसे बाहर निकलता है। सूर्यमण्डलसे आदित्यप्राण-परमाणु और चन्द्र-मण्डलसे चन्द्र-परमाणु लेकर जीव जब पृथ्वीपर आता है तब ज्योतिषीलोग उसकी लग्नकुण्डली और राशिकुण्डली फैलाते और तत्त्व ग्रहोंका बलावल देखकर जीवके मुख-कुँडलादि-भोगके स्थान और समय निर्दिष्ट कर देते हैं। इससे यह पता

लगता है कि जीघके अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोश सूर्यसे दैनन्दिन गतिके साथ प्रसूत होनेवाले प्राण-परमाणुओंसे बने हुए हैं। अथवा, यही सिद्ध हुआ कि प्राणमय कोशके संघटक प्राण-परमाणु और शासोच्छ्वासके प्राणवायु एक दूसरेसे भिन्न हैं। समस्त दृश्यादय जगत् सचिदानन्दस्वरूप है—इस सिद्धान्तके अनुसार प्राण-परमाणुओंमें भी सत्ता, चेतना और शान अवादित, घलित अथवा संघटित हैं। सूर्यमण्डलसे निकले हुए प्राण तेजोरूप हैं, दृश्यलिये प्राणमय शरीर भी तेजोरूप हैं। साधारण मनुष्य भी स्वप्नकी अवस्थामें अपने शरीरको प्रकाशरूप ही देखता है, चाहे रात अंधेरी हो और समीप कोई दीप भी जलता हुआ न हो।

६. थिआसोफिकल सोसायटीके आद्य प्रबन्धक महात्माओं-का बाय जगतमें प्रतिनिधित्व करनेवाली मैडम ब्लावेट्रस्टीने यह कहा है कि हमारे रक्तके अंदर जो शुभ्र और लाल्विन्दु हैं, उनमें तात्रविन्दुओंके अंदरके अयत्करण ही प्राण-परमाणुके घटक हैं। उनके मतसे जीवन एक सूक्ष्म गति है; जिसे प्राण कहते हैं, वह एक स्वर्यंभू शक्ति है। यह शक्ति जगत्के धाता सूर्यसे मनुष्यको प्राप्त हुई है। यह शक्ति पृथ्वीपर काम आनेके लिये तेज, आकाश, वायुके साथ होकर तथा जनलोक, महलोक, स्वलोक और बुलोकादि लोकोंमें से आते हुए परिणत होकर विद्युदाकर्षणरूप परमाणुओंसे मनुष्यको प्राणमय शरीर निर्माण करती है। यहाँ प्राणको शक्ति कहा है। परन्तु शक्ति (Force) होनेपर भी उसके कार्यक्रम होनेके लिये किसी-न-किसी प्रकारका साधन होना जरूरी है। विद्युक्लोगोंमें प्रकाशशक्ति है और उसीका दूसरा रूप उष्णताशक्ति है। इन शक्तियोंके प्रभावशाली होनेके लिये विद्युक्लोगोंकी आवश्यकता रहती ही है। इसलिये विद्युक्लोग कहे या प्राण-परमाणु कहे ये और उनकी शक्ति वायु-कण और वायुशक्तिसे भिन्न ही हैं। प्राण-परमाणु और प्राणशक्ति दोनों ही वायु-परमाणु और वायुशक्तिसे सक्षम हैं और प्राणमय शरीर (Astral body) आकाश-शरीर (Ethereal body) तथा अन्नमय शरीरकी अपेक्षा सूक्ष्म हैं। अन्नमय शरीर और आकाश-शरीर दोनों ही कुछ ही वर्ष बने रहते हैं। चीन अयवा ईंजिट देवावालोंके 'भमी'—रासायनिक प्रक्रियासे रखक्ले हुए मृत मनुष्योंके ऐसे ही अन्नमय शरीर हैं (चित्र नं० १ देखिये)। परन्तु प्राणमय शरीर पौच-पौच सौ, द्वार-द्वार वर्षतक भी बने रहते हैं। यथार्थमें वर्ष अयवा कालकी गणना

इस पृथ्वीपर ही है और अन्नमय तथा आकाशमय कोशपर उसका नियम चलता है। बुलोकमें तो कालगणना है ही नहीं। पाँच सौ और हजार वर्षकी जो अवधि कही, वह इस कारण कि १००० वर्ष पूर्व ही हृष्टीपर जो महात्मा शारीरसे थे, वे अब भी पृथ्वीपर माध्यम (Medium) की सहायतासे उस कालकी बातें बतलाते हैं, जो इतिहासकी दृष्टिसे भी ठीक उत्तरती हैं।

७. रसायनशास्त्र और वैद्यशास्त्रसम्बन्धी इसने अभाध अणिष्टारोंके होनेपर भी अभीतक वैज्ञानिकोंको यह पता नहीं चला कि प्राण अथवा जीवन क्या है। डॉ वानडेन बांकने लंदनके 'फोरम' पत्रके जनवरी १९३५ के अङ्कमें 'हम मरते क्य हैं?' इस विषयपर एक लेख लिखा है। इस लेखमें प्रसङ्गतः प्राणकी चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है कि रक्तसे ही हृदयकी क्रिया होती रहती है, इसलिये रक्तस्वयं ही एक मद्दान् शक्तिशाली पदार्थ है। पदार्थविज्ञानवेताओंका विचार यह है कि हृदयकी क्रियासे रक्ताभिसरणकी क्रिया होती है; यह सही होनेपर भी रक्तविन्दुओंके अंदर जो विशुद्धाकरणशक्ति है, उसीके द्वारा जागरित शिराओंके पुज्जोंमें से होकर यह रक्ताभिसरणकी होती है। शरीरके चलन-वलन व्यापारको ही जीवन मानकर यह बात कही गयी है। परन्तु आर्थर ए० बेल (कैलिफोर्निया) का यह कहना है कि शरीरके चलन-वलन-व्यापारका चलना या चलाना मनुष्यकी मनोभूमिपर अवलम्बित है—देहस्थित जीवात्मका शरीर जब जीर्ण होता या असंयत आचरण अथवा किसी अपघातसे भग्न या बेकार हो जाता है, तब वह अपने मनको आशा देकर स्थूलदेहके साथ अपना सम्बन्ध तोड़ डालता है। इससे भी यही बात पुष्ट होती है कि प्राणशक्ति रक्तविन्दुओंके अयस्कणोंमें जो विद्युदा-कर्षणशक्ति है, वही है। वानडेन फैक्कक यह कहना है कि हृदय और रक्ताभिसरणका नियमन शिवरी स्थान (Medulla Oblangata) से होता है। अपने यहाँके योगियोंका भी यही मत है कि हृदयक्रियाको शिवरीके द्वारा जब चाहे बंद और जारी किया जा सकता है। बालानन्द सरस्वती (वैद्यनाथधामके) और अगम्य गुरु बात करते-करते अपनी नाड़ी और हृदयका चलना इच्छामात्रसे बंद कर देते थे, इस भावको इस लेखकने स्वयं अनुभव किया है।

८. रक्तविन्दुका अयस्कण ही पाश्चात्य विज्ञानका अणु

(Atom) है। अणु एक सौरमण्डल या सूर्यग्रहमाला ही है। सौरमण्डलमें जैसे मध्यमे सूर्य है, वैसे ही अणुमें धनविशुद्ध-केन्द्र (Proton) है और उसके चौतरफ़ श्रृणविद्युतकण (Electrons) अत्यन्त बेगके साथ चर्तुल गतिसे धूमा करते हैं। धनविशुद्धकण बाहरसे शक्तिको अंदर लीचता है और और अंदरसे बाहर फैक्तता है। जब यह शक्तिको बाहर फैक्तता है, उस समय श्रृणविद्युतकण बाहरकी कक्षासे भीतर कूद पड़ते हैं और जब यह शक्तिको बाहरसे अंदर लीचता है, उस समय श्रृणविद्युतकण अंदरसे बाहर उछल पड़ते हैं। एक कक्षासे दूसरी कक्षामें श्रृणविद्युतकणोंका यह जो भ्रमण होता है, वह किसी नियमके अनुसार नहीं होता; उनकी यह क्रिया बैरोक होती है। इनकी अनियत स्वैरवृत्तिका कारण क्या है, यह पदार्थविज्ञानवेत्ताओंके लिये बड़ी पहेली है। इन श्रृणविद्युतणोंके बड़े समुद्रायके सम्बन्धमें कुछ नियम देख पड़ते हैं; पर व्यक्तिशः कोई श्रृणविद्युतण किस समय किस गतिसे चलेगा, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता—जैसे मानवसमाजके सम्बन्धमें समाजशास्त्रकी दृष्टिसे कुछ मोटे नियम बनाये जा सकते हैं, पर प्रत्येक व्यक्तिकी स्थिति और गतिका कोई अनुमान नहीं किया जा सकता।

९. अणुकी स्वैरगतिके सम्बन्धमें भगवान् कणादका यह वैत्योपिक सूत्र है कि 'अणूनां मनसश्च आद्यं कर्म अदृष्टं कारितम्।' अर्थात् अणुके और मनके आद्य कर्म (या उनकी मौलिक स्वैरगति) का कारण अदृष्ट ही है। अर्थात् यह गति स्वयं भू है।

१०. शृणाणु और धनाणु दोनोंमें शक्तिकी लहर उठा करती हैं। एड्वाइन कहते हैं कि शृणाणुओंके कुछ ही प्रभावकार्य हमलोग जान पाते हैं। शृणाणु शक्तिरक्षणोंका केन्द्र है। उसके सम्बन्धमें हम जो कुछ जान पाते हैं, वह उसकी शक्तिरक्षणोंसे ही है। पाश्चात्य पदार्थविज्ञान शृणाणु और धनाणुक ही पहुँच पाया है। पर हन शृण-धनाणुओंसे शक्तिका आविर्माव कैसे होता है, इसका उसे कोई पता नहीं चला है।

११. योगदीपिकामें प्राणकी इस प्रकार व्याख्या की गयी है—

प्राणो भवेत् परं ब्रह्म जगत्प्राणमध्यमम् ।

प्राणी भवेत् तथा मन्त्राशानकोभगतोऽपि वा ॥

क्षेत्रज्ञ तथा प्राणः पञ्चभूतेनिद्रायार्थकः ।

प्राणायैद्वेति सिद्धान्तः श्रुतिभिः समुदीरितः ॥

—तात्पर्य, ज्ञानकोश यानी विज्ञानमय कोशमें जो प्राणशक्ति है वही प्राण है। शासोच्छ्वास अन्नमय कोशके प्राण-अपान हैं। प्राण इनसे अधिक सूक्ष्म हैं।

१२. सच पूछिये तो शृणाणु-बनाणु प्राण-परमाणुओंके मूर्त्तिरूप हैं। स्वयं प्राण-परमाणु इनसे अधिक सूक्ष्म और अधिक कार्यक्षम हैं। शृणाणु और बनाणुके अन्तर्गत प्राण-परमाणु प्रकाशमय हैं, वह आत पाश्चात्य विज्ञानकी प्रक्रियाएँ सिद्ध हैं। अवर्वदेके एकादश काण्डकी दूसरी शृणा है—

नमस्ते प्राण कन्दाय नमस्ते स्तनयिक्वे ।
नमस्ते प्राण विशुते नमस्ते प्राण वर्पते ॥

टीकाकारोंने 'स्तनयिक्वे' पदकी टीका 'विशुदात्मना विशेषतामानाय' इस प्रकार की है। अर्थात् प्राण विशुदात्मक हैं और परम्परा प्राणमय कोश प्रकाशात्मक है, यही स्पष्ट होता है। पाश्चात्य वैज्ञानिकोंकी अव यह राय हो जली है कि सब स्थूल शारीरिक क्रियाएँ विद्युच्छक्तिसे ही हुआ करती हैं। आर्थर्वण्वदेके उपर्युक्त मन्त्रसे इसका समर्थन होता है। इनसे यह मात्रम होता है कि आर्थर्वत्के जिन नृपि-मुनियोंने प्राण-शक्तिको अनुभव कर उसकी कार्यपरम्परा निर्दिष्ट कर दी, उन्हींके सिद्धान्तकी ओर पाश्चात्य वैज्ञानिक भी धीरंधीरे आ रहे हैं।

१३. कुछ पाश्चात्य विद्वान् एक प्रवाहशील पार्थिव अंडा-को, जिसे इन नेत्रोंसे नहीं देख सकते, प्राण कहते हैं। मानवविशुदाकर्पण (Human magnetism) को भी कुछ लोग प्राण कहते हैं। जीवमें अपनी जो एक निजी शक्ति है (Metabolism), उते ही कुछ लोग प्राण जानते हैं। और कुछ जीवन-रस (Protoplasm) तथा अव्यक्त जीवन रस (Ectoplasm) को प्राण मानते हैं। परन्तु ये चारों प्राणशक्तिके गुण हैं, स्वयं प्राण नहीं।

१४. टाइग्राफ नामका एक जन्तु है, जो मैसेलरके नन्दिदुर्ग पहाड़के ऊपर देखा जाता है। इसका आकार छूँट इंचके बराबर होता है। जल न मिलनेपर इसकी देह सूख जाती है और सूखनेपर यह बरसों इस तरह निश्चेष्ट पड़ा रहता है कि यह पता नहीं लगता कि यह जीता है या मरा-मरा ही समझा जाता है, क्योंकि उसमें हिलने-डोलनेकी कोई क्रिया नहीं देख पड़ती। परन्तु बरसों इसी हालतमें पढ़े रहनेपर भी यह देखा गया है कि इसकी देहको काट-काटकर उन दुकड़ोंको किसी कोंचके बर्तनमें रख दिया जाय तो भी

इसकी प्राणशक्ति नष्ट नहीं होती। शूद्र अंश (zero degree) की उण्ठातावाले किसी पात्रमें हेलियम (सूर्यकिरणका एक घटक पदार्थ) द्रवित करके उसमें यह सूखी देह रखली जाय तो यह देखा जाता है कि यह जन्तु चैतन्य होता और हिलने-डोलने लगता है। इसका अर्थ यह हुआ कि इस जन्तुकी स्वयं चेतन शक्ति (Metabolism) नष्ट होनेवर भी फिरसे आ जाती है। प्राणशक्ति उसकी देहमें इतनी सेवी हुई रहती है कि वैज्ञानिकोंके लिये एक बड़ी पहेली हो जाती है और उन्हें इस गृह प्राणशक्तिका पता नहीं चलता।

१५. इस प्रकार पाश्चात्य वैज्ञानिकोंकी अभीतक प्राण-शक्तिका पता नहीं लगा। हमरे यहाँके प्राचीन शास्त्रकार इस शक्तिको स्वयं जानते थे। प्राणशक्तिके सम्बन्धमें उन्होंने जो-जो कुछ कहा है, उसको अलग रखने और अपेक्षाकृत आधुनिक कालमें आवें तो प्राणशक्तिकी व्याख्या गौतमबुद्धके इस वचनमें मिलती है कि 'प्राणशक्ति सर्वत्र विद्यमान है, अभेद्य है और अविभाज्य है।' अर्थात् यह नई कहा जा सकता कि प्राणशक्ति अमुक स्थानमें है और अमुक स्थानमें नहीं। जिन सूर्य-किरणोंके साथ सूर्योदय इस विश्वपर सतत प्राण-शक्तिकी वर्पा कर रहे हैं, उन सूर्यकिरणोंको यानी प्रकाशको विभाजित किया जा सकता है। प्रकाशके तरङ्गवाद (Wave theory) या आन्दोलनकी क्रियाका निरीक्षण करनेसे यह देख पड़ता है कि एक प्रकाश-तरङ्गके अनिम विन्दु और दूसरी प्रकाश-तरङ्गके आरम्भ विन्दुके बीच थोड़ा अन्तर हुआ करता है। मैमास फास अव्यक्त आइनस्टीनके अंशपरमाणुदादने भी यह आत सिद्ध होती है कि प्रकाशका विभाजन होता है। प्रकाशतरङ्गोंके परस्पर-आन्दोलनमें प्रकाश-विच्छेद होता है, यह आत नीचे दिये हुए उदाहरणसे स्पष्ट होती है।

१६. एक मीलकी दूरीपर एक घड़ी रखली है। इस घड़ीमें जब एक बजेनेका समय होता है, तब एक बजेनेकी आवाज आती है। पर एक बजा हुआ देख पाना एक सेकंडके एक लाख छियाली हजारबें हिस्सेका अंतर देकर होता है। पदार्थका अस्तित्व और उसका दर्शन, इन दोनोंके बीच इतना अन्तर होता है। प्रकाशतरङ्गोंके परस्पर-आन्दोलनोंके बीचका यह अन्तर है। अर्थात् प्रकाशकी सत्ता अवधित नहीं है, उसमें सूखमतम प्रकाश-गति-विच्छेद है। यह अनुभव अवश्य ही मानव-नेत्र, शोत्र और मानव-कुद्रिसे नने हुए यन्त्रोंसे होनेवाला है। यथार्थमें प्रकाशतरङ्गोंके बीच विच्छेद-ता जो कुछ देख पड़ता है, वह हमारम है।

१७. स्थामिभृत विशिष्ट प्राणकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि प्राण (Cosmic Energy) अविल ब्रह्माण्डकी ओतप्रोत शक्ति है और प्राणियोंके शरीरमें वह विशेषरूपसे प्रकट होती है। एक शरीरसे दूसरे शरीरमें भी इसका आधारमन होता है। जब हम किसी रोगीद्वित जीवके शरीरसे किसी अन्य शरीरधारी जीवके द्वारा रोगका हात्या जाना देखते हैं, तब यह काम प्राणशक्तिके द्वारा ही होता है।

१८. स्तम्भ १२ में मानविवृद्धाकर्षण (Human magnetism) को प्राणशक्तिका एक गुण बताया है। पाश्चात्य वैज्ञानिकों और अधिकारकोंके प्रयत्नोंसे प्रशंसन जितनी कीजिये, थोड़ी होगी। इन लोगोंने यह पता लगाया और आगे और लगा रहे हैं कि शरीरके खूल और सूक्ष्म व्यापार किस प्रकार विवृद्धाकर्षणमें दुआ करते हैं और शरीर-व्यापार तथा विवृद्धाकर्षणके बीच कैसा सम्बन्ध है। प्राण-शक्तिके अंदर जो विवृद्धाकर्षण है, उसीकी क्षमतासे शरीरके सब व्यापार होते हैं—यह सही है; परन्तु मानविवृद्धाकर्षण मनःशक्तिपर निर्भर करता है। मन और शरीरके बीच सम्बन्ध जोड़नेवाला एक महत्वर विवृद्धाकर्षकेन्द्र (मस्तिष्क) शरीरमें है और इसी केंद्रसे विवृद्धाकर्ति निकलकर शरीरके सब व्यापार चलानेमें समर्थ होती है। हार्मोन मेडिकल स्कूल-के प्रोफेसर डॉ. एडविन कोहनने इस विषयमें दस वर्ष लगातार प्रयोग करके जो तथ्य निकाला, वह नीचे दिया जाता है।

१९. जीवनशक्ति (Protoplasm) के मुख्य परमाणु ज्ञायुवर्द्धक परमाणु हैं। इन परमाणुओंसे विवृद्धाकर्ति निकलती है। ये ही विवृद्धत्याक वरमाणु नाड़ीजलमें रहते हैं। इन्ही ज्ञायुवर्द्धक परमाणुओंके घटक एनिमो-ऐसिड (जीवन-क्षार) में भी देख पड़ते हैं। एनिमो-ऐसिडके परमाणु हाइड्रोजनके परमाणुओंकी अपेक्षा चौंतीस हजार गुना बड़े होते हैं। एनिमो-ऐसिडके इन परमाणुओंके एक छोरपर शृणविवृत्कण और दूसरे छोरपर धनविवृत्कण होते हैं। इस प्रकार हनके ओर-छोरपर परस्परविशद वाकिवाले अणुओंके होनेके कारण, एनिमो-ऐसिडके ये परमाणु शक्तिविहीन होते हैं। तथापि इनसे विवृद्धाकर्षण लघु परमाणु उत्पन्न होते हैं। और वे प्राणशक्ति और शरीरेन्द्रियोंके बीच सम्बन्ध जोड़ते हैं। अनन्तर ज्ञायुवर्द्धक परमाणु और एनिमो-ऐसिड परमाणुओंका एक मण्डल बनता है। ये परमाणु महसर होनेके कारण इनका एक आकर्षण-पुङ्ग बनता है। इस

आकर्षण-पुङ्गसे अनन्त विवृद्धाणु निकलते हैं। ऐसे एक छोर-पर धनविवृद्धाणु और दूसरे छोरपर शृणविवृद्धाणु रहते हैं। इसलिये इन परमाणुओंको द्विशक्तिशाली परमाणु कहते हैं। ये द्विशक्तिशाली परमाणु अपने-अपने स्थानमें स्थिर रहते हैं। इनके अगल-बगल जो धनविवृत्कण हैं, उनकी ओर इन द्विशक्तिशाली कणोंका शृणविवृद्धाणु प्रवृत्त होता है और शृणविवृत्कणोंकी ओर इनका धनविवृद्धाणु

२०. इस प्रकार द्विशक्तिशाली परमाणुओंकी एक माला बन जाती है। एक द्विशक्तिशाली परमाणुका धनविवृद्धाणु उससे अलग होता और दूसरे द्विशक्तिशाली परमाणुके शृणविवृद्धाणे जो मिलता है। एक क्षणके शांतांश कालमें यह किया होती है और बराबर उसी प्रकार जारी रहती है। इन द्विशक्तिशाली कणोंके कियाकलापसे एक गति निर्माण होती है और उस गतिसे देहगत नाड़ियोंका आकुञ्चन-प्रसरण हुआ करता है, उसीसे नेत्रों और हस्त-पादादि इन्द्रियोंके व्यापार होते हैं। परन्तु इस द्विशक्तिशाली परमाणुके धनविवृद्धाणु अलग करनेकी किया करनेवाला कौन है, इसका पता वैज्ञानिकोंको नहीं चला है। यह किया करनेवाली शक्ति मन है। परन्तु मनःशक्तिके कार्यकरी होनेके लिये प्राणशक्तिकी अनुकूलता आवश्यक है। नाड़ियोंमें जो द्विशक्तिशाली परमाणु होते हैं, उनसे शरीरके सब अवयवोंकी आकुञ्चन-प्रसरण-किया सतत हुआ करती है। इस कियाके कारण ही हस्त-पादादिक इन्द्रियोंके दृष्टि कर्म होते रहते हैं; और इसी प्रकार इत्तिपिण्डसे पित्तका उत्पन्न होना, लंब-पिण्ड (Thyroid) से रसका निर्माण होना, शिखरीसे हृदय-कियाका सङ्कोच-विकास होना अथवा उसका बंद होना—ये सब अदृष्ट कियाएँ भी होती रहती हैं। ये सब कियाएँ प्राणशक्तिसे ही होती हैं।

२१. इन परमाणुओंके आकारानुरूप जो ज्ञायुवर्द्धक परमाणु रक्तमें होते हैं, वे बहुलकार होते हैं। शरीरकी आकुञ्चन-प्रसरण-कियाके होते हुए शरीरमें इनशुल्भिनः शायरोग्लोबिन आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं; परन्तु रक्त जब किसी चोटसे एक जगह जम जाता है, तब उस रक्तमें उन परमाणुओंका आकार छोड़ी-सा लंबा देख पड़ता है। सामान्य नाड़ीपुङ्गके द्विशक्तिशाली परमाणुओंके चतुर्दिश्क जो धनविवृत्कण अथवा शृणविवृत्कण देख पड़ते हैं उनके आकारसे रक्तगत परमाणु शतगुण बड़े होते हैं।

२२. द्विशक्तिशाली परमाणुओंके अन्तर्गत प्राण-परमाणु

होते हैं। प्राण-परमाणु पृथक्-पृथक् देख पड़ते हैं, पर होते हैं सब प्राणशक्तिसे एकम ही। इसलिये प्राण-परमाणुओंके विभाज्य होनेपर भी प्राणशक्ति अविभाज्य है और उसके अविभाज्य होनेसे तथा प्राण-परमाणु भी प्राणशक्तिप्रेरित ही होनेके कारण प्राण-परमाणुओंको भी अविभाज्य कह सकते हैं। मधुमक्षियोंका छत्ता अनेकों पेशेवोंसे युक्त होता है। परन्तु मधुमक्षियों उसे अपना एक ही घर समझती हैं और यथार्थमें वह एक ही होता भी है। प्राण-परमाणु प्राणशक्तिके कारण जैसे अविभाज्य हैं, वैसे ही मधुमक्षियोंका छत्ता मधुरस-के कारण अविभाज्य है।

२३. यहोतक प्राण-परमाणुओंकी बात हुई। अब इन प्राण-परमाणुओंसे बाटित प्राणमय शरीर कैसा होता है? यह चिचारे। तर आलिंघर लाज कहते हैं कि प्राणमय शरीरके घटक वियतत्व (Ether) के बने होते हैं। मैडम ब्ल्यूवेट्स्की के मतसे वियतत्व और प्राणतत्व एक चीज नहीं है। उनका कहना है कि प्राण-परमाणु वियतत्व (Ether) के घटकोंकी अवेद्धा सूक्ष्म हैं। डा० हेनरी लिंडाल्का यह मत है कि अस्तिल विश्वाष्टमें जो-जो अस्तियों अनुभूत होती हैं, उन सक्तका मूल स्थान प्राणदाति है। विचुतका प्रकाश या गति कॉन्चके बल्व अथवा कारबनके तन्तुपर अवलभित नहीं होती। कॉन्चका बलव हटा देनेसे विचुत प्रकाशित न होगी पर उसकी गति बन्द नहीं होगी और विचुद्विनियाहक प्राण-परमाणु भी नष्ट नहीं होगे। दूरभ्यनियन्त्र (Rendition) की सदायतासे हम दूर देशोंके शब्द सुन लेते हैं और यह यन्त्र वदि स्वराव हो जाय तो हम उन शब्दोंको न सुन सकेंगे; परन्तु इसमें उन विचुतरक्षोंकी गति और आक्रमण और शब्द या स्वरावहन-क्षमता नहीं नष्ट होती, उसका कार्य तो होता ही रहता है।

२४. इन बातोंसे यह स्पष्ट होता है कि प्राणोंका बना हुआ प्राणमय शरीर स्थूलदृष्टिसे दृश्य न होनेपर भी अपनी सत्ता तो रखता ही है। मनुष्यकी शक्तिके किसी कॉन्चके वर्तनमें पानी भरा जाय तो पानी उसमें सर्वत्र फैल जायगा और वह वर्तन भरा हुआ देख पड़ेगा। मनुष्यके स्थूल-शरीरमें प्राणमय शरीर भी इसी प्रकारसे है। अन्तर इतना अवश्य है कि पानी उस कॉन्चके वर्तनके बाहर वर्तनको भेदकर न जायगा, पर प्राणमय शरीर स्थूलशरीरके बाय्य अवश्यमें अटका नहीं रहता। दिव्यदृष्टियाले मनुष्य प्राणमय शरीरको स्थूलशरीरके अंदर-बाहर ओतप्रोत देख सकते हैं।

२५. इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्यका बाय्य शरीर जब छूट जाता है तब उसका प्राणमय शरीर स्थूल-शरीरके रहते जितना प्रभावशाली था उससे अधिक प्रभावशाली हो जाता है। कारण, प्राणमय शरीर स्थूलशरीरकी अपेक्षा अधिक वेगवान् होता है और स्थूलशरीरके परमाणुओंकी अपेक्षा प्राणमय शरीरके परमाणु अधिक सूक्ष्म और शुद्ध होते हैं। प्राणमय शरीरके हन्दिवयोंलक सूक्ष्म होते हैं और सूक्ष्मतर हन्दिवयोंके सत्त्व भासते हैं, उसी प्रकार सूक्ष्म द्रव्य सूक्ष्म हन्दियोंको सत्त्व प्रतीत होते हैं। प्राणमय शरीरके परमाणु संस्कारके द्वारा उत्तरोत्तर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम हो सकते हैं और तब प्राणशक्तिकी गति और जानशक्ति भी उसी क्रमसे बढ़ती है।

२६. ग्रीस देशके तत्त्वदर्शी पिथागोरसने आजमें २५०० वर्ष पहले यह मिद्दान्त समाने रखता था कि सत्र सूक्ष्म पदार्थोंमें तीन ही तत्त्व हैं—द्रव्य, गति और संख्या। आश्वर्य यह है कि आधुनिक पाश्चात्य विज्ञानका सिद्धान्त इसमें मेल खाता जा रहा है। पिथागोरसका 'द्रव्य' यही है जो पाश्चात्य वैज्ञानिकोंका विश्वापी ल्याक्ट्र (Universal Ether) अथवा प्राच्य शास्त्रकांका आकाशतत्त्व है। पिथागोरसका 'गति': तत्त्व आधुनिक विज्ञानकी विचुतर्दृश्य और 'संख्या': आधुनिक विज्ञानका अण्ड और अण्डके अंदर गतिमान अण्डविचुक्तण (Electrons) है। प्राणमय शरीर (Astral body) के स्वरूपमें डा० लिंडार्सकी यही कल्पना है। हम विषयमें पाश्चात्य वैज्ञानिकोंका ज्ञान अग्री बहुत अधूरा है। किर मी उनका यह विश्वास है कि प्राणशरीरका ठीक पता शीघ्र ही चल जायगा और वह चलेगा स्मायनशालाशी मेजपर ही।

२७. कुछ वर्ष पूर्व वैरिसमें सर्वराष्ट्रिक परलोकविद्या-विशारदोंकी एक सभा हुई थी। उस समय विनोदसे यह बात कही गयी थी कि एक मरक्कोके पंखके बराबर प्राणमय शरीरक बजन हो सकता है। एंडु जैक्सनका यह कहना है कि प्राणमय शरीरका तौल एक औंस यानी द्वार तोला हो सकता है। बहुतेका यह भी कहना है कि इसका तौल कुछ हो ही नहीं सकता। पर प्राण जब एक द्रव्य है, तब उसका बजन तो होना ही चाहिये। बहुतरोंका यह भत है कि विचुत-शरीर (Ethereal body) और विचुत-अर्थात् आकाश

एक पञ्चीकृत दर्श है; इसलिये प्राणमय शरीरके साथ उसका बजन जल्द हो सकता है।

२८. हेगके डा० माल्थ और जेल्ट, इनदो व्यक्तियोंने परलोकगत जीवोंके साथ वार्तालाप करनेके लिये छायनाभिस्टोयाफ नामका एक यन्त्र अविष्कृत किया और इसकी मददसे दिना किसी मीडियमके परलोकगत जीवोंके सन्देश पाये। इस यन्त्रके छोरपर, एक अक्षर-लम्बक लगा रहता है, जिसके स्पर्श होनेके साथ ही एक बड़े पतले कागजपर टाइपराइटरकी तरह अक्षर उठते जाते हैं। एक बारके प्रयोगमें तो एक सम्पूर्ण भाषण ही इस तरह लिख गया। यात यह हुई कि अत्यन्त सूक्ष्म स्पर्शसे उस लम्बकपर आघात हुआ और इस आघातके होनेके लिये आघात कर सकनेयोग्य सूक्ष्म परमाणुओंका आकाश-परमाणु-संचिट प्राणमय मानव-शरीर बना हुआ है; वह यात व्यानमें आयी। इसी प्रकारके प्रयोगोंका वर्णन मिठ कारिंगटनने अपने 'अर्वाचीन मनोवैज्ञानिक दृश्य' नामक प्रन्थमें किया है। उन्होंने लिखा है कि हमने अपनी प्रयोगशालामें यह भिन्न किया है कि आकाश-परमाणु-संचिट प्राणमय शरीर होता है। उन्होंने प्रयोग करके देखा है कि यांगर आकुञ्जन-प्रसरणशील है और यह आकुञ्जन-प्रसरण मनुष्यकी हृद्धायाकिर तिर्मर है। मनुष्यकी हृद्धायाकिर इस शरीरपर काम करती है अर्थात् शरीर गुरुत्वाकरणक्षम है। एक दृष्टि ऐसी है, जिसमें शरीरके परमाणु एक जगह इकट्ठे होते हैं। प्राणमय शरीरके अणु बहुत ही सूक्ष्म होते हैं। वाहरके बातावरणमें अणुओंकी जितनी घनता होती है, उतनी घनता प्राणमय शरीरके अणुओंमें होती है। चाहके बातावरणका दबाव बढ़नेसे शरीरके अणुओंका भी दबाव उसी हिसाबसे बढ़ता है। ऐसे इस प्राणमय शरीरका बजन ढाई औंस वानी पाँच तोला होता है। प्राणमय शरीरके अणुओंका दृश्य साथ दिये हुए चित्रमें दिखाया गया है (चित्रनं० २ देखिये)। डा० माल्थ और जेल्टके मतानुसार तथा सूक्ष्म दृष्टि देखनेवाले लोगोंकी सूक्ष्म हृष्टिके द्वारा देखे हुए दृश्यके अनुसार यह चित्र चित्रित किया गया है।

२९. हैवरहिलमामके डा० डकन मैकड्गलने मास नामक स्थानमें एक ऐसा प्रयोग किया कि क्षय-रोगसे भरनेवाले एक मनुष्यका, मरनेसे पहले, उन्होंने बजन कर लिया। रोगीकी चारपाई एक अति सूक्ष्म भारदर्शक कोटिपर रखी गयी और बजन किया गया। बजनका कॉटा ठीक लगाकर

रखा गया। मृत्यु होनेके साथ ही कॉटा पीछे सरका। यह देखा गया कि मृत्यु होनेके साथ ही उस शरीरका ढाई औंस या पाँच तोला बजन तुरंत थट गया। डच वैशानिकोंने भी प्रयोग करके इसको प्रत्यक्ष किया है।

३०. मनुष्यके महाप्रयाणकालमें उसका वियत्-शरीर-सहित प्राणमय शरीर स्थूलशरीरसे बाहर जाता हुआ कैसा देख पड़ता है (चित्र नं० ३ देखिये)। यह स्पष्ट ही देख पड़ता है कि अन्यमय शरीर और प्राण-प्रयाणकालीन प्राणमय शरीर, दोनों विलकूल एकसे ही होते हैं। बुद्धदेवके मतसे प्राणमय शरीर अगुपरिमाण हो सकता है, पर इस चित्रसे उनका मत ठीक नहीं था, यही कहना पड़ता है। ऑलिवर क्रामवेलको ७ वर्षके लिये राज्याधिकार देनेवाले विशपका (ऑकलट रिव्यू एप्रिल १९३६) अथवा हैम्प्लेटको उसके पिताजा जो प्राणमय शरीर देख पड़ा और ऐसे ही ऐसे जो अन्य अनेक उदाहरण हैं, उनसे यही सिद्ध होता है कि स्थूल-शरीरके बृद्धेनपर मनुष्य स्थूलशरीरके ही आकारवाले प्राणमय शरीरमें स्थित रहता है और अन्यमय शरीरवालोंके सामने प्रकट होनेके लिये वियतस्त्रके परमाणु संग्रह कर वह अपनी सत्ता प्रकट कर सकता है। प्राणमय शरीर और वियत्-शरीर-को दृश्य बनानेके लिये प्राणमय शरीरके परमाणुओंका ये ग अपनी मनोशक्तिसे कम किया जा सकता है और इस कियासे वह स्थूलशरीरधरियोंको दिखायी दे सकता है।

३१. चीन और मिश्र देशोंमें मृत मनुष्यके स्थूल-शरीरको कुछ रासायनिक कियाओंके द्वारा और कई प्रकारके लेप लगाकर शरीरके ही आकारके संदूकमें सम्हाल कर रखते हैं। वह परलोकगत जीव, जिसका वह शरीर होता है, उसे देखनेके लिये लौट आया करता है। वह उसे देखना चाहता है और इसी पारिवर्तनसे बैधकर कई परलोकगत जीव इस प्रकार लौट आते हैं। शरीरको सम्हालकर रखनेसे—चाहे वह किसी संदूकमें रखला हो था किसी कब्रमें दफन हो—उस शरीरकी आवासे परलोकगत जीव लौटा करते हैं, दसमें सन्देह नहीं। कांगप्रयागमें स्वामी भास्करनन्द जब समाधि ले चुके उसके बाद उनकी समाधिका बड़े ठाठसे जब पूजन-अर्चन हो रहा था, तब स्वामीजी कर्ण-प्रयागसे प्राणमय शरीरसे कोल्हापुर लौट आये, यह तो लेखकने स्वयं देखा है।

३२. चीन देशमें 'ममी' (रासायनिक कियासे सम्हालकर

रखते हुए मृत शरीर) को उस 'ममी' देहका परलोकगत स्वामी जीव किस प्रकार देखने आया करता है, इसका चित्र इस लेखके सथ दिया है (चित्र नं० १ देखिये ।) । चीन देशमें ममीको इस प्रकार देखनेके लिये आनेवाले हम्य प्राणमय शरीरवाले जीवको 'का' कहते हैं ।

३३. चीन देशके 'लामा' साड़े हिन परलोकगत जीवोंका इस तरह पार्थिव आशासे बैधकर लौटना रोकनेके लिये तथा उनके प्रकाशमार्गसे अर्थात् देवयानमार्गसे उपरकी ओर जानेके लिये एक किया किया करते हैं । China's Book of the Dead (चीनके मृत मनुष्योंका ग्रन्थ) नामक पुस्तकमें वह प्रक्रिया दी है । वह यही है कि महाप्रयाणके समय उस मनुष्यके कानोंके पीठेकी दोनों प्राणवाहिनी नाड़ियोंको (श्वास-प्रश्वास-नाड़ियोंको नहीं) लामा लोग इस तरह दबाकर पकड़ रखते हैं कि उनके प्रभावसे वह जीव महाप्रयाणके अन्तिम क्षणमें धूममार्गसे हटकर प्रकाशमार्गसे चला जाता है । यह लेखक कई लामाओंसे मिला, पर इस कियाको किये हुआ उनमें कोई भी न था ।

३४. श्रीमद्भगवद्गीताके 'वासासि जीर्णनि यथा विद्यम नवानि गच्छाति'..... इत्यादि श्लोकके अर्थके विषयमें बहुत भ्रम फैला हुआ है । लोग यही समझते हैं कि महाप्रयाणके बाद मनुष्य हृतं ही दूसरी योनिमें चला जाता है । उसे अपने कर्कसे अनुसार दूसरा जन्म प्राप्त होता है और पूर्वजन्ममें जो कुछ अनुभव हुआ, उसी अनुभवको बढ़ाना उसके दूसरे जन्मका हेतु होता है । परन्तु वह बात पश्चवत् इन्द्रियलेखुप जीवोंके विषयमें तो नहीं कही जा सकती । इनके जो जन्म होते हैं, वे उन्हीं पहलेके ही इन्द्रियविशिष्ट सुखोंको भोगनेके लिये होते हैं । मृत्युके पश्चात् जीव किस स्थितिमें होता है, इस विषयके अनेकानेक वर्णन पाश्चात्य परलोक-विद्याविद्यारादोने अपने ग्रन्थोंमें किये हैं । गीताके उस श्लोकका आशय यह है कि जीवको इस जगत्में इस जगत्के लिये अवधारणार्थी जैसा स्थूलशरीर प्राप्त है, वैसा ही उसी आकारका वियत-शरीर भी है—जिसके सात कोश हैं । मनुष्य प्रयाणकालमें स्थूलशरीर और वियत-शरीरके सात कोशोंमें सीन कोश, सब मिलकर चार शरीर यहाँ छोड़ जाता है । तथापि वियत-शरीरके चार उपशरीर सथा प्राणमय शरीरकी सहायतासे वह जीव अन्तरालके पितॄलोकमें जा रहता है । कुछ कालपश्चात् वियत-शरीरके चार उपशरीर

नष्ट हो जाते हैं, तब वह प्राणमय कोश (Astral body) में जाता है और अपने कर्मानुरूप उच्चसे उच्चतर महालोकादि लोकोंमें रहकर अपनी उत्थाति कर तकता है ।

३५. प्राणमय शरीरमें रहते हुए मनुष्य आगे अनुभव प्राप्त करनेके लिये भूलोकमें आनेकी इच्छा करता है । कभी-कभी ऐसा भी होता है कि अपना स्थूलशरीर वहि किसी अपशात्मसे नष्ट हुआ हो तो उसे किसी ऐसे दूसरे शरीरमें, जिसका शरीरी उसे अभी-अभी छोड़ गया हो, प्रवेश करना प्रवत्ता है ।

३६. आजसे लगभग ४० वर्ष पूर्व एक ऐसी छोटीको देखा था जो मराठी भाषा लिख-पढ़ सकती थी । उसके पाति ग्रैजुएट थे । उस छोटीके सोलहवें वर्षमें ऐसी घटना हुई कि उसके शरीरमें एक दूसरी ही छोटीके जीवको प्रवेश हुआ । वह दूसरी छोटी संस्कृत और अंग्रेजी भाषाओंको खूब जानती थी । उस छोटीके शरीरमें इसका प्रवेश सन्ध्याके ६ बजेसे भौर ६ बजेतक रहा करता था । इस अवस्थामें वह अपने परिसे अंग्रेजी और संस्कृतमें बातचीत करती और न्याय-शास्त्रके बड़े कठिन परिष्कार भी कर दिया करती थी । इस प्रकार इसमें उस 'दूसरी छोटीको जो प्रवेश हुआ करता था, वह कुछ विशेष अनुभवोंको प्राप्त करनेके लिये ही हुआ करता होगा ।'

३७. यूनेमें स्वार्गीय गोदावलेकर महाराजके शिष्य श्रीहरि-भक्तिपरायण भाऊसाहब केतकर रहा करते हैं । उनकी देहमें श्रीगोदावलेकर महाराज आकर रहते और बातचीत करते हैं । सातरामें श्रीमुलेजी महाराज वडे अच्छे सत्तुरूप हैं, उनकी देहमें भी इसी प्रकारसे महान् सिद्ध आकर बातें करते हैं । सांवत्यार्दीमें १२ वर्ष वयस्के एक पुरुष सीताराम महाराजके नामसे प्रसिद्ध थे । उनके शरीरमें उनकी वयस्के १६ वें वर्षतक एक संत आकर रहा करते थे । उस समय उनके मुखसे श्रीतुकाराम महाराजकी-सी ही 'अमङ्ग' वाणी निकला करती थी ।

३८. हाला और मितगोल दो बालिकाएँ थीं । दोनोंमें परस्पर बड़ा स्नेह था । हाला एक किसानकी लड़की थी और बड़ी सुन्दरी थी । मितगोल किसी कालेजके प्रिंसिपल-की लड़की थी और मिताकी देखभालमें रहकर विद्युषी हो गयी थी । एक दिन सन्ध्यासमय दोनों लड़कियाँ गाने-बजाने-के किसी जलसेमें गर्भी । लौटते हुए मोठ-दुर्घटना

हुई और दोनों गतप्राण हुई। हालाके शरीरमें कोई चोट नहीं थी, पर मितगोलका शरीर जखमोंसे छिन्न-मिन्न हो गया था। आश्रयकी घटना यह हुई कि किसीने (किसी अदृश्य शक्तिने) मितगोलके प्राणमय शरीरको पकड़कर हालाके शरीरमें डाल दिया, हाल जी उठी। परन्तु हालाका यह केवल स्थूलशरीर था, प्राणात्मा तो मितगोलका था।

३९. दोनों लड़कियोंके बाप उन्हें देखने आये। हालाके बापने हालाको जीता लाया और उसे हाला कहकर पुकारा। उसने कहा, ‘मैं हाला नहीं हूँ, मितगोल हूँ।’ मितगोलके पितासे उसने कहा, ‘मैं मितगोल हूँ, हाला नहीं।’ उसके सामने शीशा लाया गया, शीशोंमें अपना मुँह देखकर वह अकन्तका गयी। तब मितगोलने अपने पितासे पूछा, ‘यह क्या हुआ?’ उन्होंने कुछ काल चिचारमें छब्बकर कहा, ‘यह पुनर्जन्म है।’ मितगोलने पूछा, ‘यह कौसा पुनर्जन्म? मैं हालाके शरीरमें कैसे चली गयी?’ उन्होंने उत्तर दिया, ‘यह तोरा नवशरीरभूमि (Re-embodiment) है।’ इसके बाद एक दिन कालजीके अध्यापकों और विद्यार्थियोंके सामने मितगोलने ‘स्पिनोजाका तत्त्वानान्’ इस विषयपर व्याख्यान देकर यह सिद्ध किया कि ‘मैं ही मितगोल हूँ।’ तब सबको यह विद्वास हुआ कि यह शरीरान्तर हुआ है। अन्नमय शरीर तो हालाका ही था, पर उसको मितगोलके प्राणमय शरीरने अधिकृत कर लिया था। किसी अन्य शक्ति-ने यह काम किया। श्रीमदाय शङ्कराचार्यने तो स्वयं ही सुधन्वाके शरीरमें प्रवेश किया था। इस नवीन सुधन्वाके अगाध ज्ञानको देखकर उसके दरवारी चकित-विस्रित हुए थे। मितगोलका परकायप्रवेश परांत्र था और श्रीमद् आचार्यपाटका स्वानुषित। परकायप्रवेशके सम्बन्धमें आगे और लिखना है।

४०. सन् १९५४-५८ के दूसरीय महायुद्धमें डान और चाव नामके दो आदमी लड़ाईपर भये थे। ये दोनों एक दूसरेके बड़े प्रेमी मित्र थे। लड़ाईमें हनके मारे जानेकी खबर भी छप चुकी थी। चावके शरीरपर कोई जखम नहीं था, पर डानका छिन्न-मिन्न हो गया था। किसी अदृश्य शक्तिने डानका प्राणात्मा चावके शरीरमें डाल दिया और डान-चाव जी उठा। डान अपने माँ-बापसे मिलने गया, पर वे उसे कैसे पहचानते?

४१. डानकी माँने कहा, ‘मेरा डान सौंबद्ध था।’ और

‘तुम तो गोरे हो’ इत्यादि। पर जब डानने जीवनकी पिछली सब बातें बतायी और उसके माँ-बापने देखा कि इसका स्वभाव, चोलेनका ढंग और रहन-सहन तो अपने डान-जीसा ही है, तब उन्हें निश्चय हुआ कि यह डान ही है।

४२. इन बातोंसे यह मान्यम होता है कि मनुष्यका पुनर्जन्म उसके वशमें ही हो, यह बात नहीं है। अथात् रामायणमें भगवद्वत्यारोंको स्वाधीनसम्भव कहा है। संत-महात्मा भी अपनी इच्छासे जन्म लेते हैं। श्रीतुकराम महाराज कहते हैं कि ‘हम वैकुण्ठके रहनेवाले हैं; भगवान्ने सत्य-भावका कर्म करने मेज दिया, इसलिये चले आये।’ इस प्रकार भगवद्वत्यार और सत्पुरुषजन्म स्वाधीनसम्भव होते हैं।

४३. अन्य जीवोंके जन्म किस प्रकार होते हैं, वे स्वरूप आते हैं, अथवा भेजे जाते हैं। उन्हें भेजनेवाली कौन-सी शक्ति या देव-देवी हैं—इसका अब किञ्चित् विचार करें।

४४. हमारे इस भूलोककी अपेक्षा सूक्ष्म और सूक्ष्मतर लोक भूवः और स्वः हैं। भुवलोकमें रहनेवाले जीवोंमें कामदेव, रुपदेव और अरुपदेव, ये तीन एक-से-एक ऊँची कोटिके देव हैं। कामदेव प्राणमय शरीरवाले हैं। मनोमय शरीरधारी देवों-तक इनकी गति होती है। रुपदेव मनोमय शरीरधारी होते हैं और अरुपदेव वासनामय शरीरधारी अर्थात् कारणदेहारी होते हैं। अरुपदेव कभी-कभी मनोमय शरीर भारण करते हैं, प्राणमय शरीर सहजा नहीं धारण करते।

४५. अरुपदेवोंकी कोटिसे भी उच्च कोटिके देवोंकी और चार श्रेणियाँ हैं। ये श्रेष्ठ देव ग्रहमालाधिष्ठित देव हैं। उपर्युक्त तीन देवकोटियोंसे विशेष सम्बन्ध न रखनेवाले पर पुर्वी, अप्, वायु और तेज—इन तत्त्वोंपर स्वामित्व रखनेवाले चार देवराज हैं। ये इन चार तत्त्वोंके साथ पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर—इन चार दिशाओंके भी राजा हैं। पुराणोंमें इनके धृतराष्ट्र, विष्णु, विश्वदक और वैश्वल नाम दत्तये हैं। इनके अधीन गन्धर्व, कुम्भक, नाग और यश हैं—जो निश्चकोटिके देवदूत हैं। इन चार महाराजाओंके वर्ण यथाक्रम शुभ्र, नील, रक्त और हैम हैं। प्रत्येक धर्मग्रन्थमें किसी-न-किसी नामसे इन चार महाराजाओंका वर्णन अवश्य हुआ है।

४६. विष्णुताने इन महाराजाओंको पृथ्वीपर उत्पन्न

होनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका नियन्त्रण-कार्य सौंपा है। अर्थात् पृथ्वीपर रहनेवाले मनुष्योंकी उन्नतिके सुन्न इन्हींके हाथोंमें हैं। अखिल विद्वके जो कामदेव हैं, उन्हें लिपिका कहते हैं। प्राणमय शरीरवाले जीवके कर्मानुसार भुवलोंकमें उसका अधिवासकाल जब समाप्त होता है, तब ये लिपिकादेव उसके कर्माकर्मका हिसाब देत्वा और उस जीवको भावी अनुभव-क्षेत्र दिलानेके लिये दूसरे जन्मके योग्य प्राणमय शरीर निर्माण करते हैं और पृथ्वी, अप्, वायु, तेज—इन चार तत्त्वोंके अधिपति देवराज लिपिकाके उद्देश्यानुसार उस जीवका अन्नमय शरीर गढ़ते हैं। मनुष्यको इच्छा-स्वातन्त्र्य दिया गया है और तदनुरूप कर्म-स्वातन्त्र्य भी। इसलिये भूलोकमें आकर मनुष्य अपनी इच्छाके अनुसार सदसत् कर्म करता है, पिर उन्हीं कमोंके अनुसार उसका भावी जन्म निर्दीरित होता है।

४७. उपर्युक्त विवरणसे यह मालूम हो जाता है कि किस शक्तिने स्तम्भ ३८ से ४१ तकमें वर्णित मित्योल और डानको दूसरे जीवके शरीरमें डाला। प्राण और प्राणमय शरीरका वहाँतक वर्णन हुआ। अब यह देखें कि अन्नमय कोशसे प्राणमय कोशका उद्भवन क्या है।

४८. सिद्ध पुरुषोंके चरित्रोंसे यह पता लगता है कि किनने ही सिद्ध पुरुषोंने आपदग्रस्त भक्तोंके संकटनिवारणार्थ योगकी प्रक्रियासे अन्नमय शरीरसे निकलकर प्राणमय शरीरसे दूर दैशोंमें जाकर उन्हें बचाया है। आज भी चीन देशके लामाओंमें यह वाकि है और उसके अनुभवी लोगोंने यह वात लिया रखती है कि ये लोग प्राणायामकी सहायतासे अन्नमय कोशसे प्राणमय कोशको निकाल लेनेकी क्रिया सिद्ध कर लेते हैं।

४९. मनमें अनेक प्रकारकी कृतियों उठा करती हैं, उनके अनुसार स्थूलशरीरसे प्रलक्ष कियाके होनेमें प्राणमय शरीरकी कियाकी रोक या तो मनःसंयमसे होती है या वायु-संयमसे। मनःसंयमसे किया जानेवाला चित्तवृत्तियोंका निरोध ही यास्तविक प्राणायाम है और यही श्रेष्ठ कोटिका प्राणायाम है। यह स्थासे भले ही न सधता हो, पर इससे शरीरमें कोई विगड़ नहीं होता। वायु-संयममें शरीरकी बड़ी समझल रखनी पढ़ती है और गुरुके समीप रहकर ही इसका अस्थाप करना होता है। इस लेखमें सूचित प्राणायाम मनःसंयमसे ही करना चाहिये, यही इस लेखकका मत है। उससे अन्नमय शरीरमें प्राणमय शरीरको निकाल लेनेका कौशल प्राप्त होता है।

५०. हिन्दुस्तानमें पहाड़ोंके अंदर खोदकर बनी हुई कितनी ही गुफाएँ हैं। उनमें ५०० वर्ष पहलेके खुदे हुए चित्र भी हैं। परन्तु इन चित्रोंमें अन्नमय कोशसे प्राणमय कोशके बाहर निकालनेका दृश्य दिखानेवाला कोई चित्र नहीं है। पेरूल, जलगाँव, सौन्ही आदि स्थानोंके सलीपकी गुफाओंको लेखकने स्थान देखा है। असु। बहुत प्राचीन कालसे चीन देशके धर्मगुरु लामाओंमें योगचित्रयक सब प्रकारके शास्त्रोंका अन्यास हुआ करता था और आज भी तिव्यतके लामाओंमें कोई कोई लामा गुरु इच्छोंमें वहे निपुण होते हैं। इन लामाओंके आश्रमों और बौद्ध विहारोंमें उनके गुरुओंके चित्र होते हैं। इन चित्रोंमें से कुछ अमेरिकन और यूरोपियन यात्रियोंको प्राप्त हुए हैं। अमेरिकाके प्राइस्टर निकोलस रोरी लासामें २० वर्षीक रहे। वे स्थान बौद्ध हो गये। ये अपने साथ अमेरिका जो चित्र ले गये, उनमें एक चित्र अन्नमय शरीरसे प्राणमय शरीरके बाहर निकलनेका था, यह वात उन्होंने अपनी 'हार्ट ऑन् एशिया' नामकी पुस्तकमें लिख रखवी है।

५१. सिद्धवानजे-मुल्डोन और हेरेवार्ड फैरिंगटन नामके दो सज्जोंने सन् १९२९ में 'प्राणमय शरीरका उत्क्षेप' (The projection of astral body) नामकी पुस्तक लिखी। उसे लंदनके मेटर्स राइडर एंड कॉ०ने प्रकाशित किया है। इस लेखमें जो चित्र दिये गये हैं, वे सब उनीं पुस्तकमें प्रकाशित चित्रोंकी नकलें हैं। पुस्तकप्रकाशककी आशासे ही वे इस लेखमें छापी गयी हैं। उनकी इस उदारताके लिये लेखक उनका कृतज्ञ है।

५२. स्तम्भ ५० में वर्णित नीनी लामाका चित्र स्तम्भ ५१ में वर्णित प्रकाशकी पुस्तकसे लिया गया है (चित्र नं० ४ देखिये)। लामा गुरुके इस चित्रमें दिशाओंके मध्यभाग अर्थात् ब्रह्मरन्त्रीषे एक जीवन-तन्तु (सिल्वर कॉर्ड) निकला है और ऊपर उसके छोरसे उन्हींका फोटो निकला हुआ देख पड़ता है। इस प्रकारसे प्राणमय शरीरका उत्क्षेप जाग्रत् अवस्थामें किया जा सकता है। पर उत्क्षेप होनेपर स्थूलशरीर तना बैठा नहीं रह सकता। चित्रमें स्थूल-शरीर जो तना बैठा दिखाया गया है, वह भूल है। तथापि प्राणशरीरके उत्क्षेपका यह अच्छा निर्दर्शन है।

५३. फ्रांसके मोशिये हुरावेलने भी 'प्राणमय शरीरका उत्क्षेप' इसी नामसे ऐसा ही एक मन्त्र लिखा है। उसमें प्राणशरीरके उत्क्षेपके चित्र दिये हैं। इसी पुस्तकसे मिं०

मुलडोनने अपनी पुस्तकमें उपर्युक्त चित्र लिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने किये हुए कई प्रयोग सचिव प्रकाशित किये हैं। प्राणशक्तियोग जब स्थूलशरीरसे बाहर निकलता है, तब जैसा देख पड़ता है उसका चित्र दिया है (चित्र क्रमांक ५ देखिये)। यह चित्र मिं० मुलडोनने मोशिये हुरावेलकी पुस्तकसे लिया है।

५४. सभ्य २८ में प्राणमय शरीरके अणुओंका चित्र है। इसके बादकी अवस्था अन्तरालमें प्राणमय शरीरका देख पड़ना है। प्राणमय शरीरकी अणुमयताका यह दृश्य इस चित्र (चित्र नं०५ देखिये) में देख पड़ता है। पाठकोंमें जो लोग ज्ञानमार्गी हैं अर्थात् पञ्चीकरणका अभ्यास करके जो कुछ आगे बढ़े हों उन्हें लिङ्ग अथवा सूक्ष्म शरीर, भोगायतन प्राणमय शरीर अथवा निर्माणकायका औपर्यत्तिक ज्ञान तो अवश्य होगा ही। लेखकको अवश्यक ऐसे सौ-दो सौ मनुष्योंसे मिलनेका अवसर हुआ है। ज्ञानमार्गीकी सत्तत्सूक्ष्मिकाओंका विवेचन भी कई बार इन ज्ञानमार्गीयोंसे सुना है। परन्तु क्रियायोगके द्वारा औपर्यत्तिक ज्ञानको प्रत्यक्ष अनुभव करने या करा देनेवाले बहुत ही कम व्यक्ति मिलते हैं। हठयोगी और राजयोगी यिद्ध पुरुषोंके सम्बन्धमें ऐसी बातें सुनी जाती हैं कि अनुक्रियाक्रम एक ही समयमें दो जगह दर्शन दिये। परन्तु उनके द्वियोंमें कोई ऐसे साधक नहीं मिलते, जो इसकी प्रक्रिया जानते हों या इस शक्तिकी पानेका जिन्होंने यत्र क्रिया हो। साध्याद्याग्निक शिष्योंकी मनोवृत्ति ही कुछ ऐसी देख पड़ती है कि वे अपने गुह्यको इतनी बड़ी प्रदर्शीको प्राप्त समझते हैं कि उनमें यह कहना कि हमें असुक क्रिया सिवायइये, उग्रें एक बड़ा अपराध-सा मालूम होता है, छोटे सुंह वडी बात मालूम होती है। अस्तु। भविष्यमें ऐसे सिद्ध पुरुष होंगे, जो इन क्रियाओंका अपने शिष्योंको अनुभव करा देंगे और उनके मान्युकालीन कष्ट, भय और संशय दूर कर देंगे।

५५. इस विषयमें और भी बहुत कुछ लिखा जा सकता है। परन्तु जो लोग इस विषयको विशेषरूपसे जानना चाहते हैं, उनके लिये मिं० मुलडोनद्वारा लिखित 'प्राणमय शरीरका उद्भव' ग्रन्थका निर्देश ही यहाँ कर दिया जाता है। (Mr. Muldoone's Projection of Astral Body. Publishers: Messrs. Rider and Co., Paternoster Row, London E. C.) इस ग्रन्थमें दिये हुए प्राणशक्तिरोद्भवके प्रयोग गुह्यसचिविके विना भी किये जा सकते हैं। इसके लिये कुछ आवधंयम आवश्यक होता है, प्रयोग

करनेमें समय भी बहुत लगाना पड़ता है और हन प्रयोगोंको करना ही अपना खास उद्योग बना लेना पड़ता है। आजीविकाके निमित्त जिनके पीछे बहुत-सी उपायियाँ लगी हुई हैं, वे हन प्रयोगोंको नहीं कर सकते। कम-से-कम दो महीने लगतार किसी एकान्त स्थानमें रहना होगा, आदार-विहार परिमित रखना होगा। ऐसा करनेसे मिं० मुलडोनको जो अनुभव प्राप्त हुए, वे चाहे जिस अभ्यासीके लिये करतलामलक्ष्यत हो जायेंगे। इस लेखके लेखकने वे तथा ऐसे ही अन्य प्रयोग करके देख लिये हैं।

५६. प्राच्य पद्धतिये प्राणमय शरीरके उद्भवनका अभ्यास गुह्यके समीप ही किया जा सकता है। पाठञ्जल योग-सूत्रमें इसके वैगिक उपाय बताये हैं। मन्त्र, यन्त्र और तन्त्रके ग्रन्थमें भी प्राणमय शरीरके उद्भव अर्थात् परकाय-प्रवेशके साधन मिलते हैं। शौनक कृष्णिका शृण्विधान (२१।१; ७।७।१) - सुषुमादि सप्तसूक्तों तथा निर्वर्त्ताम् ७ से शुरू होनेवाले सात सूक्तोंके पाठकी बात कहता है—

सुषुमाविसस्सूक्तानि
जपेष्वेद्विष्णुमन्त्रे ।
मार्गेश्वरेऽस्युतं धीमान् परकायं प्रवेशयेत् ॥
निवर्त्तव्यं जपेत् सूक्तं परकायाच्च निर्वर्ततः ।
कर्तिर्कथ्यं अस्युतं धीमान् कीर्तिमान् विष्णुमन्त्रे ॥

शौनक कृष्णिके इस प्रयोगमें मार्गेश्वरीष्व मासमें परकाय-प्रवेश करनेपर इसके द्वारा ह महीने बाद परकाय-निर्गमनका विधान है। यह उन्हींका स्वानुभूत प्रयोग हो सकता है।

५७. श्रीमद्वादशशङ्कराचार्यने लिखा है कि श्रीपतञ्जलि महामुनिके 'व्यथाभिमतध्यानादा' इस सूत्रके अनुसार ध्यान करनेसे परकायप्रवेश सिद्ध होता है। पाश्चात्य क्रियायोगमें भी भ्रमध्यमें 'ये इस शरीरके बाहर जा रहा हूँ' यह ध्यान ही करनेको कहा गया है। श्रीमत् शङ्कराचार्यने इस विद्याके साधनके लिये एक यन्त्र भी बताया है, जिसके साथ 'सौन्दर्य-लहरी' के एक श्लोकका पाठ भी करना होता है। वह श्लोक, यह यन्त्र और मन्त्र प्रक्रियासहित नीचे दिया जाता है।

५८. सौन्दर्यलहरी, श्लोक ८७—

हिमसिधिनिवासैकचतुरौ
निशायां निद्रायां निशि चरमभागे च विशदौ ।
वरं लक्ष्मीपावं श्रियमतिसूजनतौ समयिनं
सरोकृ त्वत्यादौ जननि जयतश्चित्रमिह किम् ॥८७॥

* इस श्लोककी क्रमसंख्या और पाठ वाणीविलास प्रेससे प्रकाशित पुस्तकके अनुसार है।

सं	जी
कल	आ दि को

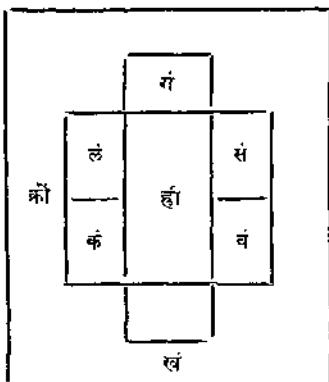
हैं नी लिखे। इससे परकायप्रवेशकी विद्या सिद्ध होती है।

५९. हठयोगकी खेचरी-मुद्रासे भी परकायप्रवेशका सिद्ध होना हठयोगके ग्रन्थोंमें लिखा है। परन्तु शारीरिक उपायोंसे खेचरी सिद्ध करनेके पूर्व खेचरीकी सिद्धके लिये योगकुण्डल्युपनिषदने नीचे लिखा मन्त्र और यन्त्र बताया है—

मन्त्र—ॐ ह्रीं गं सं मं फं लं अं सू ख् अं ग् स्त् लौं।

ॐ

यन्त्र—



मेलनमन्त्र

सोमांशतवकं वर्णं प्रतिलोमेन चोद्दरेत् ।
तस्मात् न्यंशकमास्यात्मक्षरं चन्द्ररूपकर्त् ॥
तस्माद्यष्टमं वर्णं विलोमेन परं सुने ।
तथा तप्तरमं विद्धि तदादिरपि पञ्चमी ॥
इन्द्रोऽक्षुभुर्निन्द्रे च कृटोऽयं परिकीर्तिः ।

सत्यं श्रीखेचरीसिद्धिः स्वयमेव प्रवर्तते ॥
—योगकुण्डल्युपनिषद्

६०. मेलनमन्त्रराजमुद्राति—खेचरेति । लक्षणकलाचा

यह यन्त्र सोनेके पच्चे पर लिखे और इक्कीस दिनतक इसे मधु, चित्रावि ज और पायसका भोग लगावे। उपर्युक्त लोक नियत सहस्र बार जपे और इस यन्त्रको सहस्र बार हलदी बिठे हुए किंतु पीढ़ेपर

परतीति खेचरः हकारः, आवर्णविमिति धारणावस्त्रिरीकारः, रेति बहिः, अस्तुमण्डलमिति विन्दुः । एतस्वर्वं मिलिता भूषितं हृषिति खेचरीबीजमास्यात्मक्षरं भूषितमिति लेघम् । सोमांशः सकारः चन्द्रबीजं तप्तविलोमेन तत्त्वकं वर्णमुद्दरेद् भूषिति । तस्माद् भकारादनुलोमेन व्यंशकं चन्द्रबीजमास्यात्म समिति । तस्मात् सकाराद् विलोमेन अपरमपूर्वं वर्णमुद्दरेद् भूषिति । तथा मकाराद् विलोमेन अपरं पञ्चवर्णं परिति विद्धि । उत्तरनिर्देश बीजं सदिमुद्दरेत् । बहुभिः ककाराशकारविन्दुमिः युक्तोऽयं कृष्णः क्षमिति । आहस्य बीजानि सप्त—हीं भं सं भं पं सं भं इति ।

६१. प्राच्य साधनक्रममें तत्त्वसाधन आवश्यक होता है। प्रातःकाल प्रथमतः आकाशतत्त्वके उदय होनेपर अस्त्रासके द्वारा आकाशतत्त्वको बारह धंडे सापे रहना पड़ता है। इसका जब स्थायी भाव होता है, तब खेचरी मुद्रा सिद्ध करके बैठ सकते हैं। इस मुद्राका साधन करते हुए स्तम्भ ५७ और ५८में दिये हुए मन्त्र और यन्त्रको साधना होता है। मन्त्रके विना भी खेचरी मुद्रा सिद्ध होती है। परन्तु किसी भी कार्यके सिद्ध होनेमें देवता-प्रसाद और देवता-साहाय्य आवश्यक होता है। खेचरी सिद्ध करनेके पूर्व उसी प्रकार देवता-प्रसाद प्राप्त होनेसे वह खेचरी फलवती और सुखदायिनी होती है। खेचरीका साधन बंवर्द्धके स्वामी कुवलयानन्द अथवा स्वामी अमयानन्द या वीरभद्र, पोस्ट शृणिकेशके स्वामी सत्यानन्दके पास जानेसे सुगम हो सकता है। स्तम्भ ५९में कुण्डल्युपनिषदका मन्त्रोदार—ही भं सं मं पं सं क्षं—दिया जा चुका है। स्तम्भ ५५में लिखे अनुसार पाश्चात्य प्रक्रियासे प्राणमय शरीर अन्नमय शरीरमें जागनेपर अन्नमय शरीरसे बाहर निकाल लिया जा सकता है और प्राणमय शरीरमें जागनेपर अन्नमय शरीरसे बाहर निकाल आनेकी प्रतीति भी होती है।

६२. इस प्रकार अन्नमय शरीरसे प्राणमय शरीरको बाहर लिया ला सकते हैं और जब यह प्रतीति होती है कि अन्नमय शरीरको छोड़नेपर हम हर तरहसे जागते हुए रहते हैं, तब एक प्रकारका विलक्षण आनन्द होता है। यह आनन्द अपने अमरत्वकी प्रतीतिका है। यह अमरत्व केवल औपपत्तिक नहीं, प्रत्यक्ष प्रयोगसिद्ध है। निरे औपपत्तिक शब्दसे जो समाधान हो सकता है, उससे हजार गुना अधिक समाधान प्रयोगसिद्ध होता है—यह तो हमलोग हर बातमें नियम ही अनुभव करते हैं। इस अमृतत्वको लाभ करना ही मृत्युको

जय करना है। मृत्युकी क्रिया केवल अन्नमय शरीरके साथ प्राणमय शरीरको बाँधनेवाले जीवन-तन्तुका दूटकर अलग होना ही है। परन्तु अन्नमय शरीरमें रहते हुए ही जब हम इस जीवन-तन्तु और प्राणमय शरीरको अनुभव कर लेते हैं, तब उस जीवन-तन्तुके अन्नमय शरीरको छोड़ देनेपर भी साधकको मृत्युका भय नहीं होता।

६३. सत्रम् २८के साथ जो चित्र दिया है, उसके अनुसार उस अनुशृण्टि प्राणमय शरीरको अपने स्थूलशरीरके समीप लाकर उसका आकार अपने स्थूलशरीरमें देख पड़े—यह उसके बादकी अवस्था है। उस चित्रका दर्शन धूमकेतुका-सा है। हमारा जो स्थूलशरीर है, वही हमारा प्राणमय शरीर है। जो लोग इसके अभ्यासी हैं, वे निद्रावस्था होनेके पूर्व अपने मनमें इसी निश्चयको जागता हुआ रखकर तब सोते हैं। स्थूलमें अनेक बार आकाशमें उड़नेका अनुभव होता है। इसका मतलब यही है कि प्राणमय शरीर उस समय स्थूल-शरीरके बाहर निकलकर अन्तरिक्षमें तैरता रहता है। इसके बादकी अवस्था यह है कि स्थूलशरीर निद्रावस्थामें जड़हौं जैसे पड़ा है, उसे बैसा ही देखते हुए उससे ४ इंचके फासलेपर उसी स्थूलशरीरकी प्रतिमूर्ति अभ्यासीको देख पड़ती है। इस प्रकार अभ्यासीका प्राणमय शरीर स्थूलशरीरसे दूर चला जाता है। इस क्रियाका आयाचित्र साथ दिये हुए चित्रकमाङ्क ६में देखिये।

६४. इस चित्रमें (चित्र नं० ६ देखिये) चारपाईपर पड़े हुए स्थूलशरीर और स्थूलशरीरके बाहर दीखनेवाले प्राणमय शरीर स्थूलशरीरके आकारके बीच एक तन्तु जुड़ा हुआ देख पड़ता है। इसी ही जीवन-तन्तु (Silver cord या Astral cord) कहते हैं। इस प्रकार प्राणमय शरीर स्थूलशरीरसे १५ फीट दूर चला जाता है। चित्रमें जैसा दिखाया है वैसा ही यह तन्तु देख पड़ता है, पीछे वह सूक्ष्म होता जाता है। हमारे स्थूलशरीरमें जो प्राणनाड़ी है, उसके साथ यह तन्तु जुड़ा हुआ रहता है। इस जीवन-तन्तुके घटक प्राण-प्रमाणु ही हुआ करते हैं। प्राणमय शरीर इस प्रकार सहस्रों मील दूर जा सकता है। श्रीमद् आदि शास्त्राचार्यने इसी रीतिसे राजा सुधन्वाके मृत शरीरमें प्रवेश किया था और उसके पूर्व अपने स्थूलशरीरको सम्माल रखनेके लिये अपने शिख्योंसे कह रखा था। राजा सुधन्वाके कुलगुरु और प्रधान सचिवको यह निश्चय हो गया था कि

सा० अं० ५३

परकायप्रबोधकी बिद्यासे राजाके शरीरमें प्रवेश करके कोई महापुरुष आये हैं। इसीलिये उन्होंने यह आज्ञा प्रचारित की कि अहाँ कहीं गिरि-कल्दराओं और गुहाओंमें जो कोई मृतवत् मानव-शरीर मुराबित हो, वे जला दिये जायें। ऐसे मुराबित मृतवत् शरीरोंकी छाँड़-खोज करनेके लिये जासूल भी भेजे गये थे। इत्यु हथ था कि राजा सुधन्वाके शरीरमें आ बैठे हुए महापुरुषका स्थूलशरीर मिल जाय तो वह जला दिया जाय, जिसमें उस स्थूलशरीरसे जीवन-तन्तु दूट जाय और उन महापुरुषको राजाके शरीरमें ही रहना पड़े। मनुष्य जब हालोंके प्रयाण करता है, तब उसका यह जीवन-तन्तु दूट जाता है। इसे तोड़ना कभी-कभी इस स्थूलदेहारी जीवके हाथमें होता है और सब समय लम्ब ४३ में उक्त उन चार महाराजाओंके हाथमें होता है, जो जीवके नियत ऐहिक कर्मके समाप्त होते ही जीवन-तन्तुको तोड़ डालने अथवा जीवके ही उसे तोड़ डालनेकी प्रश्न इच्छा उत्पन्न करते हैं। यहाँतक प्राणमय शरीरसे उद्भवनका प्रकार वर्णित हुआ; अब उसकी क्रिया क्या है ? उसे देखें।

६५. प्राणमय शरीरके उद्भवनकी दो क्रियाएँ हैं—एक विशात उद्भवनकी और दूसरी अशात उद्भवनकी। अशात उद्भवन निद्राकालमें होता है। अशात उद्भवन मानव-जीवितीकी निद्रावस्थाका एक आवश्यक कर्म है। यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि जाग्रत् अवस्थामें शरीरव्याप्तरके चलानेमें प्राणशक्तिका जो व्यय होता है, उसकी पूर्ति निद्राश्रित उद्भवनसे होती है।

६६. हेरवार्ड फैरिंगटन कहते हैं कि निद्राके विषयमें अबतक अनेकोंके अनेकों विचार प्रकट हुए हैं। कोई इसकी रासायनिक उपस्थिति बताते हैं अर्थात् यह बताते हैं कि जाग्रत् अवस्थामें शरीरके अंदर जो विषमुक्त रस उत्पन्न होते हैं, वे निद्रासे नष्ट हो जाते हैं। कुछ यह बताते हैं कि मनुष्यके मस्तिष्कमें होनेवाली रक्ताभिसरणकी एक विद्या इसी है, जिसे निद्रा आती है। कोई शरीरके कुछ विशिष्ट मासपिण्डोंकी क्रियाको इसका कारण बताते हैं। कोई शरीरके स्नायुओंकी शिथिलतासे निद्राका लगना मानते हैं और कोई दृढ़तापूर्वक यह प्रतिपादन करते हैं कि बायं विषयोंसे इन्द्रियोंको उत्तेजित करनेवाली कोई चीज जब नहीं मिलती, तब ही निद्रा आ जाती है। इन बातोंसे निद्राके कारणका कोई पता नहीं चलता। मनुष्यके स्थूलशरीरमें एक

प्राणमय शरीराभिमानी आत्मा है और स्थूलशरीरके बाहर सर्वत्र अनन्त अमित प्राणशक्ति भरी हुई है। निद्राकालमें यह प्राणमय आत्मा स्थूलशरीरके बाहर निकलकर बाहरकी प्राणशक्तिसे अपनी आवश्यकताभर प्राणशक्ति बढ़ावेकर किर अन्नमय शरीरमें आ जाता है, इस बातको माने विना इस समझाका कोई समाधान नहीं होता।'

६७. मिठा बाल्टा कहते हैं कि मानव-शरीर वाष्यनन्तवत् नहीं, चलिक विचुद्यन्तके समान है। अन्नरससे शरीरके सब व्यापार होते हैं, यह कहना सही नहीं है; चलिक निद्राकालमें प्राणमय आत्मा जो शक्ति सञ्चित कर रखता है, उसीसे शरीरके सब व्यापार होते हैं। अन्नरससे उसके जीर्ण स्नायुओंमें उत्साह लाया जा सकता है। यदि यह माने कि अन्नरससे शरीरके व्यापार होते हैं तो निद्राकी किर कोई आवश्यकता नहीं रहती, निद्राके बदले अन्नरस ही देनेसे निद्राका काम हो जाना चाहिये। पर ऐसा तो नहीं होता। मिठा मुलडोनका यह मत है कि हमारा प्राणमय शरीर बाह्य प्राणशक्तिका सञ्चय-स्थान है। प्राणमय शरीरको बाह्य प्राणशक्ति और स्थूल मानवशरीरके मञ्जातनुजालके बीचकी लड़ी समझिये। स्थूलशरीरके निद्राकालमें यह प्राणमय शरीर बाह्य प्राणशक्तिका आकर्षण कर संग्रह करनेके लिये स्थूलशरीरके बाहर निकला करता है अर्थात् अन्नमय शरीरसे उसका उद्गमन हुआ करता है। यही स्तम्भ ६१में कथित प्राणमय शरीरकी अस्ति उद्गमनकिया है।

६८. विश्वात उद्गमन (Conscious projection) दो प्रकारका है। एक है प्राच्य योगशास्त्रकी क्रियाओंसे सिद्ध होनेवाला और दूसरा पाश्चात्य प्रयोगसे अर्थात् स्वप्नस्थिति-नियन्त्रणसे सिद्ध होनेवाला।

६९. 'वन्धुकरणशैथिल्यात् प्रवारंवेदनाच्च चित्तस्य परश्यारिवेद्यः' (पातञ्जल योगसूत्र तृ० पा० सूत्र ३८)। कर्मवशात् प्राप्त होनेवाले शरीरमेंगोको भोक्ता जो जीव है, उसे उस भोगसे जो अवस्था प्राप्त होती है, उसे बन्ध कहते हैं। जब सुख-दुःख, पाप-पुण्यादिके विषयमें साधकको कोई प्रतिकूल या अनुकूल वेदना नहीं होती अर्थात् इन दृढ़ोंको उसकी चित्तशृति पार कर जाती है या यह कहिये कि उसका अन्धन विलीन हो जाता है, तब वह साधक चित्तवहा नाड़ीमें प्रवेश करता है। यह चित्तवहा नाड़ी प्राणवहा नाड़ीकी अपेक्षा अधिक दृढ़ होती है। इसमें प्रवेश करनेपर साधक-

को अपने अंदरकी तथा दूसरोंके अंदरकी चित्तवहा नाड़ीके प्रचारका ज्ञान होता है और वह किसी चेतन-अचेतन प्राणीके शरीरमें प्रवेश कर सकता है। इस प्रकार दूसरेके शरीरमें जब चित्तवहा नाड़ीसे प्रवेश करता है, तब भधुमविलय-योकी रानीके पीछे-पीछे जैसे अन्य भधुमविलयाँ चलती हैं वेरे ही उस साधककी चित्तवहा नाड़ीके पीछे-पीछे उसकी अन्य हार्दियाँ भी उस शरीरमें प्रवेश करती हैं। इस प्रकार वह साधक अपने प्राणमय शरीरसे दूसरेके स्थूलशरीरमें रहकर सब काम करता है। श्रीमदाचार्यशेषक परकायप्रवेदायन्त्र-विधि स्तम्भ ५५ में निर्दिष्ट है।

७०. प्रमाण, विषय, विकल्प, निद्रा और स्मृति-ये पाँच दृतियाँ हैं। इनमें जो निद्रावृत्ति है, उसके निरोधसे परकायप्रवेशकी क्रिया सिद्ध होती है। इसलिये इसी दृतिका यहाँ विचार करें। पर इससे पहले स्मृतिवृत्तिका भी किञ्चित् विचार कर लेना आवश्यक है। स्मृतिवृत्तिके निरोधके लिये साधकको अपने मनोमय शरीरमें अनर्हित होना पड़ता है। मनोमय शरीरमें जानेके लिये चन्द्रनाडीका निरोध करना पड़ता है। चन्द्रनाडी वाम नासा-रन्ध्रसे बहनेवाले श्वासको कहते हैं, और वह ठीक है। परन्तु यहाँ चन्द्रनाडीका अभिप्राय उस चन्द्रनाडीसे नहीं है। यदौँ चन्द्रनाडी प्राण-तत्त्ववादिनी नाड़ी है। ये नाड़ियाँ अनेक हैं और शरीरके आप्तवत्र भागमें हैं। पाचक रसका उत्पन्न होना और बाहर निकलना, खाये हुए पदार्थोंमेंसे सार-भाग निकाल लेना, रक्ताभिसरणकी क्रियाका होना और शास्त्र-प्रश्नासका चलना—ये सब कार्य चन्द्रनाडीयोंमें प्रचाहित होनेवाली प्राणशक्तिसे हुआ करते हैं। पहले तत्त्वाभ्यास करके, प्रातःकाल या सांयकाल चन्द्रस्तरको २ घंटे २४ मिनट स्थिर रखकर उस समय खेचरीमुदा सिद्ध करके उस समताकी यदि स्थिर रखता जाय तो चन्द्रनाडीका निरोध होता है और उससे दृद्यक्रिया बंद होती और नाड़ियोंमें होनेवाला रक्तप्रवाह बंद हो जाता है। उस समय प्राणमय शरीर अन्नमय शरीरमेंसे बहने लगता है, अर्थात् बाहर निकलकर स्थूलशरीरमी होता है। ऐसे समय अवमय शरीर स्फटिक मणि-सा उज्ज्वल देख पड़ता है। उस समय प्रकाश-साक्षात्कार होता है। दूर-शब्द-श्रवण, दूरदर्शन आदि क्रियाएँ सिद्ध होती हैं। यही स्मृतिवृत्तिका निरोध है। अन्नमय शरीरमें लौट आते समय ऐसा प्रतीत होता है कि स्थूलशरीरमें मानो सहस्रों जलधाराएँ एक साथ प्रवाहित हो रही हीं और इससे स्थूलशरीरमें पक विलक्षण महान् आनन्द अनुभूत होता है।

७१. निद्रावृत्तिके निरोधके लिये वरणा नाडीका निरोध अवश्यक होता है । वरणा नाडी मनोमय शरीरमें नादविन्दु-कला और आशाचक्तव कैली हुई है । चन्द्रनाडीकी अपेक्षा यह नाडी सूक्ष्म है और इसे मनोवहा नाडी कहते हैं । सुषुप्ता नाडीके कलदं अर्थात् शहराके अंदर अतिशय आनन्दतरये इस नाडीका होना अनुभूत होता है । चन्द्रनाडीके निरोधसे इसका निरोध होता है और इसके निरोधसे निद्रावृत्तिका निरोध होता है । वरणा नाडीके निरोधसे पूर्वजन्मस्मृति प्राप्त होती है । चन्द्रनाडीके निरोधसे प्राणमय शरीर अन्नमय शरीरके बाहर उससे पृथक् देख पड़ता है और वरणा के निरोधसे मनोमय शरीर प्राणमय शरीरके साथ अन्नमय शरीरके बाहर निकाल लिया जा सकता है । यही परकायप्रदेशके लिये उपयुक्त परिस्थिति है ।

७२. पाश्चात्य लोगोंके प्राणमयशरीरोद्गमनकी किया स्तम्भ ८ में कहे अनुसार स्वप्नस्थितिनियन्त्रण है । हमलोगोंका निद्रावृत्तिनिरोध और उन लोगोंका स्वप्नस्थितिनियन्त्रण दोनों कियाएँ प्रायः एक ही हैं । साधकको चाहिये कि पहले स्वप्ननियन्त्रणका अन्यास करे । स्वप्नका नियन्त्रण यही है कि आज रातको अमुक प्रकारका खग ही हम देखें, यह निश्चय करके सो जाय । इस प्रकार अन्याससे जब स्वप्नस्थितिका नियन्त्रण हो देगा, तब ऐसी भावना करना आवश्यक को कि आजकी स्वप्नस्थितिमें हमारा प्राणमय शरीर अन्नमय शरीरके बाहर अमुक स्थानमें जाय । ऐसी ढढ भावना करके सोनेका अन्यास करे । इस अन्याससे यह अनुभव होगा कि प्राणमय शरीर सङ्कल्पके अनुसार तत्त्व स्थानमें पहुँचता है, अन्यासी यह अनुभव दूसरोंको भी करा दे सकता है । प्रथल सङ्कल्पबलसे स्थूल पदार्थ भी स्पर्शशक्तिसे हिलाये जा सकते हैं ।

यहाँतक पाश्चात्योंके सिद्ध प्रयोगका वर्णन हुआ । इन प्रयोगोंको किये हुए व्यक्ति पाश्चात्योंमें अभी ५-६ से अधिक नहीं हैं । इनमें मिठुन, मिठुन आलिंघर फारक केंचमैन और मोशिये हुरावेलने इस विषयमें ग्रन्थ लिखे हैं । मिठुन लुल्डोनकी पुस्तकमेंसे अन्नमय शरीरसे प्राणमय शरीरके उद्धमनकी विधिके सम्बन्धमें कुछ सूचनाएँ नीचे देते हैं ।

७३. मत्स्य-मांस और उत्तेजक पदार्थ सेवन न करे । जिस दिन प्रयोग करना हो, उस दिन उपवास करना अच्छा

है । कम-से-कम प्यास बनी रहे, उसे न छुकावें । हृदयक्रियाके बंद होनेकी योग्यता जिसे हो था जो जल्द घबरा जाता हो, उसे यह प्रयोग नहीं करना चाहिये । प्रयोग दिनमें न करे, प्रयोग करते समय दीपक भी न हो । चारपाईपर पीठके बल लेट जाय । दोनों औँखोंकी पुतलियोंको भ्रमध्यक्षी ओर ले जाकर स्थिर करे और यह भावना करे कि हम चिन्होंके समीप हैं । अनन्तर यह भावना करे कि हमारा प्राणमय शरीर उसी चिन्होंसे बाहर निकल रहा है । इस कियासे आँखें दुखलेंगी । पर है यह किया बहुत ही कार्यक्रम । एक दूसरी किया भी है । रातको जल्दी सी जाय और लगभग २ बजे रातमें उठे । ऐसी प्रबल इच्छा करे कि प्राणमय शरीरको बाहर ले जाना है । ऐसी भावना करे कि किसी हवाई जहाजमें बैठे या छिपाये लड़े-खड़े उत्तर ले जा रहे हैं । इस भावनाके साथ सी जाय अथवा ऐसी भावना करे कि किसी सोयेरमें तैरते हुए या चक्काकार तटिसे ऊपरकी ओर जा रहे हैं, आगे-पीछे अगल-बगल चलनेवाले बायुकी ओर हम देख रहे हैं अथवा शहूङाकार किसी महान् शहूङसे बाहर निकल रहे हैं । अथवा यह भावना करे कि अग्नि-ज्वाला सामने है और उसमें हम मिल रहे हैं अथवा विमानमें बैठे उपर जा रहे हैं । प्रयोग-बाले दिन पानी बिल्कुल न पीये । जब न रहा जाय, तब नमक डालकर एक बूँट पानी ली ले, इससे प्यास बढ़ती जायगी । जलवाले परमें लोटा या गिलास पानी भरकर रखले और उसपर दृष्टि गड़ाकर सो जाय और सोनेके कमरोंसे बहाँ-तकका रस्ता अन्यासमें ले आवे । इससे नींदके लगते ही प्राणमय शरीर जलसे भरे उस गिलासके पास पहुँच जायगा । जिस दिन जहाँ इस प्रकार जानेकी इच्छा हो, उसीको दिनभर सोचता रहे और यदि भी निश्चय कर ले कि वहाँ जाकर अमुक मनुष्यसे मिलना है । कुछ दिन पहलेसे ही समय और स्थान निश्चित करके उस दिन और समयकी प्रतीक्षा करता रहे । भावना दृढ़ होनेसे उस दिन उस समय उस स्थानमें उसके पास आ पहुँचे, यह उस व्यक्तिको अनुभव होगा ।

७४. मृत्यु क्या चीज़ है ? कोई महाबली मनुष्य, देव या दानव नहीं है, बल्कि एक अवस्थान्तरमात्र है । इस अवस्थान्तरका ज्ञान न होनेसे सब प्राणी ही पूर्वजन्मस्मृतिके कारण मृत्युको भीषण, महाभयावह भानते हैं । छोटा बचा नहीं जानता कि मृत्यु क्या है, पर उससे वह डरता जल्द है; क्योंकि पूर्वजन्ममें शरीर-वियोगके समय जो दुःख हुआ था, उसकी स्मृति किसी रूपमें उसमें छिपी हुई है । ‘जातस्य

हि श्रुतो मृत्युः' इस बाक्यको जोर-जोरसे घोषणेपर भी अथवा 'मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम्' की खूब भीमांसा करनेपर भी मरणका समय तो भयप्रद ही मात्रम् होता है। किंतने ग्रामी सिंह वा साँपके समीप आते ही बेहोश होकर तिर पड़ते या मर जाते हैं। श्रीयम (नियमन करनेवाले) राजा और उनके दूतोंकी एक कथा है। यमराजने दूतोंसे कहा, ४०० मनुष्य ले आओ। काम पूरा करके दूत लौटे, पर उनके साथ ४०० मनुष्य थे। इसपर यमराज चिंगड़े। उन्होंने कहा—मैंने तो ४०० को लानेको कहा था, ये ४०० क्यों ले आये? दूतोंने कहा—हमलोग तो ४०० को ही ला रहे थे, पर बाकी भयसे आप ही मरो; इसलिये उन्हें भी ले आये। तात्पर्य, कभी-कभी केवल भयसे ही मनुष्य मर जाता है। इस लेखकको याद है कि एक बार एक धरमे साँप निकला, उसको देखते ही उस धरका एक मनुष्य तुरंत मर गया। भयसे शरीरकी सब कियाएँ बंद हो जाती हैं। मन दुर्बल होनेसे शारीरिक शक्ति भी क्षीण होती है।

७५. मनुष्य ब्राह्मर मरते जा रहे हैं, फिर भी मनुष्य अमर होनेकी इच्छा किया ही करता है और श्रीतुकाराम महाराज कहते हैं कि 'अमर होओ, अमर ही तो हो, सच्च-कृठ स्वयं देख लो।' तुकारामके कथनका मतलब यह है कि तुम सूक्ष्मदेहसे अमर हो; मरता केवल तुम्हारा स्थूलशरीर है, तुम नहीं मरते।

७६. सच्च पूछिये तो ऐसे उपदेशकी आवश्यकता है कि तुम अमर हो, दुर्द्वारा स्थूलशरीर तुम्हारे शरीरपरके बलके समान है, प्राणमय शरीरका यह स्थूलशरीर बल ही है। प्राणमय शरीरसे मनोमय शरीरमें पहुँचनेतक तुम अमर ही हो और आनन्दमय शरीरमें पहुँचनेपर तो तुम ब्रह्मस्वरूप ही हो हो।

७७. इस प्रकारसे जीवात्मा और परमात्माका एकत्व-सम्पादन होता है। वेदान्तकी घोषणा भी तो यही है कि 'जीवात्मा परमात्मा एक ही है।' योगके क्रियाकलापसे इस ऐक्यको प्राप्त करना मनुष्यका प्रथम कर्तव्य है। वेदान्त-विचारसे शब्द-ज्ञान होगा, पर स्वानुभूत ज्ञानके लिये राजयोग-का आश्रय करना ही होगा।

७८. सम्पूर्ण लेखका सारांश यही है कि अन्नमय कोशसे प्राणमय कोश बाहर निकल सकता है और उससे अन्नमय कोशकी असल्यता प्रमेय, प्रमाण और प्रत्यक्षानुभवसे विद्व होती है। अन्नमय कोशका स्फूटना अर्थात् लौकिक मृत्युका होना अन्नमय कोशसे प्राणमय कोशका निकलना है, उद्गमन है, मृत्यु नहीं। इस प्रकार प्राणमय कोशकी सत्यता जैव जानेपर अन्नमय और प्राणमय कोशोंका परस्पर-विच्छेद होना मृत्यु नहीं, किन्तु अवश्यान्तर है—यह बात सामने आ जाती है। प्राणमय कोशसे मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशकी परम्परया अनुभूति होनेपर जीव-शिवके ऐक्यको जानना ही प्राणमय शक्तिके लिद्ध होनेकी फलश्रुति है। इसके केवल औपपत्तिक ज्ञानसे नहीं, वल्कि इसका प्रयोगसिद्ध ज्ञान होनेसे जीव-शिवके एकत्वके विषयमें कोई संशय नहीं रहेगा। इस लेखसे यदि इतना काम बने जाय तो लेखकको इस बातका सन्तोष होगा कि उसके इस प्रयत्नकी दिशा तो ठीक है।

इस प्रकार पाठकोंकी मनोभूमि तैयार हो और वे अमर-पदको प्राप्त करें—'शिवोऽहम्', 'ब्रह्माहम्', 'मेद नानालिं किङ्भ्रन्' इन परम सत्य बचनोंकी भूमिकातक पहुँचें, यही श्रीनाथ-माता और राजराजेश्वरी श्रीलिंगिता भगवतीसे प्रार्थना कर, यह लेख समाप्त करता हूँ।

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिदद्युःखमाभ्यास ॥

काम

तन मन जारै काम हीं चित कर डाँवाडोल ।
धरम सरम सच्च खोय के रहे आप हिये खोल ॥
नर नारी सब बेतियो दीनहीं प्रगट दिल्लाय ।
पर तिरिया पर पुढ़क हो भोग नरक को जाय ॥

तान्त्रिक साधन

(लेखक—श्रीदेवेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय बी०००, काल्पनीई)

इस टंसारमें जितने प्रकारके साधन हैं, उनमें चार प्रकार-के साधन ही शेष हैं। प्रथम वेदविहित लाशनचतुष्णीय; द्वितीय सांख्यप्रदर्शित साधनप्रय; तृतीय योगशास्त्रोक्त साधनकी रीति तथा चतुर्थ तन्त्रशास्त्रोक्त साधनप्रणाली। परन्तु कलिकालमें केवल तन्त्रशास्त्रोक्त साधन ही प्रसरित और सिद्धिप्रद हैं। यही शास्त्रकी उत्तिर है। महानिर्वाण-तन्त्रमें कहा गया है—

तपःस्वाध्यायहीनानां नृणामस्यायुधामपि ।
क्लेशप्रथासाक्षकनां कुलो देहपरिधामः ॥
गृहस्थाय स्त्रियाः सर्वे भागमोक्ताः कलौ शिवे ।
नान्यमानेः क्रियासिद्धिः कदापि गृहसेधिनाम् ॥

कलिकालमें मनुष्य तपसे हीन, वेदपाठसे रहित और अल्पायु देहोंगे; वे दुर्वर्तलके कारण उस प्रकारके ल्लैया और परिश्रमके सहनमें समर्थ न होंगे। अतएव उनसे दैविक परिश्रम किस प्रकार सम्भव हो लकता है? कलिकालमें घृणस्यलोग केवल आगमोक्त विधानोंके अनुसार ही कर्मनुष्ठान करेंगे। दूसरे प्रकारकी विधियोंसे अर्थात् वैदिक, पीराणिक और स्मार्तसम्प्रत विधियोंका अवलम्बन करके क्रियानुष्ठान करनेसे कदापि सिद्धिलाभ करनेमें समर्थ न होंगे।

(१) षट्क्रकमेद

तान्त्रिक साधन दो प्रकारका है—बहिर्बायं और अन्तर्बायं। बहिर्बायमें गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, तुलसी, विल्वपत्र और नैवेद्यादिके द्वारा पूजा की जाती है। अन्तर्बायमें इन सब वाय्ष वस्तुओंकी आवश्यकता नहीं होती। मानसोपचारके उपकरण स्वतन्त्र होते हैं, इसमें पञ्चभूतोंके द्वारा उपचारकल्पना करनी पड़ती है। यथा—

पृथिव्याभ्यकरण्यः स्यादाकाशास्त्रमकुप्यकम् ।
भूपो वायासमः प्रोक्तो दीपो वह्निग्रामकः परः ॥
रसात्मकं च नैवेद्यं पूजा पञ्चोपचारिक ।

पुरुषीतत्त्वको गन्ध, आकाशतत्त्वको पुष्प, वायुतत्त्वको धूप, तेजस्तत्त्वको दीप, रसात्मक जलतत्त्वको नैवेद्यके रूपमें कल्पना करके इस पञ्चोपचारद्वारा पूजा करनी पड़ती है। इसीका नाम अन्तर्बायं है। षट्क्रकोंका भेद ही इस अन्तर्बायं-का प्रधान अङ्ग है।

षट्क्रकोंका अभ्यास हुए विना आत्मसाधन नहीं होता; क्योंकि किसी वस्तुके प्रत्यक्ष हुए विना मनका सन्देह नहीं छूटता, अतएव वास्तविक ज्ञान नहीं होता। दार्शनिक विचारोंके द्वारा केवल मौखिक ज्ञान होता है, यथार्थ ज्ञान नहीं होता। इसके प्रत्यक्ष होनेका उपाय है षट्क्रक-साधन।

षट्क्रक क्या है?

इदापिङ्गलयोर्मध्ये सुकुम्भा या भवेस्त्वलु ।
षट्स्यानेषु च षट्क्रकं षट्पदं योगिनो विदुः॥

इडा और पिङ्गलानामक दो नाडियोंके मध्यमें जो सुषुम्भानामक नाड़ी है, उसकी छः ग्रन्थियोंमें पद्माकारके छः चक्र संलग्न हैं। गुह्यस्थानमें, लिङ्गमूलमें, नाभिदेशमें, हृदयमें, कण्ठमें और दोनों भ्रूके बीचमें—इन छः स्थानोंमें छः चक्र विद्यमान हैं। ये छः चक्र सुषुम्भा-नालकी छः ग्रन्थियोंके रूपमें प्रसिद्ध हैं। इन छः ग्रन्थियोंका भेद करके जीवात्माका परमात्माके साथ संयोग करना पढ़ता है। इसीकी प्रकृत योग कहते हैं। यथा—

म योगो नभसः पूष्टे न भूमी न रसात्मले ।
ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्थोगं योगविशारदाः ॥
(देवीभागवत)

‘योगविशारदलोग जीवात्माके साथ परमात्माकी एकता साधन करनेको ही योगके नामसे निर्देश करते हैं।’ और योगकी क्रिया-सिद्धिके अंशका नाम साधन है।

अब क्षिति स्थानमें कौन-सा चक्र है? इसे क्रमशः स्पष्ट किया जाता है—

गुह्यस्थलमें मूलाधारचक चतुर्दलयुक्त है, उसके ऊपर लिङ्गमूलमें स्त्राधिष्ठानचक षट्क्रकलयुक्त है, नाभिमण्डलमें मणिपुरचक दशादलयुक्त है, हृदयमें अनाहतचक द्वादश-दलयुक्त है, कण्ठदेशमें विशुद्धचक षोडशदलयुक्त है और भ्रम्यमें आज्ञाचक हिंदलयुक्त है। ये षट्क्रक सुषुम्भा-नाडीमें गमित हैं।

मानव-शरीरमें तीन लाल्प पचास हजार नाडियाँ हैं।

इन नाडियोंमें चौदह नाडियाँ प्रधान हैं—सुषुम्णा, इडा, पिङ्गला, गान्धारी, दक्षिणिडा, कुहू, सरस्वती, पूषा, शाहूनी, पश्चिमी, वाहणी, अलखुणा, विश्वोदरी और यशस्विनी। इनमें भी इडा, पिङ्गला और सुषुम्णा—ये तीन नाडियाँ प्रधान हैं। पुनः इन तीनोंमें सुषुम्णा नाडी सर्वप्रधान है और योगसाधनमें उपयोगिनी है। अन्यान्य समस्त नाडियाँ इसी सुषुम्णा नाडीके आश्रयसे रहती हैं। इस सुषुम्णा नाडीके मध्य सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर ब्रह्मरन्ध्र है। यह ब्रह्मरन्ध्र ही दिव्यमार्ग है, यह अमृतदायक और आनन्दकारक है। कुलकुण्डलिनीशक्ति हसी ब्रह्मरन्ध्र-के द्वारा मूलाधारसे सहस्रारमें गमन करती है और परम शिवमें मिल जाती है, इसी कारण इस ब्रह्मरन्ध्रके दिव्यमार्ग कहा जाता है।

इडा नाडी वामभागमें स्थित होकर सुषुम्णा नाडीको प्रत्येक चक्रमें घेरती हुई दक्षिणासापुरुषे और पिङ्गला नाडी दक्षिण भागमें स्थित होकर सुषुम्णा नाडीको प्रत्येक चक्रमें परिवेशित करती हुई वामभागापुरुषे आशाचक्रमें सिल्दी है। इडा और पिङ्गलाके बीच बीचमें सुषुम्णा नाडीके छः स्थानोंमें छः पंच और छः शक्तियाँ निर्दित हैं। कुण्डलिनी देवीने अधधा कुण्डलित होकर सुषुम्णा नाडीके समस्त अंशको धेर रक्खा है तथा अपने मुखमें अपनी पूँछको डालकर साढ़े तीन घेरे दिये हुए स्वयम्भूलिङ्गोंको बैठन करके ब्रह्मद्वारका अवरोध कर सुषुम्णाके मार्गमें स्थित हैं। यह कुण्डलिनी सर्पकासा आकार धारण करके अपनी प्रभासे देवीप्रजामान होकर जहाँ निद्रा हो रही है, उसी स्थानको मूलाधारचक्क कहते हैं। यह कुण्डलिनीशक्ति ही धारदेवी हैं अर्थात् वर्णमयी बीजमन्त्रस्वरूपा हैं। यही सत्य, रज और तम—इन तीनों गुणोंकी मूलस्वरूपा प्रकृति देनी हैं। इस कल्दके बीचमें वन्यूक्तुण्यके समान रक्तर्ण कामबीज विराजमान है। इस स्थानमें द्विराण नामक एक तिद्विलिङ्ग और डाकिनी शक्ति रहती है।

जिस समय योगी मूलाधारस्थित स्वयम्भूलिङ्गका चिन्तन करता है, उस समय उसकी समस्त पापराशि क्षणमात्रमें ध्वनि हो जाती है तथा मन-ही-मन वह जिस वस्तुकी कामना करता है, उसकी प्राप्ति हो जाती है। इस साधनाको निरन्तर करनेसे साधक उसे मुक्तिदाताके रूपमें दर्शन करता है।

मूलाधारचक्कके ऊपर लिङ्गमूलमें विशुद्धवर्ण पद्मल-

विशिष्ट स्वाधिष्ठाननामक पद्म है। इस स्थानमें बालनामक तिद्विलिङ्ग और देवी राकिणी शक्ति अवस्थान करती है। जो योगी सर्वदा इस स्वाधिष्ठानचक्रमें ध्यान करते हैं, वे सन्देह-विश्वित चिन्तने बहुतेरे अश्रुत शाङ्कोंकी व्याख्या कर सकते हैं तथा वे सर्वतोभावेन रोगरहित होकर सर्वत्र निर्मय विचरण करते हैं। इसके अतिरिक्त उनको अणिमादि गुणोंसे युक्त परम तिद्धि प्राप्त होती है।

स्वाधिष्ठानचक्रके ऊपर नाभिमूलमें मेघवर्ण मणिपूर-नामक ददादल पद्म है। इस मणिपूरचक्रमें सर्वमङ्गलदायक रुद्रनामक तिद्विलिङ्ग और परम धार्मिकी देवी लाकिनी शक्ति अवस्थान करती है। जो योगी इस चक्रमें सर्वदा ध्यान करते हैं, इहलेकमें उनकी कामनासिद्धि, दुःखनिवृत्ति और रोगशात्रन्ति होती है। इसके द्वारा वे परदेहमें भी प्रवेश कर सकते हैं तथा अनावास ही कालको भी विद्वित करनेमें समर्थ हो सकते हैं; इसके अतिरिक्त सुवर्णादिके बनाने, सिद्ध पुरुषोंका दर्शन करने, भूतलमें ओषधि तथा भूगर्भमें निधिके दर्शन करनेकी सामर्थ्य उनमें उत्पन्न हो जाती है।

मणिपूरचक्रके ऊपर हृदयस्थलमें अनाहतनामक एक ददादल रक्तवर्ण पद्म है। इस पद्मकी कणिकाके बीचमें विशुद्धभासे युक्त धूम्रवर्ण पवनदेव अवस्थित हैं तथा इस पट्टोण वायुमण्डलमें धं बीजके ऊपर ईशाननामक शिव काकिनी शक्तिके साथ विद्यमान हैं। कुछ लोगोंके मतसे इन्हें चिनकी शक्तिके साथ वाणिलिङ्ग कहा जाता है। इस वाणिलिङ्गके सरणमात्रसे दृष्टादृष्ट दोनों वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं। इस अनाहतनामक पद्ममें पिनाकी नामक तिद्विलिङ्ग और काकिनी शक्ति रहती है। इस अनाहतचक्रके ध्यानकी महिमा नहीं कही जा सकती। ब्रह्मा प्रभृति समस्त देवगण वहुत यज्ञार्पक इसको गुप्त रखते हैं।

कण्ठमूलमें विशुद्धनामक चक्रका स्थान है। यह चक्र पोदशाश्वलयुक्त है और धूम्रवर्ण पद्माकारमें अवस्थित है। इसकी कणिकाके बीचमें गोलाकार आकाशमण्डल है, इस मण्डलमें श्रेष्ठ हस्तीपर आरुद्ध आकाश है बीजके साथ विराजित है। इसकी गोदमें अर्द्धनरीश्वर शिवमूर्ति है—दूसरे मतसे इसे हस्तीपरी कहते हैं। इस शिवके गोदमें पीतकर्ण चतुर्मुख शक्तिकी शक्ति विराजित है। इस चक्रमें पञ्च स्थूल-भूतोंके आदिभूत महाकालका स्थान है। इस आकाशमण्डल-से ही अन्यान्य चारों स्थूल भूत क्रमशः चक्रस्थानमें उत्पन्न हुए

हैं अर्थात् आकाशसे वायु, वायुसे तेज, तेजसे जल और जलसे पृथिवी उत्पन्न हुई है। इस चक्रमें छगलाण्डनामक शिवलिङ्ग और शाकिनीनामक शक्ति अधिदेवतारूपमें विद्याजित हैं। जो प्रतिदिन इस विशुद्धचक्रका स्थान करते हैं, उनके लिये दूसरी साथना आवश्यक नहीं होती। यह विशुद्धनामक षोडशादल कमल ही शानस्वप्न अमूल्य रत्नोंकी खान है। क्योंकि इसीसे रहस्यसहित चतुर्वेद स्वयं प्रकाशित होते हैं।

ललाटमण्डलमें भ्रूमध्यमें आतानामक चक्रका स्थान है। इस चक्रको चन्द्रवृत् श्वेतवर्ण द्विदल पद्म कहा जाता है। इस चक्रमें महाकालनामक रिंगलिङ्ग और हातिनी शक्ति अधिष्ठित हैं। इस स्थानमें शरक्तालीन चन्द्रके समान प्रकाशमय अश्रव चीज़ (प्रणव) देवीप्राप्तमान है। यही परमहंस पुरुष है। जो लोग इसका ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, वे किसी भी कारणसे दुखी या शोकतापसे अभिभूत नहीं होते।

पहले कहा गया है कि सुगुणा नाड़ीकी अनितम सीमा प्रदानन्दन है तथा यह नाड़ी भेषदण्डके आप्रयसे ऊपर उठी हुई है। इडा नाड़ी इस सुगुणा नाड़ीसे ही लौटकर (उत्तर-वाहिनी होकर) आज्ञाप्रकृती दाहिनों ओरसे होकर, वाम-नासापुटमें गमन करती है। आशाचक्रमें पिङ्गला नाड़ी भी उसी रीतिसे वार्षी ओरसे घूसकर दक्षिण नासापुटमें गयी है। इडा नाड़ी वरणा नदीके नामसे और पिङ्गला नाड़ी असी नदीके नामसे अभिहित होती है। इन दोनों नदियोंके बीच में वाराणसी धाम और विश्वनाथ द्विष्ट शोभायमान हैं।

योगीलोग कहते हैं कि आशाचक्रके ऊपर तीन पीठस्थान हैं। उन तीनों पीठोंका नाम है—निन्दुपीठ, नादपीठ और शक्तिपीठ। ये तीनों पीठस्थान कपालदेशमें रहते हैं। शक्ति-पीठका अर्थ है ब्रह्मपीठ उँचाकार। उँचाकारके नीचे निरालम्भात्मुखी तथा उसके नीचे षोडशादलयुक्त सोमनक है। उसके नीचे एक गुप्त षड्दल पद्म है, उसे शानचक्र कहते हैं। इसके एक-एक दलसे क्रमशः स्वयं, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द और स्वप्न-स्थान उत्पन्न होते हैं। इसके नीचे आज्ञाचक्रका स्थान है। आशाचक्रके नीचे तालुमूलमें एक गुप्त चक्र है, इस चक्रको षष्ठदशादलयुक्त रक्तवर्ण पद्म कहा जाता है। इस पद्ममें

पञ्चवृक्षमूत्रोंके पञ्चीकरणद्वारा पञ्चस्थूलमूत्रोंका प्रादुर्भाव होता है। इस चक्रके नीचे विशुद्धचक्रका स्थान है।

अब सहस्रारकी बात सुनिये। आशाचक्रके ऊपर अर्थात् शरीरके उत्तरोंके स्थान मस्तकमें सहस्रार कमल है। इसी स्थानमें विश्वरसमेत सुपुण्णाका मूल आरम्भ होता है एवं इसी स्थानसे सुषुण्णा नाड़ी अधोमुखी होकर चलती है। इसकी अन्तिम सीमा मूलाधारस्थित योनिमण्डल है।

सहस्रार या सहस्रदलकमल झुम्रवर्ण है, तरण झूर्णके सदृश रक्तवर्ण केशरके द्वारा रंडित और अधोमुखी है। उसके पचास दलोंमें अकारसे लेकर शकारपर्वन्त सविन्दु पचास वर्ण हैं। इस अक्षरकर्णिकाके बीचमें गोलाकार चन्द्रमण्डल है। यह चन्द्रमण्डल छत्राकारमें एक झट्टमुखी द्वादशदलकमलकी आवृत्ति किये हैं। इस कमलकी कर्णिकामें विशुत्-सदृश अक्षरादि त्रिकोण यन्त्र है। उक्त यन्त्रके चारों ओर सुधायागर होनेके कारण वह यत्र मणिद्वीपके आकारका हो गया है। इस द्वीपके मध्यस्थलमें मणिपीठ है, उसके दोनों ओर नाद-दिन्दिनुके ऊपर हंसलीटका स्थान है। इंसपीठके ऊपर गुरु-गुरुदुका है। इसी स्थानमें गुरुदेवके चरण-कमलका ध्यान करना पढ़ता है। गुरुदेव ही परम शिव या परम ब्रह्म हैं। सहस्रदलकमलमें चन्द्रमण्डल है, उसकी गोदमें अमर-कला नामकी पोडशी कला है तथा उसकी गोदमें निर्वाण-कला है। इस निर्वाणकलाकी गोदमें निर्वाणशक्तिस्था मूल-प्रकृति बिन्दु और विर्लं शक्तिके साथ परमशिवको बेष्टन किये हुए हैं। इसके ध्यानसे साधक निर्वाण-मुक्तिको प्राप्त कर सकता है।

सहस्रदलस्थित परमशिव-शक्तिको बंदान्तके मतसे परम ब्रह्म और साया कहते हैं तथा पद्मको आनन्दमय कथा कहते हैं। सांख्यमतसे परमशिव-शक्तिको ग्रन्थित-पुरुष कहा जाता है। इसीको पौराणिक मतसे लक्ष्मी-नारायण, राधा-कृष्ण तथा तन्त्रमतसे परमद्विव और परमशक्ति कहते हैं।

(२) नवचक्रसाधन

यहाँतक शिवसंहिताकारके मतसे सुषुण्णास्थित षट्कोंको वर्णन संक्षेपमें किया गया। अब अन्यान्य तन्मयोंमें कथित नवचक्रकोंका वर्णन किया जाता है। यथा—

नवचकं कलायारं त्रिलक्ष्यं व्योमपद्मकम् ।
स्ववेदे यो न जानाति स योगी नामधारकः ॥

‘शरीरमें नवचक, लोडशाखार, त्रिलक्ष्य और पञ्चप्रकारके व्योमको जो व्यक्ति नहीं जानता वह व्यक्ति केषल नामधारी योगी ही है।’

नवचक ये हैं—मूलायार, स्वाधिङ्गान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आत्मा, तालु, ब्रह्मरन्ध और सहस्रार।

पोडशकलायार इस प्रकार हैं—अङ्गुष्ठ, पादमूल, गुण्डेश्य, लिङ्गमूल, जटर, नाभि, हृदय, कण्ठ, जिहाप्र, तालु, जिहापूल, दन्त, नासिका, नासापुर, भ्रूमध्य और नेत्र। त्रिलक्ष्य ये हैं—स्वयम्भूलिङ्ग, बाणलिङ्ग और ज्योतिर्लिङ्ग। पञ्चव्योम ये हैं—आकाश, महाकाश, पराकाश, तत्त्वाकाश और सूर्यकाश।

प्रथम चक्रसाधन

पहला ब्रह्मचक्र अर्थात् आधारचक्र भगाकृति है। इसमें तीन आवर्त हैं। यह स्थान अपानवायुका मूलदेश है और समस्त नाडियोंका उत्तरतिस्थान है, इसी कारण इसका नाम कल्दमूल है। कन्दमूलके ऊपर अमिशिलाके उमान तेजस्ती कामपीज ‘हौं’ है—इस स्थानमें स्वयम्भूलिङ्ग हैं। इन स्वयम्भूलिङ्गको तेजोरूपा कुण्डलिनी शक्ति साढ़े तीन बार गोलाकार बेष्टन करके अधिष्ठित है। इस ज्योतिर्लिङ्गी कुण्डलिनी शक्तिको जीवरूपमें ध्यान करके उसमें चित्तको लय करनेसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है।

द्वितीय चक्रसाधन

स्वाधिङ्गाननामक द्वितीय चक्र है। यह प्रशालाङ्कुरके समान और पश्चिमाभिमुखी है। इसमें उर्ध्वायान पीठके ऊपर कुण्डलिनी शक्तिका ध्यान करनेसे जगत्को आकर्षण करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है।

तृतीय चक्रसाधन

तृतीय मणिपूरनामक नामिन्कर है। उसमें पञ्च आवर्त से विशिष्ट विशुद्धर्णी है। चित्तस्थूपा मध्यशक्ति मुजगावस्थामें रहती है। उसका ध्यान करनेसे योगी निश्चयपूर्वक उर्ध्वमिद्धियोंका पात्र हो जाता है।

चतुर्थ चक्रसाधन

चतुर्थ अनाहतचक्र हृदयदेशमें अथोमुख अवस्थित है।

उसके बीचमें ज्योतिःस्वरूप हंसका यज्ञपूर्वक ध्यान करके उसमें चित्तलय करना चाहिये। इसे ध्यानसे समस्त जगत् व्याप्त हो जाता है, इसमें सदैह नहीं।

पञ्चम चक्रसाधन

पञ्चम विशुद्धनामक कालचक्र कण्ठदेशमें स्थित है। उसके बामभागमें इडा, दक्षिणभागमें पिङ्गला और मध्यमें सुषुम्या नाड़ी है। इस चक्रमें निर्मल ज्योतिका ध्यान करके चित्तलय करनेसे योगी सर्वसिद्धिका भाजन हो जाता है।

षष्ठ चक्रसाधन

षष्ठ ललना वा तालुका चक्र है। इस स्थानको घंटिका-स्थान और दशमद्वारामार्ग कहते हैं। इसके शून्य स्थानमें मनोलय करनेसे उस लययोगी पुरुषको निश्चय ही मुक्ति प्राप्त होती है।

सप्तम चक्रसाधन

आकाशपुरमें भ्रूमध्यमें भ्रूकनामक सप्तम चक्र है। इस स्थानको चिन्दुस्थान कहते हैं। इस स्थानमें धूतुलोकार ज्योतिका ध्यान करनेसे मोक्षपदकी प्राप्ति हो जाती है।

अष्टम चक्रसाधन

अष्टम चक्र ब्रह्मरन्धमें है। यह चक्र निर्वाण प्रदान करनेवाला है। इस चक्रमें सूचिकाके अप्रभागके समान धूमाङ्कर जालन्धरनामक स्थानमें ध्यान करके चित्त लय करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है।

नवम चक्रसाधन

नवम ब्रह्मचक्र है। यह चक्र पोडशदलमें सुशोभित है। उसमें सचिद-रूपा अद्वैशक्ति प्रतिष्ठित है। इस चक्रमें पूर्णा चिन्मयी शक्तिका ध्यान करनेसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है।

इन नीं चक्रोंमें एक-एक चक्रका ध्यान करनेवाले योगीके लिये तिद्वि और मुक्ति करतलगत हो जाती है। क्योंकि वे हाननेत्रके द्वारा कोदण्डद्रव्यके मध्य कदम्बके समान गोलाकार ब्रह्मलोकका दर्शन करते हैं और अन्तमें ब्रह्मलोकको गमन करते हैं।

प्रतेषां नवचक्राणामेऽकैकं ध्यायतो मुमेः ।

विद्वां सुकिंसहिताः करस्याः स्वुर्द्वन्दे दिने ॥

कोदण्डद्रव्यमध्यस्थं पद्यन्ति शानचक्षुषा ।

कदम्बगोलकाकारं ब्रह्मलोकं ब्रजन्ति ते ॥

विनय

हरि ! तुम बहुत अनुग्रह कीन्हों ।
साधन धाम विवृथ दुरलभ ततु मोहि कृपा करि दीन्हों ॥
कोटिहुँ सुख कहि जात न ग्रस्तके एक एक उपकार ।
तदपि नाथ ! कछु और माँगहाँ दीजै परम उदार ॥
विष्णु-बारि मन मीन मिल नहिं होत कबहुँ पल एक ।
ताते सहाँ विष्टि अति दारून जनमत जोनि अनेक ॥
कृपाडोरि बनसी यद अंकुस परम प्रेम मृदु चारो ।
एहि विष्णि वेधि हरहु मेरो दुख कौतुक राम तिहारो ॥
हें श्रुतिविदित उपाय सकल सुर केहि केहि दीन निहोरे ।
'तुलसीदास' येहि जीव मोहन-जु जेहि घाँधो सोइ छोरे ॥

—तुलसीदासजी

श्रीवल्लभसम्प्रदायसम्मत साधना

(स्वतन्त्र भक्तिमार्ग अथवा पुष्टिभक्ति)

(लेखक—देवर्षि ए० श्रीरामानाथजी शास्त्री)

साधनसे ही साध्यको प्राप्ति होती है, यह सिद्धान्त नियत नहीं है। कंसके समयमें प्रायः सबको दुःख हो रहा था। सबको दुःखाभाव साध्य था। उसके लिये पृथ्वी, ब्रह्मा और देवगणने स्फुटिस्तोत्रादि साधनोंका अनुश्रूत किया; किन्तु गंवार ब्रजबालियोंने कौनसा साधन किया था? उनके सब दुःख अपने-आप दूर हो गये।

भगवत्यातिमें भक्ति ही साधन है, यह सब कोई जानते और मानते भी हैं। किन्तु ब्रजनार्थियोंको भगवान्‌की प्राप्ति पहले हो गयी और भक्ति पीछे हो पायी। ऐसी अवश्यमें साधनसे ही साध्यकी तिदि होती है, यह नियत स्त्य नहीं है। हाँ, कहीं-कहीं ऐसा हो सकता है।

अंग्रेजोंने आकाशगनके लिये विमान बनाये, सैकड़ों कोसकी बातें सुननेके लिये अनेक यन्त्र बनाये, चड़े श्रम किये, अनेक साधन किये—यह ठीक है। किन्तु हम-आप, जिन्होंने उसके लिये कभी हाव्यपैर नहीं हिलाये, एक दिनमें ही रेलके द्वारा सैकड़ों कोसकी यात्रा कर आते हैं। शर छैठे दूरका गमना और बातें सुना करते हैं। यह क्या बात है? अपने साधनानुशान करनेसे ही साध्यकी प्राप्ति होती है, यह सार्वत्रिक नियत नियम नहीं है। वाद-विवाद करनेके लिये यह वक्तव्य नहीं है।

इन बातोंसे यह स्पष्ट होता है कि कोई एसा मार्ग भी है जहाँ प्रसिद्ध और नियत साधनोंके अनुश्रूतके बिना भी पललकी प्राप्ति हो जाती है। स्वतन्त्र भक्तिमार्ग किंवा पुष्टिभक्ति ऐसा ही है। दोनों एक ही पदार्थ हैं। भगवान्‌के अनुग्रहको ‘पुष्टि’ कहते हैं—‘पोषणं तदनुग्रहः’। उस अनुग्रहसे जो भक्ति—भगवत्येम प्राप्त हो, वह पुष्टिभक्ति है। यह भक्ति स्वस्त्रपते रागस्थी है, इसलिये रागात्मिका भी कही जा सकती है। कितने ही रागात्मिकाके सानन्दररागानुग्रामाशब्दक प्रयोग करते हैं; पर इस शब्दका अर्थ जबतक समझायें न आये तबतक उसके विषयमें कुछ कहना साहस है। ‘रागम् अनुग्राम्यति असौ, किंवा रागस्य अनुग्रामा रागानुग्रामा’ दोनों तरहकी व्युत्पत्ति मूल अर्थका स्वर्व नहीं करती। रागका अर्थ प्रेम या स्नेह

है, यह ठीक है; किन्तु वही भक्ति भी है। भक्ति यदि कोई दूसरा पदार्थ हो और वह रागका अनुग्रहन करती हो, तब उसे रागानुग्रा कह सकते हैं। ‘रागस्य अनुग्रा’ में भी वही अद्वचन आती है। अस्तु,

राग, स्नेह या प्रेम ही भक्तिपदार्थ है—यह तो अनुग्रहकी बात है। नारदसूत्र, शाणिडल्यसूत्र और नारदपाञ्चरात्र प्रस्तुति शास्त्रोंने भी स्नेहको ही भक्तिशब्दार्थ माना है—‘सा त्वस्मिन् परमप्रेमलग्ना’ (नारदसूत्र); ‘सा परानुरक्तिरीक्षरे’ (शां० स०)। पाञ्चरात्रमें भी कहा है—

माहात्म्यानपूर्वस्तु शुद्धः सर्वतोऽधिकः ।
स्नेहो भक्तिरिति ग्रोक्तस्य मुकिन्व चान्यथा ॥

स्नेहात्मिका, रागात्मिका या प्रेममयी भक्ति भगवान्‌के अनुग्रहसे भी प्राप्त होती है—यह निर्विवाद है। इसे ही पुष्टिभक्ति भी कहते हैं। कितनोंका तो यह कहना है कि ‘भी’ नहीं, भक्ति तो भगवान्‌के अनुग्रहसे ही प्राप्त होती है। जहाँ हमें भक्तिके कारण अन्य साधन दीख रहे हैं, वहाँ भी भगवदनुग्रह ही साधन है। भगवान्‌की भक्ति भगवान्‌के अनुग्रहसे मिलती है, यह निर्विवाद है। ‘पुष्टि’ शब्द अनुग्रहमें लड़ है। श्रीभगवत्के पृष्ठ स्वतन्त्रका नाम ही अनुग्रहस्तन्त्र है। वहाँ इस अनुग्रहशब्दार्थका प्रमाण-प्रमेय, साधन और फलके द्वारा खूब विस्तार किया गया है। मैंने भी अपने ‘अनुग्रहमार्ग’ नामक स्वतन्त्र ग्रन्थमें अनुग्रहका स्पष्ट विवेक कर दिया है।

अनुग्रह या पुष्टि मगकद्वार्म है। भगवान्‌में संक्षेपसे छः प्रधान धर्म स्वतन्त्र रहते हैं और विस्तारसे अनन्त धर्म रहते हैं। भगवान्‌के वीर्य (पराक्रम) विशेषको अनुग्रह कहते हैं। भगवान् शब्दकी व्युत्पत्तिमें ही छः धर्म स्थित हैं—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्यस्यश्चैव पण्णां भग इतीशणा ॥

भगवत्यास्तीति भगवान्। भगवद्वीर्य—अनुग्रहरूपा पुष्टिसे जो भक्ति प्राप्त होती है, वही पुष्टिभक्ति है। ‘भक्ति’

शब्दका अर्थ तो यहाँ भी जो है सो ही है। भजति—‘भज्’ प्रकृति और ‘ति’ प्रत्यय। ‘भज्’ प्रकृतिका अर्थ सेवा और ‘ति’ प्रत्ययका अर्थ भाव। परिचर्या (चाकरी) सेवाका खुलासा है। अर्थात् भावसहित सेवाको भक्ति कहते हैं। किंवा भावात्मक सेवाको भी भक्ति कहते हैं। यह मार्ग ऐसा है, जहाँ साधन ही फल माना गया है। ऐकान्तिक भक्तलोग भगवत्प्रेमको ही परम फल सामते हैं। ‘द्वयमानं न चक्षन्ति यिना सत्त्वेन जनाः।’—‘मेरे मर्क मेरी प्रेमात्मक सेवाके सिवा अन्य फल नहीं ग्रहण करते’, ‘भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तस्तीर्थः’—‘भगवद्वक्त रहनेमें ही अपना सब फल पूर्ण हुआ मानते हैं।’ ऐद इतना ही है कि भावसहित सेवा (चाकरी) साधन है और फलावस्थामें वही भक्ति या सेवा भावात्मक रह जाती है। कल्याणपत्री सेवाको भावात्मिका सेवा नहीं समझना चाहिये।

कितने ही कहते हैं कि नारदपाञ्चरात्रमें माहात्म्यशान भी भक्तिमें सम्मिलित है, फिर केवल स्नेहको ही भक्ति किस तरह कहते हैं। ठीक है। ‘भावात्म्यज्ञानपूर्वस्तु’ यहाँ माहात्म्यशानको भी लिया है, पर ‘पूर्वः’। प्रारम्भमें माहात्म्यशान रहता है, फिर सर्वदा नहीं रहता। प्रेम देनेके बाद तो केवल स्नेह ही रह जाता है। बड़पनको ‘माहात्म्य’ कहते हैं। बड़पनवालोंमें जो स्नेह किया जाता है, वह भक्ति है। बड़पन भगवान्मुखमें रहता है, स्नेह भक्तिमें रहता है; इसलिये प्रेम तो केवल ही रहा।

भगवान् अपने अनन्त धर्मोंमें कितने ही शानादि प्रसिद्ध धर्मोंका दान जीवको लिये भी करते हैं। उनमें एक भक्ति भी है। सचिदानन्द भगवान्के प्रधानतम धर्म सत्, चित् और आनन्द हैं। सुष्टि-अवस्थामें कमी-कमी भगवान् किसी जीवको इनका दान भी करते हैं। भगवान्के सत्से क्रिया, चित्से शान और आनन्दसे भक्ति या प्रेम लिया गया है। ये तीनों ही सुष्टिमें फैले हुए हैं। सब जगत् यह है। इस विषयको भी हम अपने ‘ब्रह्मवाद’ ग्रन्थमें स्पष्ट कर नुके हैं। भक्तिमें भी सत्-चित्-आनन्द तीनों मिले हुए रहते हैं। भक्तिमें क्रियाविशेष भी है और आनन्दविशेष भी है ही। परिचर्या (चाकरी) क्रियाविशेष है और यह ‘भज्’ प्रकृतिका अर्थ है। माहात्म्यशान निविदीशेष है तथा प्रेम ही आनन्दकी लहर है। यह दोनों तिप्रत्ययका अर्थ है। प्रकृति-प्रत्ययार्थ भिलाकर एक भक्ति-शब्दार्थ

है। किन्तु प्रकृति-प्रत्ययार्थमें प्रत्ययार्थ ही मुख्य माना गया है। इसलिये प्रेम ही ‘भक्ति’ शब्दका मुख्य अर्थ है। साधनावस्थामें भले माहात्म्यशान रहा आवे, पर पूर्ण स्नेह होनेपर वह नहीं रहता।

महामहोपाध्याय पण्डितजी किसी गरीबके घर गये। उस उमय चाहे उस गरीबके दृढ़दयमें उनका स्नेह रहे या न रहे, पर माहात्म्यशान तो पूर्ण है। बड़ी कृपा की; आसन, कुर्सी, दण्डवत् प्रणाम, स्तुति, स्तोत्र, मैट—ये सब माहात्म्यशानके ही आडवर हैं। किन्तु जब वनिष्ठ परिचय होनेसे दोनोंमें पूर्ण व्रेय हो गया, तब फिर धीरे-धीरे माहात्म्यशानके बे सब अंश (चोचले) दूर होते जाते हैं। धरतीपर बैठे तो क्या और कुर्सीपर बैठे तो क्या? बरफी-येडे हुए तो क्या और दल-मार हुआ तो क्या? स्तुति-स्तोत्र न हुए और गाली दे दी तो क्या? केवल स्नेह ही रह गया। अतएव किसी मर्मज्ञने कहा है—

उपचारः कर्मव्यो यावदनुत्पाससौहृदाः पुरुषाः ।
उत्पत्तसौहृदानासुपचारः कैतवं भवति ॥

‘जबतक स्नेह न हो, तबतक माहात्म्यशानसम्बन्धिनीं चेष्टाएँ हों तो ठीक है। पर जब पूर्ण स्नेह हो जुका, तब भी यदि उपचार किये जायें तो वह कपट भाद्रम देता है।’ श्रीकृष्णने जब गोवर्धनगिरिको धारण किया तो नन्दादि गोपण्योंको थोड़ी देरके लिये भगवान्का माहात्म्य समझमें आया, पर थोड़ी देरमें ही वह हट भी गया। पर्वतको यथास्थान रख देनेके बाद जब सब लोग श्रीकृष्णसे भिलने लगे तो वह माहात्म्यशान न जाने कहाँ गया। केवल प्रेम-ही-प्रेम रह गया। अतएव वहों कहा है—

तं प्रेमवेगमधिभूता ब्रजौकसो
यथा सर्वायुः परिरमणादिभिः ।
गोप्यश्च स्त्वेहप्रज्ञन्मुद्वा
दृप्यक्षतादिर्युद्युजुः सदाशिषः ॥

‘पिरिराजको यथास्थान पर देनेके बाद ब्रजबासी गोप-गोपियोंका प्रेमप्रवाह भगवान् श्रीकृष्णकी तरफ दौड़ा। अतएव वे सब अपने-अपने अधिकारके अनुसार भगवान्-से गलेसे गला, छातीसे छाती लगाकर मिले। कितनी ही गोपियाँ लोकलजासे सबके देखते पुरुषोंकी तरह न मिल सकीं तो उन्होंने भगवान्के स्नेहको बुसरी तरह प्रकाशित

किया। किसीने उनपर दधि डाला, किसीने अक्षत फंके और किसी प्रियाने भगवान्पर पानी ही डाल दिया। और जो भगवान्से उसमें बड़ी—अथवा माता, मौति प्रभृति सम्बन्धबूद्धा थीं, उन्होंने बोया ! तेरी उमर बड़ी हो! इत्यादि सुन्दर-सुन्दर आशीर्वाद दिये। ऐसी अवस्थामें प्रेमके सिवा माहात्म्यज्ञान कहाँ रहा?

—इत्यादि कारणोंसे स्पष्ट होता है, ‘भक्ति’ शब्दसे तो केवल लोहकारी वस्तुता मान्यम् देती है। प्रेमके पहले माहात्म्यज्ञान भले रहे, पर प्रेम होनेके बाद माहात्म्यज्ञान नहीं रहता। उस समय तो केवल प्रेम ही रहता है। यह प्रेम फलरूप है। यह फलात्मक प्रेम भगवान्के अनुग्रहसे ही प्राप्त होता है, इसलिये इसे ‘पुष्टिभक्ति’ कहते हैं। भगवान्का अनुग्रह होनेमें भगवदिच्छा किंवा भगवान्के सिवा दूसरा कारण किंवा साधन नहीं हो सकता। भगवान्का अनुग्रह साधन-साध्य नहीं। सत्कर्म, योगाभ्यास, भक्तिप्रभृति किंवा साधनके परतन्त्र अनुग्रह नहीं हैं और न वह अनिल ही है। अतएव वह किंसी साधनके द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता।

साधनानुष्ठानका निषेध नहीं है, पर साधनोंका कुछ देना नहीं आता, जो भगवान् अनुग्रह करें ही। अनुग्रह परतन्त्र रहते भी स्वतन्त्र हैं, नित्य है, कार्य नहीं। साधनानुष्ठानके अनन्तर भगवान् अनुग्रह करें ही—इसका तो यह अर्थ होता है कि भगवान् और भगवान्का अनुग्रह परतन्त्र हैं, स्वतन्त्र नहीं। भगवान् भक्त-परतन्त्र हैं, इस प्रसिद्धिका आशय दूसरा है। भगवान् जिसपर अनुग्रह करते हैं, उसके परतन्त्र हो जाते हैं—इसका अर्थ यह है कि वे आप अपने ही परतन्त्र हैं। मैं किसी प्रेमिको अपने घर निमन्यण देकर लोहसे उसकी सेवा करता हूँ तो इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि मैं उसका नौकर हूँ या परतन्त्र हूँ। मैं तो अपने लोहके बदामें अर्थात् अपने आपका ही परतन्त्र हूँ। भगवान् भी किसीके परतन्त्र नहीं हैं। लोहके या अनुग्रहके या भक्तके परतन्त्र रहते भी वे अपने ही तन्त्रमें हैं, स्वतन्त्र हैं। इसी तरह अनुग्रह भी स्वतन्त्र है। सभी भगवद्भूर्म नित्य पदार्थ हैं। मर्यादामार्गमें भगवान् परतन्त्र हैं, स्वतन्त्र नहीं। मर्यादामार्गकी रचना भिज है और पुष्टिमार्गकी रचना भिज है। मर्यादामार्गमें भगवान् साधन-परतन्त्र हैं, स्वतन्त्र नहीं हैं। इह मार्गमें भगवान्को अपनी बांधी हुई मर्यादाओंकी रक्षा करना अभीष्ट है। अतएव वे साधनोंके परतन्त्र हैं। जो कोई जैसा कर्म, जैसा शान, कि

वा जैसी भक्ति सम्पादन करेगा उसे वैसान्वैसा नपानुला फल देना ही पड़ेगा।

पर पुष्टिभक्तिमें यह नहीं है। पुष्टिभक्तिमें भगवान् ‘मित्रसेतुः’ हैं। भगवान्से जब हमें पुष्टिभक्तिका दान कर दिया तब फिर भगवान् साधन-परतन्त्र नहीं, स्वतन्त्र हैं। हजार दण्डवत्-प्रणाम, यज्ञ-यागादि, तत्त्वज्ञान आदि साधन पासमें हीं पर फल नहीं देते और कुछ भी साधन न करनेपर भी सब कुछ दे देते हैं। इतना ही नहीं, भक्त भी स्वतन्त्र हो जाता है। साधन असाधन हो जाते हैं। असाधन साधन हो जाते हैं। गालियाँ स्तुति बन जाती हैं। उपचारोंमें उपचारता ही नहीं रह जाती। अतएव कहना पड़ता है कि पुष्टिमार्गमें भगवान् स्वतन्त्र, भक्त स्वतन्त्र और भक्ति भी स्वतन्त्र है। पर उसका मूल भगवान्की स्वतन्त्रता है। भगवान् स्वतन्त्र हैं, इसलिये भक्त और भक्ति स्वतन्त्र हैं। बहुत-से लोग इन बातोंसे चिढ़ेंगे, पर क्या किया जाय? वस्तुका यथार्थ विवेचन तो करना ही पड़ता है।

अब यह यिचार करना है कि ‘स्वतन्त्र’ शब्दमें ‘स्व’का अर्थ क्या करना चाहिये। निषेध तो हो नहीं सकता अशोल् स्वतन्त्रका अतन्त्र अर्थ हो नहीं सकता। क्योंकि शब्दकी ऐसी कोई सीधी मर्यादा नहीं; जिससे ‘स्व’ का निषेध अर्थ हो सके। दूसरी बात यह भी है कि अतन्त्र होनेसे ही वह परतन्त्र नहीं हो सकता। खाली जगहमें हर कोई बैठ सकता है। जो किसीका नौकर नहीं है, उसे हर कोई नौकर रख सकता है। आजतक न तो कोई पदार्थ अतन्त्र होकर पैदा हुआ है और न वह वैसे ठहर ही सकता है।

कितने ही कहते हैं कि आकाश-पदार्थ नित्य है, उसकी उत्पत्ति नहीं होती, अतएव वह अतन्त्र, अनधीन या स्वतन्त्र है। किन्तु यह मान्यता आस्तिककी नहीं हो सकती। ‘तस्मादा एतसादात्मन आकाशः समूहः’ इत्यादि वेदवाक्योंके अनुसार सभी आस्तिक आकाशकी उत्पत्ति मान रहे हैं। आकाशकी भगवत्कार्य मान लेनेपर भी आकाश अतन्त्र नहीं रह सकता, इसलिये अतन्त्र तो स्वका अर्थ नहीं।

अब स्वके तीन अर्थ बाकी रहते हैं—आता, जैव और शान; भक्त, भजनीय और भक्ति किंवा जीव, ईश्वर और प्रेम। इनमें जाता तो स्वयं ही परतन्त्र है, अतएव वह भक्तिमार्गको अधीन कैसे रख सकता है? जीव स्वका अर्थ

नहीं। देह; इनिंग्रिय और बुद्धिके परतन्त्र पदार्थ स्वका अर्थ या स्वतन्त्रका अर्थ नहीं हो सकता। अतएव भक्ति शान्त-परतन्त्र नहीं हो सकती। यही अतिदेश भक्तिमें भी है, भक्ति भक्तपरतन्त्र भी नहीं हो सकती। अब रहा ज्ञेय-भजनीय ईश्वर। हाँ, यह 'स्वतन्त्र' शब्दके स्वका अर्थ हो सकता है किंवा है ही। भक्तिमार्ग ईश्वर-परतन्त्र है, भगवत्परतन्त्र है। इतीको में स्वतन्त्र भक्तिमार्ग कहता है। इस मार्गको अनुग्रहमार्ग कहो, पुष्टिमार्ग कहो या स्वतन्त्र भक्तिमार्ग कहो—सब एक ही पदार्थ हैं। यह मार्ग जीवकृतिसाध्य नहीं किन्तु भगवत्कृत दानसाध्य है। अतएव भगवत्परतन्त्र है, स्वतन्त्र है।

सर्वविषयां आदि जिस प्रकार श्रीपुण्ड्रोत्तमकी लीलादृ है, उसी तरह भक्ति, अनुग्रह या पुष्टि भगवान्की लीला ही है। भगवान् सर्व करों करते हैं—यह प्रश्न जैसे नहीं हो सकता, उसी तरह भगवान् अनुग्रह करों करते हैं—यह प्रश्न भी नहीं हो सकता। भगवान् स्वतन्त्र हैं, उनकी क्रीडामें प्रभ भी नहीं हो सकता। हमारी या हमारे बालकोंकी क्रीडामें मैं हेतु या प्रभ हो सकता है? अतएव कहा है—

क्रीडायामुद्यमोऽभर्ये कामधिकीडिषान्यतः ।
स्वतन्त्रश्च च कर्यं निवृत्तस्य सदान्यतः ॥

अप्रयास, अप्रयोजन, अपनी खुशीसे कुछन-कुछ औधा-सूधा करते रहना—इसको लीला या क्रीडा कहते हैं। बालकमें यह है। पाठ्यमें सोता हुआ बच्चा अप्रयास, अप्रयोजन, अपनी मर्ज़सि औंधा-सूधा कुछ भी करता ही रहता है। यह रहते भी उसमें तीन बातें हैं—उद्यम, काम (विलासेन्द्रा) और दूसरेके साथकी अपेक्षा। किन्तु भगवान् स्वतः पूर्ण हैं, तृप्त हैं। उद्यम विना ही सब कुछ करते हैं और उनके लिये कोई अन्य है ही नहीं। ऐसी अवस्थामें लीला या क्रीडा करों करते हैं? यह प्रश्न ही सकता है और विदुरजीने मैत्रेयसे किया ही है। उसका उत्तर भी मैत्रेयीने प्रश्नकर्ताके अधिकार-नुस्खर दिया है। किन्तु ये प्रश्न और उत्तर दोनों मर्यादामार्ग (वैदिक मार्ग) के अनुसार हैं, पुष्टिमार्ग किंवा स्वतन्त्र भक्तिमार्गके अनुसार नहीं हैं।

* लीला नाम विलासेन्द्रा। कार्यव्यतिरेकेण कृतिमात्रम्। न तया कृत्या बहिः कार्यं जनयते। जनितमपि कार्यं नाभिप्रेतम्। नापि कर्तृते प्रयासं जनयति। किन्तुनन्दनोऽप्येषो पूर्णे आनन्दे तदुल्लासेन कार्यजननस्तुशी क्रिया कार्यिदुत्पत्ते इत्यादि। सुबोधिनी, मार्गः इ स्वतन्त्रः ।

पुष्टिमार्गमें भगवान् पूर्ण हैं, असंकुचित सर्वसामर्थ्यवान् हैं। यहाँ उद्यम भी है, काम भी है; अन्य भी है, क्रीडेन्डा भी है। पुष्टिमार्गीय भगवान्, तृप्त नहीं, अतृप्त हैं; निष्काम नहीं, विलासेन्द्रा हैं; निष्क्रिय नहीं, सक्रिय हैं; अद्वितीय नहीं, सद्वितीय हैं; निर्धर्मेक नहीं, सधर्मेक हैं; निर्दोष हैं, निर्गुण हैं, निर्विकार हैं। पुष्टिमार्गीय पूर्ण पुरुषोत्तम ईश्वर श्रीकृष्ण हैं। पुरुषोत्तमके ही रूपान्तरका नामान्तर श्रीकृष्ण है। पुरुषोत्तम आन्तरस्थरूप है, यह बाह्यस्थरूप। पुरुषोत्तम मार्यादिक भी हैं, पौष्टिक भी। श्रीकृष्ण भी मार्यादिक हैं और पौष्टिक भी। लेखका विस्तार होनेसे मैं इन बातोंका विशेष खुलासा नहीं कर सकता। जो लोग ईश्वरको अपूर्ण और संकुचित-सामर्थ्य मान रहे हैं उनका ईश्वर अनीश्वर ही है, कहनेमानका ईश्वर है। इंटे असौ ईश्वर!। यहाँ असंकुचित सामर्थ्य ही वास्तविक अभीष्ट है। 'पूर्ण' शब्द भी असंकुचित है। लोकमें कोई ईश्वर, पूर्ण या पुरुषोत्तम है ही नहीं। एक पौष्टिक ईश्वर ही ईश्वर, पूर्ण और पुरुषोत्तम है। श्रीकृष्ण वास्तविक ईश्वर, पूर्ण और पुरुषोत्तम हैं। 'पुरुषोत्तीति पुरुषः'। पुरुष सब दोषोंमें भस्त कर दे और पुरुषोत्तम न कर सके तो वह पुरुषोत्तम कैसा?

जो लोग श्रीकृष्णको ईश्वरेश्वर, पूर्ण और पुरुषोत्तम नहीं मानते, उनके प्रति मेरा यह लेय नहीं है। किन्तु मेरा यह लेय 'कल्याण'के लिये है। कल्याणके पाठक, जो कल्याणेन्द्रु हैं, मुझे विश्वास है कि मुझे गालियाँ देते जायेंगे, पढ़ते जायेंगे और स्त्रीकार करते जायेंगे। मर्यादाके भयङ्कर पक्षपाती लोग चाहे मुझे गालियाँ दें, किन्तु सब्य बात कहनी ही पड़ती है। जिनेमर्यादाके ईश्वर हुए हैं वे सब वास्तविक अपूर्ण, संकुचित (अनीश्वर) सामर्थ्यवाले हैं। पुष्टिमार्गीय ईश्वर सदोष है, निर्दोष भी है। सदोष होनेसे ही हमारे कामका है। स्वतन्त्र भक्तिमार्गीय ईश्वरमें सबसे जबरदस्त दोष तो विषमता है। अर्जुनकी अच्छा कहते हैं, अर्जुनके लिये प्राण देते हैं। 'विजयरथकुदुम्ये' अर्जुनके रथको अपना कुदुम्य समझते हैं। भीम, द्रोण, कर्ण आदिको मरवाना चाहते हैं। महाभारतमें अनेकश इस ईश्वरकी विषमता खोली गयी है। यदि वे केवल निर्दोष होते तो हमारी तरफ देखते ही क्यों? शाल जैसे पायियोंका बहिष्कार किये रहता है, वैसे वे भी हमसे बचते रहते। ईश्वरकी विषमता ही गरीब और सदोषोंका जीवन है।

अतएव कहना पड़ता है कि स्वतन्त्र भक्तिमार्गके 'स्व'

शब्दका अर्थ पुष्टिमार्गीय ईश्वर है। यह भक्ति भगवान्‌के अधीन है। भगवान् ही साधन हैं। पुष्टिमार्गीय भक्तोंसे जो यह भगवान् कभी-कभी धर्माचरण, ब्रह्मभाव और भजन आदि करते हैं, वह सब इनका ढोंग है। मर्यादामार्गीकी रक्षा और मर्यादामार्गीय साधनोंकी रक्षा करनेके लिये यह सब ढोंग रच रखता है। इसके मार्ग (अनुग्रह) में कोई साधन नहीं है। यह आप ही साधन है। इसके धर्म और यह धर्मों दोनों एक ही पदार्थ हैं। राजाने एक चमारको अपना दोत्त बना लिया हो तो लोग कहते हैं कि राजाने चमारके दोस्त बना लिया, या वह भी कहते हैं कि राजाके अनुग्रहने उसे बड़ा ऊँचाकर दिया। दोनों एक ही हैं। इसने एक दिन जब इस ईश्वरकी चालाकी छिपकर देख पायी तो मालूम हुआ कि मर्यादामार्गमें भी साधनोंकी आङ्ग-ही-आङ्ग है, वास्तवमें काम तो यही कर रहा है। सबका उद्धार करनेमें साधन तो ये स्वयं ही हैं; पर वेदकी रक्षा, ब्राह्मणोंका पालन और साधनोंकी रक्षा करनेके लिये कर्म, शान, भक्ति आदि साधनोंको आगे कर रखता है।

कृष्णानुभवहरूपा हि पुष्टिः कारुदिवाधिका ।
अनुग्रहो लोकसिद्धो गूढभावाप्तिरूपितः ॥
देवगुहास्तसिद्धयर्थं नामध्यानार्चनादिकम् ।
पुरस्कृत्य हरेर्वर्यं नामादिषु निरूप्यते ॥

अनुग्रहमार्य वेदपिद्ध नहीं है, लोकसिद्ध है—लोकमें सर्वत्र प्रचलित है। गूढ़ भावसे उत्तम प्रकाश होता है। भगवान् अन्य मार्गों (वैदिक मार्गों) की रक्षा करनेके लिये अपने अनुग्रहको छिपा रखना चाहते हैं। भगवान्‌का अनुग्रह देवगणको भी मालूम नहीं हो पाता। अतएव नाम, ध्यान, अर्चन आदि मर्यादामार्गीय साधनोंकी आङ्ग रखते हैं। साधनानुषानरक्षितका भी उद्धार करना है, डुष्ट और महादुष्टका भी उद्धार करना है; पर नाम-ध्यानादिको आगे रखकर। अपने वीर्यसे (अनुग्रहसे) उद्धार करना है; पर नामग्रहण, ध्यान, अर्चन आदिका यज्ञ गवाना है। सदोष अजामिलका उद्धार करना है, पर सौचेश्छठे नामग्रहणको आगे रखकर। भगवत्तामसे अजामिलका मौक्ष हो गया, यह कहलवाना है। नाम, ध्यान, अर्चन आदि साधनोंकी आवरू रखनी है। यह कपट यदि भगवान्‌में न होता तो हम परियोंका उद्धार कौन करता? भगवान् सदोष भी हैं, निर्दोष भी हैं; डरते भी हैं और इसीमें जीवका

उद्धार अन्तर्निहित है। उनकी सभयता, निर्भयता दोनों जीवोद्धारमें साधन हैं।

‘भीषणसाद्वातः पवते भीवोदेति सूर्यः’ यह उस ईश्वरेश्वर श्रीकृष्णकी निर्भयता है। वे सबको डराते हैं।

गोप्याद्वये स्वयि कृतागति द्वाम तावद्
या से द्वाष्ट्रुकुलिलाभ्यनसम्भ्रासाक्षम् ।
वस्त्रं निनीय भवभावनया स्थितस्य
सा मां विमोहयति भीरपि यदिभेति ॥

युधिष्ठिरकी माता जब अपने भतीजे (श्रीकृष्ण) की माता यशोदासे मिलने नन्दग्राम गया तो वहाँ क्या देखती हैं कि तैकड़ी गोपखियोंकी भीड़ लगी हुई है और मध्यमें श्रीकृष्ण डरे हुए सिर छुकाये रखे हैं, अंखोंमें काजल-से गँदले अशु निकल रहे हैं और कभी माताको और कभी माँके हाथकी रससीको देख लेते हैं और फिर मुँह नीचा कर लेते हैं। कुन्तीने किसी गोपीसे पूछा कि यशोदाजी अपने बच्चों को क्यों मारती हैं तो उसने उत्तर दिया कि अजी, बड़ा अधमी छोरा है, आज इसने दहीका माट फोड़ दिया, अब लाला पिट रहे हैं। कुन्ती भगवान्‌की सूति करते समय कह रही हैं कि नाय! उस समय तो मुझे वह आपका डरना, रोना और आपकी वह दशा ठीक और सत्य मालूम होती थी; पर ‘इदानीं सा मां विमोहयति’—आज वह मुझे भुलावें डाल रही है। जिससे काल भी डरता है, क्या वह माँसे डरे? डरना सत्य है या निर्भयता और डरना सत्य है, कुछ समझमें नहीं आता।

किसी लंगोष्ठियेने कहा है—

गोपीक्षीरश्चटीविलुण्ठनविधिव्यापारवार्ताविदोः
पित्रोत्सादवशक्षया विष्णुवयुदेवः प्रकाशय उवरस् ।
रोमाक्षं रवयन् द्वासौ सुकुलयन् प्रस्यक्षमुत्कमयन्
सीकुर्वन् तमसि प्रसर्पति गृहे सायं समागच्छति ॥

श्रीदाम गोपबालकने श्रीनन्द-यशोदासे जाकर कहा कि आज तो दुम्हरे श्रीकृष्णने हडीला (गोपी) की दूधकी मटकी भर रखते लट ली। यह सुनकर दोनों माँ-बप्त श्रीकृष्णर वहे गुस्ता हो रहे थे। यह बात श्रीकृष्णने जान ली। अब तो डरके मारे भरमें भोजनतक करने न आये। पर कहाँतक? आखिर अंधेरा हुआ, बाहर डर लगने लगा।

बालक ही तो उद्देरे । रातको कहीं घर आये, पर ज्वरका प्रकाश करते । सारे शरीरमें रोमाछ हो आया है, अङ्ग-अङ्ग काँप रहा है । कभी आँखोंको मैंदते हैं, कभी शीतके आवेगसे सीत्कार करते हैं । यह अनुग्रहमार्ग है, यही भगवन्मार्ग है और यही स्वतन्त्र भक्तिमार्ग है ।

कितने ही कहते हैं कि हम तो गीताको और गीताके श्रीकृष्णको मानते हैं । मातो भाई ! हमारी दृष्टिये तो गीता और भगवद् दोनोंके श्रीकृष्ण एक हैं ।

सर्वानेव गुणात् विज्ञावर्णं यन्सि विचक्षणः ।
तेऽनुतोदाः समाख्यातास्तद्बाक्यानं सुदूर्लभम् ॥

जो विचक्षणलोग श्रीकृष्णके सभी गुणोंका समान भावसे वर्णन, श्रवण और स्परण करते हैं वे अमृतके सुमुद्र कहे गये हैं और उनके बचनामृतका पान करना बहुत महँगा है । तथापि यदि गीतापर ही किसीका ऐम हो तो यहाँ भी यही कहा है कि जीवोद्धार करनेमें ईश्वरेश्वर पुष्टिमार्गस्थित पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही सब साधनोंके मूल साधन हैं । हम पहले कह चुके हैं कि ईश्वर भर्तादिस्थित पुरुषोत्तम भी हैं और पुष्टिस्थित भी है । भर्तादामार्ग भी है और पुष्टिमार्ग भी है । साधन भी है, अनुद्रह भी है । भगवद् दोनों हैं, श्रीगीतामें भी दोनों हैं । प्रत्युत गीताका उपसंहार पुष्टिमार्गपर ही है । गीतामें जहाँ यह है—

समः शक्तौ च चित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्कविर्जितः ॥
...
अभ्यासयोगयुक्ते चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थोनुविन्नयन् ॥
...

स्वकर्मणा तमभ्यर्थ्य सिद्धेण विन्दति सानवः ॥

—वहीं यह भी है—

तेषामहं समुदर्ता स्मृत्युसंसारसागरात् ।

भक्तिमि नविरात्मार्थं भग्यावैशित्येतत्सम् ॥

पत्रं पुर्णं फलं तोचं चो मे भक्त्या प्रवच्छति ।

तद्दुः्खं भक्त्युपहृतमसनामि प्रथतामनः ॥

...

भत्यसादादवाप्रोति शाश्वतं पदमम्यम् ॥

... भत्यसादात्तरिष्यति ॥

...

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामके शरणं ब्रज ।

इह तरह शाखा और अनुभवके द्वारा यह स्पष्ट होता है कि स्वतन्त्र भक्तिमार्गमें एक श्रीकृष्ण ही शरण हैं । विशेष तो क्या, मेरा सन्देह तो यह भी है कि मर्यादामार्गके सर्वसाधनोंके भीतर भी उन परम दयालु भगवान्की कृपा छिपी हुई है । अन्यथा शास्त्रकार ऐसा क्यों कहते ?—

यस्य स्मृत्या च नामोकरणा तपेयज्ञकिरादिषु ।

न्यूनं सम्पूर्णता साति सद्यो वन्दे तमस्युतम् ॥

जिसके स्वरूप और नामका सारण कर लेनेमात्रसे तप, यज्ञ किंवा अन्य क्रिया, शान, भक्ति आदिकी न्यूनता (कभी) सम्पूर्ण हो जाती है उन भगवान् श्रीकृष्णको मैं प्रणाम करता हूँ ।

इसलिये—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।

—इतना कहकर मैं अपने वक्तव्यको सम्पूर्ण करता हूँ ।

शोकादि कवतक रहते हैं ?

श्रीब्रह्माजी भगवान्से कहते हैं—

तावद्यं द्रविणगेहसुहृक्षिमित्यं शोकः स्युहा परिभवो विषुलश्च लोभः ।
तावन्ममेत्यसदवथग्रह आर्तिमूलं याद्यत्तेऽङ्गिरिमभयं प्रवृणीत लोकः ॥

(श्रीमद्भा० ३।९।६)

हे प्रभो ! तभीतक धन, घर और भित्रोंके कारण होनेवाले भय, शोक, कामना, तिरस्कार और लोभ रहते हैं, तभीतक समस्त दुःखोंका मूल 'यह मेरा है', इस प्रकारकी शूठी धारणा भी रहती है, जवतक जीव तुम्हारे भयरहित चरणकम्लोंकी शरण नहीं प्रहण करता ।

श्रीचैतन्य और रागानुगा भक्ति

(लेखक—प्रभुपाद श्रीप्राणकिशोर गोस्वामी, पम्० ४०, विद्याभूषण)

ब्रजेर निर्मल राग तुनि भक्तगण ।
रागमर्गे भजे येन दावि धर्म कर्म ॥

श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु निरकालसे अनर्थित जिस ब्रजप्रेमका दान करनेके लिये अवतीर्ण हुए थे, उस प्रेमका तात्पर्य रागमार्गीय भजनपद्धतिसे ही है । महाप्रभुने श्रीराघ रामानन्दके साथ इसी भक्तिका मारुर्य आस्वादन किया था । उन्होंने स्वयं श्रीरूप, श्रीउनातन और श्रीरुधानाथदास गोस्वामीको इस साधनाका उपदेश दिया था । स्वरूप-दामोदर आदि अन्तरङ्ग भक्तोंके साथ महाप्रभुने इसी मधुर रसका आस्वादन करते हुए गंभीरांकी नहीं-सी कोठरीमें लगातार बारह वर्षका लंडा समय विताकर जीवोंको ब्रजमाधुरीका परिचय कराया था । महाप्रभुके द्वारा प्रवर्तित गौडीय वैष्णवसम्प्रदायमें आज भी इस रागमार्गीय भक्तिसाधनाके लिये एक विशिष्ट स्थान सुरक्षित है ।

श्रीरूपगोस्वामियादने भक्तिरसामृतसिद्धिमें इस रागभक्तिका लक्षण बतलाया है—

इष्टे स्वारसिको रागः परमाविष्टता भवेत् ।
तन्मयी या भवेद्दक्षिः साप्त्र रागात्मिकोच्चते ॥

रागका स्वरूपलक्षण है—इष्टे विषयमें गाढ़ तृष्णा और तटस्थलक्षण है—इष्टमें परम आविष्टता । इस प्रकारकी रागमयी भक्तिका नाम ही रागात्मिका भक्ति है । कोई कोई भाष्यकार पुरुष इस रागात्मिका भक्तिकी बात सुनकर इसके प्रति छुप्प होते हैं । रुप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्शादि प्राकृत विषयोंको प्राप्त करनेकी प्रवल इच्छा विषयी पुरुषोंमें स्वाभाविक ही देखनेमें आती है । इन्द्रियों सहज ही भोगलोकुप होकर विषयोंके प्रति खिंची जाती हैं । रुपादि विषयोंका अद्वय करनेके लिये चक्षु आदि इन्द्रियोंका जो यह प्रबल इच्छामय प्रेम है, इसीको राग कहते हैं । यह राग वैष्णविक है । किसी भाष्यवानके हृदयमें जब भगवत्-सम्बन्धसे ऐसा प्रेम प्रकट होता है, तब वही यथार्थ राग कहलाता है । भक्तिसन्दर्भमें श्रीजीकगोस्वामीजीने कहा है—

‘तत्र विषयिणः स्वाभाविको विषयसंसर्गोच्छासयः प्रेमा रागः, यथा चक्षुरादीनां सौन्दर्यादौ । तादृश एवात्र भक्तस्य श्रीभगवत्प्राप्ति राग इत्युच्चते ।’

श्रीकृष्णदास कविराज महोदयने श्रीचैतन्यचरितामृतमें लिखा है—

इष्टे गाढ़ तृष्णा रागस्वरूपलक्षण ।
इष्टे आविष्टता तटस्थलक्षणकथन ॥
रागमयी भक्तिर हय रागात्मिका नाम ।
तादा सुनि लुध्व हय कोन भाग्यवान् ॥

रागात्मिका भक्ति कामरूपा और सम्बन्धरूपा भेदसे दो प्रकारकी है । नित्यसिद्ध भक्त ही इस द्विविध भक्तिके आश्रय हैं । वैकुण्ठ, अयोध्या, द्वारका आदि भगवद्गामोंमें नी रागात्मिका भक्ति है; परन्तु ब्रजवासी भक्तोंमें तो यही भक्ति मुख्यरूप है । रागात्मिका भक्ति मुख्या ब्रजवासी जने (चै० ८०) । ब्रजवासियोंका जो श्रीकृष्णाविषयक ‘राग’ है, उसीकी अनुगमिनी भक्तिको ‘रागानुगा भक्ति’ कहते हैं । यह रागानुगा भक्ति महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवकी विशेष देन है ।

विराजन्तीमध्यवक्त्रं ब्रजवासिजनादिषु ।
रागात्मिकामनुसूता या सा रागानुगोदिता ॥

(श्रीरूप)

जिनके हृदयमें इस रागानुगाका उदय होता है; उनके लिये किंवि शास्त्रका, युक्तिका या किसी विधिनिवेदका बन्धन नहीं रहता । एक स्वाभाविक प्रेमकी प्रेरणासे ही उनकी जीवन-गति चलती है । ब्रजवासियोंके प्रेमकी कथा साधकको इस प्रकार लुभा लेती है कि पिर साधक अपनी योग्यता-अयोग्यताका विचार नहीं कर पाते । उनकी भजनकी प्रकृतिकी बहु लोभ ही जगा देता है । उनके मनमें केवल एक तीव्र लालसा फूट निकलती है और वे परवश होकर दिन-रात उस ब्रजप्रेमकी ग्रासिके लिये ही व्याकुल प्राणसे प्रार्थना किया करते हैं ।

लोभे ब्रजवासीर भावे करे अनुगति ।
शास्त्रयुक्ति नाहि मने रागानुगार प्रकृति ॥

इस प्रकारकी रागानुगा भक्तिका भक्तहृदयमें किस प्रकार उदय होता है, इसका क्रमानुसंधान करनेसे पता लगता है कि इसमें साधकका अपना पुरुषार्थ कुछ भी नहीं है । ब्रजके भक्तोंकी प्रेमसंवादी चर्चा सुनकर किसी

भाष्यवानके चित्तमें जो लोभ होता है, वह लोभ ही इस रागानुगाका मूल कारण है। श्रीजीवगोस्वामी कहते हैं—

‘यस्य पद्मोक्तरागविशेषे सचिरेव जातास्ति न तु रागविशेष एव स्वयं तस्य ताद्वारागासुधारकश्चाभास-समुल्लभित्तहयस्फटिकमणः शास्त्रादिश्रुतासु ताद्वया रागात्मिकाया भक्तेः परिपाठीष्वर्वा रुचिं तीयते ।’

बजवासियोंकी इस रागात्मिका भक्तिमें इच्छ होनेपर जिनके चित्त सफटिकमणिके सदृश स्वच्छ हैं, उन्होंके चित्तमें ब्रजवासियोंके इस रागरूपी चन्द्रभाका किण्णाभास प्रतिपालित होता है—जिससे इच्छ अथवा ब्रजवासियोंके चरित्रानुकरणका लोभ उत्पन्न हो जाता है। ‘रागवर्मचन्द्रिका’में विश्वनाथ चक्रवर्ती महोदय कहते हैं—‘वह लोभ भगवत्कृपाहेतुक और अनुरागभक्तकृपाहेतुक भद्रसे दो प्रकारका होता है। फिर भक्तकृपाहेतुक लोभमें भी प्राक्तन और आधुनिक—ये दो भेद होते हैं। पूर्वजन्ममें प्राप्त भक्तकृपाहेतुक लोभ प्राक्तन है और इस जन्ममें किमी प्रेमी भक्तकी कृपासे उत्पन्न लोभ आधुनिकहै। जन्मान्तरमें प्राप्त नोभ होनेपर उस लोभके बाद वैसे ही प्रेमी गुरुका चरणाश्रय होता है; और आधुनिक भक्तकृपाका क्षेत्र होनेपर गुरुचरणाश्रयके बाद लोभ उत्पन्न होता है।

तत्त्वाद्वादिमाधुर्ये श्रुते धीर्घदेष्टते ।
नात्र शास्त्रं न युक्तिश तद्वोभोरपत्तिलक्षणम् ॥

बजराजनन्दन इयामसुन्दर और उनके प्रिय बजवासियोंके प्रेम-माधुर्यादिकी कथा सुननेपर वैसे ही भावकी प्राप्तिके लिये शास्त्र और युक्तिकी अपेक्षा न करके जो एक लोभका उदय होता है, उसके द्वारा रागानुगा भक्तिका परिचय मिलता है। श्रीबलभाचार्यके सम्प्रदायमें इसी भक्तिमार्गको पुष्टिमार्ग कहा गया है। कहीं-कहीं इसे ‘अविहिता भक्ति’ भी कहा गया है—

‘माहात्म्यज्ञानयुतेवरत्वेन प्रभौ भक्तिर्विहिता, अन्यतः प्राप्तश्वात् क्रामाणुपादिजा व्यविहिता’ (अनुमात्र)

अविहिता भक्ति कामजा और लोहजा तथा कामानुगा और सम्बन्धानुगा भेदसे चार प्रकारकी है। श्रीजीवगोस्वामी अविहिताका निर्णय करते हुए कहते हैं—

‘अविहिता रुचिमात्रप्रवृत्त्या विद्यश्रुतवेनाप्रवृत्त-त्वात् ।’

सा० अ० ५५—

‘इचिमात्रप्रवृत्तिके कारण ही इस प्रकारकी भक्तिको अविहिता कहते हैं।’ इसकी प्रवृत्तिके मूलमें किसी विद्यिका प्रयोग नहीं होता। भगवत्-सम्बन्धी स्नेह-कामादिमें कोई विद्यान नहीं होता। ‘झेहकामादीनां विद्यातुमशक्यवात्।’ ‘मुक्तापल’ नामक ग्रन्थमें श्रीबोधदेवने भी इस भक्तिको अविहिता ही कहा है। ‘श्रीगोकिन्दभाष्य’ ग्रन्थमें श्रीचंद्रदेव विद्याभूषण इसको ‘रुचिभक्ति’ कहते हैं।—‘रुचिभक्तिर्मधुर्यज्ञानप्रवृत्ता, विद्यिभक्तिर्मध्यज्ञानप्रवृत्ता।’

‘रुचिरत्र रागः। तदनुगता भक्तिः, रुचिभक्तिः। अथवा रुचिपूर्वी भक्तिः, रुचिभक्तिः। इयमेवरागानुगा इति गदिता।।’

श्रीनिम्बार्क सम्प्रदायके श्रीहरिव्यालजीने अपनी ‘सिद्धान्त-रत्नाळिं’ दीकार्में अविहिता भक्तिका उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि क्रंजके परिकर श्रीनन्द अथवा सुवल आदिके भावसे लोभवश अविहिता भक्तिका अनुशासन हो सकता है। परन्तु ‘महावाणी’में उन्होंने ही सखीभावसे नित्य बृन्दावनमें श्रीराधागोविन्दकी मुगल-सेवाप्राप्तिकी साथना बतलायी है। महावाणीमें दास, सखा या पिता-माताका उल्लेख नहीं है। गौडीय वैष्णवोंकी रागानुगा भक्तिके साथ श्रीहरिव्यालजीकी साधनाका भेद इस विद्यमें सुस्पष्ट है। महाप्रभुका सम्प्रदाय कहीं भी दास, सखा, पिता-माताको बिल्कुल बाद देकर केवल युगल-भजनका निर्देश नहीं करता। ‘कुञ्जापि तद्रिहिता न कल्पनीया।।’ फिर, श्रीहरिव्यालजीमें श्रीकृष्णकी देवलीलापरावणता है। परन्तु गौडीय वैष्णव केवल नरलीलामें ही माधुर्योपासक हैं।

इस माधुर्यका आसादन करनेके लिये जिनके चित्तमें सदिच्छा उत्पन्न हो गयी है, वे ही इस रागानुगा भक्तिके अधिकारी हैं। श्रीसनातन गोस्वामीने इस सम्बन्धमें भागवत-की व्याख्याके उपसंहारमें कहा है—

भक्तौ प्रवृत्तिर्व स्वात्तचिकीर्णं सुनिश्चया ।
शास्त्राहोभास्तचिकीर्णं स्यातां तदधिकारिणैः ॥

कलियुगपाद्यनावतार श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुने विद्या-नगरमें यथा रामानन्दके साथ साध्य-साधनतत्त्वका विचार करते समय श्रीराधाकृष्ण युगल सरकारकी कुञ्जसेवाको ही सर्वश्रेष्ठ साध्य निर्णय किया है। इस साध्यकी प्राप्तिके लिये श्रीराधाजीकी प्रिय सर्वियोंके अनुगत होनेके अतिरिक्त और कोई साधन नहीं है। श्रीचैतन्यचरितामृतमें है—

राघा कृष्णर लीला एव अति गृह्णतर ।
दास्य वास्त्वमदि भावेन ना ह्य गोचर ॥

सही जिना पर लीलाय अन्देर नाहि गति ।
तलीमावे तांर वैद कंर अनुगति ॥
रावाण्णा कुञ्जसेवा साथ सेइ पथ ।
सेइ साध्य पढ़ते आर नाहिक उपथ ॥

अनुगत सखोभावके लोभी साधकको निरन्तर अन्तर्मुखी मनसे स्परण करना चाहिये—अपने-अपने अपीष श्रीकृष्णा और उनकी प्रियतमा श्रीराधाजी, ललिता, विशाखा और श्रीरूपमङ्गली गोपीजनोंका । साथ ही उन्हे श्रीदीर्घनाममें और लीलाकथाके श्रवणमें रत होकर श्रीवजधाममें निवास करना चाहिये । सेवाप्राप्तिकी इस साधनाके सम्बन्धमें पूर्वांचायोंने कहा है—

कृष्ण स्मरत् जनं जात्य व्रेष्टं विजसमीहितम् ।
तत्क्षेत्रधारतश्चासो कृयांश्चासं बजे सदा ॥ (श्रीरूप) ॥

रागानुगा भक्तिमें बाह्य और आन्तर भेदसे दो प्रकारके साधन होते हैं । साधकको साधनाकी प्रारम्भिक स्थितिसे लेकर अपने साधक और सिद्ध देहके भेदको जानना चाहिये । रघुनाथदास गोस्वामीको महाप्रभुने जो शिक्षा दी है, उसे यद्य रखना चाहिये । ग्राम्यवार्ता (कुनियाकी चर्चा), दूसरों-की समालोचना करना और सुनना साधकके लिये निषिद्ध है । बढ़िया चीजें खाने और बढ़िया कपड़े पहननेका त्याग करना चाहिये । स्वयं अमानी होकर दूसरोंका सम्मान करना चाहिये । साधकदेहसे सदा 'हे कृष्ण हे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हे हे'—इन नामोंकी कीर्तन करना चाहिये । मनमें सिद्धदेहकी भावना करके बृन्दावनधाममें श्रीराधागोविन्दकी सेवा करनी चाहिये । जहाँतक हो सके साधकका बृन्दावनमें रहना ही कर्तव्य है, नहीं तो मन-ही-मन बृन्दावनमें रहना चाहिये । सानातन गोस्वामीको भी महाप्रभुने कहा है कि उपर्युक्त प्रकारसे रागानुगा भक्तिकी साधना करनेपर श्रीकृष्णके चरणोंमें ग्रीत उत्तब्र होती है, इसी प्रीतिसे भगवान् भक्तोंके वश होते हैं । इस रागानुगा भक्तिसे ही प्रेमसेवाकी प्राप्ति होती है ।

रागानुगा भक्तिमें स्परणकी ही प्रशनता है । श्रीसनातन गोस्वामीजीने 'बृहद्गावतामृत' ग्रन्थमें इसका विस्तारसे वर्णन किया है । राग मनका धर्म है । इस साधनमें मानसिक सेवा और 'कल्प ही सुख्य है । रघुनाथदास गोस्वामी-के 'बिलापकुमुकालि' और श्रीजीवगोस्वामीके 'संकल्प-

कल्पद्रुम' आदि ग्रन्थोंमें रागानुगा भक्तिके अनुकूल संकल्प और मानसी सेवाके क्रमका वर्णन मिलता है ।

सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चाच द्वि ।
तज्जवलिप्तुवा कार्या ब्रजलोकानुसारतः ॥

यथावस्थित देह ही साधकदेह है और अंदरमें अपने इष्ट श्रीराधागोविन्दकी साधित् सेवा करनेके लिये जो उपयोगी देह है, वह सिद्धदेह है । जो ब्रजभावको प्राप्त करनेकी इच्छा रखते और उसके लिये ललचाते हैं, उनको निश्चय ही ब्रजवासियोंके अनुगत होकर अपने साधक-देह और सिद्धदेहसे कभी बाह्य उपचारोंसे और कभी मानसिक उपचारोंसे भगवत्सेवा करनी चाहिये । सिद्ध-देहकी भावनाके सम्बन्धमें सनकुमारतन्त्रमें कहा गया है—

आत्मानं चिन्तयेत्तत्र तासां सज्जे भनोरभान् ।
रूपवैद्यनसम्पदां किशोरं प्रमवाहृतिम् ॥

रागानुगाके साधनमें जो 'अजातरति' साधक है अर्थात् जिनको रतिकी प्राप्ति नहीं हुई है, उनको अपने लिये गुरुदेवके उपदेशानुसार सर्वीकी सङ्क्षिनीके भावसे मनोहर वेदा-भूपादिसे युक्त किशोरी रमणीके रूपमें भावना करनी चाहिये । सखी-की आज्ञाके अनुसार सदा सेवाके लिये उत्सुक रहते हुए श्रीराधाजीके निर्माल्यस्वरूप अलङ्कारोंसे विभूषित साधकोंके सिद्धस्वरूप इस मङ्गली-देहकी भावना निरन्तर करनी चाहिये । मङ्गली-स्वरूपमें तनिक भी सम्मोगकी वासना नहीं है । इसमें केवल सेवा-वासना है । जो साधक 'जातरति' है, अर्थात् जिनको रति प्राप्त हो गयी है, उनमें इस सिद्धस्वरूपकी सूकृति अपने-आप ही ही जाती है । प्रसङ्गवश यहाँ हमें 'द्रविडोपनिषत्-तात्पर्य' ग्रन्थमें उत्तिलिखित प्राचीन आल्पवार भक्त शठारि मुनिका स्मरण हो आता है । शठारि मुनिके साधकदेहमें ही सिद्धदेहका भाव उत्तर आया था । उन्होंने अनुभव किया था कि एक श्रीभगवान् ही मुखोच्चम है, अखिल जगत् जो स्वभाव है । अन्तमें शठारिमें कामिनी-भावका आविर्भाव हो गया था—

पुंसं वियम्य पुरुषोत्तमताविशिष्टे
श्वीप्राप्यभावकथनाजगतोऽखिलस्य ।
पुंसां च रजकवपुरुणवत्तथापि
श्वैरः शठारियमिनोऽजनि करमिनीत्यम् ॥
(बंगल वैष्णवधर्म)

गौडीय वैष्णव साधकगण 'गोविन्दलीलामृत' और 'कृष्णभावनामृत' आदि ग्रन्थोंके कमातुसार गुरु गौराङ्गदेव के अनुगत भावोंसे श्रीराधा-गोविन्दकी अष्टकालीन लीला-का स्मरण करते हैं। इस लीलाके ध्यानमें ही मानसोपचारसे इच्छित सेवा होती रहती है। वंगालके साधक श्रीनिवास आचार्य किसी समय मङ्गरी-देहसे श्रीराधाकृष्णालीलाका ध्यान कर रहे थे। उन्होंने देखा श्रीकृष्ण गोपीजनोंके साथ यमुनाजीमें क्रीड़ा कर रहे हैं, परन्तु हाय ! यह क्या हुआ ? श्रीराधाके कानका एक मणिकुण्डल जलमें गिर पड़ा। सखियाँ और उनकी अनुगत मङ्गरी दासियाँ सभी खोज रही हैं, परन्तु वह मिलता नहीं। अन्तर्देहमें इस कुण्डलकी खोजमें श्रीनिवासका एक सप्ताहका समय पूरा हो गया। साधकदेह निष्पन्द प्रणहीनकी तरह आसमपर विराजित था। श्रीनिवासजीकी पत्नी और अन्यान्य सभी लोगोंने समझा कि श्रीनिवासजीने देहत्याग कर दिया है। वनविष्णुपुरके राजा वीरहमीर उन्हें देखने आये, सौसे अधिक आदमी उनके साथ थे। किसी भक्तने कहा, 'रामचन्द्र कविराजको बुलाना चाहिये, श्रीनिवास आचार्यके दृढ़यसे वे ही परिचित हैं।' रामचन्द्र वहाँ बुलाये गये। प्रभुके चरणोंमें प्रणाम करके रामचन्द्रने जान लिया कि ये इस समय मङ्गरीदेवके आवेशमें हैं। रामचन्द्र भी इस दिशामें घूँचे हुए थे। वे भी अपने तिद्वदेवकी भावना करके अन्तर्जगतमें श्रीनिवासकी अनुगता दासीके रूपमें उनके साथ हो लिये। वहाँ उन्होंने

देखा, अभी कुण्डलकी खोज चल ही रही है। नवीन मङ्गरी-देहसे खोजनेके काममें चतुर रामचन्द्रको योद्धी ही देखमें एक कमलपत्रके नीचे श्रीराधाजीका कुण्डल दिखलायी पड़ा। उसी क्षण उठाकर उन्होंने श्रीनिवासजीके हाथमें दे दिया। सभी-मङ्गरियोंमें आनन्दकी तरङ्गें उछलने लगीं। श्रीनिवासजी अपनी गुप्तरम्परासे सखियोंके साथ श्रीराधाजीके चरणोंमें पहुँचे और नवीन मङ्गरीद्वारा मिला हुआ कुण्डल उन्हें दे दिया। श्रीराधारानीने प्रसन्न होकर अपना चबाया हुआ पान उन्हें पुरस्कारके रूपमें दिया। रामचन्द्र और श्रीनिवास दोनों ही सोकर उठनेवालोंकी तरह साधकदेहमें लौट आये, देखा गया कि सचमुच ही श्रीराधाजीका दिया हुआ पान-प्रसाद उनके मुखोंमें था।

महाप्रभुका दिया हुआ यह रागानुगा-भजन विश्वका कल्पण करे।

स्वस्थस्तु विश्वस्य स्तुः प्रसीदतां
स्यायन्तु भूमानि क्षिवं भिथो धिया ।

मनश्च भव्यं भजतादपेक्षजे
अवेश्यतां नो मतिरप्यहृतुकी ॥

'विश्वका कल्पण हो, दुष्टलोग निष्ठुरताका स्वयं करके प्रसन्न हों, समस्त जीव कल्पणका चिन्तन करें; उनके मन शान्त कल्पणामय भावको धारण करें एवं उनकी तथा हमारी सबकी मति निष्काम होकर अधोक्षज भगवान् श्री-गोविन्दमें प्रवेश कर जाय।'

सच्ची बानी

जो मैं हारौं राम की जो जीतौं तौं राम ॥
जो जीतौं तौं राम राम से तन मन लावौं ॥
खेलौं खेलो खेल लोक की लाज बद्धावौं ॥
पासा फैकौं शान नरद विसास चलावौं ।
चौरासी घर फिरे अड़ी पौचारह नावौं ॥
पौचारह सिक्काय एक घर भीतर राखौं ।
कब्जी मारा पाँच रैनि दिन सत्रह माखौं ॥
पलटू बाजी लाइहौं खोज विधि से राम ।
जो मैं हारौं राम की जो जीतौं तौं राम ॥

प्रेम-साधना

(देवता—पूज्यपाद श्रीभोलानाथजी महाराज)

करे बगैर इक न दारम दर जहाँ।
इशकस्त कांर मा व बर्दी कार आमदेम ॥

I have no mission except Love in
this world,

My mission is Love and my work
is Love.

इस संसारमें मेरा खिला प्रेमके और दूसरा काम ही
न्या है ! प्रेम मेरा सिद्धान्त है और उसीके लिये मैं आया हूँ ।

प्रश्न—आपके 'प्रेम' इतना प्यारा क्यों हैं ?

उत्तर—चूँकि वह अति सुन्दर वस्तु है और यह नियम है
कि जहाँ सौन्दर्य होता है, वहाँ प्रेम होता है ।

प्र०—लेकिन जब सौन्दर्य हो तो उससे प्रेम हो; मगर
आप तो 'प्रेम'को प्रेम करते हैं ?

उ०—चूँकि प्रेम ही सौन्दर्य है, इसलिये यह प्रियतम भी
है और सौन्दर्य भी ।

प्र०—यह सुन्दर क्यों है ?

उ०—चूँकि सुन्दर है ।

प्र०—इसके सौन्दर्यके लक्षण क्या हैं ?

उ०—यह एक ऐसा तन्य है जिसमें सब खूबियाँ
मौजूद हैं ।

प्र०—प्रेम परिच्छिन्न (limited) है या अपरिच्छिन्न
(unlimited) ?

उ०—अपरिच्छिन्न भी है और परिच्छिन्न भी ।

प्र०—एक ही समयमें दो खिरोधी बातें कैसे इकड़ी हो
सकती हैं ?

उ०—खिरोधी तो देखनेवालोंकी नज़रमें हैं, अपनी
असलियतमें नहीं । यह अपरिच्छिन्न तो अपने सामान्य रूपमें
है और परिच्छिन्न अपने विशेष रूपमें । जिस तरह एक
लकड़ीको गड़ाकर उसके कोनेपर आग पैदा कर ही जाय तो
वह एक तरहसे तो परिच्छिन्न हुई; क्योंकि अपने विशेष
रूपमें केवल एक जगह प्रकट हो रही है; लेकिन अपनी

असलियतमें वह अपरिच्छिन्न है, क्योंकि वह लकड़ीके हर
हिस्सेमें मौजूद है ।

‘तो प्रेमके अपरिच्छिन्न और असीम (unlimited)
होनेका प्रमाण क्या है ?

‘सूरजके होनेका प्रमाण क्या है—सूरज खुद आप
या कोई और ?

‘आँखें ?

‘लेकिन आँखें सूरजको किससे देखती हैं ? उसीसे
या किसी भीमवती (candle) वसौरहसे ?

‘उसको उसीके प्रकाशसे देखा जाता है ।’

तो बस, प्रेमके अपरिच्छिन्न होनेका प्रमाण प्रेम खुद
आप है । प्रेम संसारके हर हिस्सेमें मौजूद है । प्रेमके बगैर
संसारकी स्थिति असम्भव है । प्रेमके बगैर कोई मुक्त, क्रौम
या देवी नहीं रह सकता—यहाँतक कि प्रेमके बगैर अपना
आप भी नहीं रहता । प्रेम मनुष्योंमें है, पशुओंमें
है; प्रेम पञ्चभूतोंमें आकर्षण (gravitation)के रूपमें प्रकट
होता है । संसारका नियमितरूपसे चलना इसी प्रेमपर निर्भर
है । संसारके एक परमाणुका दूसरे परमाणुकी तरफ बिंचना
प्रेम ही तो है । आपने जलकी धूंधको पुष्पकी दर्तीपर रखा,
सूरजके प्रकाशने उसको धूँधा बनाकर उड़ा दिया, मानो वह
नष्ट-सी हो गयी । वहाँसे हवाने उसकी गोदमें लिया और
पहाड़ोपर छला छलाने लगी । सरदीने उसका स्वागत किया ।
फिर वह पानी बनाकर पहाड़की चड़ानोंपर फैकी गयी, वहाँसे
नालोंमें मिली, फिर दरियामें आयी और आखिर समुद्रमें
जाकर समुद्रसे एक हो गयी, चारों तरफ लहराने लगी ।
अपने माझलीसे अलित्यको लोकर उसने पूर्ण और वहे
जाकारको धारण कर लिया ।

आपने आकाशकी तरफ पत्थर फेंका, वह ज़मीनकी
तरफ चला आया । उसको अपनी धरती (पृथ्वी) से
प्रेम है । आपने मोमबत्ती (candle) जलाई, प्रकाश ऊपरको
हो गया, चूँकि उसका व्यय सूरज वहाँ मौजूद है । आपने
फुटबाल्के tube को फाढ़ा, उसकी हड्डा कुलमें दौड़कर
चली गयी । इत्यादि ।

मनुष्य अपनेसे प्रेम करता है, अपने सम्बन्धियों और प्रिय वस्तुओंसे प्रेम करता है। संसारमें हर परमाणुमें किसी-न-किसी वस्तुके लिये—जानते या न जानते हुए—आकर्षण पाया जाता है, जिसका मतलब यह है कि वह आकर्षण प्रेम है। यहाँतक कि भगवान्‌को संसारसे प्रेम न होता तो वह उसको पैदा ही न करता। यदि कहीं बद्ररुप बनकर वह संसारको तोड़ता नकर आता है तो उसका मतलब यह है कि वह उसको तोड़कर कोई और अच्छी शक्ति देना चाहता है। संसारको उससे प्रेम है। संसार जानता या न जानता हुआ अपने ध्येयकी तरफ आ रहा है। और सबका ध्येय अपने ध्याताके प्रेममें यहाँतक मग्न है कि हर वक्त ध्याताको प्रसन्न करनेके नये-नये सामान तैयार करता रहता है।

किंवान्त—संसारमें कोई ऐसा परमाणु नहीं कि जिसमें प्रेम न हो और जहाँ प्रेम न होगा, वह परमाणु रह ही नहीं सकता। उसका कारण यह है कि जिसको अपनेसे प्रेम न होगा उसको अपनेसे शृणा होगी; नीतीजा यह होगा कि वह अपना नाश चाहिए। और एक दिन अपनेको नष्ट कर दालेगा, क्योंकि संसारमें हर परमाणु कायम रहना चाहता है और अपने नाशसे भय मानता है। इसलिये हर परमाणुको अपनेसे प्रेम है। यहीं संसारकी स्थितिका बड़ा भारी तच्छ है। मनुष्यके नित्य होनेका प्रमाण यह भी है कि हर मनुष्यको अपनी आत्मासे प्रेम है। संसारमें तमाम जीवित प्राणी या तो किसी दूसरेसे प्रेम करते हैं या अपने-आपसे। और जड़ पदार्थ न जानते हुए भी प्रेमके बश किसी-न-किसी ओर सिंचे जाते हैं। यह ही प्रेमकी अपरिच्छिन्नता (unlimited-edness) का प्रमाण।

प्र०—लेकिन जहाँ प्रेमाकरण एक और खालिता है तो दूसरेसे नफरत नज़र आती है; इसलिये जो स्थान नफरत—शृणुका होता है, वह तो प्रेमसे खाली ही हुआ।

उ०—यह भी शलत है; क्योंकि शृणा खुद तो कोई पदार्थ है नहीं, केवल प्रेमके अभावका नाम शृणा है। इसलिये पहले तो यह मानना होगा कि जहाँ प्रेम नहीं, वहाँ शून्य है। मगर यदि शौरसे देखें तो मालूम होता है कि शृणा उस अवस्थाका नाम है कि जहाँ हमारा प्रेम दूसरी ओर मुड़ता है, योथा प्रेमके दूसरी ओर मुड़नेका नाम शृणा है। इसका मतलब

यह हुआ कि प्रेम वहाँ भी मौजूद है, लेकिन शक्ति ऐसी है कि समझमें नहीं आता।

प्रेम एवमेश्वर

फिर वह भी सुननेमें आता है कि प्रेम भगवान् है और भगवान् प्रेम—

'God is Love and Love is God.'

—क्योंकि दोनोंके गुण समान हैं। और जब दो पदार्थ एक ही गुणवाले हो जायें तो उनका भेद केवल नाममात्रका ही रह जाता है, वाल्लविक नहीं। दो किनभारियाँ अलहदा-अलहदा उड़ती हुई क्या हैं? सिर्फ़ आग। इसी तरह जब प्रेम और परमात्माके गुण एक ही जायें तो दोनों एक ही तो हुए। परमात्मा सुखका समूद्र है, प्रेम भी सुखका समूद्र है; परमात्मा पूर्ण सौन्दर्य है, प्रेम भी पूर्ण सौन्दर्य है, परमात्मा व्यापक है, प्रेम भी व्यापक है। और अगर कोई कहता है कि नहीं, प्रेम तो परमात्माका गुण है तो हम पूछते हैं कि परमात्माका गुण किसी एक अंशमें है या सर्वांशमें। अगर एक अंशमें कहें तो वाकी परमात्माको प्रेमसे खाली मानना पड़ेगा और अगर सर्व अंशोंमें है तो परमात्मासे प्रेम जुड़कर एक है या ऐन वही होकर? अगर जुड़कर एक है तो वाकी हिस्सा जो परमात्माका बन्धा है कि जो इस जोड़से बाहर है, उसमें प्रेमका अभाव पाया जायगा और अभर वपूर जोड़के परमात्मासे एक है और हम उसमें और परमात्मामें कोई अन्तर कायम नहीं कर सकते तो परमात्मा और प्रेममें फ़र्ज़ ही क्या रहा? जब अनिको गरमीकी इष्टिसे देखा तो कह दिया कि आग गरम है और जब गर्मीको (analyse) विश्लेषित किया या अच्छी तरह देखा तो गरमी सिवा आपके और है ही क्या? इसलिये प्रेम परमात्माका गुण होता हुआ परमात्मासे एक है। प्रेम गुण भी है और गुणी भी। कार्यरूपमें प्रेम गुण है और कार्यकी समाप्तिपर परमात्माका ही स्वरूप है। किसीने उसका नाम प्रेम रखा और किसीने परमात्मा।

प्र०—परमात्माके प्रेमस्वरूप होनेका प्रमाण क्या है?

उ०—सुष्ठिकी उत्पत्ति और नाश परमात्माके प्रेमस्वरूप होनेका प्रमाण है।

प्र०—लेकिन जो नाश करता है, वह कौन है?

उ०—यह भी वही है कि जो उत्पत्ति और पालन करता है।

प्र०—तो उसमें प्रेमका अभाव तो ज़रूर पाया ही जायगा ?

उ०—नहीं, उसके तोड़नेमें भी प्रेम है; वह नवीं चीजोंको बनानेके लिये पुरानी तोड़ता है, एक सङ्कलनको तोड़कर दूसरा बनाता है, एकको गिराकर दूसरा कायम करता है।

प्र०—लेकिन जिसको गिराता है, उससे तो प्रेम नहीं करता ?

उ०—चूँकि उसीको फिर नया बनाता है, इसलिये प्रेम ही तो हुआ ।

प्रेम सुखरूप है

प्रेमके बाहर सुख असम्भव है। यह प्रेम ही एक ऐसी वस्तु है कि जिससे सुखका अनुभव हो सकता है। जहाँ प्रेम नहीं, वहाँ सुख नहीं। परंतोंको अगर लाख रुपयेके कानूनपर छोटा-सा प्रकाश नज़र न आवे तो उसके लिये वह व्यर्थ है, और अगर एक मिठाकी दीपक टिमटिमाता हुआ नज़र आवे तो वह उसपर अपना सर्वस्व निशावर कर देता है। अगर खोपड़ीसे प्रेम है तो वहाँ सुख है; अगर महलसे बृशा है तो उसमें सुखका अभाव पाया जाता है। यहाँतक कि प्रेम हुँड़खोको भी सुख बना देता है।

एक समय भगवान् श्रीकृष्णका नाखून (नख) श्री-राष्ट्रेजीको लग गया, कई महीनोंतक तो वह ज़ख्म ताज़ा रहा। एक दिन अचानक भगवान्ने देखकर पूछा कि 'श्राधाजी ! यह ज़ख्मका निशान कैसा है ?' तो हँसकर जवाब दिया कि 'हाँ, आपको क्यों मालूम हो ही ? आप तो ऐसे दाता हैं कि सब कुछ देकर भूल जाते हैं !' वाह, वाह, दातानका क्या प्रसारण दिया ! देकर सब कुछ भूल जाते हैं ! देखिये हम किसीको एक पैसा देते हैं तो सौ आदमियोंको दिखाते हैं। अगर कोई हमको पैसा देते बत्तु देखनेवाला न हो तो ज़ोरसे खाँसकर राह चलतोंकी नज़र अपनी ओर आकर्षित करते हैं और अपनी आँखें उनकी आँखोंसे जोड़कर उस भिस्कुक-को कहते हैं कि 'ते पैसा, यह है तुम्हारे सामने !' मगर वाह री दानशीलता ! दान प्रभुका कि जिसने हमको सब कुछ देकर अपना मुँह इस तरह छुपा लिया कि कोई हँड़ कर तो दिखाये। शायद उनको यह ख्याल है कि कोई यह न कह दे कि यह मेरा दाता है ! लेकिन तमाशा तो यह है कि प्रभ जितना छुपते हैं, उतना ही और प्रकट हो जाते हैं। जिस तरह सूरज जब छुपनेके लिये बादलका परदा सुन्दर

लेता है तो और प्रकट हो जाता है। प्रभु दान करके कुप गये। उनके छुपनेने उनको और भी मशहूर कर दिया कि देखो ! कैसा देता है कि जिसने हमको सब कुछ देकर अपना आप छुपा लिया ! हे प्रभो ! आप तो छिपे थे कि कोई आपको देख न ले, लेकिन आप तो और भी प्रकट हो गये। इसलिये अब अगर कुपना है तो दूसरा दृग अख्यात कीजिये, वह यह कि अगर आप छुपनेसे प्रकट होते हैं तो प्रकट होकर छुप जाइये ! फिर तो आपके सामने आनेपर लोगोंको लेनेकी फ़िकर और ज़ोलियाँ भरनेकी फ़िकर होती। यह कहांगा ही कौन कि यह है दाता ? सम्भव है लेते-लेते लोग इतना भी भूल जायें कि देनेवाला है ही कौन—जैसा कि रोज देखनेमें आता है कि जिसने सब कुछ दिया, उसकी तो भूल ही बैठे हैं।

एक बैरिस्टर साहबने एक दिन मेरे पास आकर फूल चढ़ाये। मैंने जान-बूझकर बैरिस्टर साहबको तो न देखा और फूलोंको देखना शुरू कर दिया और वह भी इस इदाक कि उनको अपनी खामोशीको इस तरह तोड़ना पड़ा कि 'महाराज क्या खूब, फूलोंमें इस तरह लग गये कि देनेवाले-की याद ही नहीं आ रही !' जब मैंने उनकी यह बात सुनी तो ऑस ऊपर कर कहा कि 'पड़ा आश्रय तो यह है कि आपकी तरफ देखनेसे भी आप ग्रस्त न होते; क्योंकि उस समय आपको यह शिकायत होती कि 'वाह महाराज ! अच्छे रहे, मेरी तरफ ही देखते जा रहे हैं और जो फूल दिये हैं, उनको देखतेक नहीं !' तो फिर ऐसी अवस्थामें भी आपको ज़रूर शिकायत होती !' इसके बाद मैंने कहा, 'लीजिये अपने फूल, मैं बाज आया। यह आपने सुखको फूल दिये या शिकायतका दफ्तर खोल दिया ?' मैंने उनके फूल उनके हाथमें लौटा दिया तो उन्होंने फिर कहा कि 'महाराज !' इस तरह भी तो शिकायत रफ़ा न हुई; क्योंकि आपने मेरे फूल ही लौटा दिये !' तो मैंने कहा कि 'नहीं, अब तो शिकायत न रहनी चाहिये, क्योंकि मैं आपको और आपके फूलोंको एक ही नज़रसे देख रहा हूँ !' यह हँस पड़े और कहकहा लगाया ! उन्होंने पूछा 'महाराज !' इस तमाम किसीसे आपका भावार्थ क्या है ?'

मैं—सिर्फ शिकायत रफ़ा करना और उसके साथ यह भी कि भगवान्ने सुष्टु बनायी और हमारे सामने रखकी। अगर इस इसीको देखने लग जाते हैं तो उनको ज़रूर शिकायत होती है कि वाह अच्छे रहे, हुनियाको यहाँतक देखने

लगे कि बनानेवालेका ख्यालतक नहीं आता। अगर हम इसको बिल्कुल भी न देखते तो यह शिकायत पैदा होती कि खूब! इतनी अच्छी दुनिया बनाकर दी और ये देखतेक नहीं, सिफ़र सुझाईको देखे जाते हैं। फिर यह शिकायत तो हस्ती तरह रफ़ा हो सकती है कि प्रभुकी दुनिया उनके सामने रखकर और उसको और उसकी दुनियाको एक ही नज़रसे देखते जायें।

वे बहुत प्रसन्न हुए। लेकिन हम तो दूसरी तरफ आ गये! हमको तो यह कहना था कि प्रभु ऐसे दाता हैं कि देकर खुप जाते हैं या देकर ऐसी बात बना देते हैं कि किसीको यह पता न चले कि देनेवाला कौन था। और है भी सच। कौन कहता है कि प्रभुने सुझको यह दिया, वह दिया। अक्सर यही मुननेमें आता है कि फ़ल्लौं कामसे हमको यह मिला, फ़ल्लौं business से यह प्राप्ति हुई, बसौरह। यह भी कोई कहता है कि प्रभुने हमको यह दिया। और अगर कोई मुँहसे कह भी देता है तो अंदरसे ज़रूर जानता है कि अगर हम वह काम न करते तो आज यह बात कैसे बनती। प्रभुने अपने आपको छुपानेके लिये गोवर्धनको ग्वालोंके ढंडे हसीलिये लगायाथे थे, कि कोई यह न कह दे कि काम उस छोटी-सी ऊँगलीका था। भगवान् श्रीकृष्णको मालन खानेका शौक था और जब मालन खाते तो झट बढ़देंके मुँहमें मल देते और जब माँ पूछती कि किसने मालन खाया तो झट प्यारी-प्यारी ऊँगली उठाकर सुँह बनाकर यह कह देते कि जिसके मुँहको लगा होगा उसने खाया होगा। बाह-बाह! क्या बात है! मला भी उनके मुँहपर कि जो आगेसे यह भी न कह सके कि हमने नहीं खाया, खानेवाले तो यह आप ही हैं।

इधर पञ्चभूत जड़ और उधर आत्मा चेतन। जड बेचारा तो करेगा ही क्या, और चेतन कुछ ऐसे दंगके कि सभ कुछ करकराकर अपने माथे कोई बात लगाने दें तो फिर चतुराई ही क्या हुई! अगर पूछ बैठिये कि आप करनेवाले नहीं तो यह और करनेवाला कौन है, तो झट जवाब दे देते हैं कि 'साक्षी चेता केवल निर्गुणश्च'—हम तो केवल साक्षी हैं। इस अदापर कुर्बान!

इस सादगीपर कौन न मर जाय, ऐ सुदा!

लड़ते हैं आर हाथमें तख्तार मी नहीं॥

एक मल्ह ल्ली सङ्कोपर बैठी कहा करती थी—

जो बिगड़ी हमसे बिगड़ी, तुमसे क्या बिगड़ी?

नहीं, जो बिगड़ी तुमसे बिगड़ी, हमसे क्या बिगड़ी?

जो किया हमने किया, तुमने क्या किया?

नहीं, जो किया तुमने किया, हमने क्या किया?

बाह बाह! कैसी लीला है! शायद दान कर खुप जाने-का मतलब यह है कि अपने भिक्षुकोंके मनमें इस तरह अपने प्रेमकी आग भड़काकर उन्हें इधर-उधर तलाश करते देखकर सुश्र हों।

एक आदमी रातको सफ़ेद बल्ल सिरहाने रखकर सो गया। सुबह जब वह उठा तो क्या देखता है कि उसके बल्ल रँगे हुए थे। इतना प्रिय रंग है कि आँख शपकानेको दिल नहीं चाहता। लेकिन किसी ख्यालसे अँखेको इधर-उधर उठाना ही पड़ा कि कौन है वह रँगरेज़ कि जिसने इतना सुन्दर रंग मेरे बल्लोंको दिया है! जब इधर-उधर नज़र न आया तो फिर सोचा और दिलमें प्रेमकी आग भड़क गयी कि आह, यह दयालु रँगरेज़ कौन है कि जिसने बल्ल भी इतने सुन्दर रँगे और खुद भी खुप गया। हसमें तो स्वार्थ बिल्कुल नहीं। झट बल्लोंको पहन लिया, लेकिन फिर भी मरत हुआ किसी औरको ढूँढ़ने लगा। वह था उसका प्रीतम रँगरेज़ कि जिसने उसके हृदयरसी बल्लपर—उसके बल्लोंको रँगकर—अपने प्रेमका रंग चढ़ाया था। यह ध्वनरात्र, इसका धीरज टूट गया और 'रँगरेज़-रँगरेज़' करने लगा। वह उन बल्लोंको पहनकर इधर-उधर भागा फिरता था कि कहाँ है वह प्रियतम रँगरेज़ कि जिसने इतना सुन्दर रंग बासौर रँगाई लिये ही रँग दिया है।

यह एक तरफ़को दौड़ा कि शायद उधर वह मिल जाय; लेकिन क्या देखता है कि वहाँ एक आदमी जा रहा है कि जिसकी पगड़ीपर उसी रंगके छोटे हैं कि जैसा उसके कपड़ोंका रंग था। यह जाकर उससे लिपट गया—'क्या आप ही हैं वह रँगरेज़ कि जिन्होंने मेरे बल्ल रँगे थे?' उसने रोकर कहा—'नहीं, मैं भी उसको ढूँढ़ रहा हूँ। जिसने मेरे सुन्दर छोटे मेरे कपड़ोंपर डाले हैं।' अच्छा हुआ दो प्रेमी उसीके ढूँढ़नेवाले इकट्ठे हो गये।

क्या सब मुज़रगी जब मिल बैठें दीवाने दो॥

लेकिन जब यह कुछ और दूर निकल गया तो क्या देखता है कि एक आदमीकी पाइँवी उसी रंगकी है कि

जिस रंगके इसके कपड़े रंगे हुए थे। इसने उससे भी पूछा, लेकिन उत्तर 'न' में मिला। यह कभी इधर भागता और कभी उधर दौड़ता था, मगर जिसा निराशाके और कोई बात सामने न आती थी। आखिर हार गया, थक गया। हर चीजकी हड़ होती है, जब इसी तलाशमें भागता-भागता यक्कर गिर गया तो बेहोश हो गया। मगर इसको अपनी मूर्छाका भी ज्ञान न था, क्योंकि अगर ऐसा होता तो यह होवाला कहलता।

मुझसे एक शख्सने आकर कहा कि महाराज ! मैं विल्कुल अज्ञानी हूँ। तो मैंने इंसकर कहा कि नहीं, यह गलत है। उसने पूछा कि यह कैसे, तो मैंने जवाब दिया कि अगर आप विल्कुल अज्ञानी होते तो आपको यह ज्ञान कहाँसे होता कि आप अज्ञानी हैं। अपने अज्ञानका ज्ञान होना भी तो एक ज्ञान है।

कुछ देरेके बाद उसको होश आया तो क्या देखता है कि उसको किसीने उठा रखा है और जिसने उठा रखा है, उसके हाथ उसी रंगसे अभीतक रंगे हुए हैं (क्योंकि रँगरेजको भाग-दौड़में फुरसत ही कहाँ मिली कि वह अपने हाथ धो लेता)। उसने हैरान होकर पूछा कि आप कौन हैं, तो जवाब मिला कि मैं.....। लेकिन उसने इष्ट अपने रँगरेजका बाजू (हाथ) पकड़ लिया और कहा कि अब तो बता दीजिये कि आप कौन हैं। रँगरेजने दबी जवानसे कहा कि 'मैं वही हूँ, वही हूँ कि जिसने तुम्हारे कपड़े रंगे थे।' उसने सवाल किया कि क्या मैं पूछ सकता हूँ कि आप इस तरहसे मेरे बच्चे रँगफकर छुप क्यों गये, सामने क्यों न आये। रँगरेजने जवाब दिया कि मैं यह रँगनेके बाद तुम्हारे दिलमें अपना प्रेम पूँछकर यह देखना चाहता था कि तुम मेरे रंगे बच्चे परिणकर मुझको किस तरह ढूँढ़ते फिरते हो। और जब तुम दौड़ते फिरते थे तो मैं तुम्हारे पीछेनीठे होता था और यह देखकर खुश होता था कि बाहि ! रंग क्या ही अच्छा चढ़ा ! लेकिन उससे रहा न गया और उसने फिर पूछ ही लिया कि 'यह तो बताइये कि जब तुमना ही था तो अब क्यों सामने आकर पकड़े गये?' तो रँगरेजने जवाब दिया कि 'क्या करता ! जब तुमको अपने प्रेममें मस्त होकर इस तरह गिरते देखा तो मुझे यह ख्याल आया कि ऐसा न हो कि मेरे रंगे बच्चे खरब हो जायें और तुमको कोई चोट आ जाय। भला,

मैं अपने रंगको खराब होते कैसे देख सकता था ?' वह आदमी रँगरेज और उसकी दयाकी तरफ देखने लगा।

शायद प्रभु देकर इसलिये भी छुप जाते हैं कि उसके दिलमें प्रेम पैदा हो।

बस, श्रीराधेजीको कहना है पड़ा कि प्रभो ! आप तो इतने भोले हैं कि ऐसे दान करके भी भूल जाते हैं !

भगवन्-तो क्या मैं ऐसा दाता हूँ कि मैं जख्म लगाता हूँ ?

राधेजी-नहीं, इसको जख्म कौन कहता है ? यह तो संसारके जख्मोंको दूर करनेकी मरहम है। यह वह दीपक है, जिससे अंधकार दूर होता है; यह वह मुन्द्र पुष्प है कि जिसमें काँटा है ही नहीं। यह वह दर्द है कि जिसको दबाकी आवश्यकता नहीं। प्रभो ! इसको जख्म न कहिये।

भगवन्-शायद येरा मन रखनेके लिये ऐसा कह रही हो ?

राधेजी-नहीं भगवन्, आपका मन कौन रख सकता है ? आप तो संसारका मन रखनेवाले हैं, तभी तो माखन-चोर कहलते हैं यानी मन-चोर। माखनका पहला हिस्सा है म और अनित्म न, और मध्यका भाग अ और रह रह जाता है—अर्यात् अख या आँख। गोया आप आँख लड़ाकर मनको चुरानेवाले हैं।

भगवन्-(इंसकर) आपने तो हमको और भी बड़ा चोर बना दिया। अच्छी तारीक की !

राधेजी-जो बीमारीको चुपाये, वह वैद्य या डाक्टर कहलाता है; जो अज्ञानको चुपाये, वह गुरु। फिर जो मनको चुपाये, वह इंद्रि भगवान्के और हो ही कौन सकता है ?

भगवन्-वह क्यों ? भला, मनके चुरानेसे फायदा !

राधेजी-तमाम संसार नाम-रूपमें रहता है, नाम-रूप देश-कालमें और देश-काल मनमें रहते हैं। इसलिये जब आपने किसीका मन ही चुरा लिया या अपने पास रख लिया तो फिर उसका देश-काल कहाँ रहा और जब-देश-काल नहीं तो नाम-रूप कहाँ ? और जब नाम-रूप नहीं तो अपना-वेगाना कहाँ, अपने-वेगानेके अभावसे राग-द्वेष कहाँ ? जब

राग-द्वे गये; पाप-पुण्य मी गये और जब पाप-पुण्य गये तो दुःख-मुख आप ही उड़ गये थारी बग्धन और उसके भय भी जाता रहा। आपने किसीका मन क्या चुराया, उसको तमाम दुःखोंसे ही मुक्त कर दिया। उसके तमाम आध्यात्मिक, आधिकैविक, आधिमौतिक ताप नष्ट हो गये। वाह! कैसे सुन्दर लोर है कि जिसका मन चुराते हैं, उसे सबसे बड़ा रक्ष परमानन्दका दे देते हैं। या यो कहिये कि परमानन्द, जो कि प्रेमका समूद्र है, उसको दे देते हैं, जिसका कि मन चुराते हैं। आपने जिसका मन चुराया, उसके अंदर आप और आपका प्रेम बैठ गया। अब लिया तो मन जो कि अति चञ्चल था, विक्षिप्त था, इधर-उधर भागता था, हर समय पीढ़ित रखता था और दिया घट प्रेम जिससे उसको यम, नियम, असाम, प्राणायाम, प्रलाहार, धारणा, ध्यान और समाधिकी कुल अवस्थाएँ सहज ही प्राप्त हो गयीं। प्रेमीकी इन्द्रियों वहिर्मुख नहीं रहती, उसका नियम प्रभुकी तरफ देखना होता है। प्रेमीका आसन यह है कि प्रेम उसको विहळ करके जिस किसी भी साँचेमें ढाल दे, वही उसका आसन बन जाता है। प्रेमी जीवनपर पड़ा है, अशुश्रात हो रहे हैं; हिचकियाँ बैठी हैं। कभी आँखें खुलती हैं तो इस आशामें कि शाश्वद कभी सामनेसे आ जायें और ब्रेंद होती हैं तो इस भावसे कि शाश्वद भीतर ही उनके दर्शन हो सकें। प्रेमीको बाहरकी सामूली-सी सरसराहट भी शक्तिकर देती है कि कहाँ उसका प्रीतम तो नहीं आ रहा है।

प्रेमीका आसन क्या है? प्रेम जिस साँचेमें उसको ढाल दे।

प्रेमीका प्राणायाम—उसको अपने प्राणोंकी गतिपर क्रान्तु पानेकी आवश्यकता नहीं होती, बल्कि उसका मन प्रसुमें लुड़ जानेसे और मनकी गति ठीक हो जानेसे उसे स्थाभाविक ही उस प्रकारके प्राणायामकी प्राप्ति हो जाती है जिससे पारमार्थिक पथपर वह ज्ञारेंसे चलता जाय।

प्रेमीका प्रथाहार—मन, इन्द्रियों स्वभावतः प्रभुकी तरफ दौड़ती है।

प्रेमीकी भारणा—केवल वह है कि उसने हृदयमें सदा प्रभुको धारण किया है।

प्रेमीका ध्यान—भगवाननका ध्यान है।

सा० अ० ५६

प्रेमीकी सम्पाद्धि—वह अपने प्रियतम और उसके सौन्दर्य-में यहाँतक बिलीन हो जाता है कि फिर उसको न तो दूसरा नज़र आता है और न उसको दूसरा देखनेकी कुरसत ही होती है। वह किसी औरको देखे तो क्यों? क्या उससे कोई सुन्दर है? और अगर कोई सुन्दर है भी तो उसको क्या? पहलेसे कुरसत मिले तो दूसरेकी तरफ देखे! उसको तो यहाँतक भी कुरसत नहीं कि प्रियतमको देखता हुआ अपनी तरफ भी देख सके। क्योंकि वह जानता है कि मैं जितने समयतक अपनी ओर देखूँगा अपने प्रीतमकी ओर न देख सकूँगा। दरअसल बात यह भी नहीं—अगर वह वह जानकर और इस भयसे अपनी तरफ नहीं देखता कि कहीं प्रीतमकी तरफसे आँख न हट जाय, तो भी वह शल्त है; ज्योंकि ऐसा करनेसे वह अपनी तरफ तो नहीं देखता लेकिन उन चिचारोंकी तरफ ज़रूर देखता है कि जिनमें ‘अपनी तरफ देखनेए अनें प्रीतमकी तरफ न देखे जाने’ का भय गैजूह है। वह तो अपनी तरफ इसलिये नहीं देखता कि वह अपनी तरफ देख ही नहीं सकता और किसी औरको तरफ इसलिये नहीं देखता कि उसको न तो कोई और नज़र आता है और न उसको अपने प्रियतमसे हत्ती ऊरसत ही मिलती है कि किसी औरकी तरफ देख सके।

ध्यानकी पहली अवस्था

पहले प्रेमी प्रीतमका ध्यान करता है और वह कमज़ोर अवस्था होती है, क्योंकि ध्यान न लग सकनेकी वजहहीसे तो वह ध्यान करता है। इस अवस्थामें अभीतक प्रेमीके मनमें संसार और उसकी भावनाएँ होती हैं और उसके साथ आप भी होता है और प्रीतम भी। यह एक चिन्तित कशमकदाकी अवस्था होती है। वह कभी तो अपने मनको संसार से हटाता है और कभी भगवान्में जोड़ता है। जब संसारकी तरफ बढ़ता है तो प्रियतमका सौन्दर्य उसके बीचमें आकर खड़ा हो जाता है और जब यह बघराकर उससे लिपटना चाहता है तो संसार बीचमें आ खड़ा होता है। यह है प्रेमीके ‘ध्यान करनेकी अवस्था’। अक्षर लोग पूछा करते हैं कि ‘कारण क्या है—दिनभर तो मन अच्छा ही रहता है, लेकिन जहाँ भगवानका ध्यान किया है उसकी भावनाएँ सामने आ खड़ी हुईं। इस ध्यानसे तो न ध्यान करना ही अच्छा हुआ।’ तो मैंने जवाब दिया कि जब तुम पहलवान बनकर बाहर निकलोगे तो तुम्हें गिरानेके लिये दूसरे पहलवान आयेंगे ही। अगर दूसरे डर गये तो और बढ़िया करता,

और अगर उनको गिरा लिया तो पहलवानोंके सरताज बन जाओगे ।

वह—महाराज ! इस तरह तो भगवत्प्राप्तिमें देर ल्याती है ।

मैं—देर ही तो एक ऐसी चीज़ है कि जिससे भगवत्-प्राप्तिका सुख मिलता है । अच्छा, वह तो बताइये कि अगर भूख ल्यानेपर उसी समय आपकी भूख मिट जाय तो बेचरे रखोइयेकी वह तमाम मिहनत जाया न हो जायगी कि जो उसने अच्छे-अच्छे भोजन बनानेमें लगायी है ।

ध्यानकी दूसरी अवस्था

इस अवस्थामें प्रेमी ध्यान नहीं करता बल्कि उसका प्रीतम उसके अंदर बैठकर अपना ध्यान करवाता है । जब पतझोने दीपकको देख लिया तो दीपक उसके अंदर आ गया । अब देखनेमें तो वह आता है कि पतझोना दीपककी तरफ दौड़ता है, लेकिन असलियत यह है कि दीपक पतझोने बैठकर अपनी ओर आप भागता है । और यह नियम भी है कि सजातीय सजातीयकी तरफ जाता है । दीपक उसके अंदरकी अंदर बैठकर जलता है और उसके भाष्य आकारको अपने अंदर खोंचकर भस्त कर देता है । गोया दीपक परवानेके घरमें उसके नेत्रोंके दरवाज़ोंसे सुखरात उसके घरको आग लगा देता है और उसके तमाम सामानको आग लगाकर आग ही बना देता है ।

प्रेमकी त्रिपुटी

प्रेमकी त्रिपुटी एकाकार इस तरह होती है—प्रेमी, प्रेम और प्रीतम । यह हुई प्रेमकी त्रिपुटी या Trinity । एकके बरौर दूसरा रह नहीं सकता । प्रेमी और प्रीतम एक दूसरेसे खड़े हैं । प्रेमी प्रीतमके ध्यानमें जुड़कर जब अपना आप खो बैठता है तो उसके इस त्याग (sacrifice) को देखकर प्रीतम उसका प्रेमी बन जाता है । प्रेमी तो प्रीतमके ध्यानमें अपना आप खो बैठा और प्रीतम प्रेमीके ध्यानमें अपना आप भूल गया । या यों कहिये कि जब प्रेमी न रहा सो प्रीतम भी न रहा और जब प्रेमी और प्रीतम न रहे तो प्रेम कहाँ रहा ? इस तरहसे प्रेमका अनित्य सार वह अवस्था है कि जो अनिर्बन्धनीय है । लेकिन यह शृण्य नहीं बल्कि वह अवस्था है कि जिसको मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ एकह नहीं सकतीं । इस तरह जानी अपनी अनित्य सीढ़ीपर

पहुँचकर ज्ञाता-ज्ञान-स्वेच्छावसे ऊपर हो जाता है उसी तरह प्रेमी अपनी अनित्य अवस्थामें पहुँचकर प्रेमी, प्रीतम और प्रेमके भावसे ऊपर हो जाता है । यह है प्रेमीकी समाधि और ध्यानकी परिपक्षता । लेकिन इससे पहले वहाँतक कि धारणा और ध्यानकी अवस्थाएँ हैं, वहाँतक प्रेमी दूसरे दर्जेमें ध्यान और धारणाको प्रयत्नद्वारा नहीं करता बल्कि कराया जाता है । यानी प्रेम उसके अंदर बैठकर उसको अष्टाङ्गयोगीकी उन तमाम सीढ़ियोंसे आप ही गुजारता जाता है कि जिनको योगी लोग प्रयत्नद्वारा करते हैं । जिस तरह जब दवा खा ली जाती है तो उसके बाद दवा खानेवालेको यह फ़िकर करनेकी ज़रूरत नहीं होती कि वह दवाके ज़रिये बीमारीको ज्ञाह-ब्जाहसे निकालता फ़िरे । यह दवाका काम है कि उस बीमारीको दूर करे और बीमारका काम है दवा खाना ।

इसलिये जब भगवान् किसीके मनको चुराते हैं तो उसके मनमें अपना प्रेम झूँक देते हैं—जिससे उसको धारणा, ध्यान और समाधिकी अवस्थाएँ आहिस्ता-आहिस्ता खुद ही प्राप्त हो जाती हैं ।

देखा, आप कितने सुन्दर चोर हैं कि जिसका मन चुराते हैं, उसको सब कुछ दें देते हैं और उसका दिल फ़िर चाहता है कि वह एक मन चुराये जानेपर दूसरा मन पैदा करे, ताकि आप उसको भी चुरायें ! खूब चोरी है ! मन क्या चुराया, माया ही चुरा ली ॥

भगवान्—नहीं, हमें जलदी है । पहले यह बताओ कि ज़ख्म लगा कैसे और क्ये ?

राधेजी—प्रभो, जयाय न देना भी ठीक नहीं; इसलिये बता ही देती हूँ कि यह ज़ख्म किए तरह और कब लगा । प्रभो ! एक दिन आपका हाथ अचानक बढ़ा तो मेरे लग गया और यह है इस ज़ख्मका कारण ।

भगवान्—लेकिन यह तो बताया ही नहीं कि वह लगा कब ?

राधेजी—प्रभो ! बहुत दिन हो गये ।

भगवान्—नाखुनका ज़ख्म तो एकदो दिनमें ठीक हो जाता है और यहाँ इसको कई दिन हो गये । आखिर कारण क्या है कि अच्छा नहीं हुआ ?

राधेजी—लेकिन भगवान्, मैंने कब कहा कि यह अच्छा नहीं हुआ ?

भगवान्—फिर आप कहें या न कहें, लेकिन नज़र तो आ रहा है।

राधेजी—अच्छा, अगर आपको नज़र आता है तो बताये देती हूँ कि प्रभो ! न तो यह अच्छा हुआ है और न मैं चाहती ही हूँ कि यह अच्छा हो; क्योंकि जब इसपर अंगूर आता है, मैं इसको हाथों से छील देती हूँ।

भगवान्—(चौककर) वह क्यों ?

राधेजी—वह इसलिये कि यह हरा हो जावे और वह इसलिये कि इसमें दर्द हो और यह क्रायम रहे।

भगवान्—वह क्यों ?

राधेजी—वह इसलिये कि जब मैं इसको छीलती हूँ तो इसमें दर्द होता है और जब दर्द होता है तो बुद्धि प्रदन करती है कि यह किसका दिया दर्द है। तब उस आइने (शीशे) में आप नज़र आते हैं और जब आप नज़र आते हैं तो कोई दर्द ही नहीं रहता। फिर मैं इसको दर्द कहूँ या कुल दर्दोंकी दवा ? इसको कोटा कहूँ या कुल ? इसको दुःख कहूँ या सुख ? हे प्रभो ! आपके प्रेमका जरूर जो इन दिलोंपर लगा हुआ है, उसको कमी न भरने देना, ताकि उस दुःखका अभाव न हो जावे कि जिसको होनेसे और कोई दूसरा दुःख हो रही नहीं सकता।

इसलिये प्रेम वह पदार्थ है कि जो दुःखको सुख बना देता है। अब सुख तो सुख हो ही, लेकिन जिसने दुःखको भी सुख बना लिया, उसके लिये फिर दुःख रहा कहाँ ? जिस वस्तुने तुम प्रेम करते हो, वह सबसे सुन्दर हो जाती है।

प्रेम खुद सौन्दर्य है

प्रेम खुद सौन्दर्य है, क्योंकि जबतक किसी पदार्थको प्रेम न करें, वह कभी सुन्दर नहीं हो सकता। एक प्रेमीसे किसीने कहा कि ‘तुम्हारा ग्रीतम काला है।’ उसने कहा ‘छठ, बिल्कुल छठ; उस-सा तो सुन्दर कोई नहीं।’ उसने कहा—‘मैं सच कहता हूँ, वह काला है।’ तो उसने फिर पूछा कि तुमने किस औजारसे देखा है। तो जयाव दिया कि ‘जिससे कुल संसार देखता है।’ उस प्रेमीने कहा—‘तो इसका यह मतलब है कि तुमने अपने नेत्रोंसे देखा है।’ उसने कहा

‘हाँ।’ उसने झट ही कह दिया कि ‘तभी तो तुमको मालूम न हो सका कि उसका वास्तविक सौन्दर्य क्या है।’ उसने पूछा—‘वहा उसको देखनेका कोई और औजार है ?’ उसने कहा ‘हाँ, वह हैं मेरी आँखें।’ उसने पूछा कि ‘इसमें विशेषता क्या है ? आँखें तो सब समान ही होती हैं।’ उसने कहा कि ‘ठीक है।’ लेकिन जो प्रेमरुपी सुरमा मेरी आँखोंमें पड़ा है, वह तुम्हारीमें नहीं और जबतक वह सुरमा किसी आँखमें न पड़े, सौन्दर्यका पता ही नहीं चल सकता।

प्रेम स्वर्ग है

प्रेम स्वर्ग है; क्योंकि जहाँ प्रेम है, वहाँ दुःख रह नहीं सकता। दुःखका स्वरूप प्रतिकूलता है और जहाँ प्रेम है, वहाँ प्रतिकूलता रह नहीं सकती। जहाँ प्रतिकूलता नहीं, वहाँ अनुकूलता है और अनुकूलताका नाम स्वर्ग है।

प्रेमी unity है

असूं दूसी काती अत धनी जा एकसे दा करे।
बहलेल काती प्रेम दी जो दोसे एक करे॥

‘हमने देखा है कि तलबार काटकर एकको दो बनाती है, लेकिन प्रेमकी तलबारका काम कुछ विचित्र ही है। यह दोको एक करती है।’

यह तलबार जिस दिल्लिर चली, वह एक हो गया। जिस मुल्कमें चली, वह एक हो गया। जिस संसारमें चली, वह एक हो गया और जब ईश्वर और जीवके दर्घ्यान दो दोमो एक हो गये ! वाह-वाह ! कैसी विचित्र चीज़ है जो दोको एक करती है !

प्रभु अकेले थे, दो हो गये और अब फिर दोसे एक होना चाहते हैं। यह है उनकी लीला और दोसे एक करना प्रेमका काम है। बात तो यह है कि एकसे दो होना भी प्रेमही-का काम है, क्योंकि एकसे दो इसलिये हुआ या कि दो होनेके बाद फिर एक होनेका आमन्द ले सके !

एक जलकी बूँदने समुद्रसे शिकायत की कि ‘यह तूने क्या किया जो मुझकी अपनेसे तुदरा कर दिया ?’ इसमें सन्देह नहीं उच्च-से-उच्च और सुन्दर-से-सुन्दर स्थान मुझको संसारमें ग्रास हैं। मैं आँखोंमें आँसू बनकर नहीं बैठी, बल्कि फूलपर ओस बनकर बैठी हूँ; लेकिन मुझको यहाँ चैन नहीं, सन्तोष

नहीं धीरज नहीं। क्योंकि इनने उच्च और कोमल तथा सुन्दर स्थान पर होते हुए भी हवाकी लहरें मुक्ख की बरा रही हैं कि हम तुमको नष्ट किये बगौर न रहेंगी और जब हवाकी लेज़ रफ्तार का ख्याल आता है तो मेरा तमाम सुख नष्ट हो जाता है। मेरा हृदय काँपने लगता है और धड़कन शुरू हो जाती है। उक्त ! यह तूने क्या किया जो मुझको अपनेसे जुदा कर दिया और हस संसार के दुःखोंमें डाल दिया; मुझे योङ्गा-सा लालच देकर क्यों फैक दिया ? समुद्रने उत्तर दिया थह तो सब ठीक है, लेकिन मैंने तुझको जुदा इसलिये किया है कि तू इस जुदाई (विवेग) से मेरे संयोग का आनन्द ले सके ।'

आपको कभी यह ख्याल नहीं आता कि आप अपनेसे मिले हैं, क्योंकि आपको अपनेसे जुदा होनेका भी ख्याल नहीं आता और दरअसल आप जबतक दो नहीं होते अपना मुँह देख ही नहीं सकते। आखिर चीजोंमें भी तो अपने आपको देखनेके लिये दूसरा बनना ही पड़ता है।

तो प्रभुने केवल 'योगका आनन्द देनेके लिये यह वियोग पैदा किया है। बस, इस वियोगके पैदा करनेमें प्रेम ही है, इसलिये कि उससे संयोगका आनन्द मिल सकता है। दायरा (circle) जहाँसे शुरू होता है, वहाँ आकर मिलता है। जब चिन्दु (point) या, हरकत न थी; जब हरकत हुई, दायरा बन गया। अब यह हरकत क्या है ? नुकते (चिन्दु) का अपने नुकतेसे मिलना और वह हरकतके बाद। इसी तरह प्रभु एकसे चलकर दो बने और फिर दो बनकर एककी तरफ चल दिये। पर, इस कियामें रिया प्रेमके और कुछ है ही नहीं।

प्रेम क्या है ?

प्रेम क्या है ? त्याग—अदंकारका त्याग, खुदीका तर्क (Self-abnegation)।

When shall I be free ?

When 'I' shall cease to be.

प्रेम क्या है ? योग यानी वह आकर्षण या इच्छा कि जो दोको एक करती है। सारांश यह कि प्रेम ही सब कुछ है। अपने सामान्य रूपमें यह परमात्मा से एक हो रहा है और विद्योष-रूपमें भक्तोंके हृदयमें चमकता है और जहाँ विद्योषरूपमें

चमकता है, वहाँ प्रेमी बनकर अपने प्रीतमको सामने रखता है और इस तरह अपने प्रीतमसे एक दैनेकी कोशिश करता है।

प्रेमके कुछ दर्जे

(१) पहली अवस्थामें—प्रेम मनुष्यके अंदर होता हुआ भी अनहुआ-सा होता है और यह मात्रम नहीं होता कि उसका प्रीतम कौन है। वह जीवित होता है। उसमें प्रेम प्रेमके रूपमें नहीं रहता बल्कि तलाशकी शक्तिमें रहता है और संसारमें अपने प्रियतमको हूँढ़ता फिरता है, लेकिन यह जानकर नहीं कि वह प्रियतमको हूँढ़ रहा है। उसके अंदरका असली स्वभाव उसे प्रीतमकी तलाशमें दौड़ाता है, लेकिन वह समझता है कि वह संसारमें ही कुछ हूँढ़ रहा है। इस दर्जेमें प्रेम तो होता है, लेकिन दूसरी शक्ति अख्लायर करके। उसकी तलाश प्रीतमके लिये ही होती है; लेकिन जिन चीजोंमें वह उसे हूँढ़ता है, वहाँ वह नहीं मिलता। यह अजब ग्रहण और त्यागकी अवस्था होती है। एकको छोड़ता है तो दूसरीको पकड़ता है तो तीसरीको पकड़ता है। लगातार कशमकश बनी रहती है। इसे न प्रह्लादमें सुख होता है न त्यागमें। इसकी भूख कहीं नहीं मिटती। आखिर इसको मात्रम हो जाता है कि नैन यहाँ नहीं।

(२) दूसरी अवस्था—इसकी आँख अपने प्रियतमसे लड़ जाती है, लेकिन प्रियतम खुद बहुत दूर होता है। यह उसको पकड़ना चाहता है, लेकिन पकड़ नहीं सकता। इस अवस्थामें इसको एक बात तो ज़रूर प्राप्त हो जाती है—वह यह कि वह समझ लेता है कि पहली अवस्थाकी दौड़धूप रहस्यपूर्ण थी। उसका भावार्थ यह था कि जिनमें वह आजतक हूँढ़ता रहा। दूसरी अवस्थामें जब प्रीतमसे आँख लट्ठती है और यह उसको पा नहीं सकता तो इसके अंदर संयोग और वियोग दोनों इकट्ठे काम करते हैं। संयोग तो इसलिये कि वह इसको पानेकी कोशिश करता है। इस अवस्थामें प्रेमीकी विचित्र हालत होती है। उस प्यारेका ध्यान बाकी तमाम सांसारिक वृत्तियोंको दबा लेता है। सब ध्यान स्वरूप होकर एक ही ध्यान रह जाता है। इस प्रेमके आते ही बाकी सब मोह-जाल और इच्छाएँ गिर जाती हैं। लोक और परलोक इसकी दृष्टिसे यों गिर जाते हैं कि जिस तरह नेत्रोंमें सुखमा डालनेसे दो आँसू। इसे बाद वृत्तियोंको रोकने और

मिथ्या पदार्थोंको त्वागनेके लिये प्रथक जरा भी नहीं करना पड़ता । न वैराग्यकी किसाये ही पढ़नी पड़ती हैं और न अपने मनको बार-बार यह समझाना पड़ता है कि ये पदार्थ दुःखदायी हैं, मिथ्या हैं, मृगतृष्णाके जलवत् हैं । बसिं ये खुद ही इन शब्दोंमें ढल जाते हैं । एक प्रेमीके सामने सुन्दर-से-सुन्दर चीजें अपने प्रियतमके न होनेपर बेकार हो जाती हैं और प्रीतमके साथ छोटे-से-छोटे पदार्थ भी बड़े-से-बड़े हो जाते हैं । प्रीतमके न होनेपर प्रेमीको फूल कौटे, सुख दुःख, स्वर्ग नरक और ज़िंदगी मौतसे बदतर हो जाती है । प्रेमीके मनको प्रीतमके विदोगमें कोई दूसरा पदार्थ प्रसन्न नहीं कर सकता । प्रेमीका मन उसी दिनसे संसारभरके प्रलोभनोंसे निश्चिन्त हो जाता है कि जिस दिनसे उसकी आँख अपने प्रियतमसे लड़ जाती है । सारांश यह कि ऐसे प्रेमीको न तो कोई लालच ही रहता है और न भय । लालच तो इसलिये नहीं कि वह इन चीजोंको चाहता नहीं और भय इसलिये नहीं कि उसे अपने ध्यानकी परिपक्षतमें अपने जीवनकी याद ही भूल जाती है । अगर कोई उसके पास उसके प्रियतमका नाम के दे तो वह मरा-मरा भी जी उठता है और भूल जाने-पर जीवनको भी मौत ख्याल करता है ।

(३) तीसरा दरजा—जब प्रेमी अपने प्रियतमको देख लेता है और उसकी समीपताको चाहने लगता है और आहिस्ता-आहिस्ता अपने प्रभुके समीप होता जाता है, यहाँतक कि प्रभुकी अल्यन्त समीपता उसको प्राप्त हो जाती है । इस अवस्थामें प्रेमीको भगवान्-हर समय सामने ही नज़र आते हैं, थोड़ी भी दूरी नहीं रहती । इस उच्च अवस्थामें संसार और उसके प्रलोभनोंका तो जिक्र ही क्या है आसुरी शृंतियाँ तो नामको भी वहाँ नहीं पहुँच सकती । प्रेमीका खाना-पीना, सोना-बैठना, जागना-उठना एक ही ध्यानमें लीन हो जाता है । यह सब कियाएँ करता रहता है, लेकिन क्षणमात्रके लिये भी उसके ख्यालेन अलहृदा नहीं होता । लेकिन इस अवस्थामें भी प्रेमीको यह ख्याल आता है कि मैं प्रभुके अल्यन्त समीप हूँ । इसमें भी इसको पूरा चैन नहीं मिलता, या यों कहिये कि इसका विदोग पूर्णरूपसे दूर नहीं होता; क्योंकि यह उसकी समीपताको अनुभव करता है । 'समीपता' शब्दका अर्थ यह है कि वह उसके नज़दीक है—जिसका मतलब यह है कि इसमें अभी अपना आप उसने नहीं खोया, वरना समीपता-का ख्याल और दूर होनेका भय भी कैसे होता ? यह अवस्था

इही उच्च होती है, लेकिन इसको पूर्ण नहीं कह सकते । क्योंकि प्रेमीकी पूर्ण अवस्था वह होती है कि जिसमें प्रेमी खुद रहता ही नहीं और समीपताका ख्याल वज्र अपने हुए हो ही नहीं सकता । ऐसी अवस्थामें कभी तो प्रेमीको अभिमान और कभी भय आकर दुःख देते हैं । अभिमान तो इस बातका कि मैं पूर्ण सौन्दर्यके क़रीब बैठा हूँ और भय इस बातका कि कहीं यहाँसे अलहृदा न किया जाऊँ । और अक्सर इस प्रकारका भोह भी इस अवस्थामें आ जाता है कि 'देखा, जाकिर इसने भगवान्को पा ही लिया ?' जब भगवान् अपने प्रेमीको इन बातोंका शिकार होते देखते हैं तो उसको थोड़ा-सा परे कर देते हैं और किर वह अपनी कोशिश-से भगवान्को पाना चाहता है, लेकिन नहीं पा सकता । इस हालतमें उसका अभिमान टूट जाता है और इसमें एक प्रकारकी आजिजी (दीनता) आ जाती है । अब यह समझने लगता है कि यह प्रेम मेरा अपना न था, यह प्रभुकी देने थी; क्योंकि जबतक दीपक न जले, परंगा उसमें जल ही नहीं सकता । इसलिये अहंकार और अज्ञानका तो नाश हो गया और भयका नाश भी इसलिये हो गया कि वह समझ लेता है कि जिसने इतनी कृपा करके अपनाया है, वह मुक्तको क्यों पैकंने लगा ।

(४) चौथा दरजा—चौथी अवस्थामें प्रेमीका रहा-सहा अहंकार उस भड़कती हुई प्रेमकी अभिनमें जलकर खत्म हो जाता है, जिस तरट लकड़ी आगमें जलकर खत्म हो जाती है । इस अवस्थामें प्रेमी पूर्णतः अपने आपको प्रभुके अर्पण कर देता है । फिर जिधर भी देखता है, सिवा एक भगवान्के और कुछ नज़र ही नहीं आता । अपना-बेगाना, छोटा-बड़ा, दोस्त-दुश्मनको देखतातक नहीं; केवल प्रभु-ही-प्रभु रह जाते हैं । शान तो इस अद्वैतधारदत्तक गहरी युक्तियों द्वारा लाता है, लेकिन प्रेम वज्रौर किसी विज्ञान (philosophy) और तर्क (logic) के इसी मंज़िलपर ला लड़ा करता है । अब देखनेको तो प्रेमी 'प्रेमी' कहलाता है, लेकिन उसमें सिवा प्रीतमके और कुछ नहीं होता; यह है प्रेमका सर्वोच्चम लक्षण । भावार्थ यह है कि जहाँ शानवोग, राजवोग, कर्मवोग भनुष्यको उठाकर यकदारा लाते हैं, वहाँ यह प्रेम प्रेमीको अपने कपेपर उठाकर ला डालता है । भन्य है यह प्रेम ! लेकिन यह ज़रूर है कि इसकी प्राप्ति सच्चे प्रियतमकी इच्छा-पर ही निर्भर है ।

ना बूद् शुदम बूद् नमी दासम चीस ।
अहंकार शुदा अम दूद नमी दासम चीस ॥
दिल दादमो जाँ दादमो हैँसौ दादम ।
सूदस्त दिग्मर सूद नमी दासम चीस ॥

मैं नाश हो गया, अब मुझे अपने पहले 'होने' की थाद नहीं । मैं सुलगता हुआ कोयला बन गया, मुझे धुँआका शान नहीं । मैंने हृदय, प्राण और धर्म प्रभुकी मैट कर दिये—और मुझको सबसे बड़ा फ़ायदा यही मालूम हुआ; इसके अलावा दूसरे फ़ायदेको मैं जानता ही नहीं ।

प्रश्न—आप अपने पहले अस्तित्वको भूलकर नाश हो गये ! इससे क्या फ़ायदा हुआ ? क्या नाश होना भी कोई फ़ायदा है ?

उत्तर—चीमारीका नाश होना, अंधकारका नाश होना, खुराहिका नाश होना, परिच्छिन्नताका नाश होना और उस अहंकारका नाश होना, जो अपने प्रियतमसे दूर रखता है, क्या फ़ायदा नहीं ?

प्रश्न—यह ठीक है । लेकिन चीमारीके दूर होनेपर चीमार तो रहता है, यहाँ तो आप ही नष्ट हो गये ?

उत्तर—यह नाश इस प्रकारका नाश है कि जिसमें नाश कुछ भी नहीं होता यद्यकि अल्पज्ञता सर्वज्ञताएँ, परिच्छिन्नता अपरिच्छिन्नताएँ, किरण सूर्यके और जलकी बूँद समुद्रके अर्पण कर दी जाती है । जलकी बूँदको समुद्रमें फेंका, किरण सूरजमें लिपट गवी तो क्या इनका वास्तविक नाश हो गया ? जिस तरह जलकी बूँद समुद्रमें गिरकर नाश हो जाती है, उसी तरह अहंकार प्रभुमें मिलकर नाश हो जाता है । जलकी बूँद समुद्रमें गिरकर अपने आपको पिर कभी नहीं दिखाती बल्कि समुद्रको और उसकी बड़ाइको ही सामने रखती है । कोई भूलकर भी यह नहीं कहता कि यह कतरा है । इसी तरह जब अहंकार प्रभुमें मिल जाता है तो वह अपने उस नाशसे प्रभुके अस्तित्वको दिखाता है लेकिन खुद कहीं बाहर नहीं जाता । कतरा (बूँद) तो समुद्रका अंश है । उसको कोई इक उसके नाश करनेका नहीं । हाँ, जिस कतरेने जल और समुद्रसे अलहृदा अपनी हस्ती मुकर्कर कर ली है और जो इस तरह जल और समुद्रसे अलहृदा बन गया है, उसको तो उसे नाश करना ही पड़ता है । वह कहता है कि मैं कतरा हूँ, मेरी एक खास दृस्ती है, मैं एक

खुदसुख्तार पदार्थ हूँ । लेकिन जब वह जलको देखता है तो उसका अपना सब कुछ सिवा जलके और कुछ नहीं निकलता । जलतक तो उसको अपनी अलहृदा 'मैं' काशम करनेका अल्पावर नहीं, क्योंकि वह 'मैं' जलकी है और जलके बाहर कतरा कुछ रहता नहीं । बस, इस हृषिमें कतरेको कहना पड़ता है कि 'मैं' अपने प्रियतमको देखकर नाश हो गया ।' वैसे तो कुछ नाश-वाचा हुआ नहीं ।

नासतो विच्छते भावो नाभावो विच्छते सतः ।

नाश हो किसका सकता था ? जलका ?

वह तो एक स्त्र पदार्थ था ।

नाम-स्पवका ?

वे थे ही नहीं ।

बस, न 'होने'का नाश हो सकता है और न 'न होने' का । हाँ, उस भ्रमका नाश जरूर हो गया, जिसने दूसरे की चीज़पर खुदा क़ब्ज़ा कर रखवा था । प्रेमी खुद, जो कि अपने श्रीतमका अंश है, उस अंशको प्रीतमसे अलहृदा करके उसपर अपना कब्ज़ा जमा लेता है और किरुकुल-का-कुछ बन जाता है । कहीं शरीर है, कहीं मन है, कहीं बुद्धि है, कहीं प्राण है, कहीं ब्राह्मण है, क्षत्रिय है, महात्मा है, राजा है, गरीब है, अमीर है, छोटा है, बड़ा है, जानी है, अजानी है, इज़तवाला है, किसतवाला है—इत्यादि । यह पिर प्रभुके पवित्र अंशपर जो प्रेमीका सांसारिक आरोप होता है, प्रेम उसको जटाकर खाक कर देता है और शेष जो दुःख रह जाता है, वह प्रियतमका वह अंश होता है कि जिसपर प्रेमीने अपने जुदा अहंकारकी दुनिया कायम की होती है ।

प्रेमकी अग्नि अहंकारको जला देती है और जब यह जल जाता है तो उसको पिर कभी याद भी नहीं आता कि वह क्या था । इस नाशपर सौ जान कुर्बान कि जो प्रियतमसे एक कर देता है ! कतरा समुद्रमें शक्ति होकर समुद्रसे बुदा नहीं रह जाता । जबतक लकड़ीका अपना अस्तित्व आगमें रहता है, उससे धुआँ निकलता रहता है, लेकिन जब जलकर ऐसे आग बन जाती है तो धुआँ भी खत्म हो जाता है । इसी तरह जबतक अहंकारको कोई अंश भी प्रीतमके साथ रहता है, दुःख और भ्रमका नाश नहीं होता; और जब विलकुल मिट गया तो धुआँ खत्म हो गया । मैंने अपने प्रीतमके प्रेममें अपना दिल, प्राण और धर्म सब कुछ दे दिये ।

प्रक्ष-बाहु, अच्छे रहे ! सब कुछ मिलना चाहिये या या सब कुछ दे देना ?

उत्तर—जिस देनेमें कायदा हो, उसका दे देना ही अच्छा है। जब दिल दिया, जगड़े खल हो गये; प्राण दिये, मौतसे आजाद हो गये। और जब सांसारिक धर्म उनकी मेंट किया तो वहाँ धर्म मिल गया, क्योंकि वहाँ धर्म यहीं है कि उसको अपना सर्वस्य देकर उससे एक हो जावे। प्रेमीको लेनेकी कुरसत ही कहाँ है ? उसे तो सब कुछ देना-ही देना है।

सब कुछ प्रियतमको दिया, वह तो लालचमें आकर ले गये; लेकिन प्रेमी अजीव चतुर निकला कि अपना आप उनको देकर उनके नज़दीक बैठ गया और जब कभी प्रभुने उस धनपर ये शब्द फरमाये कि ये हैं मेरी चीजें तो प्रेमी पूछा नहीं समझा और कहने लगा कि ‘हाँ, मैं इनका हूँ’ और दर्दी जावानसे यह भी कह दिया कि ‘यह मेरे हैं !’ बाहु, क्या सौदा है !

(शेष फिर)

प्रत्याहार-साधन

(परमपूजनीय श्रीश्रीभार्ती शिवरामकिंकर योगग्रन्थानन्द स्वामीजीके साधनसम्बन्धी उपदेशसे)

प्रत्याहार किसे कहते हैं ? प्रत्याहारका अर्थ है इन्द्रियों को विषयोंसे लौटाकर ध्येय पदार्थमें संलग्न करना। इन्द्रियों विषयको प्राप्त करना चाहती हैं भोग करनेके निमित्त। विषयके प्रति इन्द्रियोंकी बहुत दिनोंसे एक प्रकारकी प्रीति (आसक्ति) उत्पन्न हो गयी है, इसी कारण इन्द्रियों विषयोंकी ओर जाना चाहती है। विषय क्या है ? रूप, रस, शब्द, स्पर्श और गन्ध। (विष्वर्क की पीतृ व्यवने) वातुने विषय शब्द बनता है) वे विषय विशेष करके मनको बैंध रखते हैं और भगवान्की ओर नहीं जाने देते; इसी कारण हनुमानाम विषय है। मन कभी रूपकी ओर, कभी रसकी ओर, कभी शब्दकी ओर, कभी स्पर्शकी ओर और कभी गन्धकी ओर दौड़ता है। वही उसका स्वभाव है। यदि ऐसी कोई वस्तु प्राप्त की जा सके, जिसमें ये सभी विषय प्राप्त हों, तो फिर इन्द्रियों विषयोंके लिये चलायमान न होगी। जिससे उत्कृष्टतर कोई रूप नहीं है, इस प्रकारके रूपको यदि नेत्र देख पायें, तो वे फिर अन्य किसी रूपको देखनेके लिये लालायित न होंगे। जिससे बढ़कर कोई मधुर रस नहीं, ऐसे रसका आसादन यदि रसना कर सके, तो वह पुनः किसी दूसरे रसका स्वाद लेनेके लिये लौलूप न होगी। जिससे मधुरतर और कोई शब्द नहीं है, इस प्रकारका शब्द यदि भोत्र श्रवण कर सके, तो वे पुनः अन्य किसी शब्दके श्रवणके लिये व्याकुल न होंगे। जिससे बढ़कर कोई सुखकर स्पर्श नहीं, यदि इस प्रकारके स्पर्शका अनुभव स्पर्शोन्द्रिय (त्वक्) को प्राप्त हो जावे, तो वह फिर अन्य किसी स्पर्शका अनुभव करनेके लिये चब्बल न होगी। जिससे बढ़कर कोई दूसरा मनोहर गन्ध नहीं, यदि

भागोन्द्रिय इस प्रकारके गन्धका आवाण—भोग कर सके, तो फिर वह किसी अन्य वस्तुके आवाणके—उपभोगके लिये व्यस्त न होगी। देखा जाता है कि जिससे उत्कृष्टतर रूप, रस, शब्द, स्पर्श और गन्ध कहीं नहीं है, इस प्रकारके रूप, रस, शब्द, स्पर्श और गन्धके एकमात्र आवार श्रीभगवान् ही हैं। अतएव यदि विषयोंसे मनको हटाकर भगवान्से लगाया जाय, तभी यथार्थ प्रत्याहार-धर्मका साधन किया जा सकता है।

स्वभावतः इमारी इन्द्रियों विषयोंकी ओर जाना चाहती हैं, विषयोंमें ही रहना चाहती हैं; इसीलिये उपासनाके समय उन्हें वल्लपूर्वक लौटा करके भगवान्के चरणमें लगाते समय इतना कष्ट होता है। इन्द्रियों जो कुछ देखना चाहती हैं, सुनना चाहती हैं, अथवा अन्य किसी विषयको प्राप्त करना चाहती हैं, उन संपर्के यदि तुम भगवान्के रूपमें ही परिणत कर सको, तो फिर इन्द्रियोंको इन विषयोंसे लौटा लेनेकी आवश्यकता ही न होगी तथा तज्जनित कष्टका भी अनुभव न होगा। इन्द्रियों जहाँ चाहें वहाँ रहें, परन्तु रहें उसे भगवान् ही समझकर। भूलोकमें जो कुछ स्थित है, भुवलोकमें जो कुछ विद्यमान है, त्वर्लोकमें जो कुछ है, सब कुछ राम ही है—यदि तुम इस प्रकारका चिन्तन कर सकते हो तो इसके परिणामस्वरूप भूर्भुवः स्वः—इन तीनों लोकोंके चाहे किसी भी विषयमें इन्द्रियों क्यों न रहें, उससे कोई हानि नहीं हो सकती; वह भी प्रत्याहार ही कहलायेगा। इस प्रकारकी भावना प्रत्याहार-तिद्विका एक बहुत उत्तम साधन है।

—रामशरण भक्तचारी

निराकार-उपासनका साधन

(पुरोहित ए० श्रीहरिज्ञारायणजी, वी० ए०, विद्याभूषण)

परमात्माको स्मरण करनेके इस संसारमें प्रायः दो ही मार्ग देखे जाते हैं—(१) निराकार-उपासनामार्ग, (२) साकार-उपासनामार्ग । संसारके धर्मोंके इतिहास और धर्मानुसारी जातियोंके अनुभवसे यह बात प्रत्यक्ष और निर्विकाद है । ईश्वर-स्वरण और उपासनाके विषयमें यह बात ध्यान-धूर्वक विचारनेकी है कि साधारण जनसमुदायमें—संसारमें कहीं भी इष्ट डालकर देख लीजिये—यह बात मनुष्योंके नैतिक, स्वाभाविक तथा अकृतिम भावनाओंमें तुरंत प्रकट होती है कि भगवान्को लोग अपनेसे बाहर ही कहते हैं, जानते हैं और लिखतेकहे हैं । बातोंमें कहीं भगवान्की वात-की प्रतीति या शब्द अथवा प्रमाणकी व्याप्त आती है तो साधारण जन हाथ या अङ्गुलीको आकाशकी ओर उठाते हैं, या किसी देवाल्य, उपासना-स्थान अथवा उपास्य देवको याद करते हैं । ध्यान-पूजनकमें साधारण आदमी ऐसा ही करते हैं । अपने उपास्य इष्टदेवोंके स्थान, लोक और नियासस्थानों-के प्रन्थोंतकमें गहरे रंगके साथ विस्तृत धर्मान हैं । सर्व, सत्यलोक, विष्णुलोक, शिवलोक, ‘अर्द्ध’ और ‘फलक’, परलोक, सचलोक (सिक्खोंके मतमें) अथवा अकाल पुरुषका लोक इत्यादि स्थानादि ईश्वरके या देवोंके वताये जाते हैं । इनसे ईश्वरका अपने बाहर होनेका मानुषीय साधारण प्रकृतिका भाव जाना जाता है । सिद्धान्तकी बात, उच्चकोटिके विचारोंकी बात जब आती है तो ईश्वरके सर्व-व्यापक कहनेसे ईश्वरका सर्वभूत-प्राणी-व्यक्तिमें वर्तमान होना कहनेसे उसका मनुष्यशरीरमें भी विद्यमान कहा जाता है । और वेदान्त, ‘सूफी’ मत, ‘पथ ऑसाफी’, ‘साहकिल’ सम्प्रदाय इत्यादिमें तथा योगियों, पैदौंचे हुए फकीरों, उच्चकोटिके महात्माओंमें ईश्वरको हृदयमें, दिलमें, मन और बुद्धिमें, सारे शरीरमें, जीवात्मामें, आत्माका आत्मा, जीवका जीव, ‘जानका जान’ इत्यादि वचनोंसे स्मरण करते हैं ।

इतनान्सा कहनेका उपासनाके साधनोंकी नैतिक स्थितिका दिग्दर्शन करा देना ही प्रयोजन है । साकार-उपासनासे शनैः-शनैः निराकार-उपासनाकी स्थिति अंशतः प्राप्त होने लगती है, यदि सद्गुरुका उपदेश और शिक्षण भगवत्पूर्णा और प्रारब्धसे अनुकूल होता जाव । वेदों, उपनिषदों और अद्वैत वेदान्तके ग्रन्थोंके अनुसार परमात्मा

निराकार ही प्रमाणित हुआ है । यद्यपि कहीं-कहीं उसे साकार भी कहा गया है, परन्तु वहाँ साकारके कथनसे माया या प्रकृति-उपहित चेतनका ही तात्पर्य है । उस दशामें ईश्वर उभयरूप है । कहीं-कहीं उपनिषदोंमें दोनों स्थोंका उल्लेख दिखायी पड़ता है । यथा—

‘द्वे बाब ब्रह्मणो रूपे’ (बृहदारण्यक० २।३।१)—ब्रह्मके दो रूप हैं । तथा ‘एतद्वै सत्यकाम ! अपरं च परं च’ (ब्रह्मोपनिषद् ५।२)—हे सत्यकाम ! यही तो परब्रह्म है, यही अपर ब्रह्म है । और यत्तात्प्रत्यतर उपनिषद्में ‘मायिनं तु महेश्वरम्’—परब्रह्म जब मायासे युक्त होते हैं, तब वे महेश्वर हैं । और कठोपनिषद् (१।३।१५)में—‘अशब्दमस्वर्णमस्तुपमव्ययम्’—वह ब्रह्म न तो कानोंसे मुना जाता है न स्वर्णमें आता है, न उसका कोई रूप है; वह तो अव्यय है, उसका कुछ घटता-बदला नहीं है । और छान्दोग्योपनिषद्में तो—‘सर्वकर्म, सर्वकामः, सर्वगन्धः, सर्वरसः’ (३।१४।२)—उसीसे वा उसीमें सब कर्म है, सब इच्छाएँ हैं, सब प्रकारकी गन्ध हैं, सब प्रकारके रसादि हैं—ऐसा कहा है । यह सगुण और निर्मुणका प्रत्याख्यान हुआ । कहीं-कहीं तो सगुण और निर्मुणमें कोई भेद ही नहीं बताया है—बही ब्रह्म निर्मुण-निराकार और वही सगुण-साकार, वही पर और वही अपर ऐसा कहा है । यथा—‘सुङ्गकोपनिषद् (२।२।८)में ‘तस्मिन् दृष्टे परावरे’—वह पर और अपर दिखायी देता है, वही निर्मुण-सगुण है—ऐसा प्रतीत होता है । यद्यपि ऐसा कथन है, परन्तु वस्तुतः सिद्धान्तमें परमात्मा परब्रह्म निर्मुण-निराकार ही है । उसका साकारत्व, सगुणत्व उसके योगमायासे समाहृत होनेसे है, उपराधिके कारणसे है । अनेक उपनिषदोंमें अनेक स्थलोंपर परब्रह्मका जो वर्णन है, उससे ब्रह्मका निर्मुण, निराकार, निर्विशेष, केवल, निरस्त्रय इत्यादि विशेषणोंसे निभ्य जाना जाता है । यथा—

(१) ‘तदेतद् ब्रह्मपूर्वमनपरमनन्तरमवाहम् ।’
(बृहदारण्यक० २।५।१९)

(२) वह यह ब्रह्म अपूर्व है, उसन्सा और कोई नहीं है, अद्य है, सर्वव्यापक अन्तर्यामी है ।

चले; तब वह गुरुदेव कृपा करके ज्ञान सिखावेंगे, विद्या और मार्ग बतावेंगे और सुझावेंगे। ऐसे सत्यज्ञानके पारंपर्य गुरु जैसा मार्ग बताते हैं, वह वेदान्तशास्त्रमें वर्णित है। परन्तु वह गुरुगम्य ही होता है। उसका योग्या-सा भान नीचे लिखे वर्णनसे भी हो सकेगा।

जिज्ञासुको प्रथम उस ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये वह तैयारी करनी पड़ती है, जिससे वह उसका अधिकारी और उसके योग्य बनता है। गुरुदेवसे ध्यानभूतं सारभूतं ज्ञान लेता रहे और साधना करता रहे—

‘वरसारभूतं तदुपासितश्चम्।’ ‘सारभूतमुपासीत ज्ञानं यत् स्वार्थसाधकम्।’

अगुम्भश्च महद्यन्तं शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः।

सर्वतः सारसादशात् पुष्पेभ्य इव बट्पदः॥

जो सारल्प ज्ञानके पदार्थ हैं, उनको लेकर साधन करे। अपने अर्थकी साधक जो बात हो उसको—क्या बड़े और क्या छोटे—ग्रन्थादि उपदेशोंसे, भीरा जैसे पुष्परसोंको ग्रहण करता है, वैसे ही ग्रहण करे। ऐसा न करेगा तो ज्ञान तो अनन्त सुमुद्र है, उसका पार ही क्या। अनेक आयु पालेनपर भी पार नहीं आवेग। गुरु-कृपा और अपने सच्चे भाव और साधनसे सारग्राही होकर ज्ञानोपार्जन करनेपर शीघ्र किंदि प्राप्त होती है। अति नम्रता और विनय तथा भक्तिपूर्वक गुरुसे ज्ञान सीखे और जहाँ न समझे, वहाँ फिर पूछे, सीखे हुएका निरन्तर विवेकवृत्तिसे अन्यास करे। सीखे हुएको मनमधूर्वक बुद्धिमें धारण करता रहे। इस प्रकार ज्ञानकी उन्नति होती रहेगी। जिस द्विष्टने पहले सत्कर्म और सदुपासनाके साधनोंसे अपने अन्तःकरणकी उत्तम शुद्धि कर ली है, उसपरके मल और विदेषको ज्ञाने: मिटा लिया है, अर्थात् निष्काम कर्मोंके अनुशासनोद्धारा मल दूर किया है और इस्की उपासना (भक्तिसेवा-साधनादि) द्वारा विक्षेप दोष दूर कर लिया है—उसके अब केवल अशानका ही आवरण शोष रहा है। ऐसा जिज्ञासु मोक्षकी इच्छा रखता हुआ गुरुसे मोक्षमार्यकी प्रार्थना करे। तब गुरु उसे कृपा कर वह ज्ञानमार्य—मोक्षकी सङ्केत—बताते हैं।

प्रथम विवेकको बताते हैं कि आत्मा नाश और विकारसे रहित है। इसमें कोई किया भी नहीं है। यह अटल-अचल है। परन्तु यह संलाल विकारी है; इसमें परिवर्तन,

परिणाम और किया होती रहती हैं। इससे वह जगत् आत्मतत्त्वका विरोधी स्वभाववाला है। ऐसा ज्ञान रखना ही विवेक है। यह विवेक ही सरे साधनोंका प्रधान मूल है। विवेक हो जानेसे वैराग्य, त्याग आदि सब साधन उत्तरोत्तर होते जाएँगे। विवेकके उत्पन्न हुए विना अन्य साधन यन्हीं नहीं सकते।

विवेकके आगे वैराग्य होता है। फिर श्वम, दम, अद्वा, समाधान, उपग्रह और तितिशा—ये छः साधन शामादि पट्ट-सप्तिंश्च कहलाते हैं। यह शमादि पट्टसम्पत्ति ज्ञानका विव्यात साधन है। यो इन तीन साधनोंके होनेसे शिष्यको मुमुक्षु (मोक्षकी इच्छा और प्राप्तिवाला) होनेका अविकार हो जाता है। तब वह मुमुक्षुताका साधन करता है। यो विवेक, वैराग्य, पट्टसम्पत्ति और मुमुक्षुता—ज्ञानके इन चार अन्तरङ्ग साधनोंकी मुख्यता है।

इनकी साधनाके साथ या इनसे आगे अवण (गुरुद्वारा शास्त्रोंका ज्ञान सुनना-सीखना), मनन (जीव-त्रासकी एकत्रको प्रतिपादन करनेवाली और भेदको निवारण करनेवाली युक्तियोंका चिन्तन करना), निदिध्यासन (अनास-पदार्थोंके ज्ञानसे जो वृत्तियाँ उत्पन्न हैं, उनको ज्ञानशक्ति और विचारसे हटाकर मननके कल और तारतम्यसे ब्रह्माकार वृत्ति—सत्-चित्-आनन्दरूपताके साथ ध्यानोन्नत अवस्था वा चित्तित रखना) ये तीन साधन हैं। निदिध्यासनकी परिपक्व अवस्थाहीको समाधि कहते हैं। समाधि कोई पृथक् या भिन्न साधनविधि नहीं है। ये अवण, मनन और निदिध्यासन—तीनों साधन बुद्धिके संशय और विपर्यय (असम्भावना और विपरीतभावना) के नाशक हैं। इसलिये ये ज्ञानप्राप्तिके हेतु हैं। इन तीनों साधनोंके सिद्ध हो जानेपर ही गुरुदेव अरने दिष्यको चौथा साधन (जो विवेकादि चार और अवणादि तीनके अनन्तर आठवाँ है) वेदान्तके बास्त्योंका ज्ञान करते हैं। तत् पद और लं पदका शोधन अर्थके प्रतिपादनद्वारा बताते हैं। जब गुरु शिष्य अधिकारीको ‘तत्त्वमसि’ (वह ब्रह्म तू आत्मा है—अर्थात् तेरी आत्मा ब्रह्म है) ऐसा वाक्य कहें, तब अधिकारी मुमुक्षु शिष्यको वह ज्ञान-भान हीता है कि ‘अहं ब्रह्मामि’ (मैं—मेरी आत्मा—ब्रह्म ही है)। जैसे किसी देवदत्त-को दिवदत्त ऐसा कहे कि तुम ‘बड़े बुद्धिमान् हो’ तो इस

विवदत्तके बाक्यको सुनते ही देवदत्तको तुरंत ही यह ज्ञान भान हो जायगा कि मैं बड़ा बुद्धिमान् हूँ । (सुधे विवदत्त बुद्धिमान् बताता है, अतः मैं बुद्धिवाला पुरुष हूँ) । इसी प्रकार उपर्युक्त वेदान्तवाक्यके श्रवणसे मुमुक्षु अधिकारी विषयको यह ज्ञान-भान हो जाता है कि मेरी आत्मा ब्रह्मस्वरूप है और इस ज्ञानके शोधनसे आत्मा और परमात्माकी एकता—अर्थात् ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान उसे प्राप्त होता है । यही उसका परम और चरम ध्येय है । इस ध्येयको प्राप्त करके वह कृतकृत्य हो जाता है ।

वेदान्तवाक्य अध्ययन करके गुरुकी शिक्षाके अनुसार अधिकारी मुमुक्षु उस वाक्यके अर्थको अपने आत्मामें गहरी रीतिसे विचारता है । ऐसी विवेकभरी विवेचना करता है—जैसे ब्रह्म तो अधिकारी है और जगत् अध्यस्त है, ब्रह्म द्रष्टा—साक्षी चेतन है और प्रकृतिजन्य संसार दृश्य और जड़ है, ब्रह्म तो साक्षी कृत्य है और सुष्ठु साक्ष और विकारी है । वह, जैसे हंस कीरमें मिले हुए नीरों कीरसे पृथक् कर देता है वैसे ही विवेक-ज्ञान-मननद्वारा और गुरुकी बतायी हुई प्रक्रियासे सत्को अस्तुते, अपने विचारके लोकमें, न्यारे करके दिव्य ज्ञान प्राप्त करता है । वह पहले वेदान्तके उन वाक्योंके अर्थ और रहस्यको विचारता है जो ब्रह्म, जीव, माया और उनके प्रतिपादक पदार्थोंको बताते हैं । यथाप्तर्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म इत्यादि—इनसे ब्रह्मके लक्षणोंका परोक्ष ज्ञान ही हुआ । ऐसे वेदान्तवाक्य ‘अवान्तरवाक्य’ ही कहलते हैं । और ‘तत् त्वम् असि’ (तत्त्वमसि)—इत्यादि वेदान्तवाक्य ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान प्रतिगादन करते हैं, इससे वे ‘महावाक्य’ कहे जाते हैं ।

जिस जिज्ञासुका बहिर्ग साधनों (कर्म और उपासना आदि) से अन्तर्भरण शुद्ध हो गया, उसको अन्तर्ग साधन (अध्ययन, मनन, निदिध्यासन और वेदान्तवाक्योंके संशोधनसे पूर्वी विवेक, वैराग्य, शामादि पद्धत्याति और मुमुक्षुता—साधनचतुर्ण्य) निरन्तर करनेसे दिव्य ज्ञान प्राप्त हो जाता है ।

शम (विषयोंसे मनका रोकना), दम (इन्द्रियोंको

विषयोंसे रोकना), अद्वा (गुरुके बचन और वेदादि सच्चाज्ञामें विश्वासरूपी निश्चय) एवं समाधान (शब्दादि विषयोंसे रोके हुए अन्तःकरणको अव्याप्ति साधनोंमें तथा उनके अनुशारी या उपकारी अभिमानरहितता आदि साधनोंमें निरन्तर लगाना और चिन्तन करना), उपरति (साधनों-सहित वैहिरंग कर्मका त्याग करते हुए विषयोंको विष-समान त्यागना), तितिक्षा (सहनशीलता; सुख-दुःख, गर्भ-सर्दी, भूख-प्यास आदिको सहना, इनसे घबराना नहीं)—ये शमादि छः साधन परस्पर सम्बन्ध रखते हैं—एक दूसरेके सहायक होते हैं । यदि न हों तो हन्दे साधनमें विषय जानना चाहिये । ये छहों एक वर्गमें रहकर एक साधन ही कहते हैं । परन्तु यह बहुत आवश्यक है । मुमुक्षुका यह एक मुख्य साधन है ।

इनके साथ विवेक और वैराग्य ग्रथम और मुमुक्षु (संसारके बन्दनों और अशानस्त्री अध्याससे निवृत्त होकर सत्-चिन्त-आनन्दस्वरूप ब्रह्मकी प्राप्ति हो, ऐसी उक्तट इच्छा या मनकी गहरी लगन) अनन्तर होती रहे और उस तीव्र इच्छासे ब्रह्मप्राप्तिके साधन गुरुसे प्राप्त करे ।

वे साधन अध्ययन, मनन, निदिध्यासन तथा ‘तत्’ पद, ‘तं’ पद आदि वेदान्तवाक्योंका शोधन—जैसा कि ऊपर कहा गया [उपर्युक्त विवेक, वैराग्य, शमादि पद्धत्याति और मुमुक्षुता—इन चारोंको लेकर] आठ ज्ञानके अन्तर्ग साधन हुए । साधनसम्पन्न मुमुक्षु जिज्ञासु अधिकारीको गुरुदेव वेदान्तके महावाक्योंका ज्ञान प्राप्त करते हैं । उस अधिकारीका निर्मल शुद्ध अन्तःकरण उन वाक्योंसे पवित्र अद्वैत ब्रह्मज्ञान-को पाकर अपरोक्षानुभवमें प्रवेश करके ब्रह्मानन्दको पाता है । परमानन्दकी प्राप्ति ही सब साधनोंका मुख्य प्रयोजन और ध्येय है । उस आनन्दकी प्राप्ति प्रभुकृपा और गुरुकृपासे मिल जानेपर ज्ञानसाधनके निरन्तर प्रभावकरे ब्रह्मप्रोक्षानुभव होता है । यह किन्हीं दिव्य आत्माओंको तो शीघ्र थोड़े कालमें ही हो जाता है और वे जीवनसुरक्ष हो जाते हैं—उनके परमांहसति प्राप्त होती है और अन्य शुद्ध आत्माओंको क्रमशः इस जन्ममें या दूसरे जन्ममें अथवा कई-एक जन्मोंमें मिल ही जाती है । अर्थात् उस ज्ञानीकी आत्मा

ब्रह्ममें लीन हो जाती है, उसका फिर जन्म नहीं होता; वह तो सत्-चित्-आनन्दस्वरूप ब्रह्म या ब्रह्मीभूत अवस्थाको पहुँच जाता है। वैष, हो गया निरञ्जन निराकार उपासना-साधनाका महोदय सुफल। अन्य साधनोंसे भी उत्तम

गति प्राप्त होती है, परन्तु उनसे जन्मान्तर नहीं मिटता।

यह विषय महान् और बहुत गम्भीर है। इसमें बहुत कुछ कहना शेष है। परन्तु वहाँ न स्थान है और न समय ही इतना है कि विस्तारसे लिखा जाय।

इस युगकी साधना

(लेखक—श्रीसुत नलिनीकान्त गुप्त)

सबसे प्रथम और आदि सत्य है जड—जड जगत्, जिसका अंश हमारा यह स्थूलजगतीर है। इस क्षेत्रमें केवल जड शक्तिकी क्रिया होती है, स्थूल-भौतिक रासायनिक क्रिया और प्रतिक्रिया होती है।

परन्तु स्थूलमें एकमात्र जड ही नहीं है; एक सजीव वस्तु, प्राणवान् सत्ता भी है। देहके अतिरिक्त भी हमारे अंदर हमारा जीवन, हमारा प्राण है। यह प्राण जडका ही एक विशेष धर्म या क्रिया या स्वप्नमात्र नहीं है। इसकी अपनी पृथक् सत्ता भी है; इसका अपना धर्म, कर्म और सार्थकता भी है। जडके समान ही प्राणका भी एक सम्पूर्ण जगत् विद्यमान है और उसकी अंश हमारी प्राणशक्ति है, विश्वजीवनके अंदर ही हमारा जीवन मुला-मिला है। जडके ऊपर दूसरा स्तर यह प्राण है।

प्राणके अतिरिक्त, प्राणके अंदर और ऊपर और एक बहुत है—यह है मन। यह मन प्राणकी ही एक विशेष क्रियामात्र नहीं है, इसकी भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता और सार्थकता है। इसका भी एक सम्पूर्ण लोक है। हमारा मैन इस विश्व-मनका अंश और व्यष्टिरूप है। यह मन है तीसरा स्तर।

यह मन ही अन्तिम वस्तु नहीं है। मनोमय लोकके ऊपर और पीछे और एक लोक है—उसको कभी-कभी विज्ञानमय लोक कहते हैं—हम साधारण तौरपर उसका नाम अध्यात्मचेतनाका लोक रख सकते हैं। यह है चौथा या तुरीय अधिष्ठान।

विश्वसृष्टिका रहस्य यही है कि इस लोकपरम्पराके चिरकालसे वर्तमान रहनेपर भी, इन लोकोंके अनादि, अनन्त, स्नातन होनेपर भी इनका प्राकृत्य हुआ है एकके

बाद एक—इस कमसे। सबसे पहले लोकके अंदर, उसका आश्रय लेकर सृष्टिका अभियान शुरू हुआ और वर्हापर अन्यान्य लोक एकके बाद एक मूर्च्छ हो रहे हैं।

अनेक युगोंतक आरम्भमें केवल जड था—जड-ही-जड था—निर्जीव, प्राणीहीन वस्तुओंका ही समारोह था। उसके अंदर एक दिन प्राण उत्तर आया। इस कारण एक प्रकारका विष्व, रूपान्तर उपस्थित हुआ। सृष्टिके एक अंशमें प्राणके धर्मने जडको अधिकृत, नियन्त्रित किया—जीवकी, प्राणीकी उत्पत्ति हुई। जीवके, प्राणीके अंदर जडका धर्म अब अशुरण नहीं रहा; यह एक बृहत्तर, ऊर्ध्वतर धर्मके द्वारा परिवर्तित हुआ।

इसी प्रकार एक और विपर्यय, विष्व उपस्थित हुआ जब और जड़हाँपर प्राण इतना पुष्ट और परिपक्ष हो गया कि उसके अंदर मनोमय शक्ति अवतरित हुई—फलस्वरूप मनुष्यका आविर्भाव हुआ। मनके धर्मके द्वारा प्राण और देहको घटित, नियन्त्रित करना ही मनुष्यत्वकी साधना हुई।

मनुष्य अपनी मनन-शक्तिके जोरसे अपने जीवनमें मनसे ऊर्ध्वतर, ऊर्ध्वतम शक्तिको उतारकर जीवनको नयी मूर्तिमें ढालनेका प्रयत्न युग-युगसे करता आ रहा है। साधक, शिल्पी, संस्कारक, आदर्श व्रती—सबने अपने-अपने मार्गसे यही साधना की है।

परन्तु वर्तमान समयमें आवश्यकता है पूर्वकालकी युगसन्दियोंकी तरह एक प्रकारके आमूल परिवर्तनकी, विष्वकी—एक नये जगत्को, नये जगत्की शक्तिको नीचे उतारकर एक प्रकारकी नयी सृष्टिके लिये आयोजन करनेकी।

इस कह चुके हैं कि मनके ऊपरका लोक है विज्ञानमय,

अध्यात्मलोक । इसी अध्यात्मलोकको नीचे उतारकर मनोमय लोकमें प्रतिष्ठित करना होगा—अध्यात्मके धर्मके द्वारा मनोमय, प्राणमय और अन्मय स्थितिको गठित, नियन्त्रित करना होगा ।

अध्यात्मलोककी किरण, कण, प्रभा पृथ्वीके मनोमय लोकमें बहुत बार दिखायी पड़ी है, इसमें संदेह नहीं—जहाँ-तहाँ उसने रूप प्रहण करनेकी भी चेष्टा की है । परन्तु वह समूचा लोक अर्थात् उसकी पूर्ण शक्ति चिरस्थायी होकर, पृथ्वीके ऊपर पृथ्वीके अच्छेद्य और स्वाभाविक अङ्गके रूपमें, अभीतक प्रतिष्ठित नहीं हुई है ।

जिस प्रकार पृथ्वीपर उद्भिज्ज समाज, प्राणी-समाज, मानव-समाज विद्यमान है उसी प्रकार मनुष्यके बार चिद्दोका, आध्यात्मिक पुष्ट्रोका समाज—देवसमाज भी वर्तमान रहेगा ।

मनुष्यके जन्म देनेके समयतक प्रकृतिकी अवचेतन साधना चलती रही है । अब मनुष्यके मनोमय पुरुषका आश्रय लेकर प्रकृति सचेतन हो गयी है—प्रकृतिका सचेतन बन्ध होकर मनुष्यको मनुष्यके ऊपर चला जाना होगा, उसे पहुँचना होगा अध्यात्मलोककी अध्यात्म-चेतनामें, उसके अंदर स्थिरपतिष्ठ होकर, उसके अंदर परिपूर्ण होकर उसे नीचे उतार लाना होगा—मनको, प्राणको और देहतकको उसी चेतनाके द्वारा और उसी सत्ताकी ज्योतिके द्वारा अमर बना देना होगा ।

सुषिकी, प्रहृतिकी गति, परिणामिका सम्भवतः यहाँ भी अन्त नहीं हो जायगा—विवर्तनकी धारा सम्भवतः अनन्त है । परन्तु आजकी साधना है एक विशेष युग्मसंबिंधका प्रयास—इसका अर्थ है अपराद्धसे पराद्धमें सुषिका आरोहण—अपराद्धका ऊपर पराद्धके अंदर पहुँच जाना । अवश्यक सुषिकी चेतनाकी गति अन्वकारसे आरम्भ होकर अस्पष्ट प्रकाशके अंदर आयी थी, अब वह गति प्रकाशसे—पूर्ण प्रकाशसे चलकर पूर्ण प्रकाशके भीतरसे हीकर पूर्ण प्रकाशके अंदर उपस्थित होगी ।

अपराद्धमें—देह, प्राण और मनको लिये हुए जो अर्द्ध है उसके अंदर ऊर्ध्वतर प्रतिष्ठान निश्चत्र प्रतिष्ठानको पूर्णरूपसे आयत्त या रूपान्तरित नहीं कर सकता । प्राण जड़को आयत्त करके, नियन्त्रित करके प्राणीके रूपमें परिणत तो हुआ—प्राणीके अंदर प्राणशक्ति प्रधान तो हुई; फिर भी प्राण जड़के आकर्षणको, प्रभावको पूर्णरूपसे अतिकम नहीं कर सका । उसी तरह मनका आविर्भाव होनेपर यह मनुष्य उत्तम हुआ तब मन, प्राण और जड़ देहको आधार तो बनाया, उन्हें नियन्त्रित तो किया; पर स्वयं भी बहुत कुछ उसके द्वारा प्रभावान्वित होकर ही रहा । एक पराद्धम ही जब हम पहुँचते हैं तब नीचेके सभी धर्मोंको पूर्णरूपसे पार कर जाते हैं; तभी ये पूर्णरूपसे ऊपरके धर्मके अधीन होते हैं, ये एकदम रूपान्तरित हो जाते हैं । इसका कारण यह है कि इनकी जो निगूँढ़ सत्य सत्ता है, उसका मूल उस पराद्धकी चेतनामें ही है ।

विना गुरुका साधक

नाव मिली, केवट नहीं कैसे उतारै पार ॥
 कैसे उतारै पार पथिक बिस्वास न आवै ।
 लौ नहीं बैराग यार कैसे कै पावै ॥
 मन में धरै न क्षान, नहीं सतसंगति रहनी ।
 बात करै नहिं कान, प्रीति विन जैसे कहनी ॥
 छुट्टी डगमगी नाहिं, संत को थचन न मानै ।
 मूरख तजै विशेष, चतुर्द अपनी आनै ॥
 पलटू सतगुर शब्द का तमिक न करै विचार ।
 नाव मिली, केवट नहीं कैसे उतारै पार ॥

पञ्चदेवोपासना

(लेखक—०० श्रीहनुमानजी शर्मा)

विष्णुवस्त्रमेवस्य निकलस्याशारीरिणः । साधक्षानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥ १ ॥

(तत्त्वसार)

पूर्वाङ्क

(१) देवपूजासे मनुष्यका कल्याण होता है । सुख, शान्ति और सन्तोष मिलते हैं । उत्तम विचारोंका उदय होता है । शरीरमें अठौकिक शक्ति आती है । स्वभावमें स्वाधीनता बढ़ती है और ब्रह्मकी ओर मन लगता है । देवता ब्रह्मके अंश-प्रसूत हैं । 'पञ्चदेव' ब्रह्मके प्रतिरूप हैं । ब्रह्म अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्तरूप एवं अवशीरी है । ब्रह्मके सामाज्यमें हमारे सूर्य, चन्द्र, अरिन, इन्द्र या भूमण्डल-जैसे अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड हैं और ब्रह्म उनके अधिष्ठाता हैं । वे सर्वगत होने-पर भी जाने नहीं जा सकते । उनको यही जान सकते हैं जो संसारी बन्धनोंसे मुक्त, लोक-व्यवहारोंसे विमुक्त और फलाशाओंसे सर्वथा उन्मुक्त हैं । सामान्य मनुष्योंसे ऐसा हो नहीं सकता । जिसने किसी प्राणी, पदार्थ या देवादिको देखा नहीं वह उतके स्वरूपको हृदयाङ्कित कैरीं कर सकता है ? मान लीजिये कि सीने गौ, कमल, रुपये या राजको कमी देखा नहीं और उससे उनका स्वरूप पूछा जाय तो कैरीं बता सकता है ? यही बात ब्रह्मके सभ्यतमें है । अतएव अमृत ब्रह्मको हृदयङ्गम करनेके लिये मूर्त ब्रह्म 'पञ्चदेव' (विष्णु, शिव, गणेश, सूर्य और शक्ति) की साधना अवश्य ही आवश्यक और श्रेष्ठस्कर है और इसीलिये यहाँ उसका परिचय दिया जाता है ।

(२) 'पञ्चदेव' की साधनामें यह सन्देह हो सकता है कि अन्य देवोंकी अपेक्षा इनका ऐसा प्राधान्य क्यों है । इसके समाधानमें दो उपक्रम उपस्थित करते हैं । एक यह है कि 'पञ्चदेव' पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाशके अधिष्ठाता या तत्त्व हैं और पञ्चतत्त्व ब्रह्मके स्वरूप हैं । अतएव अद्वारीर ब्रह्मकी उपासना संशारीर पञ्चदेवके द्वारा ही सम्पन्न हो सकती है । कफिलतत्त्वमें लिखा है—

आकाशस्याधिष्ठो विष्णुरुपेष्वै महेश्वरी ।

वायोः सूर्यः क्षितेरीशो जीवनस्य गणाधिष्ठः ॥

'विष्णु आकाशके, सूर्य वायुके, शक्ति अग्निकी, गणेश जलके और शिव पृथ्वीके अधिष्ठाता हैं ।'

दूसरा यह है कि व्याकरणके नियमानुसार अन्य देवोंकी अपेक्षा पञ्चदेवके धात्वर्यक नाम ही ऐसे हैं, जिनसे उनका ब्रह्म होना योग्यता होता है । यथा 'विष्णु' (सर्वमें व्याप्त), 'शिव' (कल्याण-कारी), 'गणेश' (विश्वगत सर्वगाणोंके इश्वर), 'सूर्य' (सर्वगत) और 'शक्ति' (सामर्थ्य)—इन नामोंका पूर्ण अर्थ ब्रह्ममें ही घटता है । अतएव अन्यकी अपेक्षा इनकी साधना अधिक हितकर है ।

(३) वेद, पुराण और धर्मशास्त्रोंमें देवपूजाजाका महान् फल लिखा है । इसकी साधनासे ब्रह्मकी उपासना स्वतः हो जाती है । संसारमें देवपूजा स्थायी रखनेके प्रयोजनसे वेद-व्याजीने ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वादिके जुदे-जुदे पुराण निर्भीण किये हैं । उनमें प्रत्येकमें प्रत्येक देवताका प्राधान्य प्रतिपादित किया दै—यथा विष्णुपुराणमें 'विष्णु' का, शिवपुराणमें 'शिव' का, गणेशपुराणमें 'गणेश' का, सूर्यपुराणमें 'सूर्य' का और शक्तिपुराणमें 'शक्ति' का । इन सभीको (अपने-अपने पुराणोंमें) सुष्ठिके पैदा करनेवाले, पालन करनेवाले और संहार करनेवाले युक्तित किया है और इन्हींको ब्रह्म बतलाया है । इसी कारण यजन-यजनके अधिकांश अनुरागी अपनी-अपनी दक्षिके अनुसार कोई ब्रह्म-विष्णु-महेश्वादिको, कोई सूर्य-शक्ति-समीरादिको, कोई राम-कृष्ण-नर्सिंहादिको और कोई भैरव, गणेश या हनुमानजीको पूजते हैं । किसीको भी पूजें, पूजा-उपासना एक ब्रह्मकी ही होती है । क्योंकि जिस प्रकार अनन्त आकाशके अगणित तारों-पर ब्रह्मके प्रत्यक्ष प्रतिरूप सूर्यनारायणका जब प्रकाश पड़ता है तभी वे प्रकाशित होते हैं, यदि न पढ़े तो दीख ही नहीं सकते; उसी प्रकार चराचर सुष्ठिके प्रत्येक प्राणी, पदार्थ और देवादिमें ब्रह्मका ही अंश विद्यमान रहता है, तभी वह असुकासुक माने जाते हैं, यह न हो तो वे दीख ही नहीं सकते । उनमें पञ्चदेव तो ब्रह्मके प्रतिरूप ही हैं । अतएव किसी भी प्राणी, पदार्थ या देवादिकी साधना, उपासना या आराधनामें ब्रह्मका ही व्याप देता है और वही उनके इष्टदेवमें प्रविष्ट रहकर अभीष्ट फल देते हैं । पञ्चदेवकी उपासना तो उनकी है ही । अस्तु,

(४) देवता कौन और कितने हैं, इसमें मतभेद है। इस विषयके प्राप्त प्रमाण नीचे दिये जाते हैं। (१) वेदान्ती केवल ब्रह्मको ही देवता मानते हैं। (२) यात्कर्ते दान और दीपन करनेवाले जो 'व्यौः' नामक स्थानमें रहते हैं, उनको देवता बतलाश है। (३) अथवा सुष्ठिमें जो भी प्रकाशमान हैं, वे सब देवता हैं। (४) किंतु क्या मत है कि प्राचीन कालमें सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, अग्नि और तारगणोंसे संसारके अनेक कार्य और उपकार होते देखकर इन्हींको देवता माना गया था। (५) कात्यायनके कथनानुसार जिनकी कथा या वाक्य हैं, वे अधृष्टि हैं; जिनका विषय उन्हींसे जात होता है, वे देवता हैं और अधृष्टि, छन्द तथा देवता—इनसे वेद बने हैं। संख्याकी विष्टिसे (६) वेदान्तके अनुसार केवल एक ब्रह्म है। (७) जगता प्रकृति और पुरुष दो जानती है। (८) पुराणोंमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश—तीन हैं। (९) ऋग्वेदमें इन्द्र, मित्र, वरुण और वहि—चार विष्वे हैं। (१०) आद्विकतत्त्वमें विष्णु, सूर्य, गणेश, सूर्य और शक्ति—ये पाँच ब्रह्माये हैं। (११) ब्रह्मवैवर्तके मतानुसार गणेश, महेश, दिनेश, वहि, विष्णु और उमा—ये छः हैं। (१२) शतपथमें ८ वसु, ११ इन्द्र, १२ सूर्य, १ इन्द्र और १ प्रजापति—ये ३३ हैं। (१३) ऋग्वेदमें एक जगह ११ स्वर्गके, ११ पूर्वीके और ११ अन्तरिक्षके—सब ३३ देवता लिखे हैं। (१४) दूसरी जगह अग्नि, चानु, इन्द्र और पित्रादि ३३ देवता और सरस्वती, सूर्यता, इला और इन्द्राणी आदि १२ देवियोंके नाम दिये हैं। और (१५) तीसरी जगह तीन हजार, तीन सौ उन्नालीस देवता लिखे हैं। (१६) ऐतरेयमें ३३ 'स्त्रोमप' और ३३ 'अस्त्रोमप'—कुल ६६ ब्रह्माये हैं। उनमें १ इन्द्र, १ प्रजापति, ८ वसु, ११ इन्द्र और १२ आदित्य 'स्त्रोमप' (अमृत धीनेवाले) हैं और ११ प्रयाज, ११ अनुयाज और ११ उपयाज 'अस्त्रोमप' (अमृतेतर पैद धीनेवाले) हैं। उनकी तृतीय गन्ध-पुष्पादिसे

(१, ६) 'एकमेव ब्रह्म' (वेदान्त)। (२) दानादा दानपादादा चुक्षानगो भवति (यात्क. ० ७। १५)। (९) इन्द्र मित्र वरुणमपि०(ऋग्-मन्त्र)। (१०) आदित्य गणतार्थ च० (आहिक०)। (११) गणेश च दिनेश च० (ब्रह्मवैवर्तपुराण)। (१२) कथमेते प्रयत्निशस्तित्यै वसत एकदश रुद्र दाहशादिद्या एकशिशृ, इन्द्रश प्रजापतिश्च त्रयस्तिंशत्। (शतपथ)। (१३) ये देवासी दिव्येकादश स्य। अप्सुभितो महिनैकादश स्य ते देवासी यज्ञमिमं जुषष्वम् (ऋक् १। १२०। १। १३। १। १)। (१५) व्रीणि सहस्राणि

और इनकी यज्ञादिके पश्चात्तोंसे होती है। (१७) अग्निपुराणके अनुसार १२९ देवी और (१८) आदित्यपुराणके अनुसार २०० देवता हैं। (१९) हिंदू-संकारमें ३३ करोड़ देवता विख्यात हैं और (२०) पञ्चपुराणमें भी यही संख्या निर्दिष्ट की गयी है। अल्प,

(२१) देवता चाहे एक हों, अनेक हों, तीन हों, तैतीस हों या ३३ करोड़ और अर्ध-खत्वे हों—इमरे उपास्य 'पञ्चदेव' प्रसिद्ध हैं और शाश्वतोंमें इनके नाम निर्दिष्ट किये गये हैं। 'उपासनातत्त्व' (परिच्छेद ३) में लिखा है—

आदित्यं गणनाथं च देवीं रुद्रं च केशवम् ।
पञ्चदेवतमित्युक्तं सर्वकर्मसु पञ्चयत् ॥
एवं यो भजते विष्णुं रुद्रं दुर्गं गणविष्वम् ।
भास्करं च विद्या नित्यं स कदाचिन्न सीदिति ॥

'आदित्य, गणनाथ, देवी, रुद्र और विष्णु—ये पाँच देव सब कामोंमें पूजने योग्य हैं। जो विष्णु, शिव, गणेश, सूर्य और शक्तिकी आदरवृद्धिसे आराधना करते हैं वे कभी हीन नहीं होते अर्थात् उनके यश-पुण्य और नाम सदैव रहते हैं।'

अतएव इनकी पूजा उसी तरह आवश्यक है, जिस तरह ब्राह्मणोंका नित्यस्नान है। यदि यह न की जाय तो प्रत्यक्ष्य होता है। पूजा नित्य, नैयितिक और काम्य—तीन प्रकारकी होती है—(१) जो प्रतीदिन की जाय, वह 'नित्य'; (२) पुरजन्म या ब्रतोत्सवादिमें की जाय, वह 'नैयितिक' और (३) सुख-सम्पत्ति एवं सन्तान आदिकी सम्प्राप्ति अथवा आपत्तिवारणार्थ की जाय, वह 'काम्य' होती है। ये सब (१) 'पञ्चोपचार' (२) 'दशोपचार' (३) 'योडशोपचार' (४)

वीणि शता त्रिशत्त देवा तव चापयन् । (ऋक् ३। १। ९। ९)। (२०) सतारा विद्याः सर्वे स्तानो त्वानां गणैः सह । वैलोक्ये से चक्रिंशालोर्यित्यग्न्यनदासवन् ॥ (पञ्चोत्तर०)

(१) पञ्चोपचार—गन्ध, पुण्य, धूप, दीप और नैवेद्य। (२) दशोपचार—उत्तर ५ के सिवा पाण, अर्घ्य, आपत्ति, मधुपक्षी और पुनराचमन।

(३) योडशोपचार—आवाहन, आसन, पाण, अर्घ्य आचमन, स्नान, वल, (यजोपवीत) गन्ध, अक्षत, पुण्य, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन, ताम्बून और दक्षिण।

(४) अष्टादशोपचार—योडशोपचारके सिवा स्वागत और आभूषण।

‘अष्टादशोपचार’ (५) ‘षट्क्रिंशदुपचार’ (६) ‘चतुः-षष्ठ्युपचार’ (७) ‘राजोपचार’ (८) ‘आवरण’ और (९) ‘मानसोपचार’ आदि यथालब्ध और वयोर्चित उपचारोंसे सम्पन्न होती हैं। इन सबमें गणेशापूजन अनिवार्य है। ‘आहिकतत्त्व’ में लिखा है—

देवताद्वै यदा सोहाद् गणेशो न च पूज्यते ।
तदा पूजाकलं हन्ति विघ्राजो गणपतिः ॥ १ ॥

‘देवपूजामें अशानवश गणपति-पूजन न किया जाय तो विघ्राज गणेशाजी उसका पूजापत्र हर लेते हैं ।’ अस्तु,

(५) **षट्क्रिंशदुपचार**—आसन, अभ्यङ्गन, उर्द्धतन, निलधन, सम्माँजन, संपिःस्नपन, आशाहन, पाष्ठ, अर्थ, आचमन, स्नान, मधुपर्क, पुनराचमन, व्योपवृत्त-वस्त्र, अलङ्घार, गम्भ, पुष्प, धूम, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, पुष्पमाला, अनुलेपन, शशा, चामर, व्यवर्जन, आदर्श, नमस्कार, गायत्र, वादन, नर्तन, स्तुतिगान, इथन, प्रदर्शिणा, दंतकाष्ठ और विस्तैन ।

(६) **चतुः-षष्ठ्युपचार**—(शक्तिपूजामें) पाच, अर्ध, आसन, तेलाभ्यङ्ग, मज्जनशालाप्रवेश, पांछोपवेशन, दिल्लस्नानीय, उर्द्धतन, उपोदकस्नान, नीर्यांमिषेन, भूतवत्क्षयरिमाँजन, अरुणदुखलघारण, अरुणोत्तरीयधारण, आलोपणप्रवेश, पांछोपवेशन, चन्दनादि दित्य-गन्धानुलेपन, नामार्चित्युपार्श्वण, भूषणघडण, नवमणिमुकुटधारण, चन्दनकल, सीमन्तसिन्दूर, तिलकल, कालाजन, कर्णपाली, नामान-भण, अवरथावक, द्वयनमूषण, कनकचित्पदक, गदापदक, मुकुटवली, पद्मावली, देवचट्टदक, केयुरचतुष्टय, वलयाकली, ऋग्मिकावली, वाञ्छामानकटिसूत, शोभारूपाभरण, पाटकटक, रलत्तुर, पाटक्कुलीवक, चार दार्थोंसे क्रमबद्ध: अद्वृश, पाश, पुण्ड्रेत्तुचप और पुष्पवापका धारण, मणिक्यपद्मुकुव, सिंशासनरोहण, पर्णद्वृपवेशन, अमृतासवसेवन, आचमनीय, कर्पूरवटिता, आनन्दोलतासिलासहस्र, मङ्गलांतिक, स्वेतचट्ट, चामरदय, दर्पण, तालचून्त, गन्य, पुष्प, धूम, दीप, नैवेद्य, आचमन, पुनराचमन, ताम्बूल और बन्दन ।

(७) **राजोपचार**—पोदशोपचारके सिवा छव, चामर, पादुका, दीपें ।

(८) **आवरण**—कामनाविशेष या स्वापन-व्रतोत्तरवादिमें पूजा-पद्धतिके अनुसार उपुत्तुके उपचारोंका कई बार उपयोग होनेसे होता है ।

(९) **मानसोपचार**—इसमें स्नान-गम्भादि सभी साधनोंका केवल ध्यानमात्रसे उपयोग किया जाता है, ग्रत्यक्ष वस्तुकी आवश्यकता नहीं होती। आगे ‘पूजाविधि’ दं गयी है, उसके अनुसार किसी भी देवताद्वारा पूजा की जा सकती है ।

(६) भारतमें पञ्चदेवोंकी उपासना कितनी अधिक व्यापक है, इतका विचार किया जाय तो मालूम हो सकता है कि इनकी सामूहिक साधना करनेवाले, पुथक्-पुथक् उपासना करनेवाले अथवा इनमें किसी एकहीकी पूजा करनेवाले अनेक साधक हैं और वे अपनी पूजा पद्धतिके अनुसार अचंन करते हैं। उनके विषयमें ‘तत्त्वसार’ में लिखा है—

शैवानि गाणपत्यानि शाकानि वैष्णवानि च ।
साधनानि च सौराणि चान्यानि यानि क्वानि च ॥

[जिस प्रकार ब्रह्मके उपासक ‘ब्राह्म’ होते हैं] उसी प्रकार विष्णुके उपासक ‘वैष्णव’, शिवके उपासक ‘शैव’, गणपतिके उपासक ‘गाणपत्य’, सूर्यके उपासक ‘सौर’ और शक्तिके उपासक ‘शक्ति’ होते हैं। इनमें शैव, वैष्णव और शास्त्र विदेव विख्यात हैं। भारतमें इन सम्प्रदायोंके सर्वत्र मन्दिर हैं। उनमें कई मन्दिर बड़े ही भव्य, विशाल, विश्वमोहक, सुदर्शनीय या साधारण भी हैं और उनमें सिद्धि-साधना या दर्शनार्थ अगणित नर-नारी प्रतिदिन जाते हैं। उनके सिवा सौकड़ों साधक अपने मकानमें या बड़ुएंमें भी भगवानकी मूर्ति रखते और वयोर्चित विधिसे पूजते हैं ।

(७) उपर्युक्त पाँचों सम्प्रदायोंके सुविशाल या साधारण मन्दिरोंमें जगादीश, दारकार्षीश, बुद्धगया, लक्ष्मण-बाला और गोविन्ददेवादि ‘विष्णु’ के; रामभर, कालेश्वर, विश्वनाथ, सोमनाथ और पशुपतिनाथादि ‘शिव’ के; चतुर्वर्णविनायक, साक्षी विनायक, गढगणेश, गणपति और गणराजादि ‘गणेश’ के; त्रिमुखनदांप, अरुणादित्य, सूर्यनारायण, लोकमणि और द्वादशादित्यादि ‘सूर्य’ के; तथा ज्यालाजी, कालीजी, अचूर्णा, कामारुप्या, मीनाक्षी और विन्ध्यधातिनी आदि ‘शक्ति’ के कई एक मन्दिर (मूर्तियाँ या विग्रह) विशेष विख्यात हैं। और उनके दर्शनार्थ भारत-के प्रत्येक प्रान्तसे अगणित यात्री जाते हैं। स्मरण रहे कि जिस प्रकार ये मन्दिर अद्वितीय हैं उसी प्रकार इनके साधन-समारोह, पूजा-विधान या भोगरागादिके आयोजन भी अद्वितीय हैं। इन मन्दिरोंमें या सदृश्यहस्तोंके धरोंमें आमलक-सम शालग्रामजी-जैसे छोटे और भूधराकार हन्मानजी-जैसे बड़े अगणित देव प्रतिदिन पूजे जाते हैं। उनमें चाहे मैरव, भवानी, शीतला आदि हों; चाहे शिव, गणेश, दर्यादि हों और चाहे गोविन्द, मुकुन्द, लक्ष्मीनारायणादि हों; सब उसी ब्रह्मकी सत्ता हैं और पञ्चदेवके ही रूपान्तर या नामान्तर हैं। अतः

साधकोंको चाहिये कि आगे दी हुई पूजाविधिके अनुसार पञ्चदेवकी—आमुदायिक या पृथक्-नृथक्—अथवा जो इष्ट हो, उनकी पूजा करें और उनके अनन्य भक्त हो जायें।

पराङ्म

(१) पञ्चदेवस्थान—

यदा तु मध्ये गोकिन्द्रमेशान्यां शाङ्करं यजेत् ।
आग्नेयां गणानाथं च नैर्कृत्यां तपनं तथा ॥ १ ॥
वायव्यामतिकाञ्चैव यजेत्तिर्थं समाप्ततः ।
यदा तु शङ्करं मध्ये गेशान्यां शीपतिं यजेत् ॥ २ ॥
आग्नेयां च तथा हंसं नैर्कृत्यां पार्वतीसुतम् ।
वायव्यां च सदा पूजया भवानी भक्तवत्सला ॥ ३ ॥
हेमर्मं तु यदा मध्ये गेशान्यामच्छुतं यजेत् ।
आग्नेयां पञ्चवक्त्रं तु नैर्कृत्यो शुभार्णं यजेत् ॥ ४ ॥
वायव्यामतिकाञ्चैव यजेत्तिर्थमतन्त्रितः ।
महत्परं यदा मध्ये गेशान्यां पार्वतीपतिम् ॥ ५ ॥
आग्नेयामेकदन्ते च नैर्कृत्यामच्छुतं तथा ।
वायव्यां पूजयेद्वीर्ये भोगानोक्तभूमिकाम् ॥ ६ ॥
भवानी तु यदा मध्ये गेशान्यां माधवं यजेत् ।
आग्नेयां पार्वतीनाथं नैर्कृत्यो गणानाथकम् ॥ ७ ॥
प्रधोतनं तु वायव्यामाचार्यस्तु प्रपूजयेत् ॥ ८ ॥

* 'पञ्चदेव' के पूजनमें इष्टदेवको मध्यस्थ करके शेषको नीचेके लिये अनुसार स्थापित कर पूजन करे। (यदि नियम या एकत्र निर्मित विघाह हो तो उनमें इष्टको मध्यस्थ मानकर शेषको यथाक्रम करेन्ता करे) यथा—‘विष्णु’ इष्टदेव हो तो मध्यमे विष्णु, ईशानमें शिव, अग्निमें गणेश, नैऋत्यमें सूर्य और वायव्यमें शक्तिकी स्थापना करके (या चित्रादि हो तो उनमें वेसे मानकर) वही उनको यथाविधि पूजन करें और शेषके लिये नीचेके छोड़कर (१), (२), (३), (४), (५) को देखें। आरम्भमें पञ्चदेवका एक नियम है—आराधक जाहें तो नियमके सामूहिक अथवा पृथक्-पृथक् पूजनमें अपने इष्टदेवको सुगमतासे मध्यमे स्थापन करके लिये उस नियमके अनुसार काठ, कागज, चौंदी या मकरानेके चौकोर ५ डुकडोपर पञ्चदेवकी अलग-अला भूति बतवा ले और उनका यथेष्ट स्थापन करके पूजन करे। नियमके पूजनमें इससे सुविधा होती है और स्थान-गम्भादि नियम भेदे जा सकते हैं। यहलेके पञ्चदेव-उपासक ऐसे ही साधन रखते हैं। अब भी जयपुरमें कागजके ५ में, काठके ८ में, चादीके १०—१५ में और संगमरमर (मकराने) के २०—२५ में बन सकते हैं। चौंदी या मकरानेके समचौरस ५ डुकडे

सा० अ० ५८

(२) पञ्चदेवस्थान—

(१)

सगद्गुच्छकं सकिरीटकुण्डकं सर्पितवर्षं सरसीहेष्ठाम् ।
सहारवक्षः स्थलकोष्टुभित्रियं नमामि विष्णुं शिरसा चतुर्भुजम् ॥

विष्णो रराटमसि विष्णोः भद्रं स्थो विष्णोः स्वरसि
विष्णोद्भुवेऽसि वैष्णवमसि विष्णोवत्वा ॥ (यजु० ५ । २१)

(२)

प्यावेशित्यर्थं महेशं रजतगिरिनिमं चारुचन्द्राचतुर्तं
रत्नाकर्त्त्वोज्ज्वलं परम्पुरगवरभीतिहस्तं प्रसङ्गम् ।
पश्चासीनं समन्ताद् स्तुतमसरगणैव्योप्रकृतिं वसानं
विश्वाच्ये विश्ववन्धं निखिलभयहरं पञ्चवक्त्रं त्रिनेत्रम् ॥

नमस्ते रुद्र मन्त्रव उतो त इष्वे नमः । बाहुभ्यासुत ते
नमः ॥ २ ॥ (यजु० १६ । १)

(३)

भेताङ्गं भेतवलं सितकुसुमगणः पूजितं भेतवल्यः
क्षीरधौर्ये रवदीये सुरवरतिलं रत्नसिंहासनस्थम् ।
दोर्भिः पासाङ्गुशाङ्गज्ञभयवरमतिशयं चन्द्रमौलिं त्रिनेत्रे
ध्यावेच्छान्तर्यम्भीर्यो गणपतिममर्लं श्रीसमेतं प्रसङ्गम् ॥

नमो गणेश्वो गणपतिभ्यश्च वो नमो नमो ब्रातेभ्यो ब्रात-
पतिभ्यश्च वो नमो नमो गृहसेष्यो गृहसपतिभ्यश्च वो नमो नमो
विरुद्धेभ्यो विश्वरूपेभ्यश्च वो नमः ॥ (यजु० १६ । २५)

बनवाकर ५ में विष्णु, शिव, गणेश, सूर्य और दक्षि तथा ४ में
कूल बनवाके उनको समचौरस चाँसठेने रख ले और पूजाके
समय हजारानुसार वैसा बना लें।

वि.	सू.	पू.	वि.	वि.
(२)			(३)	
शि.			गा.	
उ.	*	द.	ग.	
रा.	ग.		प.	स.
पू.		शि.	ग.	पू.
		वि.		
उ.	*	द.	वि.	उ.
			(१)	*
/	प.	शि.	स.	प.
वि.	शि.	पू.	वि.	वि.
(५)			(४)	
शि.			ग.	
उ.	*	द.	प.	
स.	ग.		शि.	वि.

(१)

ध्येयः सदा सवित्रमण्डलमध्यकर्ता
नाशयणः सरसिजासनसज्जिविषः ।
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी
हारी हिरण्यमयवरुचंतशङ्कुचकः ॥

सूर्यरश्मिर्हर्केशः पुरस्तात्सविता ज्योतिरदद्यौ २॥
अजस्तम् । तस्य पृथा प्रसवे याति विद्वान् सम्पद्यत् विद्वा
भुवनानि गोपा ॥ (यजु० १७ । ५८)

(२)

इयामाहीं शाशिशेखरां निजकर्तैर्दीनं च रक्तोपलं
रक्ताक्षं कलशं परं भयहरं संविभृतीं शाश्वतीम् ।
मुक्ताहरलस्तक्योष्ठरतां नेत्रवत्प्रोलासिनीं
ध्यायेतां सुरपूजितां हरवर्धं रक्तारविन्दस्तिताम् ॥
मनसः काममाकूलं वाचः सत्यमदीय । पश्चाताम् रुपं
मक्षस्त रसो यथा: श्रीः अथाना भवि स्वाहा ॥ (यजु० ३० । ५९)

(३) पञ्चदेव-आवाहन—

(४)

आवाहयेतं गम्भोपरि स्थितं
रमाद्वदेहं सुरराजवन्दितम् ।
कंसान्तकं चक्रगदादग्नहस्तं
भजामि देवं वसुदेवसुन्तम् ॥

* 'पञ्चदेवके व्याज' में (१) शङ्क-चक्रवारी, विरीट और
कुण्डलोंपे विश्वपूर्ण, पातामर पहने दुप, द्वृदर कमल-जूसे नेत्रवाले
और वत्रःस्तलमे वत्सालामहित कौस्तुभगणिकों शोभावाले 'विष्णु';
(२) चोरके पर्यंतके प्रभावाले, रक्तमय आभूषणभूषित, उज्ज्वलाङ्,
हाथोंमे मुन्दर सुग-मुदा और परशुबाले, पद्मासनस्थ, देवत्रनिदं,
ध्यानचर्मं धारण करनेवाले, निविलभग्नारा, विश्वाद और विश्ववन्द्य
'शिव'; (३) क्षीरांध्यमे रलमिहामनपर विराजे दुप, शेनाद्र,
ओत्रस्त, वेतपुष्पा दिसे पूजित, देवताओंमे श्रेष्ठ, हाथोंमे भृद्या, अभेय,
कमल और पाता रखनेवाले 'त्रिनेत्र धर्णेश'; (४) पूर्यमण्डलमे
कमलामनपर विराजे दुप, मकराकार कुण्डल, केदूर और किरीटधारी,
सुवर्णानुरुप शरीरवाले और शङ्क-चक्र धारण करनेवाले 'पूर्यनारायण';
तथा (५) लाल कमल, रक्ताकृत्य कलश, वर और अमरमुद्रा धारण
करनेवाली, मुक्ताहरादिसे शोभित, इयामाहीं, द्याकाशेश्वरा और
विनेत्रा 'शक्ति'; इन पञ्चदेवोंका उक्त स्वरूपमे व्याज करें ।

यदि पूर्वोंका प्रवारका चित्र या तृतीया अथवा वाट, चारीं
या मकरानेके सम्बोधरस २ तुकड़ोंमें बने हुए मुद्रानाथ विभ्रह
हो जो उनको सामने रख लें ।

ॐ हृदं विष्णुविंचक्रमे व्रेता निदधे पदम् । समृद्ध-
मत्य पाद्यसुरे स्वाहा ॥ (यजु० ५ । १५)

(५)

एतेहि गौरीश पिनाकपाणे
शशाङ्कमौले वृषभाधिरुद्ध ।
देवाधिदेवेश महेश नित्यं
गृहणं पूजां भगवत्तमस्ते ॥

ॐ नमः शङ्कवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च
मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥ (यजु० १६ । ४६)

(६)

आवाहयेतं गणराजदेवं
रक्तोपलाभासमशीवन्द्यम् ।
विज्ञान्तकं विवहरं गणेशं
भजामि रौद्रं सहितं च मिह्या ॥

ॐ गणानां त्वा गणपतिः २ हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिः
हवामहे निधीयो त्वा निधिपतिः ३ हवामहे त्वां मम ।
आहमजानि गर्भधर्मा त्वमजासि गर्भधर्म् ॥ (यजु० २३ । १७)

(७)

आवाहयेतं शुमणि अहेशं
सत्याश्वाहं द्विभुजं दिनेशम् ।
मिन्दूरवर्णप्रतिमावभासं

भजामि सर्वं कुलवृद्धिहतोः ॥
ॐ आ कृष्णेन रजस्त वर्तमानो निवेशवशमृतं मत्यं च ।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यतः ॥ (यजु० २३ । ४७)

(८)

या श्रीः सर्वं सुकृतिनां भुवनेष्वलक्ष्मीः
पापात्मनां कृतियां हृदयेषु त्रुदिः ।
ऋद्वा सर्वे कुलजनप्रभवस्य लजा ।
तां त्वां तताः सम परिपालय देवि विश्वम् ॥

ॐ अस्ते अस्तिके अम्बालिके न मानयति कश्चन ।
स सप्तप्रधकः सुभद्रिकां कामीलवासिनीम् ॥३

— — — — —

* (१) पञ्चदेव-आवाहन करते ममय अज्ञति वैष्वकर विनश्च-
भावमे कहे कि-हे गुरुद्वारुद, रमादंदेह, इन्द्रवन्दित, कंभारि, चक्र-
वरा और पवारारो 'यसुत्वं यसुत्वं'! आप पथरे ॥ (२)—हे गौरीश, पिनाक-
पाणि, शशाङ्कधर, वृषभासीन, देवाधिदेव 'महेश'! आपको नमस्कार

पूजा-प्रथोग

(१) प्रातस्थाय शुचिभूत्वा सुखातः कृतसन्ध्यादा-
वश्यककर्मा देवमन्दिरं गत्वा द्वारसन्धीं तालत्रयं दद्वा कपाट-
सुद्वधाय, अन्तः प्रविक्ष्य (स्वगते वा देवतमीपे उपवित्र्य)
हस्तीं प्रक्षालय पूजनपात्राणि सम्मूल्यं जलेन प्रक्षालय वस्त्रेण
प्रोष्ठाण च वयस्याने सुस्थापयनि । सुवासितजलपूर्णं कृमं
दक्षिणभागे संस्थाप्य, वामे वाणादाम्, पुरतः गोधण्डपूर्णभूषणानि,
दक्षिणतः शङ्खादीपीये, वामे तु धूपम् अन्यायमिति यज्ञोपव्युत-
सामर्हीं च यथास्थानं संस्थाप्य, आचम्य, प्राणानापात्रम्, मङ्गलो-
आरणं कुर्यात् ।

(२) मङ्गलमन्त्राः—

ॐ स्वस्ति न इन्द्री ब्रह्मश्वाः स्वस्ति तः पूर्ण विश्वेदाः ।
स्वस्ति न ताक्षर्यो अस्तिर्नेति: स्वस्ति तो वृहस्पतिर्दधानु ॥

(क्र० ११४।८९।५)

भद्रं कर्मिः शृणुयाम तेवा भद्रं पद्मेसाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरह्नेत्स्तुष्टुवाऽस्तमन्त्रिभ्यश्चेम देवत्वं यदायुः ॥

(क्र० ११४।८९।६)

नं पवीभिरनुगच्छेम देवाः पुत्रैऽन्नौभिस्त वा हिरुयैः ।
नाकं गृह्ण्यानाः सुकृतस्य लोके तृनीवै एुन्दे अथि रोचने निकः ॥

(यजु० १५।५०)

सुसुखप्रेकदन्तश्च०, भूत्वेतुर्गणात्यक्षो०, विद्यारम्भे विवाहे
च०, युक्तावद्यर्थर०, अभीष्टिसार्थ० इत्याद्यः ।

श्रीलक्ष्मीनाशयाम्भारं नमः, उमासहेषराम्भारं
शक्तीपुरन्दरश्चापां० सातापितृयो० इष्टेवताभ्यो० कुल-
देवताभ्यो० ग्रामदेवताभ्यो० स्थानदेवताभ्यो० ॥११

है । आप पूजन प्रदेश करे ॥ (३)—हे गणराज, लाक कमल-जैवीं
प्रभावाले, सरेवस्थ, विघ्नाशकृ, विघ्नहर, अद्भुत 'गणेश' ! आप
एधरे ॥ (४)—हे ग्रहेश, दिनमणि, सात धौंशेष रथपर आस्तु,
दिमुङ, दिनेश, सिन्दूर-सम प्रभावाले 'मूर्ति' ! आप पधारे ॥ (५) और
हे मृग्नितज्जनापो लक्ष्मी रक्षा आनन्द और पापात्माओंको दानन्दा देने-
वाली तथा विद्वानोंके दृढ़त्वे, शुद्धिया प्रकाश किलानेवाला और
विश्वा पालन करनेवाला 'देवो' ! आप पधारे और मेरी को हुई
पूजा प्रहण करो ॥

देवपूजान्योग के प्रारम्भमें प्रातःकाल उठकर शौचाद्वारे
निवृत्त हो सम्भवादि निवृत्तमें करें और देवताके मन्त्रिरम्भ जाकर
द्वार-सन्धिमें नीन ताली देकर यथात् खोल और प्रवेश करें । (यदि
अपने नीनातमें ही मन्त्रिर हो या देवमूर्ति रखते हों तो वहां देवताके

(३) ततो इस्ते जलमादाय—

ॐ तत्सदिशं सासोक्तमे सामे अमुकपक्षे
अमुकतिथीं अमुकवासरे अमुकनोत्तमोऽमुकमामो
(वर्मा, गुप्तः) एहं यथाग्निलितेपचारब्रह्मीविष्णु (शिव-
गणपति-सूर्य-गति) एतनं करिष्ये—इति सङ्कल्पः; तत्रादौ
कलद्वे—बहुताथ नमः, वर्णानामावाहयामि, सर्वोपचारार्थं
गत्याक्षतपुष्पाणि समर्पयामि—इति गन्धपुष्पादिभिः समूल्यः;
एवं घटास्यगत्यादाय नमः इति घण्टाम्, सर्वदेवेभ्यो नमः
इति च शङ्खं पूर्ववत् समूज्यायपादेषु च गन्धादि क्षिपेत् ।
अत्रैव कार्यादेष्वै—अन्प्रदेवाचार्ये वा—पण्नानं त्वा
इति० 'गणनायम्', इदं विष्णुरिति॑ 'विष्णुम्', नमः शम्भवायेति॑
'शिवम्', आ हृष्णेनेति॑ 'सूर्यम्', अस्ये अस्त्रिके० इति॑ 'शक्तिम्'
च पूजोपचारैः पूजयेत् ।

(४) ततोऽन्यासं कुर्यात् ।

ॐ तत्सदेवयादि० अमुकशमर्हैं पञ्चदेवपूजार्थे
(तन्मध्ये अमुकेदैवदैवज्ञार्थे अन्यदेवाचार्ये वा) अङ्ग-
न्यासं करिष्ये । ॐ सद्वक्षशीर्यो० इति वामकरे ।
ॐ पुरुष एवेद० इति दक्षिणकरे । ॐ एतावानस्य इति
वामजानुषि । तस्माद्याशात० इति दक्षिणजानुनि । तस्माद्याशात्
सर्वहुत ऋचः० इति वामकव्याम् । तस्माद्याशा० इति दक्षिणकव्याम् । तं यज्ञं० इति नाभी० । यतुष्टुपं यदधुः० इति
हृदये । शास्त्रणोऽस्य० इति वामकुक्षौ । चन्द्रमा मनसो० इति
दक्षिणकुक्षौ । नाभम्या० इति कण्ठे । यत्पुरुषेण० इति वर्षे ।
सप्तस्यायम्० इत्यक्षणो० । यज्ञेन यज्ञ० इति मूर्ति॑ । ततः
पूजा समाप्तेत् ॥

— — — — —
ममप उपासन तीक्ष्णैर् । दाय धोरे, पूजनके पांचों भाजे, जलसे
पूजार वस्त्रमें नाक भर ले और वयस्यान रख दें । सुगन्धितुक
जलपूर्णं कुम्भ दाहिनो तरफ, धूप और पण्टानाथी तरफ, गन्ध, पुण्य,
भर्त्य एवं जामूला मननें, और शैय वयोचित आनंदपर रखके
आचमन करें और प्राणायाम करके मङ्गलमन्त्रोंका उच्चारण करें ।
मङ्गलमन्त्रोंमें 'स्वस्ति न श्नोः' 'भद्रं वर्णामः' 'ते एतोऽभः'
मुख्य हैं । इनके निवाः गुमुखेकदन्तश्च० आदिसे गणेशसरण
बरके उपर्युक्त देवोंको नमस्कार करें ।

* पिर हाप्तमें जल लेकर वर्तमान मास, पञ्च, तिथि, दार और अपना
गोत्र सहित नाम उच्चारण करके पञ्चदेव या उनमें किसी एक देव अथवा
भूत्र, भवानी, गङ्गा, हनुमान, आदि अन्य देवमें जिसका पूजन धरता

संसार-समुद्रसे उत्तीर्ण होनेकी हङ्गावाले पुरुषको भगवान्
पुरुषोत्तमकी लीलाओंके कथामृतसेवनके सिवा अन्य कोई
भी पूर्व (पर उतारनेकी नौका) नहीं है ।

(२) कीर्तन-भक्ति

भगवान्‌की मङ्गलमय लीलाओंके महत्वसूचक चरित्रोंका
कीर्तन अर्थात् भगवचरित्रोंकी कथाओंका पाठ अथवा
भगवान्‌के नामोंका कीर्तन और जप आदि 'कीर्तन-भक्ति' है ।

भक्तिके अङ्गोंमें श्रवण, कीर्तन और स्मरण—ये तीन अङ्ग
मुख्य हैं—

तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीधरः ।

श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मरत्वश्चेष्टताभयम् ॥

(श्रीमद्भा० २।६।५)

इन तीनोंमें भी कीर्तन प्रधान है । इसका तात्पर्य श्रवण और स्मरणकी न्यूनता बतानेका नहीं, किन्तु बात यह है कि श्रवण और स्मरणमें चित्तकी एकाग्रताका होना परमावश्यक है । चित्तकी एकाग्रता विना श्रवण और स्मरण (अथात्) यथावत् नहीं हो सकता, परन्तु नाम-कीर्तनके विषयमें तो यहाँतक कहा गया है—

अज्ञानादध्वा ज्ञानादुत्तमश्वेकनाम यद् ।

सद्गीर्तितमधं पुंसो द्वेदेशी अथानलः ॥

(श्रीमद्भा० ६।२।१८)

'अनजानमें अथवा जानमें उत्तमश्वेक भगवान्‌का नाम-
कीर्तन करनेवाले पुरुषके पाप तत्काल वैसे ही नष्ट हो जाते
हैं, जैसे अग्निसे हैंवन ।' इसीसे कीर्तन-भक्तिको प्रधानता दी जाती है । कीर्तन-भक्तिद्वारा परा भक्ति प्राप्त होती है । श्रीशुकदेवजीने कहा है—

दूर्यं हरेभ्यवतो स्विरावत्तर-

वीर्योणि बालचरितानि च शन्तमानि ।

अन्यत्र चेह च श्रुतानि गुणन्मनुष्यो

भक्तिं परां परमहेतुमती लभेत ॥

(श्रीमद्भा० ११।३१।२८)

'हे राजन् ! जो मनुष्य इस प्रकार यहाँ (भागवतमें)
तथा अन्यथा पुराण-शिरिदासादिमें वर्णन किये गये भगवान्
श्रीकृष्णके मङ्गलमय बालचरित एवं अवतारोंके पराक्रम-
सूचक अन्य चरित्रोंका कीर्तन करता है, वह परमहंस-तातिको
देनेवाले भगवान्‌में परा भक्ति प्राप्त करता है ।'

कीर्तन-भक्तिका महत्व श्रीमद्भागवतके अनेक प्रसङ्गोंमें
बताया गया है । वेदव्यासजीके यह पूछनेपर कि मेरेद्वारा
वेदोंका विस्तार, वेदान्तदर्शन और महाभारत एवं पुराणादिकी
रचना किये जानेपर भी मेरा चित्त अकृतार्थकी भाँति न्यौ
असन्तुष्ट है, मुझमें क्या न्यूनता है, जिससे मुझे शान्ति नहीं
मिलती, देवर्षि नारदजीने कहा है—

भवतानुदितप्रायं यज्ञो भरावतोऽमलम् ।

यैतैवासौ न तुष्येत मन्ये तदर्शनं खिलम् ॥

(श्रीमद्भा० १।५।८)

'आपने प्रायः भगवान्‌के यशका कीर्तन नहीं किया ।
वह जान, जिससे भगवान् सन्तुष्ट न हो, न्यून ही है अर्थात्
आपकी अशान्तिका कारण एकमात्र भगवान्‌के गुणानुबादका
अमाव ही है' क्योंकि—

इदं हि उंसस्तपसः श्रुतस्य वा

स्तिष्ठत्य सूक्ष्मस्य च तुद्दिदत्त्वयोः ।

अविच्छ्युतोऽथं कविभिन्नरूपितोः

यदुत्तमस्तोकगुणानुवर्णनम् ॥

(श्रीमद्भा० १।५।२२)

'तपका, शाखोंके श्रवणका, स्तिष्ठ अर्थात् यशादिविहित
कमोंका, सूक्त अर्थात् अच्छी प्रकारकी वाक्यरचनाके शानका
और दान आदिका अविच्छ्युत अर्थ (परम फल) कवियोंने
यही निरूपण किया है कि उत्तमश्वेक भगवान्‌के गुणोंका
कीर्तन किया जाय ।'

कीर्तन-भक्तिके भी तीन भेद हैं—भगवान्‌की लीलाओंका,
गुणोंका और नामोंका कीर्तन । इन तीनोंमें नाम-कीर्तन
मुख्य है । भगवद्वाम-कीर्तन केवल साधकोंके ही नहीं, किन्तु
समाधिप्राप्त श्रुदान्तकरण निष्काम योगीजीनोंके लिये भी
परमावश्यक कहा गया है ।

एतक्षिर्विद्यानानामिच्छतामकुतोभवम् ।

योगिनो चूष विणीहं इर्मोभानुकीर्तनम् ॥

(श्रीमद्भा० २।१।११)

'हे राजन् ! जो दुःखरूप इस संसारसे घिरक हो गये हैं
और निर्भय होना चाहते हैं, उन योगीजीनोंके लिये एक-
मात्र भगवान् हरिके नामोंका कीर्तन ही सारभूत निर्णय
किया गया है ।'

ब्रह्मजीने देवर्षि नारदजीसे कहा है—

यस्यावतारामुणकमीविद्वन्नानि
नामानि येऽसुविगमे विवशा मृणमिति ।

ते नैकजन्मप्रशमलं सहस्रैव दिवा

संवान्ध्यपादृतमूर्तं तमजं प्रपये ॥

(श्रीमद्भा० ३।१०।१५)

‘जिन भगवान्के अवतारोंके गुण और कर्मोंके सूचक देवकीनन्दन, कंसनिकन्दन, कालियमर्दन, भक्तवत्सल और गोवर्धनधारी हित्यादि नामोंको प्राणान्तके समय विवश होकर भी जो पुरुष उच्चारण करते हैं, उनके अनेक जन्म-जन्मान्तरोंके पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं । वे खुले हुए मोक्षद्वारमें सिथे चले जाते हैं । ऐसे भगवान्की शरणमें मैं प्राप्त होता हूँ ।’

सभी प्रकारके पापोंके प्रायश्चित्तके लिये तो भगवान्का नाम-कीर्तन सर्वोपरि है, अजामिलोपारव्यानमें यमदूतोंके प्रति भगवान्के पापदोका कथन है—

स्तेनः सुरापो मिश्रभृगवद्वा गुह्यतप्यगः ।

स्त्रीराजपिण्डोहन्ता ये च पातकिनोऽपरे ॥

सर्वेषामप्यधबताभिदमेव सुनिष्ठतम् ।

नामव्याहरणं विष्णोर्यतसद्विविष्या भृतिः ॥

(श्रीमद्भा० ६।२।१०-१०)

‘भगवान्का नाम-कीर्तन श्रद्धा-भक्तिसे किया जाय उसका तो कहना ही क्या, किन्तु अवशादिसे भी नाम ले लिया जाय तो वह सब पापोंको हर लेता है ।’

साङ्केतिकं पारिहास्यं वा स्तोमं हेतुनमेव वा ।

वैकुण्ठनाभग्रहणमरीषाघहरं विदुः ॥

पतिवः सखलितो भावः संदृष्टसप्त आहृतः ।

हरिस्तिपवशेनाह पुमार्जाहृति यावत्नामः ॥

(श्रीमद्भा० ६।२।१५-१५)

संकेतसे, हँसिसे, गानके आलाएको पूरा करनेके लिये, अवहेलनासे किसी भी प्रकारसे लिया गया भगवान्का नाम सब पापोंका हरनेवाला है । बवडाकर गिरा हुआ, मार्गमें ढोकर खाकर पड़ा हुआ, अङ्ग-भङ्ग हुआ, सर्व आदिसे डसा हुआ, ज्वरादिसे सन्तप्त और धायल मनुष्य विवश होकर भी यदि ‘हरि’ पुकार उठता है तो वह यतनाओंको नहीं भोगता ।’

कलियुगमें तो केवल भगवान्का नाम-कीर्तन ही मुख्य है—

कलेदेव्यमिदे गतजस्ति शोको महाम्युणः ।

कीर्तनादेव कृष्णस्य सुक्तसङ्गः परं ब्रजेत् ॥

हृते यद्यथायतो विष्णु व्रेतार्यां यजतो मख्यः ।

द्वापरे परिचर्यार्था कलौ तद्विकीर्तनान् ॥

(श्रीमद्भा० १२।३।५१-५२)

‘हे राजन् ! कलियुग यद्यपि सब दोषोंसे भरा हुआ रह जाना है, फिर भी इसमें एक बड़ा भारी गुण यह है कि भगवान् श्रीकृष्णके नाम-कीर्तनमात्रसे ही पुरुष मुक्तसङ्ग होकर परमपदके प्राप्त हो जाता है । सल्युगमें जो फल भगवान्के ध्यानद्वारा, व्रेतामें जो फल यशादिके यजनद्वारा और द्वापरमें जो फल भगवान्की पूजाके द्वारा प्राप्त होता है, वही फल कलिकालमें केवल हरि भगवान्के कीर्तनमात्रसे प्राप्त हो जाता है अर्थात् अन्य युगोंमें ध्यान, यश और पूजा आदिकी साधनाके लिये अत्यन्त दुष्कर साधन अपेक्षणीय है, किन्तु कलियुगमें केवल हरि-कीर्तनमात्रसे ही बेड़ा पार हो जाता है ।’

नाम-कीर्तनमें नामके अपराधोंसे बचना परमावश्यक है । नामके अपराधोंमें दो अपराध मुख्य हैं । एक तो भगवान्के नामके भरोसेपर यह समझकर कि नाम-कीर्तनसे पाप तो सब नष्ट हो ही जायेगे, पाप करना । इस अपराधकी शुद्धि यमनियमादिके साधनद्वारा भी नहीं हो सकती ।

नामो बलाद्यस्य हि पापबुद्धि—

न विचाते तत्य यमैर्हि शुद्धिः ।

और दूसरा अपराध है शास्त्रोक्त नाम-माहात्म्यको केवल प्रशंसात्मक समझना । जो ऐसा समझते हैं वे अवश्य ही नरकगमी होते हैं । कहा है—

अर्थवादं हरेनामिन सम्भावयति यो नरः ।

स पापिणो मनुष्याणां निरये पतति ध्रुवशः ॥

(३) सरण-भक्ति

भगवान्के प्रभावशाली नाम, रूप, सुण और लीला आदिके किये गये कथामृतके अवण अथवा कीर्तनका मनन करना और भगवान्की लोकोत्तर लावण्यमयी श्रीमूर्तिका ध्यान करना सरण-भक्ति है । सरण-भक्तिको भी परा भक्ति-का साधन बताया गया है—

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः

क्षिणोत्प्रभद्विणि शमं तनोति च ।

सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं

ज्ञानं च विज्ञानविशयगुक्तम् ॥

(श्रीमद्भा० १२।१२।५४)

‘भगवान् श्रीकृष्णके चरणारविन्दोका स्मरण (ध्यान) समग्र अमङ्गलोंका नाश और शान्तिका विस्तार करता है, एवं सत्त्वकी शुद्धि, परमात्माकी भक्ति और वैराग्यसहित विकानका विस्तार करता है।’

अन्तःकरण-शुद्धिका सर्वोपरि साधन भगवत्-स्मरण (ध्यान) ही है। श्रीनुकेदेवजीने कहा है—

विद्यातपःप्राणनिरोपमैत्री-
तीर्थयिषेकवत्तदानजप्त्यः ।
नारथन्तशुद्धिं लभतेऽन्तरात्मा
यथा हृदिस्थे भगवत्यनन्ते ॥
(श्रीमद्भा० १२।३।४८)

‘विद्वा (शास्त्र-अध्ययन), तप (अनन्दान आदि), प्राणायामादि योगिकाया, मैत्री (अहिंसा आदि), तीर्थस्थान, व्रत (एकादशी आदि), दान, जप आदि से अन्तःकरणकी वैसी शुद्धि नहीं होती है, जैसी अनन्त भगवान् हरिके हृदय में स्थापित करनेमें होती है।’

गीताजीमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण आशा करते हैं—
ये तु सर्वाणि कर्मणि भवि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त दपासते ॥
तैषामहं समुद्दतो मृश्युसंसारागशत् ।
भवामि नविरत्यार्थं मरुआवेशितचेतसम् ॥
(१२।६०७)

जानीजनोंकी अव्यक्तोपासनाको अधिक दुःसाध्य बताकर भगवान् कहते हैं—कि नहे पार्थ ! जो मेरे परायण रहनेवाले सगुणोपासक भक्तजन अपने संपूर्ण कर्मोंको मुक्ष सगुणरूप वासुदेवमें अर्पण करके अनन्यभक्तियोगके द्वारा मेरा ध्यान करते हैं, उन सुखमें चित्त लगानेवाले भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसारसमुद्रसे पार करनेवाला होता हूँ ।

भगवान्का स्मरण द्वेष, भय आदि भावोंसे भी करनेसे सारुप्य और सामुद्ध्य मुक्ति प्राप्त होती है। देवर्षि नारदजीने कहा है—

वरेण यं नृपतयः शिशुपालपौष्टि-
शाल्वाद्यो गतिक्षिलासाविलोकनादैः ।
ध्यायन्त शाङ्कनथियः शयनासनदौ
वस्त्राभ्यमापुरनुरुक्तधियोः पुनः किम् ॥
(श्रीमद्भा० ११।५।४८)

‘शिशुपाल, पौष्टि और शाल्व आदि राजागण सोते-बैठते और खाते-पीते समय सर्वदा भगवान् श्रीकृष्णकी गमन और चित्तवन आदि चेष्ठाओंका वैरभावसे भी चिन्तन करनेसे भगवान्के साम्यको प्राप्त हो गये। तब भगवान्में एकान्त अनुरक्त रहनेवाले भक्तोंकी तो बात ही क्या है—वे तो जीवन्मुक्त ही हैं।’

भगवान्के श्रीविग्रहके ध्यानका प्रकार श्रीमद्भागवतमें अनेक प्रसङ्गोंपर बहु चित्तार्थक वर्णन किया गया है। विस्तारभयसे यहाँ केवल श्रीकपिलदेवजीद्वारा वर्णित ध्यानका उल्लेख किया जाता है—

प्रसङ्गवद्वाम्बोद्धं पश्यगर्भोऽहेष्टप्रणम् ।
नीलोत्पलद्वलक्ष्यम् शङ्खचक्रगदाधरम् ॥
लस्तप्तक्षितिकृत्तुभास्त्रम् ।
श्रीवस्त्रवध्यमं भ्राजकौस्तुभामुक्तकन्वरम् ॥
मत्तद्रिप्रकलया परीतं वलमालया ।
परार्थहारवल्यकिरीटाङ्गदन्पुरम् ॥
काञ्छीगुणोल्लसक्षेपिणं हृदयाम्बोजविष्टरम् ।
दर्भनीयतमं शान्तं मनोनयनवर्धनम् ॥
धर्पीव्यवद्दर्शनं श्रावत्सर्वलोकनमस्तुतम् ।
सन्तं वयसि कैशोरे मृत्यानुग्रहकातरम् ॥
कीर्तन्यतीर्थयशसं पुण्यश्लोकयशस्करम् ।
ध्यायेवं समग्राङ्गं यावज्ञ व्यवते मनः ॥
स्थितं वज्रसमालीनं शयानं वा गृहाशयम् ।
प्रेषणीयेहितं ध्यायेच्छुद्धभावेन चेतसा ॥
तस्मैस्त्रिष्ठव्यपदं चित्तं सदांवदवसंस्थितम् ।
विलङ्घयैकत्र संयुज्यादके भगवतो मुनिः ॥
(श्रीमद्भा० ३।२८।१३-२०)

‘विकसित कमलके समान प्रसन्न मुखारविन्द, कमलके मध्यभागके समान रक्त नेत्र, नील कमलदलके समान श्याम-सुन्दर देह-कान्ति, हस्तकमलोंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पथ सुशोभित, कमलकी केसरके समान पीताम्बर धारण किये हुए वक्षः वस्त्रलमें श्रीवस्त्रा चिह्न और श्रीवामें कौस्तुभमणि विभूषित, गुजायमान मत्त भ्रमरोंसे युक्त वनमाला धारण किये हुए अन्य अङ्गोंमें यथास्थान बहुमूल्य हार, कङ्कण, किरीट, मुकुट, बाजूबन्द और नूपुर आदि आभूषणभूषित, कटिखल्यपर काञ्छन-की किञ्चिणी, भक्तजनोंके हृदयरूप आसनपर विराजमान, मन और नेत्रोंको आनन्ददायक दर्शनीय शान्त स्वरूप, किशोरा-

बस्तामें स्थित, सबके द्वारा बन्दनीय, भक्तोंपर अनुग्रह करनेमें
व्यग, पवित्र और कीर्तनीय यशावाले और भक्तजनोंका यश
बदानेवाले भगवान्‌के सर्वाङ्ग विश्रहका इस प्रकार ध्यान करना
चाहिये। और इस प्रकार सर्वाङ्ग ध्यान भली प्रकार हृदयस्थ
हो जानेपर भगवान्‌के प्रत्येक अङ्गका पृथक्-पृथक् ध्यान
करना चाहिये।

(४) पादसेवन

पादसेवन-भक्ति एक तो भगवान्‌की साक्षात् पादसेवा है
और दूसरा भगवान्‌के पादपद्मोंका भजन। इसमें प्रथम
प्रकारकी पादसेवा बड़ी दुर्लभ है। जिसके लिये ब्रह्माजी भी
लालित होकर भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं—

तदस्तु मे नाथ स भूरिमाणो
भवेऽत्र वान्यव्रत तु वा तिरश्चाम् ।
येनाहमेऽपि भवञ्जनावान्
भूत्वा निधेव तत्र पादपङ्कवत् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ३०)

‘हे नाथ ! इस जन्ममें अब अथवा आगे जहाँ कर्मवश
प्राप्त होनेवाले पश्च, पश्ची आदि किसी भी तिर्यक् योनिके
जन्ममें मुझे वह सौभाग्य प्राप्त हो जिसमें मैं भी आपके भक्त-
जनोंमेंसे एक होकर आपके पादपङ्कवकी मेता करूँ ।

ब्रह्माजीने भगवान्‌के साक्षात् पादसेवनकी प्राप्तिको
अति दुर्लभ समझकर फिर भगवान्‌के प्रिय व्रजवासियोंके
चरण-रजकी प्राप्तिके लिये प्रार्थना की है कि—

तदभूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यदृष्ट्या
तदगोकुलेऽपि कसमाष्टविरोभिवेकम् ।
यज्ञाविनं तु निखिलं भगवान्मुकुल-
स्वव्यापि यथद्वरजः श्रुतिस्यमेव ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ३५)

‘यह मेरा सौभाग्य होगा यदि मनुष्यलोकमें विशेषतया
गोकुल या दजके किसी वनमें किसी भी पश्च, पश्ची, कीट,
पतंग और बृश आदि—योनिमें मेरा जन्म हो, जिससे भगवान्
मुकुल ही हैं सर्वस्व जिनके ऐसे व्रजवासियोंकी चरण-रजका
मेरेर अभिषेक होता रहे, जिस चरण-रजको श्रुति भी
अनादिकालसे ढूँढ़ रही है किन्तु प्राप्त न कर सकी है।’

अतएव साक्षात् पादसेवन तो भगवान्‌के निरन्तर
समीपवर्ती श्रीसीताजी, लक्ष्मीजी, सकिमणीजी आदि महा-

रानियोंको तथा वज्रके गोपवाल और वज्राङ्गनाओंको तथा
उद्धवजी आदि अनन्यभक्तोंको ही उपलब्ध है, फिर भी
वे भगवान्‌के पादसेवनकी अभिलापा करते ही रहते हैं।

पादसेवनकी अभिलापा के विषयमें गोपाङ्गनाएँ भगवान्‌से
प्रार्थना करती हैं—

श्रीर्यत्वादस्तुजरजश्चकमे तुलसी
लक्ष्मापि वज्रसि पश्च किल भृत्यजुषम् ।
यस्याः स्वर्वीक्षण्कृतेऽन्यसु रथयास्-
स्तद्वद्वर्यं च तत्र पादरजः प्रपक्षाः ॥
(श्रीमद्भा० १० । २९ । ३७)

‘जिन लक्ष्मीजीका कृपाकाटाका प्राप्त करनेके लिये ब्रह्मादि
देवगण वडे तप आदिद्वारा प्रयास करते हैं, लक्ष्मीजी आपके
वक्षःस्थलमें निवास पाकर भी अपनी सपत्निरूप तुलसीके साथ
आपके भृत्यगणोंसे सुशोभित चरणारविम्बदके रजकी अभिलापा
करती हैं; उसी प्रकार इस भी आपकी चरण-रजकी प्राप्त
हुई हैं।’

श्रीकृष्णमणीजी भी भगवान्‌से यही प्रार्थना करती है—
अस्तवन्नुजाक्ष मम ते चरणानुगाम
आप्तक्रतस्य मयि चाननिरिक्षणः ।
(श्रीमद्भा० १० । ८० । ४८)

‘आप निजानन्दमें रमण करनेवाले हैं, अतः आप मुझ-
पर उपेक्षा-दृष्टि रखते हैं। मेरी तो यही प्रार्थना है कि मुझे
आपके चरणोंमें अनुराग (पादसेवा) प्राप्त हो ।’

भगवान्‌की साक्षात् पादसेवन भक्ति तो साध्य भक्तिके
अन्तर्गत ही कही जा सकती है। साधन-भक्तिके अन्तर्गत तो
भगवान्‌के पादपद्मोंके भजनरूप पादसेवन भक्ति ही है।

इसच्युताहृषि भजतोऽनुवृत्था
भक्तिर्विशक्तिभर्गवद्वद्वोषः ।
भवन्ति वै भगवत्स्य राजस्ततः
परं शान्तिसुपैति साक्षात् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २ । ५३)

‘इस प्रकार अच्युत भगवान्‌के चरणकमलकी सेवा
करनेवाले भक्तको भगवद्वक्ति, वैराग्य और भगवद्विषयक
शान—ये सब एक साथ ही प्राप्त हो जाते हैं और उसके
पश्चात् वह आत्मनिक क्षेमको प्राप्त हो जाता है। यहाँ पाद-
सेवनभक्तिको परा भक्तिका साधन कहा गया है।

भगवान् के पाट-पद्मका भजन भी अनिवार्यनीय है।
ओमनन्तकुमार आदिदार ऐष्टु महाराजसे कहते हैं—

अत्यादयक्षजपलायविलासभृत्या

कमांशयं ग्रथितसुद्वधयन्ति सत्तः ।
तद्ब्रह्म रिक्तमत्यो यत्योजपि रुद्ध-
स्तोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम् ॥
कुरुक्ष्मो भवनिह भवार्णवमस्तुवेशां
वद्वर्गंनकमसुखेन तितीरिषन्ति ।
तत्त्वं हरेर्भगवतो भजनीयमहि॒
कृत्वोक्तुपं व्यसनसुत्तर दुस्तरार्णम् ॥
(श्रीमद्भा० ४।२२।३९-४०)

‘जिस भगवानके चरण-कमलके पत्ररूप अङ्गुष्ठियोंकी कान्तिकी भक्तिद्वारा कर्माशयोंकी वासनामयी ग्रन्थियोंकी भक्तजन जिस प्रकार (आसानीसे) काट सकते हैं, उस प्रकार सब इन्द्रियोंको वशीभृत करनेवाले निर्विकल्प समाधिनिष्ठ योगीजन नहीं काट सकते; इन्द्रियों उस शरण भगवान् श्रीवासुदेवका भजन करो। काम-क्रोधादि पठ्यवार्ता व्याप्त संसार-समुद्रको जो भगवानके चरणकमलरूप नौकाके बिना अन्य साधनोंके द्वारा उत्तीर्ण होना चाहते हैं, उनको महान् कष प्राप्त होता है। अतएव हे राजन्! तुम हरि भगवानके भजन करने योग्य चरणकमलोंकी नौका करके इस तुसुर भंसार-समुद्रसे उत्तीर्ण हो।’

(५) अर्चन-भक्ति

वाद्य सामग्रियोंके द्वारा अथवा सबके द्वारा कल्पत सामग्रियोंसे भगवान् का अद्वायूर्वक पूजन करना (अर्चन-भक्ति) है।

स्वयं भगवानने अपने पूजनके अधिष्ठान (आश्रय) प्रतिमा, स्थण्डिल, अग्नि, सूर्य, जल, हवय, गौ और ब्राह्मण आदि बताये हैं—

इनमें पूर्व-पूर्वकी अशक्यतामें उत्तरोत्तरका विधान है, प्रतिमा आठ प्रकारकी बतायी गयी है—

शैली द्राघमयी लौही लेप्या सेष्या च यैकते ।

मनोमयी मणिमयी प्रसिमाईविद्या स्मृता ॥

(श्रीमद्भा० ११।२७।१२)

पापाणमयी अथात् शालग्राम और पापाणनिर्मित, काष-मयी, सुवर्ण आदि धातुमयी, चरदनादिद्वारा लेपन की हुई,

चित्रमयी, मृत्तिकामयी, मनोमयी (मनद्वारा कल्पित) और रक्तमयी । इनकी पूजाके उपचार अधिष्ठान-भेदसे भिन्न-भिन्न हैं। पापाण, धातु और मृत्तिकामयी प्रतिमाओंका पूजन स्त्रानादि योग्योपचारद्वारा, चित्रादिका मर्जन आदिद्वारा, मनोमयीका मनसेपचारद्वारा, स्थण्डिलका तत्त्वन्यासद्वारा, अग्निका वृतादिकी आहुतिद्वारा, सूर्यका उपस्थान एवं अर्चादिद्वारा, जलका जलाञ्जलि आदिद्वारा, ब्राह्मणोंका आतिथ्यद्वारा, गौका धास आदिद्वारा पूजन किया जाता है। भगवान् का अर्चन तीन प्रकारसे वैदिक (वेदमन्त्रोद्वारा), तान्त्रिक (स्मृति-पुराणादि तन्त्र-ग्रन्थोंके मन्त्रोद्वारा) और इन दोनोंके (वैदिक तथा तान्त्रिकके) मिश्रित मन्त्रोंसे किया जाता है।

भगवान् की पूजनविधि श्रीमद्भागवतके कई प्रकारोंमें वर्णन की गयी है। भगवान् के अर्चनमें श्रद्धा ही मुख्य है। स्वयं भगवानने कहा है—

अद्वयोपाहृतं प्रेषं भक्तेन मम वायपि ।
भूर्यज्यभक्तेपहृतं न मे तोषाय कल्पते ॥
(श्रीमद्भा० ११।२७।१७-१८)

‘श्रद्धापूर्वक यदि जल भी अर्पण किया जाय तो वह मुक्त अत्यन्त ग्रिय है, श्रद्धारहित अमूल्यवस्तु भी अर्पणकी हुई मेरे लिये सन्तोषप्रद नहीं हो सकती।’

अर्चनभक्तिको भी परा भक्तिका साधन स्वयं भगवान्ने कहा है—

मासेव नैरपेक्षेण भक्तियोगेन विमृद्धते ।
भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत मात्र ॥
(श्रीमद्भा० ११।२७।५३)

‘निष्काम भक्तियोगद्वारा जो इस प्रकार मेरी धूजा करता है, उसको मेरी भक्ति अर्थात् व्रेमलक्षणा परा भक्ति प्राप्त होती है।’

यहस्तोंके लिये तो विशेषतया अर्चनभक्ति कर्तव्य है—

अथं स्वस्वयतः पव्या द्विजातेगृहमेधितः ।
यज्ञाद्याप्तिविनेन शुक्लेनेत्येत् पूरुषः ॥
(श्रीमद्भा० २०।८५।३७)

‘द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) गृहस्तके लिये यही कल्पाणकारक है कि सम्मार्गसे प्राप्त हुए द्रव्यद्वारा अद्वायूर्वक भगवान् का अर्चन करे।’

किन्तु जो मनुष्य भगवान् की अर्चन-भक्ति संसारिक

कामनाओंके लिये करते हैं, उनके विषयमें भ्रुवजीने कहा है—

नृन् विमुश्मतश्चलव मायया ते
ये त्वां भवाप्यदिमोक्षणमन्यहेतोः ।
अर्चनित कल्पकतरं कुण्डोपभोग्य-

मिळ्हस्ति यस्त्वर्जनं निर्वेद्यं पृथग् ॥

(श्रीमद्भा० ४ । १ । ९)

‘निश्चय ही उन लोगोंकी बुद्धि आपकी मायासे मोहित है, जो जन्म-मरणसे छुटकारा करनेवाले कल्पनृक्षरूप आपकी पूजा तुच्छ सांसारिक विश्व-भोगादिके लिये करते हैं, जो नारकीजनोंको भी प्राप्त है ।’

(६) वन्दन-भक्ति

वन्दनका अर्थ है प्रणाम—दण्डवत् । भगवान्के शीकरणोंमें श्रद्धाभक्तिपूर्वक अनन्यभावसे प्रणाम करना वन्दन-भक्ति है ।

प्रणाम करनेकी विधि स्वयं भगवान्ने इस प्रकार बतायी है ।

स्तर्वरुद्धावचे: स्तोत्रैः पौराणैः प्राकृतैरेति ।
स्तुत्वा प्रसीदेऽ भगवत्तिति वन्देत दण्डवत् ॥
शिरो मत्पादयोः कृत्वा बाहुस्यां च परस्परम् ।
श्रवणं पाहि मामीशा भीतं सूत्युग्माणवाद् ॥

(श्रीमद्भा० ११ । २७ । ४५-४६)

‘अनेक प्रकारके बेदोक, पुराणोक एवं तन्मोक्त और प्राकृत स्तोत्रोंसे स्तुति करके यह निवेदन करे—इह भगवन् ! आप प्रसन्न हों, और दण्डकी भौति गिरकर पृथ्वीपर इस प्रकार प्रणाम करे, सिरको मेरे चरणोंमें रखकर दोनों हाथ जोड़कर प्रार्थना करे—हे प्रभो ! इस संसारसागरके मृत्युरुप ग्रहसे मेरी रक्षा कीजिये ।’

भगवान्को प्रणाम करनेका महत्व पाण्डवीतामें कहा है—

एकोऽपि कृष्णस्य हृतः प्रणामो
दशाश्वमेऽभावनृथेन तुल्यः ।
दशाश्वमेधी पुनरेति ज्ञम
कृष्णप्रणामी न पुनर्भेदाय ॥

‘भगवान् भीकृष्णको एक वार भी प्रणाम करना दश अश्वमेध यज्ञके अवभूत रूपानके तुल्य है किन्तु अश्वमेधयज्ञ सा० अं० ६७—

करनेवालोंको पुनर्जन्मकी प्राप्ति होती है, पर भगवान्को प्रणाम करनेवालोंको फिर जन्म नहीं लेना पड़ता । यह विशेषता है ।’ उनकी मुक्ति हो जाती है । ब्रह्माजीने भी श्रीमद्भागवतमें कहा है—

तत्त्वेऽनुकूलं	सुसर्वोक्षणाणो
भुज्ञानं पूर्वामृतं	विपाकम् ।
हृद्वाच्च गुर्भिर्विदध्यमस्ते	
जीवेत यो मुक्तिपदे स दयभाक् ॥	

(श्रीमद्भा० १० । १४ । ८)

‘आपकी कृपा कब प्राप्त होगी ? इस प्रकार प्रतीक्षा करते हुए और अपने कमोंके फलको भोगते हुए एवं शरीर, वाणी और मनसे आपकी वन्दन-भक्ति करते हुए जो जीवित रहते हैं, वे मुक्तिपदके भागीदार हो जाते हैं, अर्थात् उनको मुक्ति सुलभ हो जाती है ।’

(७) दास्य-भक्ति

भगवान्की श्रद्धा और प्रेमपूर्वक दास्यभावसे सेवा करना दास्य-भक्ति है, दास्य-भक्तिके लिये भगवान्ने स्वयं आशा की है—

सम्मर्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डलवर्तीनः ।
गृहशुश्रूपाणं मद्यं दासवद्यदमायथा ॥

(श्रीमद्भा० ११ । ११ । ३३)

‘भगवान्के मन्दिरका भार्जन, लेपन, सिङ्गन, मण्डल आदिकी रचना (चौक पूर्ना, स्वर्तिक बनाना आदि सेवा) निष्पटभावसे दासकी भौति करनी चाहिये ।’

भगवान्का दास्य-भाव प्राप्त होना बहु दुर्लभ है । भगवान्के पूर्ण कृपापात्र भक्त दास्य-सेवाके लिये उत्कृष्टित रहते हैं, प्रह्लादजीने भगवान् श्रीनृतिंहजीसे प्रार्थना की है—

वस्त्वात्प्रियाप्रियवियोगसयोगजन्म-
कौकाग्निः सकलयोनिषु द्वद्यमानः ।
दुःस्तोषधं तदपि दुःखस्तदियाह
भूमन् भ्रमाग्नि चद मे तव दास्ययोगम् ॥

(श्रीमद्भा० ७ । ९ । १७)

‘हे भूमन् ! प्रिय और अग्रिय पदार्थोंके संयोग और वियोगसे उत्पन्न होनेवाले अग्रिये सब योनियोंमें तापित होकर मैंने जो-जो ओषधि की, उससे स्त्रिन न मिलकर यत्पि उल्लङ्घ

दुःख ही मिलता रहा है; पर उनको मैं दुःख न समझकर
भ्रमणे सुख समझता हुआ इस संसारमें भ्रमता रहा हूँ।
अतएव अब आप अपना दास्योगरूप अमोघ ओषधि
प्रदान कीजिये, जिससे सदाके लिये उस तापका नाश होकर
शान्ति प्राप्त हो।

श्रीमद्भगवतमें गोपीजनोंने प्रार्थना की है—

ततः प्रसीद वृन्जिनार्दनं सेऽऽग्निमूलं
प्राप्ना विसृज्य वस्तीस्त्वदुपासनादाः ।
स्वस्तुन्दरसिमतनिरीक्षणीक्रकाम् ॥
तत्प्रसन्नं पुरुषभूषणं देहि दास्यम् ॥
(श्रीमद्भा० १०। २९। ३८)

‘हे दुर्खनशक पुरुषोत्तम ! आपकी सेवा करनेकी
आशा रखनेवाली हम अपने घरोंको त्यागकर आपके चरणों-
के समीप आयी हुई है। हमारा दृढ़ आपके सुन्दर मन्द
हास्यगूर्वक कटाक्षपातसे उत्तम प्रेमान्तरे संतत हो रहा है
अतएव आप अपनी दास्य-सेवा देनेकी कृपा कीजिये।’

भगवान्की सेवा जो मनुष्य स्वार्थके लिये करते हैं
उनमें वह दास्य-भाव नहीं है—वह तो लेन-देन करनेवाले
वैश्योंके व्यापारके समान है—

यस्त आकृष्ट आशास्ते न स भृत्यः स वै वर्णिक् ॥
(श्रीमद्भा० ७। १०। ४)

(८) सख्य-भक्ति

भगवान्में विभ्रमावसं प्रेम करना सख्य-भक्ति है।
भगवान्में सख्यभाव भगवान्की पूर्ण कृपाद्वारा ही प्राप्त
हो सकता है। अतः सख्य-भक्तिका अधिकार सो
भगवान्की हङ्कारपर ही निर्भर है। सख्य-भक्ति श्रीरामावतार-
में व्रजके गोप-गोपालकाञ्जोंको तथा उद्धव एवं पाण्डुपुत्र
अर्जुन आदि कर्त्तव्य सौभाग्यवाली जनोंको ही प्राप्त हो
सकती है। सख्य-भक्तियास भक्तोंका, भगवान्में असन्य
श्रद्धा एवं पूज्य-भाव रहते हुए भी वे भगवान्के साथ मित्रोंके
समान वर्ताव करते हैं और उनके प्रति कठोर वाक्य भी
कह उठते हैं। श्रीवज्राङ्गनायै कहती हैं—

मृगयुरिव कपीचन्द्रं विद्यथे लुक्ष्यधर्मी
क्षिमसकृत विरुपो श्रीनितः कामयानाम् ।

बलिमपि वसिमस्वादेष्यद्विष्वाङ्गवय-
स्तदलमसितसर्वैरुस्यजस्तकथार्थः ॥
(श्रीमद्भा० १०। ४७। १७)

‘जिन्होंने रामावतारमें व्याख्यकी भाँति वालीका वध
कर दिया तथा अपनी पक्षीके वशीभृत होकर वैचारी कामाहुरा
शूर्पणखाके नाक-कान काटकर कुरुप कर दिया, यही नहीं
इसके पूर्व वामनावतारमें राजा यशोके सर्वस्व अर्पण करनेपर
भी उसको इस प्रकार वश-पाशसे बाँधकर स्वर्गसे गिरा
दिया, जैसे काक पक्षी किसी वस्तुको कुछ खाकर नीचे गिरा
देता है। अतएव ऐसे काले वर्णवालोंकी मित्रातासे हम बाज
आयीं। व्यापि ऐसोंकी चर्चाकथा भी उचित नहीं है,
फिर भी न मात्रम् क्यों श्रीकृष्णकी चर्चा किये विना;
हमसे नहीं रहा जाता।’

भगवान्ने सख्य-भाव यहाँतक निभाया है कि व्रजवासियों-
को अपनी पीठतकपर विदा लिया है—

उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं परजितः ।
(श्रीमद्भा० १०। १८। २४)

भगवान् श्रीकृष्णने खेलमें पराजित होकर श्रीदामानामक
गोपको पीठपर चढ़ाया, सख्य-भक्तिके विषयमें ब्रह्माजीने
कहा है—

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपवर्जीकसाम् ।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥
(श्रीमद्भा० १०। १४। २२)

‘अहो ! नन्ददादि व्रजवासी गोपोंके धन्य भाग्य हैं ! धन्य
भाग्य हैं ! जिनके सुहृद् परमानन्दस्प सनातन पूर्णब्रह्म आप
हैं !’

(९) आत्मनिवेदन

अहङ्काररहित अपने तन, मन, धन और परिजनलहित
अपने-आपको तथा सर्वस्वको श्रद्धा और प्रेमपूर्वक भगवान्के
समर्पण कर देना आत्मनिवेदन भक्ति है। श्रीनिमि योगेश्वरने
कहा है—

इष्टं दर्तं लोपो जसं कृतं चक्षावनः विषम् ।
दावान्सुतान्मृहान्माणान्यस्परसमै निवेदनम् ॥
(श्रीमद्भा० ११। ३। २८)

पृथ, दान, तप, जप, अपने वर्णाश्रमानुसार किये हुए

धर्मनुज्ञान, पूर्ति, आत्माको प्रिय करनेवाले सदाचार, स्त्री, पुत्र, धर और प्राण सर्वस्व भगवान्‌के अर्पण करे। ३

आत्मनिवेदन करनेवाले भगवान्‌के अनन्य भक्त होते हैं। वे ब्रह्मपद, इन्द्रपद, चक्रवर्ती राज्य, रसातलका आधिपत्य और योगदारा प्राप्त तिदिन्याँ ही नहीं, किन्तु भगवान्‌के सिवा वे कैवल्य मोक्षककी इच्छा नहीं करते—

न पारमेष्ठयं न महेन्द्रधिष्ठयं
न सार्वभौमं न रसाधिष्ठयम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मर्यार्थितामेच्छति मद्दिनाम्यत् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । १४)

क्योंकि ऐसे भक्तोंको भगवान्‌की पराभक्ति प्राप्त हो जाती है और उन्हें कुछ भी प्राप्तव्य देख नहीं रह जाता। कहा है—

एवं धर्मेन्द्रनुव्यागासुद्वामनिवेदिनाम् ।
मयि संजाप्ते भक्तिः क्षेष्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १५ । २४)

गीताजीके अन्तमें भगवान्‌ने अर्जुनको शरणागत होनेकी ही आशा की है। शरणागति आत्मनिवेदन ही है—

सर्वयमान्यन्तरिक्षय भासेकं शरणं धन ।
धहं स्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥
(गीता १८ । ६६)

‘सब धर्मोंको ल्यागकर तू एक मेरी शरणमें ही आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू सोच मत कर।’

श्रीमद्भागवतमें उद्दवजीके प्रति भी भगवान्‌ने यही कहा है—

मासेकमेव शशेन्मात्मानं सर्वदेहिनाम् ।
याहि सर्वात्मावेन मया स्या कुलोभयः ॥
(११ । १२ । १५)

भस्त्र देहधारियोंके आत्मारूप एकमात्र मेरी ही अनन्यभाव-से शरणमें आ जा जिससे मेरे द्वारा अकुलोभय हो जायगा। १

शरणागत भक्तके रक्षक भगवान् स्वयं ही जाते हैं। राजा अवरीपके प्रसङ्गमें महर्षि दुर्वासाजीसे भगवान्‌ने कहा है—

ये दारानारुपाशान् प्राणान्वितमिमं परम् ।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तोस्यक्तुमुख्यहे ॥
(श्रीमद्भा० १ । ४ । ६५)

(जो स्त्री, पुत्र, धर, कुड़म्ब, सबसे अधिक प्राण, धन, यह लोक और परलोक सभीको ल्यागकर मेरी शरण आ गये हैं, उनकी उपेक्षा मैं किस प्रकार कर सकता हूँ ?)

शरणागतके विषयमें तो भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने यहाँतक प्रतिशास्त्रमें आशा की है—

सहृदेष प्रपञ्चाय तवासीति च याचते ।
अथयं सर्वभूतेभ्यो दक्षम्येवद् ब्रतं सम् ॥
(वा० रा० युद० १८ । ३३)

‘जो एक बार भी मेरी शरणमें आ जाता है और वे तुम्हारा हूँ, इस प्रकारकी प्रार्थना करता है उसको मैं प्राणिमात्रसे अभयदान दे देता हूँ, वह मेरा ब्रत है।’

फिर भला, अनन्यभावसे जो भक्त शरणागत होता है, उसकी तो ब्रत ही क्या ?

नवधा भक्तिका विषय अत्यन्त विस्तृत है, इस विषयके अनेक मन्त्र हैं। श्रीमद्भागवतमें तो अनेक स्थानोंपर प्रत्येक प्रसङ्गपर विश्वारके साथ भक्तिका वर्णन है। उसमेंसे प्रायः यहाँ बहुत संक्षिप्तरूपसे दिग्दर्शनमात्र कराया जा सका है। सम्मय है, प्रसङ्गानुकूल इसमें बहुत कुछ त्रुटियाँ रह गयी हैं, उनके लिये मैं क्षमा-प्रार्थी हूँ।

भगवान्‌को जीवन समर्पण करनेवाला चाण्डाल भी ब्राह्मणसे श्रेष्ठ है

श्रीप्रह्लादजी कहते हैं—

विग्राद्विष्टुष्टुण्युतावरविन्दनाभपादारविन्दविमुखाच्छूपचं वरिष्ठम् ।
मन्ये तदपितं तमनोवच्चनेहितार्थं पुनाति सं कुलं न तु भूरिमानः ॥

(श्रीमद्भा० ७ । ९ । १०)

बारह गुणोंसे युक्त किन्तु भगवान्‌के चरणकमलोंसे विमुख ब्राह्मणकी उपेक्षा मैं उस चाण्डालको श्रेष्ठ मानता हूँ, जिसने अपनी वाणी, मन, चेष्टा, धन और प्राण भगवान्‌को समर्पित कर दिये हैं। वह चाण्डाल अपने कुलको पवित्र करता है; परन्तु वह अभिमानी ब्राह्मण अपनेको भी पवित्र नहीं कर सकता।

भक्तिका स्वरूप

अस्तिलरसामृतमूर्तिः प्रसूदरसचिस्तद्वारकापालिः ।

कङ्गितवृत्तिका गधोयेयान् विधुर्जयति ॥

चित्तवृत्तिका निरन्तर अविच्छिन्नरूपसे अपने इत्यरूप श्रीभगवान्में लगे रहना अथवा भगवान्में परम अनुराग या निष्काम अनन्य प्रेम हो जाना ही भक्ति है । भक्तिके अनेक साधन हैं, अनेकों स्तर हैं और अनेकों विभाग हैं । पृथिवी-ने बड़ी सुन्दरताके साथ भक्तिकी व्याख्या की है । पुराण, महाभारत-रामायणादि इतिहास और तन्त्र-शास्त्र भक्तिसे भरे हैं । इसाई, मुसलमान और अन्यान्य मतावलम्बी जातियोंमें भी भक्तिकी बड़ी सुन्दर और मधुर व्याख्या और साधना है । हमारे भारतीय दैव, शक्ति और वैष्णव-सम्प्रदाय तो भक्ति-साधनाकी ही जय-घोषणा करते हैं । वस्तुतः भगवान् जैसे भक्तिसे दशा होते हैं, वैसे और किसी भी साधनसे नहीं होते । भक्तिकी तुलना भक्तिसे ही ही सकती है । भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु भक्तिके मूर्तिमान् दिव्य स्वरूप हैं । उनके अनुयायियोंने भक्तिकी बड़ी ही सुन्दर व्याख्या की है और उसीके आधारपर यहाँ कुछ लिखनेका प्रयास किया जाता है ।

जिनके असाधारण सौन्दर्य और मायुरेने वड़े-वड़े महात्मा, ब्रह्मानी और तपस्वियोंके मनोंको बरबस सर्वीच लिया; जिनकी सबसे बड़ी दुई असूत, अनन्त प्रभुतामयी पूर्ण ऐश्वर्य-शक्तिने दिव, ब्रह्मातको चकित कर दिया, उन सबके मूल आश्रयतत्त्व स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके लिये जो अनुकूलतायुक्त अनुशीलन होता है, उसीका नाम भक्ति है । अनुकूलताका तात्पर्य है, जो कार्य श्रीकृष्णको चकित हो, जिससे श्रीकृष्णको मुख दूर, शरीर, वाणी और मनसे निरन्तर वही कार्य करना । श्रीकृष्णके लिये अनुशीलन तो कंस आदियों भी था, परन्तु उनमें उपर्युक्त आनुकूल नहीं था । श्रीकृष्णसे यहाँ श्रीराम, द्विंशि, वासन आदि सभी भगवत्स्वरूप लिये जा सकते हैं, परन्तु गौडीय वैष्णव भगवान् श्रीकृष्ण-स्वरूपके निमित्त और तस्मान्विनी अनुशीलनरूप भक्तिको ही मुख्य मानते हैं ।

भक्तिमें दो उपाधियाँ हैं—१—अन्याभिलाषिता और
२—कर्मशानयोगादिका मिश्रण । इन
भक्तिकी उपाधियाँ
दोनोंमेंसे जबतक एक भी उपाधि रहती है तबतक प्रेमकी प्राप्ति नहीं हो सकती ।

अन्याभिलाषा—भोग-कामना और मोक्ष-कामनाके भेदसे दो प्रकारकी होती है, और ज्ञान, कर्म तथा योगके भेदसे भक्तिका आवरण तीन प्रकारका होता है । यहाँ ज्ञानसे ‘अहं ब्रह्मास्मि’, योगसे भजनरहित हठयोगादि और कर्मसे भक्तिरहित याग-वशादि शार्कीय और भोगादिकी प्राप्तिके लिये किये जानेवाले लौकिक कर्म समझने चाहिये । जिस ज्ञानसे भगवान्में स्वरूप और भजनका रहस्य जाना जाता है, जिस योगसे चित्तकी वृत्ति भगवान्में स्वरूप, गुण, लीला आदिमें तलीन हो जाती है और जिस कर्मसे भगवान्में सेवा बनती है, वे शान-योग-कर्म तो भक्तिमें सहायक हैं, भक्तिके ही अङ्ग हैं । वे भक्तिकी उपाधि नहीं हैं ।

जिस भक्तिमें भोग-कामना रहती है, उसे सकाम भक्ति कहते हैं । सकाम भक्ति राजती और तामसी

भेदसे दो प्रकारकी है—यिष्य-भोग, यश-कीर्ति, ऐश्वर्य आदिके लिये जो भक्ति होती है, वह राजती है; और हिंसा, दम्भ तथा मत्सर आदिके निमित्तसे जो भक्ति होती है, वह तामसी है । यिष्योंकी कामना रजोगुण और तमोगुणसे ही उत्पन्न हुआ करती है । इस सकाम भक्ति-को ही सुरु भक्ति भी कहते हैं । जिस भक्तिमें मोक्षकी कामना है, उसे कैवल्यकामा या सारिकी भक्ति कहते हैं ।

उत्तमा भक्ति चित्तस्वरूपा है । उस भक्तिके तीन भेद हैं—

उत्तमा भक्ति, साधन-भक्ति, भाव-भक्ति और प्रेम-भक्ति । इन्द्रियोंके द्वारा जिसका साधन हो सकता हो, ऐसी श्रवण-कीर्तनादिका नाम साधन-भक्ति है ।

इस साधन-भक्तिके दो गुण हैं—क्लेशात्मी और शुभदायिनी । क्लेश तीन प्रकारके हैं—पाप, वासना और अविद्या । इनमें पापके दो भेद हैं—प्रारब्ध और अप्रारब्ध । जिस पापका फल मिलना शुरू हो गया है उसे ‘प्रारब्ध पाप’ और जिस पापका फलभोग आरम्भ नहीं हुआ, उसे ‘अप्रारब्ध पाप’ कहते हैं । पापका बीज है—‘वासना’ और वासनाका कारण है ‘अविद्या’ । इन सब क्लेशोंका मूल कारण है—भगवद्-विमुक्तिः । भक्तोंके सबके प्रमावसे भगवान्में सम्मुखता प्राप्त होनेपर क्लेशोंके सारे कारण अपने-आप ही नष्ट हो जाते हैं । इसीसे साधन-भक्तिमें ‘सर्वदुःखनाशकत्व’ गुण प्रकट होता है ।

‘शुभ’ शब्दका अर्थ है—साधकके द्वारा समस्त जगत् के प्रति प्रीति-विधान और सारे जगत् का साधकके प्रति अनुराग, समस्त सद्गुणोंका विकास और सुख। सुखके भी तीन भेद हैं—विषयसुख, ब्राह्मसुख और परमेश्वर-सुख। ये सभी सुख साधन-भक्तिसे प्राप्त हो सकते हैं।

भावभक्तिमें अपने दो गुण हैं—‘मोक्षलघुताकृत’ और ‘सुदुर्लभा’। इनके अतिरिक्त दो गुण—‘ह्लेशनाशिनी और शुभदायिनी’ साधन-भक्तिके इसमें आ जाते हैं। जैसे आकाशके गुण वायुमें और आकाश तथा वायुके गुण अग्निमें—इस प्रकार अग्न-अग्ने भूतोंमें पिछले पिछले भूतोंके गुण सहज ही रहते हैं, वैसे ही साधन-भक्तिके गुण भाव-भक्तिमें और साधन-भक्तिके तथा भाव-भक्तिके गुण प्रेमभक्तिमें रहते हैं। इस प्रकार भाव-भक्तिमें कुल चार गुण हो जाते हैं और प्रेमभक्तिमें—‘सान्द्रानन्दविदेशात्मा’ और ‘श्रीकृष्णाकर्षिणी’। इन दो अपने गुणोंके सहित कुल छः गुण हो जाते हैं। यह उत्तमा भक्तिके छः गुण हैं।

ह्लेशनी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा ।
सान्द्रानन्दविदेशात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा ॥

(श्रीभक्तिसामृतसिन्धु)

१—ह्लेशनाशिनी और २—सुखदायिनीका स्वरूप तो ऊपर यतलाया ही जा सकता है।

३—मोक्षलघुताकृतसे तात्पर्य है कि यह भक्ति धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष (सालोक्य, सालस्य, सामीप्य, सार्वि और सायुज्य—पाँच प्रकारकी सुकृति)।—सर्वमें तुच्छ बुद्धि पैदा करके सबसे चित्त हटा देती है।

४—सुदुर्लभाका अर्थ है—साप्राज्य, सिद्धि, स्वर्ग, ज्ञान आदि वस्तु विभिन्न साधनोंके द्वारा मिल सकते हैं, उनको भगवान् तहज ही दे देते हैं परन्तु अपनी भाव-भक्तिको भगवान् भी शीघ्र नहीं देते। निष्काम साधनोंके द्वारा भी यह सहजमें नहीं मिलती। यह तो उन्हीं भक्तोंको मिलती है, जो भक्तिके अतिरिक्त मुक्ति-सुकृति लबका निरादर करके केवल भक्तिके लिये सब कुछ न्योजावर करके भगवान् की कृपापर निर्भर हो रहते हैं।

५—सान्द्रानन्दविदेशात्माका अर्थ है—करोड़ों ब्रह्मानन्द भी इस प्रेमामृतमयी भक्ति-सुखसागरके एक कणकी भी दुर्लभामें नहीं आ सकते। यह अपार और अचिन्त्य प्रेम-सुखसागरमें निमग्न कर देती है।

६—श्रीकृष्णाकर्षिणीका अभिग्राय है कि यह प्रेमभक्ति समस्त प्रियजनोंके साथ श्रीकृष्णको भक्तिके वशमें कर देती है।

पूर्वोक्त साधन-भक्तिके द्वारा भाव और प्रेम साध्य होते हैं। वस्तुतः भाव और प्रेम नित्यसिद्ध साधन-भक्ति वस्तु हैं, ये साध्य हैं ही नहीं। साधनके द्वारा जीवके हृदयमें छिपे हुए भाव और प्रेम प्रकट हो जाते हैं। साधन-भक्ति दो प्रकारकी होती है—१—वैधी और २—रागानुगा।

अनुराग उत्तम होनेके पहले जो केवल शास्त्रकी आशा मानकर भजनमें प्रवृत्ति होती है, उसका नाम कैथी भक्ति है। भजनके ६४ अङ्ग होते हैं (इनका वर्णन दूसरे लेखमें देखिये)। जबतक मादकी उत्पत्ति नहीं होती, तभीतक कैथी भक्तिका अधिकार है।

ब्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर श्रीकृष्णमें जो स्वामाविकी परमाविष्टता अर्थात् प्रेममयी तृष्णा है उसका नाम है राग। ऐसी रागमयी भक्तिको ही रागात्मिका भक्ति कहते हैं।

रागात्मिका भक्तिके भी दो प्रकार हैं—कामरूपा और सम्बन्धरूपा। जिस भक्तिकी प्रत्येक चेष्टा केवल श्रीकृष्णसुखके लिये ही होती है अर्थात् जिसमें काम प्रेमरूपमें परिणत हो गया है, उसीको कामरूपा रागात्मिका भक्ति कहते हैं। यह प्रस्वात भक्ति केवल श्रीगोपीजनोंमें ही है; उनका यह दिव्य और महान् प्रेम किसी अनिर्वचनीय माधुरीको पाकर उस प्रकारकी लीलाका कारण बनता है, इसीलिये यिद्वान् इस प्रेम-विद्योगको काम कहा करते हैं।

मैं श्रीकृष्णका पिता हूँ, माता हूँ—इस प्रकारकी बुद्धिका नाम सम्बन्धरूपा रागात्मिका भक्ति है।

इस रागात्मिका भक्तिकी जो अनुगता भक्ति है, उसीका नाम रागानुगा है। रागानुगा भक्तिमें सरणका अङ्ग ही प्रधान है।

रागानुगा भी दो प्रकारकी है—कामानुगा और सम्बन्धानुगा। कामरूपा रागात्मिका भक्तिकी अनुगामिनी तृष्णाका नाम कामानुगा भक्ति है। कामानुगाके दो प्रकार हैं—सम्भोगेच्छायी और तत्त्वावेच्छात्मा। केलि-सम्बन्धी अभिलाषासे युक्त भक्तिका नाम सम्भोगेच्छायी है; और यूथेश्वरी बजदेवीके भाव और माधुर्यकी प्रातिविषयक वासनामयी भक्तिका नाम तत्त्वावेच्छात्मा है।

श्रीविग्रहके माधुर्यका दर्शन करके वा श्रीकृष्णकी मधुर लीलाका स्परण करके जिनके मनमें उस भावकी कामना जग उठती है, वे ही उपर्युक्त दोनों प्रकारकी कामानुगा भक्तिके अधिकारी हैं।

जिस भक्तिके द्वारा श्रीकृष्णके साथ पितृत्य-मातृत्व आदि सम्बन्धसूचक चिन्तन होता है और अपने ऊपर उसी भावका आरोप किया जाता है, उसीका नाम सम्बन्धानुगा भक्ति है।

शुद्ध-सत्य-प्रियोगस्वरूप प्रेमरूपी सूर्यकी किरणके सदृश रुचिकी अर्थात् भगवत्यात्मिकी भाव-भक्ति अभिलाषा, उनके अनुकूलताकी अभिलाषा और उनके सौहार्दकी अभिलाषा-के द्वारा चिन्तको लिंग करनेवाली जो एक मनोवृत्ति होती है, उसीका नाम भाव है। भावका ही दूसरा नाम रहता है। रसकी अवस्थामें इस भावका वर्णन दो प्रकारसे किया जाता है—स्थायिभाव और सञ्चारी-भाव। इनमें स्थायिभाव भी दो प्रकारका है—प्रेमाङ्कुर या भाव और प्रेम। प्रणयादि प्रेमके ही अन्तर्गत हैं। ऊपर जो लक्षण बतलाया गया है, वह प्रेमाङ्कुर नामक भावका ही लक्षण है। नृत्य-गीतादि सारे अनुभाव इसी भावकी चेष्टा या कार्य हैं। इस प्रकारका भाव भगवान्की और उनके भक्तोंकी कृपासे ही प्राप्त होता है, किंतु दूसरी साधनासे नहीं। तो भी उसे साध्य-भक्ति बतलानेका भी एक विशेष कारण है। साधन-भक्ति भाव-भक्तिका साक्षात् कारण न होनेपर भी उसका परपरा कारण अवश्य है। साधन-भक्तिकी परिपक्वता होनेपर ही श्रीभगवान्की और उनके भक्तोंकी कृपा होती है और उस कृपासे ही भाव-भक्तिका प्रादुर्भाव होता है। निम्नलिखित नी प्रीतिके अनुरूप ही इस भावके लक्षण हैं—

१. क्षम्भित—भन-पुत्र-मान आदिके नाश, असफलता, निन्दा और व्याधि आदि क्षेष्मके कारण उपस्थित होनेपर भी चित्कारा जरा भी चक्षुल न होना।

२. अन्धर्य-कालत्व—क्षणमात्रका समय भी सांसारिक विषय-कार्योंमें तृथा न विताकर मन, वाणी, शरीरसे निरन्तर भगवत्तेकासम्बन्धी कार्योंमें लगे रहना।

३. विरक्ति—इस लोकके और परलोकके समस्त भौतिक व्याधाविक ही अनुचित।

४. मातृष्टान्यता—स्वयं उत्तम आचरण, विचार और स्थितिसे सम्पन्न होनेपर भी मान-सम्मानका सर्वथा त्याग करके अधमका भी सम्मान करना।

५. आशाबन्ध—भगवान्के और भगवत्येमके प्राप्त होनेकी चित्तमें दृढ़ और बद्ध-भूल आशा।

६. समुक्ताता—अपने अभीष्ट भगवान्की प्राप्तिके लिये अव्यन्त प्रबल और अनन्य लालसा।

७. नाम-गानमें सदा शुचि—भगवान्के मधुर और पवित्र नामका गान करनेकी ऐसी स्वाधारिकी कामना कि जिसके कारण नाम-गान कभी रुक्ता ही नहीं और एक-एक नाममें अपार आनन्दका बोध होता है।

८. भगवान्के गुण-कथनमें आसक्ति—दिन-रात भगवान्-के गुण-गान, भगवान्की प्रेममयी लीलाओंका कथन करते रहना और ऐसा न होनेपर बेवेन हो जाना।

९. भगवान्के निवासस्थानमें प्रीति—भगवान्से जहाँ मधुर लीलाएँ की हैं, जो भूमि भगवान्के चरण-स्पर्शसे पवित्र हो जुकी हैं, बृन्दावनादि—उन्हीं स्थानोंमें रहनेकी प्रेमभरी इच्छा।

जब उपर्युक्त नौ प्रीतिके अनुरूप दिखलायी दें, तब समझना चाहिये कि भक्तोंमें श्रीकृष्णके साक्षात्कारकी योग्यता आ गयी है।

उपर्युक्त लक्षण कभी-कभी किसी-किसी अंदरमें कर्मों और शानियोंमें भी देखे जाते हैं; परन्तु वह भगवान्में रहती नहीं है, रत्याभास है। रत्याभास भी दो प्रकारका होता है—प्रतिविमरत्याभास और छायारत्याभास। गद्गद-भाव और आँख आदि दो-एक रतिके लक्षण दिखलायी देनेपर भी जहाँ भौगोकी और मोक्षकी इच्छा बनी हुई है, वहाँ प्रतिविमर-रत्याभास है; और जहाँ भक्तोंके सङ्गसे कथा-कीर्तनादिके कारण नाममह मनुष्योंमें भी ऐसे लक्षण दिखलायी देते हैं, वहाँ छायारत्याभास है।

भावकी परिपक्व अवस्थाका नाम प्रेम है। चित्तके सप्तूर्णरूपसे निम्नल और अपने अभीष्ट भ्रेम-भक्ति प्रेमका उदय होता है। किसी भी विषमके द्वारा जरा भी न बटना या न बदलना प्रेमका चिह्न है। प्रेम दो प्रकारका है—महिमाशानसुक्ष और केवल। विधिमार्गसे चलनेवाले भक्तका प्रेम श्रिमाशानसुक्ष है; और

राग-मार्गपर चलनेवाले भक्तका प्रेम केवल अर्थात् शुद्ध माधुर्यमय है। ममताकी उत्तरोत्तर जितनी ही बुद्धि होती है, प्रेमकी अवस्था भी उत्तरोत्तर वैती ही बदलती जाती है। प्रेमकी एक ऊँची स्थितिका नाम है स्नेह। स्नेहका चिह्न है, चित्तका द्रवित हो जाना। उससे ऊँची अवस्थाका नाम है राग। रागका चिह्न है, गाढ़ स्नेह। उससे ऊँची अवस्थाका नाम है प्रणाय। प्रणयका चिह्न है गाढ़ विश्वास। श्री-कृष्णरति-रूप स्थायिभाव विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव और व्यभिचारी भावके साथ मिलकर जग भक्तके हृदयमें आस्थादनके उपर्युक्त बन जाता है, तब उसे भक्ति-रस कहते हैं। उपर्युक्त कृष्णरति शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुरके भेदसे पाँच प्रकारकी है। जिसमें और जिसके द्वारा रतिका आस्थादन किया जाता है, उसको विभाव कहते हैं। इनमें जिसमें रति विभावित होती है, उसका नाम है, आलम्बन-विभाव; और जिसके द्वारा रति विभावित होती है, उसका नाम है उद्दीपन-विभाव। आलम्बन विभाव भी दो प्रकारका है—विषयालम्बन और आश्रयालम्बन। जिसके लिये रतिकी प्रवृत्ति होती है, वह विषयालम्बन है, और इस रतिका जो आधार होता है, वह आश्रयालम्बन है। इस श्रीकृष्ण-रतिके विषयालम्बन हैं—श्रीकृष्ण और आश्रयालम्बन हैं—उनके भक्तगण। जिसके द्वारा रतिका उद्दीपन होता है, वे श्रीकृष्णके स्मरण करानेवाली वज्राङ्गकारादि वस्तुएँ हैं उद्दीपन-विभाव।

नाचना, भूमिपर लेटना, गाना, जोरसे पुकारना, अङ्ग मोड़ना, हँकार करना, जँभाई लेना, लम्बे क्षास छोड़ना आदि अनुभावके लक्षण हैं। अनुभाव भी दो प्रकारके हैं—शीत और क्षेपण। गाना, जँभाई लेना आदिको शीत; और नृत्यादिको क्षेपण कहते हैं।

सात्त्विक भाव आठ हैं—स्तम्भ (डड़ा), स्वेद (पसीना), रोमाञ्च, स्वरमङ्ग, कम्प, वैष्णव्य, आशु और प्रलय (मूर्छा)। ये सात्त्विक भाव स्तिर्घ्य, दिन्ध और रुक्ष भेदसे तीन प्रकारके हैं। इनमें स्तिर्घ्य सात्त्विकके दो भेद हैं—सुख और गौण। साक्षात् श्रीकृष्णके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाला स्तिर्घ्य सात्त्विक भाव सुख है और परम्परासे अर्थात् किञ्चित् व्यवधानसे श्रीकृष्णके सम्बन्धमें उत्पन्न होनेवाला स्तिर्घ्य-सात्त्विक भाव गौण है। स्तिर्घ्य-सात्त्विक भाव

नित्यसिद्ध भक्तोंमें ही होता है। जातरति अर्थात् जिसमें प्रेम उत्पन्न हो गया है—उन भक्तोंके सात्त्विक भावको दिन्ध भाव कहते हैं और अज्ञातरति अर्थात् जिसमें प्रेम उत्पन्न नहीं हुआ है, ऐसे मनुष्यमें कभी आनन्द-विस्मयादिके द्वारा उत्पन्न होनेवाले भावको रुक्ष भाव कहा जाता है।

ये सब भाव भी पाँच प्रकारके होते हैं—धूमायित, ज्वलित, दीप, उद्दीप और सूदीप। बहुत ही प्रकट, परन्तु गुप्त रखने योग्य एक या दो सात्त्विक भावोंका नाम धूमायित है। एक ही समय उत्पन्न होनेवाले दो तीन भावोंका नाम ज्वलित है। ज्वलित भावको भी बड़े कष्टसे गुप्त रखता जा सकता है। बड़े हुए और एक ही साथ उत्पन्न होनेवाले तीन चार या पाँच सात्त्विक भावोंका नाम दीप है, यह दीप भाव छिपाकर नहीं रखता जा सकता। अत्यन्त उत्कर्षको प्राप्त एक ही साथ उदय होनेवाले छः, सात या आठ भावोंका नाम उद्दीप है। यह उद्दीप भाव ही महाभावमें सूदीप हो जाता है।

इसके अतिरिक्त रत्याभासजनित सात्त्विक भाव भी होते हैं, उनके चार प्रकार हैं। मुमुक्षु पुरुषमें उत्पन्न सात्त्विक भावका नाम रत्याभासज है। कर्मियों और विषयी जनोंमें उत्पन्न सात्त्विक भावका नाम सत्त्वाभासज है। जिनका चित्त सहज ही फिल जाता है या जो केवल अस्थासमें लगे हैं, ऐसे व्यक्तियोंमें उत्पन्न सात्त्विक भावको निःसत्त्व कहते हैं। और भगवान्में विद्वेष रखनेवाले मनुष्योंमें उत्पन्न सात्त्विक भावको प्रतीप कहा जाता है।

व्यभिचारी भाव दो हैं—निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शंका, त्रास, आत्रेग, उत्पाद, अपस्मार, व्याप्ति, मोह, मरण, आलस्य, जाड़य, लज्जा, अनुभाव-गोपन, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, उत्सुकता, उत्प्रता, अमर्ष, अशृणा, चपलता, निद्रा, सुस्ति और बोध।

भक्तोंके चित्तके अनुसार इन भावोंके प्रकट होनेमें तारतम्य हुआ करता है। आठ सात्त्विक और तैतीस व्यभिचारी भावोंकी व्याख्या सानामावसे यहाँ नहीं की जाती है। इन तैतीस व्यभिचारी भावोंको ही सञ्चारी भाव भी कहते हैं, क्योंकि इन्हींके द्वारा अन्य सारे भावोंकी गतिका सञ्चालन होता है।

अब स्थायिभावकी बात रही। स्थायिभाव सामान्य, स्वच्छ और शान्तादि भेदसे तीन प्रकारका है। किसी रस-निष्ठ मक्कोंका सज्ज हुए विना ही सामान्य भजनकी परिपक्वता-के कारण जिनमें एक प्रकारकी सामान्यता उत्तम हो गयी है, उसे सामान्यस्थायिभाव कहते हैं। शान्तादि भक्तोंके सज्जसे सज्जके समय जिनके स्वच्छ चित्तमें सज्जके अनुलाल रति उत्तम होती है, उस रतिको स्वच्छ स्थायिभाव कहते हैं और पृथक्-पृथक् रस-निष्ठ मक्कोंकी शान्तादि पृथक्-पृथक् रतिका

नाम ही शान्तादि स्थायिभाव है। शान्तादि भाव पाँच प्रकारका है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। इनमें पूर्व-पूर्वसे उत्तर-उत्तर श्रेष्ठ है। (इन पाँच रतोंका विस्तृत वर्णन पाठकोंको अत्य लेखोंमें देखना चाहिये।) इन पाँच रतोंके अतिरिक्त हास्य, अङ्गुत, वीर, कषण, रौद्र, भगवानक और वीभत्स—ये सात गौणरस और हैं। भगवान्नका किसी भी रसके द्वारा भजन हो, वह कल्याणकारी ही है, परन्तु साधनके योग्य आदर्श पाँच मुख्य रस हैं।*

साधन-भक्तिके चौसठ अङ्ग

- १—श्रीगुरुके चरण-कमलोंका आभ्य-ग्रहण ।
 २—श्रीगुरुदेवसे श्रीकृष्ण-मन्त्रकी दीक्षा लेकर भगवद्-विषयमें दिक्षा प्राप्त करना ।
 ३—विश्वासके साथ गुरुकी सेवा करना ।
 ४—साधु-महात्माओंके आचरणका अनुसरण करना ।
 ५—भागवतधर्मके सम्बन्धमें विनयपूर्वक प्रस्तुत करना ।
 ६—श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिये भोगादिका त्याग करना ।
 ७—द्वारका, अयोध्या आदि भगवान्नके लीलाधारोंमें और गङ्गादि तीर्थोंमें रहना ।
 ८—जिनने व्यवहारके विना काम न चले, नियमपूर्वक उतना ही व्यवहार करना ।
 ९—एकादशी, जन्माष्टमी, रामनवमी आदिका उपवास करना ।
 १०—अँखला, पीपल, तुलसी आदि पवित्र वृक्ष और गौ-ब्राह्मण तथा मक्कोंका सम्मान करना ।
 ये दस अङ्ग साधन-भक्तिके सहायक हैं; और ग्रहण करने योग्य हैं।
 ११—भगवद्-विमुख असाधु पुरुषका सज्ज शिलकुल त्याग कर देना ।
 १२—अनविकारीको, प्रलोभन देकर या बलपूर्वक किसीको शिष्य न बनाना, अधिक शिष्य न बनाना ।
- १३—भगवान्नके सम्बन्धसे रहित आडम्बरपूर्ण कारोंका आरम्भ न करना ।
 १४—चहुत-से ग्रन्थोंका अभ्यास न करना, व्याख्या या तर्क-वितर्क न करना । भगवत्सम्बन्धरहित कलाओंको न सीखना ।
 १५—व्यवहारमें अनुकूलता न होनेपर दीनता न लाना ।
 १६—शोक, मोह, कोषादिके वश न होना ।
 १७—किसी भी दूसरे देवता या दूसरे शास्त्रका अपमान न करना ।
 १८—किसी भी प्राणीको उद्देश न पहुँचाना ।
 १९—सेवापराध और नामापराधसं सर्वथा बचे रहना ।†
 २०—श्रीकृष्ण और श्रीकृष्णके भक्तोंके द्वेष और निन्दा आदिको न सह सकना ।
 इन दस अङ्गोंके पालन किये विना साधन-भक्तिका यथार्थ उदय नहीं होता ।
 २१—वैष्णव-चिह्न धारण करना ।
 २२—हरिनामाक्षर धारण करना ।
 २३—निर्माल्य धारण करना ।
 २४—श्रीभगवान्नके सामने नृत्य करना ।
 २५—श्रीभगवान्नके दण्डवत् प्रणाम करना ।
 २६—श्रीभगवान्नकी मूर्तिको देखते ही स्ख़े हो जाना ।

* यहाँ बहुत ही संक्षेपमें केवल परिचयमात्र दिया गया है। जिनको विशेष जानना हो वे श्रीरूपगोस्वामोरनिन 'हरिमान-रसाशुतसिन्हु' और 'उज्जवलनोलमणि' नामक संरक्षण ग्रन्थोंका अध्ययन करें। —सम्पादक।

† सेवापराध और नामापराधका बोगन इसी अङ्गमें दूसरी जगह दर्शिये।

- २७—श्रीभगवान्‌की मूर्तिके आगे-आगे या पीछे-पीछे चलना ।
- २८—श्रीभगवान्‌के स्थानों अथात् उनके घाम और मन्दिरोंमें जाना ।
- २९—परिक्रमा करना ।
- ३०—श्रीभगवान्‌की पूजा करना ।
- ३१—श्रीभगवान्‌की परिचर्चा या सेवा करना ।
- ३२—श्रीभगवान्‌का लीला-सम्बन्धी गान करना ।
- ३३—श्रीभगवान्‌के नाम, गुण और लीला आदिका उच्च स्वरसे कीर्तन करना ।
- ३४—श्रीभगवान्‌के नाम और मन्त्रादिका जप करना ।
- ३५—श्रीभगवान्‌के समीप अपनी दीनता दिखलाकर उनके प्रेमके लिये, सेवा प्राप्त करनेके लिये प्रार्थना करना ।
- ३६—श्रीभगवान्‌की स्तुतियोंका पाठ करना ।
- ३७—महाप्रसादका सेवन करना ।
- ३८—चरणामृत पान करना ।
- ३९—धूप और माला आदिका सुगन्ध ग्रहण करना ।
- ४०—श्रीमृतिका दर्शन करना ।
- ४१—श्रीमृतिका स्वर्ण करना ।
- ४२—आरति और उत्सवादिके दर्शन करना ।
- ४३—श्रीभगवान्‌के नाम-गुण-लीला आदिका श्रवण करना ।
- ४४—श्रीभगवान्‌की कृपाकी ओर निरन्तर देखते रहना ।
- ४५—श्रीभगवान्‌का स्वरण करना ।
- ४६—श्रीभगवान्‌के रूप, गुण, लीला और सेवा आदिका ध्यान करना ।
- ४७—तोरे कर्म श्रीभगवान्‌को अर्पण करके अथवा उन्हींके
- लिये सब कर्म करते हुए भगवान्‌का अनन्य दास बन जाना ।
- ४८—दृष्टि क्षमा और प्रीतिके साथ अपनेको श्रीभगवान्‌का सखा मानना ।
- ४९—श्रीभगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण कर देना ।
- ५०—अपनी उत्तम-से-उत्तम और प्यारी-से-प्यारी सब वस्तुएँ भगवान्‌के प्रति निवेदन कर देना ।
- ५१—भगवान्‌के लिये ही सब चेष्टा करना ।
- ५२—सब प्रकारसे सर्वथा श्रीभगवान्‌के शरण हो जाना ।
- ५३—उनकी तुल्सीजीका सेवन करना ।
- ५४—उनके शाकोंका सेवन करना ।
- ५५—उनकी पुरियोंका सेवन करना ।
- ५६—उनके भक्तोंका सेवन करना ।
- ५७—अपने वैभवके अनुसार सज्जनोंके साथ मिलकर भगवान्‌का महोत्सव करना ।
- ५८—कार्तिकके व्रत करना ।
- ५९—जन्म और यात्रा-महोत्सव मनाना ।
- ६०—श्रद्धा और विशेष प्रेमके साथ भगवान्‌के चरण-कमलोंकी सेवा करना ।
- ६१—रसिक भक्तोंके साथ मिलकर श्रीमद्भागवतके अर्थ और रसका आस्वादन करना ।
- ६२—कजातीय और समान आशयबाले, भगवान्‌के रसिक महापुरुषोंका सङ्ग करना ।
- ६३—नाम-सङ्कीर्तन करना और
- ६४—वज्र-मण्डलादि मधुर लीलाधारोंमें धास करना ।

हरिनाम-उच्चारणका फल

विष्णुदूत कहते हैं—

साहोत्यं पारिहास्यं वा स्तोमं हेलनमेव वा । वैकुण्ठनामप्रहणमशेषाघटरं विदुः ॥

पतितः स्वल्पितो भग्नः संदृष्टस्त आहृतः । हरिरित्यवदेनाह पुमानाहृति यातनाम् ॥

(श्रीमद्भा० ६।२।१४-१५)

भगवान्‌का नाम चाहे जैसे लिया जाय, किंठी बातका सङ्केत करनेके लिये, हँडी करनेके लिये, रागका अलाप पूरा करनेके लिये, अथवा तिरस्कारपूर्वक ही क्यों न हो, वह सम्पूर्ण पापोंको नाश करनेवाला होता है । पतन होनेपर, गिरनेपर, कुछ दृट जानेपर, डैसे जानेपर, बाहा या आन्तर ताप होनेपर और धायल होनेपर जो पुरुष विवशतासे भी ‘हरि’ यह नाम उच्चारण करता है वह यम-यातनाके थोग्य नहीं ।

सेवापराध और नामापराध

सेवापराध

- १—स्वारीपर चढ़कर अथवा पैरोंमें लड़ाऊँ पहनकर श्रीभगवान्‌के मन्दिरमें जाना ।
- २—रथ-यात्रा, जन्माष्टमी आदि उत्सवोंका न करना या उनके दर्शन न करना ।
- ३—श्रीमूर्तिके दर्शन करके प्रणाम न करना ।
- ४—अशोच-अवस्थामें दर्शन करना ।
- ५—एक हाथसे प्रणाम करना ।
- ६—परिक्रमा करते समय भगवान्‌के सामने आकर कुछ न घूमकर फिर परिक्रमा करना अथवा केवल सामने ही परिक्रमा करते रहना ।
- ७—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने पैर पसारकर बैठना ।
- ८—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने दोनों शुटनोंको ऊँचा करके उनको हाथोंसे लेपेटकर बैठ जाना ।
- ९—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने सोना ।
- १०—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने भोजन करना ।
- ११—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने शूठ बोलना ।
- १२—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने जोरसे बोलना ।
- १३—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने आपसमें वातचीत करना ।
- १४—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने चिल्ड्रना ।
- १५—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने कलह करना ।
- १६—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने किसीको पीड़ा देना ।
- १७—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने किसीपर अनुग्रह करना ।
- १८—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने किसीको निष्ठुर शब्द बोलना ।
- १९—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने कम्बलसे सारा शरीर ढक लेना ।
- २०—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने दूसरेकी निन्दा करना ।
- २१—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने दूसरेकी स्तुति करना ।
- २२—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने अस्तील शब्द बोलना ।
- २३—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने अधोवायुका त्याग करना ।
- २४—शक्ति रहते हुए भी गौण अर्थात् सामान्य उपनारोंसे भगवान्‌की सेवा-पूजा करना ।

२५—श्रीभगवान्‌को निवेदन किये विना किसी भी वस्तुका खाना-पीना ।		
२६—जिस वस्तुमें जो फल हो, उसे सबसे पहले श्रीभगवान्‌को न चढ़ाना ।		
२७—किसी शाक या फलादिके अगले भागको तोड़कर भगवान्‌के व्यञ्जनादिके लिये देना ।		
२८—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहको पीठ देकर बैठना ।		
२९—श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने दूसरे किसीको भी प्रणाम करना ।		
३०—गुरुदेवकी अम्यर्थना, कुशल-प्रश्न और उनका स्वयन न करना ।		
३१—अपने मुखसे अपनी प्रशंसा करना ।		
३२—किसी भी देवताकी निन्दा करना ।		
३३—श्रीवाराह-पुराणमें ३२ सेवापराधोंका वर्णन नीचे लिखे अनुसार किया गया है—		
१—राजा के अज्ञाका भक्षण करना ।		
२—अँधेरेमें श्रीविग्रहका स्वर्ण करना ।		
३—नियमोंको न मानकर श्रीविग्रहका स्वर्ण करना ।		
४—बाजा या ताली बजाये बिना ही श्रीमन्दिरके द्वारको खोलना ।		
५—अभृत वस्तुएँ निवेदन करना ।		
६—पातुकासहित भगवान्‌के मन्दिरमें जाना ।		
७—कुचेकी जँठन स्वर्ण करना ।		
८—पूजा करते समय बोलना ।		
९—पूजा करते समय मलत्यागके लिये जाना ।		
१०—आदादिदि किये विना नया अस खाना ।		
११—गन्ध और पुष्प चढ़ानेके पहले धूप देना ।		
१२—निषिद्ध पुष्टोंसे भगवान्‌की पूजा करना ।		
१३—इत्यत्वन किये विना भगवान्‌के श्रीविग्रहकी पूजा या उनका स्वर्ण करना ।		
१४—ली-सम्भोग करके भगवान्‌के श्रीविग्रहकी पूजा या उनका स्वर्ण करना ।		
१५—रजस्वला लीका स्वर्ण करके		
१६—दीपका स्वर्ण करके		
१७—मुद्रेका स्वर्ण करके		
१८—लाल वस्त्र पहनकर		
१९—नीला वस्त्र पहनकर		

२०—विना धोया हुआ वस्त्र पहनकर भगवान्‌के श्रीविग्रहकी
पूजा या उनका स्पर्श करना ।

२१—दूसरेका वस्त्र पहनकर	"	"
२२—मैला वस्त्र पहनकर	"	"
२३—शवको देखकर	"	"
२४—अधोवायुका ल्याग करके	"	"
२५—क्रोध करके	"	"
२६—इमशानमें जाकर	"	"
२७—खाया हुआ अन्न पचनेसे पहले खाकर	"	"
२८—पशुओंका मांस खाकर	"	"
२९—पश्चियोंका मांस खाकर	"	"
३०—गाँजा आदि मादक द्रव्योंका सेवन करके,,	"	"
३१—कुमुख साग खाकर और	"	"
३२—शरीरमें तैल मल्कर	"	"

गङ्गालान करनेसे, यमुनालान करनेसे, भगवान्‌की
सेवा करनेसे, प्रतीदिन गीताका पाठ करनेसे, तुलसीके द्वारा
श्रीशालग्रामजीकी पूजा करनेसे, द्वादशीके दिन जगरण करके
दुल्हीका स्वत्वन करनेसे, भगवान्‌की पूजा करनेसे और
भगवान्‌के नामका आश्रय लेकर नाम-कीर्तन करनेसे सामापराध
छूट जाता है । भगवान्‌के नामसे सरे अपराधोंकी क्षमा हो
जाती है । श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—

मम नामानि लोकेऽस्मिन्हृदय यस्तु कीर्तयेत् ।

तस्यापराधकोटीस्तु क्षमाप्येव न संशयः ॥

‘इस संसारमें जो पुरुष श्रद्धापूर्वक मेरे नामोंका कीर्तन
करता है, मैं उसके करोड़ों अपराधोंको क्षमा कर देता हूँ,
इसमें कोई सन्देह नहीं है’ ।

जीवोंका परम धर्म क्या है ?

यमराज अपने दूतोंसे कहते हैं—

एतावत्नेत्र लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः यतः स्मृतः । भक्तियोगो भगवति तत्त्वमग्रहणादिभिः ॥

नामोऽवारणमहात्म्यं हरे: पश्यत् पुत्रकाः । अजामिलोऽपि येनैव सुत्युपाशाद्मुच्यत ॥

एतावतालमघनिर्दरणाय पुंसा सङ्कीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाच्चाम् ।

चिकुश्य पुत्रमधवान्यदजामिलोऽपि नारायणेति ऋयमाण इयाय सुकिम् ॥

(श्रीमद्भा० ६।३।२२-२४)

इस संसारमें जीवोंका इतना ही परम धर्म है—भगवान्‌के नामोच्चारण आदिके द्वारा भगवान्‌में परमभक्ति करना ।
दे कूतो ! भगवान्‌के नामोच्चारणकी महिमा साक्षात् आँखोंसे देख लो कि जिससे अजामिल भी मृत्युपाश्वसे छूट गया । भगवान्‌के
रुण, लीला और नामोंका कीर्तन, वस्त्र, इतना ही जीवोंके पापनाशके लिये पर्याप्त है । क्योंकि पापी अजामिल भी मरते समय
'नारायण' इस नामसे अपने पुक्षों पुकारकर मुक्तिको प्राप्त हुआ । (पिर जो पुण्यात्मा हैं—जीवनमें श्रद्धा-भक्तिसे
भगवान्‌का नाम लेते हैं उनका तो कहना ही क्या है ?)

नामापराध

१—सत्पुरुषोंकी निन्दा करना ।

२—शिव और विष्णुके नाममें झँच-नीचकी कल्पना करना ।

३—गुरुका अपमान करना ।

४—बेदादि शास्त्रोंकी निन्दा करना ।

५—‘भगवान्‌के नामकी जो इतनी महिमा कही गयी है, यह
केवल सुतिभान्न है, अस्त्वमें इतनी महिमा नहीं है’ ।

इस प्रकार भगवान्‌के नाममें अर्थवादकी कल्पना करना ।

६—‘भगवान्‌के नाममें पापोंका नाश होता ही है, पाप
करके नाम लेनेसे पाप नष्ट हो ही जायेंगे, पाप हमारा क्या
कर सकते हैं ?’ इस प्रकार भगवान्‌के नामका आशय
लेकर नामके बलपर पाप करना ।

७—यश, तप, दान, व्रत आदि शुभ कर्मोंको नामके
समान भानना ।

८—श्रद्धारहित और सुनना न चाहनेवाले व्यक्तिको
उपरेश्वर करना ।

९—नामकी महिमा सुनकर भी नाममें प्रीति न करना । और

१०—‘हैं’ और ‘मेरे’के फेरमें पढ़कर विषय-भेदोंमें आस्तक
होना ।

ये दस नामापराध हैं । नामापराधसे भी कुट्टकरा नामके
जप-कीर्तनसे ही मिलता है ।

नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्स्यवृ॒ ।

अविश्वान्तप्रयुक्तानि तान्येवार्थकराणि च ॥

‘नामापराधयुक्त पुरुषोंका पाप नाम ही हरण करता है
और निरन्तर कीर्तन किये जानेपर वह सारे मनोरथोंको पूरा
करता है ।

अटपटा साधन—प्रेम

(लेखक—पं० विश्वासदत्तजी भट्ट)

नातमुखेकोरी से बाईंक की है ये बहते !
इस रंग को क्या जाने पूछो तो कभी पी है !!
उस मैय से नहीं मतलब दिल जिस से है बेगाना !
मङ्गसदृँ है उस मध्य से दिल ही मे जो छिन्चती है !!

—अक्षर

साथ एक है—साधन अनेक; पर सबसे बड़ी कमी है साधकोंकी । मार्ग बतानेवालोंकी कमी नहीं, कमी है मार्गपर चलनेवालोंकी । नेता और उपदेशकोंका दोटा नहीं, दोटा है तो उनके उपदेशोंको मानकर बताये हुए पथपर चलनेवालोंका । मझा तो यह है कि जो मार्ग बताते हैं, वे सब्य ही उस मार्गपर नहीं चलते । ‘आपु न जावे सासुरे औरन को सिल देह’ । याली मस्तक है । भगवद्गीतके मार्गका भी ऐसा ही हाल है । इस ओर भी धर्मोपदेशकोंकी कमी नहीं । साधन बतानेवालोंका दोटा नहीं । और फिर भारतकी तो बात ही क्या कही जाय । यहाँकी तो गली-गलीमें घेदान्त विवरण पढ़ा है । यहाँके बड़मूर्ख भी जगत्की मशक्तता, आत्माकी अमरता और भोगोंकी अस्तित्वापर धर्टों विवाद कर सकते हैं । आजके इन उपदेशकोंकी भीड़में तुलसी और कवीर, मीरा और सूरदास, नरसी और रैदास, चंतल्य और नामदेव, रामकृष्ण और रामतीर्थ, विवेकानन्द और अविविद्यौंसे साधक कितने हैं ? और, दालमें नमक बराबर भी तो नहीं । और बालमें बात तो यह है कि सचे साधक तो उपदेश और प्रचारसे सर्वथा परे रहते हैं । यह दूसरी बात है कि उनके मुख्योंमें यदो-कदा निकली पावन वाणीका लोग इस कार्यके लिये उपयोग कर लें; पर वे स्वतः इसके लिये सचेष्ठ रहते हों, ऐसा प्रायः देखनेमें नहीं आता । कहा ही है कि—

जो जाने से कहे नहिं, कहे सो जाने नहिं ।

अधभरी गगरी ही अधिक छलका करती है, भरी नहीं । प्रेमानन्दमें विभोर रहनेवालोंको, शानानन्दसे आकर्ण परिपूर्ण रहनेवालोंको तो यह चिन्ना रहती ही नहीं कि कोई अन्य व्यक्ति जाने कि वे कितने गहरेमें हैं ? उन्हींकी अवस्थाका परिचय देते हुए कवीर कहते हैं—

१. अनुभवहीनता, २. उपदेशक, ३. शराब, ४. लक्ष्य, उद्देश्य ।

मन मस्त दुश्म तब क्यों जोके ?
हीरा पायो गँठ गढ़िशामो ।
बार बार बाको क्यों सोजे ॥ १ ॥
हलकी यी तब चढ़ी तराजू ।
पूरी भई तब क्यों तोले ॥ २ ॥
मुरत कलारी भइ मतवारी ।
मददा पी गई बिन तोले ॥ ३ ॥
हंसा पाये मान सरोवर ।
ताल तलैया क्यों ढोले ॥ ४ ॥

पर जो हो, हमारी आध्यात्मिक भूख मिटानेके लिये तो कुछ-न-कुछ चाहिये ही । हमारे अन्तर्की तीव्र पिपासा तो मिटनी ही चाहिये । वह पिपासा एक-दो दिनकी पिपासा तो है नहीं । यह है न जाने कितने जन्म-जन्मान्तरोंकी । सहज ही वह मिट जाय, यह आशा करना तो व्यर्थ ही है । यह अवश्य है कि मृगनुष्णाके जलसे वह कुछ देर बहला भले ही रक्ती जाय । पर ऐसा बहलाना कथतक काम देगा ।

अन्तर्की पिपासा जब हमारे भीतर जाग्रत होती है तो हम व्याकुल हो उठते हैं उसे शान्त करनेके लिये । परन्तु उस समय न तो हमारा जाना हुआ मार्ग होता है और न उस मार्गपर जानेका साधन । उस समय जो लोग हमारे पथ-प्रदर्शकके रूपमें हमारे सम्मुख आते हैं, वे बेचारे सब्य ही पथ नहीं जानते और इसका अवस्थम्भावी परिणाम यह होता है कि वे आप तो डूबते ही हैं, साथमें हमें भी ले डूबते हैं । हम अन्धकारमें ही टटोलते रह जाते हैं और वर्षोंके परिश्रमके उपरान्त भी अपनेको उसी शानपर लड़ा पाते हैं, जहाँसे हमने आगे चलना असम्भ किया था । कारण ? कारण स्पष्ट है । फहला तो यह कि हमारी पिपासाकी तीव्रतामें कमी और दूसरा उचित साधनका अज्ञान । तीव्रतामें कमी इसलिये कि उसके तीव्र होनेपर व्यर्थ ही इधर-उधर भटकनेकी कम गुंजाइश रहती है और प्रलोभन मार्गमें किसी भाँतिकी बाधा डालनेमें समर्थ नहीं हो पाते और उचित साधनका अज्ञान तो रहता ही है । जब पथ-प्रदर्शक ही पथभ्रान्त हैं तब उचित साधन ही कैसा ? जब वे ही अन्धकारमें टटोल रहे हैं तो हमें प्रकाश कहाँसे मिलेगा ?

और फिर, माना कि हमारी आध्यात्मिक भूख भली

प्रकार जगत् हो पड़ी है और हमें साधन भी जात हो गया है, तथा हम उसपर चलने लगे हैं। किन्तु जब हम देखते हैं कि इस मार्गपर चलते हमें हतना समय बीत गया और कुछ भी सिद्धि नहीं मिली तो हमारी साधनपरसे श्रद्धा विचलित हो उठती है और बस, हम गिर जाते हैं। हम सर्वथा भूल बैठते हैं, कि—

साधनाये सिद्धि लाम एके दिन नहिं हय,
श्रीमर साक्षत्य आछे ऐ जगत् सुनिश्चय।
सुदिन होल आगत पूर्ण हवे भोलेय,
सद्यः जात तह शाला पुटे ना कुसुमार।
समये दिवेन प्रभु अस शेष्य पुरस्कार॥

समय आनेपर असका पुरस्कार मिलेगा ही। अतः साधनाके पथमें हताश होनेकी थात होती ही नहीं, परन्तु हम तो नाहते हैं कि हमें आनन-फानन कल मिले। थोड़ा-धा भी विलभ न लगे। भाँति-भाँतिके प्रलोभन भी आकर हमारा मार्ग रोकने लगते हैं और हम इस मार्गकी वाधाओंसे अनभिज्ञ होनेके कारण उनपर विजय न प्राप्त कर पथ-आन्त हो जाते हैं।

योग, यज्ञ, तप, व्रत, दान, होम आदि-आदि न जाने किनमें साधन हैं प्रभु-प्राप्तिके। सभीके द्वारा भक्त और जानी उनके सञ्जिकट पहुँचे हैं। भक्तोंकी पावन गाथाएँ पुकार-पुकारकर इसकी दुहाई पीट रही हैं, परन्तु आज हम इन सब साधनोंको अव्यन्त ही कष्टसाध्य पाते हैं। दूरकी बात ही क्यों, समीपकी ही के लीजिये। कोई छोटा-मोटा पाठ या अनुष्ठान आरम्भ करते ही न जानें किसी झंगटे हमारे सम्मुख आ उपस्थित होती है। फलस्वरूप हम या तो उन्हें अधूरा छोड़कर बैठ रहते हैं और थिदि पूरा भी करते हैं तो ऐसे मानो इतना सबक हमें किसी-न-किसी तरह दोहरा ही जाना है। भला, कहीं इस प्रकारसे भगवत्प्राप्ति हुआ करती है? कौही देकर कहीं हीरा खरीदा जाता है? उस सबे पारखीकी भी आँखोंमें किसी भाँति धूल झोकी जा सकती है? इस तरह यदि बैतार काटनेसे चला करता या तोते जैसे पाठसे अनुष्ठ पलकी प्राप्ति हुआ करती तो जगन्निधन्ताको और किसी नामसे भले ही पुकार लिया जा सकता या, उसे न्यायकारी और कर्मनुसार फल देनेवाला तो कभी भी न कहा जाता। वह न्यायाधीश ही कब कहला सकता है जिसके दरमारमें अन्यथा होता है? यह सब सोचकर यहीं जीमें आता है कि कोई साधन ऐसा होता जो कष्टसाध्य भी न होता और

उससे अपना मतलब भी हल हो जाता। परेशानी भी न होती और काम भी चलता। तमाम तूमार भी न बाँधना होता और उहेव्यमें सफलता भी प्राप्त होती।

हताश होनेकी बात नहीं। सबे साधकोंने ऐसा मार्ग भी लोज निकाला है। उस मार्गका नाम है—प्रेम। सरल-से सरल होनेपर भी वह वडा ही अटपटा मार्ग है।

इस मार्गके कुछ पथिकोंका अनुभव भी सुन लीजिये। एक साहब फरसा रहे हैं—

कृचर इडकमें 'अहसान' संभलकर जलना,
हजरत खिज्ज भी मूँह है डिकाना अपना!

दूसरे साहब कहते हैं—

इडककी चौट कलंज पै न सांय कोई,
जान से जाये भगर दिल न रमाये कोई!
तीसरे साहबका अनुभव है—

अल्लाह इश्क भी है कोई ऐसी मासिथत,
एक अस सी रानी है दिल बेकार मै।

चौथे साहबका कहना है—

ये वो शै है कि न बात इस्में कंग,
संसिधा खड़े भंग, इस को जब्त पर न धेर !
हमारे बोधा कवि भी ऐसा ही कुछ गुनगुना रहे हैं—
यह प्रेम को पथ कराय महा, तलवार की धार पै धावनो है।

कुछ औरोंकी बानगी इस प्रकार है—

भीस काटिक मुँड भै ता पर रामे पाँव।
इश्क चमन के बीचमे ऐसा हो तो आव।
प्रेम पंथ अति ही कठिन सब पै निवहत नाहि।
चटिके मेम तुंग पै चलिबं पावक माहि।
'नरायण' प्रिंतम निकट सोई पहुँचनहार।
गेंद बनावे सीस की खेड़े बीच बजार॥

यह सब होनेपर भी अनुभवियोंका यही कहना है कि—

प्रेम बराबर योग नहि, प्रेम बराबर ध्यान।
प्रेम भक्ति बिन साधना, सब ही धोधा जान॥

प्रेम-पथकी गहनता, गुरुता और गम्भीरताको स्वीकार करते हुए भी प्रेमीलोग इस बातके कायल हैं कि चाहे कुछ क्यों न हो जाय पर किया तो प्रेम ही जाय! उनका तो बार-बार यही कहना है कि—

कोई लज्जत नहीं है मिर भी दुनिया जान देती है,
खुदा जाने मुहब्बतमें मज़ा होता तो क्या होता !

पर उनका ऐसा कहना भी अर्थ रखता है और वह यह कि मुहब्बत वास्तवमें बड़ी ही मज़ेदार चीज़ है। उसमें मज़ा है और इतना गहरा मज़ा है कि सारी दुनिया उसके पीछे पागल बनी फिरती है। जिवर देखिये उधर ही प्रेमका राय छिड़ा है। प्रेमकी महिमा अपार और अनन्त है। उसकी एक छोटी-सी भी झाँकी हमारा मन मुश्ख कर लेती है और हमें बरवस उसकी अलौकिक सत्ताको स्वीकार कर लेना पड़ता है। माताके कलेजेका रक्त वचोंके लिये बैत दूधके रूपमें परिवर्तित हो जाता है, क्यों—कभी सोचा है ? शायद नहीं। यह उसके अन्तस्तलका प्रेम ही है जिसके कारण ऐसा होता है। एक-दो नहीं सैकड़ों ऐसे उदाहरण प्रतिदिन हमारे नेत्रोंके सम्मुख सैकड़े हैं जो प्रेमकी महिमाको हमारे सामने सष्ठ कर जाते हैं और हमसे पुकार-पुकारकर कहते हैं—मूर्ख ! तू भी प्रेमका दीवाना बन। जीवनका एकमात्र सार प्रेममें ही है। निश्चेम रहकर तेरे जीवनका कोई मूल्य ही नहीं। तेरे हृदयमें यदि प्रेम न होगा तो तुझे कोई कोइ-मोल भी न पूछेगा। और सचमुच, इस जगतमें ही ही ऐसा कौन जो प्रेमकी सत्ताको स्वीकार न करे ? लौकिक प्रेम ही जब इतना मनमुश्खकर है तब पारलैकिकी तो बात ही क्या कहीं जाय ? जिस प्रेममें वासनाका योड़ा-सा भी पुट रहता है वह निकृष्ट श्रेणीका प्रेम समझा जाता है। उसमें वह मज़ा नहीं रहता जो सचे प्रेममें रहना चाहिये। पर सचे प्रेमके तो दर्शन भी हुल्लम हैं। इस लौकिक प्रेमसे ही पारलैकिक प्रेमके आनन्द-की कल्पना कर सकते हैं। और उसके लिये इतना सोच लेना ही यथेष्ट है कि उसकी बौद्धित सब कुछ सम्भव है। इतनेमें ही सब कुछ आ जाता है। प्रभुके चरणारविन्दीतक पहुँचनेके लिये योगी और यति, महात्मा और भृगु अनन्तकालीन साधनामें निरत रहे और उन्हें प्राप्त करना अत्यन्त ही दुर्लभ बताते रहे, परन्तु आँखें तो तब खुलीं जब देखा कि और, वही प्रभु जिसके लिये इस ऐसा कहते हैं—

ताहि अहीश्ची छोहरियाँ दृश्यिया मरि द्वादृ पै नाच नचावेँ।

फिर तो उन्हें शास्त्र मारकर स्वीकार करना पड़ा कि—
ब्रह्म में दृढ़यो पुरानन् गप्पन, वेद रिचा परी चौमुने चायन।
देसो मुगो न कहै कबैँ वह कैसे सर्सप औ कैसे सुमान॥
दृढ़त दृढ़त दृढ़ियो 'सरसानि' बतायो न लोग लुगायन।
देस्यो वह कुंज कुटीरन, बैठो पलोट इधिका पप्पन॥

देखा आपने ! हज़रत मिले भी तो कहाँ ? और जनाब ड्यूटी कीन सी अदा कर रहे थे ! श्रीमती राधारानीकी चरणसेवामें तलीन थे ! है न ये चक्करमें डाल देनेवाली बात ! और, वे बैचारे तो टापते ही रह गये जो बरसोंसे जय, तप, नियम, उपवासमें लगे थे और बाजी मार ले गयी राधारानी ! राधारानीमें ऐसे कौन-से सुरखावके पर लगे थे कि श्रीमानजी उनकी तरफ तो इतने छुक गये कि पैर पलेटने लगे और इन लोगोंसे सीधे मुँह बात करना तो दर किनार एक बार अपनी झाँकीतक न दिखायी ! है न सरासर अन्धेर—परन्तु बात तो यह है कि—

हम आह भी करते हैं तो हो जाते हैं बदनाम,
वह जुल्म भी करते हैं तो चरना नहीं होती !

उनकी दयादृष्टि जिसपर पड़ जाय उसके सौभाग्यका क्या कहना ! और यह दयादृष्टि डालना एकबारी ही उनकी मर्जीपर है। जिसे चाहें निहाल कर दें और जिससे चाहें मुँह केर लें। ऐसा सोचकर इम उन्हें मनमौजी भले ही कह लें, परन्तु वास्तवमें बात यह है कि प्रेम-अख्लक सामने उनकी भी कोई दाल नहीं गलती। और सारे अख्ल निरर्घक हो जाते हैं, परन्तु प्रेम-अख्लका बार चूक जाय—यह असम्भव है। और उसके बलपर श्रीमानजीसे चाहे जैसा तुमका नाच नचाया लीजिये। किना किसी ननु-नचके आप सब कुछ करनेको नियार हो जायेंगे। तभी तो इसीकी बदौलत—

वेद भेद जाने नहीं नेति नेति कहै बैन।
ता मोहन वै राधिका कहै महावर दैन॥

शायद आप पूछ दें कि यह प्रेम मिले कैसे ? इस साधनको उपलब्ध करनेका उपाय क्या है तो उसके लिये गालिव साहब साफ कह गये हैं कि—

इक पर लोग नहीं हैं ये दो आतिश 'प्रसिद्ध',
जो लगाये न लगे और बुझाये न बुझे।

यह आग तो दिलमें अपने आप पैदा होती है। है तो सभीके दिलके भीतर परन्तु उसपर राख पड़ी हुई है—सांसारिक मायामोहकी, अशान और अविद्याकी, विषय-भोगों और भाँति-भाँतिके प्रलोभनोंकी। यह राख फूक दी जाय तो प्रेमका दहकता हुआ अँगारा निकल आये ! फिर तो पूछनेकी भी जरूरत न रहे कि क्या करना है और किधर जाना है। तब तो स्वतः ही प्रेमका यह तीव्र उद्ग्रेक होगा कि सब कुछ भूलकर एकमात्र प्रियतमका ही आठ पहर

चौसठ बड़ी ज्ञान रहेगा । उसीका संरण होगा और उसीका चिन्तन । हृदयमें वह तीव्र वेदीनी उत्सर्ज हो जायगी जो प्रेमियोंकी एकमात्र बधौती है । उसके आगे तो कुछ कहना रह ही नहीं जाता । वह प्रेमनन्दका अलौकिक आनन्द, वह प्रेम-विहङ्गता, वह प्रेमाश्रुओंका अविरल प्रवाह सबके भाग्यमें नहीं होता । उसे प्राप्त तो कोई भी कर सकता है पर सब्दे दिलसे उसके लिये कोई सचेष्ट भी तो हो ! सब

कुछ भूलकर कोई उस अल्पेले प्रियतमको पानेके लिये छटपटाये भी तो । सब्दे दिलसे उसके लिये रेखे भी तो ! पर यह हो नहीं सकता कि उसका इन्द्रन व्यर्थ जाय—उसकी पुकार सुनी जायगी और अवश्य सुनी जायगी और—लत्पर इक सलामत है तो इशा अलाह, कब्दे धोगें चले आँगे सरकार बैंध ॥
यह ध्रुव सत्य है ।

वर्णाभ्रमसाधनका तत्त्व

(लेखक—प्रोफेसर ब्रांब्रह्मकुमार वन्दीपाध्याय, एम.० ड०)

अनन्त विषमताओंसे भरे इस प्राकृत जगतमें अन्यान्य प्राणियोंकी भाँति ही मनुष्य भी शक्ति, शान, इच्छा और संस्कारोंकी विचित्रताओंको लेकर ही जन्म-प्राप्त करता है । उसके बाहर भी विचित्रता है और अंदर भी विचित्रता है । जागर्तिक विचित्रताके साथ संयोग-विद्योग होनेके कारण उसके जीवनमें भी विचित्रताएँ फूट निकलती हैं । वह अपने अंदर विचित्र अभ्यायोंकी प्रतार्हना, विचित्र प्रयोजनोंकी प्रेरणा, विचित्र भावोंकी लहरियाँ और विचित्र आदर्शोंके आकर्षण-का अनुभव करता है । वह अपने जीवनपथमें जितना ही अग्रसर होता है, उतना ही अपनी व्यक्तिगत विद्यिष्टा और दूसरोंके साथ अपनी पृथक्तात्का उपलब्ध करता रहता है । मनुष्य केवल दूसरे प्राणियोंसे ही अपनी पृथक्ताका अनुभव करता हो, इन्हीं ही बात नहीं है । मनुष्यके साथ भी मनुष्यके असंख्य प्रकारके भेद हैं । उनमें शक्तिका भेद है, शुद्धिका भेद है, स्वार्थका भेद है और अवस्थाका भेद है । इन सब भेदोंके कारण मनुष्योंका परस्पर संघर्ष अनिवार्य हो जाता है । प्रत्येक मनुष्यको मानो अनवरत संग्राम करते हुए ही इस जगतमें अपनी जीवन-रक्षा और स्वार्थ-साधन करना पड़ता है ।

जो मनुष्य प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्वितामें विशेष दक्ष नहीं है, उसके लिये मानो इस संसारमें आत्मरक्षा करनेका कोई उपाय ही नहीं है । इसीलिये मनुष्यके जीवनपथमें स्वाभाविक ही हिंसा, द्वेष, घृणा और भय आदि अनिवार्यलप्ये प्रकट होते रहते हैं । इसीलिये मानव-जातिमें अशान्तिका कभी अभाव नहीं होता । जिस स्वार्थ-सिद्धिके लिये मनुष्य सदा वैर मोल लेनेको तैयार रहता है, उस स्वार्थका भी प्रतिक्षण नाश होता रहता है । जगतमें

दुःख और अतुसिसे रहित पूर्ण सुखभोग और आत्मसुसिसि किसीको भी नहीं होता । लगातार युद्ध करने और नये-नये युद्धोंकी तैयारी करनेमें ही जीवन बीत जाता है । इस युद्धके लिये ही मनुष्य सङ्क बनाता है, भौति भौतिके दाव-पेंचोंका जाल फैलाना सीखता है, नये-नये अस-शब्द और कल-कारखानोंका आविष्कार करता है और प्रकृतिकी शक्तियोंपर अधिकार जमाकर उसको भी युद्धके साधन बना लेता है । इसीके परिणामस्वरूप युद्धकी भीषणता कमशः बढ़ती ही जाती है । व्यक्तिके साथ व्यक्तिका संग्राम तो चलता ही है; वही और भी भयङ्कर रूप धारण करके जातिके साथ जातिके, सम्प्रदायके साथ सम्प्रदायके और श्रेणीके साथ श्रेणीके युद्धके रूपमें परिणत होकर संसारको समझान बना देनेके लिये तैयार हो जाता है । इतना होते हुए भी मनुष्यके प्राण इस वैर-विरोध और संग्रामकी स्थितिको कभी पंसद नहीं करते । वे सदा-सर्वदा शान्तिके लिये, तृप्तिके लिये, अपने अंदरकी पूर्णताको प्राप्त करनेके लिये और सबके साथ प्रेमका समन्वय जोड़नेके लिये व्याकुल रहते हैं ।

मनुष्य यह कभी अपने अन्तरात्माकी ओर देखता है, तभी उसे यह वाणी सुनायी पड़ती है कि ‘संग्रामके द्वारा जीवनकी सर्वकाता सम्भव नहीं है,—प्रकृतिके द्वारा युद्धके लिये खींचि जानेपर भी युद्धसे छुटकारा पाना ही उसके जीवनका आदर्श है,—प्राकृत जगतमें जीवन-संग्राम एक स्वाभाविक विधान होनेपर भी वह इस संग्रामसे ऊपर उठकर शान्तिमय राज्यमें निवास करनेका अधिकारी है।’ अन्तरात्माके अंदर यह शान्ति, तृप्ति, समता और प्रेमका आदर्श निष्पत्ति निहित है—यही कारण है कि मनुष्यको संग्राम-क्षेत्रमें भी शान्तिके बचन सुनाने पड़ते हैं, हिंसाद्वात्तिको चरितार्थ करते

समय भी यह घोषणा करनी पड़ती है कि इसमें उसका उद्देश्य शान्ति, प्रेम, न्याय और साम्यकी स्थापना करना ही है। बस्तुतः मनुष्य-जीवनमें अन्तरात्मके आदर्श और वाहा प्रकृतिकी प्रताङ्गनमें एक दृढ़—शगड़ा सदासे ही चला आ रहा है। मनुष्यका अन्तरात्मा प्राकृत जगत्‌के इस संग्रामको आत्मनितक सत्य माननेके लिये कभी राजी नहीं होता।

मनुष्यके अन्तरात्मका यह दावा है कि मनुष्यको अपनी साधनाके द्वारा सब प्रकारके भेद, दृढ़, कलह और युद्धोंके स्तरको लॉबकर शान्तिमय, सौन्दर्यमय और कल्याणमय अमेद-राज्यमें पहुँचना और वहाँ अपनेको प्रतिष्ठित करना पड़ेगा। भेदमें अमेदकी प्रतिष्ठा, विषमतामें समस्ताकी प्रतिष्ठा, दृढ़मय जगत्‌में शान्तिकी प्रतिष्ठा और सूख्यमय जगत्‌में अमृतत्वकी प्रतिष्ठा—यही मानवात्मका जीवनव्रत है, यही उसकी धर्म साधना है। जानमें ऐक्यदर्शन, प्रेममें ऐक्यानुभूति और कर्ममें ऐक्यनिश्चा—यदी मनुष्यके धर्मानुशीलनका आदर्श है। विचार-बुद्धिके सम्बन्धके अनुशीलनसे उसको सब प्रकारके भेद और विषमताओंके मूलमें एक अद्वितीय सचित्, प्रेमानन्दधन परमतत्त्वको प्राप्त करना होगा। प्रेमके सम्बन्धके अनुशीलनके द्वारा सबके अंदर एक 'सत्य-शिव-सुन्दर' प्राणका अनुभव करके सबके जीवनके साथ अपने जीवनको मिला देना होगा। सबके स्वार्थमें ही अपने यथार्थ स्वार्थका परिचय पाकर अपने वैचित्रयमय जीवनके सम्बत विभागोंकी कर्मधाराको उसी उहैश्यके अनुकूल बदा देना होगा। इस परम कल्याणमय ऐक्यके आदर्शद्वारा अनुग्राहित होकर सब प्रकारके दृढ़, सङ्घर्ष, हिंसा, होप और अशान्तिके स्तरसे ऊपर मानवजीवनको प्रतिष्ठित करनेका व्रत ही यास्तवमें मनुष्योचित साधना है।

इस जगत्‌में मानव-जीवनको इस प्रकार दृढ़ातीत, अमृतमय और शान्तिमय बनानेके लिये जितना अपने देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धिका अनुकूल होना आवश्यक है, उतना ही सामाजिक स्थितिका भी अनुकूल होना अभीष्ट है। समाजके साथ व्यक्तिका अङ्गाङ्गी सम्बन्ध है। समाजसे अल्पा करके मानव-जीवनपर विचार करना सम्भव नहीं। समाजके हम्मकसे ही मनुष्यका परिचय प्राप्त होता है। समष्टिगत जीवनके साथ सम्बन्ध हुए थिना व्यष्टिगत जीवनका कोई परिचय ही नहीं मिल सकता। मनुष्यका जन्म, स्थिति, बुद्धि और परिणाम सब समाजके अंदर ही होता है। समाजसे ही

प्रत्येक व्यक्ति अपने देह-धारणके लिये, समोविकासके लिये और धर्मसाधनाके लिये आवश्यक उपकरण प्राप्त करता है। दूसरी ओर, प्रत्येक व्यक्ति इन सब उपकरणोंका जिस रीतिसे व्यवहार करके अपने-अपने जीवनको नियन्त्रित करता है, समाज-जीवनकी गतिपर ही उसका प्रभाव पड़ता है। जन-साधारणकी जीवन-धाराके लिये बहुत अंशमें समाज जिम्मेदार है। वैसे ही समाजकी विधि-व्यवस्थाके लिये जनसाधारणपर भी कम दायित्व नहीं है। समाजमें जो लोग विशेष बुद्धिमान्, शक्तिसम्पन्न और प्रभावशाली होते हैं, उन्हींके विचार, भाव और कर्मकी धारा सामाजिक विधि-व्यवस्थामें प्रतिफलित हुआ करती है। मानव-समाजके श्रेष्ठ विद्वानोंके चित्तमें यह समस्ता सदा ही बनी रहती है कि—'समाजकी सङ्घठन-विधि और रीतेनोंति कैसी बनारी जाय जिससे मनुष्यके अन्तरात्मका मनोरथ समाजके द्वारा पूर्णरूपसे तिर हो सके?' व्यष्टिके साथ समष्टिका, व्यक्तिके साथ परिवारका, श्रेणीके साथ जातिका, जीवानके साथ श्रेणीका और राष्ट्रका सम्बन्ध किस प्रकारका हो, जिससे दृढ़, कलह, हँस्या, पृष्ठा और होपके सारे कारण यथासम्भव दूर हो जायें और समझ मानव-समाजमें एकप्राणाताकी प्रतिष्ठा हो? सामाजिक जीवन-प्रवाहको किस प्रकारके आदर्शद्वारा अनुप्राणित किया जाय और वह आदर्श किस प्रकारके आचरण और कर्मोंके अंदर स्थापित किया जाय, जिससे प्रत्येक नर-नारी मानव-जीवनके महान् त्रनके सम्बन्धमें सदा-सर्वदा सज्ज रहे और उसका जान, प्रेम, कर्म, स्वाभाविक ही तदभाव-भावित होकर ही परम कल्याणकी ओर अग्रसर हो? मनुष्यके साथ मनुष्यके नाना प्रकारके भेद और विषमताओंके होनेपर भी, मनुष्यकी शक्ति और जीवनमें तात्पर्य होनेपर भी, कर्मशेषवकी विभिन्नता और प्रयोजनोंकी विलक्षणता होनेपर भी, किस उपायसे मनुष्यके साथ मनुष्यके प्राप्त मिलये जा सकते हैं, किस उपायसे हच्छ, प्रकृति, शक्ति आदिके भेदसे युक्त पृथक्-पृथक् आवश्यकताओंसे प्रेरित मनुष्य परस्पर प्रेमकी डोरीसे बैंधकर शान्तिपूर्वक सभी अपने-अपने जीवन-विकासके मार्गपर अग्रसर हो सकते हैं, मानव-समाजके सामने यह एक स्नातन समस्या है।

भारतीय साधनाके श्रेष्ठमें जो वर्णाश्रमका विधान है, वह इसी जटिल समस्याको सुलझानेकी एक महान् चेष्टा है। लाखों व्यक्तिसे इस वर्णाश्रमविधानने भारतीय समाजके सभी एक-से-एक विलक्षण श्रेणीके नर-नारियोंमें एक महान् समन्वयकी स्थापना करके उनके मनुष्योचित साधनाके मार्गको

प्रशस्त कर रखता है। समस्त मानव-समाजके लिये यह विद्यान परम आदर्श है। समाज-नीतिकी हडिसे भी इस विद्यानके अंदर छिपा हुआ तत्त्व विदेषरूपसे देखने योग्य है।

मनुष्योंमें परस्पर असंख्य प्रकारके भेद हैं और उनका रहना अनिवार्य है। इन सभ भेदोंके अंदरसे ही अमेदकी प्रतिष्ठाका मार्ग खोज निकालना होगा। ऐसा किये विना, समाज सदा अल्पन्त भयंकर संग्राम-क्षेत्र ही बना रहेगा। इस अमेदकी प्रतिष्ठा कैसे हो? मनुष्योंमें जहाँ-जहाँ भेद अवश्यम्भावी है, वहाँ-वहाँ उस भेदको स्वीकार कर लेनेकी मनोवृत्तिका जनवाधारणके चित्तमें विकाल होना आवश्यक है; नहीं तो सभी ज्ञाह प्रतियोगिता, प्रतिद्वन्द्विता, संघर्ष, संग्राम, असन्तोष और अशान्ति बनी ही रहेगी। परन्तु ऐसी मनोवृत्ति यदि उपायहीनता और निराशाकी अनुभूतिसे उत्पन्न हो तो उससे मनुष्योचित जीवन-विकासके मार्गमें बाधा ही होगी। समाजकी जो व्यवस्था सभी नर-नारियोंको उनके जीवनकी समूर्ण सार्थकताके मार्गपर बढ़ानेमें सहायक न हो, उस व्यवस्थासे उपर्युक्त समस्याका समाधान कभी नहीं हो सकता। समाजकी व्यवस्था तो ऐसी होनी चाहिये कि जिससे प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक श्रेणी सन्तुष्ट-मनसे अनिवार्य भेदोंको स्वीकार कर ले और साथ ही प्रत्येकके मनमें अपनी-अपनी अवश्य, शक्ति और तदनुरूप कर्म और साधनमें गौरवका भाव जाग्रत् रहे। प्रत्येक मनुष्यके सामने एक ऐसा सूर्यिमान् सजीव आदर्श रहना चाहिये कि जिससे अपने-अपने अधिकारके अनुसार प्राप्त कर्तव्य-कर्मोंका स्वेच्छापूर्वक प्रेमके साथ सम्पादन करते हुए अपनेको समाजका एक गौरवपूर्ण अङ्ग समझे और उसीको मनुष्यत्वके विकासका साधन मानकर जीवनके व्रतके रूपमें ग्रहण करनेको उत्साहित हो।

मनुष्यके साथ मनुष्यके जितने भी सङ्कृष्ट होते हैं, सभी उसकी देह, इन्द्रिय और मनकी आकांक्षा तथा आवश्यकताके क्षेत्रमें होते हैं। प्रत्येक मनुष्यको अज्ञ, वज्ञ, घर और धनकी आवश्यकता है। प्रत्येक मनुष्यके मनमें मुख, ऐश्वर्य, प्रभाव, मान-सम्मानकी आकांक्षा है और इसी क्षेत्रमें एकका स्वार्थ दूसरेके स्वार्थके साथ टकराता है। यदि अज्ञ-शक्तिकी वृद्धि और मुख-सम्पत्ति तथा स्वामित्वकी स्थापनाको ही मानव-साधनके क्षेत्रमें एक श्रेष्ठ आदर्श मान लिया जाय तब तो मानव-समाजमें स्वार्थका विरोध, व्यक्तिगत और श्रेणीगत संग्राम और उसके फलस्वरूप अधिघौतिक उच्चतिके साथ-ही साथ हुँगड़ायी अशान्तिका भोग भी अवश्यम्भावी है।

बाह्य सम्पत्तिके आदर्शको नींव बनाकर जिस समाज-मन्दिरका निर्माण होगा, उसमें प्रारम्भमें आर्थिक उच्चति, राष्ट्रीय प्रभावकी वृद्धि हो सकती है, जह-जगत्-सम्बन्धी ज्ञान-विज्ञानकी उच्चति भी ही सकती है; परन्तु वे सब उच्चतियाँ होती हैं व्यक्तिके साथ व्यक्तिकी, सम्प्रदायके साथ सम्प्रदायकी और जातिके साथ जातिकी प्रतियोगिता, प्रतिद्वन्द्विता, सङ्कृष्ट और संग्रामके द्वारा ही। इसीलिये यह उच्चति जन-साधारणकी नहीं होती; कुछ लोग जो वृद्धि-शक्ति, कल्यान-शक्ति, संघटन-शक्ति और निर्माण-शक्तिमें बढ़े हुए होते हैं, वस्तुतः उन्हींकी होती है, धन-सम्पत्ति और प्रभुत्वपर उन्हींका अधिकार होता है; और जो बलहीन तथा अपेक्षाकृत वृद्धिहीन होते हैं, वे अपनेको उनकी गुलामीमें लगाकर उन्हींके स्वार्थ-साधनके उपकरण बनकर उन्हींको दिये हुए ढुकड़ोंपर जीवन-निर्वाह करनेको बाध्य होते हैं। इधर वे शक्तिशाली प्रभुत्रीणीके लोग भी सदा एक-दूसरेके भयसे स्थगित रहते हैं, सुखकी सामग्रियोंका द्वारा होनेपर भी उनके जीवनमें सुख-शान्ति कपी नसीब नहीं होती। मानव-समाजकी सभ्यता ही संग्रामात्मिका हो उठती है। संग्राममें कुशलता ही सभ्यताका लक्षण होता है। इस सभ्यतामें कोई प्राणी, कोई व्यक्ति, कोई श्रेणी और कोई भी जाति दीर्घकालतक ऐश्वर्य और प्रभुत्वका भोग नहीं कर सकती। ऐश्वर्य और प्रभुत्व दोनों ही लगातार एकसे दूसरेके हाथमें जाते रहते हैं। जब जिनके हाथमें ये ऐश्वर्य और प्रभुत्व होते हैं, तब उनको आत्मरक्षाके लिये ही व्यस्त रहना पड़ता है। जन साधारणके मुख और कल्याणके लिये उनका उत्तन-सा ही धन या प्रभाव सच्च होता है, जिनमें उनके अपने स्वार्थसाधनके लिये आवश्यकता होती है—आत्मरक्षाके लिये प्रयोजन होता है। समाज उन्हें त्यागके लिये—सेवाके निर्मित स्वार्थत्याग करनेके लिये किसी प्रकार भी प्रेरणा नहीं कर सकता। ‘त्याग और सेवा के अंदर ही उनका यथार्थ स्वार्थ निहित है’—शह बतलानेका समाजके पास कोई साधन नहीं होता, क्योंकि समाजका आदर्श वैश नहीं होता, उसका तो संगठन ही हुआ है बाह्य सम्पत्तिके आदर्शको लेकर। बाह्य सम्पत्तिको आदर्श माननेवाले समाजमें शान्तिकी कोई सम्भावना नहीं है, साम्यके स्थापनकी कोई योग्यता नहीं है, संघर्षके दूर करनेका कोई उपाय नहीं है और मानवताकी भवान् उच्चतिके लिये कोई प्रेरणा नहीं है। यहाँ संग्रामके बाद संशाम और विश्वके बाद विद्वत् अनिवार्य हैं। मनुष्यके अन्तरात्माका यह आर्तनाद इस प्रकारके समाजमें कभी-कभी कवियों, दार्शनिकों और

धार्मिकोंकी वाणीसे प्रकट होता रहता है, परन्तु सामाजिक जीवनमें अन्तरात्माके इस दुःखको मिटानेके लिये कोई उपाय नहीं दिखायी पड़ता । इसी सम्भवताका परिणाम है कि आज सरे भूमण्डलपर एभी एक-दूसरेके भयसे काँप रहे हैं और भोगोंके उपकरणोंकी बहुलता होनेपर भी चारों ओर जाहि-जाहि मची हुई है ।

मानवसमाजको व्यथार्थ मानवताके विकासके योग्य और सम्प्य, शान्ति तथा सौन्दर्यका भाण्डार बनानेके लिये, एक ऐसे आदर्शको केन्द्र बनाकर समाजकी व्यवस्था और नियन्त्रण करनेकी आवश्यकता है, जो आदर्श मनुष्यकी स्वामायिक सुख-सम्पत्ति और प्रभुत्वकी आकाशके ऊपर राज्य करनेमें स्वयं समर्थ हो, जिस आदर्शके सामने मनुष्यकी यह सुख-सम्पत्ति और प्रभुताकी सृष्टि अपने-आप ही सिर छुककर गौरवका बोध कर सके, जो आदर्श मनुष्यकी अन्तरात्माके आदेशोंके बाह्य जीवनके आदेशोंका शक्तिसम्पन्न नियन्त्रण करनेवाला बनाकर लड़ा कर सके । जिस समाज-विधानसे मनुष्यकी आधिमौतिक आवश्यकताएँ आव्याप्तिक आदर्शके द्वारा संयमित होती हैं, काम और अर्थ धर्मके द्वारा अनुशासित होते हैं, आत्मिक उन्नतिके तारतम्यके द्वारा सामाजिक मर्यादाका निरूपण होता है, शान, प्रेम, त्याग और तपस्याका स्थान सुख-सम्मोग, धन-सम्पत्ति और प्रभुत्वके बहुत ऊपर माना जाता है, —वस्तुतः उसी समाजविधानके द्वारा मानव-समाजमें अनन्त प्रकारकी विषमताओंके रहते भी सच्चे सामग्रीकी स्थापना सम्भव है, प्रतियोगिता और प्रतिद्रव्यद्वाको क्षेत्रमें भी सहयोगिता और समराणाताकी प्रतिष्ठा सम्भव है और अशानिकोंके कारणहै अनेको प्राकृतिक नियमोंके रहते हुए भी शानिकी स्थापना सम्भव है । भारतीय ज्ञानियोंने वर्णाश्रम-व्यवस्थामें इसी आदर्शकी स्थापन की है और हजारों-हजारों घण्टोंसे इसी व्यवस्थाके द्वारा नियन्त्रित होकर भारतीय जीवन-धारा कल्पणा और शानिके भारपर प्रवाहित होती आ रही है ।

वर्णाश्रम-विधानमें मुख्य ध्यान देने योग्य विषय यह है कि इसमें समाजके सर्वोच्च स्थानपर प्रतिष्ठित किया गया है ब्राह्मण और संन्यासीको । ब्राह्मण और संन्यासी सभी वर्णों और अश्रमोंके आदर्श माने जाते हैं । सभी विभागोंके सभी नर-नारी ब्राह्मण और संन्यासीके अनुसासनके अनुसार ही अपने कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय करते हैं और उन्हींके आदर्श मानकर अपने जीवनको नियन्त्रित

करते हैं । ब्राह्मण और संन्यासी ‘काम’ और ‘अर्थ’ की साधनमें प्रवृत्त नहीं होते; सुख, ऐश्वर्य और प्रभुत्वकी आकांक्षासे प्रेरित होकर कोई कार्य नहीं करते; कृषि-शिल्प-व्यापिज्य आदि वास्तु सम्भदाको बढ़ानेवाले उपयोगोंका अवलम्बन नहीं करते, देशके शासन, संरक्षण और दण्ड-विधानका काम भी अपने हाथमें नहीं लेते और किसीके अधीन होकर नीकरी भी नहीं करते । वे सारे कार्य उनके स्वधर्मसे प्रतिकूल हैं, उनकी मर्यादामें टेस पहुँचानेवाले हैं । वे होते हैं तत्काली खोज करनेवाले, शास्त्रपत्रस्वी, सर्वभूतहितमें रत और विश्वप्रेमी । त्याग, सेवा, ज्ञानवितरण और तपश्चर्या ही होते हैं उनके जीवनके बत ! दरिद्रताका तो वे स्वयं अपनी हङ्गामे वरण करते हैं । वे अपनी सारी शक्तिको लगा देते हैं समाजके उत्थान और अपनी संस्कृतिकी उत्तिमें तथा मनुष्य-जीवनके सर्वश्रेष्ठ आदर्शकी स्थापनामें । इनमें ब्राह्मण गृहस्थ होकर भी, छी-पुत्र-कन्याओंसे घिरे रहकर भी त्याग, सेवा, तपस्या और निःस्वार्य ज्ञान-दान आदिका आदर्श स्थापित करते हैं । और संन्यासी यह सिद्ध कर देते हैं कि सानव-जीवनकी चरम शान्ति है—सर्वत्यागी और प्राणिमात्रमें समदर्शी होकर ब्रह्माशन, ब्रह्मचायन और ब्रह्मानन्द-रसका पान करनेमें । ब्राह्मण और संन्यासी समाजके सभी सर्वोंके नर-नारीयोंको इस महान् आदर्शके द्वारा अनुप्राणित करते हैं, इसीलिये समाजमें उनका आसन सबसे ऊपर और सबसे श्रेष्ठ है । उनके देह-पोषणके लिये, यातीरिक जीवनविर्बादके लिये और उनके तपस्यामय जीवन-वर्तकी अनुकूलताका सम्पादन करनेके लिये जो कुछ भी आवश्यक है, उसका सारा भार समाजने अपने ऊपर ले लिया है । राष्ट्रिय शक्ति और आर्थिक शक्तिके सज्जालकगण श्रद्धा और समाजनके साथ उनकी सुविधा और स्वतन्त्रताकी रक्षाके लिये सदा प्रयत्नशील रहते हैं और उनके उपदेश तथा उनके जीवनके आदर्शके अनुसार अपनी शक्ति और सम्पत्तिका बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय, सर्वभूतहिताय और भगवत्प्रीत्यर्थ प्रयोग करके अपने आन्तरिक जीवनकी कृतार्थता-का अनुभव करते हैं । वर्णाश्रम-व्यवस्थाका यही मुख्य

स्वरूप है।

बाह्य सम्पत्तिसे उदासीन स्वार्थमुद्दिष्टे रहित विश्वप्रेमी उन ब्राह्मण और संन्यासीयोंके ऊपर ही समाज और राष्ट्रके व्यवस्थापूर्वक सज्जालनके लिये विधि-नियोगकी रचना करनेका—कायदे-कानून बनानेका भार रहता है । अपना व्यक्तिगत और श्रेणीगत कोई स्वार्थ न रहनेके कारण वे ही सब श्रेणीयोंके

प्रतिनिधि होनेकी योग्यता रखते हैं। वे मानवजीवनके चरम लक्ष्य भगवद्वासिकी और अविचलित दृष्टि रखते हुए सभी श्रेणियोंके नर-नारियोंके लिये कर्तव्यार्थतव्यका निर्देश करते हैं। राष्ट्रिय शक्तिका व्यवहार किस प्रकार करना नाहिये, किस प्रकार धनको पैदा करना और बॉटना चाहिये, सभी श्रेणीके लोगों-द्वारा अपने-अपने अधिकारानुसार किस प्रकारका कार्य करने-से सारे समाजकी भलाई हो सकती है, अपनी अपनी सम्पत्ति और शक्तिका किस प्रकार व्यवहार करके मनुष्य परमकल्याण भगवद्वासिकी ओर अग्रसर हो सकता है,—वाहण और संन्यासी अपने पक्षपातरहित सुनिष्ठा विचारद्वारा इन सब बातोंका निर्णय करनेमें समर्थ हैं।

वाहण और संन्यासीको राष्ट्र और समाजके केन्द्रस्थलमें आदर्शलमें और सर्वोच्च मर्यादामें प्रतिष्ठित करके समाजका संगठन, राष्ट्रका संगठन और कृषि-शिल्प-वाणिज्यादिका नियन्त्रण करना, यही भारतीय जातिकी विशेषता है और हमीमें भारतकी प्राणशक्ति निहित है। इसी प्राणशक्तिने जाति और समाजके सारे अवयवोंमें सुन्दर सामाजिकी स्थापना करके इन्हें और सहायोंको भिटाकर हजारों वर्षोंसे हस्ती जीवन-धाराको अक्षुण्ण बना रखा है। इसीमें हिंदूजाति जीवित है।

एक बात और विशेष घ्यान देनेकी है, वह है जातिमें राष्ट्रशक्ति और अर्थशक्तिका—प्रभुत्व और सम्पत्तिका सम्बन्धस्थिरण। हमारी इस वर्णांश्मसाधनमें जो राष्ट्रशक्तिके सञ्चालक होते हैं, देशकी शान्तिरक्षा और शक्तिवृद्धिका भार जिनके कल्पोंपर रहता है, जो अन्तर्विवृत्त और वाही शत्रुओंके आकमणसे जाति और समाजकी रक्षा करनेके लिये जिम्मेदार हैं और जो तत्त्वदर्शी दारिद्र्यवती सर्वजीवदेमी वाहण और संन्यासियोंके अनुशासनके अनुसार जाति और समाजमें न्यायकी रक्षा करते हुए जातिकी बाह्य सम्पत्ति और अस्यात्मसम्पत्तिका न्यायसङ्केत अधिकर सब श्रेणियोंके नर-नारियोंके देते हैं, वे शक्तिय स्वयं अर्थका देवन नहीं करते, कृषि-शिल्प-वाणिज्यादिको अपने हाथमें नहीं रखते, जातिकी वाह्य सम्पत्तिके उत्पादनमें और उसके बैंटवारेमें उनका व्यक्तिगत अर्थवा श्रेणीगत कोई स्वार्थ नहीं होता। जातिकी सांस्कृतिक और अध्यात्मिक शक्तिके उत्पन्न करने और बॉटनेका भार जैसे प्रधानतया यशस्वती, त्यागशील, अध्यात्म-कल्याणनिष्ठ वाहण और संन्यासियोंके हाथमें रहता है, उसी प्रकार जातिकी बाह्य सम्पत्तिके उत्पन्न करने और बॉटनेका

भार वैस्योंके हाथमें रहता है। शक्तियोंके कल्पोंपर तो देशाद्धी शान्तिरक्षा और शक्तिवृद्धिका भार है। वे जैसे ब्राह्मण और संन्यासियोंसे जान-विज्ञान और नैतिक तथा आच्छात्मिक आदर्शका आहरण करके समाजके सब सरोंमें उसका विस्तार करनेकी चेष्टा करते हैं, वैसे ही वैश्योंसे जनका आहरण करके उसके द्वारा समाजके सभी सरोंके लोर्गोंका अभाव दूर करते हैं। उनका खजाना जनसाधारण—विद्योपतः ब्राह्मण, संन्यासी, दरिद्र, अथवे, द्वलेंगांडे, रोगी, अगाहिज, बूढ़े-बच्चे और अनाथा विधवा आदिकी सेवके लिये सदा-सर्वदा खुला रहता है। कहीं दुर्भिस पहुंचा है, अकाल पहुंचा है तो वे उसकी जिम्मेवार हैं। शत्रुका आकमण होनेपर उनपर दायित्व है। अन्तर्विवृत्तके लिये वे दाती हैं और एक श्रेणीके द्वारा दूसरी श्रेणीपर अल्पाचार होनेपर—बुद्धिमान् और शक्तिशाली व्यक्तियों अथवा श्रेणियोंके द्वारा अपेक्षाकृत बुद्धिहीन और कमजोर मनुष्यों अथवा श्रेणियोंका (उनकी शक्तिहीनताका लाभ उठाकर) शोषण किये जानेपर शक्तिय राजा ही जिम्मेवार हैं। देशका अर्थ ही उनका अर्थ है और देशकी शक्ति ही उनकी शक्ति है। वे देशके, जातिके और समाज-के सेवक हैं। इसीलिये ब्राह्मणोंके बाद ही उनका महत्वपूर्ण स्थान है। वे देशमें प्रभुशक्तिका सञ्चालन करते हैं—वाहण और संन्यासियोंके चरणोंमें सिर झुकाकर ! और अर्थशक्तिका सञ्चालन करते हैं—वैश्योंके पाससे जातिके लिये अर्थका संग्रह करके। अतएव प्रभुत्व और अर्थ दोनोंमें ही उनका वथा-सम्बन्ध निलिप्त रहना आवश्यक होता है, नहीं तो वे स्वर्वर्मसे भ्रष्ट हो जाते हैं। प्रभुत्व और अर्थका नियन्त्रण करनेवाले होनेपर भी वे ही हैं देशके दास और त्यागवती।

जैसे राष्ट्रशक्तिका सञ्चालन करनेवाले शक्तियोंके लिये अर्थलाभजनक कृषि-शिल्प-वाणिज्यादि स्वर्वमका नाश करनेवाले और मर्यादाको धटानेवाले हैं, वैसे ही कृषि-शिल्प-वाणिज्यादिके द्वारा देशकी अर्थ-सम्पत्तिको बदानेमें लगे हुए वैश्योंके लिये राष्ट्रशक्तिके सञ्चालनका लोभ करना और समाज-के ऊपर प्रभुत्वका दावा करना स्वर्वमसे भ्रष्ट होना है। प्रभुत्व और अर्थ दोनोंमें ही सोह है। समाजकी अर्थ-शक्ति और राष्ट्रशक्तिके एक ही हाथमें रहनेपर अर्थोपासकोंकी प्रतिद्वानदत्ता राष्ट्रके क्षेत्रमें भी न्याय और धर्मकी सीमा लाँघनेके लिये तैयार हो जाती है। धनके पैदा करने और बॉटनेमें स्वार्थका सोह प्रबल न हो उठे, न्याय और धर्मका आदर्श बड़ी सजगताके

साथ धनके नियामकके पदपर प्रतिष्ठित रह सके, इसीलिये न्याय और धर्मनिष्ठ राष्ट्रशक्ति अर्थकी उपासनामें, धन कमानेमें न लगाकर अर्थके ऊपर प्रभुत्व करती है, और न्याय-धर्मके मूर्तिमान आदर्श ब्राह्मण और संन्यासी राष्ट्रशक्ति और अर्थ-शक्ति (क्षत्रिय और वैश्य) दोनोंके ऊपर प्रभुत्व करते हैं, यही सनातनधर्मकी व्यवस्था है। राष्ट्रशक्ति जब अर्थशक्तिके हाथमें चली जाती है, किसान, कारीगर और विष्णुक-समाज जब परस्पर प्रतिद्वन्द्विता करके अपनी स्वार्थ-सिद्धिके लिये राष्ट्रशक्ति-पर अधिकार जमानेको लालायित हो उठते हैं; तभी समाजमें नाना प्रकारकी अशानितक कारण उत्पन्न हो जाते हैं और समाज संग्राम-क्षेत्रके रूपमें परिणत हो जाता है। अर्थको नियन्त्रित करनेका अधिकार यदि धर्मको हो और धर्म ही यदि राष्ट्रशक्तिका सज्जालन करनेवाला होकर अर्थके उत्पादन और विमाजनको नियन्त्रित कर सके तो समाजमें विषमताके अंदर भी समताकी स्थापना हो सकती है, प्रतियोगिताके क्षेत्रमें भी सहयोगिताकी प्रतिष्ठा हो सकती है। अतएव समाजमें अर्थशक्ति-का नियमन करनेके लिये राष्ट्रशक्तिकी और राष्ट्रशक्तिका नियमन करनेके लिये धर्मशक्तिकी स्थापना आवश्यक है। यही वर्णविभागका रहस्य है।

इसके बाद रही जन-साधारणकी बात। जिनमें ज्ञानशक्ति और कर्मशक्तिका भलीभौति विकास नहीं हुआ है, जो स्वतन्त्र-रूपसे तत्त्वका विचार करनेमें, सारे समाजका कल्याण सीचकर कर्तव्यका निर्णय करनेमें, मनुष्य-जीवनके परम आदर्शको लक्ष्य करके साधनाके क्षेत्रमें अग्रसर होनेमें, स्वतन्त्रताके साथ राष्ट्रशक्ति और अर्थशक्तिका अपने और समाजके कल्याणमें प्रयोग करनेमें यथोचित शक्ति नहीं प्राप्त कर सके हैं, परन्तु जिनकी संख्या समाजमें अधिक है और जिनकी कर्मशक्तिका सुनियन्त्रित और सुव्यवस्थितरूपसे व्यवहार हुए, विना देशमें कृषि-शिल्प-व्याणिज्यादिकी उत्तरि सम्भव नहीं है, राष्ट्रका नियन्त्रित सज्जालन सम्भव नहीं है और धर्म-कर्मादिका अनुष्ठान भी सम्भव नहीं है, समाजमें उड़ीकी संज्ञा शुद्ध है। संख्याकी दृष्टिसे वे समाजके प्रधान अङ्ग हैं। परन्तु स्वतन्त्ररूपसे अपने-आप ही अपना सज्जालन करके मनुष्य-जीवनकी सर्वशेष उत्तरिके मार्गपर अग्रसर होनेमें असमर्थ हैं। उनको समाजकी सेवामें लगाकर, उनकी शक्तिके अनुसार उनके लिये कर्तव्यका विधान कर, आवश्यकतानुसार उनके लिये भोग-मुखकी मुच्यवस्था कर उनके जीवनको उत्तरि बनाना उब भ्रणियें मनुष्योंका दायित्वपूर्ण कर्तव्य है।

ब्राह्मणोंके यश-यागादि कर्मोंके अनुष्ठानमें, क्षत्रियोंके राष्ट्र-नियन्त्रण और युद्ध-सज्जालनादि कार्योंमें तथा वैश्योंके कृषि-शिल्प-व्याणिज्यादि व्यापारोंमें, उर्बत्र ही शूद्रोंकी सहायता आवश्यक है। और समाजकी धर्मशक्ति, राष्ट्रशक्ति और अर्थशक्तिके अनुगत होकर समाजकी सेवा करनेमें ही शूद्रोंके जीवनकी सार्थकता है। उत्तरतर स्वाधीन-कर्मरत श्रेणियोंके अनुगत होकर, इच्छापूर्वक प्रेमके साथ उनके नेतृत्वको रिर चढ़ाकर, सेवात्मक कर्मके द्वारा अपने जीवनको उत्तरि बनाना और सारे समाजका कल्याण करना शुद्धका धर्म है। समाजके सब प्रकारके कल्याणजनक पुण्यकार्योंमें शारीरिक शक्तिका कार्य उन्हींके जिम्मे है। वे ब्राह्मणोंकी अधीनतामें सेवक हैं, क्षत्रियोंकी अधीनतामें सैनिक हैं और वैश्योंकी अधीनतामें किसान तथा कारीगर हैं। आधुनिक समाजमें इन्हींका नाम मजदूर है।

इस प्रकार आर्य ऋषियोंने सारी मानव-जातिको चार भागोंमें बाँटकर उनके कर्म-समन्वयद्वारा समाजका सज्जालन किया है। इसमें मनुष्यके साथ मनुष्यका जो गुण और शक्ति-का स्वाभाविक भेद है, उसे स्वीकार किया गया है और साथ ही सारे मनुष्योंके समस्त गुणों और शक्तियोंकी एक ही आदर्शकी ओर लगाकर सबको समाजके लिये अल्लावद्यक विभिन्न कर्मोंमें नियुक्त कर दिया है। समाजके लिये कल्याण-कारक चतुर्विधि कर्मोंके लिये विद्यारूपसे योग्य चतुर्विधि गुण-शक्तिविशिष्ट चार प्रधान श्रेणियोंके अतिरिक्त मानव-जातिमें अन्य किसी वर्णका अस्तित्व आर्य ऋषियोंको स्वीकार नहीं है—‘पञ्चमो नोपपत्यते’। समग्र समाज एक मूर्तिमान विराट् पुरुष है। ब्राह्मण उसका वाणीसहित भरितावक है। क्षत्रिय उसका बाहुसमन्वित वक्षःस्थल है। वैश्य उसका नाभिमण्डल-युक्त उदर है और शूद्र उसके चरण या गति-शक्तिस्थानीय हैं। चतुर्विधि के द्वारा ही सारे अवयवोंसे सम्पन्न विराट् समाज-पुरुषका शरीर डना है। प्रत्येक अवयवमें ही अङ्ग-उपाङ्गोंका भेद स्वाभाविक है। एक ही प्रकारके कर्मोंमें भी कर्मका वैचित्र्य है और एक-एक प्रकारके कर्ममें वंश-परम्परा-क्रामसे लगे रहनेके कारण एक-एक उपर्याण या उपजातिका निर्माण हुआ है। इस प्रकार समाजके अंदर कर्मोंकी विचित्रताके कारण विभिन्न विभिन्न कर्मोंमें स्खास-द्वाल योग्यताके अनुसार अनेकों उपजातियोंकी सुष्ठि प्राकृतिक नियमसे ही हुई है। कर्म और गुण (अर्थात् कर्मयोग्यता) के अनुसार श्रेणी-वैचित्र्य अस्वाभाविक नहीं है; परन्तु उनमें प्रतिद्वन्द्विता,

सङ्क्षर्ष, रिता, देष और कलह आदि अशान्ति उत्सव करने-वाले और परस्पर एक दूसरेका विनाश करनेवाले तुरे भावोंके बदले किस तरहसे सहयोगिता, समन्वय, प्रेम, दैनी और शान्तिकी स्थापना हो, यही समस्या है। हमारे समाजका सङ्गठन करनेवाले विद्वान् शृणियोंने इस समस्याका जैसा समाधान किया है, उसकी अपेक्षा किंसी उत्तम समाधानकी कल्पना आजतक कहीं नहीं हुई।

इस समस्याके समाधानका आर्य शृणियोंके मतसे सर्वोत्तम उत्पाय है कर्मको धर्म-साधनके रूपमें परिणत करके समाजके सभी स्तरोंमें उसका प्रचार करना। कर्मको यदि केवल लौकिक भोग-सुखोंका साधन ही माना जाय, तो कर्मकी अपनी कोई मर्यादा नहीं रह जाती और जिस प्रकारका कर्म जितना ही अधिक, भोग-सुख और धन-सम्पत्तिकी प्राप्तिमें सहायक होता है, उसी प्रकारके कर्मके लिये सबके मनमें लालसा होना और उसके लिये छीना-झपटी और मार-पीट होना अनिवार्य हो जाता है। ऐसे कर्मके फलस्वरूप किसीको भी सच्ची शान्ति और आत्मक्षम्हीन आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। भोगकी अपेक्षा समाजमें कर्मका स्थान ऊँचा रहना आवश्यक है। परन्तु कर्मका कोई उद्देश्य तो होता ही है, मनुष्य कर्म क्यों करे? कर्मका यथार्थ कल्याणप्रद उद्देश्य है अपने जीवनको उन्नत करना, आनन्द अंदर मनुष्यत्वका परिपूर्ण विकास करना, अपने अन्तरात्मको काम, कोष, लोभ, द्विषा, प्रुणा, भय आदिके बन्धोंसे मुक्त करके एकान्त असीम आनन्द और शोक-तापादिसे रहित मृत्युमय विजयी नित्य परिपूर्ण जीवनके योग्य बना देना। वैदिक शृणियोंने इस प्रकारके दिव्य जीवनको ही 'स्वर्ग' कहा है। 'स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते'। 'कामस्त्रासिर्जगतः प्रतिशो कतोरानन्त्यम-भवस्य पारम्।' मृत्युके सारे पापोंसे छूटकर सब प्रकारके शोक, ताप, अमाव, आकांक्षा, दून्द्र और अशान्तिकी सम्भावनाका अतिकम कर, सम्पत्तिसम्पन्न अनन्त यौवनमें प्रतिष्ठित होकर, सारे विश्वके प्राणोंके साथ अपने प्राणोंको प्रेमपूर्वक मिलाकर पूर्णानन्दको प्राप्त करना ही मानवीय साधनाका लक्ष्य है।

यह संसार कर्मशेत्र है और यह मनुष्यशरीर कर्मशरीर है। इस संसारमें जो मनुष्य जिस प्रकारके शक्ति-समर्थ्योंको लेकर जैसे वायुमण्डलमें जन्म प्रहण करता है, वह वैसे ही शक्ति-समर्थ्य और वायुमण्डलके उपयोगी विहित कर्मका सम्पादन करके जीवनमें पूर्णताको प्राप्त कर

सकता है—स्वर्णीय जीवनको प्राप्त करनेमें समर्थ ही सकता है। भ्राह्मण और श्वानिय अपनी शक्ति और अवस्थाके अनुसार विविधपूर्वक अपने-अपने कर्म करके जिस आध्यात्मिक कल्याणकी प्राप्त करते हैं, वैसे और शूद्र भी अपने-अपने कर्तव्य कर्मका सम्पादन करके उसी आध्यात्मिक कल्याणको प्राप्त कर सकते हैं। एकको दूसरेके कर्मकी ओर ललचारी दृष्टिसे देखनेका कोई भी सङ्कृत कारण नहीं है, उद्देश्य ठीक रहे तो अपने-अपने कर्मके द्वारा ही प्रत्येक मनुष्य उस एक ही उद्देश्यतक सुखपूर्वक पहुँच सकता है। हाँ, पूर्व-जन्मार्जित कर्मवश संसारमें लौकिक सुख-सम्पत्तिका न्यूनाधिक होना अवश्यमाचारी है; परन्तु उसका मूल्य ही क्या है? अनन्त आध्यात्मिक सम्पत्तिकी तुलनामें लौकिक सम्पत्ति सर्वथा तुच्छ और क्षणस्थायी है। आध्यात्मिक सम्पत्तिपर सभीका समान अधिकार है और उसका प्राप्त होना अपनी-अपनी शक्ति और अवस्थाके अनुसार, सुखपूर्वक अपने-अपने कर्मोंके यथाविधि सम्पादनपर ही निर्भर है। इस आदर्शके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक धेरणी, प्रत्येक सङ्घ या लम्पदाय दूसरेके कर्म, दूसरेके भोग और दूसरेकी मान-प्रतिष्ठाका लोभ न करके, दूसरेके साथ अस्वास्थ्यकारी प्रतिदिन्दिनताके क्षणोंमें न पड़कर, गौरव और अद्भुतके साथ उत्साहपूर्वक अपने-अपने वर्णश्रमोचित कर्तव्यके पालनमें ही लगा रहकर अपनी चरम उच्चति कर सकता है। कर्म और भोगके सम्बन्धमें उसका मन्त्र होता है—

'मा गृधः कस्यस्वद्दनम्'

'स्वकर्मणा तमस्यर्थ्य खिद्धिं विन्दति मानवः ॥'

इस दिव्य जीवनको सर्वश्रेष्ठ आदर्श मानकर ही आर्य शृणियोंने सभी श्रेणियोंके नर-नारियोंके लिये सब प्रकारके पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्योंका निधंशण किया है। मर्य-जीवनमें स्वर्णीय जीवन-धाराको प्रवाहित करनेके लिये शारीरिक स्वास्थ्य और स्वच्छन्दताकी, पारिवारिक और सामाजिक रीति-नीति और सत्कर्मोंकी, राष्ट्रीय दण्ड-विधि और युद्ध-विग्रह-सन्विधानादिके द्वारा देशमें धन-सम्पत्तिके बढ़ानेकी ओर साहित्य-दर्शन विज्ञानादिके समुचित अनुशीलनकी आवश्यकता है। कुल-नीति, अर्थ-नीति, समाज-नीति, राष्ट्र-नीति और सत्रकी आधाररूपा धर्म-नीति सभीका आदर्श दिव्य-जीवनकी प्रतिष्ठा है।

आर्य विद्वानोंने यह भी आविष्कार किया था कि समस्त

जाति और समाजके कल्याणके लिये अपनी-अपनी शक्ति और सम्पत्तिका उत्तर्ग कर देना ही प्रत्येक व्यक्तिके लिये, अपने जीवनकी उन्नतिका, दिव्य-जीवनकी प्राप्तिका सर्वोत्तम उपाय है। प्रत्येक व्यक्तिका अन्तरात्मा और सारे समाजका अन्तरात्मा वस्तुतः एक है, अभिन्न है। अतएव सारे समाजकी सेवा, सारे समाजके कल्याणके लिये बाहरी लेखा और त्यागको स्वीकार करना, वस्तुतः अपने ही अन्तरात्माकी सेवा, अपने ही आध्यात्मिक जीवनकी पूर्णताके लिये तपस्या करना है। सारे समाजके ऐहिक स्वार्थके साथ अपने आध्यात्मिक स्वार्थका कोई भेद नहीं है। अतएव त्यागके द्वारा ही यथार्थ सम्मोगका अधिकार प्राप्त होता है,—‘तेन त्यक्तेन मुड्डिषाः’¹ यही यज्ञ-नीतिका लात्पर्य है। मनुष्यके जीवनमें यज्ञ ही मनुष्योचित कर्म है। यज्ञ ही व्यक्तिके और समाजके स्वार्थकी मिलन-भूमि है। तुम्हारे पास जो कुछ भी है, उसे सारे समाजके कल्याणके लिये दे दो; तभी सारे समाजके साथ अपनी एकताकी उपलब्धि कर सकोगे और विश्व-प्रकृति अपने अटूट भाण्डारमें सुगम्भारी चाहके अनुरूप सारे सुन्दर फलोंको देकर तुम्हें कृतार्थ कर देगी।

मानवसमाजकी जब इस यज्ञनीतिके ऊपर स्थापना होती है, तभी सर्वत्र सुख-शान्तिका विस्तार होता है; समाजके विभिन्न अङ्ग-प्रत्यक्षोंमें प्रतिद्रव्यनिष्ठा, ईर्ष्या, देष, सहृदय और संग्रामका लेत्र सङ्कुचित होता है; एक ही समाज-शरीरके विच्चित्र अङ्ग-प्रत्यक्षोंके स्पर्शमें एकके साथ दूसरेका प्रेम और मैत्रीका सम्बन्ध स्थापित होता है; प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक श्रेणी सारे समाज-शरीरके अङ्गस्परमें अपनेको उसमें अभिन्न मानकर समाजके कल्याणमें ही अपने कल्याणकी उपलब्धि करता है; शक्ति, शान, शक्ति और अवस्थामें विषमता इत्येवर भी सभीके अंदर प्राणगत एकताकी अनुशृति होती है। फिर सभी देनेके लिये ही व्याकुल हो उठते हैं, पानेके लिये कोई अधीर नहीं होता। प्राणिके लिये, भोगके लिये, अपनी कुद्रे ऐहिक स्वार्थसिद्धिके लिये ही प्राणियोंमें परस्पर छीना-शपटी और मार-पीटकी जो स्वाभाविक प्रवृत्ति देखी जाती है, समाजमें यज्ञके आदर्शका बड़े परिमाणमें प्रचार होनेपर वह प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है। यज्ञनीतिके अनुसार कर्म और भोगका सम्बन्ध ही ऐसा बन जाता है कि कर्म होता है—समष्टिके कल्याणके लिये व्यक्तिका दान; और भोग होता है व्यक्तिके कल्याणके लिये समष्टिका दान। मनुष्य कर्म करता है स्वतन्त्र कल्याण-मुद्दिकी प्रेरणासे, आध्यात्मिक आदर्शकी प्रेरणासे, सारे समाजके

कल्याणके लिये। और अपने ऐहिक भोगके लिये निर्भर करता है सारे समाजके कल्याणके ऊपर, विश्वान्तर्यामी कल्याण-विधाता-के मङ्गल विधानके ऊपर।

आर्यजातिमें समाजके विभिन्न अङ्ग-प्रत्यक्षोंने कर्तव्य-कर्तव्यका अधिकांशमें जन्म और बृशानुक्रमकी हाइटे निर्देश करके दूसरेके कर्मकी लालसा, दूसरेके धनकी तुष्णा और उससे होनेवाली प्रतिद्रव्यनिष्ठा और सङ्घर्षके श्वेतकी विशेषरूपसे सङ्कुचित कर दिया है। सभीको अपनी-अपनी सहजात वृत्तिसे प्राप्त कर्मोंको और भोग सम्पत्तिको सन्तुष्ट मनसे स्वीकार करके, अपने जीवन विकासकी साधनाके रूपमें, उत्साह-पूर्वक उन्हींपर निर्भर करके यज्ञनीतिके अनुसार बाध्यतः समाजसेवामें और तत्त्वतः आत्मसेवामें अपनेको लगा देना पड़ता है। इससे समाजमें भी शान्ति वर्णी रहती है और मनुष्य-जीवनकी सम्यक् सार्थकताके मार्गपर भी सबको अग्रसर होनेका सुअवसर प्राप्त होता है।

जीवनके इस आदर्शके अनुसार सार्थकताकी ओर चलनेके लिये प्रत्येक मनुष्यको पहले शक्ति और ज्ञानकी साधना करनी पड़ती है। प्रथम जीवनमें सुयोग्य विश्वासकी देखरेखमें नियन्त्रण और तंत्रमें उच्च आदर्शसे युक्त जीवन विताकर देह, इनिद्य और मन-बुद्धिकी शक्तिको बढ़ाना पड़ता है और भावी जीवनके दायित्वपूर्ण कर्मसम्पादनके उपयोगी ज्ञान-विज्ञानको प्राप्त करना पड़ता है। जीवन-प्रभातकी इस साधनाका नाम है ‘प्रस्तुत्यर्थ’।

व्रह्मनर्त्य-साधनाके द्वारा व्यवस्थ देह-मन, सुनियन्त्रित कर्तव्य-सम्पादनका कौशल, मनुष्यके आदर्शकी एक मुख्य धारणा और अपने सहजात शक्ति, सम्बन्ध और बृत्तिके अनुसार कर्तव्याकर्तव्यके निर्णयका उपयुक्त ज्ञान प्राप्त करनेपर कर्म-जीवनमें प्रवेश करनेकी विधि है। यह कर्म-जीवन ही ‘पार्वाईस्य-जीवन’ है। इसीमें परिवार, समाज, जाति और राष्ट्रके साथ साक्षात् सम्बन्धकी स्थापना होती है। इस गार्वाईस्य-जीवनमें आध्यात्मिक आदर्शको दृद्यमें रखते हुए ही यज्ञमय जीवन विताना पड़ता है। अवश्य ही यज्ञका बाहरी रूप अपनी-अपनी शक्ति, सम्पत्ति, बृत्ति और अवस्थाके ऊपर निर्भर करता है। परन्तु ऐसी बात नहीं कि राजा के यज्ञकी अपेक्षा मजदूरके यज्ञका बाहरी रूप छोटा होनेके कारण उसके आध्यात्मिक मूल्यमें कहीं कुछ कमी आती हो। सबको अपने-अपने अधिकारके अनुसार ही यज्ञ करना पड़ेगा, परन्तु विताके दृद्यमें यज्ञका आदर्श जिसने उज्ज्वलरूपमें

प्रकाशित होगा, जो जितने आध्यात्मिक भावके द्वारा अनुप्राप्ति होकर यज्ञ करेगा, उसका यज्ञ उतना ही सार्थक होगा।

कर्म-जीवनके अन्तमें कर्मत्यागके लिये, तर्तुत्यागके लिये प्रस्तुत होना आवश्यक है। ब्रह्मचर्यके द्वारा जैसे गार्हस्थ्यके लिये योग्यता प्राप्त करना आवश्यक है, वानप्रस्थके द्वारा ऐसे ही संन्यासके लिये योग्यता प्राप्त करना आवश्यक है। संन्यास-आश्रममें व्यक्तिगत जीवनके साथ विश्वजीवनका पूर्ण मिलन करा देना पड़ेगा। उस समय मनुष्यको परिवारकी, खण्ड

समाज और जातिकी तथा सब प्रकारके ऐदिक प्रयोजनोंकी सीमाको लाँचकर, विश्वप्राणके साथ व्यष्टि प्राप्तका, विश्वात्माके साथ जीवात्मा और समाजात्माके सम्यक् ऐक्यका अपरोक्षरूपसे अनुभव करके साधनामें लग जाना पड़ेगा। इस साधनमें लिंग प्राप्त होना ही मनुष्य-जीवनकी सम्यक् सार्थकता है, यही 'परमसाम्य', 'पराशान्ति', 'पूर्णशान्ति' और 'परिपूर्णानन्द' है, यही 'अभयममृतं क्षेमम्' है। इसी अवस्थामें मनुष्यका अपने साथ और विश्वजनात्माके साथ सम्यक् परिचय और योगस्थापन होता है। यही वर्णाश्रम-साधनाका चरम लक्ष्य है।

गृहस्थके लिये पञ्चमहायज्ञ

(लेखक.—प्रोफेसर श्रीसचेन्द्रनाथ देन एम.एच., धर्मरत्न)

संसारमें सबसे अधिक मननशील लोग प्राचीन कालके हिन्दू ही थे। जीवनके सभी क्षेत्रोंका पूर्ण विचार करके प्रत्येकके सम्बन्धमें उन्होंने सब्दे शिद्धान्त स्थिर किये हैं। मुख और शान्ति इस लोकमें तथा परलोकमें भी—यही उनका ब्राह्मण लक्ष्य रहा है। उत्तम उपयोगी नागरिक बननेके लिये उन्होंने अपना जीवन ऐसा ढाला कि जिससे उनका ही नहीं, उनके पड़ोसियोंका भी और सरे संसारका कल्याण हो। भिज-भिज समाजोंके लिये जीविकाके भिज-भिज कर्म सौंप दिये गये और इस तरह ब्राह्मण, क्षत्रिय, कैश्य, शूद्र, अन्यज सबकी जीविकाका सदाके लिये उत्तम प्रबन्ध हो गया। उनकी दिनचर्या ऐसी थी कि उनके द्वारा प्रातःकालसे सायंकालतक विविध प्रकारके ऐसे ही पवित्र कर्म हुआ करते थे जिनसे अपने-पराये सबको बड़ा मुख मिलता था। किसीके प्रति किञ्चित् भी अन्यथा वे न होने देते थे। सबका जो सामान्यधर्म अहिंसा है, उसका वे बड़ी तपतरताके साथ पालन करते थे।

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
वानं दद्या दमः क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्॥

(वाचवस्त्रय० १ । १२२)

परन्तु जीवनमें पूर्ण अहिंसा असम्भव है। रसोई बनाने-के लिये जब हम चूहेमें आग जलाते हैं तो उससे न जाने कितने असंख्य कृषिकीटादि जीवोंकी हत्या होती है। इसी प्रकार जब हम चक्री या सील-लोदासे काम लेते, शाहूसे बुहारते, ढेकी या ऊखलसे धान कटते या घड़ोंमें पानी भरकर रखते हैं, तो कितने जीवोंका संहर होता है।

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुर्णी पेषयुपस्करः।
कण्ठान्ते व्यदकुम्भम् बद्धते यस्तु बाह्यन्॥
(मनु० ३ । ६८)

'सूना' कहते हैं कसाईखानैको। चुर्णा, लोदा, शाङ्क, टेकी या ऊखल और घड़ा थे—सचमुच ही गृहस्थके घरके पाँच कसाईखाने हैं।

अनिवार्यरूपसे होनेवाली इस हिंसाका भी पूरा विचार हमारे पूर्वपुरुषोंने किया और इन पापोंके प्रायश्चित्त भी स्थिर किय।

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महार्धिभिः।
पञ्च कृसा महायज्ञः प्रस्यहं गृहमेधिनाम्॥
अध्यायनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिमीतो नृयज्ञोऽतिथिष्ठेनम्॥
(मनु० ३ । ६९-७०)

अन्य स्मृतिग्रन्थोंमें भी ऐसे ही श्लोक मिलते हैं। अस्तु ।

ब्रह्मयज्ञः जिसे साध्याय भी कहते हैं, वेदोंका अध्ययन अध्यापन है। ब्रह्म शब्दका अर्थ है वेद। पितृयज्ञ नित्यका श्राद्ध और तर्पण है। दैवयज्ञ इवन है। भूतयज्ञ जीवोंको अन्नदान है। नृयज्ञ अतिथियोंका अर्थ असन्भोजनादिसे सत्कार है। प्रत्येक गृहस्थके लिये वे नित्य कर्तव्य हैं। भगवान् मनु कहते हैं कि जो इन यज्ञोंको नहीं करता वह जीता हुआ भी मरेके समान है—

वेदतातिपिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः ।
न निर्बोधं पञ्चानामुच्छुसक्षं स जीवति ॥
(मनु० ३ । ७२)

वानप्रस्थियों और शूद्र गृहस्थोंके लिये भी पञ्चमहायज्ञोंके करनेका अपना अपना विशिष्ट प्रकार है । (मनु० ६ । ५ और याशवल्क्य० १ । १२१)

इन महायज्ञोंमें प्रत्येकका विवरण एक-एक करके नीचे दिया जाता है—

(१) निष्करणी वेदोऽध्येयो शेषयश ।
(श्रुतिः)

‘वेदको निर्देशुक पढना और जानना चाहिये ।’

संधारिक दृष्टिसे वेदाध्ययन लाभप्रद नहीं है, क्योंकि इससे रुपया नहीं मिलता न इसमें हमारे लिये कोई आकर्षण ही है । तथापि इसका नित्य अध्ययन करना चाहिये, क्योंकि इससे मन और शरीरकी शुद्धि होती है और उससे ब्रह्मकी प्राप्ति होती है जो सब जीवोंका परम लक्ष्य है । सब वेदोंका अध्ययन करना जहाँ वन नहीं सकता, वहाँ कम-से-कम एक काढ़, एक यजुः और एक सामान्य पाठ अवश्य होना चाहिये—

एकामृतमें क वा यजुरेकं वा सामाभिष्याहेतु ।
(गौतम तथा आपसन्ध)

इस समयकी प्रचलित रुद्धि यह है कि नित्य प्रातः-सन्ध्याके बाद तीनों वेदोंका एक-एक पहला मन्त्र उच्चारित किया जाता है । गायत्रीका विद्योप जप कर लेनेसे भी वेदाध्ययनका काम हो जाता है । भगवान् मनु कहते हैं—

अपां समोरे नियतो नैत्यिकं विधिमास्तिः ।
साक्षित्रीमध्यधीयोति गत्वारथं समाहितः ॥
(२ । १०४)

अर्थात् नित्यके अवश्य अव्येष वेदाध्ययनके लिये कम-से-कम इतना तो करना ही चाहिये कि अरप्यमें जाकर जलाशयके समीप बैठकर समाहित होकर साक्षित्रीका जप करे ।

एक ही व्यक्तिके स्वाध्यायसे जगत्का दीर्घकालतक कोई लाभ नहीं हो सकता । इहलिये इसकी परम्पराको चलाते रहना चाहिये । ऐसा उपाय करना चाहिये जिससे नये-नये वैदिक विद्वान् उत्पन्न हों । इसके लिये अधिकारी शिष्योंको वेद पढ़ाना चाहिये ।

यो हि विद्यामधीरय अविने न भूयात् स कार्यहा स्यात्
श्रेष्ठसो द्वारमपाकृष्टयात् ।
(श्रुतिः)

‘जो वेदोंका अध्ययन करके शिष्यको उसका अव्ययन नहीं करता वह कार्यकी हानि करता है, श्रेष्ठस् द्वार ही बन्द कर देता है ।’

यही बात मनु भगवान् कहते हैं—

यसेव तु शुचिं विद्या नियतं ब्रह्मचारिणम् ।
तस्मै मां वृहि विद्याय निविषायाप्रभादिते ॥
(२११६)

‘परन्तु जिसे तुम जानते हो कि यह पवित्र जितेन्द्रिय और ब्रह्मचारी है उस सुख निधिके रक्षक अप्रमादी विप्रको विद्या पढ़ाओ ।’

(२) पितॄयश नित्य पितरोंको तिलोदक देकर तर्पण करना और एक ब्राह्मणको उनके निमित्त भोजन कर उनका आङ्ग करना है ।
(मनु० ३ । ८३)

बहुत लोग यही समझते हैं कि पितॄतर्पण केवल पितॄपक्षमें ही किया जाता है । परन्तु यथार्थमें पितरोंका तर्पण तो नित्यके पञ्चमहायज्ञोंमें एक महायज्ञ है । पितॄपक्षकी बात यह है कि इस पक्षमें प्रतिदिन पार्वण आङ्ग करनेका विधान है जिसके अपावधि तर्पण ही अधिक श्रद्धा और वड़ी विधिके साथ कर लिया जाता है ।

(३) देवता सूर्य, अग्नि, सोम आदि देवताओंके प्रीतिर्थ नित्यका होम है । होमायिमें धूतकी जो आहुति दी जाती है, उसे आधुनिक लोग केवल अपव्यय ही समझते होंगे; परन्तु दूरदर्शी शृण्य इसके महत्वको जानते थे और इस लोगोंको इतना तो जानना ही चाहिये कि इससे बातावरण शुद्ध हो जाता है, जिससे आपोग्य प्राप्त होता और धन्यकी शुद्धि होती है । ये ही तो दो चीजें हैं जो सब जीवोंके जीवनके लिये आवश्यक हैं । भगवान् मनु कहते हैं—

धर्मी प्राप्ताहुतिः सम्बगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याजायते दृष्टिरुद्देशं ततः प्रजाः ॥
(३ । ७६)

‘अद्विमे जो आहुति दी जाती है वह आदित्यमें पहुँचती है और आदित्यसे वधी होती है, वधीसे अज्ञ होता है और उससे प्राणी उत्पन्न होते और जीते हैं ।’

किसी देशमें महामारी आदि देशभरको उजाड़ देनेवाले रोगोंके फैलनेका कारण जाँचते हुए चरक यह बतलाते हैं कि पृथ्वी, जल, वायु आदिके दूषित हो जानेसे ये वीमारियाँ फैलती हैं, कशोंकि सबपर इस दोषका एक साथ असर पड़ता है—

ते खस्तिवसे भावाः सामान्या जनयदेषु भवन्ति तथाधा-
वायुस्त्रक देशः काल इति । (चरक-विमानस्थान अ० ३)

आगे फिर यह बतलाते हैं कि—

सर्वेषामधि वाय्वादीनां वैगुण्यमुख्यते यत् तस्य
मूलमध्यमः । (चरक-विमानस्थान अ० ३)

अर्थात् 'वायु आदि सब महाभूत जो इस प्रकार दूषित हो जाते हैं, इसका मूल कारण अधर्म है।'

वायु आदि महाभूतोंमें संकान्त इस दोषका सर्वोत्तम परिहार यथा है । नित्य ही यदि पश्च किया जाय तो उससे आरोग्य सदा बना रहता है । रोगको होने ही न देनेके इस साधनकी ओर कोई ध्यान न देकर हमलोग समय-समयपर आनेवाले रोगोंके हलाजके लिये अपने धन और बलका सारा जोर लगाकर अस्ताल बनाते चले जा रहे हैं । हमलोगोंने इस बातको तो बुला ही दिया है कि रोगको हटानेका उपाय करनेकी अपेक्षा रोगको होने ही न देना अधिक अच्छा है ।

(४) भूतपञ्च सब प्रकारके जीवोंको-देव-पितर, पशु-पक्षी, कुमि-कीट, अन्यजल और अपाहिज आदि सबको सिद्धान्त लिलाना है । यदि अन्त्यज आदि गरीब मनुष्योंको इस तरह प्रतिदिन घर-घरसे अब मिला करे तो उनका रोटीका प्रश्न ही हल हो जाय । आजकलकान्सा दैन्य-दारिद्र्य पहले नहीं था, न आजकलकान्सा वैमनस्य और संघर्ष ही था ।

(५) नृथज्ञ अतिथिका सत्कार है । आजकलके लोग इसकी अच्छा नहीं समझते; इससे इसका चलन कम हो गया है और जगह-जगह होटल खुलते जा रहे हैं, जो सच पूछिये तो रोगोंके घर हैं । हमलोग अपने यार-दोस्तोंकी तो खूब आवभगत करते और उन्हें सिलाते-पिलाते हैं पर यदि कोई अनाथ अस्थाय प्राणी द्वारपर आ जाय तो उसके लिये हमारे घरमें, हमारे हृदयमें कोई स्थान नहीं है । हमारे पूर्व-

सा० अं० ७०—

पुरुष अतिथि-अस्थायतकी प्रतीका किया करते थे । जिस दिन कोई अतिथि उनके घर न आता उस दिन वे अपनेको अपागा समझते थे । कम से-कम एक अतिथिको भोजन करा देना प्रत्येक गृहस्थका धर्म था । अतिथिके भोजन करनेके पश्चात् ही गृहस्थ और उनकी पत्नी भोजन कर सकते थे । मनु भगवान् कहते हैं—

अर्धं स केवलं भुक्त्वा यः पञ्चवायमकारणात् । (३।११४)

अर्थात् जो अपने लिये ही रखें बनाता है वह केवल पाप भक्षण करता है ।

महायज्ञोंका यह संक्षिप्त विवरण है । जब घर-घर ये महायज्ञ होते थे तब कोई जगदा नहीं था, कोई वैपाय्य और संघर्ष नहीं था । जीवन सुखपूर्वक श्रीतदा चला जा रहा था । जीवनमें कोई कुर्चिमता नहीं थी जो आजकल शुरूसे आखीर-तक हमारे जीवनका प्रधान अङ्ग हो रही है । उन पञ्च-महायज्ञोंके बदले आजकल हमारे ये पाँच यज्ञ हो रहे हैं—

(१) ब्रह्मण्यका स्थान अस्तवारोंने ले लिया है, जिनका काम दृष्टका द्वचार करना और लड्डां-शगड़े और आपसकी दलशन्दीको बढ़ावा देना है ।

(२) पितृतपेणकी जगह आजकल हमलोग अपने अकसरी या अपने मुवक्किलोंकी तृतीका उपाय किया करते हैं ।

(३) होमका काम बड़े साहबोंके पास भेजी जानेवाली डालियोंसे अथवा राजनीतिक नेताओंको दी जानेवाली धैलियोंसे हुआ करता है ।

(४) भूतपञ्चका सिद्धान्त अब यार-दोस्तोंको दी जानेवाली पार्टियोंमें समागया है । इन पार्टियोंके हेतु इस जमाने-में जैसे हो सकते हैं, वैसे ही हुआ करते हैं ।

(५) नृथज्ञ अब दाम लेकर होटलोंमें किया जाता है । इसका जो कुछ परिणाम है, वह आँखोंके समने है । जीवनमें मुख और शान्ति नामको भी नहीं रही है । बड़े जोरसे कोई आन्दोलन उठाया जाता है, कुछ दिन चलता है और फिर बेकार हो जाता है; तब कोई दूसरा आन्दोलन उठता है और उसी क्रमसे खत्म होता है । इस प्रकार आन्दोलनपर आदोलन उठते-मिटते चले जा रहे हैं । पता

नहीं हमलोक कहाँ जा रहे हैं। सोचने और समझनेका समय है कि मनुष्यजातिसे स्नेहसूत्रमें यांध रखनेकी सबसे बड़ी शक्ति धर्मके ही आचारविचारमें निहित है। जहाँ धर्म नहीं, वहाँ सुलझति ठहर नहीं सकती, मेल हो नहीं सकता, परस्पर

देख ही वहाँ बढ़ेगा और नाना प्रकारके दल वहाँ निर्माण होते रहेंगे। जब धर्म रहेगा, तब हिंदू और मुसलमान भी एक साथ एक होकर सुखर्वक रह सकेंगे। धर्मके बे दिन शीघ्र आयें।*

गृहस्थके पञ्चमहायज्ञका विवरण

(लेखक—१० श्रीविणीरामजी शर्मा गोड)

कर्म तीन प्रकारके होते हैं—नित्य, नैमित्तिक और काम्य। जिन कर्मोंके करनेसे किंतु फलविदेशकी प्राप्ति न होती हो और न करनेसे पाप लगता हो उन्हें 'नित्य'+ कहते हैं; जैसे—निकालसन्ध्या, पञ्चमहायज्ञ इत्यादि।

पञ्चमहायज्ञ करनेसे आत्मोन्नति आदि अवान्तर फलकी प्राप्ति होनेपर भी, 'पञ्च सूना' दोषसे छुटकारा पानेके लिये शाष्ट्रकारोंकी आज्ञा है कि—

'सर्वगृहस्थैः पञ्च महायज्ञा अहरहः कर्तवशः ।'

अर्थात् गृहस्थमात्रको प्रतिदिन पञ्चमहायज्ञ करने चाहिये। इससे यह स्पष्ट है कि पञ्चमहायज्ञके करनेसे पुण्यकी प्राप्ति नहीं होती, किन्तु न करनेसे पापका प्रातुर्भाव अवश्य होता है।

हमलोगोंकी जीवनयात्रामें सहज ही हजारों जन्मओंकी प्रतिदिन हिंसा होती है; जैसे—चलने फिरनेमें, योजनके

प्रत्येक मासमें तथा श्वास-प्रश्वासमें जीवकी हिंसा अवश्य होती है। प्राणधारी मनुष्यके लिये इन पापोंसे बचना कदापि सम्भव नहीं है। अतः इन पापोंसे मुक्त होनेके लिये ही महामहिमशाली महर्षियोंने पञ्चमहायज्ञका विश्वान बताया है।

भगवान् मनु कहते हैं—

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुही पेषण्युपस्करः ।
कण्ठस्त्री चोष्टुमध्य वायते यस्तु बाह्यन् ॥
तासां क्रमेण सर्वासां निष्क्रियर्थं महर्षिभिः ।
पञ्च छूसा महायज्ञः प्रथमं गृहमेधिनाम् ॥

(३।६८, ६९)

प्रत्येक गृहस्थके यहाँ चूल्हा, चक्की, बुहारी (शाड़) ऊखल और जलका पात्र, ये पाँच हिंसाके स्थान हैं। इनसे होनेवाली हिंसाकी निष्क्रियत्वके लिये महर्षियोंने गृहस्थोंके लिये प्रतिदिन पञ्चमहायज्ञ करनेका विश्वान किया है।

* सुष्टुपे कार्यका सुन्यवस्थित रूपसे मन्त्रान्तर और सब जीवोंका यायोग्य भरण-पोषण पान श्रेणियोंके जीवोंका पारस्पर्यके सहायतामें सम्पन्न होता है। वे पांच हैं—देवता, चण्डि, पिता, मनुष्य और पशु-पश्ची आदि भूतप्राणी। देवता संतारभासमें सबाँ इह भोग देते हैं, अपिन्मुनि सबको शान देते हैं, पिता उन्नतानका भरण-पोषण करते, रक्षा करते और कल्याणप्राप्ति करते हैं, मनुष्य कर्मोंके द्वारा सबका द्वित करते हैं, और पशु, पश्ची, बृहादि सब जीवोंके भूखके लिये अपना आत्मदान देते रहते हैं। पांचों ही अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार सबको मेंवा करते हैं, पांचोंके महोगदे ही सबका निवैष्ट जीवननिर्वाच होता है। इन पांचोंमें अधिकार, साधनसामग्री और कर्मोंकी योग्यताके कारण कर्मयोगि भनुष्यपर ही सबको पुष्टि होती है। अतएव मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह जो कुछ भी सिद्ध करे—कमावे उसमें इन सबका आग समझे और सबको देखत ही उसे अपने उपयोगमें लावे। जो मनुष्य सब जीवोंको उनका अन्वन हिस्सा देकर बचा हुआ खाता है—अपने उपयोगमें लाता है, वही अमृताश्चा (अमृत खानेवाला) है। जो ऐसा न करके केवल अपने ही लिये कमाता और अकेला ही खाता है, वह पाप खाता है।

'मुक्तो है त्वं वापा ये पनन्त्यात्मकारणात् ॥'

† पूर्वीकर्मनुसार जन्म ग्रहणकर जो मनुष्य जिस कक्षा (श्रेणी) में प्रविष्ट होता है, उसमें अपनी स्थिति बनी रहे, इसके लिये ही उसे अपनी कक्षाके योग्य समस्त कर्म करने पड़ते हैं, जिससे उसका उक्तस्थानसे धर्षणन नहीं हो सकता। इसलिये निष्क्रियकर्मोंके करनेसे पुष्टिकी प्राप्ति नहीं होती, बल्कि इन्हें न करनेसे पाप अवश्य लाता है; यद्योंकि उनके किये बिना उस कक्षामें शायी स्थिति संर्वेषा असम्भव है।

यशके दो भेद होते हैं—एक यश, दूसरा महायश । यश तथा महायशके स्वरूप तथा इसकी विशेषताका वर्णन महर्षि भारद्वाजने इस प्रकार किया है—

‘यशः कर्मसु कौशलम्’ ‘समहिसमवन्धान्महायशः ।’

‘कुशलतापूर्वक जो अनुशासन किया जाता है उसे ‘यश’ कहते हैं ।’ ‘पञ्चात् समष्टि-सम्बन्ध होनेसे उसीको ‘महायश’ कहते हैं ।’

इसी वातको महर्षि अङ्गिराने भी कहा है—

यज्ञमहायशी यज्ञहिसमितिसम्बन्धात् ।

‘यज्ञहिसमिति सम्बन्धसे यश-महायश कहे जाते हैं ।’

यज्ञका फल आत्मोक्ति तथा आत्मकल्याण है, उसका व्यष्टिसे सम्बन्ध होनेके कारण उसमें स्वार्थकी प्रधानता आ जाती है । (यही इसकी न्यूनता है ।)

महायशका फल जगतका कल्याण है, उसका समष्टिसे सम्बन्ध होनेके कारण उसमें निःस्वार्थताकी प्रधानता आ जाती है । यही इसकी विशेषता है ।

जिस यशानुशासनके प्रभावसे जीवकी मुद्रिता, अस्पृशता आदिका विनाश होता और वह परमात्माके साथ एकताको प्राप्त होता है, उस अनुशासनका महत्त्व सर्वमान्य है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं ।

पञ्चमदायश

पञ्चमदायशका वर्णन प्रायः सभी ऋषिमुनियोंने अपने अपने धर्म-ग्रन्थोंमें किया है । जिनमें से कुछ ऋषियोंके वचनोंको यहाँ उद्धृत किया जाता है—

तैतिरीयारण्यकमें—

‘पञ्च वा एते महायशः सतति प्रताशन्ते । देवयशः पितृयशो मनुष्ययशो भूतयशो ब्रह्मयशः हृति ।’

आश्वलयनसूत्रमें—

‘अथातः पञ्च महायशः देवयशो भूतयशः पितृयशो ब्रह्मयशो मनुष्ययशः हृति ।’

छन्दोगपरिचेष्टमें—

देवभूतपितृब्रह्ममनुभाणमनुक्रमात् ।

महासक्राणि वालीयात् एव हि महायशः ॥

याज्ञवल्यस्मृतिमें—

बलिकर्मस्वधाहोमस्वाध्यायातिथिसत्क्रिया: ।

मृतपित्रामश्वस्त्रमनुष्याणो महायशः ॥

मनुस्मृतिमें—

अध्यापनं ब्रह्मयशः पितृयशस्तु तर्पणम् ।

होमो दैवो बलिभैतो नृष्णोऽतिथिपूजनम् ॥

जो मनुष्य पूर्वकथित पञ्चयशके द्वारा देवता, अतिथि, पोष्यवर्ग, पितृलोक और आत्मा—इन पाँचोंको अज्ञादि नहीं देते, वे जीते हुए भी मनेके समान हैं अब्यात् उनका जीवन निष्पल है । भगवान् मनु महाराजकी आज्ञा है कि—

पञ्चतात् यो महायशात् हाषयति शक्तिः ।

स गृहेष्य वसद्वित्यं सूनादोऽर्चनं छिपते ॥

(३।७१)

‘जो गृहस्य शक्तिके अनुकूल इन पञ्चमहायशोंका एक दिन भी परित्याग नहीं करते, वे गृहस्याभ्यामें रहते हुए भी प्रतिदिनके पञ्च सूनाजनित पापके भागी नहीं होते ।’

पञ्चमहायशके अनुशासनसे समस्त प्राणियोंकी तृप्ति होती है, इस प्रकारका सङ्केत भगवान् मनु महाराजने मनुस्मृतिके तृतीय अध्यायके ८०, ८१ और ७५ वें श्लोकमें किया है ।

पञ्चमहायश करनेसे अज्ञादिकी शुद्धि और पापोंका ध्य होता है । पञ्चमहायश किये विना भोजन करनेसे पाप लगता है । देविये, आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कथा कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्वो मुच्यसे सर्वकिलिष्वैः ।

भुञ्जते ते त्वं पापा ये पञ्चन्त्यात्मकाशणात् ॥

(३।१३)

‘यज्ञसे शेष बचे हुए अज्ञको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष पञ्च-हत्याजनित समस्त पापोंसे मुक्त हो जाते हैं, किन्तु जो पापी केवल अपने लिये ही पाप बनाते हैं, वे पापका ही भक्षण करते हैं ।’

अतः पञ्चमहायश करके ही गृहस्योंको भोजन करना चाहिये । पञ्चमहायशके महत्त्व एवं इसके व्यार्थ स्वरूपके जानकार द्रिजमात्रका कर्तव्य है कि वे अवक्य पञ्चमहायश किया करें—ऐसा करनेसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी सुरक्षा प्राप्ति होगी ।

ब्रह्मयज्ञ

वेदोंके पठन-पाठनको 'ब्रह्मयज्ञ'* कहते हैं। वेदमें कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्डमें ज्ञानकी ही प्रधानता और परमावश्यकता ब्रह्मलायी गयी है। ज्ञानके ही कारण जीवान्तरकी अपेक्षासे मनुष्यदेह उत्तम मात्रा गया है। शास्त्रोक्त सदाचार तथा धर्मानुष्ठानमें तत्पर रहना ही मनुष्यकी मनुष्ठता है और वही मनुष्य वास्तविक मनुष्यत्वका अधिकारी समझा जाता है। इसके बाद कर्मकाण्डद्वारा अन्तःकरणकी छुड़ि हो जानेपर मनुष्य उपासनाकाण्डका अधिकारी बनता है, तदनन्तर भगवत्कृपाकटाक्षे लेशसे ज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जाता है। यह मनुष्योंका सामान्य उच्चतिकम् है। क्रमिक उच्छितमें ज्ञानका प्राधान्य है। अतः सभी अवस्थाओंमें ज्ञानकी ही आवश्यकता है। इसलिये प्रथमावस्थामें भी ज्ञानके विना असदाचरणका परित्याग तथा धर्मानुष्ठानमें प्रवृत्ति करायि नहीं हो सकती।

'बलग्नानिनिद्र्ययप्राप्तो विद्वांसमपि कर्त्तति ।'

इस उपदेशके अनुसार ब्रह्मवान् इन्द्रियसमूह उसमें प्रतिवर्त्यक अवश्य है; तथापि इन्द्रियाँ प्रथमावस्थामें मनुष्यको अपनी ओर प्रवृत्त करती हैं न कि धर्मानुष्ठानमें। इसी समय मात्रा, पिता तथा गुरुजन भी धर्मानुष्ठानमें प्रवृत्त तथा अधर्मानुष्ठानसे निवृत्त करते हैं। इस प्रकार सभी अवस्थाओंमें ज्ञानकी ही प्रधानता सिद्ध होती है। अतएव ज्ञानयस्तरस्य स्वाध्याय (वेद-शास्त्रोंका पठन-पाठन) करना चाहिये।

ब्रह्मयज्ञ करनेसे ज्ञानकी छुड़ि होती है। ब्रह्मयज्ञ करनेवाला मनुष्य ज्ञानप्रद महर्षिगणका अनुर्णी और कुत्तन हो जाता है।

देवयज्ञ

अपने हृष्टदेवकी उपासनाके लिये परब्रह्म परमात्माके निमित्त अविमें किये हुए, हवनको 'देवयज्ञ' कहते हैं।

यत्करोषि यदद्वनासि यज्ञुहोषि ददासि यत् ।

यसपत्स्यसि कौन्तेय तत्कुरुत्वं मदर्पणम् ॥

(गीता ५ । २७)

* मनुभावान्नने तो 'अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः' ही लिखा है; परन्तु—
गुरुकथयनं कुरुत्वुश्रूषादि समाचरेत् ।

स सद्यो ब्रह्मयज्ञः स्यात्तत्त्वः परमुच्यते ॥

इस कुलदेवता मट्टकृत माध्यके अनुसार अध्ययनको भी 'ब्रह्मयज्ञ' कहते हैं।

भगवान् के इस बचनसे रिद्ध होता है कि परब्रह्म परमात्मा ही समस्त यज्ञोंके आश्रयभूत हैं। इसलिये ब्रह्मयज्ञमें श्रूषिताणि, पितृयज्ञमें अर्यमादि नित्य पितृगण और परलोकामी नैमित्तिक पितृगण, भूतयज्ञमें देवतस्य अनेक प्राणियोंको जानकर ('यद्यद्विभूतिमस्तत्प्रभृ') इस गीतोक्त भगवद्बचनके अनुसार इव्वर्व-विभूतिभारी देवताओंकी जो-जो पूजा की जाती है, वह सर्वव्यापक अन्तर्यामी परमात्माकी अर्चना (पूजा) के अभ्यासके लिये ही की जाती है।

नित्य और नैमित्तिक भेदसे देवता दो भागोंमें विभक्त हैं। उनमें ददगण, वसुगण और इन्द्रादि नित्य देवता कहे जाते हैं।

आमदेवता, यनदेवता और गृहदेवता आदि अनित्य कहे जाते हैं।

दोनों तरहके ही देवता इस बशसे तृप्त होते हैं। जिन देवताओंकी कृपासे जडभावको प्राप्त होते हुए भी विनश्वर कर्मसे फल उत्पन्न हो रहा है, जिनकी कृपासे समस्त सुख-शान्तिकी प्राप्ति होती है, जिनकी कृपासे संसारके समस्त क्रियाकलापकी भलीभाँति उत्पत्ति और रक्षा होती है, उन देवताओंसे उश्छृणु होनेके लिये 'देवयज्ञ' करना परमावश्यक है।

भूतयज्ञ

कृमि, कीट, पतंज, पशु और पक्षी आदिकी सेवाको 'भूतयज्ञ' कहते हैं।

ईश्वररचित् सृष्टिके किसी भी अङ्गकी उपेक्षा कभी नहीं की जा सकती, क्योंकि सृष्टिके सिर्फ एक ही अङ्गकी सहायताये समस्त अङ्गोंकी सहायता समझी जाती है, अतः 'भूतयज्ञ' भी परम धर्म है।

प्रत्येक प्राणी अपने सुखके लिये अनेक भूतों (जीवों) को प्रतिदिन हँथ देता है, क्योंकि ऐसा हुए विना क्षणभाव भी शरीररात्रा नहीं चल सकती।

प्रत्येक मनुष्यके निःश्वास-प्रश्वास, मोजन-प्राशन, विहार-सद्बार आदिमें अगणित जीवोंकी हिंसा होती है। निरामिष भोजन करनेवाले लोगोंके भोजनके समय भी अगणित जीवोंका प्राणवियोग होता है, आग्निष्ठोजीवोंकी तो कथा ही क्या

है ? अतः भूतों (जीवों) से उश्छृण होनेके लिये 'भूतयज्ञ' * करना आवश्यक है ।

भूतयज्ञसे कृष्ण, कीट, पशु, पर्णी आदिकी तृप्ति होती है ।

पितृयज्ञ

अर्यमादि नित्य पितरोंकी तथा परलोकगामी नैमित्तिक पितरोंकी पिण्डग्रहणादिसे किये जानेवाले सेवारूप यज्ञको 'पितृयज्ञ' कहते हैं ।

सन्मानाप्रवर्तक माता-पिताकी कृपासे असन्मार्गसे निवृत होकर मनुष्य ज्ञानकी प्राप्ति करता है । पिर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदि सकल पदार्थोंको प्राप्त कर मुक्त हो जाता है । ऐसे द्यावा यज्ञ पितरोंकी तृप्तिके लिये, उनके सम्मानके लिये, अपनी कृतशक्तिके प्रदर्शन तथा उनसे उश्छृण होनेके लिये 'पितृयज्ञ' करना नितान्त आवश्यक है ।

पितृयज्ञसे समस्त लोकोंकी तृप्ति और पितरोंकी तुष्टिकी अभिवृद्धि होती है ।

मनुष्ययज्ञ

कुधाने अत्यन्त पीड़ित मनुष्यके घर आ जानेपर उसकी भोजनादिसे की जानेवाली सेवाको 'मनुष्ययज्ञ' कहते हैं ।

अतिथिके घर आ जानेपर वह चाहे किसी जाति या

किसी भी सम्प्रदायका हो, उसे पूज्य समझकर उसकी पाद और अर्धादिसे समुचित पूजा कर उसे अज्ञादि देना चाहिये । इस विषयकी पुष्टि भगवान् मनु महाराजने भी अपनी स्मृतिके तीसरे अव्यायमें (३ । १९-२०२, १०७, १११) विशदरूपसे की है । इससे यह सिद्ध हुआ कि पृथ्वीके सभी समाजवालोंको अतिथिसेवारूप धर्मका परिपालन अवश्य करना चाहिये ।

प्रथमावस्थामें मनुष्य अपने शरीरमात्रके सुखसे अपनेको सुखी समझता है, पिर अपने युवा, कलब, मित्रादिको सुखी देखकर सुखी होता है । तदनन्तर स्वदेशवासियोंको सुखी देखकर सुखी होता है । इसके बाद पूर्ण शान प्राप्त करनेपर वह समस्त लोकसमूहको सुखी देखकर सुखी होता है । परन्तु वर्तमान समयमें एक मनुष्य समस्त प्राणियोंकी सेवा नहीं कर सकता, इसलिये यथाशक्ति मनुष्यमात्रकी सेवा करना ही 'मनुष्ययज्ञ' कहा जाता है । मनुष्ययज्ञसे धन, आयु, यश और स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है ।

इह प्रकार सञ्चरणसे यहस्यके पञ्चमहायज्ञका विवरण है ।

आशा है, विश्वापाठकगण इससे अवश्य सन्तुष्ट होंगे ।

सबमें स्थित भगवान्‌का तिरस्कार न करो !

भगवान् कपिलदेव माता देवहृतिजीसे कहते हैं—

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्माचस्थितः सदा । तमव्यक्षाय मां मर्त्यं कुरुते ऽचार्याचिद्भवनम् ॥

यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्ततमात्मानमीम्ब्रतम् । द्वित्वाचार्या भजते मौक्षाङ्गसन्वेष जुहोति सः ॥

द्विष्टतः परकार्ये मां मालिनो मिष्टदर्शिनः । भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिसृच्छति ॥

अहमुच्चावचैद्रव्यैः क्रिययोत्पञ्चानन्धे । नैव तुष्टेऽचिर्तोऽचार्यां भूतग्रामावमानिनः ॥

(श्रीमद्भा० ३ । २९-२१-२४)

मैं समस्त प्राणियोंमें उनकी आत्माके रूपसे सर्वदा स्थित रहता हूँ, मेरे उस स्वरूपका तिरस्कार करके मनुष्य पूजाकी विद्यमाना करता है । जो समस्त प्राणियोंमें आत्मरूपसे स्थित मुक्त ईश्वरको छोड़कर पूजा करता है, वह मूर्च्छातवदा रास्तकी देरमें ही इब्न करता है । जो एक शरीरमें अभिमान होनेके कारण अपनेको अल्प समझता है, और दूसरे शरीरमें स्थित मुक्तवेही देख करता है, प्राणियोंके प्रति वैर-भावना रखनेवाले उस उरुषका मन कभी शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता । जो मनुष्य प्राणियोंका अपमान करता है, उसके द्वारा बहुत-सी सामग्रियोंसे किये हुए मेरे पूजनसे भी मैं प्रसन्न नहीं होता ।

* देवेभ्यश्च हुतादज्ञाच्छेषामृतवर्णिं हरेत् । अत्र भूमै श्वाण्डलवायसेभ्यश्च निष्प्रियेत् ॥ (या० ४४०)

देवयज्ञसे क्वचि युप अक्षयोंके लिये मूलिपर दाल देना चाहिये और वह अन्न पशु, पक्षी एवं गौ आदिको देना चाहिये ।

करनेयोग्य

छः वेगोंका दमन करो—

बाणीका बेग, मनका बेग, कोधका बेग, उद्रका बेग, उपशक्ति का बेग और जिह्वाका बेग। इन छः तुर्निवार वेगोंका दमन करनेवाला पृथ्वीभरपर शासन कर सकता है।

छः बातोंवाल त्याग करो—

अधिक आहार, व्यर्थ कार्य, व्यर्थ अधिक बोलना, भजनके नियमका त्याग, विषयी जनोंका सङ्ग और विषय-लालसा। ये छः भक्तिमें बाधा देनेवाले हैं। इनके रहते भजनमें भ्रम नहीं होता। जो इनका त्याग करता है, वह भक्ति प्राप्त करता है।

छः बातोंको ग्रहण करो—

भजनमें उत्साह, दृढ़ निश्चय, धैर्य, भजनमें प्रवृत्ति, बुरे सङ्गका सर्वथा त्याग और साधुके आचरण—ये छः कर्तव्य हैं। इनके पालनसे बहुत शीघ्र भक्तिकी कृपा प्राप्त होती है।

(श्रीकृष्णगोस्वामी)

प्राणशक्ति और मनःशक्तिका साधन

(लेखक — स्तामी विभूतिनन्दनी सरस्वती)

प्राणशक्ति, मनःशक्ति, कियाशक्ति, भावनाशक्ति और बुद्धिशक्ति—ये पाँच शक्तियाँ हैं और हन्दीके अनुक्रमसे पाँच ही योग हैं—हठयोग, व्यानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग और शानयोग। इनमें प्राणशक्ति और मनःशक्ति, ये दोनों अस्त्यन्त प्रबल हैं। इन दो शक्तियोंको जो वशमें कर लेता है, वह संसार-विजयी होता है।

प्राणशक्तिका साधन

प्राणशक्तिको वशमें करनेवाला साधक इस पृथ्वीपर रहनेवाले प्राणियों और आकाशमें उर्हनेवाले प्रक्षियोंको वशीभूत कर सकता है और नक्षत्र-मण्डलकी वार्ता भी जान सकता है। प्राणके आधारपर ही यह अखिल ब्रह्माण्ड स्थित है। यही प्राण सबको नाशुरुपते प्रतीत हो रहा है। अथव-वेदके व्याहवे काण्डमें इस प्राणका वर्णन है—

प्राणो विराट् प्राणो देही प्राणं सर्वं उपासते ।

प्राणो ह सर्वशब्दमाः प्राणमाहुः प्रजापतिभुः ॥

‘प्राण विराट् है, सबका प्रेरक है; इसलिये सब इसकी उपासना करते हैं। प्राण ही सर्व और चन्द्रमा है, प्राणको ही प्रजापति कहते हैं।’

प्राणशक्तिके कारण ही हमारे शरीरकी नसों एवं नाडियोंमें रक्तका प्रवाह चल रहा है, उसी प्रकार प्राणशक्तिके बलपर ही सूर्यादि लोक वृत्त रहे हैं। अन्न, वनस्पति आदि सूर्यकी प्राणशक्तिसे ही उत्पन्न होते हैं। प्राण ही तेज है। इस पाञ्चभौतिक भारीको प्राण जब छोड़ देता है, तब यह शरीर निस्तेज होता और नष्ट हो जाता है। प्राणियोंका प्राण ही ईश्वर है।

प्राणय नसो यस्य सर्वमिदं वशः ।

यो भूतः सर्वस्वेश्वरो अस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥

(अथर्वा का० ११)

‘उस प्राणको मेरा नमस्कार है, किसके अधीन यह सारा जगत् है, जो सबका ईश्वर है, जिसमें यह सारा जगत् प्रतिष्ठित है।’

प्राण परमेश्वरकी एक शक्ति है। इसका साधन गुरुमुख-से ही जानकर करना चाहिये। मूलाधारचक्रसे साधन आरम्भ किया जाता है। वाये पैरकी एङ्गीसे गुदद्वारको बन्द करके मूलबन्ध लगाया जाता है और जननेन्द्रियके मूलको दोनों एङ्गियोंसे दबाकर कुण्डलिनीको लगाया जाता है।

स्वाधिष्ठानचक्रके ऊपर जो कन्द है, उसे दोनों एङ्गियोंसे दबानेसे कुण्डलिनी जागती है। वहाँसे ऊपर चढ़कर मणिपूर-चक्रको भेदकर प्राण अनाहतचक्रमें पहुँचता है। वहाँ ज्योतिका साक्षात्कार होता है। तब और ऊपर चढ़कर विशुद्धचक्रको भेदकर प्राण आत्माचक्रमें जाता है। वहाँ शिखके दर्शन होते हैं। वहाँसे अमृतसाथ होता है। योगी लोग लेचरी सुद्रा लगाकर इसे पान करते और अमर हो जाते हैं। नाथियें जालन्धरबन्ध और वक्षःश्वलमें उड़ीयान-बन्ध लगाकर योगीलोग प्राणको मरितज्ज्वलमें ले जाते हैं, जहाँसे ऊपर सहस्रार है—जो श्रीविष्णुभगवानका धार्म और सबका मोक्षाधारन है। पूरक, रेचक, कुम्भक-इस त्रिविध प्राणायाम-से यह साधन बनता है। बाहरी कुम्भक और भीतरी कुम्भकसे जो प्राणको अपने बशमें कर लेता है वह अपनी शक्तिसे अनायास आकाशमें शायुके समान सद्बार कर सकता है, सशीर अन्य लोकोंमें जा सकता है, अपने स्थानमें बैठ-बैठे सहस्रों कोसकी दूरीपर अपना कार्य कर सकता है, रोगियोंको रोगोंसे मुक्त कर सकता है, बन्दियोंके बन्धन छुड़ा सकता है। यह सब तो मैंने लिख दिया, पर इसका साधन गुरुके समीप रहकर ही टीक तरहसे हो सकता है।

मनःशक्तिका साधन

मन बड़ा चब्बल है। वही बात अर्जुन-जैसे धीर-धीरने मनःसंयमके प्रसङ्गमें कही है—

चब्बल हि मनः कृष्ण प्रमाणि बलवद् ददम् ।

तस्याहं निप्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

‘यह मन बड़ा चब्बल, बड़ा सलवान्, दद और मथनेवाला है। इसको रोककर स्थिर करना वायुकी गतिको रोकनेके समान अत्यन्त कठिन है।’

मनका यह स्वभाव है कि यह बन्दरको तरह यहाँसे वहाँ, एक डारपरसे दूसरी डारपर कूदता-कूदता रहता है, एक क्षणमें उत्तरसे दक्षिण और पूर्वसे पश्चिमकी तैर कर आता है, बात-की-बातमें चारों धारकी यात्रा और पृथ्वीकी परिक्रमा कर लेता है। इसकी चब्बलताका क्या ठिकाना है? मन-दुर्योग्यनसे युद्ध किये विना आत्मराज्यका पाना असम्भव है और विना राज्यके मुख और भोग कहाँ? परन्तु यह इतना बलवान् है कि सहस्रों हथियोंके पाँवोंमें जंजीर डाल देना या सहस्रों सिंहोंको पिंजड़ीमें बंद रखना आसान है, पर इसे स्थिर करना आसान नहीं। मनने ही तो

काशीपति श्रीविश्वनाथकी समाधि भङ्ग कर दी थी, विश्वामित्र और अगस्ति-जैसे महातपीवियोंको पृथ्वीपर पटक दिया था, देवर्पि नारदको अपने मोहनाल्लसे बाँध लिया था और मगावान् रामचन्द्रतकको पंजी-वियोगसे फल दिया था। यह अपनी ही चालपर इतनी दृढ़तासे डटा रहता है कि किसीके इटाये वहाँसे दृढ़ता ही नहीं और सब इन्द्रियोंको अपने अधीन करके सारे शरीरमें खलबली मचा देता है। इसे तो लक्षण-जैसे यति, हनुमान-जैसे योद्धा, भीम्पितामह-जैसे महायोगी ही जीत सकते हैं। योग जो कुछ है, इसी मनकी बृत्तियोंका निरोध है। जो इसका निरोध कर सकता है, वही ईश्वरका साक्षात्कार कर सकता है। जो कुछ भी किया जाता है, वह मनके द्वारा किया जाता है। अच्छा या बुरा, मनके विना कोई कार्य नहीं हो सकता। यह यह मन शुभ सङ्कल्पोंवाला होता है, तब वह अनन्त सुखका कारण होता है। इसकी विस्तरी हुई सब बृत्तियाँ जब किसी स्थानमें एकत्र निष्ठा होती हैं, तब मनुष्य अनन्त शक्तिशाली होता है। बन्ध या मोक्ष, दोनोंका कारण मन ही है।

शास्त्रोंने इस मनको स्थिर करनेके उपाय बताये हैं। पर वहे भाग्य और पुण्यके प्रतापसे ही किसीका मन स्थिर और शान्त हो पाता है। अब अधिक विस्तार न करके मनको स्थिर करने और मनःशक्ति प्राप्त करनेका एक साधन यहाँ लिखते हैं। मनका दसमंजिला मकान है, एक-एक मंजिलपर दस-दस मुकाम हैं, एक-एक मुकामपर सौ-सौ पैदियाँ हैं। इस मकानकी छतपर जो साधक चढ़ जाय और फिर उलटे पैरों लौट आये, वही संत है—चाहे वह यद्यस्य हो या ब्रह्मनारी, वर्ण और जातिमें ऐसे हो या कनिष्ठसे भी कनिष्ठ। यहाँ—

जात-पैतॄ पूछे नहिं कोई। हरिका भैंसे हरिका होई ॥

मनका यह मकान मनःकल्पित ही है। आप शिव, विष्णु, राम, कृष्ण, सूर्य, दृश्य—चाहे कोई भी एक नाम लीजिये और उसे १०० तक गिनिये। यह एक मुकाम है। वहाँसे उलटे लौटकर वैसे ही गिनते हुए एकपर आइये। इस प्रकार अभ्यास बढ़ते हुए एक हजारतक चढ़ जाइये, फिर वहाँसे उलटे पैरों लौटिये। आप देखेंगे कि आपका मन कितना शान्त होता है। अब दो हजारतक चढ़िये, वह दूसरी मंजिल आ गयी। वहाँसे उलटे पैरों फिर लौटिये। इसी प्रकार तीसरी, चौथी, पाँचवीं, छठी, सातवीं, आठवीं, नवीं और दसवीं मंजिलतक—१० हजारतक चढ़ जाइये और

उल्लटी गिनती करते हुए लौटिये। आपको विलक्षण शान्ति मिलेगी और जब भी होगा। पर इस प्रकार जपका होना और उल्लटी-सीधी गिनतीमें मनका लगना भी बड़े पुण्यसे हैता है। महान् पुण्योदयके विना भगवान्की ओर सन नहीं लगता।

प्राण और मनका साधन सङ्ग

प्राणायाम करते हुए कुम्भककी क्रियामें जहाँ प्राण रखेगा, वहीं मन भी स्थिर होगा—यह निश्चित बात है। मन-साधनकी गिनती करते हुए जब आप एक हजारतक पढ़नेवें तब वहीं तुप होकर बैठ जायें, मनको कहीं इधर-उधर जाने न दें। इसके बाद लौटिये। जब एकपर आ जायें तब तुप होकर मनको भीतर ही रोक रखें और कुछ देर हृदय और नाभिचक्रका ध्यान करें। पिर अध्युले नेत्रोंसे, मनको नासिकाके अग्रभागपर या भ्रूमध्यमें स्थिर करें। इस अभ्याससे यह मन कुछ दिनोंमें शान्त होगा। आपको बुड़ी जानकू आवेग और आत्मानुभव होने लगेगा।

पलङ्ग या चारापाईंपर छैट जाओ। तकिया हृदय दो। कपड़ोंको ढीला कर दो। शरीरको भी ढीला छोड़ दो।

प्राणको उल्टा खींचो, पेटमें ले जाओ, फिर छातीतक ले आओ, पिर पेटमें नाभितक मुमाओ। ऐसा करनेसे आपका नाभिसर्व प्रकाशित होगा। कुछ दिन इस प्रकार करके तब मनको इसीमें लगानेसे कहीं शान्ति मिलेगी।

यदि शक्तिशाली बनना चाहते हों तो किसी मैदानमें लड़े हो जाओ, शरीर ढीला छोड़ दो, हथोंको नीचे लटका दो, प्राणको आकाशमें फेंक दो। पिर प्राणको भीतर खींचते हुए मनसे यह काल्पनिक योग करो कि मैं अमुक शक्तिको खीनकर अपने अंदर ला रहा हूँ। कुछ दिन ऐसा अभ्यास करनेसे आपमें उस शक्तिका प्रवेश हो जायगा। इमरे महान् पूर्व पुरुष मन और प्राणकी इन शक्तियोंसे जो चाहते कर सकते थे। आप भी साधन सम्पन्न होंगे तो जो चाहेंगे कर सकेंगे।

पाँच शक्तियोंमेंसे मनःशक्ति और प्राणशक्तिका यहाँतक कुछ वर्णन किया गया। क्रियाशक्ति, भावनाशक्ति और बुद्धिशक्ति हेहीं दो शक्तियोंमें समा जाती हैं; इनका पृथक्-पृथक् वर्णन वहाँ नहीं किया गया। जो लोग इन दो शक्तियोंका शोधन कर लें उन्हें इनके अलौकिक गुणोंका आप ही अनुभव होगा।

मनुष्यमात्रके तीस धर्म

देवर्पिनारदजी कहते हैं—

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेश्वा शमो दमः। अहिंसा ग्रहणचर्यं च त्यागः स्वाध्याय व्यार्जवम् ॥
सन्तोषः समदृक्सेवा ग्राम्येहोपरमः शमैः। नृणां विपर्ययेष्वा मौनमात्मविमर्शनम् ॥
अज्ञाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः। तेष्वात्मदेवताभुद्दिः सुतरां नृषु पाण्डव ॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः। सेवेऽयावनतिर्दर्शयं सर्वमात्मसमर्पणम् ॥
नृणामर्यं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः। चिंशलृक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति ॥

(श्रीमद्भा० ७। ११। ८-१२)

हे युधिष्ठिर ! सब मनुष्योंके लिये यह तीस लक्षणयाला ब्रेष्ट धर्म कहा गया है। इससे सबोंत्मा भगवान् प्रसन्न होते हैं। वे तीस लक्षण ये हैं—सत्य, दया, तपस्या, शौच, तितिक्षा, आत्म-निरीक्षण, वाय्य इन्द्रियोंका संयम, आन्तर इन्द्रियोंका फलका अवलोकन, मौन, आत्मविचार, प्राणियोंको दयालीय अन्नदानादि, समस्त प्राणियोंमें विशेष करके मनुष्योंमें आत्मबुद्धि—इष्टदेव-बुद्धि, महात्माओंके आश्रयभूत भगवान्के गुणनाम आदिका श्रवण-कीर्तन, स्मरण, सेवा, यज्ञ, नमस्कार, दास्य, सर्व और आत्मनिवेदन।

प्रेमसिद्धा मीरा

एग धुँधरु बाँध मीरा नाची रे ।

मैं तो मेरे नारायनकी आपहि हो गइ दासी रे ।

लोग कहै मीरा भई बावरी न्यात कहै कुब्जासी रे ॥

विषका प्याला राणाजी भेज्या पीवन मीरा हाँसी रे ।

मीराके प्रभु गिरधर नागर सहज मिले अविनासी रे ॥



माई री ! मैं तो लियो गोबिंदो मोल ।

कोइ कहै छाने कोइ कहै छुपके लियो री बजंता ढोल ॥

कोइ कहै सुहँधो कोइ कहै सुहँधो लियो री तराजू तोल ।

कोइ कहै कालो कोइ कहै गोरो लियो री अमोलक मोल ॥

कोइ कहै धरमें कोइ कहै बनमें राधाके संग किलोल ।

मीराके प्रभु गिरधर नागर आवत प्रेमके मोल ॥

—मीराबाई



साधनके गमीर स्तर

(लेखक—श्रीमैदृष्टवाचा)

अधिकांश लोगोंके लिये आध्यात्मिक साधनाका स्वरूप अपने-अपने धर्मोद्धारा निर्दिष्ट किया-धार्मिक किया-कलापका बास्थ अनुष्ठान होता है। कलापकी भूमिका-प्रारम्भिक अवस्थाओंमें इस अनुष्ठानका से ऊपर उठकर भी एक महाय होता है, क्योंकि इससे साधनके गमीर स्तरोंमें प्रवेश आत्मशुद्धि और मनोनिग्रहण सहायता होती है; परन्तु अन्ततोगत्वा साधकको

बास्थ नियमोंके पालनकी अवस्थासे ऊपर उठकर आध्यात्मिक साधनाके गमीर स्तरोंमें प्रवेश करना पड़ता है। जब साधक इस भूमिकामें पहुँच जाता है, तब वर्धका बास्थस्प उसके लिये गौण हो जाता है और उसकी रुचि धर्मके उन मूल तत्त्वोंकी ओर हो जाती है, जो सभी चावे-चावे भजहवेंमें व्यक्त हुए हैं। सच्ची साधना उस जीवनको कहते हैं, जिसके मूलमें आध्यात्मिक बोध रहता है और यह बोध उसीको होता है, जिसकी रुचि वासावमें आध्यात्मिक तत्त्वोंकी ओर होती है।

साधनका अर्थ कठोर नियमोंका बन्धन नहीं समझना चाहिये। सबके जीवनमें अखण्ड और साधन-भेद

अटल एकरूपता हो नहीं सकती और न उसकी आवश्यकता ही है। आध्यात्मिक क्षेत्रमें साधन-भेदके लिये काफी अवकाश है। जो साधन किसी एक साधकके लिये उपयोगी होता है, वह अवश्य ही उसके संस्कारों और मनोवृत्तिकी अपेक्षा रक्खेगा और इस प्रकार, यथापि सबका आध्यात्मिक ध्येय एक ही होता है, उस विशिष्ट साधकका साधन विशेष प्रकारका हो सकता है। किन्तु ध्येय सबका एक होनेके कारण साधनगत भेद विशेष महस्त्वके नहीं होते और साधनके गमीर स्तरमेंके रहते हुए भी सभी साधकोंके लिये महत्वपूर्ण होते हैं।

आध्यात्मिक क्षेत्रकी साधना भौतिक क्षेत्रकी साधनासे अवश्य ही तत्त्वः भिन्न होगी, क्योंकि आध्यात्मिक क्षेत्रका ध्येय भौतिक क्षेत्रके ध्येयोंसे स्वस्पतः भिन्न होता है। भौतिक क्षेत्रका ध्येय एक ऐसा पदार्थ होता है, जिसका कालकी दृष्टिसे आदि और अन्त होता है और जो किसी अन्य वस्तुका कार्य

होता है; आध्यात्मिक क्षेत्रका ध्येय पूर्णता है, जो कालकी सीमासे अतीत है। अतः भौतिक क्षेत्रकी साधनाका लक्ष्य ऐसी वस्तुकी प्राप्ति होता है, जो अभी भविष्यके गर्भमें है; किन्तु आध्यात्मिक क्षेत्रकी साधनाका लक्ष्य उस वस्तुकी प्राप्ति होता है, जो सदा रही है, सदा रहेगी और इस समय भी है।

जीवनके आध्यात्मिक ध्येयको जीवनके भीतर ही ढूँढ़ना चाहिये, जीवनके बाहर नहीं; अतः आध्यात्मिक साधनके ध्येयका हीनी चाहिये कि वह हमारे जीवनको उस समान्य रूप।

जीवनके अधिकाधिक निकट ले जाय, जिसे हम आध्यात्मिक समझते हैं। आध्यात्मिक क्षेत्रकी साधनाका ध्येय किसी सीमित अभीष्टकी प्राप्ति नहीं होता, जो कुछ दिन रहकर फिर सदाके लिये मिट जाय—इस तरह मिट जाय कि जैसे वह कोई विलुप्त ही नगण्य वस्तु हो; उसका ध्येय होता है जीवनके स्वरूपका आमूल परिवर्णन, जिससे कि वह सदाके लिये चिरस्थायी वृत्तमानमें महान सत्यको अभिव्यक्त कर सके। साधना आध्यात्मिक दृष्टिसे तभी सफल होती है, जब वह साधकके जीवनको इश्वरीय उद्देश्यके अनुकूल बनानेमें समर्थ होती है, जो जीवमात्रको ब्रह्मभावकी आनन्दमय अनुभूति कराना है। साधनको इस स्तरके स्वरूपके सर्वांग अनुकूल बनाना पड़ेगा।

आध्यात्मिक क्षेत्रमें साधनाके प्रत्येक अङ्कका ध्येय जीवनके सभी स्तरोंमें दिव्यताजी प्राप्ति-साधन साध्यमें रूपी आध्यात्मिक लक्ष्यकी सिद्धि होना मिल जाता है।

चाहिये; अतः एक दृष्टिसे आध्यात्मिक साधनाके विभिन्न सर आध्यात्मिक पूर्णताकी स्थितिके निकट पहुँचनेकी ही भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ हैं। साधना उतने ही अंशमें पूर्ण होती है जितने अंशमें वह इस आध्यात्मिक आदर्शको व्यक्त करती है, अर्थात् जितने अंशमें वह पूर्ण जीवनके सदृश होती है। इस प्रकार साधन और साध्यमें जितना ही अधिक अन्तर होता है, साधन उतनी ही अपूर्ण होती है; और साधन और साध्यमें जितना कम अन्तर होता है, साधन उतनी

ही पूर्ण होती है। और जब साधना पूर्ण होती है; तब साधन पूर्ण आध्यात्मिक साधनमें जाकर मिल जाता है और इस प्रकार साधन और साधका भेद अखण्ड सत्ताकी अविकल पूर्णतामें लीन हो जाता है।

साधन और उसके द्वारा प्राप्त किये जानेवाले साधका जो यह सम्बन्ध है, वह भौतिक क्षेत्रमें साधनका अर्थ रहनेवाले साध्य और साधनके सम्बन्धसे है साधकी भिन्न ही प्रकारका है। भौतिक क्षेत्रका अग्रिक प्राप्ति। साध्य प्राप्ति जिस साधनके द्वारा उसकी प्राप्ति होती है, उसके न्यूनावृक्षरूपमें

सर्वथा बाहर रहता है; और साधन एवं उसके द्वारा प्राप्त होनेवाले साधके स्वरूपमें भी स्पष्ट भेद होता है। उदाहरणके लिये बैद्युक के शोषकों खींचना किसी मनुष्यकी मृत्युका साधन हो सकता है; परन्तु मनुष्यकी मृत्यु और घोड़ेके खींचनेकी क्रियामें स्वरूपतः महान् अन्तर है, दोनोंमें किसी प्रकारकी सजातीयता नहीं है। किन्तु आध्यात्मिक क्षेत्रमें साधन और उसके द्वारा प्राप्तिव्य साध्य एक दूसरेसे सर्वथा बाह्य नहीं हो सकते और उनमें कोई स्पष्ट स्वरूपगत भेद भी नहीं है। आध्यात्मिक क्षेत्रमें साधन और साधके खींचमें देखा अन्तर नहीं रखता जा सकता जो किसी प्रकार पट ही न सके; और इससे वह बात निष्पत्त होती है—जो देखनेमें असङ्गत-सी भावम् होती है—कि आध्यात्मिक क्षेत्रमें साधनका अर्थ ही साधकी अंशिक प्राप्ति होता है। इस प्रकार बहुतसे आध्यात्मिक साधनोंको वास्तवमें जो साध्य मानकर चलना पड़ता है, इसका कारण भी समझमें आ जाता है।

साधनके गमीर स्तरमें आध्यात्मिक साधनका अर्थ होता है—(१) ज्ञान-मार्ग, (२) कर्म-ज्ञान, कर्म और मार्ग और (३) भक्ति-मार्गका अनुसरण। भक्तिकी साधना। ज्ञानके साधनका स्वरूप होता है—(क) यथार्थ बोधसे उत्पन्न होनेवाले वैराग्यका अन्वास, (ख) ध्यानकी भिन्न-भिन्न प्रक्रियाएँ और (ग) विदेश और अन्तर्दृष्टिका निरन्तर उपयोग। आध्यात्मिक ज्ञानकी प्राप्ति अथवा अभियक्तिके इन त्रिविध प्रकारोंकी बुद्ध व्याख्या करनेकी आवश्यकता है।

जीव इस नामस्त्वात्मक जगत्के जालमें पँसकर इस बातको भूल गया है कि वह ईश्वरकी ही उत्ताका एक अंश है। यह भूल अथवा अशान ही जीवका बन्धन है और इस बन्धनसे मुक्ति प्राप्त करना ही आध्यात्मिक साधनका उद्देश्य होना चाहिये। अतः सांसारिक विषयोंके बाह्य त्यागकी बहुधा भोक्षके साधनोंमें गणना की जाती है; परन्तु यद्यपि इस प्रकारके बाह्य त्यागका भी एक अपना महत्व हो सकता है, वह सर्वथा आवश्यक नहीं है। आवश्यकता है सांसारिक विषयोंकी स्फूर्तिके भीती त्यागकी। और जब इस स्फूर्ताका त्याग हो जाता है, तब इस संसारके पदार्थोंका त्याग गौण ही जाता है; क्योंकि जीवात्माने इस नामस्त्वात्मक मिथ्या जगत्से भीती सम्बन्धका त्याग कर दिया है और मुक्तिकी अवस्थाके लिये तैयारी कर ली है। वैराग्य ज्ञानके साधनका एक महत्वपूर्ण अङ्ग है।

आध्यात्मिक ज्ञानको प्राप्त करनेका दूसरा साधन ध्यान ध्यान। है। ध्यानके सम्बन्धमें ऐसा नहीं मानना चाहिये कि वह पर्वत-कन्दराओंमें रहने-वाले मुनियोंके ही करनेकी कोई अनोखी क्रिया है। प्रत्येक मनुष्य अपनेको किसी-न-किसी वस्तुका ध्यान करते हुए पाता है। इस प्रकारके स्वाभाविक ध्यान और साधकके ध्यानमें अन्तर यही है कि साधकका ध्यान क्रमबद्ध और नियमितरूपसे होता है और वह ऐसी वस्तुओंका चिन्तन करता है, जो आध्यात्मिक दृष्टिसे महत्वपूर्ण होती हैं। साधनरूपमें क्रिया जानेवाला ध्यान साकार भी हो सकता है और निरकार भी।

साकार ध्यान वह होता है, जिसका सम्बन्ध किसी ऐसे व्यक्तिसे होता है, जो आध्यात्मिक दृष्टिसे पूर्ण हो। साकार ध्यानके लिये (साधककी रुचिके अनुसार) पूर्वके अवतारों-मेंसे अथवा वर्तमानके लिद्ध महापुरुषोंमेंसे किसीको चुना जा सकता है। इस प्रकारके साकार ध्यानका अभ्यास करनेसे साधकके अंदर उसके ध्येयके समस्त दैवी गुणों अथवा आध्यात्मिक ज्ञानका संकल्पण होने लगता है; और प्रेम तथा अत्मसमर्पणका भाव ध्यानके अन्तर्गत रहनेसे उससे

ध्येयकी कृपाका आकर्षण होता है और चरम सिद्धि उस कृपासे ही सम्भव होती है। इय प्रकार साकार-ध्यानकी साधनासे साधक अपने ध्येयके समान ही नहीं बन जाता यर उसके साथ तत्त्वतः एक हो जानेमें भी सहायता मिलती है।

निराकार-ध्यानका सम्बन्ध परमात्माके निराकार एवं अपरिच्छिश स्वरूपसे होता है। इससे साधक परमात्माके निराकार स्वरूपकी प्राप्तिके मार्गमें अग्रसर हो सकता है; परन्तु सामान्यतः साकार-ध्यानके अभ्यास और सदाचारमय जीवनके द्वारा जबतक साधक भलीभांति तैयार नहीं हो जाता, तबतक निराकार-ध्यान व्यर्थ ही होता है। अनन्त परमात्माकी चरम अनुभूतिमें न तो आकाररूप उपाधि रहती है और न सत्-असत्का भेद ही रहता है; इस अनुभूतिको प्राप्त करनेके लिये तो साकारसे निराकारमें और सत्-से परमात्मामें जाना पड़ता है, जो सत् और असत् दोनोंसे परे है। निराकार-ध्यानके द्वारा तत्त्वको प्राप्त करनेकी दूसरी शर्त यह है कि साधकको अपना निच्च विलक्षुल स्थिर कर लेना चाहिये। परन्तु यह तभी सम्भव होता है, जब चित्तके विभिन्न चंस्कार नष्ट हो जायें; और संस्कारोंका आत्मनितक विनाश ईश्वर अथवा महापुरुषकी कृपासे ही सम्भव होता है, निराकार-ध्यानके मार्गमें सिद्धि प्राप्त करनेके लिये भी ईश्वर अथवा महापुरुषकी कृपाके विना काम नहीं चलता।

जानका साधन तबतक अधूरा ही रहता है, जबतक साधक निरन्तर विवेकका अभ्यास नहीं दिवेक और अन्त- करता और अपनी उच्चतम अन्तर्दृष्टिका ईश्वरका साक्षात्कार दर्शन होता करता। ईश्वरका साक्षात्कार उक्त साधकको होता है, जो सत्य एवं नित्य वस्तुओंके सम्बन्धमें अपनी अन्तर्दृष्टि एवं विवेकसे काम लेता है।

प्रत्येक मनुष्यके अंदर अनन्त ज्ञानका भंडार छिपा रहता है, उसे प्रकट करनेकी आवश्यकता होती है। मनुष्यके अंदर जो कुछ भी योङ्का बहुत आत्मात्मिक ज्ञान होता है, उसे आचरणमें उतारना ही ज्ञानकी त्रुदिका उपाय है। ज्ञानी महापुरुषोंके द्वारा जो कुछ उपदेश मानव-ज्ञातिको समय-समयपर प्राप्त होते रहे हैं और साधकको जन्मसे ही जो विवेक-त्रुदि प्राप्त रहती है, उससे उसे इसके आगे उसे क्या करना है, इस विषयमें यथेष्ट प्रकाश मिलता है। जो कुछ ज्ञान उसे प्राप्त है, उसको अमलमें लाना ही कठिन है।

ज्ञानके साधनकी सफलताके लिये यह आवश्यक है कि वह कर्मका महत्त्व प्रत्येक अवस्थामें कर्म-सहजत हो। दैनिक कर्मका महत्त्व जीवन विवेकानुसारी होना चाहिये और उसमें ऊँची-ऊँची ऊँची अन्तर्दृष्टिकी प्रेरणा होनी चाहिये। विना किसी भय अथवा शङ्खाके हृदयकी सर्वोत्तम प्रेरणाओंके अनुसार आचरण करना ही कर्मयोग अथवा कर्ममार्गका स्वरूप है। साधनमें आचरणकी ही प्रधानता है, केवल विचारकी नहीं। सम्पूर्ण विचारकी अपेक्षा सम्पूर्ण आचरणका बहुत अधिक महत्त्व है। अवश्य ही जो आचरण सम्पूर्ण ज्ञानके ऊपर प्रतिष्ठित है, वह अधिक लाभदायक होगा; किन्तु आचरणकी दिशामें एक भी भल होनेसे उससे हमें महत्वपूर्ण शिक्षा मिल सकती है। जो विचार केवल विचारके लिये ही होता है अर्थात् जिसके अनुसार आचरण नहीं किया जाता, उससे कोई आत्मात्मिक लाभ नहीं होता-चाहे वह कितना ही निप्रान्त बर्यों न हो। इस प्रकार जो मनुष्य बहुत पढ़ा-लिखा तो नहीं है, किन्तु जो सबै मनसे भगवान्का नाम लेता है और अपने छोटे-से-छोटे कर्तव्यका पूरे मनसे पालन करता है, वह उस मनुष्यकी अपेक्षा भगवान्के अधिक समीप हो सकता है, जिसे दुनियाभरका दर्शनिक ज्ञान तो है, परन्तु जिसके विचारोंका उसके दैनिक जीवनपर कोई प्रभाव नहीं पहता।

साधनके क्षेत्रमें विचारकी अपेक्षा आचरणका कितना अधिक महत्त्व है—यह बात एक गदहेके एक गदहेका आख्यानसे, जो प्रसिद्ध है, स्पष्ट हो सकती दर्शात।

एक गदहेको जो बहुत देरसे चल रहा था, वही भूख लगी। थोड़ी देर बाद उसको थारकी दो देरियों दिखलायी दीं, एक तो रास्तेकी दाढ़ीनी और कुछ दूरपर थी और दूसरी मार्गीकी बाँझी और थी। गदहेने सोचा कि उन दोनों देरियोंमेंसे किसीके पास जानेका विवेक-इूर्वक निष्काय करनेके पूर्ण इस बातको निष्प्रितरूपसे जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि दोनों देरियोंमेंसे कौन-सी देरी सब जोरसे विचार करनेपर अधिक वरणीय ठहरती है। विना भलीभांति विचार किये और दूसरीकी अपेक्षा एकको पसंद करनेके लिये यथेष्ट कारण न होते हुए दोनोंमेंसे किसी एकको ज्ञान लेना उसके लिये विवेकपूर्ण कार्य न होकर केवल इच्छाप्रेरित होगा। इसलिये पहले उसने इस बातपर विचार किया कि जिस रस्तेपर वह चल रहा है, वहाँसे दोनों देरियोंकी दूरी

कितनी है। दुर्भाग्यवश बड़ी देरतक विचार करनेके बाद वह इस निश्चयपर पहुँचा कि दोनों ही देरियाँ मार्गसे समानन्तरपर हैं। अतः अब वह किसी दूसरे कारणको हँड़ने लगा, जिसके आधारपर उन देरियोंके तारतम्यका ठीक-ठीक निर्णय किया जा सके और इस विचारसे दोनों देरियोंमें कौन-सी बड़ी और कौन-सी छोटी है—इसपर विचार करने लगा। परन्तु इस बार भी वह विचारके द्वारा वह निर्णय नहीं कर सका; क्योंकि इस बार भी वह इसी निश्चयपर पहुँचा कि दोनों देरियाँ परिणाममें भी बराबर ही थीं, छोटी-बड़ी नहीं। तब उसने अपनी स्वभावोचित धीरता और अध्यवसायके साथ घासकी उत्तमता आदि अन्य बातोंपर विचार किया; परन्तु प्रारंभकी बात, सभी बातोंमें—जिनको लेकर वह विचार कर सकता था—उसे ऐसा मात्रम् हुआ कि दोनों देरियाँ समानरूपसे अभीष्ट हैं।

अन्तमें यह हुआ कि जब गढ़हेके ध्यानमें कोई ऐसी बात नहीं आयी कि जिसके आधारपर वह विचारपूर्वक कह सकता कि दोनों देरियोंमेंसे कौन-सी अधिक यथापीय है, वह उनमेंसे किसीके समीप नहीं गया किन्तु पहलेकी ही भौति क्षुधार्पीड़ित और थका-मौँदा सीधा चला गया; धातकी दो देरियाँ मिलनेपर भी वह उनसे कोई लाभ उठा नहीं सका। यदि वह विवेकपूर्वक विचारद्वारा ठीक-ठीक निर्णय करनेके आपद्धको छोड़कर दोनोंमेंसे किसी एक देरिके समीप चला गया दोतों तो सम्भव था वह ढेरी उतनी अच्छी न होती, जितनी दूसरी ढेरी रही होगी; परन्तु बुद्धि-द्वारा निर्णय करनेमें भूल रह जानेपर भी व्यावहारिक दृष्टिसे वह अनन्त गुना लाभमें रहता। आध्यात्मिक जीवनमें किसी मार्गपर चलना प्रारम्भ करनेके लिये वह आधश्यक नहीं है कि हमारे पास उस मार्गका पूरा मानचित्र हो, बल्कि मार्गका पूरा ज्ञान प्राप्त करनेका आग्रह होनेसे यात्रामें सहायता मिलनेकी अपेक्षा उल्टी रुकावट हो सकती है। आध्यात्मिक जीवनके गहरे इहस्य उन्हींके सामने प्रकट होते हैं, जो जोखिम उठाकर वीरतापूर्वक अपनेको परीक्षामें डालते हैं; जो आलसी मनुष्य एक एक कदम आगे बढ़नेके लिये हानि न होनेकी गरंटी चाहता है, उसके सामने वे इहस्य कभी प्रकट नहीं होते। जो मनुष्य समुद्रके किनारे खड़ा होकर उसके सामन्यमें विचार करता है, उसे केवल समुद्रके क़पड़ी भागका ही ज्ञान होगा; परन्तु जो समुद्रकी याह लेना

चाहता है, उसे समुद्रके जलमें गोता लगानेके लिये तैयार होना पड़ेगा।

कर्मयोगकी साधनामें सफल होनेके लिये इस बातकी आवश्यकता है कि कर्मका उद्गम ज्ञानसे निष्काम सेवा। होना चाहिये। ज्ञानपूर्वक कर्म बन्धन-कारक नहीं होता, क्योंकि वह अहङ्कार-मूलक न होकर अहङ्कारशून्य होता है। स्वार्थपरायणता अशानका ही स्वरूप है और अहङ्कारशून्यता तत्त्वज्ञानका प्रतिविम्ब है; हमें निःस्वार्थ सेवाका जीवन इसीलिये अङ्गीकार करना चाहिये कि उसके मूलमें ज्ञान रहता है, बायीं परिणामकी दृष्टिसे नहीं। परन्तु निष्काम कर्ममें विलक्षणता यह है कि उससे साधकको इतना अधिक लाभ होता है, जितना अशान-जनित स्वार्थपरायणतासे कभी प्राप्त हो ही नहीं सकता। स्वार्थपरायणताका परिणाम होता है सङ्कीर्ण जीवन, जिसका केन्द्र होता है सीमित एवं पृथक् व्यष्टिसत्त्वका मिद्या भाव; परन्तु निष्काम-कर्मसे भेद-भ्रमका नाश करनेमें सहायता मिलती है और हम अनन्त जीवनमें प्रवेश कर पाते हैं, जहो सर्वत्तमाभावकी अनुभूति होती है। मनुष्यके पास जो कुछ भी है, वह नष्ट हो सकता है और वह जिस वस्तुकी आकाङ्क्षा करता है, वह सम्भव है उसे कभी प्राप्त न हो; परन्तु जो कुछ वह परमात्माके अर्पण कर देता है, वह तो लौटकर उसीको मिल जाता है। कर्मयोगके साधनका यही स्वरूप है।

ज्ञान अथवा कर्मके साधनकी अपेक्षा भी भक्ति अथवा प्रेमका साधन और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है, महत्ति। क्योंकि वह प्रेमहीके लिये किया जाता है। वह स्वतः पूर्ण है और किसी दूसरे लक्षणकी अपेक्षा नहीं रखता। संसारमें बड़े-बड़े संत हो गये हैं, जिन्होंने किसी भी और वस्तुकी अपेक्षा न करके भगवत्येषमें ही सन्तोष माना था। वह प्रेम प्रेम ही नहीं है, जो किसी आशाएँ किया जाता है। भगवत्येषके अतिरेकमें प्रेमी विद्यतम भगवान्के साथ एक ही जाता है। प्रेमसे बढ़कर कोई साधन नहीं है, प्रेमसे ऊँचा कोई नियम नहीं है और प्रेमके परे कोई प्राप्ति वस्तु नहीं है; क्योंकि प्रेम भगवत्येषमें होनेपर अनन्त हो जाता है। भगवत्येष और भगवान् एक ही वस्तु हैं; और जिसमें भगवत्येषका उदय हो गया, उसे भगवान्की प्राप्ति हो जुकी।

प्रेमको साधन और साध्य दोनोंका ही अङ्ग माना जा सकता है; परन्तु प्रेमका भवत्व इतना साधनमें निःसाधन- अधिक स्पष्ट है कि वहुधा इसे किसी तरफ़ प्राप्ति । अन्य वस्तुको प्राप्तिका साधन माना

भूल समझा जाता है । प्रेमके मार्गमें भगवान्के साथ एकीभाव जितना सुगम और पूर्ण होता है, उतना किसी भी साधनमें नहीं होता । जहाँ प्रेम ही हमारा पथप्रदर्शक होता है, वहाँ सर्वकी ओर ले जानेवाला मार्ग सहज और आनन्दमय होता है । साधणतः साधनमें प्रयत्न रहता ही है, और कभी कभी तो धोर प्रयत्न करना पड़ता है— उदाहरणतः उस साधकको जो प्रलोभनोंके रहते कैरायके लिये चेष्टा करता है । परन्तु प्रेममें प्रयत्नका भाव नहीं रहता; क्योंकि प्रेम करना नहीं पड़ता, अपने-आप होता है । स्वाध्यात्मिकन ही सच्ची आध्यात्मिकताका स्वरूप है । जानकी सदसे ऊँची अवस्थाको, जिसमें चित्र सर्वथा तत्त्वाकार हो जाता है, सहजावस्था कहते हैं—जिसमें स्वरूप-ज्ञान अवाधित रहता है । आध्यात्मिक साधनमें एक विलक्षण बात यह है कि साधकका सारा प्रयत्न निःसाधनताकी अवस्थाको प्राप्त करनेके लिये होता है ।

एक कल्पनी-मृगका बड़ा ही सुन्दर आख्यान है, जिसमें सब प्रकारकी आध्यात्मिक साधनाका कल्पनी-मृगका स्वरूप रखा हो जाता है । एक कल्पनी-मृग द्वारा एक बार उत्तराखण्डके पहाड़ोंमें विचर रहा था । सहस्र उसे कहींसे ऐसी मनो-मोहक गन्ध आती प्रतीत हुई, जिसका उसने जीवनमें कभी अनुभव नहीं किया था । उस गन्धसे वह इतना मुग्ध हो गया कि वह उसके उदागम-स्थानका पता लगानेके लिये चल पड़ा । जहाँसे वह गन्ध आ रही थी, उस वस्तुको प्राप्त करनेके

लिये उसके मनमें इतनी तीव्र उत्कण्ठा थी कि वह हिम-प्रदेशकी कठोर सर्दीकी तनिक भी परवा न कर इधर-से-उधर दौड़ने लगा । कहाँकी सर्दीमें और जेठकी दुपहरियाँके प्रचण्ड घासमें, वर्षा, आँधा, चिजली अथवा बज्राधातनी परवा न करके रात-दिन उस सुगन्धित द्रव्यकी खोजमें जी तोड़कर भागता रहा । उसके मनमें न भय था न शङ्खा थी; किन्तु उस सुगन्धकी टोहमें एक चट्टानमें दूसरे चट्टानोंवाला वह भागता रहा । भागते-भागते एक जाह उसका पैर इस तरहये किस्ति कि वह एक सीधी चट्टानसे नीचे गिरा जिससे कि उसके प्राणोपर बन आयी । मरते-मरते उस मृगको वह पता लगा कि जिस सुगन्धसे वह इतना मुग्ध हो रहा था और जिसे पानेके लिये उसने इतना धोर परिश्रम किया, वह उसीकी नापिसे आ रही है । किन्तु मृगके जीवनका यह अनित्म क्षण सदसे अधिक सुखदायक था, और उसके चौहरेपर एक अनिर्वचनीय शान्ति थी ।

साधककी आध्यात्मिक साधना उस कल्पनी-मृगकी दौड़-धूपके समान है । साधनकी चरम सिद्धिमें स्वरूपज्ञान है । साधकके व्यष्टि-जीवनका अन्त हो जाता है; साधनका तत्त्व है । परन्तु उस क्षणमें उसे यह अनुभूति होती है कि एक प्रकारसे आगी सारी खोज और प्रयत्नका विषय वह स्वर्वर रहा है और जो कुछ भी सुख-दुःखका अनुभव उसने किया, जो कुछ भी जोखिम उटायी और जो कुछ भी त्याग और जीतोड़ परिश्रम किया, उस सदका एकमात्र लक्ष्य अपने स्वरूपका ज्ञान ही था—जिस स्वरूप-ज्ञानमें वह अपने सीमित व्यष्टिभावको त्यागकर यह अनुभव करता है कि वह वास्तवमें परमात्मासे अभिन्न है और परमात्मा सभी पदार्थोंमें विद्यमान है ।

कौन हिन्द्रिय किस काममें लगे ?

कुबेरपुत्र भगवान् रुपे कहते हैं—

बाणी गुणानुकृतयन् श्रवणौ कथायां दृष्टौ च कर्मसु भनस्तव पाश्योर्नः ।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे इष्टः सतां दर्शनेऽस्तु भवस्तनूनाम् ॥

हे प्रभो ! बाणी आपके गुणोंके गायनमें, कान आपकी कथाके श्रवणमें, हाथ आपके कर्ममें, मन आपके चरण-कमलोंकी स्मृतिमें, सिर आपके निवासस्थान जगत्के प्रणाममें और आँखें आपके शरीरभूत संर्तोंके दर्शनमें लगी रहे ।

साधन और उसकी प्रणाली

(क्षेत्रक—महामहोपाध्याय खं० श्रीसीतारामजी शासी)

प्रत्येक भाषा में कुछ शब्द ऐसे होते हैं, जिन्हें यदि अकेले प्रयोग किया जाय तो उनका पूरा अर्थ अभिव्यक्त नहीं होता। इसलिये उनके साथ कुछ अन्य शब्द जोड़नेकी आवश्यकता होती है। जैसे कोई को कि ‘पिताको लाओ’ तो इस वाक्यमें केवल ‘पिता’ शब्द होनेसे अभीष्ट व्यक्तिका बोध नहीं होता। इसलिये उसके पूर्व ‘येरे’, ‘अपने’ अथवा ‘रामके’—ऐसे किसी सम्बन्धनोबंध शब्दके प्रयोगकी आवश्यकता होती है; तभी पितृपदवाच्य व्यक्तिका बोध हो सकता है। ‘साधन’ शब्द भी इसी प्रकारका है। यह ‘साध’ घातुसे सिद्ध होता है। इसका अर्थ है ‘उपाय या युक्ति करना’। अतः जगतक यह निश्चय न हो कि किसका उपाय या युक्ति, तबतक इसका पूरा अर्थ समझमें नहीं आ सकता। इसलिये इसके पहले ‘मुक्तिका’, ‘ब्रह्मप्राप्तिका’ या ‘ईश्वरप्राप्तिका’—ऐसा कोई पद और जोड़नेकी आवश्यकता होती है। तभी इसका पूरा स्वारस्य अभिव्यक्त होगा। परन्तु लोकमें यह शब्द इतना परिचित हो गया है कि अकेले प्रयोग करनेसे भी इसका पूरा भाव दृढ़प्रभाव हो जाता है।

अतः इसका अर्थ ‘ईश्वरप्राप्तिका उपाय’ ऐसा मानकर यहाँ कुछ विचार किया जाता है। आरम्भमें ही ये प्रश्न होते हैं कि ईश्वरप्राप्तिका साधन एक है या अनेक, और वे कौन-से हैं तथा कितने हैं। इन प्रश्नोंका निर्णय करनेके लिये यह भी विचार करना आवश्यक होगा कि ईश्वरप्राप्ति कहते किसे हैं और वह होती भी है या नहीं, तथा ईश्वर किसको कहते हैं और वह है या नहीं। इसी प्रकार यह विचारधारा और भी कई दिशाओंमें चल सकती है। अतः इस प्रभाप्रस्परणके विशेष सम्बोधनमें न पड़कर हम यह मानकर ही चलेंगे कि ईश्वर है और वह इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके उत्पादन, पोषण, नियन्त्रण, निग्रह, अनुग्रह और विनाश करनेमें समर्थ एक शक्ति अथवा शक्तिशाली तत्त्वविद्या है। उसका आर्थधर्म तथा अन्यान्य धर्मोमें अनेकों नामसे बोधन होता है। वस्तु एक होनेपर भी भावना-मेदके कारण उसके अनेकों नाम और स्वप्न हैं। सर्वसाधारणमें उसकी सत्ता अनुमान और शास्त्रप्रमाणके आधारपर ही सिद्ध होती है, वर्तोंकि उसे प्रत्यक्ष देखनेकी शक्ति हर किसीमें नहीं है। अनुमानके लिये विशिष्ट हेतुकी आवश्यकता होती है। यहाँ ईश्वरको स्वीकार

किये बिना विश्वके उत्पादनादिकी कोई ठीक व्यवस्था नहीं हो सकती। इसलिये जगत्के जन्मादि ही उसकी सत्ताके अनुमापक लिङ्ग हैं।

कुछ लोग डार्शिनके सिद्धान्तानुसार क्रमिक विकासको ही जगत्की सब प्रकारकी व्यवस्थामें हेतु मानकर ईश्वर या धर्मदिकी कोई आवश्यकता नहीं समझते। किन्तु इस प्रकार तो धर्मकर्म कृत जानेके कारण संसारमें किसी भी प्रकार शान्ति नहीं रहेगी और न शांखोंका ही प्रामाण्य रहेगा। जड वस्तुओंका क्रियिक विकास भी किसी चेतनकी प्रेरणाके बिना नहीं हो सकता। अतः इस सिद्धान्तमें कोई सार नहीं है और इसे शांखोंमें अद्वा रस्कर शांखोंक प्रणालीसे ही ईश्वरकी प्राप्तिका प्रयत्न करना चाहिये।

शांखोंमें ईश्वरसाक्षात्कारके दो स्वरूप बताये हैं—(१) ईश्वरको अनुग्राहकरूपसे अनुभव करना तथा (२) ईश्वरकी सत्तामें अपनेको लीन कर देना। इनमें प्रथम पक्षको ‘ईश्वरकी किंदि’ कहते हैं और द्वितीय पक्षको ‘मुक्ति’। ईश्वरसाक्षात्कार इन स्थूल इन्द्रियोंसे नहीं होता। उनमें विद्येष समर्थ आ जानेपर ही उसकी अनुभूति होती है। जिस उपायसे वह विद्येष सामर्थ्य प्राप्त किया जाता है, उसीका नाम ‘साधन’ है। उस सामर्थ्यकी प्राप्तिके लिये सबसे पहले मनपर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। मनका विजय एक-एकी होना बहुत कठिन है। उसके लिये बड़ी एकाग्रताकी आवश्यकता है और यह एकाग्रता सबै वैराग्य और दीर्घिकाल-तक तत्परतापूर्वक निरन्तर अभ्यास करनेसे ही प्राप्त हो सकती है। सब्द वैराग्य इसे कहते हैं कि तरह-तरहके भोग विषय सामने हों और उन्हें भोगनेके लिये किसी प्रकारका प्रतिवन्धक भी न हो, तो भी उन्हें सेवन करनेके लिये मनकी तनिक भी प्रश्वृति न हो। यह बड़े-बड़े तपस्यियोंके लिये भी दुर्लभ है। ऐसी रियतिक पहुँचनेके लिये विषयोंमें दोषहट्टि करना ही उपाय बताया गया है। अभ्यासका अर्थ है चित्तको बार-बार किसी एक ही लक्ष्यमें लगाना। इसके लिये साकार और निराकार दोनों प्रकारके आलम्बन हो सकते हैं। किन्तु आरम्भमें निराकारमें चित्तको रियर करना प्राप्त सम्भव नहीं है। इसलिये विष्णु, शिव, इन्द्र, चन्द्र, सूर्य और दुर्गा आदि राकारस्वरपूर्णका ही पहले चिन्तन करना चाहिये। मनकी

चक्रलताके कारण इनका चिन्तन भी आसान नहीं है। इसीसे पहले घोड़योपचारसे नित्य-प्रति पूजन करनेकी आवश्यकता होती है। पूजनके समय भी मन इधर-उधर जा सकता है, इसलिये उपचार-समर्पणके समय भन्नपाठकी विधि है। भन्नपाठ केवल पूजनके ही समय होता है, अतः अन्य समय चिन्तकी विधिस्थि दृष्टिको शान्त रखनेके लिये हर समय भगवद्गीतामध्येकी आवश्यकता यत्त्वी है। नाम-जपके समय भी मन इधर-उधर प्रत्यक्ष या परोक्ष विधियोंकी ओर चला जाता है, इसलिये उसे एक जगह फँसानेके लिये ज्ञान और शृदक्षिणीकी तालके साथ सुमधुर स्वरसे नामसङ्कीर्तन करना उपयोगी है। इस प्रकार नामसङ्कीर्तनसे लेकर निराकार-ध्यान-पर्यन्त सब प्रकारके साधन चिन्तन या अभ्यासकी पुष्टिके लिये ही हैं। इनकी सहायतासे सब औरसे हार्यूर्धक हटाया हुआ मन असहाय और निर्विष्णु होकर किसी एक ही आलम्बनमें लग सकता है और जब उसे उसके चिन्तनका अभ्यास हो जाता है तो उसकी ओर उसका आकर्षण बढ़ जाता है। इस प्रकार इष्टके प्रति अनुरागकी बृद्धि हो जानेपर फिर उसे सबे लौकिक और अलौकिक विषय तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं। फिर किसी प्रकार उसकी उनके प्रति प्रश्नित नहीं होती और वह निरन्तर भगवत्-ध्यानमें मम रहता है।

जब साधको इस प्रकार निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन रहने लगता है तो उसे जहाँ-तहाँ अपने प्रियतमकी मधुर शूर्पिकी की हाँकी होने लगती है। फिर धीरे-धीरे प्रभुका अनुग्रह होने लगता है और वे अपने भक्तकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये प्रत्यक्षरूपसे उसके सामने प्रकट हो जाते हैं। यही साकार भगवान्‌की प्राप्ति है। यहाँतक पंहुँ-चेनेके लिये भक्तको उपर्युक्त समस्त साधन-सोपानोंको पार करना होता है। साकार-चिन्तनमें विशेष प्रगाढ़ता होनेसे फिर आकार स्वयं ही लीन होने लगता है। अतः साकार चिन्तकके लिये फिर निराकार-ध्यान भी अनावास रिद्ध हो जाता है। इसके पश्चात् निराकार-चिन्तनकी भी अधिक गाढ़ता होनेपर भगवान्‌के उप स्वरूप-का अनुभव होता है, जिसे उपनिषदोंमें 'विद्या' कहा है। इस समय ध्याता-ध्यान-ध्येयरूप त्रिपुरीका भी भान नहीं होता, चिन्त केवल चिन्मात्र सत्तामें लीन हो जाता है। उपनिषदोंमें उद्दीयविद्या, मधुविद्या, दहरविद्या, शारिण्डल्यविद्या, उपकोसलविद्या, भूमिविद्या आदि कई विद्याओंके नाम आये हैं। इनमें कुछ नाम तो आरम्भिक आलम्बनकी हाइसे हैं और कोई उसके प्रवर्तक शृष्टिकी हाइसे। इन विद्याओंमें यथापि कोई

बाय आलम्बन नहीं रहता, तो भी इनका आरम्भ किसी काल्पनिक आलम्बनको लेकर तो होता ही है। कालान्तरमें अभ्यासकी हठता होनेपर वह काल्पनिक आलम्बन छूट जाता है और साधक भगवान्‌के शुद्ध स्वरूपका साक्षात्कार कर लेता है। इस स्थितिको प्राप्त करनेपर वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका अत्यन्ताभाव देखता है और अपनी पृथक् सत्ताको खोकर भगवद्गीत में ही मिल जाता है। इसीका नाम मुक्ति है।

किन्तु इस स्थितिके पहुँचनेके लिये चिन्तशुद्धिकी बही आवश्यकता है। चिन्त शुद्ध हुए विना उक्त जप-ध्यानादि साधनोंमें मनुष्यकी रुचि ही नहीं हो सकती। अतः आरम्भमें इन्हि न होनेपर भी अपना कर्तव्य समझकर चिन्तको हठपूर्वक इनमें जोड़ना चाहिये। पीछे स्वयं ही इनमें शून्य-शून्यैः रस आने लगेगा। चिन्तकी साधनमें अनायास प्रवृत्ति होनेके उद्देश्यसे ही हमारे शृष्टि-मुनियोंने यह दान, तप आदि वर्णाभ्रम-धर्मोंकी व्यवस्था की थी। अतः जो जिस धर्म और जिस आश्रयमें स्थित है, उसे इच्छा न होनेपर भी अपने धर्मोंका पालन करना ही चाहिये। इससे लौकिक सदाचारकी सुव्यवस्था रहनेके साथ-साथ चिन्तमें भगवद्गीत-की योग्यता भी बढ़ती है। जो मनुष्य जिस वर्गमें उत्तम हुआ है, उसमें पितृपूर्प्तरासे उसके अनुकूल संस्कार रहते हैं। उन्हें जबरदस्ती हटानेकी चेष्टा करना दुःखहस्तमात्र ही है। ऐसा करनेसे व्यवहारमें विश्वलता तो आती ही है, भगवत्प्राप्ति या मुक्तिके मार्गमें भी रोड़े खड़े हो जाते हैं। बस्तुतः वर्णाभ्रमोचित कर्म तो भगवत्प्राप्तिके साधन ही हैं। उनके द्वारा तो भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त करके साधक वही मुगमतासे सिद्ध लाभ कर सकता है। गीतामें श्रीभगवान्‌ने भी यही बात कही है—

स्वकर्मणा तमभ्यर्थ्यं सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

(१८ । ४६)

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धं समर्ते नरः ।

(१८ । ४७)

स्वधमें निध॑ श्रेयः परधर्मो भयवहः ॥

(३ । ३५)

इसके सिवा हमारे शास्त्रोंमें एक स्वतन्त्र साधनपद्धति भी है, जिसे योग कहते हैं। इसके द्वारा भी चिन्तकी शुद्धि होकर चरम लक्ष्यकी प्राप्ति हो जाती है। इसके कई अज्ञ हैं, उनका क्रमशः अनुष्ठान करनेसे अन्तःकरणके मलका नाश होकर मोक्षपद प्राप्त हो जाता है। योगके कई भेद हैं; उनमें राज-

योग या अष्टाङ्गयोग प्रधान है। इस अष्टाङ्गयोगके महर्षि पतंजलिने आठ अङ्ग बताये हैं; यथा—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इनमें से प्रत्येक अङ्गका अन्यास करते हुए अन्तमें निर्वौज समाधिये स्थिति होती है। यही मुक्तिपदका अनिम सोपान है। किन्तु योगमें प्रगति होना कोई साधारण बात नहीं है। जिनकी देह और अन्तःकरण शुद्ध नहीं हैं, उनका इसके राज्यमें कदापि प्रवेश नहीं हो सकता। इतीलिये पहले यम-नियमादिके विधिवत् पालनकी आवश्यकता होती है, उसके पश्चात् ही धारणादि मनोज्ञकी भूमिकाओंपर अधिकार होना सम्भव है। इसीसे योगदर्शनमें पहले पाँच अङ्गोंको बहिरङ्ग और अन्तिम तीन अङ्गोंको अन्तरङ्ग साधन माना है, तथा निर्वौज समाधिकी अपेक्षा इन तीनको भी बहिरङ्ग बताया है। यथा—

‘प्रथमन्तरङ्ग पूर्वेभ्यः’ (पा० सू० ३।७)
‘तदपि बाहिरङ्ग निर्वौजस्त्’ (पा० सू० ३।८)

भगवान् शङ्खराचार्यने ‘साधनपञ्चक’ नामका एक पाँच श्लोकोंका ग्रन्थ रखा है। उसमें सब प्रकारके साधनोंका वही कुशलतासे वर्णन किया गया है। वे कहते हैं—

देवो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्म स्वनुष्ठीयतां
तेनेऽस्य विद्यीयतामप्यचितिः काम्ये मतिस्वयम्यताम्।
पापीवः परिपूर्यता भवतुले दोषोऽनुसन्धीयता-
मात्मेच्छा इयवसीयतां निर्जग्नात्मृत्युं विनिर्गम्यताम्॥ १ ॥

‘नित्य वेदात्यथन करो, सम्यक् प्रकारसे वेदोक्त कर्मोंका आचरण करो, उस कर्माचरणसे भगवान्की पूजा करो और काम्य कर्मोंकी बासना छोड़ दो। सब प्रकारके पापपुञ्जका नाश कर दो, सांकारिक सुखोंमें दोषदृष्टि करो, परमात्माकी इच्छाका अनुसरण करो और तुरंत ही अपने धरको छोड़ दो’॥ १ ॥

सः सर्वु विद्यीयतां भगवतो भक्तिरूपा धीयता-
शास्त्रादिः परिच्छीयतां दृढतरं कर्माशु सम्यग्यताम्।
सद्गिद्वानुपस्थ्यतां प्रतिदिनं तत्पादुका सेव्यता-
ब्रह्मैकलक्षरमर्थतां श्रुतिशिरोवान्यं समाकर्थ्यताम्॥ २ ॥

स्वपुरुषोंका सङ्ग करो, भगवान्में सुदृढ अनुराग सक्षमो, शम-दमादिका पूर्णतया पालन करो, काम्य कर्मोंको छोड़ दो तथा सबे संतोंके समीप जाकर प्रतिदिन उनके चरणोंकी

सेवा करो और उनसे एकांशर ब्रह्म प्रणवका अर्थ कराओ तथा वेदान्तवाक्योंका श्रवण करो’॥ २ ॥

वास्त्यर्थश्च विचार्यतां श्रुतिशिरपक्षः समाश्रीयतां
दुस्सर्कारसुविरच्यतां श्रुतिमतस्कर्मनव्यताम् ।
ब्रह्मस्मीति विभास्यतामहरहर्गर्वः परिव्यज्यतां
देहेऽभवितस्यता त्रुघजनेवोदृः परियन्तताम्॥ ३ ॥

(उन वेदान्तवाक्योंके अर्थका विचार करो, औपनिषद् विद्वान्तका आश्रय लो, कुलर्क्षे दूर रहो, श्रुतिसम्मत युक्तियोंका अनुसन्धान करो, ‘मैं ब्रह्म हूँ’ ऐसी भावना करो, नित्यप्रति अभिमानको छोड़ते जाओ, देहमें से अहंकृदि निकाल लो और बोधयानोंके साथ बाद-विवाद करना छोड़ दो’॥ ३ ॥

श्रुत्याधिश्च विकिस्ततां प्रतिदिनं भिक्षौषधं भुज्यतां
स्वादुर्धं न तु याद्यते विधिवशायासेन सन्तुष्यताम्।
श्रीतोऽविदि विवहातां न तु दृश्य वचनं समुच्चार्यता-
मौदासीन्यमनीप्यतां जनकृपानैष्वर्यमुख्यताम्॥ ४ ॥

‘भूतको व्याधि समझकर उसकी चिकित्सा करो, उसके लिये प्रतिदिन भिक्षारूप औषधका सेवन करो, स्वादिष्ट अन्न मत माँगो; दैवयोगसे जो मिल जाय, उसीसे सन्तुष्ट रहो; सर्दी, गर्मी आदि द्वन्द्वोंको सहन करो; दृश्य वचन मत बोलो, उदासीनताकी ही इच्छा करो तथा अन्य लोगोंके प्रति कृपा और कठोरता देनों ही छोड़ दो’॥ ४ ॥

एकान्ते सुखमाल्यतां परतरे चेतः समाधीयतां
पूर्णांस्मा सुसमीक्ष्यतां जगद्विंशतिं दद्यताम् ।
प्राकर्म प्रविलाप्यतां चित्तिवलाङ्गाप्युत्तैः स्तुत्यतां
प्राप्तवृंदिव्यं भुज्यतामथ परब्रह्मामना स्तीयताम्॥ ५ ॥

‘एकान्तमें शान्तिसे बैठो और परात्पर ब्रह्ममें चित्तको समाहित करो। सर्वत्र पूर्णव्रक्षका अनुभव करो और इस जगत्को उसके द्वारा बाधित देखो। पूर्व-सद्वित कर्मोंका चिदात्मा के आश्रयसे बाध कर दो, भावी कर्मोंसे असङ्ग रहो तथा प्रारब्धका इसी जन्ममें भोग कर लो। [इस प्रकार कर्म-वन्धनसे छूटकर] फिर परब्रह्मसे स्थित हो जाओ’॥ ५ ॥

उपर्युक्त पाँच श्लोकोंमें आचार्यपादने जिस साधनपद्धति-का वर्णन किया है, वह प्रधानतया विरक्ताश्रमियोंके लिये है; तथापि उसमें जिन शम, दम, तितिक्षा, समाधान एवं द्वैराग्यादिके अभ्यासपर जोर दिया गया है वे तो सभी

कल्याण कामियोंके लिये परम अवश्यक हैं। इसलिये आचार्य-के इन उपदेशाकारोंसे सभी श्रेणी और सभी आश्रयोंके साधक लाभ उठा सकते हैं।

इस प्रकार साधारणतया सर्वसाधारणके लिये जिन साधनोंकी ओपेका है, उनका संक्षेपमें दिग्दर्शन कराया गया। साधक अपनी-अपनी स्थिति और प्रवृत्तिके अनुसार इनमेंसे किसी भी प्रणालीका अनुसरण कर सकते हैं। परन्तु एक बात अवश्य ध्यानमें रखनी चाहिये कि हम एक बार जिस मार्गको अपने लिये चुन लें, उसपर ही दृढ़तापूर्वक बढ़ते

चले जायें। यह नहीं कि आज कुछ किया और कल कुछ और करने लगे। जो बार-बार अपने मार्गोंको बदलते रहते हैं, वे मार्गोंमें ही झटकते रहते हैं, लक्ष्यतक कभी नहीं पहुँच पाते। इसलिये अच्छी तरह ध्यान रखना चाहिये कि सारे मार्ग उस एक ही लक्ष्यतक पहुँचनेके लिये हैं; यदि आप दूसरी ओर न देखकर एक ही मार्गपर बढ़ते चले जायेंगे तो एक दिन अवश्य अपने ध्येयको पा लेंगे। भगवान् अपनी प्राप्तिके साधनोंमें मनुष्यमात्रकी प्रवृत्ति करें और वे उनके आश्रयसे उत्तरोत्तर प्रभुकी ओर अग्रसर हों—यही अन्तमें हमारी प्रार्थना है।

कल्याणका साधन-सर्वस्त्र

(लेखक—ज्ञानतपन्नी श्रीधीतानन्दजी शर्मा)

गीताकारके मतमें—

ज्ञानं शैयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तृति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥
(१११८)

अथात् कोई कर्म हो—यहाँतक कि ज्ञान, विश्वान, आस्तिक्य (तत्-त्वम्-असि) आदि ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म ही क्यों न हो—उसकी प्रेरणा एवं संग्रह अवश्य रहते हैं।

साधन भी एक कर्म है। इस दृष्टिसे उक्त त्रिपुटी-नियम उसमें भी लागू होता है।

इसलिये साध्य क्या है, साधक कौन है और साधन कैसा है—इनका विचार पहले किया जाता है।

नास्ति त्रुदिरसुकृत्य न चायुक्त्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरक्षान्तस्य कुतः सुखम् ॥
(२।६६)

सुखतक आकर प्रश्न-प्रस्परा शेष हो जाती है। अतएव मनुष्यका किं यहुना, प्राणिमात्रका-चरम साध्य सुख है, यह सिद्धान्त हुआ।

इस सुखके स्वरूपका किञ्चित् परिचय गीतामें यों दिया है—

यथा दीरो निवातस्यो नेहते सोपमा स्फृता ।
योगिनो यत्प्रित्यस्य युजतो योगमात्मनः ॥

यशोपरमते चित्तं निश्चर्यं योगसेवया ।
यश चैवात्मनात्मानं पश्यत्तामन्ति तु प्रथति ॥
सुखमात्मनितकं यन्द त्रुदिग्राण्यमतीनिवृत्यम् ।
वैति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्कर्तः ॥
यं लक्ष्यत्वा चापरं लाभं सन्ध्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुहणापि विचाल्यते ॥
तं विद्याद् दुःखसंयोगविद्योगं योगवल्जितम् ।
(६। १९-२३)

योगवर्णनके प्रसङ्गमें यह कहा जानेपर भी इसमें सुखका स्वरूप यथार्थमात्र से चिह्नित किया गया है।

सांसारिक सुख अनात्मपदार्थके योगसे उत्पन्न होता है; इस कारणसे वह प्रायभाव, प्रवृत्तसामाव, अन्योन्यामाव एवं अत्यन्तामावसे भी भ्रस्त हो जाता है। ११ वें श्लोकमें उपमाद्वारा कहा गया है कि यह सुख अवश्य है, न्यूनापिकता-से रहित है। उपमा एकदेवीय होती है। यहाँ केवल अचलतामें तात्पर्य है। अन्यथा बायुरहितता समान रहनेपर भी तेल, बत्ती आदिकी विषमतासे दीपशिलाका छोटा-बड़ापन अनिवार्य है। अस्तु,

‘तस्य प्रशंसन्तवाहिता संस्कारात् ।’

(यो० द० विभूति० १०)

—यह सूत्र यहाँ अनुसन्धेय है। २०वें श्लोकसे स्पष्ट है कि इसके आत्मजन्य होनेके कारण ही यह अविकारी है। आत्मा ब्रह्मस्वरूप है और—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहमस्तुतस्यावयवस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥
(गीता १४।२७)

[अव्यभिचारी भक्तियोगके गुणालीत एवं ब्रह्मभावमें हेतु होनेका समर्थन करते हैं] क्योंकि मैं (ब्रह्म, परमात्मा) ब्रह्मकी (अर्थात् त्रिगुणमय महाद्वारका—१४।३,४) प्रतिष्ठा हूँ; तथा अविनाशी अमृत (सत्) सनातन धर्म (चित्) एवं अद्वण्ड एकरस सुख (आनन्द) की भी प्रतिष्ठा (आधार) हूँ ।

अतः आत्मयोगजन्म सुख भी अविनाशी एवं अद्वण्ड, एकरस है । एक प्रसङ्गप्राप्त शङ्खाका निराकरण किया जाता है ।

मैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
(गीता १५।७)

उपर्युक्त श्लोकमें भगवान् तो जीवात्माको अपना अंश चताते हैं । इसलिये आत्मयोगजन्मित सुखमें ब्रह्मानन्दकी ममूर्ण अंशमें समानता कैसे होगी ।

जीव-ब्रह्मको एकताकी मीमांसा वेदान्तसूत्रमें की गयी है—

‘अंशो नाना व्यष्टिदेशात् ।’

जीवको नाना बङ्गों कहा ? ‘व्यहु स्याम्’ ऐसा श्रुतिवचन है ।

समाप्तान यह है कि नानात्वका हेतु व्यपदेश (संज्ञा या प्रसिद्धि) है ।

‘एकं सद् विप्रा वहुधा वदन्ति ।’ अर्थात् नाम-रूपमें नानात्व, यहुत्व है; वस्तु एक ही है ।

ऊपर ६।२३में सुखका एक बहुत ही सरागमं विद्वेषण दिया गया है । वह है ‘दुःखसंयोगविद्योगम् ।’

इस लोकको भगवान् अमृत और दुःखालय कहते हैं (८।१५।९।३३) । ‘असुख’के अन्तर्वर्ती नज् (अ) को पर्युदास (सुखभिन्न=दुःख) तथा प्रसज्यप्रतिषेध (सुखाभाव) देनी ही अच्छीं लिया गया है । अर्थात् ‘दुःखसंयोगविद्योगम्’ पदमें दुःखका अर्थ हुआ—यह देह । इसमें चार प्रकारका दुःख है—

जन्ममृत्युजरा स्माधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥

(गीता १३।८)

इस लोकाद्वारमें बौद्धदर्शनका मानो सार-तत्त्व आ गया है । अस्तु,

इह संसारमें आदिसे अनन्तक इतना दुःख ओतप्रोत-भावसे रहनेपर भी—

सद्धर्मं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेज्ञानवानपि ।
(गीता ३।३३)

शारीर मनुष्यका भी उसके साथ अभिनिवेश नहीं छूटता । स्वरसाधारी विद्युयोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ।
(गीता ३० सा० ५)

कर्मणिद्विके जो पाँच हेतु कहे गये हैं (१८।१४), उनमें चेष्टा भी एक है । चेष्टा सुखका नाम है । शारीर कर्म भी मनुष्य गुणालीत नहीं हो जाता । क्योंकि शारीर कर्म करते हैं । अतः शारीरको भी किसी-न-किसी सुखकी अपेक्षा रहता ही है । वयस्पि योगभाष्यकार कहते हैं कि ‘सर्वस्य ग्राणिन इयमात्माशीर्णित्या भवति—मा न भूमय, भूयासमितिः’ (सभी ग्राणियोंको यह इच्छा नित्य ही वनी रहती है कि मेरा नाश न हो, मैं बना ही रहूँ), तथापि सृत्युका भय केवल प्रधान अभिनिवेशरूप क्लेश है । उसी तरहसे अन्यान्य प्रकारका भी अभिनिवेश होता है । जैसे राग सुखानुशाश्री (सुखका स्मरण दिलानेवाला) और द्वेष दुःखानुशाश्री (दुःखका स्मरण दिलानेवाला) क्लेश है, वैसे ही सुख-दुःख-विवेकज्ञानसूत्रमें होशरूप क्लेशका नाम अभिनिवेश है ।

फलतः यह बात आपी कि संसारमें दुःखयोग होनेपर भी उसका न लापकर यदि उसका दुःखांश मात्र निवृत्त किया जा सके और उसका सुखांश बना रहे तो मूढवत् विद्वान्मुक्तो भी अपीत ही होगा । परन्तु दन्दका रहना अनिवार्य होनेसे दुःखका संयोग भी रहे, वियोग भी रहे; तो भी दुःखाभाव सिद्ध होनेसे मनुष्यको वह इष्ट है । उसका आत्मानन्द तो नष्ट हो ही नहीं सकता ।

आत्मानं चेद् विजानीयाद्यमस्सोति पूरुषः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनु संज्ञरेत् ॥
(श्रुतिः)

आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ।
(श्रुतिः)

इस प्रकार साधका निश्चय हुआ । अविनाशी सुख ही

सबका ध्येय है। अब इसका साधन क्या है, यह देखना चाहिये। साध्यके विचारमें ही एक प्रकारते यह प्रश्न आ जाता है; क्योंकि यह सुख ध्येय-जन्म है, ऐसा कहा गया है। तथापि यह बात सामान्यरूपसे ही कही गयी है। अब इस विषयमें कुछ विशेष कथन किया जाता है।

जिसको प्रश्नानन्दी कहते हैं, वह परमपुरुषार्थी की सीढ़ी है। उतका उत्तरेख शीताके पुणिकाकल्प वाक्यमें यो पाया जाता है—‘उपनिषद्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे।’

इन तीनों सीढियोंपर चढ़ना आवश्यक है, तथापि इन तीनोंका परस्पर अविद्येय सम्बन्ध होनेसे सबका एक साथ अनुशान होता है। यहाँ अवतारके विषयमें कुछ बातें अवश्यकातव्य हैं। इनका प्रस्तुत विषयसे सम्बन्ध सुस्पष्ट है।

शीताके अनुसार अवतार चार प्रकारके होते हैं। यथा—
(१) ‘स्वयं भगवान्’

(१८। ७५)

अनोद्धिपि सच्चाय्याया भूतानामीक्षरोऽपि सन् ।

प्रकृतिं स्वामिष्ठाय सम्भवाम्यात्मायाः ॥

(४। ६)

(२) ‘साक्षाद् भगवान्’

(१८। ७६)

यदा यदा हि धर्मस्य स्वानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सूजाम्यहम् ॥

(४। ७)

(३) ‘योगेश्वर भगवान्’

(१८। ७५)

परिग्राणा य साधूनां विनाशाय च दुर्घटाम् ।

धर्मसंस्थापनार्थोय संभवामि युगे युगे ॥

(४। ८)

(४) ‘कृष्ण भगवान्’

(१८। ७१)

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेति तत्पतः ।

श्वस्त्रा देहं पुनर्जन्म नैति सामेति सोऽर्जुनः ॥

(४। ९)

इस प्रकार भगवानने ‘स्वयं’ की हैसियतसे उपनिषद् ही, साक्षात्की हैसियतसे ब्रह्मविद्या, योगेश्वरकी हैसियतसे योगशास्त्र कहा और श्रीकृष्णकी हैसियतसे अर्थात् ‘कृष्णीनां चामुदेशोऽस्मि’ एवं मानुषीं तनुमात्रितम् के अनुसार श्रीकृष्ण-

रूप अर्जुनके सवाकी हैसियतसे श्रीकृष्णार्जुनसंवाद किया।

इस स्थलपर भगवानके कहे हुए योगशास्त्रमें ही मेरा प्रयोगन है। यह अर्जुनके २ । ८ श्लोकमें पूछे हुए प्रश्नके उत्तरमें कहा गया है—योगशित्तत्त्वतिनिरोधः ।—

इसके अष्टाङ्ग छठे अध्यायमें वर्णन किये गये हैं।

१—२४ श्लोकोंमें यम, नियम, आसन, प्रणायाम, प्रत्याहार—

इन पाँच बहिरङ्ग साधनोंका वर्णन करके, २५ वें श्लोकमें धारणा (‘देशबन्धश्चित्तस्य धारणा’)—

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिद्दपि चिन्तयेत् ।

२६ वें श्लोकमें ध्यान (‘तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम्’)—

यतो यतो निद्रति मनश्चात्मस्थिरम् ।

तत्स्तो निद्रन्वैतदात्मन्देव वशं नयेत् ॥

तथा २७ वें श्लोकमें समाधि (‘तदेवार्थमात्रनिर्भर्तं स्वल्पशून्यमिव समाधिः’)—

प्रशान्तमनसं श्वनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।

उपैति शान्तरजसं ग्रहभूतमकल्पम् ॥

—ये तीन अन्तरङ्ग साधन कहकर—

(विश पाठकोंको कहना अनावश्यक है कि ‘नवमेकव्र संघर्षम्’ के अनुसार २५, २६, २७में धारणादिवय एककालीन हैं ।) इसके बाद २८वें श्लोकमें वितर्कानुगत,

२९ ,,, विचारानुगत,

३० ,,, आनन्दानुगत और

३१ ,,, अस्मितानुगत

सम्प्राणात्का स्वरूप दिखाकर—

३२वें श्लोकमें असम्प्रशात्को कहा है।

इसका योगदर्शनोत्तर लक्षण यह है—

विशामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ।

(यो० द० समाधि० १८)

अब अन्तमें साधकका विचार शेष रहा। अर्थात् योगानुषानका अधिकारी कौन है, यह जानना चाहिये।

गीता इसका उत्तर यों देती है—

आरुक्षेपुर्वेत्योर्गं कर्म कारणमुच्यते ।

योगारुदस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥

(४। १)

यदि ‘आत्मनस्तु कामाय सर्वे प्रियं भवति’, यदि ‘नाम-

मात्रा बलहीन लम्हा^१, यदि 'नासि योगात् परं बलम्',
तब तो गीताका उपरेश (भगवान्‌के स्वपुरुषसे दिया हुआ)
हमलोगोंको नहीं भूलना चाहिये—

'तस्माद् योगी भवार्जुन ।' (६।४३)

यहाँपर 'तस्मात्'का कुछ स्पष्टीकरण किया जाता है—

वपस्तिभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।

कर्मभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन ॥

तपस्तीसे तपोयोगी श्रेष्ठ है, क्योंकि—

'नेत्रसिक्तमनशोकिति ।' (२।४०)

शानीसे शानयोगी श्रेष्ठ है, क्योंकि—

'प्रत्यवायो न विचरते' (२।४०)

और कर्मसे कर्मयोगी श्रेष्ठ है, क्योंकि—

स्वल्पमन्यस्य धर्मस्व आयते महतो भयात् ॥

(२।४०)

अभिक्रम (प्रारम्भ) का नाश क्यों नहीं ? व्यवसायादिमिका (निश्चयात्मिका) बुद्धि 'एक' होनेसे प्रत्यवायन करनेमें दोष क्यों नहीं ? ज्ञानके 'निर्वैगुण्य' होनेसे ? शोषणसे भी महान् भयसे रक्षा कैसे होती है ?

यादानन्द उद्दपाने सर्वतः सम्मुखोदके ।

सायान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥

—इसलिये ।

गीतोक्त शानके आधारपर यह लेख प्रस्तुत किया गया है। इस शानका हमलोगोंको मिलना कितना कठिन है, इसका निर्दर्शक एक सुप्रसिद्ध श्रौतवचन (योगभाष्यकार माधवाचार्यके मतानुसार) देकर इसकी हति करता हूँ—

अन्धो मणिमविन्दन्

तं निरकुलिरावयत् ।

अधीवस्तं प्रस्त्यमुक्तत्

तमजिह्वोऽप्यपूजयत् ॥

दिव्यदृष्टिशृन्त्य (अतएव अन्व) सङ्कल्पको (व्यासप्रसादते) गीतावादरूप मणि मिला ।

स्वयं लिदनेमें असमर्थ (अतएव निरकुलि) भगवान् वेदव्यासजीने उस मणिको महाभास्तके अंदर ग्रथित किया ।

गजके मस्तकको धारण करनेवाले (अतएव अधीव) अजेशब्दीने उत्तरको गलेमें धारण किया अवात् उत्तरका मामायैं समझकर लिखा ।

मौनवती (अतएव अजिह्व) लिदानोंने उसकी प्रशंसा की—

'यतो भाषो विवरन्ते'

संतोंकी प्रत्येक चेष्टा लोककल्याणके लिये होती है !

श्रीवसुदेवजी कहते हैं—

भगवन् भवतो यात्रा स्वस्तये सर्वोदैहिनाम् । कृपणानां यथा पित्रोरसमश्लोकवर्त्मनाम् ॥

भूतानां देववरितं दुःखाय च सुखाय च । सुखायैव हि साधूनां त्वादृशामच्युताम्नाम् ॥

(श्रीमद्भा० ११।२।४५)

हे देवर्षे ! जैसे माता-पिताका शुभागमन बालकोंके हितके लिये और भगवान्‌की ओर चलनेवाले संतोंका शुभागमन तापतस प्राणियोंके हितके लिये होता है । वैसे ही आपका शुभागमन समस्त प्राणियोंके परम कल्याणके लिये है । देवताओंके आचरण कभी प्राणियोंके सुखके लिये होते हैं तो कभी दुःखके लिये भी हो जाते हैं । परन्तु जो आपके-जैसे महस्ता हैं, जो भगवन्मय हैं, उनकी तो प्रत्येक चेष्टा ही प्राणियोंके सुखके लिये होती है ।

गीताकी साधना

(देखक—डॉ पस० के० मैत्र, एम० ए०, फौ-एन० ढी०)

श्रीभगवद्गीता वस्तुतः साधनाका ग्रन्थ है । यह न शानपरक है न कर्मपरक और न भक्तिपरक ही है, यथापि इन सबका विचार आत्मसाक्षात्कारकी दृष्टिसे इसमें अवश्य हुआ है ।

गीता योगशास्त्र है, 'योग' शब्दका अर्थ—

भगवद्गीता वास्तवमें योगशास्त्र है । प्रत्येक अध्यायके अन्तमें ये शब्द आते हैं—‘इति श्रीभगवद्गीतासूनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णजुनसंचादे’……योगो नाम……‘अथायः १० प्रत्येक अध्यायको एक-एक योगके नामसे कहा गया है—जैसे, ‘अर्जुनविपादयोग’, ‘लंखयोग’, ‘कर्मयोग’ इत्यादि ।

इस ‘योग’ शब्दका अर्थ क्या है? श्रीयुत ढी० एस० शमो अपनी ‘भगवद्गीता-परिचय’ (Introduction to the Bhagavadgita) नामक पुस्तकमें योगका अर्थ भगवान्के साथ संयोग या भगवत्साहस्र्य बतलाते हैं । इसी प्रकार महात्मा श्रीकृष्णप्रेम भी अपने ‘गीतोक्त योग’ (The Yoga of the Bhagavadgita) नामक ग्रन्थमें योगके अभिप्राय यहाँ ‘योग’ नामसे परिचित किसी विशिष्ट साधनपद्धतिसे—ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग अथवा महर्षि पतञ्जलिके अशाङ्कयोगसे नहीं है; प्रन्युत इसका अभिप्राय उह मार्गसे है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने परिच्छिन्न व्यष्टिस्वरूपको अनन्त अपरिच्छिन्न परमात्मा-के साथ युक्त कर देता है ।

इस प्रकार योगका अर्थ है ईश्वरके साथ जुड़ जाना । पर ईश्वरके साथ जुड़ जानेके तीन अर्थ होते हैं—(१) अपने साथ युक्त होकर अपने व्यष्टिस्वरूपका साक्षात्कार करना, (२) विश्वके साथ एक होकर विश्वात्माका साक्षात्कार करना और (३) उपर्युक्त दोनों पूर्णयोगोंका योग करके आत्मसाक्षात्कार या ईश्वरसाक्षात्कार करना । इस प्रकारसे गीतामें जिन विभिन्न योगोंका वर्णन किया गया है, उनके तीन मुख्य विभाग किये जा सकते हैं—(१) जिनका ध्येय व्यष्टिचेतन या जीवात्माका साक्षात्कार करना है, (२) जिनका लक्ष्य समष्टिचेतन या विश्वात्माका साक्षात्कार करना है और (३) जिनका लक्ष्य पूर्ण आत्म-

साक्षात्कार अथवा ईश्वरसाक्षात्कार करना है । हाँ, एक बात आरम्भमें ही अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये । यथापि विशयको समझानेकी सुविधाके लिये उपर्युक्त तीन विभाग किये जा सकते हैं, तथापि यह बात ध्यानमें रहे कि गीता एक अविच्छिन्न अनुभूतिको मानती है, खण्ड-खण्ड अनुभूतिमें विभास नहीं करती । इस अनुभूतिके अठारह सातवें अठारह अध्यायोंमें वर्णित हैं ।

अधिकारी कौन है?

साक्षात्कारका प्रसङ्ग छेड़नेके पूर्व दो एक बातोंकी स्पष्ट कर लेना जरूरी है । यहली बात यह है कि गीतामें जिस अनुभूतिका वर्णन है, वह किसकी अनुभूति है—एक सामान्य मनुष्यकी या किसी असाधारण जाती युक्तपक्ती? यह प्रभ बड़े महत्वका है । क्योंकि गीताने यदि किसी असाधारण विशिष्ट-शक्ति-सम्पद पुरुषको होनेवाली अनुभूतिका ही वर्णन किया हो, तब तो यह सबके कामका ग्रन्थ नहीं रह जाता; कुछ योद्धे से विशिष्ट लोग ही इससे लाभ उठा सकते हैं । परन्तु यदि सामान्य मनुष्यकी अनुभूतिका इसमें प्रतिपादन हुआ है तो यह सभी सामान्य मनुष्योंके कामका चौजा है ।

गीतामें अर्जुनकी अनुभूतिका वर्णन किया गया है । अर्जुन कौन है? वह कोई साधारण मनुष्य है या कोई असाधारण शक्ति-सम्पद प्रबुद्ध व्यक्ति? अर्जुन ध्यत्रिय है, उसमें कुलका है—चन्द्रवेशमें उत्पन्न हुआ है, क्षात्रोचित शिद्धा उसे मिली है, द्रोणाचार्य-जैसे महान् धनुर्विद्याविशारद-से उसने युद्धविद्या भी सीखी है । पर अस्यात्मविद्यामें वह कोरा ही है । ब्रह्मविद्यामें उसकी कोई गति नहीं है और न इस और उसका कोई विशेष ज्ञाकाव ही है । एक तरहसे वह वहमी भी है, क्योंकि वह असंगुन देखता है (निभित्तिनि च पश्यात्मि विपरीतानि केशव) । उसमें भावुकता विशेष है । अपने स्वजनोंको अपने विश्व युद्धमें लड़े देख उसका शरीर काँप उठता है, अङ्ग शिथिल हो जाते हैं और घनुप शाथसे छूट जाता है । ये लक्षण किसी विशेष आत्मात्मिक उच्चतिके नहीं हैं, बल्कि निष्ठावस्थाके ही हैं । युद्धसे हटनेका उसका निश्चय भी किसी महान् नैतिक सिद्धान्तसे प्रेरित नहीं

है । वह अहिंसावादी नहीं था, जैसा कि कुछ लोग समझते हैं । उसकी यह स्थिति उसके माध्योकी प्रबलताके कारण हो गयी थी, जिससे उसका विवेक दब गया था । युद्ध न करनेके लिये जो युक्तियाँ उसने पेश की थीं, वे सत्याभाषके सिवा और कुछ भी नहीं और हस्तिये भगवान् श्रीकृष्णने ‘प्रशावादांश्च भापसे’ कहकर जो उसकी खुटकी ली, वह ठीक ही थी । उसने स्वयं ही यह स्वीकार किया है कि मेरी बुद्धि शोकसे अभिभूत हो गयी है, भ्रमित हो गयी है, मैं यह निर्णय नहीं कर पाता कि मेरा क्या कर्तव्य है (गीता २।७) । इसलिये यह कहना कि युद्धसे हृष्टमें अर्जुनका बहुत ऊँचा भाव था, सरावर गलत है । श्रीशर्माजीने अपने उपर्युक्त प्रन्थमें इस बातको बड़ी स्वीकै साथ प्रमाणित किया है । इसलिये मैं मानता हूँ कि अर्जुन एक सामान्य मनुष्य ही था । अबश्य इसी वह उपदेशका अधिकारी था, अन्यथा जगद्गुरु भगवान् उसे अपने उपदेशका निमित्त न बनाते । उसमें विनय है, यथापि वह अहङ्कारसे सर्वया रहित नहीं; क्योंकि जहाँ उसने कहा है ‘यज्ञस्तेऽहं शाश्वत मां त्वा प्रपत्नम्’ (मैं तुम्हारा दिव्य हूँ, तुम्हारी शरणमें हूँ, मुझे शिक्षा दो), वहाँ तुरंत ही उसने यह भी कहा है कि ‘न योत्त्वे’ (मैं लड़ाग नहीं) । अर्जुन अधिकारी तो है, परन्तु शानी अपवा अस्यामार्गमें बहुत आगे बढ़ा हुआ नहीं । अर्जुनके इस अधिकारको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भगवत्-प्राप्तिके क्षेत्रमें अर्जुनके लिये जो कुछ रास्त है, वह किसी भी सामान्य मनुष्यके लिये साध्य है, यदि वह सत्त्वा जिज्ञासु हो । यह कहना भी टीक नहीं है कि अर्जुनको दिये हुए उपदेशके अधिकारी केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय ही हो सकते हैं, दूसरे नहीं । गीताकी हाइ अत्यन्त उदार है । अठारहवें अध्यायकी समाप्तिमें कहा गया है—

अस्यावाननसूच्य श्रुत्यादपि यो नरः ।

सोऽपि सुक्तः शुर्मङ्गोकान् प्रामुखायुणकर्वयाम् ॥

(गीता १८।७१)

केवल अस्यारहित अदा होनी चाहिये । जिसमें ऐसी अदा है, वही इस उपदेशका अधिकारी है । परन्तु यह बात तो सभी उपदेशोंके लिये लागू है । दोपहित्युक्त बुद्धिसे किसी भी उपदेशका ग्रहण नहीं हो सकता । गीतोपदेशका अधिकार विशिष्ट वर्णोंको ही नहीं, सबको है—जो भी उसे अद्वासे ग्रहण करना चाहें ।

गीतोपदेशका प्रसङ्ग

दूसरा प्रश्न यह है कि वह प्रसङ्ग या आकस्मिक घटना क्या है, जिससे गीतोपदेशका आविर्भाव हुआ? आत्माकी ओर मुद्दनेकी बुद्धि किसी ऐसे ही प्रसङ्गसे हुआ करती है, जिससे जीवकी धर्मबुद्धि आन्दोलित हो उठे, उसके लिये आत्माके सिवा और कोई सहाया न जान पड़े । गीताके पहले अध्यायमें हरी प्रसङ्गका वर्णन है । दूसरे अध्यायके ४ से ८ तकके श्लोकोंमें भी यही प्रसङ्ग है । यह है अर्जुनके भाव और कर्तव्यके बीचमें युद्ध । अर्जुनकी मानसिक स्थितिका सच्चा चित्र पहले अध्यायके २९ वें और ३० वें श्लोकोंमें स्वीकै गया है । उससे उसकी अतिशय भावुकता प्रकट होती है, जिसके कारण उसकी बुद्धि धर्मसङ्कटमें पढ़कर भ्रमित हो गयी है । ऐसा धर्मसङ्कट मनुष्यके लिये कोई बहुत असाधारण यात नहीं है । भय अवश्या शोकके प्रसङ्गमें ऐसा अनुभव बहुतोंको होता है । अर्जुनके सामने अपने स्वजनोंको ही मरानेका प्रसङ्ग उपस्थित था । केवल इतनेसे ही उसके मनमें धर्मसङ्कट उपस्थित न होता; पर बात यह थी कि उसके अंदर छिपे-छिपे यह बुद्धि भी अपना काम कर रही थी कि इस युद्धमें टड़ना तो मेरा कर्तव्य है । उसके अव्यक्त मनमें यह जो कर्तव्य-बुद्धि छिपी हुई थी, उसके प्रभावको हटानेके लिये वह इसके विपरीत युक्तियोंको सामने रख रहा था । उसके मनोभाव ही अपने असली स्वपको छिपानेके लिये इन युक्तियोंका जामा पहन रहे थे । फूट और उनके शिखोंके अन्धोंका जिन्हें कुछ भी परिचय है, उनसे भावोंकी—अपने-आपको छिपानेकी यह कला छिपी नहीं है । अन्ततः ४६ वें श्लोकमें जब अर्जुन यहाँतक कह देता है कि ‘कौरव हाथमें शास्त्र लेकर, मेरे हाथमें शास्त्र न रहते, मुझे मार डालें—यही मेरे लिये अधिक अच्छा होगा ।’ तब परदा फट जाता है और उसके मनकी असली हालत जाहिर हो जाती है । जिसकी बुद्धि भावोंसे अभिभूत हो गयी है, उसीके मुँहसे ऐसी बात निकल सकती है । अतएव उसके अव्यक्त मनमें काम करनेवाली उसकी अस्पष्ट कर्तव्य-बुद्धि तथा उसके भावोंके बीच होनेवाला युद्ध ही यह धर्मसङ्कट उपस्थित कर देता है ।

ऐसे धर्मसङ्कटको तब योग क्यों कहा है? अर्जुनकी इस स्थितिका ‘अर्जुनविशादपोषा’ नाम क्यों रखता गया? यह तो योगके सर्वथा विपरीत अवस्था है । यह सच है कि अर्जुनकी बुद्धि भ्रमित हो गयी है, मूढ़ हो गयी है; पर यह मोह—यह

मूढ़ाबस्था भगवत्प्रासिकी पहली सीढ़ी है और इसलिये इसे 'योग' कहना ठीक ही है। आध्यात्मिक अनुभूतिकी मरोगत अवस्थाओंका पूर्ण परिशान गीताके वक्ताको था, यह कहनेकी व्यावहारिकतानहीं। अनेकानेक साधु-महात्माओं और पैगम्बरोंके जीवनमें यह बात देखनेमें आती है कि इसी प्रकारके विषाद और मानविक सङ्कटोंमें पड़कर ही वे साधनाके पथपर आरूढ़ हुए। उदाहरणार्थ—योग, जरा और मृत्युके दृश्य देखकर ही बुद्धेवके चित्तपर ऐसा आधार पहुँचा कि वे राज्याट ल्यागकर सत्यकी स्वोजमें बाहर निकल पड़े। साधारण मनुष्योंमें भी यह देखा जाता है कि जब किसी मनुष्यको कोई महान् नैरास्य या शोक आकर हिला डालता है, तब वहसे उसका एक नवीन आध्यात्मिक जीवन आरम्भ होता है। इसलिये अर्जुनके विशदको योग कहना ठीक ही है, यद्यपि योगके सब लक्षण उसमें विद्यमान नहीं हैं।

गीताका योग और उसके व्यावहारिक लक्षण

अब श्रीमद्भगवद्गीताका योग क्या है, इसको हम देखें। गीताने योगके कुछ सामान्य लक्षण बतलाये हैं, जिन्हें हम योगके तटस्थ या व्यावहारिक लक्षण कह सकते हैं। प्रत्येक प्रकारके योगमें ये लक्षण होने ही चाहिये, केवल एक विशद-योगमें नहीं होते।

प्रत्येक योगके व्यावहारिक लक्षण गीताके विभिन्न अध्यायोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे बतलाये गये हैं। मुख्य-मुख्य लक्षण ये हैं—कर्मफलकी इच्छाका न होना (२। ४७; ४। २०; ५। १२), विषयोंके प्रति अनासक्ति (२। ४८; ३। १९), समत्व (२। ४८), निष्कामता (४। १९), सुख-दुःख एवं हानि-लाभमें समता (२। ३८), शीतोष्ण एवं मानापभानमें उदारीनता (६। ७; १२। १८), तथा मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, बन्धु आदिसे पक्षपात-राहित (६। ९)। इन सबको एक शब्दमें कहें तो 'विषयोंसे अनासक्ति' कह सकते हैं। ये लक्षण अभावात्मक हैं। इनके अतिरिक्त प्रत्येक योगमें कुछ भावात्मक लक्षण भी हैं—जैसे सब कर्म भगवान्को अर्पण करना (३। ३०; ९। २७), सब अवस्थाओंमें सन्तुष्टि (१२। १९; १२। १४), मनको भगवान्में लगाना (१२। ७ और ८)। और भी कह भावात्मक लक्षण गिनाये गये हैं, पर उन सबका अन्तर्भाव उपर्युक्त तीन लक्षणोंमें हो जाता है।

भिन्न-भिन्न योगोंके व्यावहारिक लक्षणोंमें जो विलक्षण

साम्य है यह कर्मयोगी, शानयोगी, सांख्ययोगी, भक्तियोगी आदि भिन्न-भिन्न योगियोंके वर्णन मिलाकर पढ़नेसे प्रत्यक्ष हो जाता है। स्थितप्रश्न या सांख्ययोगी और भक्तिमान् या भक्तियोगीके लक्षण देखिये—

स्थितप्रश्नके लक्षण

तुःखेष्वनुद्विग्नमनः तुखेषु विगतस्तृहः ॥
वीतरागमयकोऽः स्थितधीर्मुनिन्हस्यते ॥
यः सर्वत्रानन्मिष्येहस्तस्त्याप्य शुभाशुभम् ॥
नाभिनन्धति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
(गीता २। ५६-५७)

भक्तिमान्‌के लक्षण

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभरस्तिरस्याग्नी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
श्रीतोष्णसुखदुःखे च समः सक्षिप्तिर्जितः ॥
तुख्यनिन्दास्तुलित्वानीं सन्तुष्टो येन केवित् ।
अनिकेतः स्थिरस्तिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥
(गीता १२। १७-१९)

इन्हीं लक्षणोंको १४ वें अध्यायके गुणातीतके लक्षणोंसे मिलाइये—

समदुःखसुखः स्वस्याः समलोक्याश्चाश्चनः ।
तुख्यप्रियाप्रियो धीरस्तुखनिन्दास्तुलितः ॥
मानापमानयोस्तुखस्तुखो विकारिप्रक्षयोः ।
सर्वत्रभूषणरस्तिरस्याग्नी गुणातीतः स उच्यते ॥
(गीता १४। २४-२५)

तीनों ही वर्णनोंमें कितना विलक्षण साम्य है। इससे यही बात सिद्ध होती है कि कुछ ऐसे सामान्य लक्षण हैं, जो प्रत्येक योगमें होते ही हैं।

इन व्यावहारिक लक्षणोंका गीतामें बारंबार वर्णन होनेसे गीताके बास्तविक सिद्धान्तके सम्बन्धमें बहुतोंको भ्रम हो जाता है। जैसे कुछ लोगोंकी यह धारणा है कि गीताका सिद्धान्त कर्मयोग ही है, क्योंकि योगके उपर्युक्त सब व्यावहारिक लक्षण इसमें मिलते हैं। परन्तु ऐसा कहना इस बातको भुला देना है कि ये लक्षण जितने कर्मयोगमें मिलते हैं उतने ही संख्या या शानयोग, ध्यानयोग या भक्तियोगमें भी मिलते हैं। इनमेंतो किती भी योगमें इन सब लक्षणोंका

मिलना इस बातका प्रमाण नहीं है कि गीतामें उसी योगका विशेषरूपसे प्रतिपदन हआ है।

मीताने जर्मन-तस्ववेत्ता कांटकी तरह केवल धर्म या नीतिके व्याबहारिक लक्षण ही नहीं दिये हैं, बल्कि प्रत्येक योगके बास्तविक या स्वरूपभूत लक्षण भी बतलाये हैं। दीवानबहादुर के० एस० रामखानी शास्त्री अपनी 'Problems of the Bhagavadgita' (भगवद्गीताके विचारणीय विषय) नामक युस्तकमें लिखते हैं—‘आत्म-संयम, कामनाका त्याग, प्राणिमात्रसे प्रेम, अहङ्कारशून्यता, निर्ममता, शीतोजा, सुख-दुःख एवं निन्दा-स्तुति आदिमें उमता तो सभी योगोंके सामान्य लक्षण हैं; पर कर्मयोग कर्मपर विशेष जोर देता है, राजयोग ध्यानपर, भक्तियोग भक्तिपर और ज्ञानयोग ज्ञानपर विशेष जोर देता है।’ प्रत्येक योगका एक निश्चित मावात्मक लक्षण है, वही उसके लक्ष्यका निर्देश है। जैसे कर्मयोगका निश्चित लक्ष्य लोक-संग्रह अर्थात् सब लोगोंका कल्याण है, ज्ञानयोगका लक्ष्य ‘व्यासुदेवः सर्वमिति’ यह ज्ञान है, संरक्षयोगका लक्ष्य ब्राह्मी स्थिति (२। ७२) है, और राजयोग या ध्यानयोगका लक्ष्य ब्रह्मसंवर्शरूप अक्षय सुखकी प्राप्ति (६। २८) है। इसी प्रकार विश्वरूपदर्दिनयोगका लक्ष्य भगवान्के विश्वरूप-का दर्शन है और भक्तियोगका लक्ष्य भगवान्का अतिशय प्रिय होना (१२। २०) है। इस प्रकार सामान्य व्यावहारिक लक्ष्योंके अतिरिक्त प्रत्येक योगका अपना एक निश्चित मावात्मक स्वरूप भी है।

भीता किसी एक ही योगका उपदेश देती है या सभी योगोंके एक-सा महत्त्व देती है ?

इस प्रश्नने गीताके सम्बन्धमें चढ़े-चढ़े बाद खड़े कर दिये हैं ! पूर्वके महान् आचार्योंने गीताको ज्ञान अथवा भक्तिका प्रतिपादक ग्रन्थ माना; परन्तु लोकगमन्य तिलकमें इसे कर्मयोग-शास्त्र कहा है । यहाँ इस विवादकी एक-एक बातको लेकर चर्चा करना स्थानभाषणके कारण असम्भव है । पर दो-एक बातें कही जाती हैं, जिनसे यह नलङ्घम होगा कि गीताका प्रतिपाद्य कोई एक ही विशिष्ट योग हो और अन्य सब योग उसके साथक हों—ऐसी बात नहीं है । यदि ऐसी बात होती तो अन्य योगोंका इसमें इतना विस्तार होनेका कोई कारण नहीं था; केवल एक ही विशिष्ट योगका विस्तारसे निरूपण करके यह कह देना पर्याप्त था कि अन्य सब योग

उसीके सहायक अथवा अन्तर्में उसीमें मिल जानेवाले हैं। पर वीतामें इस तरहकी कोई बात नहीं कही गयी है। यह सही है कि कहीं-कहीं विभिन्न योगोंको अभिज्ञ बताया गया है, जैसे—पाँचवें अध्यायके ४थे और ५वें श्लोकोंमें सारख्योग और कर्मयोगको स्थष्ट शब्दोंमें अभिज्ञ तथा एक ही लक्ष्यतक पहुँचनेवाला बतलाया गया है। उसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें यह बात भी कही गयी है कि कर्मसं्यास अर्थात् सारख्योग-की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है। परन्तु यहाँ हमें इन विभिन्न वचनोंका परस्पर भी अच्छी तरह देख लेना चाहिये। पाँचवें अध्यायके उपरकर्ममें अजुनने पूछा है कि ‘न कृष्ण ! आप एक ओर तो कर्मोंके संन्यासकी प्रवृत्ति करते हैं और दूसी ओर कर्मयोगको अच्छा बतलाते हैं; अतः इनमें जो उत्तम फल देनेवाला हो, वह मार्ग मुश्कि सुनिश्चितरप्से है वह बताइये।’ उपरके बाबत इसी प्रश्नके उत्तरमें कहे गये हैं। यथार्थमें चौथी अध्याय कर्मसं्यासका प्रतिपादन नहीं करता, जैसा कि उसके इन दो अनितम श्लोकोंमें सर्वथा स्पष्ट है—

योगसंन्यस्तकर्मणं ज्ञानसंचिक्षसंशयम् ।
 अत्यन्वेत्त न कर्मणि निवृत्तिं भगवन् ॥
 तस्मा दद्राज्ञानसमूहं हस्तं ज्ञानसितामनः ।
 लिङ्गवनं संज्ञयं योगमात्रिणिति भारत ॥

इस स्पष्टोक्तिमें सन्देहकी कोई गुंजायशा ही नहीं है। 'आत्मवन्ते न कर्मणि निवश्निति' इन पदोंका तो कुछ अर्थ ही न रह जाय, यदि इन स्त्रीोंको कर्मसंयानका प्रतिपादक माना जाय। फिर भी अर्जुनके मुखसे जो सदैह प्रकट किया गया है उसका अभिप्राय, जैसा कि लोकमान्यने उतलाया है, यही मालूम होता है कि भविष्यमें चतुर्थ अध्यायके तात्पर्यके विषयमें किसीको सन्देह हो जाय तो उसके समाधानके लिये याँचबैं अध्यायमें अर्जुनकी शक्ता और उसका फिर समाधान है।

परन्तु ‘संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ’ कहनेमें गीताका कथा अभिप्राय है। गीताका अपना सिद्धान्त तो यह नहीं है कि कर्मसंन्याससे मोक्ष होता है, बल्कि इसके विपरीत तीसरे अध्यायके चौथे श्लोकमें यह स्पष्ट कहा गया है कि कर्मसंन्याससे सिद्ध नहीं प्राप्त होती। पिर भी संन्यास और कर्मयोग दोनोंको ही जो निःश्रेयसकर कहा गया है, इसका कारण यिनानरेमें वही बात साधने आती है, जो तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवानने कही है, कि ‘स्थिति-

के आरम्भमें मैंने निःश्रेष्ठसके दो मार्ग चताये थे—सांख्योगियों के लिये ज्ञानयोगिका (जिसमें कर्मका संन्यास करना पड़ता है) और कर्मयोगियोंके लिये कर्मयोगिका । सुषिक्षे आरम्भमें कहीं हुई इस बातको गीताने चिल्कुल एक नये रूपमें ग्रहण किया है; क्योंकि गीता कर्मसंन्यासको नहीं यानती पर एक दूसरे ही प्रकारका संन्यास बतलाती है, जिसमें कर्मफलका संन्यास किया जाता है। गीताने संन्यासकी नयी परिभाषा की है—‘विद्वात् लोग काम्य कर्मोंके न्यासको ही संन्यास कहते हैं’ (१८।२) और संन्यासीकी भी नयी परिभाषा की है—‘कर्मफलका आश्रय छोड़कर जो कर्तव्य-कर्म करता है वही संन्यासी है और वही योगी है, निरग्नि और शिक्षिय नहीं’ (६।१) ।

सांख्य और योगको एक ही (एक सांख्य च योगं च) बतलानेमें भी गीताका अभिप्राय यह नहीं है कि एकका दूसरेमें लय हो सकता है, बल्कि यह दिक्षिलाना है कि दोनोंमें कोई विरोध नहीं है। सच पूछिये तो गीताकी यह एक प्रधान विशेषता है कि वह दोनोंका अपने योगके सिद्धान्त-द्वारा बहुत सुन्दर ढंगसे समन्वय कर देती है। सांख्य तो कर्मसून्य या, गीतामें आकर वह सांख्ययोग हो गया—जो कर्मका समर्थक है। और कर्म, जिसके मूलमें या काम, गीतामें आकर कर्मयोग हो गया—जिसका आधार है कामनाका अभाव। ऐसे ही संन्यास, जिसका अर्थ या कर्मोंका संन्यास, गीतामें आकर संन्यासयोग हो गया—जिसमें अहंकार और कर्मफलका न्यास होता है। इस प्रकार अपने योगके सिद्धान्तद्वारा गीता सांख्य, कर्म और संन्यासके वास्तविक स्वरूपकी रक्षा करते हुए भी इन मार्गोंमेंसे परस्पर विरोध उत्पन्न करनेवाले भावोंको इटा देती है।

इसलिये मेरे विचारमें गीता किसी विशिष्ट योगका, अन्य योगोंके व्यतिरेकसे, प्रतिपादन नहीं करती और न एक योगका दूसरे योगके साथ कोई विरोध ही मानती है। गीतामें जिस क्रमसे इन विभिन्न योगोंका वर्णन किया गया है, वह साधनाका ही क्रम है। द्वितीय अध्यायमें प्रतिपादित सांख्य-योगसे आगे चढ़कर साधक स्वभावतः कर्मयोगमें प्रवेश करता है, जो तीसरे अध्यायका विषय है। तीसरे अध्यायकी साधनासे साधक अपने-आप चतुर्थ अध्यायके कर्मसंन्यास—शानयोगमें पहुँच जाता है। चतुर्थ अध्यायका उपदेश ग्रहण करनेपर साधकके मनमें अनिवार्यकभौमे संन्यास और कर्मके परस्पर सम्बन्धका प्रभ उठता है, और वही पाँचवें अध्यायका विषय

है—जिसका नाम कर्मसंन्यासयोग रक्खा गया है। इस प्रकार कर्म, शान और संन्यासका परस्पर सम्बन्ध निर्धारित हो जानेपर ध्यानके द्वारा प्राप्त होनेवाली सिद्धिके स्वरूपका प्रभ आता है; यही छठे अध्यायमें बतलाया गया है और इसीलिये इसे ध्यानयोग या आत्मतंत्रमयोग कहते हैं। यहाँतक जीवात्माके साक्षात्कारके सम्बन्धमें जितने साधन अध्याय योग हैं, उनका प्रतिपादन हुआ। इसके बाद जो योग आते हैं, वे समष्टि-चेतन या विश्वरूप भगवान्‌की प्राप्तिके साधन हैं। सातसे बाहर तकके अध्यायोंमें इर्हांका वर्णन है। अन्तमें इन दोनों सिद्धियोंका एकत्र साधन करनेवाले अर्थात् पूर्ण आत्मसाक्षात्कार या ईश्वर-साक्षात्कार करनेवाले योगोंका शेष छः अध्यायोंमें वर्णन है।

(१) व्यष्टिचेतन अर्थात् जीवात्माका साक्षात्कार करनेवाले योग

उपर योगोंके जो तीन विभाग किये गये हैं, वे सिद्धिके स्वरूपको लेकर ही किये गये हैं। तदनुसार प्रथम वर्गके योग व्यष्टिचेतन या जीवात्माका साक्षात्कार करनेवाले हैं। यह में पहले ही कह चुका हूँ कि कोई भी सिद्धि केवल व्यष्टि-चेतनको लेकर नहीं होती, प्रत्येक सिद्धिका सम्बन्ध तीनों ही सिद्धियोंके साथ रहता है। परन्तु पहले छः अध्यायोंका विषय मुख्यतया व्यष्टिचेतन या जीवात्माके साक्षात्कारका ही है। व्यष्टिचेतनके साक्षात्कारमें सबसे बड़ा विषय उसके अंदर होनेवाले सहर्ष हैं। ये सहर्ष अरम्भसे छठे अध्यायतक किसी-न-किसी रूपमें ही बने रहते हैं। छठे अध्यायमें ध्यानयोग या राजयोगके द्वारा अपनी विभिन्न सत्ताओंको एकीभूत कर साधक अपने समग्र व्यष्टिस्वरूपका साक्षात्कार करता है। किंतु भी जीवात्माके समग्र स्वरूपका पूर्ण साक्षात्कार अठाहवें अध्यायमें होता है, इससे पहले नहीं। जहाँ अर्जुन कह उठता है कि ‘अग मेरा मोह नष्ट हो गया, संशय दूर हुआ; मैं आपकी आशाका पालन करूँगा।’

(२) विश्वरूप भगवान्‌का साक्षात्कार करनेवाले योग

जीवात्माके साक्षात्कारके बाद विश्वरूप भगवान्‌के साक्षात्कारका साधनमें अध्यायसे आरम्भ होता है। इसी अध्यायसे गीताका उपदेश सर्वभौम रूप धारण करना आरम्भ करता है। जीवात्माका यही विश्वात्माके साथ गैंठ-वन्धन आरम्भ होता है। इसी सातवें अध्यायमें परा और अपरा प्रकृतिके भेदका निरूपण हुआ है। परा प्रकृति वह

बतायी गयी है, जो जीव वनी हुई ('जीवभूता') इस जगत्को धारण कर रही है ('ध्येद धार्यते जगत्') । परा प्रकृतिका यह लक्षण भागमित है; इससे भगवान्‌की परा-प्रकृतिके साथ व्यष्टिचेतनका जो सम्बन्ध है, वह अधिक स्पष्ट हो जाता है और जीवके लिये भगवत्प्राप्तिका रास्ता खुल जाता है ।

आठवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें कर्मके सर्वभौम अर्थका विशदीकरण हुआ और फिर सारे अध्यायमें जीवकी गतिका वर्णन किया गया है । नवें अध्यायमें भी यही विषय चला है । इसी अध्यायमें आगे स्वरूपके प्रशिद्ध श्लोक आते हैं, जिसमें भगवत्स्वरूपका वर्णन है । भगवान्‌का वह स्वरूप जो सारे विद्वासें परे है, और वह स्वरूप जो विश्वमें ओतप्राप्त है—दोनोंकी ही आँखी यहाँ मिलती है, यद्यपि उनके पिछले स्वरूपपर अधिक जोर दिया गया है—जो ठीक ही है । क्योंकि विश्वरूप भगवान्‌की ओर ही विशेषरूपसे ध्यान दिलाना यहाँ अनिवेत है । दसवें अध्यायका नाम विभूतियोग विद्यार्थ ही है, क्योंकि इसमें भगवान्‌का विभूत्य—विश्वव्यापकत्व—और भी विशद किया गया है । इस अध्यायमें भगवान् अपने मानवातीत, विश्वव्यापक रूपपर अधिक जोर देते हैं—

न मे विदुः सुरगणः प्रभवं न महर्यथः ।
अहमदिविद्यं देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥
यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेष्वरम् ।
भलम्मूढः स मर्येषु सर्वथायैः प्रमुच्यते ॥
(गीता १० । २०-३)

श्रीकृष्णप्रेमजी कहते हैं कि 'गीताके जो वक्ता गीतामें कोल रहे हैं, कोई मनुष्य नहीं, वहिं वे परब्रह्म हैं—जिसमें सब प्राणी उत्तम होते हैं और जिसमें पिर यथासमय लय हो जाते हैं ।'*

परन्तु भगवान्‌का वह विश्वव्यापक रूप अपनी परिपूर्णता, महान्-ऐरूप्य और अनन्त महिमाके साथ प्रकट होता है यारहवें अध्यायमें ही । यहाँ जिस विश्वरूपका दर्शन होता है, वह इतना विराट् और वीण है कि उसे देखकर अर्जुन भयसे काँप उठता है और भगवान्‌से पुनः अपने सौम्य मानुषरूपमें प्रकट होनेकी प्रार्थना करता है (११ । ४५) । भगवान्‌के विश्वरूपका जिसे दर्शन हो जाता है, वह भक्तिका ही

* 'The Yoga of the Bhagavadgita.' P. 91

अवलम्बन करेगा; इसलिये विश्वरूपदर्शनयोगके बाद भक्तियोगका प्रारम्भ खामोशिक ही है ! आत्माके उत्थानसे सम्बन्ध रखनेवाले योगीोंका प्रतिपादन यहाँ उमास हो जाता है । अर्जुनके भगवान्‌की अनन्त महिमा और अनन्त शक्तिकी एक झाँकी मिल गयी । परन्तु इस विराट् रूपके दर्शनसे उसकी आँखें चौंचिया गयीं और वह भयमीठ हो गया । कहाँ तो अनन्त ऐरूपसम्पन्न भगवान् और कहाँ क्षुद्र जीव ! श्रीअरविन्द कहते हैं—'जीवकी परिच्छिन्न प्राकृत पृथग्मूल तुद्रातिष्ठुद्र व्यष्टि-सत्त्वाके लिये इस अनन्त सत्त्वाका अपार अमित महातेज अन्यन्त दुस्सह है । इसलिये इह महान् और इस अत्यके बीच सम्बन्ध जोड़नेवाला कोई सुन्न होना चाहिये, जिससे वह व्यष्टिजीव उस महान् विश्वरूप भगवान्‌को अपने प्राकृत आधारमें अपने समीप अनुभव कर सके, केवल अपनी सर्वशक्तिमात्रासे अपनी अपरिमेय समष्टि-शक्तिके द्वारा उसकी समग्र सत्त्वाका नियमन करनेवाले नियन्ताके रूपमें ही नहीं, वहिं उसके साथ व्यक्तिगत निकट सम्बन्ध जोड़कर उसे सहाय देने, उठाने और अपने साथ एक करनेवाले मनुष्यके रूपमें ।' ('Essays on the Gita', second series, P. 197) यह सुन्न हैं मनुष्यरूप धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण ।

(३) द्विविध अनुभूतिकी एकता अर्थात् पूर्ण आत्म-साक्षात्कार अथवा ईश्वर-साक्षात्कार करनेवाले योग

अब हम गीताके अन्तिम भागकी ओर आते हैं, जिसका प्रतिपाद्य विषय है पूर्वकी द्विविध सिद्धियोंकी एकता; जिसका परिणाम है सम्पूर्ण आत्मसाक्षात्कार अथवा भगवत्साक्षात्कार । यही चरम सिद्धि है । भगवान् और मनुष्यके बीच सम्बन्ध खापित करनेके लिये भगवान्‌का मनुष्यरूप धारण करना किस प्रकार आवश्यक है, यह हम अभी देख चुके । पर इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि मनुष्य भगवान्‌के विश्वरूपका साक्षात्कार करके संसारमें उतरे और इस साक्षात्कारके प्रकाशमें संसार-क्षेत्रके अंदर अपने कर्तव्योंका अवकलन करे । दूसरे शब्दोंमें मनुष्यको चाहिये कि वह अनन्त परमात्माके साथ अपना सम्बन्ध बनाये रहे और उन्हें अपना बालविक आत्मा समझे । इसकी जो दुष्ट साधना है, वही अन्तिम छः अध्यायोंका विषय है ।

यह स्पष्ट है कि इन अध्यायोंमें ज्ञानकी काफी चर्चा होगी । शायद इसलिये इस अन्तिम भागको ज्ञानकाण्ड

कहते हैं। परन्तु यह स्परण यहे कि यहाँ जो शान कहा गया है, वह सातवें अध्यायमें विवृत शानसे भिन्न है। वहाँ 'वासुदेवः सर्वमिति' कहकर जिस शानका वर्णन किया है, वह केवल विचारात्मक शान है। यहाँ जिस शानका निरूपण किया गया है, वह हमें दो बातें बतलाता है—एक तो यह है कि आत्माका संसारके साथ क्या सम्बन्ध है और दूसरी यह है कि उसका भगवान्के साथ क्या सम्बन्ध है।

यह दोहरी हृषि तेरहवें अध्यायमें स्पष्ट देख पहली है। उत्तर अध्यायके ८ से १२ तक के श्लोकोंमें शानके जो लक्षण बतलाये गये हैं उनमें अमानित्व, अदर्मित्व, अहिंसा, क्षमा, आर्जव, आचार्योपासन, शुचिता, स्थिरता, आत्मनिग्रह, इत्यादि गुण ही गिनाये गये हैं। ये आत्मशानके लक्षण नहीं, बल्कि नैतिक गुण ही समझे जाते हैं। पर इन्हें शानके लक्षण बताया गया है, इससे यह जादिर है कि गीता यहाँ केवल शानका सिद्धान्त ही नहीं, बल्कि उसका व्यावहारिक रूप भी बतल रही है—जो संसारके साथ आत्माके सम्बन्धको हृषिमें लिये हुए है। इस हृषिमें इस अध्यायका नाम क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभागयोग बहुत ठीक रखला गया है। संसारके साथ आत्माका सम्बन्ध क्षेत्र क्षेत्रका सम्बन्ध है। संसार क्षेत्र है, आत्मा क्षेत्रश। इस अध्यायमें क्षेत्रका जो वर्णन पाँचवें और छठे श्लोकोंमें दिया गया है उसमें शरीर, मन, इन्द्रिय और प्राण सभी कुछ आ जाते हैं। आत्मा इस क्षेत्रका जाता है, अङ्ग नहीं। आत्माका यह स्वरूप जीवात्माका परमात्माके साथ एकत्र बतलाता है। आत्मा और परमात्मामें यही तो अन्तर है कि आत्मा एक क्षेत्रका जाता है और परमात्मा समस्त क्षेत्रोंका। श्रीकृष्णप्रेमजीके शब्दोंमें, इस अध्यायका निचोड़ यही है कि 'जगत्‌की ऊयोति तुम्हारे अंदर है।'

आत्मा और परमात्माके बीच भेदकी जो दीवार खड़ी है, वह इस तरह ढूँढ़ जाती है। आत्माका स्वरूप परमात्माके स्वरूपका निर्देश करता है। इसीलिये आत्मस्वरूपके बाद ही इस अध्यायमें परमात्मस्वरूपका वर्णन आता है। २८ से ३४ तकके मुन्द्र श्लोक आत्मस्वरूपके साथ-साथ परमात्मस्वरूपका भी वर्णन करते हैं।

गुणत्रयविभागयोग नामक चौदहवें अध्यायकी अवतारणा संसारके साथ आत्माके व्यवहारकी बात पूरी करनेके लिये हुई है। वह बात है—गुणोंके ऊपर उठनेके, गुणातीत होनेकी। दूसरे अध्यायके ४५ वें श्लोकमें भी निजैगुण्य होनेका उपदेश दिया गया है। पर वहाँ गुणोंका वर्णन नहीं हुआ है और न

यह बतलाया गया है कि निजैगुण्य होना क्यों आवश्यक है। बहुत-सी बातें इन पिछले अध्यायोंमें ऐसी आयी हैं, जो पहलेके छः अध्यायोंमें आ चुकी हैं; परन्तु दोनोंमें अन्तर यह है कि यहाँ उस विषयका अधिक पूर्ण और अधिक स्पष्टरूपमें उल्लेख हुआ है तथा आत्मा एवं जगत्‌के स्वरूपके विवेचनपूर्वक हुआ है।

तेरहवें और चौदहवें अध्यायोंमें आत्माके स्वरूप और संसारके साथ उसके सम्बन्धका निरूपण करके पन्द्रहवें अध्यायमें पुरुषोत्तम योगका वर्णन किया गया है। भगवान्के सम्बन्धमें गीताका सर्वोत्तमभाव पुरुषोत्तमभाव है। इस भावको यथार्थस्वरूपमें ग्रहण न करनेके कारण इसके सम्बन्धमें अनेक ग्रन्थ उत्पन्न हो गये हैं। अनेकों विद्वानोंने पुरुषोत्तमभाव और अक्षर-ब्रह्मको एक ही समझ लिया है। श्रीअरविन्दके गीताभाष्य (Essays on the Gita) की आलोचना करते हुए प्लॉडन रिच्यू में सर्वाय प्रम् ० सी० घोषने श्रीअरविन्दकी गम्भीर विचारसौतीकी यह कहकर उड़ा दिया गया कि 'अक्षरब्रह्म' से ऊँचा कोई 'पुरुषोत्तम' नहीं हो सकता। परन्तु 'अक्षरब्रह्म' और 'पुरुषोत्तम' दो अलग-अलग भाव हैं। इन दोनोंमें जो अन्तर है, वह पंद्रहवें अध्यायके अठारवें श्लोकमें अत्यन्त स्पष्ट शब्दोंमें प्रकट किया गया है। यही गीताकी पूर्णता नहीं। श्रीअरविन्द कहते हैं कि 'आत्माकी परतमा स्थिति पुरुषोत्तममें निवास है, पूर्ण ल्य नहीं !'

पुरुषोत्तमका साक्षात्कार ही गीताकी सर्वोत्तम अनुभूति है और इसीलिये इसे 'गुणतम शास्त्र' कहा गया है। परन्तु इस गुणतम शानके प्रकाशमें आत्माके लिये संसारमें रहते हुए क्षेत्रके नाते संसारिक कर्तव्योंका पालन करनेमें संसार-विषयक जिस शानको ग्रहण कर लेनेकी आवश्यकता है, वही दैवासुरसम्पदभाग है, जो सोलहवें अध्यायका योग है। और इन सब योगोंमें साधकके लिये सबसे अधिक आवश्यक वस्तु है—श्रद्धा, जिसके विना सारा शान और कर्म व्यर्थ हो जाता है, उसका न इहलोकमें कोई फल होता है न परलोकमें ('असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो हृ') इसलिये अद्वाका स्वरूप उसके विविध भेदोंके विवरणके साथ सप्तहवें अध्यायमें बताया गया है, जिसमें इन सब योगोंके साधनमें साधककी अद्वाका योग हो। अन्तिम अध्याय गीताका उपसंहार है। साम्य, कर्म आदि जो-जो योग पहले बताये गये, उन सबकी

पूर्णता हसी अध्यात्मे आकर होती है और आत्मसाक्षात्कारके सब योगोंकी परिसमाप्ति भी। और हसीलिये सम्पूर्ण योगोंके पश्चात् सबं श्रीपुष्पबोतम् भगवान् यह महान् आश्वासन देते हैं—

सर्वधर्मान् परिवर्जय मायेकं धारणं ब्रज ।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयित्यामि मा शुचः ॥

(गीता १८। ६६)

वैसा ही श्रद्धा-भक्तिपूर्ण महान् उत्तर अर्जुनकी ओरसे मी आता है—

नहीं मोहः स्तूतिलङ्घा स्वप्नसादान्मयाच्युत ।
स्त्रियोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वधनं तत् ॥
(गीता १८। ७३)

यही जीवात्माकी आत्मा, विश्वात्मा और पुरुषोत्तम—इस विविध स्थितिकी सिद्धिका योगशास्त्र है। यही गीताकी साधना है।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्वजयो भृतिर्धुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

वृन्दावनकी प्रेम-साधना

(लेखिका—वहिन श्रीरैहाना तत्पवनी)

वृन्दावन !

—नामका उच्चारण-स्परण करनेके साथ, कानोंको चुपचाप यह नाम प्रेम और उक्तण्ठासे सुना देनेके साथ ही मानस-पट्टपर भीतसे कैसे-कैसे सुन्दर समुज्ज्वल चित्र हृदयकी आँखोंके सामने आने लग जाते हैं।

वृन्दावन ! ओ हो-भरे, सुहावने, प्यारे वृन्दावन ! कमनीय कुसुमोंकी कुञ्जस्थली, मधुर विहग-काकालीके प्रवाह, कालिन्दीके कलकल निनादसे सङ्कृत और निर्झरोंके रूपमे मन्दसिंहसे युक्त वृन्दावन ! सारा जीव-जगत् जहाँपर एक है और एकत्रके अनुभवमें आनन्दमग्न है !

क्या आश्र्यं जो मूर्दिमान् प्रेम पुण्डीपर अवतीर्ण होनेकी इच्छासे वृन्दावनमें पधारे और हसीको उन्होंने अपना धार्म बनाया !

वृन्दावन, जब वे नहीं आये थे, तब कैसा था ?

जंगलोंमें उस समय भी हरियाली रही होगी, फूलोंमें विविध रंग और मोहक सुगन्ध रही होगी। भोले-भाले कृष्णसार मूग तथा अन्य छोटे-छोटे बन्य जीव सुखारूपक विचरते होंगे; पश्चियोंके कलरवर्में भी मधुरता रही होगी; जल भी स्वच्छ, उज्ज्वल और मीठा रहा होगा—उस समय भी, जब वे नहीं आये थे। हरी-मरी गोचर-भूमियोंमें चरनेवाली गौएँ सरल, सीधी और शान्त रही होगी। गोप-गोपी भी अपने दैनिक गृहकार्यमें मम, अपने माघ्य जीवनके आनन्दमें मत्त, भोले-भाले लोग रहे होंगे।

किस बातमें ये अन्य लोगोंसे मिल थे ! क्या इनमें कोई विशेष बात थी ? क्या ये कुछ और भी थे ?

वृन्दावनमें प्रेमस्वरूप किसलिये पधारे ? वृन्दावनको उन्होंने अपना दिव्य धाम क्यों बनाया ? इन गोप-गोपियोंको क्या समझकर उन्होंने अपनाया, सिर चढ़ाया और अमर कर दिया ? इनमें ऐसी कौन-सी बात थी, जो उन्हें स्वीच लायी ? वह कौन-सी चीज़ थी इनके अंदर, जो उनकी पुकारपर दौड़ पड़ी ?

कोई बास जरूर रही होगी। प्रेमकी पुकार हर जगह हर समय हो रही है; पर सब कोई तो उसे नहीं सुन सकते, न उसके पीछे बल ही सकते हैं। कोई चीज़ इनके अंदर अवश्य रही होगी, जिससे इनके नेत्रोंमें वह निर्मलता आ गयी कि बालरूपशरीरी वृन्दावनविहारीको देखते ही उन्होंने पहचान लिया, आनन्दसे उछल पड़े और उनकी भगवत्ताकी महिमाका अनुभव कर उसीमें द्वृत गये। कोई चीज़ इनके अंदर अवश्य रही होगी, जिससे इनके कान इनने पवित्र हो गये कि उनकी चंचिकी क्षमियें इन्होंने वह चीज़ मुनी जो गोकुलकी ब्राह्मणपतियाँ शाल-संस्कारसे उंस्कृत होनेपर भी नहीं सुन सकीं। कोई चीज़ इनके अंदर अवश्य रही होगी, जिससे इनका हृदय इतना विशुद्ध हो गया कि ज्यों ही वे इनके सामने आये, वे आत्मसमर्पणकी सहज अदम्य दीति और दमकके साथ सर्वात्मभावसे उत्सर्ग हो गये। यह ‘कोई चीज़’ क्या रही होगी ? क्या यह इनकी अनेक जन्मोंकी निरन्तर कठिन तपस्या या शक्ति-उपासना थी ?

इनके जीवनपर दृष्टि डालो। कितना सादा, कितना आड़म्बरशून्य ! और इनके पर ?—वे ही अरण्य-कुटीर ! इनकी धन-सम्पत्ति ?—वही गोधन ! इनका आहार ?—वही

मेरा स्वप्न

(ले०—सौ० बहिन इन्दुमति १० देसाईजी)

‘उषा, प्रातःकालकी मधुर उषाकी लालिमा गोकुल-बृन्दावनपर छाने लगी है। सुहावनी समीर-लहरी श्रीहरिके ध्यानमें महर तपतिलियोंको प्रकुण्ठित कर रही है। श्रीहरिके चरण-कमल-मकरनदका पान करनेवाली भ्रमरी—प्रेमोन्मादिनी गोपिकाएँ—श्रीकृष्णसङ्घकी प्रेम-केलियोंके मधुर स्वप्नका अनुभव करती हुईं, जिनके मुख्यर भन्द मुख्यान लिटक रही है, श्रीभग्न-मोहनके साथ प्रेमकलहमें लगी हैं; परन्तु इस उषाने उनके साथ वैरिणीका काम किया। पक्षियोंकी मधुर काकलीको भुनकर, शश्याका त्याग करके वे श्रीकृष्णका गुणगान करती हुई प्रातः-कृत्यसे निवृत्त होकर उतावली-उतावली श्रीमन्द-जीके महलमें पहुँचीं। नौबतखानेकी नौबतोंकी आवाजसे, भीठे भृंदां-चंगोंकी मधुर ध्वनिये, भक्तोंके भावयरे भजनोंसे और यशोदामैयाके प्रेमवाच्योंबैंग, त्रिश्विमोहन, परंब्रह्म श्यामसुन्दर सहज ही आलससे अङ्ग, मोहोइकर, भुज-सेव्यर, उठ बैठें और प्रेमपादामें बैठकर शातोंके चरणोंमें प्रणाम करने लगे। माताने उन्हें उठाकर गोदमें अङ्ग-लिप्ता। भक्ती गोपिकाओंने प्रेमविहळ नेत्रोंसे इस अनुपम रूप-माधुरीका पान करके श्रीहरिके चरणोंमें बन्दन किया। कोई लाडी थी माखन-मिश्री, कोई मीठा मलाईदार दद्दी और कदा हुआ दूध; कोई ताजी-ताजी रोटियाँ, कोई सेन-सुहाल और बेवर—जिससे जो बना, सबने प्रभुके सामने रखवा। वे पहले अपने प्रेमी भक्तोंकी बानगी आरोग्य, पीछे मैं—मैं तो सबसे अन्तमें काम आनेवाली चीजें ही ले गयी थीं—सुगन्धभरा ताम्बूल, चन्दन, कलशी और बनमाला।

सारे गोपबालक—कन्हैयाके सखा कैसे आनन्दसे श्यामसे कहते हैं—कन्हैया, ध्यारे कान्हा! चल-चल जल्दी, देख न, गायोंका हूँड तुझे निरखनेके लिये, तुझे स्वर्ण करनेके लिये

किस आतुरतासे पुकार रहा है। और कन्हैया! छोड सब बतोंको, चल जल्दी अपनी कुञ्जगलियोंमें, श्रुताजीके हरियाले तटपर और गोवर्धनकी गहरी गुफाओंमें। और मोहन! तेरी मुरली कहाँ है? उसके बिना कैसे काम चलेगा? गोपाल! गायें कैसे आवेंगी और कैसे लौटेंगी? तेरी इस मुरलीने क्या-क्या कर डाल रहा है?—

गोपियोंने यह सुनकर उलाहनेभरी आँखोंसे गोप-बालकोंकी ओर देखा। समझे कि नहीं? इनके प्रिय पुराणोत्तमको ये बालक यों संधरे-संधरे ही ले जायें—भला, इनसे यह कैसे सहा जाय? तारा-सारा दिन श्रीहरिके बिना कैसे कठे? ये बालक बड़ों ऐसा करते हैं? ‘जाओ-जाओ तुम सब यहाँसे, आज हमारे हरि नहीं जायेगे। आज तो सब शख्सियोंने सुन्दर भोजन बनाकर हमारे और तुम्हारे कन्हैया-को जिमानेका निश्चय किया है। और फिर! फिर हम भी लेलेंगी कबूली, गुल्मी-डंडा, आँखमिचौनी—ऐसे बहुतरे खेल मोहनको खेलावेंगी—और रातको रास—’

ये भोले गोपबालक कहाँ जानते थे कि इन गोपियोंने श्यामसुन्दरको अपने नवनोंमें छिपा रखवा है। पर—पर सबके लिये वहीं तो रचा हुआ है—एकको संयोग, दूसरेको वियोग। उसी प्रकार इह अमूल्य दृश्यको देखकर मेरी भी आँखें खुल गयीं। मेरे श्याम! तुम्हारे बिना इस स्वप्नको सच्चा करनेवाला कौन है? कब? कह? जो मेरे हरि! जान-चक्षु देकर इस स्वप्नवत् संसारको स्वप्नके समान दिखानेवाली, मेरी रुची आँखें कब खोलेगे? और मेरे मोहन! कब अपने दिव्य रूपकी मधुर झाँकीके पासन दर्शन इस दीन इन्दुको कराओगे?—

मेरे गिरधर—सुख लीजिये मुरारी, दीन इन्दु है तुम्हारी!



विनय

अबके माध्यम ! मोहि उधारि ।
मगन हैं भव-अंचु-तिविमें कृपासिंथु मुरारि ॥
नीर अनि गंभीर माया लोभ लहरि तरंग ।
लिये जात अगाध जलमें गहे ग्राह अनंग ॥
मीन ईदिय अतिहि काटत मोह अध सिर भार ।
पग न इत उत धरन पावत उरशि मोह-सेवार ॥
काम क्रोध समेत तङ्गा पवन अति झकझोर ।
नाहिं चितवन देत तिय सुत नाक-नाँका ओर ॥
थक्यो बीच बेहाल शिहबल सुनहु करुनामूल ।
स्थाम भुज गहि काढि दारहु 'सूर' ब्रजके कूल ॥

—सुरदासजी

साधन-तत्त्व

(लेखक—श्री ‘अप्रबुद्ध’)

पाश्चात्य वैशानिकों और भारतीय वैदिकोंकी सत्यानु-सन्धान-पद्धतियोंमें जो बड़ा भारी अन्तर है, वह मानव-विचारके ‘आरम्भ-विन्दु’ के विषयमें है। वैदिकोंका अनु-सन्धान जिस स्थानसे आरम्भ होता है, पाश्चात्योंके अनु-सन्धानमें उसका कोई स्थान नहीं है। पाश्चात्योंकी विचार-प्रणालीमें पञ्चदशीमें दिये हुए दृष्टान्तके समान अपना विचार छोड़कर शेष नवसंख्यकोंका विचार होता है। इसके परिणाम यह हुआ कि उन्हें शेष संसारका तो शान हुआ; पर अपना शान न होनेसे शेष संसारका शान उनकी अपनी उच्चतियों किसी तरह भी लाभकारी नहीं हुआ। पाश्चात्य वैशानिकोंके महादाश्वर्यकारक अनेकानेक आविष्कारोंके रहते हुए भी उनके आत्माओं उनसे कोई तुसीं नहीं मिली। वह आत्मा अब मानो यह कह रहा है कि हमारे विचारने सुख-साधनोंकी तो लूप समृद्धि की, पर हम अपने अंदर इससे कोई परिवर्तन हुआ नहीं देखते। आलोक दि ग्रेटोंके समयमें इंग्लैंडकी सरकार घोड़ोंकी सवारी करती थी और अब हमारे वडे लाट विमानोंमें बैठकर सैर कर आते हैं। पर वाहरी दिखावेकी इस उचितियें जीवकी भीतरी उचिति क्या हुई?

वैदिक प्राग् पुरुषोंकी विचारप्रणालीमें विचारक आप ही अपने विचारका आरम्भस्थान होता है; कारण, अपने आपके रहनेसे जगत्‌के साथ अपना सम्बन्ध है। यदि आप न हो तो जगत्‌से या जगत्‌के कर्ता इक्षरसे भी क्या नाता! अपनेसे ही विचारका आरम्भ करनेपर सबसे पहले अपने शरीरका विचार होता है। विचारपूर्वक देखनेसे हमें अपने इस शरीरके अंदर दो प्रकारके प्रवाह काम करते हुए देख पड़ते हैं, जिनमेंसे एक स्वाधीन है और दूसरा पराधीन। ये ही दो प्रवाह बाह्य-जगत्‌में भी देख पड़ते हैं। हम भोजन करते हैं, भोजन करनेमें कौर उठाकर मुँहमें डालनेतक ही हमारा अधिकार है, पाचन करनेवाली शक्ति या उसके कार्यपर हमारा कोई अधिकार नहीं। यही बात बाह्य जगत्-के सम्बन्धमें भी है और हीलिये गीतामें भगवान्नने कर्म-मात्रमें धैवतं चैवात्र पञ्चमम् कहकर दैवको पञ्चम कारण बताया है। इस प्रकार ये जो दो प्रवाह हैं, इनका सामाजिक और एकीकरण किया जा सके तो अपने शरीरको अपने वशमें रखनेके लिये यह अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिये हमरे

वैदिक पूर्वजोंने जो प्रयत्न किया, उसीका नाम साधना या उपासना है। भगवान् शङ्कराचार्यने उपासनाका यही तो लक्षण किया है—‘उपासनं नाम समानप्रत्ययप्रवाह-करणम्।’ पाश्चात्य वैशानिक इन दो प्रवाहोंकी लवर भले ही रखते हों, पर इन्हें एक करनेकी कला वे निश्चय ही नहीं जानते।

ये दोनों प्रवाह एक दूसरेसे सर्वथा पृथक् नहीं बल्कि सम्बद्ध हैं। इनके छोर एक-दूसरेसे मिले हुए हैं। इसलिये हमारे साथमें जो छोर है, वह उस प्रवाहमें जा मिलता है जो हमारे हाथमें नहीं है। हमारे अंदर चार शक्तियाँ ऐसी हैं, जिनके इधरके छोर हमारे हाथमें हैं पर उधरके नहीं। ये शक्तियाँ हैं प्राण, मन, बुद्धि और वाक्। इन चारोंका एक-एक छोर हमारे हाथमें है, पर दूसरा हमारे हाथमें नहीं। यदि हम इन चारों शक्तिप्रवाहोंका सीढ़ियोंकी तरह उपरोग कर सकें तो ‘इतस्त्वन्याम्’ जो परा प्रकृति है, उसके दिव्य आनन्दमय परप्रदेशमें प्रवेश-लाभ कर सकें। वह परप्रदेश अतीनिद्र्य है।

इस इन्द्रियगोचर विश्वके परे अतीनिद्र्य अनन्त विश्वकी स्थिति है। उसीने इस स्थूल इन्द्रियगोचर विश्वके उत्पत्ति-स्थिति-लय हुआ करते हैं। इस स्थूल विश्वके सञ्चालनकी सारी शक्तिका आगम वहीसे होता है। यह स्थूल विश्व इस तरह पराधीन है। इसकी स्वाधीन सत्ता न होनेसे यह अनित्य और सुख-दुःखादि वैभव्यसे परिपूर्ण है और वह स्वाधीन होनेसे नित्य, एकरस, अखण्ड सचिदानन्दस्वरूप है। वैदिकोंने यह अनुसन्धान किया कि उस सचिदानन्दस्थितिको जीव कैसे प्राप्त हो सकता है। उन्हें यह प्रत्यक्ष हुआ कि किसी यन्त्रको चलानेवाली शक्ति जिस प्रकार उस यन्त्रके एक-एक पुर्जे और कील-कॉटेकमें व्याप्त रहती है, उसी प्रकार इस विश्वको चलानेवाली सचिदानन्दमयी शक्ति इसके एक-एक अणु-रेणुमें व्याप्त है। प्रथेक शरीरके एक-एक परमाणुमें वही शक्ति व्याप्त है। पर इसके प्रवाहको अपने अधीन रखना सुसाध्य नहीं है। यदि यह शक्तिप्रवाह अपने हाथमें आ जाय तो मनुष्य स्वयं सचिदानन्दस्वरूप हो जाय।

यह शक्ति हमारे अंदर पूर्वोक्त चार प्रकारसे काम करती

है। इन चार शक्तिप्रवाहोंमेंसे किसी भी एक प्रवाहको कोई अपने वशमें कर ले तो 'नदीमुखेनैव समुद्रमायिशत्' के न्यायसे वह उसके साथ विरलभावको प्राप्त होकर मूल संवित्से युक्त हो सकता है। इसी सिद्धान्तके आधारपर मूलतः चार साधन-मार्ग निर्दिष्ट हुए और पीछे उनके परस्पर मिलनके अनेक-विषय तारतम्यसे हजारों-लाखों साधनमार्ग चल पड़े। प्राण-शक्तिको हाथमें लेकर उससे अन्य शक्तिप्रवाहोंको अपने वशमें करके स्वयं शक्तिस्वरूप होना हठयोग कहलाया। मनकी शक्तिको बशमें कर एक तरफ शरीरसहित प्राण और दूसरी तरफ बुद्धि और वाणीपर विजय पाना और इस प्रकार शक्ति-स्वरूप होना राजयोग हुआ। इन दोनों मार्गोंका क्रम शरीर और मन अथवा इस जड दृष्टसे आरम्भ कर उसे चैतन्यमें रूपान्तरित करना है; परन्तु बुद्धि और वाणीका क्रम इससे मिलता है। इसके विपरीत है। इस क्रममें शरीरके एक-एक सूक्ष्म तत्त्वको चिन्दूप करते हुए अन्तमें जड शरीरको भी चैतन्यमय करना है। बुद्धिका आश्रय करके इस साधनको करना शान्योग है और गीताशास्त्रोक्त शरणागतिसे इसे सिद्ध करना भक्तियोग है। बुद्धि निश्चयरूपिणी है। नित्यरमाणु जीव अपनी इस बुद्धि या निश्चयसे ही जीवरूप होता है। इस कारण उसका सम्पूर्ण शरीर निश्चयके ही आधारपर है। अत्यन्त दृढ़ और वल्लभान् निश्चयसे सम्पूर्ण शरीर क्रमशः चिन्दूपमें परिवर्तित हो सकता है। परन्तु निश्चयके इस मार्गपर करोड़ोंमेंसे कोई एकाव ही ठहर सकता है। राजयोग और कर्मयोग भी, प्रतिकूल परिस्थितिके कारण, सक्षके लिये समानरूपसे लाभप्रद नहीं होते। भक्तियोगका तत्त्व प्रेम है और प्रेम ईश्वरकृपासे ही प्राप्त होता है, अन्य किसी उपाय या ग्रन्थोंके अध्ययनसे नहीं। इसलिये वैदिक ऋषियोंने चौथी शक्ति जो वाक् है, उसके आश्रयसे एक दूसरा मार्ग निर्दिष्ट किया। इस योग-मार्गका तत्त्व 'वेद' अर्थात् वेदसे निकला हुआ मन्त्रशाखा है। वर्णश्रम-धर्म और भावयोग मन्त्रशाखके ही आधार-पर विद्यत हैं। यह साधन सुलभ है। अपने-अपने वर्णके अनुसार आचार-पालन करने, वेद पठन करने तथा मन्त्र या नाम जपनेसे इसमें सिद्धि प्राप्त होती है।

वेदोंका परम प्रतियोगी आद्य तत्त्व 'एकमेयादितीयं ब्रह्म' है। इससे यह प्रतिसिद्धान्त आप ही निकलता है कि इस विश्वमें अकेले जीवकी ही स्थिति नहीं है, बल्कि वह विश्वका एक अविभाज्य, नित्यसम्बद्ध अज्ञ है। अतएव जीव और विश्व परस्पराश्रयी होते हैं, एक दूसरेको छोड़कर स्वतन्त्रता-

से वे कुछ भी नहीं कर सकते। इसीलिये गीतामें भगवान् ने कहा है—'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्यथ'। अतएव इन दोनोंको अपने परस्पर-कार्यमें सङ्गति बैठाकर ही सब कुछ करना पड़ता है। इसलिये जीव और विश्वका परस्पर सहायक होकर दोनोंका सच्चिदानन्दस्वरूपको प्राप्त होना—यही ब्रह्मलोककी स्थिति ही सकती है। मनुष्यके शरीरका जडत्व इसमें बाधक है; यदि यह जडत्व हटा दिया जाय तो इनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष होगा और यह काम सुगम हो जायगा। वक्तव्यकिंच यह सुगमता सिद्ध होती है।

वाक्यत्तिः आकाश-तत्त्व है। यह शब्दरूप है। यही विश्वका मूल कारण है। व्यक्त सृष्टिके आकाशस्वरूप मूलरूपमें प्रतीत होनेवाले शब्दसमूह ही मन्त्र या वेद हैं। ये स्वयम्भू हैं, इन्हें किसीने बनाया नहीं; ये निलिंदि, अपौरुषेय और ज्ञान, इच्छा, क्रिया—इन तीन शक्तियोंसे युक्त हैं। आधुनिक पदार्थविज्ञानसे भी यह सिद्ध किया जा सकता है कि यह जगत् जो कुछ है, वेदका ही व्यक्तरूप है। (इस विषयमें 'वैदिक धर्म' के वेदाङ्गमें मेरा 'वेदोंका अपौरुषेयत्व' लेख जिशासु पाठक देखें।) यहाँ संक्षेपमें इतना कहना पर्याप्त होगा कि प्राणशक्ति, मनःशक्ति या निश्चयशक्तिसे जो कुछ होता है वह सब वाक्यशक्तिसे भी होता है। इसीलिये कलियुगमें भगवज्ञाम-का विशेष माहात्म्य कहा गया है। आत्मार्पणरूप बुद्धियोग और वायूप मन्त्रयोगके मिश्रणसे ही मात्रयोगकी सुष्ठि होती है। भगवज्ञामसे सब कुछ हो सकता है—यह केवल अर्थवाद नहीं, परम शास्त्रीय सत्य है। माण्डूक्योपनिषद्में कहा है—

'ओमिल्येतदक्षरमिदः सर्वम् । सर्वे शेतद्वाह ।' 'सोऽय-मारमाध्यरक्षरमोक्तारोऽधिवात्रं पदा मात्रा मात्राश्च पादः ।' '...ङ्कार अस्मैव संविदास्यात्मनाऽस्यानं य एवं वेद ॥'

इन चार शक्तिप्रवाहोंके चार मार्गोंमेंसे किसी एकका आश्रय करके उपासना करनेसे अन्य भी सिद्ध हो जाते हैं। प्राण, मन और बुद्धिसे अक्षरब्रह्म आत्माकी प्राप्ति होती है और तब वेदोंका भी साक्षात्कार हो जाता है। वेदकी उपासना और नामसाधनसे उँका साक्षात्कार होता है और अक्षर-स्वरूप आत्मसाक्षात्कार भी। इस प्रकार किसी साधनाके द्वारा स्वाधीनन्वित हो जानेपर जीव या तो व्यतिरेकके द्वारा अमनस्तता लाभकर चिन्हणातीत हो सक्योग्यता प्राप्त कर सकता है अथवा अक्षरब्रह्मको प्राप्त कर निजनिर्दार, स्वानन्द-विलास करते हुए क्रमसुक्ति। ये ही दो मार्ग उसके समन्वय रहते हैं।

साधन-तत्त्व

(लेखक—भ्रौड़ालाप्रसादजी कानोड़िया)

इस वर्ष 'कल्याण' के विशेषाङ्क 'साधनाङ्क' द्वारा साधन-सम्बन्धी बातें पाठकोंकी सेवामें उपस्थित की जा रही हैं। ऐसे अवसरपर मैं भी अपने अपरिपक्ष विचारोंको पाठकोंके सम्मुख प्रकट कर रहा हूँ। मेरे विचारोंमें भूलों और त्रुटियोंका होना सामान्यिक है; अतएव प्रेमी पाठकगण अपने सौजन्यपूर्ण हृदयसे उनकी उपेक्षा करके सुझे क्षमा करेंगे और जितना अंश ठीक समझेंगे, उसीको उपरोगमें लाएंगे।

यह बात सर्वसम्मत है कि किसी भी ध्येयको प्राप्त करने-का मार्ग साधन ही है। ध्येय कोई भी क्यों न हो, उसकी सिद्धि साधनदारा ही होती है; और वह साधन ध्येयके अनुरूप ही हुआ करता है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि साधनके अनुरूप ही फलकी प्राप्ति होती है अर्थात् साधक स्वयं ध्येयका स्वरूप ही बन जाता है। यही ध्येयकी प्राप्ति है। साधनके अनेक भेद हैं। उन सभको मुख्यतः दो भागोंमें विभक्त किया जाता है—एक प्रारम्भिक या प्राथमिक साधन और दूसरे उत्तरकालिक साधन। इन दोनों श्रेणियोंके साधनोंका यथाक्रम अन्याय करनेसे ही साध्यकी सिद्धि होती है। यदि कोई साधक प्रारम्भिक साधनोंकी उपेक्षा करके उत्तरकालिक साधनोंके मार्गपर ही चलना चाहे तो ऐसे निश्चयके अनुसार न वह चल सकता है और न उसे लक्ष्यकी ही प्राप्ति हो सकती है। उस अवस्थामें वह अपने लक्ष्यको भूलकर किसी ऐसी ही वस्तुको प्राप्त होगा, जो ऐसे संकर साधनोंका परिणाम होती है। आवश्यकता है साध्ये के अनुरूप साधन करनेकी। साध्य वस्तुको प्रकटमात्र करनेसे वह प्राप्त नहीं हो सकती। वास्तवमें साधनके अनुरूप ही साध्य माना जाता है, उसको केवल वाणीषं व्यक्त करनेका कोई मूल्य नहीं है। साधन और साध्यका यह पारस्परिक अविचल सम्बन्ध प्राकृतिक एवं सनातन है। यदि कोई एक व्यक्ति यह कहे कि मेरा उद्देश्य सचाईपर चलनेका है, दूसरा यह कहे कि मेरा उद्देश्य किसीको न सलानेका है; परन्तु व्यवहारमें पहला व्यक्ति सत्यपर और दूसरा अद्वितीय हड़ नहीं है; तो उन दोनोंके भगवद्वीप न्यायसे सामान्यिक वही फल प्राप्त होगा, जो असत्यवादी एवं द्वितीयपरायणको होता है। इसमें परमात्मा किसीकी मुरीदत नहीं करते। जिस प्रकार इमलीका बीज

बोकर आमकी आदा करनेवाला अथवा जायफलके बदले जमालगोटा खाकर दस्त रोकनेकी चाह रखनेवाला निराश होता है, उसी प्रकार साधनाके क्षेत्रमें विवारीत साधन करनेवाला अपने लक्ष्यकी प्राप्तिसे हाथ धो बैठता है। साध्यकी सिद्धि उसी साधकको होती है जो टीक-टीक उसके अनुकूल साधन करता है, न कि जो केवल वाणीसे कहता है अथवा किसी सम्प्रदायविवेषका अवलम्बनमात्र करता है। केवल वाणीहारा साध्यका वर्णन करना अथवा उसके लिये किसी सम्प्रदाय-विशेषका अवलम्बनमात्र ग्रहण करना मुख्य बात नहीं है, बल्कि किया और भाव ही प्रधान हैं। यदि कोई मनुष्य बाहरसे भक्तिका आडम्बर करे, परन्तु उसकी किया और भाव लेगोंको ठगने तथा स्वार्थसिद्धिके लिये हों तो उसे कभी भी सच्चे भक्तकी स्थिति नहीं प्राप्त हो सकती, उसको अपने दम्भका फल भोगना ही पड़ेगा। अस्तु,

मेरे कथनका तात्पर्य यह है कि आधुनिक युगमें साधनों-का स्वरूप प्राचीन शास्त्रानुसोदित साधनोंके स्वरूपसे भिन्न होता जा रहा है। आजकल प्रायः भक्तियोगवाले साधक श्रवण-कीर्तनादिसे, शानदण्डवाले साधक श्रवण-मनन-निदिध्यासनसे, आषाङ्गयोगवाले साधक आसन-प्राणायामसे और कर्मयोगवाले साधक वाचनिक निष्काम कर्मसे ही अपनी-अपनी साधना आरम्भ करते हैं। कृपालु पाठकगण मुझे क्षमा करेंगे, मैं यहाँ किसीपर कठाक्ष नहीं कर रहा हूँ और न किसी साधन-पद्धतिकी व्यर्थता ही सिद्ध करने जा रहा हूँ। मेरा भग्नप्राय आच्यन्तरिक स्थितिमात्रको, जिससे मैं सुपरिचित हूँ, साधारणरूपसे प्रकट कर देनेका है और साय ही उपर्युक्त उत्तरकालिक साधनोंकी साध्यकात्मक उपेक्षाके सम्बन्धमें भी निवेदन करनेका है, जिसको आजकलके अधिकांश साधक प्रायः उपेक्षाकी दृष्टिसे देखते हैं। प्रारम्भिक साधनोंकी उपेक्षा करके सहसा उत्तरकालिक साधनोंका अन्यास करनेसे आजकल जो परिणाम निकलता है, उसको सभी जानते हैं; उसके सम्बन्धमें विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं है। कोई इमारत कितनी भी सुन्दर कर्मों न हो, यदि उसकी नींव कमज़ोर है तो वह जल्दी ही टूटकर गिर जायगी; उसकी सुन्दरता उसे नहीं बचा सकती, उसको बचानेवाली कोई चीज़ है तो उसकी

बुनियाद ही है। यही बात साधनके सम्बन्धमें है। आजकल साधनाके क्षेत्रमें यह गङ्गवडी बड़े जोरसे फैल रही है कि प्राथमिक साधनोंकी तो उपेक्षा कर दी जाती है और साधनोंको केवल उत्तरकालिक साधनोंकी ही चर्चा मुनायी जाती तथा शिक्षा भी दी जाती है। साधकरण भी संयमके अभावके कारण प्राथमिक साधनोंको कष्टसाध्य समझकर छोड़ देते हैं तथा उत्तरकालिक साधनोंका ही अस्यास करने लगते हैं। यदि उनसे कोई यह पूछे कि प्राथमिक साधनोंके धिना लिदिं कैसे ग्रास होगी तो उनकी ओरसे यह उत्तर मिलता है कि उत्तरकालिक साधनोंका अस्यास करनेसे प्रारम्भिक साधन आप-से-आप सिद्ध हो जायेंगे। पता नहीं, उन लोगोंका यह कथन कहाँतक ठीक है, जब कि केवल उत्तरकालिक साधनोंका अस्यास करनेवालेको जो फल मिलता है वह ग्रास सबके सामने है।

पाठकरण मुझसे पूछेंगे कि वे प्रारम्भिक साधन कौनसे हैं, जिनका इतना गौरव है तथा जिनके बिना उत्तरकालिक साधन व्यर्थ सिद्ध हो जाते हैं। अतः मैं यहाँपर संक्षेपमें कुछ प्राथमिक साधनोंका वर्णन करूँगा। उत्तरकालिक साधनोंका वर्णन यहाँ करनेकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि वे 'कल्याण' के द्वारा पाठकोंके सम्मुख अनेक बार आ उके हैं तथा 'साधनाङ्क' में भी उनका विस्तारपूर्वक वर्णन मिलेगा। यहाँ तो केवल उन प्राथमिक साधनोंकी ही कुछ चर्चा होगी, जिनकी अवश्य करके उत्तरकालिक साधनोंका अस्यास करनेसे वे सार्वक सिद्ध नहीं होते, परन्तु उन प्राथमिक साधनोंकी सिद्ध हो जानेपर उत्तरकालिक साधन आप-से-आप अनायास सिद्ध हो जाते हैं। यद्यपि प्राथमिक साधनोंकी भी अनेक भेद हैं, तथापि उनमें ये मुख्य हैं—

१-अहिंसा, २-सत्य, ३-अस्तेय, ४-ब्राह्मचर्य,
५-सार्वभौमप्रेम, ६-समस्त भूतोंके द्वितमें रत रहना,
७-समत्वभाव, ८-धृष्णाका अभाव, ९-निष्कपटता,
१०-दया, ११-क्षमा, १२-निरहङ्कारता।

इन बारह साधनोंको मैं प्रधानतथा प्राथमिक साधन मानता हूँ। अब संक्षेपमें इन सबका कुछ स्पष्टीकरण कर देना ठीक होगा। बधा—

अहिंसा—मन, वाणी अथवा शरीरसे किसीको कष्ट न पहुँचाना। हिंसा तीन प्रकारकी होती है—कृत, कारित और अनुमोदित। कृत वह है जो स्वयं की जाय, कारित

वह है जो दूसरेसे करायी जाय और दूसरेकी की हुई हिंसाका समर्थन करना अनुमोदित हिंसा है। इन तीनोंसे बचे रहना ही अर्थात् है (देखिये गीता अध्याय १६, श्लोक २ तथा योगदर्शन, साधनपाद, सूत्र ३०)।

सत्य-अन्तःकरण और इन्द्रियोंद्वारा जैसा अनुभव किया गया हो, उसी भावको प्रिय शब्दोंमें स्पष्ट वर्णन करना। इसमें प्रमाद लोभ, क्रोध, हास्त, भव आदिके द्वारा कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिये (गीता अध्याय १६, श्लोक २ तथा योगदर्शन, साधनपाद, सूत्र ३०)।

अस्तेय—जो वस्तु अपने अधिकारकी न हो, उत्पर किसी प्रकारसे भी अपना अधिकार न करना (योगदर्शन, साधनपाद, सूत्र ३०)।

ब्रह्मचर्य-आठों प्रकारके मैथुनोंसे भन, वाणी और शरीरको बचाये रखना (गीता अध्याय १७, श्लोक १४; योगदर्शन, साधनपाद, सूत्र ३०)।

सार्वभौमप्रेम-जगत्के सम्पूर्ण जीवोंके प्रति समानभावसे निष्कृत प्रेम रखना, उन सबको भगवानकी शूर्ति संकलना (गीता अध्याय १२, श्लोक १३)।

समस्त भूतोंके हितमें रत रहना-संसारके उपर्युक्त ज्ञानोंकी सेवामें रत रहना और उसकी सेवाको भगवानकी शूजा समझना, उनमें किसी प्रकारका भी भेदभाव न करना (गीता अध्याय १२, श्लोक ४)।

समत्वभाव-जगत्के सब जीवोंको समान अधिकारी समझ-कर उनके सुख-दुःखोंको अपने सुख-दुःखके समान समझना (गीता अध्याय १२, श्लोक ४, १८; अध्याय ६, श्लोक ३२)।

निष्कपटता-व्यवहार तथा कथन दोनोंमें खब्र प्रकारके कपटका अभाव होना।

दया-जगत्के किसी भी जीवके दुःखको देखकर द्रवित हो जाना और उसको अपने दुःखसे अधिक मानकर हार्दिक सहायताप्रीति है। उसे दूर करनेकी चेष्टा करना (गीता अध्याय १६, श्लोक २)।

क्षमा-किणीके द्वारा रुताये जानेपर भी उसके साथ प्रेमका व्यवहार करना (गीता अध्याय १६, स्लोक ३)।

निरहश्चमता-उपर्युक्त साधनोंको करते हुए अपनेमें किसी प्रकारके भी विशिष्ट भावका आरोप न होने देना। अपने ऊपर समस्त भगवत्प्रलेप प्राणियोंकी दया समझना, न कि मैं किसीपर दया करता हूँ—ऐसा अभिमान करना (गीता अध्याय १८, स्लोक १७)।

ये सभी साधन शाश्वानुमोदित हैं और इन्हींकी जड़ मजबूत होनेपर उत्तरकालिक साधनोंकी सफलता सिद्ध हो सकती है; परन्तु आजके युगमें अधिकांश साधक इनको कठिन समझकर इनकी उपेक्षा कर देते हैं और इनके बादके साधनोंकी ओर दौड़ते हैं। फल वही होता है, जो इन साधनोंकी विद्धिके अभावमें होना चाहिये। कुछ लोग तो यो ही अपनेको इन साधनोंसे सम्बन्ध मान लेते हैं। बस्तुतः इन साधनोंकी यथार्थ परीक्षा किसी दूसरेके द्वारा होनी भी कठिन है। साधक मनुष्योंको तो अपनी परीक्षा अपने-आप करनी चाहिये। यदि कोई साधक विवेकपूर्वक निष्पक्ष भावसे अपनी परीक्षा अपने-आप करे तो अवश्य ही उसके स्वरूपका सच्चा और स्पष्ट चित्र उसकी अँखोंके सामने आ जायगा। सच्ची चाह होनी चाहिये—अपने दोषोंको जानकर उनका नाश करनेकी, न कि उन्हें दलीलोंसे ढकनेकी। मनुष्यका बास्तविक स्वरूप कोई और नहीं दिखा सकता। भाजकलके लोग प्रायः साधु-महात्माओं अथवा विद्वान् पुरुषोंके पास जाकर उनसे अपने बास्तविक स्वरूपको दिसानेकी प्रार्थना किया करते हैं, परन्तु वे लोग यह नहीं समझते कि उनका सच्चा चित्र तो वे आप ही देख सकते हैं। गीताके अध्याय ६, स्लोक ५ में भगवान्ने स्वयं कहा है कि अपने आत्माकी अवेगति न करके अपना उद्धार अपने-आप करना चाहिये। जीवात्मा आप ही अपना मित्र और आप ही अपना शत्रु है। दूषण कोई भी शत्रु था मित्र नहीं है।

यदि कोई यह पूछे कि मेरा सच्चा चित्र और कोई नहीं प्रकट कर सकता, इसका क्या कारण है, तो इसका कारण स्पष्ट है। अपने दोषों और गुणोंका हम जितना जानते हैं, उनको यदि हम किसीके सामने वाणीद्वारा प्रकट करने लगें तो कुछ हदतक ही प्रकट कर सकेंगे, वाणीकी अक्षमताके कारण सब दोषों और गुणोंका यथार्थ वर्णन करना सहज नहीं है। पिर अपने भाव और उद्देश्यका वर्णन करना तो और भी कठिन है, क्योंकि उद्देश्य अन्तरकी

सूखम वस्तु है। अतः एक तो दूसरेके सामने वाणीके द्वारा अपने बहिरङ्ग एवं अन्तरङ्ग किया-कलापों और भावोंका ठीक-ठीक वर्णन नहीं हो पाता; दूसरे ऐसे संत-महात्माओंका मिलना भी कठिन है, जो चिकालदर्ढी हों और अन्तरकी सारी सूखम चालोंको जानते हों। इसलिये किसी मनुष्यका सच्चा स्वरूप कोई दूसरा नहीं बता सकता। जैसा कि ऊपर कहा गया है, मनुष्यके बाहर-भीतरका सच्चा चित्र प्रकट करनेवाला तो यह परमात्मा ही है, जो सबके अंदर आत्मरूपसे सदा स्थित है (अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः)। जो प्रकट-अप्रकट सब कियाओं और भावोंका साक्षी है तथा जिससे कुछ भी विशेषा नहीं जा सकता, वही परमात्मा हमारी सच्ची तस्वीर हमारे सामने रख सकता है; परन्तु तब जब कि हमें अपनी उस तस्वीरकी चाह होगी। वह तस्वीर हमारे कर्म और भावानुसार भद्री भी हो सकती है तथा सुन्दर भी; परन्तु होगी वह सर्वथा अङ्गत्रिम-असली। सच नात तो यह है कि मनुष्य अपनी भद्री और भयङ्कर तस्वीर देखना नहीं चाहता, देखनेकी इम्मत नहीं करता, उससे डरता है। इसलिये वह उसे भरसक छिपाये रखना चाहता है, परन्तु कवतक छिपा सकता है? एक-न-एक दिन तो उसका कुरुप, कलिमाओंसे युक्त और विकलाङ्ग चित्र उसके सामने आयेगा ही। पिर जब अनिवार्य होकर वह चित्र सामने आयेगा तब उसमें सुधार होना अत्यक्त कठिन होगा। इसलिये मृत्युके पहले ही आगे उस चित्रको देखकर दोषोंका पता लगा लेना चाहिये। तभी उसे दोषोंसे विनिरुक्त करके सुन्दर बनाया जा सकता है और अन्तमें भ्रह्मवेतन गन्तव्यम् को चरितार्थ किया जा सकता है। असलमें भगवान्‌की प्राप्ति भगवदाशानुसार आचरण करनेवालेको ही हो सकती है। जैसा भाव और व्यवहार भगवान्ने बताया है, वैसा ही भाव और व्यवहार साधकका होना चाहिये; अन्यथा उसकी साधनाकी सफलता और भगवत्प्राप्ति सम्भव नहीं है।

अन्तमें एक कहानीका संक्षिप्त उल्लेख करके लेख समाप्त करना है। किसी स्थानपर चार भक्त आपसमें भगवच्चर्चा कर रहे थे। उनके सामने यह विषय उपस्थित हुआ कि कैसे आचरणवालोंको भगवान् मिलते हैं। इसपर एक भक्तने कहा—

रोदा हो रह बाटका, तज मनका अभिमान।
ऐसा जो कोई दास हो, ताहि मिले अवशान॥

बूझे भक्तने कहा कि 'नहीं, यह मार्ग कुछ दोषयुक्त है। भगवत्प्रातिका सरल मार्ग में बताता हूँ'—

रोङ्ग मया तो क्या मया, पंथीको दुख देय ।

हरिजन ऐसा चाहिये, ज्ञान धरतीकी खेह ॥

तीसरे भक्तने कहा कि 'यह मार्ग भी ठीक नहीं। मैं बताता हूँ, सुनिषेये'—

खेह मया तो क्या मया, उड़ उड़ लागे अंग ।

हरिजन ऐसा चाहिये, ज्ञान पानी सरबंग ॥

चौथे भक्तने कहा कि 'यह मार्ग भी विल्कुल ठीक नहीं है।' तब उपर्युक्त कथन करनेवाले तीनों भक्तोंने पूछा कि 'अच्छा, अब आप बताइये, किसको भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है।' इसपर चौथे भक्तने यह कहा—

पानी मया तो क्या मया, जो सीरा ताता होय ।

हरिजन ऐसा चाहिये, हरि ही जैसा होय ॥

इस कथनको सुनकर सब भक्तोंको सन्तोष हो गया। बास्तवमें इस जगत्का ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जो प्रभुकी उपमाके योग्य हो। प्रभुकी उपमाके योग्य तो स्वयं प्रभु ही हैं। अतएव सच्चे कल्याणेन्द्रुं साधकोंको चाहिये कि वे भगवत्प्रातिके सब्र साधनोंका यथाक्रम अभ्यास करें। ऊपरके वर्णित प्रारम्भिक लाभन उपेक्षणीय नहीं हैं, बल्कि वे प्रधान हैं और प्रभुके व्यवहारके द्वातक हैं। उन्हींकी सिद्धिसे आगे चलकर उत्तरकालिक साधन भी सफल होंगे और फिर सबके फलस्वरूप भगवान्‌की प्राप्ति सुगम हो जायगी। ऐसा मेरा निश्चय है, आगे पाठकाण सबंधे इन बातोंकी भीमोसा करें।

इस युगका एक महासाधन

(लेखक—श्री वेन्द्रश्राय भगवानलाल दूरकाल एम्० ८०, विद्यावारिपि, धर्मविनोद)

आत्मकल्याणसिद्धिके लिये जगदीश्वर परमात्मा और महात्माओंने अनेक साधन निर्माण किये हैं। इनमें से अभी हमें ऐसे साधनका विचार करना है, जो वर्तमान समयमें काम दे, सबके लिये सुलभ हो और सबको लाभ पहुँचावे। कर्म-योग और ज्ञानयोग इस समयके लिये अनुकूल नहीं पड़ते और इनके अधिकारी भी बहुत कम हैं; कर्योकि अधिकांश मनुष्योंके मन राग और व्यागके मध्यवर्ती प्रदेशमें ही श्लते रहते हैं। ऐसे लोगोंके लिये भक्तिका मार्ग ही सरल और अनुकूल होता है।

शास्त्रोंने कलियुगमें भक्तिका ही प्राधान्य बताया है। वर्तमान युगके अधिकांश धर्मचार्यों और पंथप्रवर्तकोंने प्रधानतः भगवद्गीताकी ही उपदेश किया है। भगवान् श्रीमत् शङ्कराचार्यके भक्तिरसपरिष्ठुत लिलित मधुर स्तोत्र प्रसिद्ध ही हैं। चीन, जापान और चीन आदि देशोंमें भगवान् बुद्धदेव की मूर्तियोंका भक्तिभावसे पूजन-अर्चन ही सर्वत्र होता है। श्रीमद् रामानुज, श्रीमद् वल्लभ आदि आचार्य भक्ति-सम्प्रदायके ही आचार्य कहे जाते हैं। ब्रह्मसमाजके प्रचारक कैश्वचन्द्र देनेके भगवद्गीतिविषयक व्याख्यान ही उनके शोताओंको सबसे अधिक मुख्य किया करते थे। श्रीरामकृष्ण परमहंस भगवतीके परम उपासक भक्त थे ही। इजरत इसा और हजरत महम्मदके उपदेशोंमें भगवान्‌की बन्दनाके लिये

ही सबसे अधिक आग्रह है। अपने देशके मुखियात महात्मा गांधीका सबसे बड़ा भरोसा भगवान्‌की भक्ति और प्रार्थना ही तो है।

इस प्रकार भक्ति कल्याणका महामार्ग है। इस महामार्ग से चलनेवाला साधक तिःप्रेयस्के महाशिखरतक पहुँच सकता है और मार्गमें उसे अन्युदय और सब प्रकारके प्रेयस् भी प्राप्त हो सकते हैं, क्योंकि प्रेयस्के सरिता-सरोवर और अन्युदयके फल-पूलोंसे सुशोभित सुवासित रम्य घनोपवन इस मार्गमें मिलते ही हैं। साधककी जैसी इच्छा होती है, वैसा उसे लाभ होता है। प्रेयस्की इच्छा निन्द्य या तिरस्करणीय नहीं होती; क्योंकि अविद्या-काम-कर्मसे उत्पन्न जीवोंमें सैमैंसे नियन्त्रण जीव दैवी माया और वासनाओंसे ही बढ़ रहते हैं। इसलिये भगवान् श्रीकृष्णने सकाम भक्ति करनेवालोंको 'उदार' कहकर सम्मानित ही किया है। हाँ, राग-द्वैप वा किसी बाल्य विषयका अभिनिवेदा इस रागमें जिताना ही कम हो, उतनी ही शीघ्र साज्जदी सिद्धि होती है। भक्तिसे मुक्ति-जैसी सबोंत्तम तिद्धि भी जब मिल जाती है, तब किसी शुभ कामनाका लिद्ध होना कौन-सी बड़ी बात है? इषुके प्राचीन और वर्तमान उदाहरण भी असंख्य हैं, जिनकी उनरुक्ति यहाँ करनेकी आवश्यकता नहीं।

हाँ, सकाम भक्तिके परे जो प्रेम है, उसका होना बहुत

ही कुर्लंग है; अनेक जन्मोंके पुण्योंका उदय होनेसे ही उसकी प्राप्ति हो सकती है। भगवान् वेदव्याख्याने इस उल्टठ भक्ति-भाव या प्रेमका हृदयमें प्रादुर्भाव करानेके लिये एक महासाधन अवश्य बताया है। वह साधन है श्रीमद्भागवतका सप्ताह-यज्ञ। इस यज्ञकी महिमा भारतवर्षमें सर्वत्र विदित है और इसका प्रचार भी बहुत कुछ है। असंख्य नर-नारी आजतक इस यज्ञसे कृतक्रिय हुए हैं। परन्तु आजकलके नवयुवकोंको इसकी महिमाका कुछ भी पता न हो, यह यदी शौचनीय बात है। उन्हें यह जानना चाहिये कि सर्वोक्तुष्ट रस-साहित्यसे परिपूर्ण इस भक्ति-सद्दाचार-रसमृत ग्रन्थमें जीवन-परिवर्तन-की विलक्षण दिव्य शक्ति है। सप्ताह-यज्ञमें इसका जिस रूपमें विनियोग है, वह मानसशास्त्र और समाजशास्त्रकी लूपियोंसे भरा हुआ है। केवल भागवतका पाठ कर लेनेसे ही यज्ञ सम्पन्न नहीं होता। इसमें तो एक साथ ही भगवत्येरित किली दिव्य जीवन-संदेशकी प्राप्ति, अपने सब स्नेही-सम्बन्धियों-का भगवदधिकानमें एक दिव्य सम्मेलन, एक सप्ताहका अद्भुत ब्रह्मचर्यालन और तपधरण, आत्मस्वरूपकी पहचान-के लिये आवश्यक सावेदशिक ज्ञानका विहंगदर्शन, आर्यजाति-के दिव्य अमोघ आदर्शों, भावों और लिङ्गान्तरोंका आवर्तन—ये उत्तमोत्तम, अन्तर्मुख उपादेय कार्य सिद्ध होते हैं। सप्ताहमें भागवतका जो वक्ता हो, वह अवश्य ही भागवतनिष्ठ होना चाहिये।

यह सही है कि एक सप्ताहमें जल्दी-जल्दी सम्पूर्ण भगवत् पढ़ जाने या सुन लेनेसे भागवत-शानका पूर्ण आकलन और भागवत-रसका पूर्ण आस्वादन सामान्य मनुष्य नहीं कर सकते। पर इस सप्ताहकी योजना इसके लिये है ही नहीं। यह यज्ञ तो भगवान्-की मनोहारिणी वाङ्मारी मूर्तिकी झाँकी करने और जीवनके बन्ध क्षणको पानेके लिये किया जाता है। फरहाद शीर्णिको या रोमिओ जूलिएटको किसी जल्समें एक बार एक नियाह देख भर लेता है। वह उसकी महिमासे अभी अनभिज्ञ है; पर दर्शनमात्रसे वह उसका प्रेमी बन जाता है, अपना जीवन उसीकी अर्चनामें लगा देता और अन्तमें उसे उसीपर उसीं भी कर देता है। उसी प्रकार इस सप्ताहमें जीवात्मा अपने परम प्रेमास्पदकी वह झाँकी कर लेता है, जिसके करनेपर उससे अधिक प्यारी नीज संसारमें उसके लिये कोई नहीं रह जाती और जगत्से उसका नाता जो

कुछ रह जाता है, वह उसी प्रियतमके लिये और उसीके सम्बन्धमें ही रहता है।

सप्ताह-यज्ञमें भगवान्की वाङ्मारी मूर्तिका दर्शन होनेके साथ ही धर्मका भी दर्शन होता है, जो प्रसुका हृदय है और उस हृदयमें सदा रहनेवाली भक्तिमयी श्रीराधिकानी दर्शन देती है। इस केन्द्रकी परिक्रमा करते हुए जगत्के इतिहास और सृष्टिनिरूपण मिलते हैं और विराटरूपमें भगवान्के दर्शन होते हैं। एक ही परम लक्ष्यको लक्षित करनेवाली इसकी अत्यन्त बलशाली श्रोताओंको उस सम्में बाँध लेती है, जिससे वे कभी सत्यसे नहीं बिछुड़ते।

ऐसा यह विलक्षण ग्रन्थ है। पुराणग्रन्थ होनेसे शूद्रादिकोंके लिये भी अवशीय है और अवण करनेवाले भावका अत्यन्त उपकार करनेवाला है। यह कल्पनाका क्षणिक मनोराज्य नहीं, सत्यका सनातन साहित्य है। मनुष्य-जातिका परमाद्वित उसमें निहित है। जगत्के आच्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक रहस्य, धर्मका गृहतम तत्त्व, कर्मकी गहन गति, कालात्माकी अकल कला—इन सबका मर्मांदिधारण इस महान् ग्रन्थमें महासुनि भगवान् वेदव्याख्यकी क्रान्तदर्शिनी शुद्धिके द्वारा हुआ है।

श्रीमद्भागवतके निकट परिचयसे वह बात दृष्टिगत हुई है कि इसका जो एकादश स्कन्ध है, वह वेदमाता गायत्रीका ही महाभाष्य है। इसके ३१ अध्याय हैं। इनमें पहला और अन्तके दो अध्याय उपक्रम और उपसंहारके अध्याय हैं। इन्हे छोड़कर बाकी जो २८ अध्याय हैं उनमें प्रणव, तीन व्याघ्रति और चौबीस अक्षर गायत्रीके मिलकर २८ अक्षरोंका तत्त्व निहित है। इन २८ अध्यायोंमें प्रथम चार अध्याय योगेश्वरोंके उपदेश हैं; अनन्तर २४ अध्यायोंमें महायोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णका उपदेश है, जो छठे अध्यायमें ‘अथ’ शब्दसे आरम्भ होता है। यही गायत्रीका महाभाष्य कहा जा सकता है।

जब साधनका विचार करना है, तब पहले साध्यका विचार होना ही चाहिये। सात्त्विक विचारवाले पुरुषोंके लिये साध्यका प्रभ कोई कठिन प्रभ नहीं है। सामान्यतः सभी भनुष्य सुख, समृद्धि, उज्ज्वित या अन्युदय और निःश्रेष्ठ ही तो चाहते हैं और ये सब भगवक्षपासे अति शीघ्र और अनायास प्राप्त होते हैं। इसलिये सामान्य और

विशेष—उसके लिये भगवत्कृपा ही एकमात्र वाञ्छनीय बस्तु है अर्थात् भगवत्कृपा ही सबकी आश्च होनी चाहिये। मगवत्कृपारूपिणी यह कामधेनु सदा भगवानके उपरीप ही रहती है। इसे प्राप्त करनेमें भगवत्का सप्ताहयज्ञ

अत्यन्त अमोघ साधन है। इसीलिये इसे कलियुगका महासाधन कहा गया है। उसकी इस अग्राह महिमाके कारणसे ही महामुनिने स्पष्ट ही निर्देश किया है कि— साधनानि तिरस्कृत्य कठौ धर्मोऽयमीरितः।

विचार-साधन

(लेखक—श्रीमल्लामी शशूरतीर्थजी महाराज)

विशेषक आनन्दमयो विपश्चित्
स्वर्यं कृतश्चित् दिग्भेति कश्चित् ।
नान्योऽस्ति पत्न्या भवत्त्वम्यमुक्तं
विना स्वतत्त्वावगमं सुसूक्ष्मम् ॥ १ ॥
(भगवान् यत्प्रकार श्रीब्रह्म)

शोकरहित आनन्दमय विद्वान् स्वर्यं किसीसे भी भयभीत नहीं होता। अतिसूक्ष्म आमतत्त्वज्ञानके विना भवत्त्वनसे सुक्ति प्राप्त करनेका और कोई उपाय नहीं है ॥ १ ॥

नित्यं विमुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं
अन्तर्बहिःशून्यमन्त्यमात्रमनः ।
विज्ञाय सम्यद् विज्ञतत्त्वमेतत्
युमान् विषयामा विज्ञो विमुक्तुः ॥ २ ॥
नित्यं विमुं सर्वगतं अतिसूक्ष्मं, भीतर और बाहरसे शून्य एवं भेदरहित आत्माके स्वरूपको सम्यक् रूपसे जानकर मनुष्य पापसे रहित, तापसे रहित और मृत्युजय हो सकता है ॥ २ ॥

ब्रह्माभिज्ञत्वविज्ञानं भवत्त्वाक्षयं कारणम् ।
येनाहृतीयमानन्दं ब्रह्म सम्पूर्णते कुर्वेः ॥ ३ ॥
ब्रह्मके लाय आत्माका अभेदज्ञान तंसारसे मुक्त होनेका हेतु है। ब्रह्म और आत्माके ऐवज्ञानके द्वारा परिणितलोग अद्वितीय आनन्दस्वरूप ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

ब्रह्ममूर्त्युं संसर्ये विद्वाकावर्तते पुनः ।
विज्ञात्वमतः सम्यग् ब्रह्माभिज्ञत्वमात्रमनः ॥ ४ ॥

जो ब्रह्मको जानकर ब्रह्मस्वरूप हो गये हैं, उनका पुनः तंसारमें आवागमन नहीं होता। अतएव सम्यक् रूपसे आत्मा और ब्रह्मका अभेदज्ञान प्राप्त करना चाहिये ॥ ४ ॥

विद्येण सकलं विद्येण नानारूपं प्रीतमज्ञानाद् ।
ब्रह्मर्वै ब्रह्मैकं प्रश्नक्षायोषभावनादोषम् ॥ ५ ॥
सा० अ० ७५

यह समस्त जगत् जो अज्ञानके कारण नानारूपमें प्रतीत हो रहा है, तब उत्तातीय, विजातीय और स्वगतभेदसे रहित अद्वितीय ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ नहीं है; क्योंकि वैष्णवत्वमें भेदभवानाके दोष प्रत्यक्ष हो रहे हैं ॥ ५ ॥

मृक्ष्यर्यमूर्तोऽपि दृशो न भिजः
कुम्भोऽस्ति सर्वत्र तु मृस्स्वरूपम् ।
न कुम्भरूपाद् पृथगतिं कुम्भः
कुलो मूषा कल्पितनाममात्रः ॥ ६ ॥

भृत्यिकासे उत्तम वस्तु मृत्यिकासे भिज नहीं होती, वृत्त्वं ही मृत्यिकास्वरूप होता है। घटरूपसे घट पृथक् नहीं होता, क्योंकि ‘घट’ नाम और आकार मिथ्या अर्थात् मृत्यिकामें कल्पितमात्र होता है ॥ ६ ॥

केनापि दृक्षितया स्वरूपं
घटस्य सन्दर्शयितुं न शक्यते ।
क्षतो घटः कल्पित एव मोहा-
न्द्रदेव सर्वं परमार्थमूलम् ॥ ७ ॥

कोई भी मृत्यिकासे भिज घटके स्वरूपको नहीं दिखला सकता। अतः अज्ञानवश मृत्यिकामें घट कल्पित ही है, एकमात्र मृत्यिका ही सत्य और परमार्थरूप है ॥ ७ ॥

सद्ग्रह कार्यं सकलं सदेव
तन्मात्रमेतत् ततोऽन्यदक्षिणि ।
अहसीति यो वक्ति न तत्य भोदो
विनिर्गतो विद्वितत्वधर्मः ॥ ८ ॥

ब्रह्म सत्स्वरूप है, समस्त कार्य सत्स्वरूप है; ब्रह्मस्वरूप है; क्योंकि ब्रह्मसे भिज कोई वस्तु नहीं है। जो पुरुष कहता है कि ब्रह्मातिरिक्त कोई वस्तु है, उसकी वात दोषे हुए पुरुषके प्रलापके समान मिथ्या है; क्योंकि उसका मोह नष्ट नहीं हुआ है ॥ ८ ॥

मैं देह नहीं हूँ; क्योंकि देह इश्वरमान होता है, मैं द्रष्टा हूँ। मैं इन्द्रिय भी नहीं हूँ, क्योंकि इन्द्रियों भौतिक पदार्थ हैं और मैं अभौतिक हूँ। मैं प्राण नहीं हूँ, क्योंकि प्राण अनेक हैं और मैं एक हूँ। मैं मन नहीं हूँ; क्योंकि मन चक्रल है, मैं स्त्रिय हूँ, एकरूप हूँ। मैं बुद्धि नहीं हूँ; क्योंकि बुद्धि विजाती है, मैं निर्विकार हूँ, एकरूप हूँ। मैं तम नहीं; क्योंकि वह जड़ है, मैं चेतन हूँ, प्रकाशस्वरूप हूँ। मैं देह, इन्द्रिय आदिकी समष्टि भी नहीं हूँ, क्योंकि वे सब घटादिके समान नाशवान हैं—मैं अविनाशी हूँ, नित्यलाशी हूँ। मैं देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, अशान आदिको प्रकाशित कर, इन देहादिमें आत्माका अभिमान करनेवाले अहङ्कारको प्रकाशित करता हूँ।

यह सारा जगत् मैं नहीं हूँ, बुद्धिका विषयसमूह भी मैं नहीं हूँ; क्योंकि सुषुप्ति आदि अवस्थामें भी साक्षीरूपमें मेरी सत्ता प्रतीत होती है। मैं सुषुप्ति-अवस्थामें जिस प्रकार निर्विकार रहता हूँ, उसी प्रकार अन्य दो अवस्थाओं अर्थात् जाग्रत् और स्वप्नावस्थामें भी मैं निर्विकार रहता हूँ। स्वप्न और जाग्रदवस्थाके विषयादिके स्पर्शसे मैं विकृत नहीं होता। जिस प्रकार उपरिगत नील, रक्त प्रभूति वर्णोंके द्वारा स्फटिक लिस नहीं होता, उसी प्रकार काम, क्रोध आदि शरीरज दोषोंके द्वारा आत्मा लिस नहीं होता।

जो पुरुष देहवयोंको नित्य समझकर उसमें आत्माभिमान करता है, तथा जबतक उसमें इस प्रकारका भ्रम रहता है, तबतक वह सोहनाघ पुरुष नाना योनियोंमें जन्म ग्रहण करता रहता है। निद्रावस्थामें जो देह प्रतीत होता है, उसमें जो सुख-दुःखादिके अनुभव होते हैं, वे सब जिस प्रकार जाग्रत् शरीरको स्वर्ण नहीं कर सकते, उसी प्रकार जाग्रत् शरीरमें जो समझ दुःख-सुखादिका जान होता है, वह जात्माको स्वर्ण नहीं कर सकता। निद्रावस्थामें—स्वप्नमें जिस देहकी प्रतीति होती है, वह जाग्रत् शरीरके समान सत्य-सा प्रतीत होता रहता है। परन्तु न्यम-कल्पित शरीरके नष्ट होनेपर जाग्रत्-अवस्थाका शरीर नष्ट नहीं होता। इसी प्रकार जाग्रत्-अवस्थामें जाग्रत् शरीर आत्मवर् प्रतीत होता है, अर्थात् उस समय जाग्रत् शरीरमें ही आत्माभिमान होता है; जब वह जाग्रत् शरीर विनष्ट हो जाता है, तब आत्मा कभी नष्ट नहीं होता। स्वप्नकल्पित शरीरके नष्ट होनेपर जिस प्रकार जाग्रत्-अवस्थाका शरीर अवश्यिष्ट रहता है उसी प्रकार प्रभुद-

व्यक्तिके जाग्रत्-अवस्थाके शरीरके नष्ट होनेपर आत्मा अवश्यिष्ट रहता है।

जिस प्रकार जिस व्यक्तिको रज्जुमें सर्प-भ्रम नहीं है, वह व्यक्ति रज्जु देखकर भयभीत नहीं होता, उसी प्रकार जो व्यक्ति शानी अर्थात् भ्रमरहित है, वह संसार तथा तज्जनित तापत्रयसे मुक्त हो जाता है। जो व्यक्ति अश्व है और काम्य क्लोरमें निरत रहता है, वह निरन्तर संसार-चक्रमें भ्रमण किया करता है।

स्तूलशरीर मांसमय तथा सूक्ष्मशरीर वासना अर्थात् संस्कारमय होता है। पञ्च शानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, पञ्च प्राण, बुद्धि और मन—इन सतरह तत्त्वोंकी समष्टिका नाम है ‘सूक्ष्मशरीर’। अशानको ‘कारणशरीर’ कहते हैं। साक्षीरूप बोध ही इस विषय शरीरका प्रकाशक है। बुद्धिमें प्रतिविमित बोधका आभास ही पुण्य और पापका कर्ता है। वही कर्मके वश होकर सदा इहलोक और परलोकमें गमना-गमन करता रहता है। प्रथमपूर्वक इस बोधाभाससे शुद्धबोधको पृथक् करना चाहिये। जाग्रत् और स्वप्न-अवस्थामें ही बोधाभास दृष्ट होता है। परन्तु सुषुप्तिकालमें जब बोधाभास लयकी प्राप्त होता है, तब शुद्धबोध ही अशानको प्रकाशित करता है। जाग्रत्-अवस्थामें भी बुद्धिका स्थिरभाव शुद्ध धोषके द्वारा प्रकाशित होता है, तथा चिदाभासयुक्त जो बुद्धिके समस्त व्यापार हैं वे भी साक्षीचैतन्यके द्वारा प्रकाशित होते हैं। जिस प्रकार अग्निसे प्रतस जल तापुकु छोकर शरीरको तापप्रद जान पड़ता है, उसी प्रकार आभाससंयुक्त बुद्धि साक्षीचैतन्यके द्वारा प्रकाशित होकर अन्य वस्तुकी प्रकाशक बनती है। स्पृ-रसादि पञ्च विषयोंमें गुण-दोषरूप जो विकल्प हैं, वे बुद्धिस्थ क्रियास्वरूप हैं। चैतन्य स्पादि विषयोंके साथ इन सब क्रियाओंको प्रकाशित करता है। प्रत्येक क्षण बुद्धिके विकल्प (व्यापार)-समूह विभिन्न रूप धारण करते हैं, परन्तु चैतन्य विभिन्न रूप नहीं होता। जिस प्रकार मोतीकी मालामें मोतियोंके परस्पर विभिन्न होनेपर भी सूक्ष्म अन्यरूप नहीं होता, परन्तु सब मोतियोंमें पिरोया रहता है, उसी प्रकार बुद्धिके व्यापारोंके परस्पर भिन्न होनेपर भी चैतन्य सर्वश एक रूपमें अनुग्रह रहता है। जिस प्रकार मोतियोंके द्वारा ढका होनेपर भी सूत दो मोतियोंके बीचमें दिखलायी पड़ता है, उसी प्रकार चैतन्य बुद्धि-चैतन्यरूप विकल्पोंके द्वारा आवृत होनेपर भी दो विकल्पोंके बीचमें स्पृह प्रतीत होता है। पहले विकल्पके

नष्ट होनेपर जबतक दूसरा विकल्प उत्तम नहीं होता, तबतक निर्विकल्पक चैतन्य स्पष्टस्तुपरे प्रकाशित रहता है। जो लोग ब्रह्मकी अनुभूति प्राप्त करना चाहते हैं, उनको इसी प्रकार एक, दो या तीन क्षणोंमें विकल्प अर्थात् व्यापारके निरोधका क्रमशः यज्ञपूर्वक अन्यास करना चाहिये। जो अहं सचिकल्प चैतन्य है, वही अहं एकमात्र निर्विकल्प वस्तु है। विकल्प स्वतः-सिद्ध, स्वाभाविक अर्थात् अविद्याकल्पित हैं। प्रयत्नपूर्वक हन सब विकल्पोंका निरोध करना चाहिये। जब शरीरमें आत्मबुद्धिके समान ब्रह्ममें आत्मबुद्धि दृढ़रूपसे हो जाती है, तभी कृतकृत्यता प्राप्त होती है; पिछे शरीरीकी मृत्यु होनेपर भी पुष्प पुक्त हो जाता है, इसमें कोई भी संशय नहीं।

× × × ×

मायाकी दो शक्तियाँ हैं—एक विक्षेपशक्ति और दूसी आवरणशक्ति। विक्षेपशक्ति लिङ्गशरीरसे लेकर ब्रह्माण्ड-पर्यन्त जगत्की सृष्टि करती है। सृष्टि किसे कहते हैं? समुद्रमें जिस प्रकार फेन, बुद्बुद, तरङ्ग आदिका आविर्भाव होता है, उसी प्रकार सचिदानन्दरूप परब्रह्ममें नामों और रूपोंका जो विकास होता है उसीका नाम सृष्टि है। आवरणशक्ति शरीरके भीतर दृष्टा आत्मा और दृश्य अन्तःकरणके भेदको, तथा बाहर ब्रह्म और सृष्टिके भेदको आवृत्त करती है। यही आवरणशक्ति संसारका कारण है। स्थूलशरीरके साथ संयुक्त लिङ्गशरीर सक्षीके समुख विरजमान रहता है। घट चैतन्यकी लायके द्वारा सम्बन्ध होनेपर व्यावहारिक जीवके नामसे पुकारा जाता है। जीवका जीवत्व अध्यासके कारण सक्षीको जीवरूप प्रतीत होता है। आवरणशक्तिके नष्ट होनेपर अर्थात् साक्षी और जीवका भेद प्रकट हो जानेपर जीवत्व नष्ट हो जाता है। आवरणशक्ति सृष्टि पदार्थ और ब्रह्मके भेदको दक्षकर स्थित है, इससे ब्रह्म कार्यजगत्के रूपमें प्रकट होता है। मायाकी आवरणशक्तिका नाश होनेपर ब्रह्म और सृष्टि पदार्थोंका भेद प्रकट हो जाता है। सृष्टिकालमें ब्रह्म और सृष्टि पदार्थोंका विकार होता है; परन्तु वस्तुतः ब्रह्मका कभी विकार नहीं होता, आवरणशक्तिके कारण ब्रह्म विकारसुक जान पड़ता है।

प्रत्येक पदार्थमें पौँछ अंश दिखलायी पड़ते हैं—सत्ता, प्रकाश, आनन्द, रूप और नाम। इनमें पूर्योक्त तीन ब्रह्मके स्वरूप हैं, नाम और रूप जगत्के स्वरूप हैं। आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवीमें तथा देवता, पशु-पक्षी आदि तिर्यक् जाति और मनुष्य आदिमें सत्, चित्, आनन्द

अभिज्ञभावसे विद्यमान हैं; केवल नाम और रूपका भेद होता है। मोक्षकी इच्छा करनेवाले मनुष्यका कर्तव्य सचिदानन्द-वस्तुमें एकाग्र होकर नाम और रूपकी उपेक्षा करके सर्वदा हृदयमें अथवा बाहर समाधिका अन्यास करना है। समाधि दों प्रकारकी होती है—सचिकल्प और निर्विकल्प। पिछे, सचिकल्प समाधि भी दो प्रकारकी होती है—दृश्यानुविद्ध अर्थात् दृश्यसे सम्बद्ध और शब्दानुविद्ध अर्थात् शब्दसे सम्बद्ध। काम आदि सब दृश्य चित्तके धर्म हैं, इनकी उपेक्षा करके इनके साक्षीस्वरूप चेतनका ध्यान करना चाहिये। इसे हृदयस्थ दृश्यानुविद्ध सचिकल्प समाधि कहते हैं। मैं असंग हूँ, सचिदानन्द हूँ, स्वयंप्रकाश—दैतरहित हूँ। इस प्रकार निरन्तर एकतान चिन्तनप्रवाहमें हृदे रहनेका नाम है हृदयस्थ शब्दानुविद्ध सचिकल्प समाधि। अपने अनुभवस्तु रखके आवेदनके द्वारा कामादि दृश्य पदार्थ और शब्दसमूहकी उपेक्षा करके निर्वात स्थानमें स्थित दीपशिखाके समान जो समाधि होती है, उसे निर्विकल्प समाधि कहते हैं। हृदयके समान बहिर्देशमें या किसी भी वस्तुमें दृश्यानुविद्ध समाधिका अन्यास किया जा सकता है, उसमें नाम और स्पष्टको पृथक् करके सचिदानन्दस्वरूप ब्रह्मका ध्यान करना पड़ता है। ‘अस्वाण्ड, एकस, सचिदानन्द-स्वरूप ही ब्रह्मवस्तु है’ इस प्रकार अविच्छिन्नस्तुपरे चिन्तन करनेको शब्दानुविद्ध सचिकल्प समाधि कहते हैं। रसा-स्वादनके परिपाकके द्वारा पूर्ववत् जो स्वभवता आ जाती है, उसको निर्विकल्प समाधि कहते हैं। योगीको इस तरह छः प्रकारकी समाधिके द्वारा सदा काल व्यतीत करना चाहिये; शरीरमें आत्माभिमानके दूर होनेपर तथा परमात्मशान होनेपर जहाँ-जहाँ मन दौड़ता है, वहाँ-वहाँ रुमाधि लगती जाती है। श्रुति कहती है—

भित्ते हृश्यान्विद्धिश्च त्वं सर्वसंशयः।

क्षीयन्ते चास्य कर्मणि तस्मिन् दृष्टे परावदे॥

परावर ब्रह्मका दर्शन होनेपर हृदयकी कामादि ग्रन्थियाँ दूर जाती हैं, समस्त संशय छिप हो जाते हैं, तथा उकित कमोंका क्षय हो जाता है।

जीव तीन प्रकारके हैं—बुद्धि आदिके द्वारा अविच्छिन्न, चिदायास और स्वप्रकल्पित। इनमें अविच्छिन्न जीव परमार्थिक है। अवच्छेद कल्पित है, परन्तु अवच्छेद यथार्थ है। अवच्छेद ब्रह्ममें जीवत्व आरोपित है, ब्रह्मत्व ही स्वाभाविक है। ‘तत्त्वमसि’ आदि महाबाक्य पूर्ण तत्त्वके साथ

अवस्थाज्ञा जीवकी एकता प्रकट करते हैं, अन्य दो जीवोंके सम्बन्धमें कुछ नहीं कहते।

विषेषणात्मिक और आवरणशास्त्रिक से उक्त माया ब्रह्ममें अवस्थान करती है। वह माया ब्रह्मकी अखण्डताको आहृत करके उसमें जगत् और जीवकी कल्पना करती है। बुद्धिस चिदाभासके जीव कहते हैं, वही भोक्ता और कर्मकारक है। यह सब भूतभौतिक जगत् जीवका भोग्यस्वरूप है। अनादिकालसे लेकर मोक्षके पूर्वपर्यन्त जीव और जगत् व्यवहारकालमें वर्तमान रहते हैं, अतएव दोनों ही व्यावहारिक हैं। चिदाभासमें स्थित विषेष और आवरणशास्त्रिकरूपा निदामायाके द्वारा सृष्ट जीव और जगत्को आहृत करके नूतन जीव और जगत्की कल्पना करती है। जबतक प्रतीति है, तभीतक अवस्थिति रहती है; इसी कारण इस जीव और जगत्को प्रातिभासिक कहते हैं। क्योंकि स्वप्नसे जागे हुए व्यक्तिके लिये फिर स्वप्नमें इस जीव और जगत्की अवस्थिति नहीं रहती। प्रातिभासिक जीव प्रातिभासिक जगत्को बास्तविक समझता है, परन्तु व्यावहारिक जीव प्रातिभासिक जगत्को मिथ्या जानता है। व्यावहारिक जीव व्यावहारिक जगत्को सद्य समझता है, परन्तु पारमार्थिक जीव व्यावहारिक जगत्को मिथ्या जानता है। पारमार्थिक जीव अद्वितीय ब्रह्मको (जीव और ब्रह्मके ऐक्यको) पारमार्थिक जानता है, अन्य किसी बहुतुको पारमार्थिक नहीं समझता, बल्कि मिथ्या जानता है।

जलके धर्म मात्रुर्य, द्रवत्व और शैत्य जिस प्रकार तरङ्गमें व्याप्त होकर तरङ्गस्थित फेनमें व्याप्त होते हैं, उसी प्रकार साक्षीस्थित सचिदानन्द व्यावहारिक जीवसे सम्बद्ध होकर व्यावहारिक जीवके द्वारा प्रातिभासिक जीवमें व्याप्त हो जाते हैं। फेनके नष्ट होनेपर उसके धर्म द्रवत्व प्रमुखति तरङ्गमें अवस्थित होते हैं और तरङ्गके विलय होनेपर पूर्वके अनुसार जैसे जलमें अवस्थान करते हैं, उसी प्रकार प्रातिभासिक जीवके लय होनेपर सत्-चिन्त-आनन्द साक्षीमें अवस्थान करते हैं।

X X X X

जब अज्ञानके कारण अधिक्षेत्र, चिदाभास और बुद्धि—ये तीनों एक स्वप्नमें प्रतीत होते हैं, तब उसे जीव नामसे पुकारा जाता है। केवल अधिक्षेत्र चैतन्य (कृष्ण) जीव नहीं, क्योंकि अविज्ञान चैतन्य निर्विकार है। चिदाभास (बुद्धिमें चित्पतिविभ्व) भी जीव

नहीं, क्योंकि वह मिथ्या है। और केवल बुद्धि—भी जीव नहीं, क्योंकि बुद्धि जड़ है। अतएव चिदाभास, कृष्ण और बुद्धि—इन तीनोंका संयोग ही जीव कहलाता है। माया, चिदाभास और विशुद्ध आत्मा—इन तीनोंके संयोगको महेश्वर कहते हैं। माया और चिदाभासके मिथ्या होनेके कारण इनमेंसे कोई ईश्वर नहीं। आत्माको पूर्ण, विशुद्ध और निर्विकार होनेके कारण महेश्वर कहा जाता है। मायाके जड़त्वके कारण भी मायाको ईश्वर नहीं कहा जाता। अतएव माया और चिदाभास 'तत्' पदके प्रतिपाद्य ईश्वर नहीं हैं। अज्ञानके कारण जीव और ईश्वर प्रकाशित होते हैं। जिस प्रकार महाकाशमें धटाकाश और गृहाकाश कल्पित होते हैं, उसी प्रकार चिदाभासरूप अहमें जीव और ईश्वर कल्पित होते हैं। माया और मायाके कार्यके लय होनेपर ईश्वरत्व और जीवत्व नहीं रहता, क्योंकि चैतन्यरूप आकाशके उपाधिविहीन होनेके बाद अहं शुद्ध चैतन्यरूपमें अवस्थान करता है।

चित्पत्वरूप आत्मा उपाधिधरणके कारण जीवस्वरूपमें प्रकट होता है, परन्तु उपाधिके नाश होनेपर शिवस्वरूप परमात्माका ईश्वरत्व और जीवत्व कुछ भी नहीं रहता। शिव ही सदा जीव और जीव ही सदा शिव हैं। जिनको इन दोनोंकी एकता प्राप्त हो गयी है वे ही आत्मश हैं, और कोई आत्म नहीं। जिस प्रकार जल दूर्घमें मिलकर दूर्घके समान दिखलायी देता है, उसी प्रकार यह अनात्मस्वरूप जगत् आत्माके सहयोगसे आत्माके समान प्रतीत होता है। जीव स्थूलदेहादिसे आत्माको पृथक् करके मुक्त होता है। यदि स्थाणुमें चोरका आरोप होता है अर्थात् उसमें चोर होनेकी भ्रान्ति होती है तो इससे उस स्थाणुका कोई विकार नहीं होता, इसी प्रकार निर्विकार आत्मामें विभक्ता आरोप होनेपर भी आत्मामें कोई विकार नहीं होता। जहाँ स्थाणुमें चोरका अव्याप्त होता है, वहाँ स्थाणुका ज्ञान होनेपर चोरकी उपलब्धि नहीं होती, चोरकी उपलब्धि न होनेपर भय भी नहीं रहता। इसी प्रकार आत्मज्ञान होनेपर संसार नहीं रहता और संसारके न रहनेपर नाना प्रकारकी वस्तुएँ नहीं दिखलायी देतीं। अविद्याकल्पित समस्त अनर्थ निष्कृत हो जाते हैं और अविद्याकी निष्पत्ति होनेपर पुरुष परमानन्दस्वरूपको प्राप्त होता है।

अविद्या या अज्ञानके कारण जीव अपनेको ब्रह्मरूप नहीं मानता, ब्रह्मात्मैक्यज्ञानके द्वारा वह अज्ञान नहीं हो जाता है। इस अज्ञानके द्वारा ही जीव, ईश्वर और जगत्का

आपिभाव होता है। अधिष्ठान ब्रह्मका शान होनेपर यह अशान नहीं हो जाता है—जीव, जगत् और ईश्वरभाव विलुप्त हो जाते हैं, और तब यह कहा जाता है कि जीवका मोक्ष हो गया। अन्यथा जीव स्वरूपतः (इस ब्रह्म-अवस्थामें भी) मुक्त है। जीवके सुख, दुःख, भय, शोक और मोक्ष आदि सभी इसी अशानके फल हैं। जबतक जीवका अशान रहता है, तबतक व्यवहार रहता है। जबतक व्यवहार है, तबतक कर्म और उपासना हैं—तबतक पूजा-पाठ, प्रार्थना-स्तुति, होम, याग-यज्ञ—सभी अधिकारानुसार करने पड़ते हैं। देवता, ऋषि, गुरु सबकी आराधना करनी पड़ती है। और जबतक अशान रहता है, तबतक दुःखमिश्रित सुखकी ही जीव कामना करता है। वैकुण्ठ, विश्वलोक, ब्रह्मलोक आदि कामनाकी चरम सीमा हैं। यह कमसुकिका मार्ग है। कम-सुकिसे भी अन्तमें अद्वैतशानद्वारा निर्वाण प्राप्त होता है। परन्तु अद्वैतब्रह्मात्मैक्यशान सद्योऽुकिका मार्ग है।

शुरुयाचार्यप्रसादेन इहो चोदो यदा भवेत् ।

निरस्तशेषसंसारनिदानः पुरुषलदा ॥

(बायकृति ५०)

जब श्रुति और आचार्यके अनुग्रहसे हड़ शान उत्पन्न होता है, तब पुरुषकी संघरणकी कारणरूप समस्त अविद्या दूर हो जाती है।

विशीर्णकार्यकरणो भूतसूक्ष्मरनावृतः ।

विमुक्तकर्मनिगदः सद्य एव विमुच्यते ॥

(बायकृति ५१)

जब कार्यरूप शरीर और करणरूप इन्द्रियाँ विशीर्ण हो जाती हैं, सूक्ष्म भूतोंके आवरण दूर हो जाते हैं, कर्मरूपी बन्धन नष्ट हो जाते हैं, तब मनुष्य शीघ्र ही मुकिको प्राप्त हो जाता है।

अहं साक्षीति यो विश्वादिविषयैव पुनः । पुनः ।

स एव मुक्तो विद्वानिति वेदान्तदिग्दिमः ॥

(ब्रह्मशानात्मलोकाल)

जो देह, हन्त्रिय प्रभृति अनात्मासे आत्माको पृथक् करके वै साक्षीस्त्रूप हूँ इस प्रकारसे आत्माको जानते हैं, वे ही विद्वान् हैं, वे ही मुक्त हैं—यह समस्त वेदान्तकी धोषणा है।

देहप्रयमिदं भाति यस्मिन् ब्रह्मणि सत्यवत् ।

स एवाहं परं ब्रह्म जाग्रदादिविक्षणः ॥

(अद्वैतात्मूलति ८१)

जिस ब्रह्ममें देहत्रय सत्यके समान प्रतीयमान हो रहा है, मैं वही जाग्रदादिसे विलक्षण परम ब्रह्म हूँ ।

विश्वादिकं त्रयं यस्मिन् परमात्मनि संस्थितम् ।

स एव परमात्माहं विश्वादिविलक्षणः ॥

(बायकृति ८२)

जिस परमात्मामें विश्व, तैजस और प्राण—ये तीनों अवस्थान करते हैं, मैं विश्वादिसे विलक्षण वही परमात्मा हूँ ।

जाग्रदादित्रयं यस्मिन् प्रत्यगात्मनि सत्यवत् ।

स एवाहं परं ब्रह्म जाग्रदादिविलक्षणः ॥

(बायकृति ८३)

जिस विश्वस्यापी आत्मामें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—ये अवस्थात्रय सत्यवत् प्रतीयमान होते हैं, मैं जाग्रदादिअवस्थाओं-से पृथक् वही परब्रह्म हूँ ।

विश्वादित्रयं भाति यस्मिन् ब्रह्मणि नशरम् ।

स एव सचिदानन्दलक्षणोऽहं स्वर्णप्रभुः ॥

(बायकृति ८४)

जिस परब्रह्ममें विश्व, हिरण्यगर्भ और ईश्वर प्रभृति भूतित्रय प्रकाशमान होते हैं, मैं वही सचिदानन्दस्वरूप सत्य-प्रकाश परब्रह्म हूँ ।

सर्वभय भगवान्‌को प्रणाम करो

योगेश्वर कवि कहते हैं—

स्वं वायुमधिं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो दुमादीन् ।

सरित्समुद्रांश्च इरे: शरीरं यक्तिञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥

(श्रीमद्भा० १०। २। ४१)

आकाश, वायु, अग्नि जल, पृथ्वी, मह-नक्षत्रादि ज्योतिर्मण्डल, समस्त प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष आदि वनस्पति, नदियाँ और समुद्र सबके सब भगवान्‌के शरीर हैं, किसी भी जड़-चेतन पदार्थको भगवान्‌का स्वरूप समझकर अनन्यभावसे प्रणाम करना चाहिये।

साधना

(लेखक—स्वामीजी श्रीभूमानन्दजी महाराज)

भारतवर्षके थिभिन्न सम्प्रदायोंमें विभिन्न साधन-प्रणालियाँ प्रचलित हैं। जिस सम्प्रदायके प्रवर्तकने अपने शिष्योंमें जिस साधन-धाराका प्रचलन किया, आज वही एक-एक विशिष्ट पन्थके नामसे परिचित है। जैसे नानक-पन्थ, करीर-पन्थ और दादू-पन्थ हथादि। कहीं कहीं यह भी देखा जाता है कि एक सम्प्रदायकी साधना दूसरे सम्प्रदायकी साधनासे विभीत है। कोई साकारके उपासक हैं तो कोई निराकार-ज्ञानके पक्षपाती हैं। किसीके मतमें अहिंसा ही धर्म और साधन है, तो किसीने इसको भी साधनके अन्तर्गत भान लिया है। साधनके इस तरह विभिन्न आकार-प्रकार देखकर सहज ही मनमें एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि यथार्थ साधन क्या है और साधनके नामसे किसको पुकारना चाहिये। साधना एक है या बहुत, और साधनाकी कोई आवश्यकता भी है या नहीं—ये प्रश्न विचारशील मनुष्यके मनमें घबराहट पैदा कर देते हैं।

२. शब्दार्थकी और ध्यान देकर विचार करनेसे पता लगता है कि साध्य विषयके लिये जो प्रयत्न, चेष्टा और अनुष्ठान किया जाता है, उसीका नाम साधन है। यही बात है तो यह भी मानना ही पड़ेगा कि साधनका विचार करनेसे पहले साध्यक निर्णय करना आवश्यक है। साध्य यदि सभी-का एक हो और वह देश-काल-पात्रद्वारा परिच्छिन्न न होकर सार्वजनीन हो तो साधनका भी एक होना सम्भव है और वह सम्प्रदायगत विशेष विधि अथवा आचार नहीं हो सकता। अब विचार करना है कि साध्य क्या है।

३. जगत्के मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदि सभी प्राणियोंकी चेष्टा और क्रियाओंपर स्थिर चिरसे विचार करनेपर यह स्पष्ट ही दिखलायी देता है कि जीवका एक मात्र काम या साध्य 'सुख' है। इस सुख-प्राप्तिकी आशासे ही सभी जीव अपने जीवनके अन्तिम कालके चेष्टा या साधन करते रहते हैं, परन्तु आश्वर्य है कि तृप्त कोई भी नहीं होता, अभावोंकी पूर्ण निवृत्ति किसीकी भी नहीं होती। सुखबी इच्छासे चेष्टा करनेपर यह देखा जाता है कि बहुतोंको सफलता मिलती है और वे सुखके निदानस्वरूप भोगोंको प्राप्त भी कर लेते हैं, परन्तु उनके भी अभावों और

कामनाओंकी निवृत्ति नहीं होती, वरं ये उत्तरोत्तर बढ़ते ही जाते हैं। इसी बातकी ध्यानमें रखकर शास्त्रोंने कहा है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेव शास्त्रति ।
हविषा हृणवमेव भूय एवाभिवर्धते ॥

इससे यह साफ मालूम होता है कि हमलोग साध्यका निश्चय किये विना ही साधनमार्गपर बढ़ रहे हैं, हस्तिलिये सफलता मिलनेपर भी अभाव नहीं मिटता। अतएव विचार-शील पुष्पमात्रका यह सिद्धान्त होना चाहिये कि बल्कुतः क्षणसाथी मुख जीवकी आकाङ्क्षाका विषय नहीं है, वह तो अतादिकालसे अभावरहित निय मुखकी ही खोजमें लगा है और वही उसका साध्य है; परन्तु वह इस बातको नहीं जानता कि किस उपायसे अथवा किस विषयके द्वारा वह सुख प्राप्त हो सकता है और उसके अभावोंका सर्वथा अभाव हो सकता है। जगत्के सभी प्राणी इस एक ही अवस्थामें स्थित हैं; इसीसे यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि जब साध्य एक है, तब साधन भी एक ही होगा।

४. अब इस बातपर विचार करना है कि अभाव किसको है? हमारे इस देह और देहके संयोगसे जो कार्य, कर्म, सुख-दुःखादि-बोध, कामना-यासना आदि हो रहे हैं, उनकी ओर देखनेसे यह पता लगता है कि देह एक जड वस्तु है। यह अस्थि-वर्तम, मांस-रक्त, मेद और मज्जा आदिका समष्टिभूत पिण्डमात्र है। दूसरी ओर यह भी देखा जाता है कि इसमें शान, बुद्धि, विचार और अनुभूति आदि विद्यामान हैं और इनमेंसे कोईसा भी जड़का धर्म नहीं है। अतएव यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि यह देह जड और चैतन्यका समिक्षण है। इह देहमें ही इच्छा-शक्तिका विकास भी देखनेमें आता है और जटदेह उस इच्छाके अनुसार ही परिचालित होती है—यह भी देखा जाता है। अब प्रश्न यह है—यह इच्छा किसको है? कौन इस देहका कर्ता है? शास्त्रोंसे पता लगता है कि जो कर्ता है उसे देही, चैतन्य, ज्ञान, अक्षर, आत्मा और जीव आदि अनेकों नामोंसे अभिहित किया गया है। हम जिस समय कहते हैं 'यह मेरा शरीर है', उस समय भी हमारे अंदर वह ज्ञान रहता है कि शरीर 'मैं' नहीं है, शरीर 'मेरा' है; यहाँ भी

हम यह सीकार करते हैं कि 'मैं' देहाती है, तो भी हम उसे पहचानते नहीं ! सूक्ष्मरूपसे विचार करनेपर यह पता लगता है कि अभावका बोध उस देही अथवा आत्माकी ही है और उसीकी इच्छासे यह जड़देह अभावकी पूर्तिके लिये उसीके द्वारा परिचालित हो रही है । परन्तु अभावकी निवृत्ति करनेवाले विषयको न जाननेके कारण हमलोगोंने देहके जामावको ही आत्माका अभाव समझ लिया है और प्राणपर्यन्त चेष्टा करके दूसरे जड़देहके द्वारा इस देहके अभावकी पूर्तिमें लग रहे हैं । इसीलिये आत्माकी आकाङ्क्षा निष्ठृत नहीं होती और वह दूसरे सुखकी लालसासे बार-बार दूसरे विषयोंकी प्राप्तिके लिये देहको नियुक्त करता है । जीव इसी प्रकार एक विषयको छोड़कर दूसरे विषयको ग्रहण करता है और पक्क योनिसे दूसरी योनिमें जाकर भटक रहा है और भटकता रहेगा ।

५. अब प्रश्न यह है कि फिर उपाय क्या है ? विचार करनेपर पता लगता है कि हम इन्द्रियग्रास विषयोंके द्वारा अतीनिदिय आत्माके अभावकी पूर्तिके लिये चेष्टा कर रहे हैं; इसीसे आत्माकी आकाङ्क्षा पूर्ण नहीं होती और विषय-वासना बढ़ती रहती है । विषय ही यदि आत्माके अभावको पूर्ण कर सकता तो आकाङ्क्षित विषयकी प्राप्ति होनेपर उसको लेकर आत्मा चुप हो जाता । हम बहुत बार मनचाही चीज़ पाते हैं; परन्तु उसे पाकर हम चुप क्यों नहीं रह सकते ? उस वस्तुमें मन क्यों हट जाता है और फिर दूसरे विषयकी कामना क्यों करते हैं ? उदर और उपर्युक्तके सुखको ही तो जीव चरम सुख मानता है; परन्तु उनमेंसे किसीको लेकर वह स्थिर नहीं रह सकता । कामनाके समय विषयमें जितने सुखकी कल्पना की जाती है, भोगके समय अथवा प्राप्तिके दूसरे ही क्षण वह फिर उतने सुखकी वस्तु नहीं मारूम होती; फिर किसी दूसरे अभावका बोध होने लगता है । देखा जाता है जीवका अभाव निय है, परन्तु उसके सुखके विषय और जिसके द्वारा वह सुख-भोग करता है वह शरीर—ये दोनों ही अनिय हैं । इसीलिये अनिय पदार्थके द्वारा निय अभावकी निवृत्ति नहीं होती । वास्तवमें आत्मासे इन्द्रियग्रास विषयका अभाव नहीं है; इन्द्रियग्रास विषय तो देहको अतिकमकर देहीके निकट-तक पहुँच ही नहीं सकता । इसीलिये देहीका अभाव नहीं मिटता । आत्माको आत्मस्वरूपका ही अभाव है और उस अपने स्वरूपकी प्राप्तिसे ही उसके अभावकी निवृत्ति होकर उसे सुख हो सकता है और वही जीवमात्रका साध्य है ।

६. विचारशील और मुमुक्षु साधक कभी साधारण वाय साधनसे सन्तुष्ट नहीं होते । कारण, वे जानते हैं कि इन्द्रियग्रास विषयोंके द्वारा अतीनिदिय आत्मस्वरूपका पता नहीं लग सकता । इसीलिये उपनिषद् भी कहते हैं—

न शाश्वते प्राप्तते हि ध्रुवं तत् ।

इसीलिये वे आन्तर साधनकी खोजमें लगे रहते हैं । परन्तु ये देह का विषय है कि इस आन्तर साधन या स्वरूप-साधनके बका और श्रोता दोनों ही दुर्लभ हैं—‘श्रोता बका न दुर्लभ’ । जो कुछ भी हो, अब प्रश्न यह है कि वह आन्तर साधन किस प्रकार किया जा सकता है ? उपनिषद् हिन्दू-धर्मके शेष प्रामाणिक शास्त्र हैं । उपनिषदका उपदेश किसी भी निर्दिष्ट संघर्षदारणविशेषके लिये नहीं है । मनुष्यमात्र ही औपनिषद साधनके अधिकारी हैं । अतएव पहले वह देखना चाहिये कि इस सम्बन्धमें उपनिषद् क्या कहते हैं ?

७. उपनिषदोंने प्रणव-साधनको ही श्रेष्ठ साधन बतलाया है—

(क) स्वदेहमरणं कृत्वा प्रणवं चोत्तरणिम् ।

प्रयाननिर्मथनाभ्यासादेवं पश्येत्तिगृह्यवद् ॥

(ख) प्रणवो भनुः शरीरात्मा ब्रह्म तदृक्षमुच्यते ।

अप्रयत्नेन वेद्यव्यं वाशवत् तन्मयो भवेत् ॥

(ग) प्रणवात्मकं ब्रह्म ।

(घ) प्रणवात्मभवो ब्रह्म प्रणवात्मभवो हस्ति ।

प्रणवात्मभवो लदः प्रणवो हि परे भवेत् ॥

अपने देहको नीचेकी अरणि और प्रणवको उपरकी अरणि करके ध्यानरूप मन्त्रनसे छिपी हुई वस्तुके समान देखकी देखें । प्रणव धनुष है, आत्मा राण है, उस वाणका लक्ष ब्रह्म है । जितेन्द्रिय पुरुषको उसे सावधानीके साथ देखना चाहिये । वाणके समान तन्मय हो जाय । ब्रह्म प्रणवात्मक है । प्रणवसे ब्रह्म है, प्रणवसे शरीर है, प्रणवसे शब्द है और प्रणव ही पर तत्त्व है ।

परन्तु यर्तमान युगमें प्रणवके स्वरूपको बहुत योड़े लोग ही जानते हैं । अधिक लोग तो ॐकारके उच्चारणको या मन ही-मन जब करनेको प्रणव-साधन समझते हैं । परन्तु उपनिषद्के कथनानुसार ॐकारका उच्चारण नहीं किया जा सकता । भयोंकि वह स्वर या व्यञ्जन नहीं है और वह

कण्ठ, होठ, नासिका, जीम, दौत, तांडु और मूर्ख आदिके
योगसे या उनके बात-प्रतिशतात्से उचारित नहीं होता—

अबोषमव्यञ्जनभस्त्रं च

अकण्ठताल्प्रोष्टमनासिकं च ।

अरेकज्ञातशुभ्योष्टवर्जितं

यदक्षरं च भरते कदम्बित् ।

८. अब प्रथम यह है कि साधारणतः सभी शब्द कण्ठादिके द्वारा ही ज्ञनित होते हैं। परन्तु यदि प्रणव कण्ठादिमें वायुके बात-प्रतिशतके बिना ही ज्ञनित होता है, तो फिर वह ध्वनि भया है और किस प्रकारसे, किस उपायसे अथवा किस साधनामें वह अनुभूत हो सकती है। उपनिषदादिमें इस ध्वनिको अनाहत नाद कहा गया है, तन्मविदेशमें इसका नाम है 'अकृतनाद'। जिस साधनका अभ्यास करनेवेर यह नाद स्वतः ही उत्पन्न होता है, वही इसका वास्तविक साधन है और वही यथार्थ उपाय है; अन्यान्य साधन तो अनुपाय ही हैं—'अनुपायः प्रकीर्तिः'।

९. अब विचारका विषय यह है कि वह ध्वनि क्या है। जगत्के सुष्ठु लभी विषयोंकी ओर जरा सूक्ष्मरूपसे देखनेपर यह पता लगता है कि सभी जीवों और पदार्थोंमें एक किया या स्पन्दन (Vibration) है। विज्ञान बतलाता है कि क्रियामात्रमें ही दो प्रकारकी गति है—एक आकर्षण (Attraction) और दूसरी विकर्षण (Repulsion)। वर्तमान युगमें यन्त्रादिकी सहायतासे विज्ञानने यह प्रमाणित कर दिया है कि पथर, मिट्टी आदिमें भी यह किया सूक्ष्मरूपसे होती है। मनुष्य पशु-पक्षी-कीट-पतझडादिमें तो यह आकर्षण-विकर्षणात्मक क्रिया सुख्यरूपसे दिखलायी देती है। योड़में यह कहा जा सकता है कि धारा जगत् दी एक आकर्षण-विकर्षणात्मक क्रियाके द्वारा नियमित हो रहा है। जगत्का 'जगत्' नाम भी इस अविराम स्पन्दन या गतिको लक्ष्य करके ही रखा गया है—गम् + किं। साधनके सम्बन्धमें यहाँ मनुष्य-देहकी क्रियापर ही विचार करना है, इसलिये उसी क्रियाकी आलोचना करेंगे और साथ ही उसके साथ साधनाका क्या सम्बन्ध है, यह भी दिखलानेकी चेष्टा की जायगी।

१०. हमारे ध्यान-प्रधानकी गतिकी ओर देखते ही यह पता लगता है कि एक गति अन्ने-आप ही नासिकाके भीतरके ऊपरको उठती है और फिर नासिकाके छिद्रोंसे वह

बाहर निकल जाती है। विज्ञान कहता है कि जहाँ स्पन्दन है, वहाँ स्पन्दनके अनुसार शब्द है; जहाँ शब्द है, वहाँ शब्दके अनुस्पृ स्पन्दन है। परन्तु वह शब्द सुनायी है भी सकता है और नहीं भी, क्योंकि अवणेन्ड्रियकी शक्ति एक तिर्दृष्टी सीमावाली ही है; अतएव यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हमारे शरीरकी इस स्वाभाविक ऊँची-जीची दोनों क्रियाओंमें भी अपना-अपना शब्द या व्यनि है। एक बल और है, जहाँ किया है वहाँ कर्ता भी है। वह कर्ता कौन है? यदि कहें मैं ही कर्ता हूँ तो विचार करनेपर यह बात नहीं मानी जाती। कारण, सुषुप्ति-अवस्थामें तो मेरा कोई कर्तृत्व दी नहीं रहता, यहाँतक कि 'मैं' ज्ञान भी नहीं रहता; परन्तु यह किया तो उस समय भी बराबर चलती ही रहती है। माताके गर्भमें भी सर्वस्य जीवके द्वारीरमें बहुत सूक्ष्मरूपसे यह क्रिया चलती है और इसीसे उसका शरीर बढ़ता रहता है। अतएव यह स्वीकार करना होगा कि देहमें होनेवाली इस क्रियाका कर्ता 'मैं' नहीं हूँ। इसका कर्ता निश्चय ही कोई दूसरा है, वही इस देहमें रहकर इस अज्ञन कलको चला रहा है। वह यदि मेरा 'मैं' हो, तो भी, उसके साथ मेरा परिचय नहीं है, उसका स्वरूप मैं नहीं जानता। अर्थात् मैं मेरेको ही नहीं पहचानता। मेरा परिचय और सम्बन्ध तो केवल देहके ही साथ है, वह तो देहातीत है; यह देह उत्तीर्णी है। तो उस 'मैं' का पता लगाना आवश्यक है। उसका पता लाना और आत्मस्वरूपको जानना एक ही बात है; इसीसे इसाई धर्मोपदेशमें भी 'अपनेको जानो' (Know Thyself) कहा गया है। इस देहगत आत्माका स्वरूप जानेके लिये भी साधनकी ही आवश्यकता है। वह साधन क्या है?

११. नासिकाके अंदरसे जो आकर्षण-क्रिया शब्दायमान होकर धीरे-धीरे ऊपरकी ओर उठती है, उस शब्दकी ओर जरा मन लगानेपर यह अच्छी तरह समझमें आ सकता है कि वह शब्द अस्पष्टरूपसे ऑकार-जैसा है। यह शब्द कण्ठ-तांडु आदिके बात-प्रतिशतकी अपेक्षा नहीं करता। यहाँतक कि नासिकायत जो बायु उस आकर्षणात्मक क्रियाका अनुसरण करता है, उसको भी अपेक्षा नहीं करता। उस 'अॅकार'का विश्लेषण करनेपर जाना जाता है कि यह 'उ' और 'म' इन दो वर्णों या शब्दोंकी सम्मिलित है, यह 'अॅकार' ऊपर उठनेके समय करते 'उ' का परित्याग करके 'म' करमें पर्यावरित या लीन होता है। यह अस्थर

'म' ही साधन है। इसीसे उपनिषदमें कहा है—'अस्वरेण मकारेण परं गच्छन्त्यनामयम्।' इस अस्वर 'म'कारका शेष अंश ही प्रणव या औंकार है और उसका निःशब्दमें लय होना ही ब्रह्मानुभूति, आत्मानुभूति या स्वरूपात्मा इत्यादि है। इसीसे तन्त्रमें कहा गया है—

निःशब्दं तु विजानीयात् स भावो ब्रह्म पार्वति ।

उपायविदेशके द्वारा इस मकारात्मक अवस्थाको प्राप्त किया जा सकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। इसीसे भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—‘शक्योऽचातुर्मुपातः।’ किसी भी उपायसे मकारात्मक अवस्थामें पहुँच जानेपर भी, इमरे देहमें जो स्वाभाविक विकर्णात्मक किया है, वह पुनः उस अवस्थाको निघ्नगमिनी करके पूर्ववस्थापर पहुँचा देगी। निघ्नगमिनी प्रश्नाकी गति और शब्दपर ध्यान देनेसे यह स्पष्ट समझमें आ सकता है कि वह शब्द अस्पष्ट रूपसे हुकारके जैसा है। इस निघ्नगमिनी हुकार शब्दका विकर्ण करनेपर हमें 'ह + उ + म' मिलते हैं। अर्थात् उम् अवस्थाको हुकारात्मक निघ्नगमिनी क्रिया ही स्वरूपसे न्युत करती है। अब आवश्यकता यह है कि किस उपायसे इस गिरानेवाले हैतान 'ह'कारके चंगुलसे छूटा जाय। एकमात्र साधनाके द्वारा ही इसके कराल कबलते छुटकारा मिल सकता है, अन्य कोई उपाय नहीं है।

१२. जिस कौशिलका अवलम्बन और अभ्यास करनेपर हकारात्मक बहिविक्षण (Repulsion) के क्रमशः मुदु होते होते आकर्षणात्मक क्रिया क्रमसे ऊपरकी ओर जाती है और समयपर शेष सीमापर पहुँचकर निश्च द्वाकर निषिक्य अवस्थाको प्राप्त हो जाती है, उसका नाम हंस योग है। यही लययोगका शेषुतम पथ है। इसीके दूरसे नाम हैं— सहजयोग, सहजप्रथ, सहज प्राणायाम, आत्मयोग, अजपासाधन और प्रणव-साधन इत्यादि।

इस योगायामके द्वारा आत्मशान स्फुरित होता है, इसीसे उसे 'आत्मयोग' कहते हैं। बहिविक्षेपणका लय होता है, इसीसे इसका नाम 'लययोग' है। इस साधनमें अलग मन्त्र-जप नहीं करना पड़ता, इसीसे यह 'अजपा-साधन' कहा जाता है। इसका अभ्यास देहस्थित सहजक्रिया और शब्दका अवलम्बन करके किया जाता है, इसीसे इसका नाम 'सहज-साधन' है। इसीके द्वारा प्रणवमें मनका लय होता है, इसीसे यह 'प्रणव-साधन' कहलाता है और 'ह' तथा 'सः'

सा० अ० ७६—७७—

इन दो शब्दोंके योगसे इस साधनका अभ्यास करना पड़ता है, इसीसे इसको 'हंसयोग' कहते हैं। यह 'हंस' शब्द और प्रणव अभिन्न हैं। इसीसे उपनिषदमें कहा है—‘हंसप्रणव-योगेदः।’ श्रुतियुगमें इस साधनका बड़ा प्रचार था। क्रमशः मनुष्योंकी धारणाशक्तिका ह्रास और वास्त्र विद्येपकी अधिकता होनेसे भाँति-भाँतिके स्वर-व्यञ्जनयुक्त मन्त्रोंकी सुष्ठि होने लगी और उन्होंके साथ साथ नामा प्रकारकी कल्पित मूर्तियोंका मिश्रण होनेसे साधना एक बात व्यापारके रूपमें परिणत हो गयी। इसी प्रकार सूक्ष्म प्रणव-साधन क्रमशः स्थूल पूजाके रूपमें परिणत हुआ। इसीसे शाङ्कमें कहा गया है—

साधकानां हितार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ।

अवश्य ही यह स्वीकार करना पड़ता है कि 'हंसयोग' का अभ्यास करना सघके लिये सम्भव नहीं है। परन्तु जानकार गुरुदेवसे कौशल सीखकर दीर्घकालतक दृढ़ताके साथ साधना करनेसे साध्य आत्मस्वरूपकी प्राप्ति अवश्य ही होती है। आत्मस्वरूपकी प्राप्ति, अभावनिवृत्ति और नित्यानन्दकी प्राप्ति—एक ही बात है। इस अवस्थाकी प्राप्ति ही जानेपर साधकके लिये पिर चाहने वा पानेयोग और कुछ भी नहीं रह जाता। उसके सारे सन्देह दूर हो जाते हैं। जाननेके लिये पिर अन्य कोई विषय ही नहीं रह जाता। शङ्कराचार्यने इसी अवस्थाको 'ब्रह्म' बतलाया है—

यत्प्राभासापरो लाभो यसुस्वाक्षापरं सुखम् ।

यज्ञानाक्षापरं ज्ञानं तद्ब्रह्मेत्यवारयेत् ॥

१३. आकर्षणात्मक 'ह' और विकर्णात्मक 'स' इन दो अक्षरोंके योगसे जिस 'हंस' शब्दकी उत्पत्ति होती है, उसको शास्त्रादिमें हंस-मन्त्र, सोहं-मन्त्र, अजपा-मन्त्र, अजपा गायत्री, आत्ममन्त्र, अनाहत मन्त्र, पुंप्रकृतिमन्त्र, ब्रह्म-मन्त्र, जीवमन्त्र, प्राणमन्त्र, विद्यमन्त्र और शिव-शक्ति-मन्त्र आदि नामोंसे कहा गया है। उपनिषद्, तन्त्र और पुराणादिमें इस मन्त्रका माहात्म्य भरा पड़ा है। साधरण जानकारीके लिये यहाँ कुछ शेषके उद्धृत किये जाते हैं—

(क) सकारेण बहिर्यांति इकारेण विशेषं पुनः।
इंस हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥

(योगशिलोपनिषद्)

(ख) अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति ॥

(योगचूडामणि उपनिषद्)

- (ग) विभर्ति कुण्डलीशक्षिरामानं हंसमाश्रिता ।
हंसः प्राणाप्रयो निस्त्वं प्राणा नाहीपथ्याध्याः ॥
(तत्त्वसार)
- (ब) इं पुमान्कासरूपेण चन्द्रेण प्रकृतिस्तु सः ।
एतद्वत्सं विजानीयात् सूर्यमण्डलमेवकः ॥
(रुद्रायमलतन्त्र)
- (च) हंसविद्यामविजाय मुहूर्ते यज्ञं करोति यः ।
स नमोभक्षणेनैव क्षुशिवृत्तिं करिष्यति ॥
(सूतसंहिता)
- (द) हंसेन मनुना देवि ब्रह्मरन्त्रं नयेत् सुधीः ॥
(शाकानन्दतर्पिणी तत्त्व)
- (इ) आप्यनः परमं बीजं हंसारुपं स्फटिकमस्मृत् ॥
(गृह्णपुराण)

तत्त्व और पुराणादिमें इस हंसयोगके चरम साधन बतलाये जानेपर भी वर्तमान युगमें इसकी साधनाके अधिकारी पुरुष बहुत ही थोड़े होंगे, यही अनुमान करके प्रृथियोंने समयोचित नानाविधि साधन प्रणालियोंकी व्यवस्था की है ।

१४. मध्ययुगमें भारतवर्षमें जिन महापुरुषोंका आधिर्भव हुआ था, उनकी अमर वाणीकी ओर ध्यान देनेसे भी यह पता लगता है कि उन्होंने हंसयोगकी साधनासे ही आत्मज्योति-दर्शन तथा अनाहत व्यनिका श्रवण करके उसीमें तन्मय होकर सिद्धि प्राप्त की थी । दरिया साहेब, यारी साहेब आदि कई हुसूलमान संत भी इस पथके पथिक थे । दाढ़ी, कटीर, नानक आदि सिद्धि आत्मशानी महापुरुषोंने अपने शिष्योंको इस हंसयोगका ही उपदेश किया था । दुःखकी बात है कि पीछेसे उनके शिष्योंने इस सार्वजनीन साधनाको अलग-अलग क्षुद्र साम्प्रदायिक सीमामें बाँधकर उसके भिन्न-भिन्न नाम रख दिये । मैंने ऐसे अनेकों सम्प्रदायोंके साधकोंसे बातचीत की, किन्तु आश्चर्यका विषय है कि उनमेंसे कोई भी अपने आदिगुरुके उपदेशका रहस्य नहीं जानते और तदनुसार साधन भी नहीं करते । वे पूजा-पाठ, भोग-राग आदि कुछ साम्प्रदायिक वास्त्र आचारोंको ही साधना समझकर उन्हींका अनुष्ठान करते हैं । जो कुछ भी हो, साधनके सम्बन्धमें मध्ययुगके कुछ संतोंकी कुछ वाणियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं—

- (क) अनहद वाणी पाइये तहौं होमे होइ विनाशु । (नानक)
(ख) स्वास स्वास प्रसु तुमहि दियावैऽ । (नानक)

- (ग) (कविरा) अजपा सुमिन होत है सुन-मंडल अस्थान ।
कर लिहा तहौं ना चहै मन पंगू तहौं जान ॥
(वनीर)

- (घ) कवीर हंसा न बोहै उनमनी । (कवीर)
(ङ) दाढ़ी सरेवर आत्मा, हंसा कै किलोळ । (दाढ़ी)
(च) सीरी महैं सोधी सौंद अनहद थान लगाई । (दाढ़ी)
(छ) चलो अगमके देस, काल देखत डै ।
वहौं मरा प्रेमका हौज, हंस केली कैर ॥
(मोरावाई)

- (ज) मान-सरोवर विमल भीर, जहौं हंस समाम तीर तीर ।
(दरियासाहेब)

- (झ) घटमें प्रान अपान दुहर्दै । अरथ आवे अह अरथ जाई ॥
लेकं प्रान अपान मिलाई । वाहि परनते गगन गरजाई ॥
(यारीसाहेब)

- (ञ) अनहद ताल आदि सुर बानी दिनु जिम्मा गुन बेद पढो ।
आपा डलटि आत्मा पूजू, निकुटी न्हाइ मुमेर छदो ॥
(यारीसाहेब)
- (ट) बुलेशाह भाल लाई जानी, अनहद सबर बजाया है ।
(बुलेशाह)

१५. साधनपथपर अग्रसर होनेके लिये संयम और अभ्यासकी पूर्ण आवश्यकता है । मन असंयत होकर ही विह्वसुल हो गया है; अतः इसको अन्तमुख करनेके लिये साधको सरसे पहले संयमका अप्यास करना पड़ेगा । संयम ही साधनासे प्रथम सहायक है । स्थूलतः साधकमात्रको त्रिवित्र संयम करना चाहिये—‘आहारसंयम’, ‘वाक्संयम’ और ‘काय-संयम’ । ये सब साधकके अधिकारकी चीजें हैं, इनके लिये दूसरेकी सहायता आवश्यक नहीं है । आहार-संयम करनेके लिये दो बातोंपर ध्यान रखना आवश्यक है—आहारका ‘परिमाण’ और ‘प्रकार’ । जो जिस प्रकारका आहार सम्पूर्णरूपसे पचा सकता है, उसके लिये वही प्रकार संयत आहार है । खायी हुई चीजोंका अजीर्ण, कुजीर्ण या अतिजीर्ण न होना ही संयत आहारका लक्षण या प्रमाण है । परिमाणके सम्बन्धमें कोई निर्दिष्ट नियम नहीं हो सकता । अपनी-अपनी पाचन-शक्तिके अनुसार परिमाणकी व्यवस्था होनी चाहिये । तथापि शास्त्रकारोंने एक साधारण नियम बतलाया है—

पूर्येदपानेनाद्यं तृतीयमुदकेन तु ।
वायोः साक्षात्तनार्थं च चतुर्थमवरोषेत् ॥
(भूतसे आधापेट अब खाय, चौकाई जल पीवे और चौथाई वायुसुखालनके लिये खाली रखें ।)

आहारके प्रकारके सम्बन्धमें अनेको मत हैं; परन्तु स्थूलरूपमें साधकके लिये कौन-सा आहार उपयुक्त है और कौन-सा त्याज्य है? इस सम्बन्धमें गोतामें स्पष्टतः कहा गया है—

आयुःसरवबलाहोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्तिंश्चाः स्तिंश्चाः हृष्णा आहाराः सास्त्विकप्रियाः॥
कट्टद्वल्लक्षणारुप्णातीक्षणस्त्विद्विश्विनः ।
आहारा राजसरथेष्टुःस्त्रीकामयप्रदाः ॥
यातयामं गतरसं पृथि पर्युधितं च यत् ।
उच्छिष्ठप्य आमेष्वर्णं भोजनं तामसप्रियम् ॥

(१७। ८—१०)

‘आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले रसयुक्त, चिकने, श्वर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही प्रिय आहार सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं। कड़वे, खड़े, नमकीन, बहुत गरम, तीक्ष्ण, रस्ते, दाहकारक और दुःख, शोक तथा रोग पैदा करनेवाले आहार राजस पुरुषको प्रिय होते हैं और जो आहार अथवाका, रक्तहित, दुरुन्धर्ययुक्त, वासी, उच्छिष्ठ तथा अपवित्र है वह तामस पुरुषको प्रिय होता है।’

साधनमें सात्त्विक प्रवृत्तिका बहुना आवश्यक है, इसलिये राजस और तामस आहारका त्याग करके सात्त्विक आहार ही करना चाहिये।

सत्य, प्रिय, हित और परिमित वाक्योचारणके द्वारा ‘वाणीका संयम’ होता है। विल्कुल न बोलने यानी मौन धारण करनेसे वाणीका संयम नहीं होता। वैसीहालतमें तो भीतरका भाव शाहर प्रकट करनेके लिये नाना प्रकारके अस्वाभाविक उपायोंको काममें लाना पड़ता है, जिससे उस्टी विक्षिप्तता बढ़ती है।

विचारके द्वारा विषयोंकी अनित्यताका ज्ञान और अन्यासके द्वारा आवश्यकताओंका अभाव कर सकनेपर तथा

सिद्धार्थनादि आत्मोंका अन्यास हो जानेपर ‘देहसंयम’ हो जाता है। सङ्ग ही सब प्रकारके परिवर्तनका मूल है। जो मनुष्य जैसा सङ्ग करता है, वह उसी रूपमें बदल जाता है। यह नित्य-प्रत्यक्ष है। अतएव साधकको अपनी साधनाके अनुकूल साधुसङ्ग, शानी महायुर्घोषोंका सङ्ग और शालोंका सङ्ग करना चाहिये। इनके अतिरिक्त एक और भी संयम बहुत ही आवश्यक है, जिसपर निजका कोई कर्तृत्व नहीं है—वह है ‘मनका संयम’। गुहके उपदेश-सुधार अन्यास करनेपर मनःसंयम होता है। एक मनके संयत हो जानेपर इन्द्रियादि अपने-आप ही शान्त हो जाते हैं और शारीर तथा वाणीकी चक्षुलता सदाके लिये दूर हो जाती है। जो अपनी बुद्धिसे या अपने पैदा किये हुए उपायोंसे मनको रोकनेका प्रयत्न करते हैं, वे धोखा ही खाते हैं। उनका मन एक विषयकी चक्षुलताको छोड़कर दूसरे विषयोंमें चौगुना चक्षुल हो उठता है। वह कभी अचक्षल और स्पन्दरहित अवस्थाको प्राप्त नहीं होता।

१६. साधनाका एक सर्वप्रथान आवश्यक विषय है— मुमुक्षुत्व। ‘मैं बदल हूँ, मैं सुक्त होऊँगा।’ भीतरके इस भावका नाम मुमुक्षुत्व है। जबतक मुमुक्षुत्व नहीं पैदा होता, तबतक साधनमें रति नहीं होती। मुमुक्षुत्व पैदा होते ही मुक्तिकामी साधकको सद्गुरुकी शरणमें चले जाना चाहिये। सद्गुरु ही साधनाका सर्वोत्तम मार्ग दिखला सकते हैं और शिष्यको उपदेशके द्वारा जानका स्वरूप समझा सकते हैं। यद्यपि इस धोर कलियुगमें सद्गुरुका संयोग एक प्रकारसे असम्भव-सा हो गया है तथापि भारतवर्ष आव्यापिक देश है, यहाँ सद्गुरुका सर्वथा अभाव सम्भव नहीं है। ‘जिन खोजा तिन पाइया।’ खोज सची होनी चाहिये। शाल और संतोंके बचन गुरुकी महिमासे भरे पड़े हैं—

न गुरोरधिकं तत्त्वं न गुरोरधिकं तपः ।
तत्त्वज्ञानात्परं नास्ति तत्स्मै श्रीगुरवे नमः ॥

तन्त्रकी प्रामाणिकता

(लेखक—५० श्रीहराणन्द भट्टाचार्य)

तन्त्रशास्त्रकी प्रामाणिकताके विषयमें कुछ मतभेद पाया जाता है। मनुस्मृति (२। १) की कुल्कुमडकुल टीकामें हारीतशृंगिके एक वाक्यका उद्दरण मिलता है। यह इस प्रकार है—‘श्रुतिश्च द्विविशा, वैदिकी तान्त्रिकी च ।’^१ इस वचनके आधारपर कुछ विद्वानोंकी यह धारणा हो गयी है कि श्रुति दो प्रकारकी है—वैदिक और तान्त्रिक। जिस प्रकार वेद अपौष्टेय होनेके कारण स्वतःप्रमाण हैं, उनकी सत्यताको सिद्ध करनेके लिये किसी प्रमाणात्मकी आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार तन्त्र भी स्वतःप्रमाण हैं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार किसी अंशमें तन्त्रके विशद होनेपर भी वेदको अप्रमाण नहीं माना जाता, उसी प्रकार किसी अंशमें वेदके विशद होनेपर भी तन्त्रको अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। दूसरे शब्दोंमें यो कह सकते हैं कि वेद और तन्त्र प्रामाणिकतामें एक दूसरेसे न्यून नहीं हैं, यन्त्रि समकक्ष हैं। इसलिये तन्त्र किसी विषयमें वेदकी अपेक्षा नहीं रखता।

अगाध पण्डित एवं विद्यात शास्त्र दार्शनिक भास्कररायने तन्त्रकी प्रामाणिकताका दूसरे प्रकारसे समर्थन किया है। उनके मतमें तन्त्रशास्त्र वेदके समकक्षल्पसे प्रमाण नहीं हैं। यदि तन्त्रशास्त्रकी वेदनिरपेक्ष स्वतन्त्र प्रामाणिकता मानी जायगी तो ‘न शास्त्रपरिमाणात्’ (पू० मी० दू० १। ३। ५) इस जैमिनिके सूत्रांशार जो कुमारिलभट्टका तन्त्रवार्तिक है, उससे विरोध पड़ेगा। उस सूत्रके तन्त्रवार्तिकमें यह सिद्धान्त किया गया है कि ‘पुराण, न्याय, भीमांसा, धर्मशास्त्र, वेदके छः अङ्ग (गिरा, कल्पसूत्र, व्याकरण, निरुक्त, ज्यैतिष तथा छन्दशास्त्र) और चार वेद (ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्व)—इतने ही शास्त्र

* आजकल जो हारीतस्मृति मिलती है, उसमें यह वाक्य नहीं है; परन्तु विद्वानोंका कथन है कि कुल्कुमडकुल प्राचीन प्रामाणिक अन्यकार हैं; उनके समयकी हारीतस्मृतिमें यह वाक्य अवश्य था, पैलिके लेखकोंके प्रमादसे सम्भव है कि यह पाठ दूट गया हो। बास्तवमें इस समय जिनमें भी शास्त्रव्याप्ति मिलते हैं, उनमें सभी श्वेतोंमें प्राचीन पाठ ढाँक है—यह कहना बहुत कठिन है; तथा किसी पाठको सहित सम्भाल करना भी साहस्रात्र है।

धर्मके विषयमें प्रमाण हैं; इनके अतिरिक्त दूसरे शास्त्र प्रमाण नहीं हैं। तन्त्रशास्त्रको विल्कुल स्वतन्त्र शास्त्र माननेपर भीमांसक-दृष्टिसे वह अप्रमाण हो जायगा; इसलिये तन्त्रको स्वतन्त्र प्रमाण नहीं समझना चाहिये, किन्तु उसे धर्मशास्त्र (स्मृतिशास्त्र) के अन्तर्गत मानना चाहिये।

तन्त्रशास्त्र धर्मशास्त्रके अन्तर्गत होनेपर भी मनु, याशवस्त्र्य प्रभृति शृंघिमणीत स्मृतियोंसे उसमें कुछ विशेषता है—मनु प्रभृतिकी स्मृतियाँ वेदके कर्मकाण्डसे सम्बन्ध रखती हैं, किन्तु तन्त्रशास्त्र वेदके व्रत (शान) काण्डसे सम्बन्ध रखता है।^२

शारदातिलक नामक तन्त्रशास्त्रके विव्यात प्रन्थके प्रामाणिक टीकाकार राघवभट्टने अपनी टीकाके आरम्भमें आगमशास्त्रके प्रामाण्यपर विचार किया है। उनकी सम्मतिमें आगमशास्त्र (तन्त्रशास्त्र) स्मृतिशास्त्र है। वेदके तीन काण्ड हैं—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ब्रह्मकाण्ड। उनमें कर्मकाण्डको व्याख्या जैमिनि आदि कर्मभीमांसक शृंघियोंने की, नारद प्रभृति भक्त शृंघियोंने उपासनाकाण्डका विवरण किया और भगवान् बादरायण तथा अन्य ब्रह्मवादी शृंघियोंने ब्रह्मकाण्डकी व्याख्या की। आगमशास्त्रका मूल वेदका उपासनाकाण्ड है। सभी स्मृतियोंका प्रामाण्य वेदके आश्रयसे है। आगमस्मृतिका प्रामाण्य भी उसी प्रकार वेदके आधारपर है। तन्त्रका प्रामाण्य स्वतन्त्रल्पसे नहीं है।

इस प्रसङ्गसे राघवभट्टने एक वात और कही है। उनके विचारमें साकार उपासनासे मनुर्धोंको स्वर्गादि फल नहुत

* याशवन्तशस्मृतिये भी लिखा है—

पुराणन्यायीमांसापर्मशास्त्राङ्गमितिः ।

वेदः श्वानानि विद्याना धर्मस्य च चनुर्देश ॥

(११३)

^१ तन्त्राणां धर्मशास्त्रेऽन्तर्भवः (वरिवस्यारहस्यप्रकाश) । परमार्थतस्य तन्त्राणां स्मृतिशास्त्रविशेषेऽपि मन्वादिस्मृतीनां कर्मकाण्ड-व्रतालं तन्त्राणां शास्त्रकाण्डव्येष्टव्यमिति गिर्जानाद् ।—मास्करात्राव्रप्तीत सीमाण्यमास्कर (ललितासहस्रनाममाण्य), प्रथम शतकमा उपक्रम ।

कम आयास से प्राप्त हो जाते हैं, अन्ततःक मोक्षकी प्राप्ति भी हो जाती है। कर्मकाण्ड अथवा ब्रह्मकाण्डकी सहायतासे मोक्षकी प्राप्ति इतने कम आयाससे सम्भव नहीं है। इसलिये उपासना-प्रधान आगमशाखा ही श्रेष्ठ है।

ब्रह्मसूत्रोपर भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंके जितने भी भाष्य इस समय उपलब्ध हैं, उनमेंसे तीन भाष्य विशिष्टादैतके अनुसार हैं। उनमें रामानुजका श्रीभाष्य वैष्णव मतके अनुकूल होता हुआ विशिष्टादैतका समर्थन करता है।^१ दौवमतके अनुसार भी दो भाष्य हैं, जो विशिष्टादैतके पौयक हैं। उनमें श्रीकृष्णाचार्यका शैवभाष्य प्रसिद्ध है, जिसपर विश्वविद्यात परिषद अप्पाय दीक्षितकी 'शिवार्कमणिदीपिका' नामकी टीका है। दूसरा श्रीकर-भाष्यके नामसे प्रसिद्ध है, जो दक्षिण देशके 'वीरशैव-सम्प्रदाय' नामक शैवसम्प्रदाय-के अनुकूल है। ये दोनों शैवभाष्य तन्त्रके अनुगामी हैं।

श्रीकण्ठके शैवभाष्य (२।२।३८) में तन्त्रको वेदवत् प्रभाषण माना गया है। उसमें लिखा है कि वेद तथा आगम (तन्त्र) के प्रमाणमें छोड़ अन्तर नहीं है, दोनों-के निर्माणकर्ता एक ही शिव हैं; इसलिये वेद भी शिवागम है, केवल इतना ही अन्तर है कि वेद केवल तीन वर्णों (ग्राहण, क्षत्रिय, वैश्य) के लिये हैं और आगम सभीके लिये हैं।^२

'शिवार्कमणिदीपिका' (२।२।३८, ४२) में तन्त्रके विषयमें अधिकारिभेदसे व्यवस्था की गयी है।

जो वेदके अधिकारी हैं, उनका वेदके अनुकूल तन्त्रमें अधिकार है; तथा जो तन्त्र वेदके विषद्ध हैं, उनमें वेदके अनधिकारियोंका अधिकार है। सारांश यह है कि वेदके अनुकूल अथवा वेदसे विषद्ध—सभी तन्त्र भिन्न-भिन्न अधिकारियोंके लिये प्रमाण हैं। इस प्रकार अधिकारिभेदसे प्रामाण्यकी व्यवस्था होनेपर किंवि तन्त्रके अप्रामाण्यकी शङ्का नहीं उठती।^३ श्रीशङ्कुराचार्यप्रणीत सौन्दर्यलहरी (३१) की लक्ष्मीधरकृत टीकामें भी इसी गतिसे अधिकारिभेदसे तन्त्रके प्रामाण्यकी व्यवस्था की गयी है।

उपासनामें तन्त्रशास्त्रका विशेष उपयोग है, इस बातको अस्तीकार करना ग्राम है। शास्त्र और शैव सम्प्रदाय तो तन्त्रके अनुगामी हैं ही, वैष्णव सम्प्रदाय भी तन्त्रके अनुगामी हैं। वैष्णवोंका परम माननीय पात्रवाच शास्त्र तन्त्रके ही अन्तर्गत है। श्रीमद्भागवतमें भी पात्रवाचके अनुसार उपासना करनेका निर्देश पाया जाता है; इसलिये आस्तिक पुरुषोंको अपने-अपने अधिकारके अनुसार तन्त्रोंका उपयोग करना चाहिये।

तन्त्रशास्त्रका प्रभाव इतना अधिक फैला है कि वैदिक तथा पौराणिक उपासनाओंमें भी उनका कुछ-न-कुछ प्रभाव प्रतीत होता है। तन्त्रशास्त्रका वित्तकूल परित्याग करके किसी प्रकारकी उपासना करना असम्भव है, यह कहनेमें कुछ भी अत्युक्त नहीं है।

गृहस्थ क्या करे ?

चर्तवैत तेषु गृहवानकुद्यन्नसूर्यकः। पञ्चमिः सततं यज्ञैर्विष्टसाशी यजेत च ॥

गृहस्थ पुरुष कोथ और ईर्ध्यमें रहत होकर व्यवहार करे, नित्य पञ्चमिका करे और देवता, पितर तथा अतिथियोंको भोजन करानेके बाद भोजन करें।

(महाऽशान्तिः २३५। २५)

इन कुछ दिन पूर्व श्रीसम्प्रदायसे अलग होकर रामानन्दी वैष्णवोंने ब्रह्मसूत्रपर रामानन्द-भाष्य प्रकट किया है। रामानुज-भाष्यके अनुसार नारायण परमेश्वर हैं; रामानन्द-भाष्यके अनुसार रामचन्द्र परमेश्वर हैं। ये दोनों भाष्य विशिष्टादैतके अनुकूल हैं। उपर्युक्त अन्यके प्रकाशित होनेके पूर्व प्राच्य तथा पाश्चात्य परिषद-परिषदी रामानन्द-भाष्यके नामसे परिचित न थी। रामानन्द-भाष्यको लेकर विशिष्टादैतपरक चार भाष्य समझने चाहिये।

× वर्ण तु वेदविदागमयोर्भेदं न पश्यामः। वेदोऽपि शिवागम इति व्यवहारो तुकः, तस्य तत्कृतवर्गाद्। अतः शिवागमो द्विविधः, द्विविधिकविषयः। सर्वैविषयव्यक्तेऽत। उभयोरेकं प्रव शिवः कर्ता ।****उभावपि प्रमाणभूतौ वेदागमौ। (श्रीकृष्णभाष्य २।२।३८)

* इस युक्तिसे किसी-किसी तन्त्रमें म्लेच्छानन्दका अधिकार निरुद्ध होता है।

कल्याण-साधन

(लेखक—श्रीखामी सन्तप्रसादजी उदासीन, सम्पादक)

कल्याण अर्थात् मोक्षका अर्थ शास्त्रोंमें ‘सर्वदुःखनिवृत्ति, परमानन्दप्राप्ति’ किया है। मोक्षके चार अन्तरङ्ग साधन कहे हैं—विवेक, वैराग्य, पट्टसम्पत्ति और मुमुक्षुता ।

विवेक कहते हैं सारासारविचारको । वैराग्यका लक्षण बतलाते हैं, ‘ब्रह्मलोकनृणांकान् वैराग्यस्यायथिर्मतः’ अर्थात् ब्रह्मलोकतकके सब पदार्थोंको तृणवत् जानना, यही वैराग्यकी अवधिश्च है। पट्टसम्पत्तिका अर्थ है—‘अः समर्तियाँ, उनके नाम ये हैं—इम, दम, श्रद्धा, समाधान, तितिक्षा और उपरति । शम है मनको रोकना, दम इन्दियोंको रोकना, श्रद्धा वेद-शास्त्र तथा गुहा और साधनोंमें पूर्ण विश्वास रखना, समाधान है—समाधित होना (मनका सर्वथा स्थिर होना), तितिक्षा है शीत-उष्णा, मुन्ह-हृःखादिको सह लेना और उपरति है सांसारिक पदार्थोंसे उपराम होना । इस पट्टसम्पत्तिके बाद जीवा साधन है मुमुक्षुता अर्थात् भोग पाने, संसारके जन्म-मरण-चक्रसे छूटने की इच्छा । इन चार साधनोंमें ही शानदारा मुक्ति होती है ।

अधिकारिभेदसे शास्त्रोंमें कल्याणसाधनार्थ तीर्थ, ब्रत, नियम, योग, निष्काम कर्म आदि अनेक साधन बताये हैं; पर सबकी सीमा इन चार साधनोंमें ही जाकर समाप्त होती है । कारण शानसे ही मोक्ष होता है और शानके बे ही चार साधन हैं जो ऊपर लिखे गये ।

परन्तु जन्म-जन्मके कुसंस्कारोंसे मन मलिन हो रहा है, इस कारण इन साधनोंके करनेमें मन नहीं लगता । इसलिये इसका उपाय इमरो उदासीन साधु-सप्तशतिके मुनि-महात्माओंने नाम-जप बतलाया है । भगवान्के हरि, राम इत्यादि नामोंमें किसी नामका मनुष्य जप करता रहे और सभी ही निष्काम कर्मचरण करे अर्थात् फलेच्छारहित होकर तीर्थ, ब्रत, यज्ञ आदि शुभ कर्म करे तो इससे मन शुद्ध होता है और उपर्युक्त साधन बनते हैं और उनसे मनुष्य कल्याणको प्राप्त होता है । नाम-जप अवण्ड होना चाहिये । उठते-बैठते सब समय नाम-उच्चारण अंदर होता रहे ।

गर्व न करो—काल सबको खा जाता है

बहुनीद्रसहस्राणि समर्नीतानि वासव । बलवीर्योपयनानि यग्नेव त्वं शब्दीपते ॥
त्वामप्यतिथलं शक देवराजं बलोत्कटम् । प्रामे काले मद्हावीर्यः कालः संशमयिष्यति ॥
य इदं सर्वमादने तस्माच्छक स्थिरो भव । मथा त्वया च पूर्वश्च न स शक्योऽतिवर्तितुम् ॥
यामेतां प्राप्य जानीर्प राज्यश्रियमनुक्तमाम् । स्थिता मर्याति तन्मिथ्यानेत्याहोकत्र तिष्ठति ॥
स्थिता हीन्द्रसहस्रेषु तद्विशिष्टनमेवियम् । मां च लोल्य परित्यज्य त्वामगाद्विषुधाधिष ॥
मैव शक पुनः कार्यैः शान्तोः भविन्तुमर्हसि । त्वामप्यत्रविद्यं ब्रात्वा क्षिप्रमन्यं गमिष्यति ॥

(महा० शास्त्रिं० २४ । ५७-६०)

हे इन्द्र ! जो बल और वीरतावाले थे, ऐसे तुम्हारे-जैसे हजारों इन्द्र हुए और चले गये । हे इन्द्र ! इस प्रकार तू भी चला जायगा । हे शक ! तू वड़ा बलवान् और देवताओंका राजा है तो भी जब तेरा समय पूरा हो जायगा तब मद्हावली काल तुझे भी राज्यसे भ्रष्ट कर देगा । हे इन्द्र ! काल सबका संहार करता है, इसलिये तू धीरज रख, मैं, तू या जो पहले हो गये इनमेंसे कोई भी कालका उड़ान नहीं कर सकता । जिस सौंत्रेतम् राज्यलक्ष्मीको प्राप्त करके तुम समझते हो कि यह मेरी हो गयी है, यह तुम्हारी हृषी कल्पना है क्योंकि यह कभी एक जगह शिर नहीं रहती । हे देवराज ! तुमसे भी अधिक श्रेष्ठ हजारोंके पास यह राज्यलक्ष्मी रह चुकी है (और उनके पाससे यह चली गयी है) वैसे ही यह चक्रल राज्यलक्ष्मी मुझे भी छोड़कर तेरे पास आ गयी है । हे इन्द्र ! अब आगे तू ऐसा गर्व न करना अब तू कान्त हो जा, यदि उसने जान पाया कि— तू मिथ्या घमण्डी है तो वह तुम्हे छोड़कर चली जायगी ।

अभिविद्या

(लेखक—प० श्रीइरिदतजी शास्त्री वेदानशाचार्य)

उपनिषदोंमें इस विद्याका वर्णन इसलिये हुआ है कि लोग पुनर्जन्मके विद्याली बनें। पुनर्जन्म अनेक तरहसे सम्भव हो रहा है, बहुतसे नास्तिक इस शारीरसे भिन्न आत्माको नहीं मानते। आस्तिकोंमें भी मतशाहूल्य है। इस जीवको भी विमु माननेवाले बहुत से आचार्य हैं। जब आत्मा विमु है, तब इसका परलोकादिमें गमन क्या ? और वेदान्तमें भी बहुतसे सिद्धान्त पथे जाते हैं, जिनसे जन्मकी ही सिद्धि नहीं होती; क्योंकि विमु आत्माका जन्म और मरण कैसे हो सकता है ? जो सर्वव्यापी आत्मा है, वह अत्यन्त शुद्र गर्भमें कैसे समा सकता है ! फिर जब एक ही आत्मा है तो मरण अथवा जीवन सर्वथा अतमभव है, क्योंकि अनेकता रहनेपर ही जन्म-मरण हो सकता है। इसके अतिरिक्त किन्तु श्रुतियोंका तात्पर्य यह है कि यह जीव ईश्वरका प्रतिविम्ब है; अविद्याशमर जो ईश्वरका प्रतिविम्ब पड़ता है, वही जीव है। अथवा जैसे सूर्यका प्रतिविम्ब अथवा आभास घटोंमें पड़े, वैसे ही ब्रह्मका आभास अन्तःकरणोंमें पड़ता है; वही जीव कहलाता है। इन दृष्टिनोंसे भी पुनर्जन्मकी विद्धि नहीं होती; क्योंकि उपरोक्त पृथुनेसे घटस्य विद्म किसी अन्य रूपको धारण कर कर्ती अन्यत्र नहीं जाता, न इस प्रतिविम्बकी कोई विभिन्न सना ही होती है। जैसे पुरुषसे भिन्न छायाकी भिन्न सत्ता नहीं, दर्पणमें सुतादिकोंकी छाया पड़ती है उसकी सत्ता भुतसे पृथक् नहीं, अतः घट पृथुनेपर सूर्य-प्रतिविम्ब ज्यों-का-लौ वना रहता है, तद्वा लक्ष्म-प्रतिविम्ब जो यह जीव है वह अन्तःकरणके छिन्न-भिन्न होनेपर भी ज्यों-का-लौ-वना रहेगा, कैसे कर्ती जायगा—हत्यादिकारणोंसे पुनर्जन्ममें लोगोंको सन्देह न हो, अतः मातृभूता परमकल्याणकारिणी श्रुति पञ्चामि-वर्णनद्वारा पुनर्जन्मका प्रतिपादन करती है।

इस प्रकार राजाने जो पाँच प्रश्न किये थे, उनका उत्तर निम्न प्रकार है। प्रथम—यहाँसे प्रजा कहाँ जाती है, इस प्रश्नके तीन उत्तर हुए—कुछ ब्रह्मानी ब्रह्मलोकको जाते हैं, द्वितीय कर्मपरायण जन चन्द्रलोकको जाते हैं, तृतीय सर्वथा जन्म-मरण-प्रवाहमें द्रवते और उत्तराते रहते हैं।

द्वितीय प्रश्न राजाका यह है कि वहाँसे पुनः कैसे प्रजा लौट आती है। इसका उत्तर यह दिया गया है कि चन्द्रलोकसे आकाशमें, आकाशसे वायुमें हत्यादि।

तृतीय प्रश्न यह है कि देवयान और पितृयानका भेद कहाँ होता है। इसका उत्तर यह है कि देवयानका पथ अर्किसे आरम्भ होता है और पितृयानका धूमसे; पुनः देवयानगामी संवत्सरमें जाते हैं, विन्दु पितृयानगामी उसमें नहीं।

चतुर्थ प्रश्न यह है कि ब्रह्मलोक क्यों नहीं भर जाता। इसका उत्तर यह है कि मरकर रब ही प्राणी अथवा सब ही मनुष्य ब्रह्मलोकमें ही अथवा चन्द्रलोकमें ही नहीं पहुँचते, किन्तु बहुतसे जीव मरते ही तत्काल अन्य योनियोंमें प्राप्त हो जाते लेते और मरते रहते हैं; इस हेतु वह लोक नहीं भरता।

पञ्चम प्रश्न यह है कि पाँचवीं आहुतिमें जीवधाचक जल कैसे मनुष्य बन जाता है। इसका उत्तर यह है कि आदिवल्लोक, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष और खी-ये पाँच अग्नि हैं। खीरुप अग्नियों जो आहुति दी जाती है, उससे जल पुरायवाची ही जाता है।

कथा इस प्रकार है—

एक समय अरुण्योत्तम भेतकेतु नामका कोई कुमार पात्राल देशके अधिपति प्रवहणनामक दृष्टिको समिति (सभा) में आ पहुँचा। राजा प्रवहणने निष्प्रलिखित पाँच प्रश्न उससे पूछे। वे प्रश्न ये हैं—

१—हे कुमार ! यद्याँसे प्रजाएँ उपरको जहाँ जाती हैं, उसे क्या तू जानता है ?

कुमार—राजन् ! नहीं।

२—प्रवहण—प्रजाएँ पुनः जैसे लौट आती हैं, क्या तू जानता है ?

कुमार—नहीं।

३—प्रवहण—देवयान और पितृयान मार्गोंका वियोग-स्थान जानता है ?

कुमार—हे भगवन् ! मैं नहीं जानता।

४—प्रवहण—जिस प्रकार यह लोक नहीं भर जाता, उसको तू जानता है ?

कुमार—हे भगवन् ! मैं नहीं जानता।

५-प्रवहण—जिस कारण पॉचर्चा आहुतिमें जल पुरुषवाची होता है, उसे तू जानता है ?

कुमार—नहीं जानता ।

तब राजने कहा कि विदित होता है कि मेरे पिताने दुश्मको अच्छी शिक्षा नहीं दी है । एवमस्तु—

तब खेतेकुने अपने पिताके पास जाकर कहा कि राजा प्रवहणने मुझसे पॉच प्रश्न पूछे और मैं एकका भी उत्तर न दे सका । पिता युक्तोंके साथ ले राजाके निकट जा पहुँचा और कहा कि मुझे आप अग्निविदाका उपदेश दीजिये ।

राजा बोला कि ‘यह विद्या अवतक क्षत्रियोंको ही मालूम है, अन्य किसीको नहीं; दूसरे मुझ क्षत्रियकी शिष्यता आप ब्राह्मण होकर कैसे स्तीकार करेंगे ?’ गौतमने कहा कि ‘विद्या जहां कहींसं मिले, ग्रहण कर लेनी चाहिये; अतः आजसे मैं आपका शिष्य बनता हूँ, मुझे आप उपदेश दीजिये ।’

तब गजाने कहा कि ‘यह गौतम ! यह लोक ही एक अग्नि है, सूर्य उसकी समिधा है, किरणें धूम हैं, दिन लगट है, चन्द्रमा अङ्गार है, नक्षत्र चिनगारियों हैं, इस अग्निमें देवगण अद्वाकी आहुति देते हैं, इस आहुतिसे सोमराजा उत्पन्न होता है; यही प्रथम आहुति है ।

हे गौतम ! पर्जन्य (मेघ) द्वितीय अग्नि है; उसकी वायु

ही समिधा है, अग्न (एक प्रकारका मेघ), धूम, वियुत् ज्वाला, वज्र अङ्गार, मेघशब्द विस्फुलिङ्ग है । इस द्वितीय अग्निमें सोमराजाकी आहुति देवगण देते हैं, इसीसे वर्षा उत्पन्न होती है । यही द्वितीय आहुति है ।

हे गौतम ! यह पृथ्वी तृतीय अग्नि है; उसकी संबसर ही समिधा, आकाश धूम, रात्रि ज्वाला, दिशाएँ अङ्गार और अवान्तर दिशाएँ विस्फुलिङ्ग हैं । इस अग्निमें देवगण वर्षकी आहुति देते हैं, उस आहुतिसे अग्न उत्पन्न होता है । यह तृतीय आहुति हुई ।

हे गौतम ! यह पुरुष चतुर्थ अग्नि है । उसकी वाणी ही समिधा, शाश्वत धूम, जिह्वा ज्वाला, चक्षु अङ्गार और श्रोत्र विस्फुलिङ्ग है । इस अग्निमें देवगण अज्ञकी आहुति देते हैं, उस आहुतिसे रेतस (वीर्य) उत्पन्न होता है । इसका ही नाम चतुर्थ आहुति है ।

हे गौतम ! यह छी पञ्चम अग्नि है । इस अग्निमें देवगण रेतसकी आहुति देते हैं, उस आहुतिसे गर्भ उत्पन्न होता है । हे गौतम ! इस प्रकार पॉचर्चा आहुतिमें जल पुरुषवाची होता है । वह गर्भ नौ या दस मास उत्पावृत हो पेटमें रह यालकरूपसे उत्पन्न होता है, उन; अपनी आयुर्भासुख-दुःख भोगकर मर जाता है । उसकी बन्धु-बाध्यव अग्निमें अला देते हैं । इस प्रकार मानव-जीवनका एक चक्र समाप्त हो जाता है । यही अग्निविद्या या पद्माभिविद्या है ।

श्रेष्ठ भागवत कौन हैं ?

योगेश्वर हरि कहते हैं—

न कामकर्मजीजानां यस्य चेतसि सम्भवः । वासुर्देवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः ॥

न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा । सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः ॥

त्रिमुद्रनविमवद्वेतयेऽप्यकृष्टस्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विस्म्यात् ।

न चलति भगवत्पदारधिन्दाहृवनिमिषार्घमपि यः स वैष्णवाग्रः ॥

विस्मृजति हनयं न यस्य साक्षात्पूर्विरचशाभिहितोऽप्यवौधनाशः ।

प्रणयरशनया ध्रुताङ्गिष्ठ स भवति भागवतप्रधान उक्तः ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २ । ५०, ५२, ५३, ५५)

जिसके इन्तर्में कामना और कर्मोंके बीजका उदय ही नहीं होता, जिसके एकमात्र आश्रय श्रीभगवान् है—वह श्रेष्ठ भागवत (संत) है । जिसकी दृष्टिमें—शरीर और धनमें अपने-परायेका भेद नहीं है; जो सब प्राणियोंके लिये सम है, शान्त है, वह श्रेष्ठ भागवत (संत) है । जिन्होंने अपने मन, इन्द्रियोंको बदाये नहीं कर पाया है उन देवताओंके लिये जो अभी हृदयेकी बस्तु है, भगवान्के उन चरणकमलोंसे, त्रिलोकीकी सम्पत्तिके लिये भी जो आधे क्षण यानिमेपतक भी अलग नहीं होते; वे निरन्तर भगवत्स्वरण-परायण पुरुष वे श्रेष्ठ वैष्णव हैं । विवशतासे पुकारनेपर भी जो पापोंका नाश करते हैं, वे भगवान् प्रेमकी रसीमे अपने चरणकमलोंके बैंध जानेके कारण स्वयं जिसके हृदयको नहीं छोड़ सकते, वह भक्त श्रेष्ठ भागवत (संत) है ।

आत्मोन्नतिका एक साधन-विचार

(लेखक—श्रीमोर्गान्द्रराय नानालाल वैद बी०ए०, बी० टी०)

हम जैसे विचारोंका सेवन करेंगे, वैसे ही हो जायेंगे । विचार ही हमारे भविष्यका निर्माण करते हैं—ऐसा कहनेमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है । हमारा मन सर्वदा अनेकों प्रकारके संकल्प करता रहता है । ये संकल्प अच्छे भी होते हैं और बुरे भी । जिस प्रकार अच्छा भोजन शरीरके लिये लाभकारी होता है, उसी प्रकार अच्छा विचार मनके ऊपर अच्छी आप डालता है । सात्त्विक और बलवान् विचार हमारे मनको अलौकिक शान्ति, शैर्य, बल और स्वास्थ्य प्रदान करते हैं । इसके विपरीत निर्बल और हल्की जातिके विचार हमें निर्बल बना देते हैं । रात्र बाल्डो ट्राइन नामका एक विचारक लिखता है—

‘It is a great law of our being that we become like those things we contemplate. If we contemplate those that are true and noble and elevating, we grow in the likeness of these.’

(What all the world's a-seeking, page 61.)

इसका तात्पर्य यह निकलता है कि हमारा भविष्य किसी अदृश्य सत्ताके हाथमें नहीं है, कोई बाह्य संयोग भी हमारे भविष्यके प्रति उत्तरदायी नहीं हैं । बल्कि अपने बुरे या भले भविष्यके लिये हम सब्यं ही जयावदार हैं—अपना उदार या नाश हमारे अपने ही हाथमें है । इसलिये बाहरके संयोग या दूसरे लोगोंको दोष देना—यह बड़ी भारी भूल है । भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें सष्ट कहते हैं—

उद्धरेदात्मनारमानं नारमानमवसादयेत् ।

अतैव शास्त्रमो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥

(गीता ६।५)

‘अपना बन्धु आप ही है और आप ही अपना शत्रु है । अतः अपनी अधोगति न करके उदार ही करना चाहिये ।’

इससे स्पष्ट समझ सकते हैं कि आत्मोक्तर्षकी इच्छा-बालेकी अपने विचारोंका हर घड़ी ध्यान रखना चाहिये । अपने हृदयमें समुद्रकी तरङ्गोंके समान बार-बार उछलते

रहनेवाले विचारोंके ऊपर पूरा अङ्गुश रखनेकी आवश्यकता है । शुद्र विचारोंको निकाल देना—यह उनका पहला कर्तव्य है । मन तो बंदरके समान है, उसे कावृत्यें रखनेके लिये सर्वदा प्रयत्न करना पड़ता है । इसके लिये विशेष अभ्यासकी आवश्यकता है—ऐसे उच्चत विचारोंका सेवन करनेकी आवश्यकता है, जो हमें उत्कर्षके मार्गमें ले जायें । संश्येमें हम विचारोंके गुलाम न बनें, इसके लिये उनके ऊपर हमारा प्रभुत्व होना आवश्यक है ।

वैसे विचार तभी हो सकते हैं जब कि हमारा मन नीरेग, शुद्र और तेजस्वी हो । अतः पहले उसे धैसा बनानेके लिये प्रयत्न करना चाहिये । प्रथम तो शरीरको स्वस्थ रखना आवश्यक है; वक्तेंकि ‘शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्’—धर्मका प्रथम साधन शरीर ही है । स्वस्थ शरीरके बिना स्वस्थ मन भी नहीं हो सकता । पिर मनको स्वस्थ रखनेके लिये उसे मुकुचिकर खुराक देना आवश्यक है । इसके लिये उसे अच्छे-अच्छे प्रथं पूर्णोंके देने चाहिये । सद्गुणोंका स्वाध्याय—यह एक प्रकारका सत्ताङ्क है । उनमें संत शुद्धियोंके बचनामृतपर ही दृष्टि पड़ती है । सत्ताङ्क का माहात्म्य सभी जानते हैं । नित्य निरन्तर साधुपुरुषोंके संसर्गमें अनेकों सदिचारोंको उत्तेजना पिलती है । श्रीतुलसीदासजी महाराज कहते हैं—
विनु सतसंग विवेक न हाँदै । रामकृष्ण विनु सुलम न संई ॥
सत संगत मुद मंगल मूला । संदै फल सिधि सब साधन फूला ॥
सठ मुकुरहि सत संगति पाई । सप्तस भरस कुभित मुहर्दै ॥

प्राचीन भारतमें मन्दिर, चौराहे और नदोत्तरीरेपर होते रहनेवाली कथान्यार्थी एवं भजन-कीर्तनका सुख्य उद्देश्य यही था कि उन्हे सुननेवालोंके मानसिक विचारोंकी सुष्ठु शुद्र और पवित्र बने । ऐसे अवसरोंपर बार-बार उपस्थित होने एवं कीर्तनादि उत्सवोंमें भाग लेनेसे अच्छे विचार करनेकी आदत पड़ती है और वैसे आदत पड़ जानेसे मनुष्यके मनका स्वभाव ही ऐसा हो जाता है कि उसे तरह-तरहके सत्सङ्गके बिना चैन ही नहीं पड़ता ।

मनको पवित्र और शुद्र बनानेमें प्रार्थना बड़ा काम करती है । रामकृष्णके बिना तो कोई भी वस्तु सुलभ नहीं है ।

अतः इस भगवत्-कृपाकी प्राप्तिके लिये अनन्यचित्तसे परम कृपालु परमात्माकी प्रार्थना करना—यह सभीका परम आवश्यक कर्तव्य है। इसमें चूक करना बड़ा पाप है। जो ईश्वरीय सत्ता हमारी रात-दिन रक्षा कर रही है, जो कठिनाईके समय हमारी बहुत-सी आवश्यकताओंकी पूर्ति करती है, उसे भूल जाना—ऐसे परम कृपालु प्रभुको विसार देना—यह तो कुत्ताहता ही है। प्रभुको याद रखना—यही सच्चा धन है और उन्हें भूल जाना—यही पूरा दुःख है। प्रार्थनाके द्वारा प्रभुके प्रति दृढ़ विश्वास होता है और मनको एक अनिवार्यी शान्तिका अनुभव होता है। यिररीत प्रसङ्गोंमें भी वह एक अद्भुत स्वास्थ्यकी रक्षा कर सकता है। प्रार्थना हमारे मनको स्फटिकके समान निर्भल कर देती है। इस दिव्य अलौकिक मानसिक बलके सामने दुष्ट विचार लाचार होकर अपने-आप ही खिसक जाते हैं।

पुनः-पुनः एक ही विचार करनेसे वह मनका एक अङ्ग बन जाता है। शृणि-सुनि निरन्तर ऊँकारका जप करते थे, 'सोऽहम्' मन्त्रका जप करते थे अथवा 'अहं व्रद्धास्मि' मन्त्रका जप करते थे। इसमें भी एक ही सिद्धान्त समाया हुआ था कि मनुष्य जैसा ध्यान करता है, वैसा ही वह बन जाता है। 'मैं क्षुद्र हूँ, अशक्त हूँ, पापी हूँ'—एसा विचार करनेसे मनुष्य निश्चय ही क्षुद्र, अशक्त और पापी बन जाता है। इसी प्रकार 'मैं निष्ठाप द्वारा हूँ' एसा चिन्तन करनेसे हम निष्ठाप बन सकते हैं। प्रकाशका ध्यान करोगे तो तुम प्रकाश ही बन जाओगे, पुण्यका चिन्तन करोगे तो तुम पुण्यस्वरूप बन जाओगे। पुरुषसे पुरुषोत्तम हो जानेकी इच्छाका सेवन करो तो तुम अवश्य पुरुषोत्तम हो ही

जाओगे। तुम्हारी जैसी भावना होगी वैसी ही सिद्धि होगी। स्वामी रामतीर्थ उच्च प्रकारकी भावनाके सेवनका समर्थन करते हुए सबसे अपने आसदेवके प्रति इस प्रकार सम्बोधन करनेके लिये कहते हैं—'ओ राजाधिराज ! सम्पूर्ण शरीरोंके केन्द्रमें स्थित मेरे आसदेव ! सचिदानन्द सद्ग्राद ! अनन्त सत्तायीश ! आशीर्वादात्मक तत्त्वस्वरूप ! ओ प्रियतम ! तुम अज्ञानावरणके स्वप्नमें दासत्व स्वीकार न करो ! उठो, जागो और अपनी परम सत्ताका अनुभव करो। तुम ईश्वर हो, तुम ईश्वर ही हो, और कुछ नहीं।'

अन्तमें कहना यह है कि अपने उत्कर्ष-साधनकी इच्छा रखनेवालोंको प्रभुके ऊपर पूरा विश्वास रखना चाहिये। श्रद्धाके बिना किसी भी प्रकारके संकल्पकी सिद्धि होना सम्भव नहीं है। विश्वासपूर्वक मानो कि यह जगन्नियन्ता हमें शुभ मार्गपर ही ले जा रहा है। वह हमारा हितचिन्तक है। उसकी अनन्य भावसे शरण लो और जो दृदयको दुर्बल बनावें, उन कुद्र विचारोंको मनसे निकालकर सर्वदा शुभका ही चिन्तन करो। विश्वासपूर्वक प्रणवका अवण्ड जप करो। रात-दिन राम-नाम रटो। मनको किसी शुभ आलभ्नमें एकात्र करो। कुछ समय एकान्तमें निशालो। इससे स्वयं ही शुभ विचारोंकी स्फूर्ति होगी। ऐसे उत्तम सजीव और तेजस्वी विचार स्वयं ही उत्कर्षकी ओर ले जायेंगे। तेजोमय प्रभुसं माँगो कि वे तुम्हारी बुद्धिको तेजस्वी करें। निश्चय मानो कि तुम ऐष्ट हैनेके लिये ही रने गये हो और अपना उत्तम भविष्य तुम्हें स्वयं ही बनाना है।

महान् यशको कौन प्राप्त होते हैं ?

अनूच्यमानास्तु पुनस्ते मन्यन्तु महाजनात् । गुणवत्तरमात्रमानं स्वेन मानेन दर्पिताः ॥

अद्वितकस्यचिन्तन्दामात्मूजामवर्णयन् । विषयश्वद् गुणसम्पन्नः प्राप्नोत्येव महायशः ॥

'अभिमानवश अपनेको महान् गुणी माननेवालोंको यदि कोई उपदेश देता है तो भी वे अपने मनमें गव़-कर महात्मा पुरुषोंसे भी अपनेको विशेष गुणी मानते हैं, वे अपनेको भले ही इस प्रकार माना करें परन्तु जो किसीकी निन्दा तथा आम्बलाला नहीं करता और विद्या तथा गुणोंसे सम्बन्ध होता है, वह पुरुष स्वयं महान् यश प्राप्त करता है।'

(महा० शान्ति० २८७ । २७-२८)

साधन-पथ

(लेखक—श्रीविन्दुगी मण्डारी)

'साधन सिद्धि राम-पग नेहू ।'

आजकल का वातावरण कुछ ऐसा हो रहा है कि प्रत्येक ज्ञाते-च्छ्वासमें वाह्याभ्यन्तर प्रकृतियोंमें राग-द्वैपादिके सहस्रों दूषित परमाणुओंका क्षण-क्षणमें विनियम होता रहता है। घनतम तमोमय असंख्य परमाणुओंके सञ्चयसे प्रकृतिमें स्थूलता दृढ़ हो गयी है। जगत्परिमें विश्वास नहीं, जगत्से अयकाश नहीं; परलोकमें निषा नहीं, गुरु-वेद-वामपोकी प्रतिष्ठा नहीं। त्रुति बहिर्मुखी हो गयी है। हम सुख्यतः वाह्य जगत्‌में ही विनरण करते हैं, भावनाओंका आधार वही हो गया है। ऐसी स्थितिमें परमार्थ-साधनका प्रस्तु कितना महत्वाद्य हो सकता है, यह स्पष्ट है। उस पुण्य पीठसे, जहाँ आसन लगाकर वास्तविक साधनाराधन होता है और जो निदियोंका केन्द्र है, हम उप्रक्त हो गये हैं। उसीका नाम हृदय है। नेतनताके स्थूलतामें आनन्द हो जानेसे उसका (हृदयका) वहुत कुछ हास हो गया है—उसकी शक्तियों अत्यधिक श्रीण हो गयी हैं और वह निर्जन-सा हो गया है। अद्भुदा दया-दक्षिण्यादि सदृगु तिरेहित हो गये हैं। वास्तविकताका स्थान कृत्रिमताने ले लिया है और अनुभूतिका कोरी कल्पना और तर्कनाने। सात्त्विक हृदयके साथ द्रवी सम्पत्तिका अत्यन्त हास है और आसुरी सम्पत्तिके साथ तामसी बुद्धिका विकास। इसीसे आध्यात्मिक साधनका पथ बहुत ही दुर्गम और याप्तित हो गया है। हृदय हमारा आयास नहीं रह गया, प्रत्युत स्थूल बुद्धि। एक तो हम साधनपथपर आरूढ़ ही नहीं होते अथवा हो पाते, और यदि आरूढ़ हुए भी तो थोड़ी ही दूर चलकर रह जाते हैं अथवा लौट आते हैं। यदि बीचमें कहीं अटक जाते हैं तो उसे ही गन्तव्यसा मानकर रह जाते हैं और अपनेमें पूर्णताका अनुभव करने लगते हैं। हमको पता भी नहीं चलता कि हम कहाँ हैं, किधर भटक गये हैं। हम अपने भीतर टिक नहीं पाते। यदि हमारी कुछ धार्मिक भावना हुई और यदि कुछ साधनका क्रम चला, तो उसकी चरितार्थता स्थूल जगत्‌में ही होती है।

साधनका वही अधिकारी होता है, जिसके हृदयमें पूर्वसे कोई साध्य और लक्ष्य विद्यमान होता है। उसकी प्राप्ति

अथवा संयोगकी चाह ही साधन-पथपर अग्रसर करती है। हृदय जिसकी आराधना करता है, उसीके लिये साधना भी की जाती है। जिस दर्जेकी चाह होती है, उसी कोटिकी साधना भी। ऐसा साधक ही साधन करता है और वही इष्टकी सिद्धि भी उपलब्ध करता है। कठिनाइयाँ आती हैं, परन्तु वे साधक नहीं होतीं; उनसे ध्येयमें उसकी उत्कण्ठा और भी अधिक बढ़ती है। वह उन्हें अनायास क्षेत्र लेता है। जो किसी हृषि अथवा ग्रेयका आराधक है, वही वास्तविक साधक है। उसके साधनमें जीवन होता है, श्री होती है, सौन्दर्य होता है। उसमें हतना आकर्षण होता है कि दूसरे भी उसके अनुकरणके लिये उत्सुक होते हैं। वैवा करना वे पर्वद करते हैं; ये हृदय-देशके साधक हैं, परन्तु जो वैसे नहीं हैं, वे बुद्धिके क्षेत्रमें अपने लिये उपयुक्त साधनका अन्वेषण करते हैं। और, पूर्व संस्कृत और प्रकृति-के अनुसार किसी साधनपर उनका मन टिक जाता है। कोई साधक उसी साधन-पथका अनुसरण करता है, जिसपर वह कभी कुछ चला हुआ अथवा जिसके निकट पहुँचा हुआ होता है। इसी प्रकार कोई आराधक (उपासक) भी उसी इष्टका वरण करता है, जिसमें कभी उसकी अद्भुत हुइ होती है। यह रुचि और निषा पूर्वसंस्कारार्जित होती है। कोई अनायास ही उस दिशाको जाता है, जिधर कभी जा चुका है। नाना प्रकारके साधन विभिन्न अधिकारियोंहीके लिये हैं।

प्रत्येक साधक और आराधकका सबसे पहला कर्तव्य अपने ध्येय और लक्ष्यका निश्चय करना होता है। सच्चे साधक और आराधक सावधानता और संलग्नतापूर्वक ऐसा करते हैं और वे ही साधनमें प्रवृत्त होते हैं। सच्चे साधक और जिज्ञासुको इष्टवरीय प्रेरणासे सद्गुरु भी मिल जाते हैं और वह ठीक रास्तेपर आ जाता है और टिकाने लग जाता है। जिन्हें लक्ष्य और ध्येयका निश्चय नहीं, उन्हें अवश्य ही भटकना और अटकना पड़ता है। जिसका गन्तव्य ही निर्धारित नहीं, वह कहाँ जायगा? सङ्कल्प और प्रतिशक्ति दृढ़तासे ही साधनमें दृढ़ता आती है। अन्तमुखी वृत्तिकी ध्येयमें एकतानता ही, जिसे संतोङ्गी भाषामें सुरति कहते हैं,

वह पथ है जो लक्ष्यतक पहुँचाता है। ध्येयकी और देखते हुए गुरुपदिष्ट मार्गसे साधानतापूर्वक (पूर्ण मनोयोगसे) चले जानेहीसे अभीष्ठकी सिद्धि होती है। शारीरिक स्वास्थ्य-के साथ मानसिक स्वास्थ्य ठीक रहनेहीसे साधन बन पड़ता है। सुकाहार-विहारसे शारीरिक स्वास्थ्य ठीक रहता है और वैराग्य अथवा निःसंहृतासे मानसिक स्वास्थ्य। मानसिक नैश्चय उसीसे प्राप्त होता है। राग-द्वेषमूलक वैषम्यके रहते काहे सर्वथा समस्ताकी भूमिकापर प्रतिष्ठित, परमार्थका अधिकारी नहीं हो सकता। परमार्थसाधकके लिये मानसिक श्रीहा और अतिशार बड़े धातक रोग हैं। मानसिक श्रीहा जप-तप सब भीतर-ही-भीतर खा जाती है, जिससे अन्तः-करण यिल्कुल निःसंख हो जाता है। वह साधनको अपना धाहार और लोकोंको विहार-स्थल बनाती है। वह मानसिक श्रीहा आत्मदलाघा है। मानसिक अतिशार भी शक्ति-सम्बन्ध नहीं होने देता। कुण्डलिनीके यत्क्षिति शुरुणसे जब प्रता विकसित होने लगती है, तब तत्त्व-विचार-का क्रम चलता है। चेतनाकी किरणोंसे नाना भाव-विचार इड़ते रहते हैं। उन्हें यदि योगी पचा जाता है, तो वे विचार आचार (चरित) में परिणत होकर सद्गुण उत्पन्न करते हैं। जब विचार आचारके आशयमें भरकर ऊपर आ जाता है, तब वह प्रचार (काव्य-ग्रन्थान, प्रवचन, कीर्तन) का रूप धारण करता है। इससे जगात्का कल्याण होता है। जिजातुओंको प्रकाश मिलता है। यदि इसके पूर्व आरम्भमें ही तत्त्व-विचार प्रचारका आकार ग्रहण करते हैं, तो साधकके द्वितीय हानि होती है और दूसरोंका भी उतना कल्याण नहीं होता जितना होना चाहिये। कर्योंकी परिपाक न होनेसे उन विचारोंमें प्रभाव कम रहता है। पूर्ण परिपाक होनेसे उनकी स्वल्प मात्रा भी उपयोगिनी होती है,—उनमें शक्ति होती है, जीवन होता है। पूर्ण परिपाक आत्मप्रकाशमें होता है। समयके पूर्व विचारोंका प्रचारके क्षेत्रमें जाना ही मानसिक अतिशार है। निःसंख्या एवं अगामीयोंसे ही वह कुरोग उत्पन्न होता है। आत्मालोचन तथा आत्म-संशोधनपूर्वक आत्मोन्तिकी भावना सतत बनी रहनेसे साधक इन व्यायियोंसे बच जाता है। साधनका परिपाक होनेपर जब साधक अन्तर्जगतमें प्रवेश करता है, तब उसके परमार्थिक पथको प्रकाशित करनेके लिये परमात्माकी ओरसे प्रकाशकी किरणें उसे मिलती हैं। यदि वह वाय जगत्-में उनका उपयोग करता है और हृत्त वीरेन्धीरे बद्धिमुखी हो जाती है तो भीतर अन्धकारका आंधकार होने लगता है

और पथभ्रष्ट होनेकी आशङ्का उपस्थित हो जाती है। जब-तक प्रकाशके उद्भव-स्थलमें नहीं पहुँच जाते, जबतक आत्मज्योतिसे भरकर अन्तःकरण तटूप नहीं हो जाता और अनात्मभावना नष्ट नहीं हो जाती अथवा जबतक परमप्रियतम पुष्पोत्तमका पूर्ण परिचय प्राप्त नहीं हो जाता, तबतक तमस् और ज्योतिका दृढ़ चला ही करता है। अतः स्थिति कोगल अथवा शङ्कनीय ही रहती है।

साधकका वास्तविक साधन-क्षेत्र अन्तर्जगत है। उसके लिये (वास्तविक साधनाके लिये) अन्तर्मुख होना बहुत आवश्यक है (प्रत्याहार विना धारणा नहीं बनती और धारणा विना ध्यानकी सिद्धि नहीं होती)। वायसे शान-सञ्चय करनेवाले चक्षु और श्रोत्रका पूर्ण संयम और निरोध जबतक नहीं होता; तबतक हृदय-देशमें प्रवेश भी नहीं होता और जबतक हृदय-देशमें प्रवेश नहीं होता; तबतक साधन भी नहीं बनता और सिद्धि अथवा सफलता भी नहीं होती। किंतु महापुरुषने कहा है—

चक्रम बन्दो, गोग बन्दो लव बन्दद ।

गर न यावी सिरे हक् बरमा बन्दद ॥

अर्थात् नेत्र, श्रोत्र और वाक्-को बन्द करो, रोको। यदि इसपर भी सत्यका रहस्य न अवगत हो, तो मुझे हँसो। पहले लोग तीन हिस्सा भीतर रहते थे और एक हिस्सा बाहर। पिछ आधा बाहर, आधा भीतर। बाइंद तीन हिस्सा बाहर, एक हिस्सा भीतर और अब प्रायः सम्पूर्ण अंशोंमें बाहर ही रहते हैं। मध्यप्रति हृदयका अत्यधिक ह्लास हो जानेसे श्रद्धाका ही तिरंगभाव हो गया। कुछ है भी तो अधिकांशमें राजसी-तामसी, जो खण्डशः चलती है और खण्डन-खण्डमें ही रुचि रखती है। साम्यव्यक्ति श्रद्धा तो अत्यन्त दुर्लभ हो रही है, जो परमार्थका साधन करती है। धर्म और प्रेम दोनोंही-की आधार-भूमि सत्य है। प्रेमके (अथवा सुख-दुःखके) लक्षण अभ्युआदि भी सत्यहीके क्षेत्रमें समुदित होते हैं, हीसीलिये वे साम्यव्यक्ति भाव कहलाते हैं और श्रद्धा एवं धृति आदि धार्मिक शक्तियाँ भी वही उत्पन्न होती हैं। शान्ति और शान्ति-जैसे दिव्य गुणोंका भी वही उद्भव है। सत्य-स्वता ही स्वस्ता है। सत्यगत होनेको किसी विषयमें 'लगान' कहते हैं। शानका साधन यथापि बुद्धि-वृत्तिसे होता है, तथापि उसका सम्पादन और निदिध्यासन सत्त्वहीसे होता है। उसकी स्थिरता और सार्थकता उसीके आश्रयसे होती

है। शुद्ध शानका और शुद्ध प्रेमका समुदय शुद्ध अन्तःकरणमें ही होता है। शुद्ध तत्त्वके प्रकाश और विकासके लिये शुद्ध सत्यकी स्थिति नितान्त आवश्यक है। क्योंकि उसके विना सर्वार्थीयताके रूपमें आत्माकी व्यापकताका अनुभव नहीं होता। राग-द्रेष्ट दम्भके पथसे परिच्छन्नताकी ऐसी गङ्गर कन्दरामें ले जाकर डाल देते हैं, जहाँ आत्माके प्रकाशकी किरणें विल्कुल नहीं पहुँचती। द्रेष्टके दुर्गम पर्याय और रागके सधन बन आय्मदेवसे इतना पृथक् कर देते हैं कि व्यापकताके लिये अवकाश ही नहीं रह जाता। भेदबुद्धि जितनी पुष्ट होगी, व्यापकता और उदारता उतनी ही विधित होगी—यह निश्चित ही है। प्रेमका भाव ही आत्मीयता उत्पन्न करता है और द्रेष्टका परकीयता। जिनका हृदय आक्रीड़ (विहार-वन) होता है, जो आत्मज्योतिकी प्रतन्न कौमुदीसे सुरक्ष्य उसके एकान्त प्रान्तमें प्रियके सरस साहस्र्यर्थमें रहते हैं अथवा उसके दिव्य भावसे भावित होते हैं, उनका निष्ठण ही कुछ विलक्षण होता है। वे लोगोंसे मिलता, बोलता कम पसन्द करते हैं। बायश जगत्से वे ऊँचते हैं। कौन अच्छा है, कौन बुरा है, कौन क्या करता है, क्या नहीं करता—इधर उनकी दृष्टि ही नहीं। कल्याण उनका स्वरूप, उपकार उनका चरित, करण उनकी चेष्टा, प्रलक्षण उनकी मुद्रा और शान्ति उनकी छटा होती है—

वदनं प्रसादसदनं सद्यं हृदयं सुधामुखो दाचः ।
करणं परोपकरणं येदां केषां न ते बन्धा ॥

अस्तु, परमार्थ-साधनके लिये अन्तःकरण-संशोधन प्रथम वस्तु है। यदि भगवान्को रिक्षाना है, यदि उन्हे अनुकूल करना है तो उनके अनुकूल होना भी चाहिये। उसके लिये उनकी प्रिय वस्तु साधुताका अपेक्षण (अपने स्वभावमें) सञ्चय करना सर्वाया सापेक्ष एवं अनिवार्य है। द्रेष्ट-बुद्धिके पुष्ट होनेसे परदोषदर्शन और क्रोध अनायास उत्पन्न होते हैं, जो कल्प-विग्रहके कारण बनते हैं। दोष-दृष्टि होनेसे दोष-ही-दोष दिखलायी देते हैं और गुण-दृष्टि होनेसे गुण-ही-गुण। द्रेष्ट द्रेष्ट ही उत्पन्न करता है और प्रेम प्रेष। प्रभाव अन्तःकरण अथवा मनोकृतिकी ही प्रदत्ता है। श्रिगुणातीत सच्चिदानन्दतत्त्व परमात्माके दर्शनके लिये दृष्टि और वृत्तिका गुणातीताकी मर्यादातक पवित्र होना भी सर्वथा आवश्यक है—

नयन अंजि मन माँजि चेतिरे चिदानंदयन राम ।
अथ हस्त-दीरघ नहिं होतै, ऐसी करिश लगाम ॥
(भगवती मञ्जुकेशी देवी)

वर्तमान काल लैकिक और पारलैकिक अथवा पारमार्थिक-हर एक विभागमें सजनता और सत्याचाताकी बड़ी मार्मिक अपेक्षा कर रहा है। अतः उसकी ओर हमारा ध्यान आङ्गृष्ट होना सर्वाधिक बाध्यनीय है। एक संतद्वद्य एकान्तमें रहकर भी अपनी सिद्ध-समुदार सद्गवानाओंसे वह लोक-कल्याण कर सकता है, जो सामान्यजन कितने ही व्याल्यानों-से भी नहीं कर सकते।

अन्तःकरण-विशुद्धि ही सकल सधना-सार ।
अहै त्योहार एकाग्रता योग-तत्त्व समुदार ॥

(२)

साधन अपेक्ष हैं—अधिकारके अनुसार, शक्ति और दृचिके भेदसे। कोई कुछ पछाद करता है और कोई कुछ। जो जिसे पसन्द करता और चाहता है, उसके लिये वही अच्छा है—“रुचीनां वैचित्राद्”………। “जा कर मन म जाहि सन”……। जिसमें मनुष्यकी स्वभावतः अभिरुच होती है, जाहे वह प्रेय (इष्ट) ही अथवा श्रेय (साधन), उसीमें उसके चित्तकी एकाग्रता होती है और जिसमें चित्तकी एकाग्रता होती है, उसीमें अन्तःकरणकी तल्लीनता होती है और जहाँ तल्लीनता होती है, वही सुख-सन्तोषकी प्राप्ति होती है। तत्त्व सत्त्वके तल्लस्थलमें है—अन्तःकरणकी गहराईमें है। तल्लीनता अथवा पूर्ण सुरितसे ही उसका अपरोक्षानुभव होता है। परन्तु रुचिके साथ एक वात विचारणीय होती है। वह है शक्तिका प्रभ। इसीको अधिकार भी कहते हैं। अभिरुच शक्तिसे ही सर्वपक्ष होती है। और यह मानी हुई वात है कि कलियुगी जीवोंकी शक्ति क्षीण होती है, जो प्रवृक्ष है। अस्तु, जाहे जितका जो साधन और साध्य हो, उसमें वह निष्ठायुक्त होता हुआ भी सर्वसुलभ स्वयं दद्वाहा अन्तर्नादरामनामका अवलम्बन लें सकता है—उसका एकान्त जप-योग कर सकता है। जितने आस्तिक वेदनिष्ठ सजन होंगे, उन्हें शब्दवाद अभिमत ही होगा। जो शब्दवादी हैं, उनकी अद्वा भगवत्तामें भी ही हो सकती है—जाहे वे किसी सम्प्रदायके हों। भिन्न-भिन्न धाराओं और भावनाओंके क्षेत्रोंमें उत्पन्न हुए हैं। कारण यह कि जहाँ आत्मा है, वही राम अथवा जो आत्मा है, वही राम

एवं जो ज्योति है, वही ध्वनि और जो ध्वनि है, वही ज्योति—‘ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिः ज्योतिशोऽन्तर्गतो ध्वनिः’। ध्वनि और ज्योतिकी तदह नाद-विनुका भी धनिष्ठ सम्बन्ध है और वही रामनाम है। आत्मा ही वह केन्द्र है, जिसके समुज्ज्वल समतल स्थलमें सभी मतोंके संत एकत्र होकर एक स्वरसे रामनामका अखण्डमण्डलकार मधुरालाप (अजया जप) करते हैं। अतः जो अध्यात्मपथके पथिक और हृदय-देशके यात्री हैं, उन्हें भगवत्तामका आश्रयण, उसका एकान्त जप—ऐसा जप जिसका हृदय अभिमानी हो—करना ऐसा साधन है, जो सभी साधनाओं और निष्ठाओंको बल देता है, जिससे भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, योग—सब चिद्ध होते हैं, जो निर्णिष्ट-समुगु—उभय ब्रह्मलूपोंका साक्षी और स्वयं सबका साध्य है। आगुन समुगु विच नाम सुसाक्षी । उभय प्रबोधक चतुर दुभासी ॥

राम नाम अवर्तन दिनु परमापथ की आस ।

तुलसी बारिद बूँद महि चाहत चढन अकास ॥

यह अवश्य लक्ष्यमें रसनेकी बात है कि वाकक्रमसे जिसका आरम्भ वैखरीसे होता है, चलनेहीसे सुगमतासे ठीक ठिकाने पहुँचते हैं—माता सरस्वती वडी सरलतासे मत्यमाकी उस सुराय सुख-पुङ्क कक्षमें पहुँचा देती है, जिसे शाश्वतिक अपनी परिमाणमें स्फोट कहते हैं, जहाँसे शब्द स्फुटित होते हैं, जहाँ रामनामके नाद-विन्दु चिति और हादिनीके साथ हिल-मिलकर खेलते रहते हैं। तात्पर्य यह कि वाङ्मार्गसे अजया और दिव्य नाद (स्वयं शब्दब्रह्म-स्वरूप गुणातीत अनाहत) उभयकी सिद्धि होती है।

स्वतः शब्द-प्रामाण्यतः ‘विन्दु’ वाक्-पथ गम्य ।

शब्द-ब्रह्म गमति ध्वनि-च्यान-धारणा रम्य ॥

वही राम, वहि धर्य है, वही श्रेय, वहि प्रेय ।

राम नाम फ़िपूँ ही ‘विन्दु’ प्राण-सिद्धि प्रेय ॥

यद्यपि आजकल सहुरु बहुत दुर्लभ हो गये हैं और उनसे भी दुर्लभ उनकी पहचान हो गयी है, तथापि यदि भगवत्त्वण और भाग्यसे ऐसा सुयोग लग जाय और कोई रामके प्यारे मिल जायें, तो उनकी शरणमें प्राप्त हो उनके निर्देशसे ही भजन करना श्रेयस्कर है—

‘कि सालिक बेल्बर न बुद्ध वे राहो-रसे मञ्जिलहा ।’

क्योंकि गुरु मार्ग और केन्द्रोंके सब भेद जानता है। सबे साधक (भगवान्के लिये भगवान्के रास्तेपर चलनेवाले) को, जब उनकी सहायताका ठीक मुहूर्त आ जाता है, (हंस्र अन्तिम अनिष्टकारक क्षणमें ही अचिन्त्य रीतिसे सहायता करते हैं) तब भगवान् किसी सहुरुसे अवश्य मिला देते हैं। यह सहुरुन भगवान् स्वयं अपने जगहुरुस्तपे करते हैं—

जिसे रिय तुम अपनाते हो ।

अपने मिलनेकी राह उसे आप हि बतलाते हो ॥

जबतक ऐसा न हो, कोई सहुरु न मिले, तबतक भगवान्के भरोसे पूर्ववर्ती संतोंके अनुभवोंसे लाभ उठाते हुए सावधानतापूर्वक रास्तेपर चलना चाहिये और अपनेको प्रभुके सामने सब्द साधक और आराधक चिद्ध कर देना चाहिये। फिर तो वे संभाल ही लेने। अपने कर्तव्यालनमें वे वहे सजग रहते हैं—‘वही साहितीमें नाथ, वहे सावधान हो ।’ कोई उनके लिये दो पग आगे बढ़ता है, तो वे चार पग आगे आकर उसे अपनाते हैं—

सति प्रति स्वारथ परमापथ । कोउ न राम सम जाम जयाम ॥

हाँ, अवश्य जान लेना चाहिये कि सबे गुरु एक सुदीर्घ कालके बाद मिलते हैं, जब भगवान्के मिलनेका मङ्गलमय समय समीप आता है—

नम्रे बायद कि याग आयद बकनाग ।

है देवेन्द्र सरमद हमा कसग न देहन्द ॥

अर्थात् इस बातके लिये एक सुदीर्घ जीवनकी अपेक्षा है कि वह प्रियतम सखा गोदमें आये। ऐ सरमद, यह सम्पत्ति सबको नहीं मिलती ।

गुरु गोविन्दका मिलना उतना कठिन नहीं, जितना कठिन उनके लिये हृदयमें सबी चाहका होना है। सबी चाहमें एक अद्भुत आकर्षण होता है, जिसके सूक्ष्म शक्ति-तन्तु वहाँतक चिन्हे हुए होते हैं जहाँ जिसकी चाह होती है, वह होता है। सबी चाह या लगन स्वयं पश्चादर्द्धनका

काम करती है। वह रास्ता साफ़ करती हुई उधर ही खींच ने जाती है, जिघर वह गयी हुई होती है। सचाईका रास्ता इतना प्रशस्त, विश्वस्त, सुधारित और सुव्यवस्थित अतएव अभय होता है कि उससे कोई भटक ही नहीं सकता। जहाँ, कोई भटकेगा, वहाँ भी वही है। वह उठाकर ठिकाने ला देगा—‘कस न दीदम कि गुम शुद अज्ञ रहे-रास्ता’—किसीको सचाईके रास्तेसे गुमराह होते नहीं देखा।

अतः आन्तरिक साधनकी ओर विशेष लक्ष्य रखना

उन्नित है। उसीके बननेसे सब बनता है। अन्तःकरणको ऐसा साधन चाहिये कि वह निश्छल और निरहङ्कार हो, जिससे उसमें भगवानके लिये सबीं चाह उत्पन्न हो सके—

निमैंस मानसिक आवास।

मलिन भाव बुहरि फैरहु सच्छ करहु देवास।

खींच नमं मदहि मारो, मदन डलो गस॥

छरस, नवरस, पंचरस महं बहै एक बतास।

कहति ‘केदी’ मठ सैंवारहु करहि जेहि हरि बास॥

परमोक्तुष्ट साधन

गायत्री

(लेखक—पण्डितप्रबर श्रीद्वारकाप्रसादजी चतुर्वेदी)

इमरे-जैसे जीवात्माओंको इहलोक और परलोक दोनों लोकोंमें सुख एवं शान्ति प्रदान करनेवाला यदि कोई परमोक्तुष्ट साधन है तो वह एकमात्र वेदमाता गायत्रीकी मर्वतोभानेन आराधना ही है। अनेक जन्म धारण करके अनेकों योनियोंमें भटकनेके बाद तब कहीं भगवत्कृपा अथवा उत्कृष्ट कर्मोंके पललूपमें इस जीवको मानव-शरीर मिलता है। मानव-योनिमें भी ब्राह्मण होना महान् पुण्यकर्मोंका फल है। किंव ब्राह्मण होकर जिसने वेदमाता गायत्रीका अनुग्रह सम्पादन कर लिया, उसको तो किसी बातकी कमी ही नहीं रह जाती।

यद्यपि वेदादि शास्त्रोंमें ऐसे अनेक मन्त्र हैं जिनका साधन करके द्विजर्यग सब्र प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है; तथापि वेदमाता गायत्रीकी महिमा सबसे अधिक है। शौतकीय शृण्विधानमें तो यहाँतक कहा गया है—

प्रथमं लक्ष्यगायत्रीं सक्षम्याहृतिमप्युताम् ।

ततः सर्वैदंवमन्त्रैः सर्वसिद्धिज्ञ विन्दुति ॥

अर्थात् सम व्याहृतियोंसे सम्पुटित गायत्री-मन्त्रका एक लक्ष्य जप किये जिना कोई भी वेदमन्त्र सिद्धिप्रद नहीं हो सकता। इससे स्पष्ट होता है कि गायत्री-मन्त्र वैदिक साहित्यके खजानेकी मानों कुंजी है। जिसने गायत्री-मन्त्रको साध लिया, उसने मानो उभय लोकोंको अपने वशमें कर लिया।

* मदको ऊर्ध्वे अधःमै उत्तरो भीर मदनको अधःसे ऊर्ध्वमै चढ़ाओ।

शुक्राचार्य युद्धमें मारे गये दानवोंको जिस मृतसङ्खीवन मन्त्रके प्रभावसे जीवित कर देते थे, वह भी गायत्रीप्रधान मन्त्र ही है। जिस ब्रह्मार्थसे तीनों लोक थर्ता जाते थे, उसमें भी गायत्री-मन्त्रकी ही प्रधानता है। विशामित्रजीके समस्त अस्त-शर्कोरोंको विफल करनेवाला वसिष्ठजीका ब्रह्मदण्ड गायत्री-मन्त्राम्बक ही था। गायत्रीकी आराधनासे ही विश्वामित्रजीने न केवल ब्राह्मणत्व ही प्राप्त किया था, बल्कि उनमें नवीन सृष्टि रचनेकी शक्ति भी उत्पन्न हो गयी थी। हस प्रकार किसने उदाहरण दिये जायँ। ब्राह्मणके लिये तो गायत्री कामयेनुल्पा है। जो ब्राह्मण ऐसे महामहिम गायत्री-मन्त्रका महत्व न लमझकर उसकी साधनासे विमुख रहता है, उसका ब्राह्मणके घर जन्म लेना व्यर्थ है।

प्राचीन कालके उदाहरणोंपर ही नहीं, बल्कि आधुनिक कालकी घटनाओंपर ही यदि ध्यान दिया जाय तो भी गायत्री-मन्त्रका अनुपम प्रभाव मूर्तिमान् होकर प्रत्यक्ष दीखने लगता है। श्रीजानेश्वरजीकी गायत्री-मन्त्रसे जो लाभ हुआ था, वह प्रसिद्ध ही है। खामी दयानन्दको इतना प्रसिद्ध करनेवाला गायत्री-मन्त्र ही है। इमरी जानकारीमें एक दो नहीं, बीसियों ऐसे ब्राह्मण हैं, जिन्होंने आजन्म गायत्रीको छोड़ अन्य किसी उपायका अवलम्ब नहीं लिया और जो इस लोक और परलोक दोनोंमें सुखी रहे। ‘हिन्दी-प्रदीप’ पत्रके सम्पादक स्वर्गीय पण्डित बालकृष्णजी भह गायत्री-

मन्त्रके ही बलपर निर्भय होकर लिंगकी तरह दद्वाइते थे । मृत पुरुषोंकी बात छोड़िये, महामना पण्डित मदनमोहनजी मालवीयको देखिये; उनका हिंदूविश्वविचालय वेदमाता गायत्रीकी आराधनाका ही जीवाजाता फल है । जो कार्य पहले असम्भव-सा देख पड़ता था, वही गायत्री-मन्त्रके आश्रय-प्रणासे अत्यन्त सरल हो गया । इस प्रकार मृत-जीवित अन्य अनेक महापुरुषोंके नाम गिनाये जा सकते हैं, जिन्हें गायत्री-मन्त्रकी आराधनासे अपार लाभ हुआ है ।

इतना ही नहीं, ब्राह्मण-जाति और गायत्री-मन्त्रका कुछ ऐसा धनिष्ठ सम्बन्ध है कि कितने ही लघे ब्राह्मणोंको तो गायत्री-मन्त्रके आराधनसे आजन्म विद्धित रहनेपर भी अन्तकालमें अपने-आप उसका सरण हो आता है । उदाहरणके तौरपर देखपर अपनेको न्यौछावर कर देनेवाले स्वर्गीय राघुभक्त पण्डित योतीललूली नेहरुको लीजिये । वे जीवनभर दूसरे बातावरणमें रहे, परन्तु शरीर छोड़ते समय पूर्वसंस्कारब्य उन्हें गायत्री-मन्त्रका स्मरण हो आया । इस प्रकारकी घटनाएँ ब्राह्मण-जाति और गायत्री-मन्त्रके अविच्छेद्य सम्बन्धकी परिचायक नहीं तो और क्या हैं ।

इन पंक्तियोंके लेखकके जीवनका आराध्य मन्त्र तो गायत्री-मन्त्र ही है । जब मैं अपने जीवनकी विषम कठिनाइयों और उनसे अनायास पार हो जानेके इतिहासर दृष्टिगत करता हूँ, तब गायत्री-मन्त्रके अगणित उपकार प्रत्यक्ष हो जाते हैं और उसके प्रति मेरी निष्ठा यत्यरो नास्ति हो जाती है । वारेन हेस्टिंग्ज नामक पुस्तक लिखनेके उपलक्ष्यमें तकालीन प्रान्तीय सरकारकी ओरसे मुझे जो पुरस्कार मिला, उसे प्रायः सभी हिन्दी-साहित्यानुरागी जानते हैं । उस समय आजीविकाहीन होकर कच्ची गृहस्थीके

भारते दब जानेके कारण मैं जिस मानसिक अशान्तिका शिकार हुआ था, उसे मैं ही जानता हूँ । परन्तु वेदमाता गायत्रीने वैसे गाढ़े समयमें भी अपना करावलभ्व देकर मुहकी शोक-सामग्रसे हँसते-स्वेच्छते पार लगाया । मेरे जीवनमें गायत्री माताके ऐसे अनेक उपकार हैं, जिनका सरण करके दृढ़य गद्द दो जाता है । सच पूछिये तो एकमात्र गायत्री माताकी कृपासे ही मैंने आजतक विविध विषम परिस्थितियोंमें पहलक भी बानन्द जीवन किया है । उन्हींके भरोसे मैं आज भी जैवनी वंशी बजप रहा हूँ । अस्तु,

वेदमाता गायत्रीका ब्राह्मणमात्रपर वात्सल्य खोइ है; फिर भी कितने खेदकी बात है कि आजकलके अधिकांश ब्राह्मण गायत्री माताकी साधना तो जल्ग रही, उनका सरण भी नहीं करते । फलतः वे इस जले पेटके लिये ब्राह्मणेतरोंके द्वारपर मारे-मारे फिरते हैं । मैं यह दावेके साथ कह सकता हूँ कि यदि अबसे भी ब्राह्मण-जाति सचेत हो जाय और गायत्री माताकी आराधना करने लगे तो फिर वह पहलेकी तरह शक्तिशालिनी हो सकती है । एकमात्र इसी सर्वोत्कृष्ट साधनसे कोई भी ब्राह्मण अपने लिये उन्नयनोंके बना सकता है । भला, जो वेदमाता गायत्री आयु, पृथिवी, द्रव्य और दृन सबसे बढ़कर ब्रह्मवर्चस देनेवाली है, वह क्या कभी विसरनेकी वस्तु है ? मैं नियम सन्ध्योपासनके समय विसर्जन करते हुए वेदमाता गायत्रीसे यह प्रार्थना किया करता हूँ—

स्तुतो मध्या वरदा वेदमाता
प्रचोदयन्ती पवने द्रिजाता ।
आयुः पृथिव्यां द्रव्यां ब्रह्मवर्चम्
महां दत्ता प्रजानुं ग्रहलोकम् ॥

ब्रह्मवेता मुनि कौन है ?

वाचो वंगं मनसः क्रोधवेगं विधित्सावेगमुद्दरोपस्थवेगम् ।
पतान्वेगान्यो विगद्दुदीर्णस्तं मन्येऽहं ब्राह्मणं वै मुनिं च ॥

जो पुरुष वाणीके वेगको, मनके वेगको, क्रोधके वेगको, काम करनेकी इच्छाके वेगको, उदरके वेगको और उपरस्थके वेगको रोकता है, उसको मैं ब्रह्मवेता मुनि नमस्करता हूँ ।

विनय

कम्हूँक अंव ! अवसर पाइ ।

मेरिओं सुधि याडी, कलु करन-कथा चलाइ ॥

दीन सब अँगहीन, छीन मर्लान अधी अघाइ ।

नाम ले भरे उदर एक प्रभु-दासी-दाम कहाइ ॥

वृक्षिंह 'मो है कौन' कहिवी नाम दमा जनाइ ।

सुनत राम कृपालुके मेरी विगरिओं बनि जाइ ॥

जानकी जगजननि जनकी किये बचन महाइ ।

तरं तुलसीदाम भव तव नाथ-गुन-गन गाइ ॥

—तुलसीदासजी

सहज-साधन

(लेखक - श्रीबद्रीदासकी महाराज बानप्रस्थी, भैरान्तभूषण)

इस समय संसारमें जीवोंका जीवन चहुत थोड़ा रह गया है। उन्हें न तो पूर्ण आशु ही मिलती है और न के पूर्ण मुख्य-सम्पत्ति और स्वाधीनताका ही उपभोग कर पाते हैं— जीचहीमें कालके वशभूत ही जाने हैं। ऐसे अल्पजीवी जीवोंके कल्याणके लिये यदि कोई सहज-साधन यता दिया जाय तो उनका महान् उपकार हो सकता है। इसी बातकी लक्ष्यमें रखकर हमारे गुरुदेव परमपूज्यगद योगिराज ब्रह्मनिष्ठ श्री॒१०८ श्रीकृष्णराजजी महाराजने हमें जो सदुपदेश दिया था, उसे ही कल्याणके पाठकोके समक्ष उपस्थित करके इस आशा करते हैं कि इस सहज-साधनके द्वारा वे अपना और अपने इष्ट-मित्रोंका कल्याण कर सकेंगे। अस्तु,

पूज्य गुरुदेवने कहा था कि जो कार्य स्वाभाविक हो—जो मुख्यसे और अपनी अखण्ड प्रसन्नतासे हो सके, वही 'सहज' होता है। उस सहज-साधनसे सत्युपर परमात्माका साक्षात्कार कर सकते हैं तथा अपने अशानको नष्ट करके सारे जगत्का भला कर सकते हैं। अतः इस स्वत्वं जीवनमें मनुष्यमात्रके इस सहज-साधनका अभ्यास करना चाहिये। इस साधनको समझनेमें किये पहले तीन शब्दोंकी परिभाषा समझ लेनी चाहिये, क्योंकि इन्हे समझे बिना सहज-साधनका अभ्यास हो नहीं सकता। वे तीन शब्द ये हैं—भ्रम, अविद्या या माया और अद्वार। (१) जो वस्तु वास्तवमें है नहीं, किन्तु दिखायी देती है, उसे भ्रम कहते हैं—जैसे महसूलमें जल या सीधीमें चाँदी आदि। (२) जो वस्तु वास्तवमें है नहीं, किन्तु उत्पन्न हो जाती है उसका नाम अविद्या या माया है—जैसे धर, गाढ़ी, घोटी इत्यादि। धर वास्तवमें कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, पञ्चभूतोंकी समष्टिविशेष ही धर वन जाती है। इसी प्रकार काठ और लोहके समृद्धिविदोपका नाम गाढ़ी है, तथा सूत ही घोटी बन जाता है। (३) नामकी कोई वस्तु न होनेवर भी 'मैं' की प्रतीति होती है—इसीका नाम अद्वार है। मैं शरीरादि नहीं हूँ, मिर भी मैं अमृत अर्थात् ब्रह्मेदाम हूँ—ऐसी बुर्जी होती है। हमें ही अद्वार कहते हैं। इस प्रकार इन तीन शब्दोंका अर्थ हृदयझम हो जानेपर मनुष्यका सहज-साधनका अधिकार प्राप्त होता है। इस अधिकारके प्राप्त हुए बिना हमें सफलता नहीं मिलती।

जिन भाग्यवानोंको यह संसार भ्रमबन् जान पड़ता है और जो कुछ हीने या चन्नेवाले पदार्थ हैं वे ये सब अविद्या या माया हैं—ऐसा निश्चय होता है तथा मैं, तू, यह, वह— ये सभ अद्वारके ही खेल दिखायी देते हैं, वे पुरुष या मही हीं हस सहज-साधनके सब्जे अधिकारी हैं। ऐसे अधिकारियोंको ही इससे तच्छी सिद्धि मिल सकती है—प्रापादिकी नित्यति तो इसके स्मरणमात्रसे ही जाती है।

मनुष्य क्या, प्राणिमात्रके भीतर प्रणवकी स्वाभाविक ध्यनि हो गही है। वह सुगमतासे मुरी जा सकती है और चड़ी प्रसन्नतासे उसका ध्यान ही सकता है। अतः स्वाभाविक होनेके कारण यह प्रणवध्यान ही सहज-साधन है। इसके अन्यास से मनुष्य परमात्माका साक्षात्कार कर जीवन्मूल ही सकता है—नरमे नारायण ही सकता है। अतः 'प्रणव क्या है', 'उसका अर्थ क्या है' अर्थ प्रणवध्यान किस प्रकार किया जाता है? इन प्रश्नोंका संबंधमें उत्तर देकर कल्याणकामियोंको सहज-साधनका सुगम पथ बताया जाता है। प्रणव परमात्माका नाम है—'तत्पूर्व वाचकः प्रणवः' (यो० सू० १। २३)। नामीते नामका भेद नहीं होता। अनः भगवत्तामसमरण और भगवद्-ध्यान—ये दोनों समान-स्वप्नमें जीवका कल्याण करनेमें गमर्थ हैं। प्रणवध्यानके विषयमें सर्वादैविणी भगवत्ते श्रुति कहती है—

प्रणवो धनुः शरो ज्ञात्या ब्रह्म तत्त्वमुद्धने ।

अप्यमतेन वेदवृत्तं शरवत्त्वमयो भवेत् ॥

(मुण्डा० २।२।४)

प्रणव धनुप है, भोगात्मिक आत्मा वाण है और अध्य-व्रक्ष उसका लक्ष्य कहा जाता है। अतः ब्रह्मस्वरूप लक्ष्यका अवधानीमें वेदन करना चाहिये और याणके समान तत्प्रप्र अर्थात् ब्रह्ममय हो जाना चाहिये।

अधिकारा लोग ओंकारको ही प्रणव समझते हैं, परन्तु हन दोनोंमें एक गूँह्य अन्तर है। प्रणवध्यनि केवल चिन्तनत्रुतिको गंगकर ही मुरी जा सकती है और (ॐ) उसका गौणस्वप्नमें उत्तराण करना है। इस प्रकार (ॐ) प्रणवका ही स्थूल स्वप्न है। यह ओंकार ही त्रिवर्णात्मक सगुण ब्रह्म है। इसका बाच्य अक्षरब्रह्म निर्गुण और विभु है।

ॐ ही अपर और पर ब्रह्म है। यह सभूषण विश्व ओंकार ही है। ॐ—यह अक्षर ही सब कुछ है। भूत, भवित्वा और वर्तमान जो कुछ है, सब ॐ ही है। जिसको ॐ कहा गया है और स्वयं ॐ—यह सब ब्रह्म ही है। ब्रह्म परमात्मा या भगवान्, कृष्ण कोई परोक्ष वस्तु नहीं हैं। अन्तःकरणमें विराजमान यह आत्मा ही ब्रह्म है और वही ओंकार है।

इस ओंकारमें अ, उ, म् ये तीन चर्ण हैं। इनसे क्रमशः समर्पिये विराट्, हिरण्यमर्भ या सूत्रात्मा तथा ईश्वर और व्यष्टिमें विश्व, तेजस एवं प्राणका अहग होता है। जिस परमात्माने संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और नाश होते हैं उसीका नाम ॐ या प्रणव है। इसके भ्यानकी विधि नीचे लिखी जाती है।

प्रणवध्यान—“इस समय जब कि मेरी जगा हुआ हूँ मेरी जाग्रत् अवस्था है, मैं स्थूल भौगोका भोक्ता हूँ और व्यष्टिपिण्डाण्डमें रहनेसे मेरे शरीरका नहीं, चेतनका नाम ‘विश्व’ है तथा समर्पिये वही ‘विराट्’ कहा जाता है। यही ओंकारकी अ मात्रा है और यही जाग्रत्-अवस्थाका अभिमानी विश्वात्मा है”——इस प्रकार ॐका उच्चारण करते हुए प्रायः १५ मिनट स्मरण करना चाहिये।

“जिस समय मैं स्वप्न देखता हूँ उस समय मेरी स्वप्नावस्था होती है, तब मैं सूक्ष्म विषयोंका भोक्ता होता हूँ और व्यष्टिपिण्डाण्डमें रहनेसे मेरे शरीरका नहीं, चेतनका नाम ‘तेजस्’ होता है तथा समर्पिये वही ‘हिरण्यगर्भ’ कहा जाता है। यही ओंकारकी दृसरी मात्रा उ है और यही स्वप्नावस्थाका अभिमानी सूत्रात्मा है”——इस प्रकार ॐका उच्चारण करते हुए प्रायः २० मिनटक चिन्तन करे।

“जिस समय मैं सो जाता हूँ उस समय मेरी सुपुत्रावस्था होती है। तब मैं वीजरूपसे सबका भोक्ता होता हूँ और व्यष्टिपिण्डाण्डमें रहनेसे मेरे शरीरका नहीं, चेतनका नाम ‘प्राण’ होता है तथा समर्पिये वही ‘ईश्वर’ कहा जाता है। यही ओंकारकी तीसरी मात्रा भ है और यही सुपुत्रिका अभिमानी कारणात्मा है। यह सबका ईश्वर, सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी है तथा सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति और लयका

स्थान होनेसे भवका कारण है”——इस प्रकार ॐका उच्चारण करते हुए प्रायः २५ मिनटक चिन्तन करना चाहिये।

अन्तमें “अत्र मैं भगवान्स्थ हूँ। यह मेरी तुर्यावस्था है। इसके सम्बन्धमें विद्वान् लोग ऐसा मानते हैं कि न यह अन्तःप्रज्ञ है, न विद्वप्रज्ञ है, न उभयतः अर्थात् अन्तर्बहिःप्रज्ञ है, न प्रज्ञानशत है, न प्रज्ञ है और न अप्रज्ञ है। यह अद्य, अध्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्ययदेश्य, एकात्मप्रत्ययार, प्रपञ्चका उपशम, द्यान्त, द्याव और अद्वैतरूप है। यही मैं हूँ और व्यष्टि पिण्डाण्डकी उपाधिसे मेरा ही नाम ‘आत्मा’ और समर्पित्रद्वारा उपाधिसे मेरा ही नाम ‘परमात्मा’ है। यह तुर्यावस्थका अभिमानी साक्षी चेतनात्मा ही साक्षात् जानने योग्य है” इस प्रकार ओंकारका चिन्तन करते हुए जितनी देरतक शाश्वति न हो, तबतक लगातार ध्यान करना रहे। यही प्रणवध्यानकी सक्षिप्त विधि है।

इस प्रणवध्यानमें न तो किली प्रकारका शारीरिक कष्ट ही है और न पेसेका खर्च ही। केवल सिंड या स्वस्तिक असनसे अथवा जिससे भी सुखपूर्वक अधिक देरतक बैठा जा सके, वैष्ट जाय। इस प्रकार प्रातः, मध्याह्न और सायं तीनों कालोंमें अभ्यास करे। ऐसा करनेसे ब्रह्मतेजकी प्राप्ति होकर जीव निष्पाप हो जाता है तथा उसे परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है। ओंकार मन्त्रराज है, इसीसे इसका ‘सर्वकर्मारभ्ये विनियोगः—समस्त कर्मोंके आरम्भमें विनियोग किया जाता है। जिसका सब कार्योंके आरम्भमें सहृद्य हो, उसीको सहज या स्वाभाविक समाप्तना चाहिये। अतः प्रणवध्यान ही सहज-साधन है और यह सबके लिये उपयोगी एवं परम पावन है।

अतएव इस सर्वोभ्योगी साधनका द्वये अहर्निश अभ्यास करना चाहिये। इससे हमारा, हमारे समाजका और हमारे देशका परम कन्याण होकर विश्वभरका श्रेय हो सकता है। यही सोचकर हमारे पृथ्वीपाद शृष्टि-महर्षि और आचार्योंने भी सन्तानकी दशविष्ठ कियाओंमें सबसे पहले ‘प्रणवध्यान’ यानी यह सहज-साधन ही रखा है, जिसके इसका आवालब्रह्म सभी सुगमतासे अभ्यास कर सकते हैं।



सर्वोच्च साधनके लिये एक बात

(लेखक—र०० स्नामो श्रीपराहुशाचार्यजी शास्त्री)

संसारमें जब हम विवेचनात्मक दृष्टि डालते हैं तो यह बात स्पष्ट दिखायी देती है कि प्रत्येक प्राणीकी प्रवृत्ति इष्ट-प्राप्ति और अनिष्टनिवृत्तिकी ओर ही है। सबकी यदी चेष्टा रहती है कि हमें सब प्रकारके अभिष्ट सुख प्राप्त होते रहें और अवाञ्छनीय दुःख हमारे पास न फटकने पायें। परन्तु यह इष्टप्राप्ति और अनिष्टनिवृत्ति केवल मनोरथमात्रसे सिद्ध नहीं हो सकती, इसके लिये विशेष उद्घोषणा आवश्यकता है—

‘उत्तमेन हि सिद्धयन्ति कार्याणि न मनोरथः ।’

अतः जो इन्हें पानके लिये उत्सुक हैं, उन्हें इनके अनुरूप उद्योग करना होगा ।

किसी भी अर्थकी सिद्धिके लिये शास्त्रोंने दो प्रकारके उपाय बताये हैं—इष्ट और अदृष्ट। पहले प्राणी इष्ट उपायका आश्रय लेता है; जब उसे उससे सफलता नहीं मिलती तो वह अदृष्ट उपायके द्वारा अपना मनोरथ सिद्ध करनेकी चेष्टा करता है। लोकमें यह बात स्पष्ट देखी जानी है कि जब कोई व्यक्ति बीमार पड़ता है तो उसके इष्टमित्र पहले उसकी विभिन्न वैद्य-डाक्टरोंमें चिकित्सा कराते हैं अथवा जल-चायुके परिवर्तनके द्वारा उसके स्वास्थ्यलाभके लिये प्रयत्न करते हैं। ये सब रोगनिवृत्तिके इष्ट उपाय हैं। जब इनसे सफलता नहीं मिलती तो शत्रुघ्न, त्वरितदृढ़, मृत्युञ्जय, शतचण्डी, नृसिंह, मुदर्दश एवं हयग्रीव आदि मन्त्रोंके जप अथवा दुर्गास्त्रशती, रामायण एवं भागवत आदि ग्रन्थोंके पारायण और दान-पूण्यादिके द्वारा उसकी व्याख्यनिवृत्तिकी चेष्टा करते हैं। ये सब अदृष्ट उपाय हैं।

संसारमें दुःख इनने अधिक है कि उनकी टीकी-टीक संख्या करना प्राप्त असम्भव है। उन सबको हमारे गृह्य महर्पिण्योंने आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—तीन विभागोंमें विभक्त कर दिया है। इन तीन वर्गोंमें ही संसारके सारे दुःख आ जाते हैं। इसीसे इंधर कृष्णने सांख्यकारिकाके आरम्भमें ‘दुःखत्रयाभिषाताजिजासा तदप्यधातके हेतौ’ कहकर त्रिविष दुःखोंकी निवृत्तिके साधनकी विज्ञासामें ही सर्वदुःखनिवृत्तिकी जिज्ञासाका समावेश कर

दिया है। ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे यह स्पष्ट ही है कि दृष्ट साधनकी अपेक्षा अदृष्ट साधन विशेष बलवान् हैं। उन अदृष्ट साधनोंमें भी किसी न-किसी देवताके मन्त्र या सोत्रके ज्ञान या पाठका ही प्राधान्य रहता है। शास्त्रोंमें दुःखोंके त्रिराशीकरणकी भाँति सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे देवताओंका भी त्रिराशीकरण किया गया है। इसीसे विभिन्न अधिकारी अपनी-अपनी प्रवृत्तिके अनुसार गिन्च-गिन्च देवताओंका अर्चन-पूजन करते हैं। गीतामें श्रीभगवान् कहते हैं—

यजन्ते मास्तिका देवान् यज्ञशक्तांमि राजसा: ।

प्रेतान् भूतगणांश्चान्मे यजन्ते नामसा जनाः ॥

(१३। ४)

इस झोंकमें यह बताया गया है कि सात्त्विक प्रकृतिके पुरुष देवताओंका, राजस प्रकृतिके पुरुष यज्ञ-राजसोंका और तामसी लोग प्रेत एवं भूतगणका पूजन करते हैं। किन्तु देवता भी भास्त्रिकादि भेदसे कई प्रकारके होते हैं, जिनका साधक लोग अपनी लौकिक या अलौकिक कामनाओंकी पूर्ति और अनेकों क्षुद्र दुःखोंकी निवृत्तिके लिये पूजन करते हैं। किन्तु सर्वदुःखनिवृत्तिके परमानन्ददायिनी मुक्तिकी प्राप्ति तो विशुद्धसत्त्वमय श्रीमन्नारायणकी उपासनासे ही प्राप्त होती है—‘हरिस्मृतिः सर्वविषद्विमोक्षाणम् ।’ इस विषयमें श्रुति, स्मृति, पुराण, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थोंमें अनेकों प्रमाण उद्भूत किये जा सकते हैं। अतः—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।

तीव्रेण भक्तियोगेन यजेन पुरुषं परम् ॥

‘निष्काम हो, सकाम हो अथवा मोक्षकी कामनावाला हो, उदारबुद्धि साधकको तीव्रतर भक्तियोगके द्वारा परमपुरुष श्रीमन्नारायणकी ही उपासना करनी चाहिये।’ उनकी कृपा होनेपर भक्तको भोग-मोक्ष कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता।

यथापि भगवान् श्रीमन्नारायणके अनेकों नाम और मन्त्र हैं तथा वे सभी भक्तकी समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाले हैं, तथापि उनके अष्टाशत्र भन्त्रका शास्त्रोंमें बड़ा महत्व है। इसीसे कहा है—‘न वेदाद्य परं शास्त्रं न मन्त्रोऽष्टाशत्रत्यरः—

वेदसे वदकर कोई शास्त्र नहीं है और अग्राकृत-मन्त्रसे वदकर कोई मन्त्र नहीं है। श्रुति कहती है—‘ॐ नमो नारा-यणायेति मन्त्रोपासको वैकुण्ठं भुवनं गमिष्यति—‘ॐ नमो नारायणाय’ इस मन्त्रकी उपासना करनेवाला वैकुण्ठलोकको जायगा।’ अनुसृतिमें कहा है—

किं तस्य बहुभिर्मन्त्रः किं तस्य बहुभिर्जपे: ।
नमो नारायणायेति मन्त्रः सर्वायषाधकः ॥

‘भक्तको अनेकों मन्त्र और अनेकों जपोंसे कथा प्रयोग्यन है ?’ ३० नमो नारायणाय’ यह मन्त्र ही समर्पण अर्थोंकी मिदि करनेवाला है।’ इस मन्त्रको चतुर्वेदसार भी कहते हैं—

चतुर्णा वैदानां हृदयमिदमाकृष्ट्य विधिना
चतुर्भिर्वद्यौः समवटि तु नारायण इति ।
तदैतद्वायन्ती वयमनिशमायानमधुना
तुनीमो जानीमो न हरिपरितोषाय किमपि ॥

अर्थात् विधाताने चारों वंदोंके हृदय (सार) को निकाल कर चार चरणोंसे ‘नारायण’ इस मन्त्रको रखा है। अतः हम अहर्निश इसका कीर्तन करते हुए अपनेको पवित्र करते हैं, इसके सिवा श्रीहरिको प्रसन्न करनेका कोई और साधन नहीं जानते। यह मन्त्र साधकको कथा-कथा दे सकता है, इस विषयमें एक जगह कहा है—

मंहलोकिकमैवर्वयं स्वर्गोर्य पारलोकिकम् ।
कैवल्यं भगवन्तं च मन्त्रोऽयं साधयिष्यति ॥

‘यह मन्त्र ऐटिक ऐटवर्य, स्वर्गलोक, वैकुण्ठलोक, कैवल्य और स्वयं श्रीभगवानकी भी प्राप्ति करा देना है।’

इस प्रकार यद्यपि यह मन्त्र सब प्रकार कल्याणकारी और अत्यन्त महिमान्वित है तथापि विधिविदोपरेषे अनुश्रान करनेपर ही इसका यथावत् फल मिल सकता है। यह ठीक है कि किसी भी प्रकार भोजन करनेसे भूख मिट सकती है, किन्तु यदि उसके साथ स्वान, काल और वातावरणकी अनुकूलता भी हो तो उसका एक विशेष लाभ होता है। इसी प्रकार मन्त्रजपके लिये भी अधिकारी और विधिविशेषकी बड़ी आवश्यकता है। नहीं तो कभी-कभी उसका विपरीत पाल भी हो सकता है।

मन्त्रानुश्रानमें सबसे पहले गुरुके उपदेशकी आवश्यकता होती है। सदगुरुका उपदेश मिले बिना कोई भी विना सफल नहीं होती—‘न प्रीढीदति वै विद्या बिना सदुपदेशः।’

श्रुतिने भी ‘तदित्तिनामार्थे स गुरुमेवाभिगच्छत्समितपाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्’ एसा कहकर विद्याप्रदायके लिये पहले श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी शरणमें जानेका ही विधान किया है। किन्तु गुरु कैसा होना चाहिये ? इस विषयमें आजकल बहुत अज्ञान है। शास्त्रोंमें गुरुके जो लक्षण वाले हैं, उनका इस श्लोकमें संयह किया गया है—

सिद्धं सत्सम्प्रदाये स्त्रियरथियसन्तर्घं श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं
सत्त्वस्थं स्त्रयवाचं सम्भवित्यत्या साधुदृश्या समेतम् ।
दम्भासूर्यादिमुक्तं जितविषयगणं श्रीष्वर्वन्धुं दयालुं
स्वलित्ये शासितारं समरहितयरं देशिकं भूय्युरीप्सेत् ॥

अर्थात् कल्याणकामी पुरुषको ऐसे गुरुकी लोक करनी चाहिये जो सर्वसाधनोंमें पारङ्गत, सत्सम्प्रदायमें दीक्षित, निष्ठाप, श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ, सत्त्वगुणमें स्थित, सत्यवक्ता, समयानुकूल, साधुदृश्यिसे संयम, दम्भ और असूरादि दोषोंमें रहित, जितनिदिव, परम सुहृद्, दयालु, शिष्याका पतन होनेपर उसका शासन करनेवाला और जीवों के हितमें तत्पर रहनेवाला हो।

ऐसे सदगुरुका सम्बन्ध होनेपर ही शिष्य साधन-भार्गमें अग्रस्त हो सकता है। गुरुदृष्टाके बिना तो श्रीहरिका भी अनुग्रह नहीं होता, जैसे कि कमलको विकसित करनेवाला सूर्य ही जलसे अलग होनेपर उसे सुखा ढालता है—

भासायोऽपि विष्णुतिं याति गुरोः प्रच्युतस्य दुष्कृदेः ।
कमलं जलादपेतं शोषयति इविनं पोषयति ॥

अतः जो उपर्युक्त लक्षणोंसे सम्पन्न और सम्प्रदाय-परम्परागत नारायण-मन्त्रके उपासक हों, उन सदगुरुसे दीक्षा लेकर इस मन्त्रका अनुग्रान करना चाहिये। मन्त्रसिद्धिके लिये पुरुषरणकर्ताको मन्त्रके पटल, पद्मति, पीठ-पूजा, कवच और सहस्रनाम—ये पाँच अङ्ग भी अवश्य जानने चाहिये। ये पाँच अङ्ग सभी देव-देवियोंके मन्त्रोंमें होते हैं। इनके लिया मन्त्रके श्रृंग, देवता, छन्द, योग और दस प्रकारके न्यासों-का शान भी होना बहुत आवश्यक है। अपने गुरुदेवसे इन सब मन्त्रोपचारोंका उपदेश ले मार्गशीष शुद्धा द्वादशीको नियमपूर्वक इस मन्त्रका जप आरम्भ करे। प्रत्येक दिन बीस सहस्र मन्त्र जप करना चाहिये। इस प्रकार चालीस दिनमें आठ लाख जप करके फिर शुद्धतापूर्वक प्रसन्न मनसे दशांश हवन करे तथा उसके दशांशसे तर्पण, तर्पणके दशांशसे मार्जन करे और उसका दशांश ग्राहणभोजन करावे।

इस प्रकार जब साधक पञ्चाङ्गादि प्रथम साधन और हवनादि उत्तर साधनोंके सहित विधिवत् पुरश्रण कर ले तो फिर उसे यह देखना चाहिये कि मन्त्र सिद्ध हुआ या नहीं। इस मन्त्रकी सिद्ध होनेपर साधकों ये चिह्न दिखायी देते हैं—स्वप्रमें श्रीमुद्रेव, संकरण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध, इनमें से किन्हीं एकके अथवा सभके दर्शन होना। किसी भगवद्यतार या देवविशेषके दर्शन होना। वेदोच्चरण करते हुए विद्वान् ब्राह्मण या सिद्ध पुरुषोंके दर्शन होना अथवा उनका आशीर्वाद मिलना। पुष्प-पलान्वित वृक्षोंपर चढ़ना, हरे-भरे बाग और खेतोंके देखना। छब्र, चामर और वाहनादिका दर्शन या प्राप्त होना। राजा, राजपती, राजपुरोहित, राजमन्त्री, मेधाच्छब्द गणनमण्डल अथवा बृहिं होती देखना। जाग्रदवस्थामें मनमें अपूर्व प्रसन्नता, शान्ति, सन्तोष और उत्साह होना तथा सांसारिक प्रलोभनोंसे अक्सात् वैराग्य हो जाना—इत्यादि। इन लक्षणोंको देखकर जब निश्चय हो जाय कि हमारा इष्ट-मन्त्र सिद्ध हो गया तो साधक इसका किसी भी लौकिक या पारलौकिक कामनाकी सिद्धिके लिये प्रयोग कर सकता है, अथवा इसीके द्वारा क्रमशः अर्य-धर्म-काम-मोक्ष सभी पुश्पाथोंकी साधना कर सकता है। इस मन्त्रके द्वारा यदि शान्ति-कार्य सम्पादन करना हो तो स्वस्तिक मण्डलमें, पौष्टिक कार्य करना हो तो भट्टक मण्डलमें तथा अन्य अभीष्ट

कार्योंकी सिद्धिके लिये चक्रावृत्त मण्डलमें मन्त्रदेवकी आराधना करे।

इस प्रकार इस मन्त्रसे ऐहिक और आमुमिक सभी प्रकारकी कामनाएँ सिद्ध हो सकती हैं। यद्यपि लौकिक कामनाओंकी पूर्ति तो अन्यात्य मन्त्रोंसे भी हो जाती है, परन्तु निःश्रेयसरूप मोक्षदानमें तो जैवी शक्ति इस मन्त्रमें है वैसी बहुत ही योग्य मन्त्रोंमें है। इसकी अदृचं शक्तियोंके विषयमें अनेकों प्रमाण दियं जा सकते हैं, यह बात योगाचार्य महर्षि पतञ्जलिने भी स्वीकार की है। (जग्मोग्धिवन्ततपसमाधिजः सिद्धयः) (यो० स० ४ । १) इस सूत्रमें जन्म, ओषधि, तप और तमाधिके सभान मन्त्रको भी सिद्धियोंकी प्राप्तिका एक साधन बताया है। अतः इसका चिरकालतक विषयमानुसार अनुशासन किया जाय तो इससे अणिमादि सिद्धियोंकी प्राप्ति भी कठिन नहीं है। इसके द्वारा रोगादिकी निरुत्तिमें तो स्वयं हमारा ही पर्याप्त अनुभव है। हमें पूर्ण विश्वास है कि इसके द्वारा कठिन-से-कठिन रोग भी बहुत शीघ्र शान्त हो सकता है।

अन्युत्तरनन्दगोविन्दनाभस्मरणभेषजान ।
नश्यन्ति सकला रोगः मस्यं वदाम्यहम् ॥

एक जिज्ञासुके प्रश्नोत्तर

(लेखक—रायसाहेब श्रीकृष्णलंजु बापका)

प्रश्न—हमें क्या करना चाहिये ? कोई कहते हैं कि तुम प्राण्याम करो; कोई बतलाते हैं कि सब कुछ ईश्वरर छोड़ दो; कोई उपदेश देते हैं कि इस जगत्का प्रपञ्च तुख्लमय और स्वप्रवृत् है, इससे उपराम हो जाओ। कोई कहते हैं कि भगवान्की जो आज्ञा हो उसे किये जाओ; कोई बतलाते हैं कि धर्मशास्त्रोंके बताये मार्गपर चलो, नहीं तो पाप-पङ्कजमें फैस जाओये। कोई सुझाते हैं कि यह जगत् ईश्वरका विकाससरूप है, इसकी सेवा करें। कोई समझते हैं कि भगवान्का भजन-पूजन और स्मरण करना ही एकमात्र कर्तव्य है, इसमें लगे रहो। कोई यह लेत दिलाते हैं कि एक आत्मा ही सर्वत्र व्याप्त है, तुम आत्मा ही हो, अतएव अपने आत्मस्वरूपका अनुसन्धान करें रहो; और कोई यह आदेश देते हैं कि किस पञ्चदेवों पड़े ही, निर्विकल्प हो जाओ।

इस प्रकार हमें भिन्न-भिन्न मार्ग बतलाये जाते हैं,

इनमेंसे हम कौन मार्ग ग्रहण करें ? श्री-पुत्रादिकोंका भोद्ध छोड़ा नहीं जाता। यदि हम संसारसे उन्मुख होना भी चाहे तो मनको समाधान नहीं होता; यह कहता है कि संसारकी मना भी तो भगवान्की ही मना है, कुदम्बीजन भी तो भगवान्के ही अंश हैं। फिर उनको हम क्योंकर छोड़ दें ? क्या उनके प्रति हमारा कोई उत्तरदायित्व नहीं है ? जब सब कुछ भगवान् ही करते हैं तो वे जो चाहंगे करायें। उनके सामने हमारी स्वतन्त्रता ही क्या है ? और जब हम स्वतन्त्र नहीं हैं, तब हमसे यह कहना कि तुम अपने आपको भगवान्के चरणोंमें समर्पित कर दो कहाँतक ठीक है ? भगवान्की प्रेरणा और आज्ञा भी कैसे समझमें आये ? तात्पर्य यह है कि इन सब ब्रातोंका ऊदायोह हमें जंजालमें फैसा देता है और चित्तमें विभ्रम उत्पन्न हो जाता है। फलतः हमें क्या करना चाहिये, यह बात समझमें नहीं आती।

एक रोगकी अनेक ओपरायिंग्स तो होती हैं; परन्तु किस रोगी-को कौन-सी ओपरिं अनुकूल पढ़ेगी, यह भी तो चताना चाहिये। इसलिये आप हमें चताइये कि इस क्या करें?

उत्तर-प्रश्न ठीक है। उपदेश और साधन साधकोंके स्वभाव, गुण और कमोंके अनुसार अलग-अलग हुआ करते हैं; अतएव सब अपने-अपने स्थानपर ही उपयुक्त हैं। मनुष्यके सहज सुन्दर जीवनकी कुंजी तो यही है—

आंखकी सुविलेय, सहजमें जो बनि आई।
दुर्जन हैंस न कोय, चित्तमें बद न पाई।

अर्थात् जिस कार्यमें लोकापवाद न हो, जिसमें अपनेको भय और लज्जाका शिकार न होना पड़े, वही काम करना और भगवानके किसी एक नामपर पूर्ण विश्वास रखकर उमेर जपते रहना चाहिये। त्रिस, एकमात्र यही मार्ग श्रेष्ठस्तर और मुलभ है। बाकी सब जंजाल हैं। अपने कुल, धर्म और मर्यादाके अनुसार आचरण करते हुए श्रद्धाविश्वास एवं प्रेमपूर्वक हरिमाम लेते रहना ही सब साधनोंका सार है।

प्रश्न-नाम-जयमें—हरं रामं हरं रामं रामं हरं हरं।
हरं हरं हरं कृष्णं कृष्णं कृष्णं हरं हरं॥

यह मन्त्र महामन्त्र क्यों माना जाता है? इसमें तो न प्रणव (ॐ) है, न शास्त्रीज है और न नमस्कार ही है?

उत्तर-इस मन्त्रके 'हरे' शब्दमें ही वीज निहित है, परमामे अंकार है और 'कृष्ण' नाममें 'ही' वीज है। सारा मन्त्र ही वीजोद्धारा शक्तिमें ओतप्रोत है। फिर 'हरे' शब्दमें 'हरि' (विष्णु) और 'हर' (महादेव) दोनोंके ही दर्शन होनेके कारण धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारोंके अधिपति देवोंका सारण हो जाता है। धर्म, आचरण और मर्यादाके पुरुषोत्तम श्रीराम हैं; अर्थके अधीक्षर लक्ष्मीपति श्रीबिष्णु हैं; कामवस्तुप श्रीकृष्ण हैं और मोक्षके प्रदाता श्रीहर-महादेव हैं। इसलिये यह मन्त्र महामन्त्र कहलाता है। 'हरे' शब्द सभोवनायक है, इसलिये इस मन्त्रमें नमस्कार और प्रार्थनाका भी समावेश है। इसलिये यह मन्त्र महामन्त्र ही है। विचार करनेपर इस महामन्त्रकी महिमा, सुन्दरता और गम्भीरता और भी अधिकाधिक प्रस्फुटित होती रहती है।

प्रश्न-जैन-सप्तदायके लोग चैत्र शुक्ला १२ को और

हिंदू लोग चैत्र शुक्ला १५ को अलग-अलग महावीर-जयन्ती मनाते हैं, इसका क्या रहस्य है? दो महावीर कैसे हुए? यह भेद केवल साम्प्रदायिक है अथवा सैद्धान्तिक? इसका स्पष्टीकरण हो जानेसे बहुतोंबी शङ्खाका समाधान हो जायगा।

उत्तर-चैत्र शुक्ला १३को जैनियोंके तीर्थंद्वारा श्रीवर्षमान भगवान्की जयन्ती है और चैत्र शुक्ला १५को श्रीहनुमान्‌जीकी। ये दोनों सिद्धान्ततः 'महावीर' कहलाते हैं। पहले 'वीर' शब्दकी व्याख्या करके फिर 'महावीर' की व्याख्या की जायगी, और तदनन्तर यह विवेचन किया जायगा कि किस सिद्धान्तके अनुसार उपर्युक्त दोनों महापुरुष 'महावीर' कहलाये। इन्हीं दोनोंको 'महावीर' की उपाधि क्यों मिली? अन्य तीर्थंद्वारा अथवा देवताओंको 'महावीर' क्यों नहीं कहा गया?

'वीर' शब्दकी अनेकों व्याख्याएँ हैं, परन्तु वे पूरी नहीं उतरती। जैसे यह कहा जाय कि अतुलित और असाधारण बलवालेको 'वीर' कहते हैं तो यहाँ यह प्रश्न उठता है कि बलका अभिप्राय किस बलसे है—मनोबलसे, बुद्धिबलसे, तपोबलसे, शारीरिक बलसे अथवा धनबलसे? फिर यह शङ्खा होगी कि उस बलका प्रदर्शन उचित होता है या अनुचित, नैतिक होता है या अनैतिक? एक लुट्रा साधारण जनताके मुकाबलेमें अधिक बल दिखाता है परन्तु वह वीरोंकी गिनतीमें नहीं आ सकता। ऐसे ही यदि 'वीर' का तात्पर्य मनोबलयुक्त पुरुषसे समझा जाय, अर्थात् यह कहा जाय कि मन और इन्द्रियोंको वशमें करनेवालेको 'वीर' कहते हैं, तो भी यशङ्काओंका अन्त नहीं होता। क्योंकि हम कहणेको देखते हैं कि वे भय, लोभ, हठ और अज्ञानसे भी मन और इन्द्रियोंको रोकते हैं। लोहेकी कीलोंपर सोनेवाले, किसी वृक्षकी ढालमें हाथपैर बॉथकर लटकनेवाले ऐसे ही तो हैं। कही-कही अशक्त व्यक्तियोंको भी अपना मन रोकना पड़ता है। अतएव यह व्याख्या भी उपयुक्त नहीं दुई। कई लोग विरोधको जीवनेवालोंको 'वीर' कहते हैं, परन्तु यह भी ठीक नहीं जँचता। चोर यदि मालके मालिकोंको हरा दे तो वह 'वीर' नहीं कहला सकता। फिर विरोधकी भी कोई सीमा नहीं है, अच्छे कामोंका भी विरोध होता है और बुरे कामोंका भी। इसी प्रकार यदि हम कर्मक्षय करनेवालोंको 'वीर' कहें तब भी सन्तोष नहीं होता। कमोंका क्षय उदासीनता और अकर्मण्यतासे भी हो सकता है। परन्तु प्रमादी और आलसी व्यक्तिको कभी 'वीर' नहीं माना जा सकता।

अस्तु, तब 'वीर' किसको माना जाय? 'वीर' की सुन्दर व्याख्या यह है कि जो नैतिकतासे और अपने शक्तिभर पुरुषार्थसे धर्मके लिये विरोधका सामना करता है, वह 'वीर' है। एक मनुष्य शरीरसे निर्बल है, परन्तु पर्दि वह निःखार्थभावसे धर्मपर मर मिटता है तो वह निस्सन्देह 'वीर' है। अतः यदि यह व्याख्या मान्य हो तो अब 'महावीर' की व्याख्या दोष रही। 'महावीर' वही होगा, जो धर्मस्थापनके लिये समय-समयपर अवतरित हो। यह स्वयं भगवान् अथवा भगवत्स्वरूप महापुरुषसे ही हो सकता है। इसलिये गीतामें भगवान्मने यह कहा है—‘धर्मांश्चापनार्थाय सम्भाब्यि युगे युगे’। ईश्वरपदमें वीरताकी सीमा समाप्त हो जाती है; वही नैतिकता, पुरुषार्थ और धर्मकी चरम सीमा है। श्रीवर्घमान भगवान् और श्रीद्रावद्वारा दनुमान् ईश्वरपदके अधिकारी हैं, इसलिये वे 'महावीर' हो सकते हैं।

साथमें दो प्रकारकी शक्तियोंके दर्शन होते हैं—एक स्फुरण और विकास, दूसरी संकुचन और विराम; एक स्पन्दन, दूसरा स्थान; एक प्रवृत्ति, दूसरी निष्ठिति; एक पॉज़ीटिव, दूसी नेगेटिव। इन दोनोंके दो सिरे अर्थात् आदर्श भी होने अनिवार्य हैं। प्रवृत्तिका आदर्श सेवाभावमें हो सकता है, वहाँ जगनके सारे प्रपञ्चोंको छोलती हुई दृढ़ निःखार्थताका दिवर्दर्शन होता है। इसी प्रकार निष्ठितिका उच्चतम लक्ष्य शान्ति है, वहाँ त्याग-वैराग्यके द्वारा ध्येय शान्ति पद पाना है। संमानके पूर्ण विकासके समय इन दोनों आदर्शोंको धारण करनेवाले भगवान् श्रीहनुमान् तथा तीर्थद्वार श्रीवर्घमान हैं, अतएव वे ही पूर्ण ईश्वरवीवान् हैं। सेवाभावके आदर्श श्रीहनुमानजी तथा शान्ति पदके आदर्श श्रीवर्घमान भगवान् हैं। इसीसे वे महावीर हैं।

पट्टकर्म

(लेखक—प्रीकमलाप्रसादसिंहजी)

‘हठयोगप्रदीपिका’ ग्रन्थके कर्ता व्यामाराम योगीने १. धौति, २. वस्ति, ३. नेति, ४. नौलि, ५. कपालभाति और ६. ब्राटको पट्टकर्म कहा है। आगे चलकर उद्दीपने गजकरणीका भी वर्णन किया है। परन्तु ‘भक्तिसामार’ ग्रन्थके रचयिता चरणदासजीने १. नेति, २. धौति, ३. वस्ति, ४. गजकर्म, ५. न्योली और ६. ब्राटको पट्टकर्म कहा है तथा १. कपालभाति, २. धौकनी, ३. चारी और ४. शाश्वतपात्र—इन चार कर्मोंका नाम लेकर उन्हें पट्टकर्मके अन्तर्गत कर दिया है। दोनोंमें यही अन्तर है कि एकने गजकर्मको और दूसरेने कपालभातिको पट्टकर्मके अन्तर्गत माना है। चूंकि वे पट्टकर्मकी शाखामात्र हैं, अतएव इस विभेदका कोई वास्तविक अर्थ नहीं होता।

नियम

पट्टकर्मके साधकके लिये हठयोगमें दिखलाये हुए श्वान, भोजन, आचार-विचार आदिके नियमोंकी मानना परमावश्यक है। यद्यों वही कहा जा सकता है कि श्वान रमणीक और निरापद, भोजन भास्तुक—जैसे दूध, धीं, धोया हुआ वादाम और मिश्री आदि पुष्ट और लघु पदार्थ, तथा परिमित होना चाहिये। आचार-विचारमें एकान्त-सेवन, कम बोलना, वैराग्य, सादृश हृत्यादि समझना चाहिये।

नौलि, नौलिक, नलकिया या न्योली

अमन्दावन्तवीरोन् तुन्दं सव्यापसव्यतः ।
नताम्बो ध्रामयन्देष्या नौलिः मिर्द्धः प्रचक्षयते ॥

(हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् कंधोंको नयापे हुए अत्यन्त वेगके साथ, जलकी भेंवरके समान अपनी तुन्दको दक्षिण-याम भासोंसे युग्मानेको मिठाने नौलिकर्म कहा है।

न्योली पदासन में करे। दोनों पद त्रुटनों पर रहे ॥

पट्ट स पीड़ बराबर होए। दहने वाये नहै क्रियाए ॥

जो तुम करक तरिक दिखाओ। न्योली कर्म मुगम करि पर्ति ॥

(भक्तिसामार)

वास्तवमें तुन्दको दायें-चायें धुमानेका रहस्य किताबोंसे पढ़कर मारूम करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इसका इमने कुछ अनुभव किया है, अतः इसका स्वरूप कुछ यों समझना चाहिये। जब शौच-ज्ञान, प्रातःसन्ध्या आदिसे निवृत हो लिये हो और पेट साफ तथा हल्का हो गया हों, तब पदासन (मिठान या उक्टासन) ल्याकर, रेचक कर, वायुको बाहर रोक, विना देह हिलायं, केकल मनोवलसे पेटको दायेंसे बायें और बायेंसे दायें

चलानेकी भावना करे और तदनुकूल प्रयास करे । इसी प्रकार सायं-प्रातः स्वेद आनेतक प्रतिदिन अभ्यास करते-करते पेशी की स्थूलता जाती रहती है । तदनन्तर यह सोचना चाहिये कि दोनों कुशियों दब गयीं और भीचमें दोनों ओरसे दो नल जुटकर मूलाधारसे दृद्धयतक एक गोलाकार खंभ लड़ा हो गया । यही खंभा जब बैंध जाय, तब नौलि सुगम हो जाती है । मनोवल और प्रयासपूर्वक अभ्यास बढ़ानेसे यह खंभमा दायें-जायें धूमने लगता है । इसे चलानेमें छातीके समीप, कण्ठपर और ललाधार पर भी नाडियोंका दृद्ध मालूम पड़ता है । एक बार नीली चल आनेपर चलती रहती है । पहले-पहल चलनेके समय दस्त ढीला होता है । जिसका पेट हल्का है तथा जो प्रशास्त्रूर्बक अभ्यास करता है, उसको एक महीनेके भीतर ही न्योली मिल्द हो जायगी ।

इस क्रियाका आरम्भ करनेसे पहले पश्चिमतानासन और मध्यासनका थोड़ा अभ्यास कर लिया हो तो यह क्रिया शीघ्र निरुद्ध हो जाती है । जरनक औत पीठके अवयवोंसे भीमीमांति पृथक् न हो तबतक औत उठानेकी क्रिया सावधानीके साथ करे, अन्यथा औतें निर्वल हो जायेंगी । किसी किसी समय आधान पहुँचकर उत्तरेणा, शोश, आमधान, कटिवात, गृष्मीय, कुञ्जवात युक्तदोष या अन्य कोई रोग हो जाता है । अतः इस क्रियाको शान्तिपूर्वक करना चाहिये । अंतिमीयं शोश, अतादिदोष या पित्रशोषजनित अतिसारप्रवाहिका (पंचिद), संग्रहणी आदि रोगोंमें नौर्निक्रिया हानिकारक है ।

मैं घेटमें रहन न पावै । अपान वायु तासीं बश आवै ॥
तापसिरी अरु गोलम गुरु । रहन न पावै नेक म मूरु ॥
ओर उदरके शर कहावै । सो भी दे रहने नहि पावै ॥

(भक्तिसागर)

मन्त्राभिमन-दोपनपाचनादि-

मन्त्रापिकाऽऽनन्दकरी सं॒च ।

अशेषदोषप्रमशशोषणी च

हठक्रियामौलिरियं च नौलिः ॥

(हठयोगप्रदीपिका)

यह नौलि मन्दामिका भली प्रकार दीपन और अन्नादि-का पाचन और सर्वदा आनन्द करती है और सभस्त वात आदि दोष और रोगका शोषण करती है । यह नौलि हठयोगकी सारी क्रियाओंमें उत्तम है ।

अंतिमीयोंके नौलिके वश होनेसे पाचन और मलका
सा० अ० ७५—

बाहर होना स्वाभाविक है । नौलि करते समय साँसकी क्रिया तो रुक ही जाती है । नौलि कर चुकनेपर कण्ठके समीप एक सुन्दर अक्षयनीय साद मिलता है । यह हठयोगकी सारी क्रियाओंसे श्रेष्ठ हस्तिये है कि नौलि जान लेनेपर तीनों बन्ध सुगम हो जाते है । अतएव यह प्राणायामकी सीढ़ी है । धौति, वस्तिमें भी नौलिकी आवश्यकता होती है । शङ्खपथली क्रियामें भी, जिसमें मुखसे जल ले अंतिमीयोंमें धुमाते हुए युदाहारा टीक उसी प्रकार निकाल दिया जाता है जैसे शङ्खमें एक ओरसे जल देनेपर धूमकर जल दूसरी राहसे निकल जाता है, नौलि लहायक है । नौलिक्रियाकी नकल यन्त्रों-द्वारा प्रशास्त्रोंसे अभीतक न बन पड़ी है ।

वस्तिकर्म

वस्ति मूलाधारके समीप है । रंग लाल है और इसके देवता गणेश हैं । वस्तिको साफ करनेवाले कर्मी 'वस्तिकर्मी' कहते हैं । 'योगसार' पुस्तकमें पुराने गुड़, त्रिफल और चीतेकी छालके रससे बनी गोली देकर अपानवायुको वश करनेको कहा है । फिर वस्तिकर्मी अभ्यास करना कहा है ।

वस्तिकर्म दो प्रकारका है—१. पवनवस्ति २. जलवस्ति । नौलिकर्मद्वारा अपानवायुको ऊपर खींच पुनः मध्यासनसे जागनेको 'वस्तिकर्म' कहते हैं । पवनवस्ति धूरी सथ जानेपर जलवस्ति सुगम हो जाती है, क्योंकि जलको सर्दीचनेका कारण पवन ही होता है । जब जलमें धूचे हुए पेटसे न्योली हो जाय, तब नौलिसे जल ऊपर खिच जायगा ।

ताभिद्वज्ञले पायौ न्यस्तनालोकदासनः ।

आधाराकुञ्जनं कुर्यात् क्षालनं वस्तिकर्म तत् ॥

(हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् गुदाके मध्यमें छ: अङ्गुल लम्बी बाँसकी नलीकी रखके जिसका छिद्र कनिंचिका अङ्गुलीके प्रवेशयोग्य हो; उसे धी अथवा तेल लगाकर सावधानीके साथ चार अङ्गुल गुदामें प्रवेश करे और दो अङ्गुल बाहर रखके । पश्चात् बैठनेपर नाभितक जल आ जाय इतने जलसे भरे हुए टबमें उल्कटासनसे बैठे अर्थात् दोनों पाणियों—पैरकी एंडियोंको मिलाकर लड़ी रखकर उनपर अपने स्तिवच (चूतङ्ग) को रखके और पैरोंके अग्रभागपर बैठे और उत्त आसनसे बैठकर आधार-कुञ्जन करे, जिससे बृहद् अन्त्रमें अपने-आप जल चढ़ने लोगा । बादमें भीतर प्रविष्ट हुए जलको नौलिकर्मसे चलाकर त्याग दे । इस जलके साथ अन्त्रस्थित मल, औंव,

क्रमिं, अन्तोत्पन्न सेन्ट्रिय विश आदि बाहर निकल आते हैं। इस उदरके क्षालन (धोने) को वस्तिकर्म कहते हैं। धौति, वस्ति दोनों कर्म भोजनसे पूर्व ही करने चाहिये और इनके करनेके अनन्तर खिचड़ी आदि इलका भोजन शीघ्र कर लेना चाहिये, उसमें विलम्ब नहीं करना चाहिये। वस्तिक्रिया करनेसे जलका कुछ अंश बूहद अन्तमें शेष रह जाता है, वह धौर-धीर मूत्रद्वारा बाहर आवेगा। यदि भोजन नहीं किया जायगा तो वह दूषित जल अन्तोंसे सम्बद्ध सूक्ष्म नाडियोद्वारा शोषित होकर रक्तमें मिल जायगा। कुछ लोग पहले मूलधारसे प्राणनायुक्त आकर्षणका अस्यास करके और जलमें स्थित होकर गुदामें नालध्वेशके विना ही वस्तिकर्मका अस्यास करते हैं। उस प्रकार वस्तिकर्म करनेसे उदरमें प्रविष्ट हुआ सम्पूर्ण जल बाहर नहीं आ सकता और उसके न आनेसे घातुशय आदि नाना दोष होते हैं। इसमें उस प्रकार वस्तिकर्म नहीं करना चाहिये। अन्यथा 'न्यस्तनालः' (अपनी गुदामें नाल रखकर) ऐसा पद स्वास्थ्यारम यों देते ? यहाँ यह भी जान लेना आवश्यक है कि छोट-छोट जलजन्तुओंका नलद्वारा पेटमें प्रविष्ट हो जानेका भय रहता है। अतएव नलके मुखपर महीन वस्त्र देकर आकुञ्जन करना चाहिये। और जलके बाहर निकलनेके लिये खड़ा पश्चिम-तान आसन करना चाहिये।

कई साधक तात्त्वया नदीमें जलका आकर्षण करते हैं, जिससे कभी-कभी जलके भाय सूक्ष्म जहरालि जन्मते आत्मेभ प्रवेशकर नाना प्रकारके रोग उत्पन्न कर देते हैं। किञ्च गङ्गाजी और हिमालयसे निकलनेवाली अनेक बड़ी-बड़ी नदियोंका जल अधिक शीतल होनेके कारण त्यून शक्तियांनी को इच्छित लाभके स्थानमें हानि पहुँचा देता है। जल अधिक शीतल होनेसे उसे शोषण करनेकी किया सूक्ष्म नाडियोद्वारा तुरंत चाढ़ हो जाती है और शीतल जलमें ऑव या कफकी उत्पत्ति होती है। अतः टय या अन्य किसी वडे वरतनमें बैठकर शुद्ध और सहन हो सके, ऐसे शीतल जलका आकर्षण करना विशेष हितकर है।

इष्टयोग, आयुर्वेद और पाश्चात्य ऐलोर्मिधिक आदि चिकित्साओंकी वस्तिक्रिया भिन्न-भिन्न प्रकारकी है। इष्टयोगमें आन्तरिक गलसे जल रखा जाता है। आयुर्वेदमें गंगानुसार भिन्न-भिन्न आपविध्योंके धूत-नैल-क्षायादि चढ़ाये जाते हैं। पाश्चात्योंने ही किवाके लिये एक वन्धनका आविष्कार किया है, जिसे 'एनिमा' या 'झूश' कहते हैं।

साबुन मिला हुआ गुनगुना जल, रेडीका तेल तथा शिलसरीन आदि मलशोधक ओषधि यन्त्रद्वारा गुदाके मार्पणे आँतरमें चढ़ाते हैं। पश्चिममें इसकी चाल इतनी बढ़ गयी है कि बहुत लोग तो साहस्रमें एक बार एनिमा लगाना आवश्यक समझने लगे हैं। इस एनिमाद्वारा वस्तिकर्मके समान लाभ नहीं होता, क्योंकि चढ़ा हुआ सम्पूर्ण जल तो बाहर आ नहीं सकता। बल्कि कभी-कभी तो ऐसा भी देखा जाता है कि जलका अधिकांश भीतर रहकर भयङ्कर हानि कर देता है। और अपने उत्थोग और परिश्रमद्वारा जो जल चढ़ाया जाता है, उसमें उतना ही अन्तर है जितना दस मील वैदल और मोत्रपर टहन्नमें है। इसके अतिरिक्त गरम जल नदानेके कारण वीर्यमान और मृत्रस्यानको उण्णता पहुँचनी है, जिससे धोड़ी हानि तो बार-बार पहुँचती रहती है। वह दोष हटयोगकी वस्तिमें नहीं है।

यही तु बली कर्म है, मुरु बिन् पादे नहिं ।

मिन्न-मुद्राके संग आ, नमां नदि जाहि ॥

(भक्तिमाल)

वस्तिकर्ममें मूलधारके पांडित और प्रश्नातित होनेसे लिङ्ग और गुदाके रोगका नाश होना स्वाधाविक है।

गुलझीहोदरं चापि वानपित्तकारोऽह्वा: ।

वस्तिकर्मप्रभावेन क्षीयते सकलाभ्याः ॥

(इष्टयोगप्रदीपता)

अर्थात् वस्तिकर्मके प्रभावमें गुहम, ईशा, उदर (ज्योत्तर) और वात-पित्त-कण इनके द्वन्द्व या एकमें उत्पन्न हुए सम्पूर्ण रोग नष्ट होते हैं।

धातिवन्दियान्तःकरणप्रसादः

दशाच कान्ति दहनप्रदीपितम् ।

अशोवदीयोदत्तयं निहन्या

दम्भस्यमानं जलवस्तिकर्म ॥

(इष्टयोगप्रदीपिका)

'अस्यास किया हुआ यह वस्तिकर्म साधकके सम धातुओं, दस इष्टयोगों और अन्तःकरणको प्रसन्न करता है। मुखपर मालिक कान्ति या जाती है। जग्नराशि उहीत होती है। वात-पित्त-कण आदि दोषोंकी त्रुटि और ल्यूना दोनों को नष्ट कर याम्यरूप आरोग्यको करता है।' हाँ, एक बात इस सम्बन्धमें अवश्य ध्यान देनेकी है कि वस्तिक्रिया

करनेवालोंको पहले नेति और धौतिकिया करनी ही चाहिये, जिनका वर्णन नीचे दिया जाता है। अन्य क्रियाओंके लिये ऐसा नियम नहीं है।

राजवश्यमा (श्वय), सङ्ग्रहणी, प्रवाहिका, अयोरक-पित्त, भग्नदर, मलादाय और गुदामें शोध, सन्ततज्वर, आन्त्रमस्तिपात (इल्का Typhoid), आन्त्रशोथ, आन्त्रब्रण, कफबुद्धिजनित तीक्ष्ण श्वासप्रकोप इत्यादि रोगोंमें वस्तिक्रिया नहीं करनी चाहिये।

यह वस्तिक्रिया भी प्राणायामका अभ्यास चाहूँ होनेके बाद नित्य करनेकी नहीं है। नित्य करनेसे आन्त्रशक्ति परावलभिनी और निर्वर्ल हो जायगी, जिससे विना वस्तिक्रियाके भविष्यमें मलबुद्धि नहीं होगी। जैसे तमाकू और चायके व्यवसीको तमाकू और चाय पिये विना शौच नहीं होता, वैसे ही नित्य वस्तिकर्म अथवा पट्क्रम करनेवालोंकी सामाजिक आन्तरिक शक्तिके बलसे शरीर-शुद्धि नहीं होती।

धौतिकर्म

चनुरकुलविस्तारं हस्तपञ्चदशायतम् ।
गुरुपदिष्टमार्गेण मिन्दं वस्त्रं शनैर्प्रसेन ॥
पुनः प्रत्याहरेचेनदुदितं धौतिकर्म तद् ।
(हठयोगप्रदायिका)

अर्थात् चार अंगुल चौड़े और पंद्रह हाथ लंबे मार्दीन वस्त्रको गरम जलमें भिंगकर घोड़ा निचोड़ ले। पिर गुरुपदिष्ट मार्गसे धीरे-धीरे प्रतिदिन एक-एक हाथ उत्तरोत्तर निगलनेका अभ्यास बढ़ाता जाय। आठ-दस दिनमें पूरी धौती निगलनेका अभ्यास हो सकता है। कीरी एक हाथ कपड़ा बाहर रहने दिया जाय। मुखमें जो प्रान्त रहे, उसे दाढ़ीसे भली प्रकार दया नौलिकम करे। पिर धीरे-धीरे वस्त्र निकाले। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि वस्त्र निगलनेके पहले पूरा जल पी लेना चाहिये। इससे कपड़ेके निगलनेमें सुभीता तथा कफ-पित्तका उसमें सटना आसान हो जाता है और कपड़ेको बाहर निकलनेमें भी सहायता मिलती है। धौतिको रोज सातुनसे बोकर स्वच्छ रखना चाहिये। अन्यथा धौतिमें लगे हुए दूषित कफल्प विजातीय द्रव्यके परमाणु पुनः दूसरे दिन भीतर जाकर हानि पहुँचावेगे।

अनेक साधक वैत्तकी नवीन करची (काईन, भोजपुरी भाषामें) या वटका नरोद सवा हाथका लेकर पहले जल पी, पीके शानैः-शानैः निगलनेका अभ्यास करते हैं। सूतकी

एक चढ़ाव-उत्तरायवाली रस्तीसे भी धौति साधते हैं। जब-जब निगलते हैं, तब-तब जल बाहर निकलने लगता है और करची आदिको भीतर धुसनेमें भी सुभीता होता है।

धौतिकर्ममें कोई-कोई तो लाल वस्त्रका प्रयोग करते हैं और इस क्रियाको नूसे देखनेवाले यह अफवाह उड़ा देते हैं कि उन्होंने अमुक महात्माको अपनी अँतिहियाँ और कलेजा निकालकर धोते देखा था, अपनी आँखों देखा था। इससे यद्यपि योगियोंकी मान्यता बढ़ती है, तथापि शूटका प्रचार होता है।

कासशास्त्रशीहुकुण्डं कफरोगाश्र विंशतिः ।
धौतिकर्मप्रभावेन प्रशास्त्रेव न संशयः ॥
(इठेगप्रदीविका)
कामा हैवै शुद्ध ही, मने वित्त कफ रोग ।
शुकदेव कहै छाती करम, मर्वे योगी लोग ॥
(भक्तिसागर)

पाश्चात्योने Stomach Tube (स्टॉमॅक ट्यूब) बनाया है। कोई एक सवा हाथकी रखरकी नली रहती है, जिसका एक मुख खुला रहता है और दूसरे सिरेसे कुछ ऊपर इटकर बगलमें एक छेद होता है। जल पीकर खुला सिरा ऊपर रखकर दूसरा सिरा निगला जाता है और जल रखरकी नलिकाद्वारा गिर जाता है।

चाहे किसी प्रकारकी धौति क्यों न हो, उससे कफ, पित्त और रंग-विरंगे पदार्थ बाहर गिरते हैं। ऊपरकी नाड़ीमें रहा हुआ एकाध अन्धका दाना भी गिरता है। दौत खड़ा-था ही जाता है। परन्तु मन शान्त और प्रसन्न हो जाता है। वसन्त या ग्रीष्मकालमें इसका साधन अच्छा होता है।

प्रटिका, कण्ठनलिका या श्वासनलिकामें शोथ, शूष्क काश, दिक्षा, वमन, आमाशयमें शोथ, ग्रहणी, तीक्ष्ण अतिसार, ऊर्ध्व रक्तपित्त (मुँहसे रक्त गिरना) इत्यादि कोई रोग हो, तब धौतिक्रिया लाभदायक नहीं होती। और आवश्यकता न रहनेपर इस क्रियाको प्रतिदिन करनेसे पाचनक्रियामें उपयोगी पित्त और कफ धौति निगलनेके कारण विकृत होकर बाहर निकलते रहेंगे, जिससे पाचनक्रिया मन्द होकर शरीरमें निर्बलता आ जायगी। पित्तप्रकोपसे ग्रहणीकला दूषित होनेपर धौतिक्रिया की जायगी तो किसी समय धौतिका भाग आमाशय और लघु अन्तर्के

सन्धिस्थानमें जाकर फँस जायगा । हसी प्रकार धौति फट जानेपर भी उसके फँस जानेका भय रहता है । यदि ऐसा हो जाय तो योड़ा गरम जल वीकर ब्रह्मदातुम चलानेसे धौति निकलकर बाहर आ जायगी । इन कारणोंसे पित्तप्रकोपजन्य रोगोंमें धौतिका उपयोग करना अनुचित माना गया है ।

नेतिकर्म

नेति दो प्रकारकी होती है—जलनेति और सूतनेति । पहले जलनेति करनी चाहिये । प्रातःकाल दन्तवाबनके पश्चात् जो सौंस चलती हो, उसीसे चुल्हमें जल ले और दूसरी सौंस बंदकर जल नाकद्वारा खोने । जल मुखमें चला जायगा । सिरके छिल्ले सरे हिस्सेमें, जहाँ मस्तिष्कका स्थान है, उस कर्मके प्रभावसे गुदगुदाहट और सनसनाहट या गिरणिनाहट पैदा होगी । अभ्यास बढ़नेपर आगे ऐसा नहीं होगा । कुछ लोग नातिकाके एक छिद्रसे जल खींचकर दूसरे छिद्रसे निकालेकी कियाको 'जलनेति' कहते हैं । एक समयमें आध सेरसे एक सेरतक जल एक नासापुटसे चढ़ाकर दूसरे नासापुटसे निकाला जा सकता है । एक समय एक तरफमें जल चढ़ाकर दूसरे समय दूसरी तरफसे चढ़ाना चाहिये । जलनेतिसे नेत्रज्येति बलवती होती है । यह स्कूल और कॉलेजके विचार्योंके लिये भी हितकर है । तीक्ष्ण नेत्ररोग, तीक्ष्ण अस्त्रपित्त और नये ज्वरमें जलनेति नहीं करनी चाहिये । अनेक मनुष्य रोज मुबह नासापुटसे जल पीते हैं । यह किया हितकर नहीं है । कारण, जो दोष नातिकामें सञ्चित होंगे वे आमाशयमें चले जायेंगे । अतः उपरापान तो मुहसे ही करना चाहिये । जलनेतिके अनन्तर सूत लेना चाहिये । महीन सूतकी दस-पन्द्रह तारकी एक हाथ लम्बी विना बर्दी डोरको, जिसका छः-सात हंचलम्बा एक प्रान्त बढ़कर कमशः पतला बना दिया गया हो, पिथल हुए भोगमें चिकना बनाकर जलमें भिगो लेना उचित है । फिर हस छिराय भागको भी योड़ा मोड़कर जिस छिद्रसे बायु चलती हो उस छिद्रमें लगाकर और नाकका दूसरा छेद अङ्गुलीसे बन्दकर, सूत जोरसे चारम्बार पूरक करनेसे दूतका भाग मुखमें आ जाता है । तब उसे तर्जनी और अङ्गुलसे पकड़कर बाहर निकाल ले । पुनः नेतिको धोकर दूसरे छिद्रमें डालकर मुँहमें निकाल ले । कुछ दिनके अभ्यासके बाद एक हाथसे सूतको मुँहमें खींचकर और दूसरेसे नाकबाला प्रान्त पकड़कर धीरे-धीरे चालन करे ।

इस कियाको 'धर्षणनेति' कहते हैं । इसी प्रकार नाकके दूसरे रन्धरे भी, जब बायु उस रन्धरे चल रहा हो, अभ्यास करे । इससे भीतर लगा हुआ कम पृथक् दोकर नेतिके साथ बाहर आ जाता है । नाकके एक छिद्रसे दूसरे छिद्रमें भी सूत चलाया जाता है, यद्यपि कुछ लोग इस दोपुकुक मानकर इसकी उपेक्षा करते हैं । उसका क्रम यह है कि सूत नाकके एक छिद्रसे पूरकद्वारा जब खींचा जाता है तो रेचक मुखद्वारा न कर दूसरे रन्धद्वारा करना चाहिये । इस प्रकार सूत एक छिद्रसे दूसरे छिद्रमें आ जाता है । इस कियाके करनेमें किसी प्रकारका भय नहीं है । सध जानेपर इसे तीसरे दिन करना चाहिये । जलनेति प्रतिदिन कर सकते हैं । नेति डालनेमें किसी-किसीको छींक आने लगती है, इसलिये एकदो जैकट भासोन्चयातकी कियाको बंद करके नेति डालनी चाहिये ।

नाक काम अह दाँका रांग न ल्याँ रोग ।
उड़जबन होवे जैन ही, नित जैन कर संप ॥

(भानुसमार)

कपालशीधिनी चंच दिव्यदृष्टिप्रदश्यनी ।

जन्मृत्याजतरोगांवं नेतिशशु निष्ठमित च ॥

(इठयोगप्रदीपिका)

'नेति कपालके शुद्ध करती है, दिव्यदृष्टि देती है । स्वन्व, भुजा और सिरकी सन्धियके ऊपरके सारे रोगोंको नेति शीघ्र ही नष्ट करती है ।' प्रायः देखा जाता है कि रवरकी या दूसरे प्रकारकी नालिकासे शौकीन लोग नाकद्वारा जल पिया करते हैं । इसकी महना भी लोगोंमें विदित है ।

करते या नेतिके कारण नातिकाके ऊपरके भागमें दर्द हो, रक्त निकले या जलन हो तो गोवृता दिनमें दो बार सैंध । घृतको हथेलीमें लेकर एक नासापुट बन्दकर दूसरे नासापुटसे मूँथे, तब वह ऊपर चढ़ेगा । पाण्डु, कामला, अस्त्रपित्त, ऊर्ध्व रक्तपित्त, पित्तज्वर, नातिकामें दाढ़, नेत्रादाह, नेत्राभियन्द (नेत्रोंकी लाली), भस्तिष्कदाह हत्यादि पित्तप्रकोपजन्य रोगोंमेंसे कोई रोग हो तो इस नेतिका उपयोग न करे । अधिक आवश्यकता हो तो सम्हाल-पूर्वक करे, परन्तु धर्षणकिया न करे । पित्तप्रकोपके समय जलनेतिका उपयोग हितकर है ।

त्राटज्जर्कम्

निरीक्षेजिश्रद्धशा सूक्ष्मालक्ष्यं समाहितः ।

अशुत्सम्पातपर्यन्तमाच्च वैश्वारकं स्मृतम् ॥

(इठयोगप्रदीपिका)

‘समाहित अथात् प्रकाशचित्त हुआ मनुष्य निश्चल दृष्टिसे सूक्ष्म लक्ष्यको अथात् लघु पदार्थको लबतक देखे, जबतक अश्रुगत न होवे । इसे मत्स्येन्द्र आदि आचार्योंने त्राटककर्म कहा है ।’

त्राटककर्म टकटकी गाएँ । पलक पलक से भिलै न तरीं ॥
नैन उधरे ही नित रहै । होय दृष्टि पिर शुक्रदंव कहै ॥
अँख उगटि विकुटीने आजो । यह भी त्राटककर्म पिठानो ॥
जैसं धन नैनके होई । चरणदास पूर्ण हो सोई ॥

सफेद दीवारपर सरतोंवरावर काला चिह्न दे, उसीपर दृष्टि ठहराते ठहराते चित्त समाहित और दृष्टि शक्तिसम्पन्न हो जाती है । मन्त्रेरिज्ममें जो शक्ति आ जाती है, वही शक्ति त्राटकसे भी प्राप्त है ।

मोचनं वेत्ररोगाणां तन्द्रादीर्णो कषट्कम् ।
यत्कल्पत्वात्कं गोप्यं यथा हाटकपेटकम् ॥
(इठ्योगप्रदीपिका)

‘त्राटक नेत्ररोगनाशक है । तन्द्रा, आलस्यादिको भीतर नहीं आने देता । त्राटककर्म संसारमें इस प्रकार गुप्त रखनेयोग्य है, जैसे सुवर्णकी पेटी संसारमें गुप्त रखती जाती है ।’ क्योंकि—

भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वाची तु प्रकाशिता ।

उपर्युक्तदोमें त्राटकके आन्तर, शाह और मध्य—इस प्रकार तीन मेद किये गये हैं । हठयोगके ग्रन्थोंमें प्रकारमें नहीं है । उक्त तीनों मेदोंका वर्णन क्रमशः नीचे दिया जाता है ।

दृदय अथवा भ्रूमध्यमें नेत्र बन्द रखकर एकाम्पता-पूर्वक तक्ष्मृत्तिकी भावना करनेको ‘आन्तर त्राटक’ कहते हैं । इस आन्तर त्राटक और ध्यानमें बहुत अंशोंमें समानता है । भ्रूमध्यमें त्राटक करनेसे अरम्भमें कुछ दिनोंतक कपालमें दर्द हो जाता है तथा नेत्रकी बौरीमें चब्बलता प्रतीत होने लगती है । परन्तु कुछ दिनोंके पश्चात् नेत्रवृत्तिमें स्थिरता आ जाती है । दृदयदेशमें त्रृत्तिकी स्थिरताके लिये प्रयत्न करनेवालोंको ऐसी प्रतिकूलता नहीं होती ।

चन्द्र, प्रकाशित नक्षत्र, पर्वतके तृणाञ्छादित शिखर अथवा अन्य किसी दूरवर्ती लक्ष्यपर दृष्टि स्थिर करनेकी कियाको शाह त्राटक कहते हैं । केवल सूर्यपर त्राटक करनेकी मनहानी है । कारण, सूर्य और नेत्रज्योतिमें एक ही प्रकारकी शक्ति होनेसे नेत्र शक्ति सूर्यमें आकर्षित होती रहेगी, जिससे

नेत्र दो-ही-तीन मालमें कमज़ोर हो जायेंगे । यदि सूर्यपर त्राटक करना हो तो जलमें पड़े हुए सूर्यके प्रतिविम्बपर करे । इस प्रकार किसी दूरवर्ती पदार्थपर त्राटक करनेकी क्रियाको ‘शाह त्राटक’ कहते हैं ।

काली स्याहीसे कागड़पर लिखे हुए ‘ॐ’, बिन्दु, किसी देवमूर्ति अथवा भगवान्के चित्र, मोमबत्ती या तिळके तेलकी अचल वस्त्री या वस्त्रके प्रकाशमें प्रकाशित धातुकी मूर्ति, नासिकाके अग्रमामग या समीपवर्ती किसी अन्य लक्ष्यपर दृष्टि स्थिर रखनेकी क्रियाको ‘भ्रूमध्यत्राटक’ कहते हैं । केवल भ्रूमध्यमें कुछ नेत्रसे देखनेकी क्रिया प्रारम्भमें अधिक समय न करो, अन्यथा नेत्रोंकी नाड़ियाँ निर्याल होकर दृष्टि कमज़ोर (short sight) हो जायगी ।

इन तीनों प्रकारके त्राटकके अधिकारी भी भिन्न-भिन्न हैं । जिस साधककी पित्तप्रधान प्रकृति हो, जिसके मस्तिष्क, नेत्र, नासिका या दृदयमें दाह रहता हो, नेत्रमें पूला, जाला या अन्य कोई रोग हो, वह केवल आन्तर त्राटकका अधिकारी है । यदि वह बाल्य लक्ष्यपर त्राटक करेगा तो नेत्रको हानि पहुँचेगी । जिनकी दृष्टि दूरकी वस्तुओंके लिये कमज़ोर हो, जिनकी बातप्रधान प्रकृति हो या जिन्हें शुक्रकी निर्बलता हो, वे समीपस्थ मूर्ति आदिपर त्राटक न करें । चन्द्रादि उज्ज्वल लक्ष्यपर त्राटक करें । जिनकी दृष्टि दोधरहित हो, विधातु सम हों, कफप्रधान प्रकृति हो, नेत्रोंकी ज्योति पूर्ण हो, वे ‘भ्रूमध्य-त्राटक’ करें ।

जिनको दो-चार वर्ष पहले उपदंश (Syphilis) या चुजाक (Gonorrhœa) रोग हुआ हो अथवा जो अम्लपित्त, बीर-उवर, विशमज्वर, मजातन्तु विकृति, पित्ताशयविकृति इत्यादि किसी व्याधसे पीड़ित हों अथवा तम्बाकू, गोंजा आदिके व्यसनी हों, वे किसी प्रकारका त्राटक न करें । इसी प्रकार मानसिक चिन्ता, कोष, शोक, पुस्तकोंका अस्थयन, सूर्यताप या अँचका सेवन करनेवाले भी इस त्राटककी क्रियामें प्रवृत्त न हों ।

पाश्चात्योंका अनुकरण करनेवाले कुछ लोग मद्यरान, मांसाहार तथा अम्लपदार्थादि अपथ्य वस्तुओंका सेवन करते हुए भी ‘मन्त्रेरिज्म’ विद्याकी सिद्धिके लिये त्राटक क्रिया करते हैं । परन्तु ऐसे लोगोंका अभ्यास पूर्ण नहीं होता । अनेकोंके नेत्र चले जाते हैं, और अनेकों पागल हो जाते हैं । जिन्होंने पथ्यका पालन किया है, वही सिद्धि ग्रास कर सके हैं ।

यम-नियमपूर्वक आसनोंके अभ्याससे नाड़ीसमूह मुड़ दो जानेपर ही ब्राटक करना चाहिये । कठोर नाड़ियोंके आधात पहुँचते देरी नहीं लगती । ब्राटकके जिग्नासुओंके लिये आसनोंके अभ्यासके परिपाककालमें नेत्रके व्यायामका अभ्यास करना विशेष लाभदायक है । प्रातःकालमें शान्तिपूर्वक दृष्टिको शनैःशनैः बायें, दायें, नीचेकी ओर, ऊपरकी ओर चलानेकी क्रियाको नेत्रका व्यायाम कहते हैं । इस व्यायामसे नेत्रकी नसे हड़ देती हैं । इसके अनन्तर ब्राटक करनेसे नेत्रको हानि पहुँचनेकी भीति कम हो जाती है ।

ब्राटकके अभ्याससे नेत्र और मस्तिष्कमें उण्ठता बढ़ जाती है । अतः नित्य जलनेति करनी चाहिये । तथा रोज सुखद विफलके जलसे अथवा गुलाबजलसे नेत्रोंको धोना चाहिये । भोजनमें पित्तवर्द्धक और मलावरोध (कफ्ज) करनेवाले पदार्थोंका सेवन न करे । नेत्रमें आँसू आ जानेके बाद फिर उस दिन दूसरी बार ब्राटक न करे । केवल एक ही बार प्रातःकालमें करे । वास्तवमें ब्राटकके अनुकूल समय रात्रिके दोसे पाँच बजेतक है । शान्तिके समयमें चित्तकी एकाग्रता बहुत शीघ्र होने लगती है । एकाग्र वर्षभर्यन्त नियमितरूपसे ब्राटक करनेसे साधकके सङ्कल्प सिद्ध होने लगते हैं, दूसरे मनुष्योंके हृदयका भाव माझम होने लगता है, सुधूर स्थानमें स्थित पदार्थ अथवा घटनाका सम्पूर्ण प्रकारसे बोध हो जाता है ।

गजकर्म या गजकरणी

गजकर्म यहि जानियं, पिण्य पेण भी नेर ।
केरि मुनिस्ते नाडिये, रोग न होय शीर ॥

दृष्टी जैसे मैंझसे जल खोच पिल फेंक देता है, वैसे गजकर्ममें किया जाता है । अतः इसका नाम गजकर्म या गजकरणी हुआ । यह कर्म भोजनसे पहले करना चाहिये । विषयुक्त या दूषित भोजन करनेमें आ गया हो तो भोजनके पीछे भी किया जा सकता है । प्रतिदिन दस्तधावनके पश्चात् इच्छाभर जल पीकर अङ्गुष्ठी मुखमें दे उलटी कर दे । क्रमशः बढ़ा हुआ अभ्यास इच्छामात्रसे जल बाहर फेंक देगा । भीतर गये जलको न्योलीकर्मसे भ्रमाकर फेंकना और अच्छा होता है । जब जल स्वच्छ आ जाय, तब जानना चाहिये कि अब मैल मुखकी राह नहीं है । पित्तप्रधान पुरुषके लिये यह किया हितकर है ।

कपालभातिकर्म

भक्षावलोहकारस्य रेचपूरी समस्तमौ ।
कपालभातिर्विश्वयाता कफशोषविशोषणी ॥
(इठेगप्रदोषिया)

अर्थात् लोहारकी भाधीके समान अत्यन्त शीघ्रतासे क्रमशः रेचक-पूरक प्राणायामको शान्तिपूर्वक करना योगशास्त्रमें कफदोषका नाशक कहा गया है तथा 'कपालभाति' नामसे विलयात है ।

तब सुपुण्यामें अथवा कुपकुसमें भासनलिकादारा कफ चार-बार ऊपर आता हो अथवा प्रतिश्याय (जुकाम) हो गया हो, तब सूत्रनेति और धैतिक्रियामें इच्छित शोधन नहीं होता । ऐसे समयपर यह कपालभाति लाभदायक है । इस क्रियासे कुपकुस और समस्त कफवहा नाड़ियोंमें इकड़ा हुआ कफ कुछ जल जाता है और कुछ प्रस्वेददारा बाहर निकल जाता है, जिसमें कुपकुस-काँपोंकी सुर्दि होकर कुपकुस बलवान् होते हैं । साश्चास्थ मुपुण्या, मस्तिष्क और आमाशय-की शुद्धि होकर पाचनशक्ति प्रदीप होती है । परन्तु उत्तर दृद्यकी निर्वलता, वसनरोग, हलास (उचाक), दिक्का, स्वरभङ्ग, मनकी भ्रमित अवस्था, तीक्ष्ण ज्वर, निद्रानाश, ऊर्ध्व रक्तपित्त, अम्लपित्त इत्यादि दोषोंके समय, यात्रामें, और वर्षा हो रही हो ऐसे समयपर इस क्रियाको न करे ।

यदि यह क्रिया अधिक वेगपूर्वक की जायगी तो किसी नाड़ीमें आधात पहुँच सकता है । और शक्तिमें अधिक प्रमाणमें की जायगी तो कुपकुसकोप्रीमें शिथिलता आ जायगी, जिसमें वायुओंका बाहर फेंकेकी शक्ति न्यून हो जायगी, जीवनी-शक्ति भी क्षीण हो जायगी तथा कुपकुसोंमें वायु शेष रहकर बार-बार इकार बनकर मुँहमें निकलता रहेगा ।

इस क्रियासे आमाशयमें संग्रहीत दूषित पित्त, पाक न होकर शेष रहा हुआ आहार-स और विकृत श्लेष्म जलमें विश्रित होकर वसनके साथ बाहर आ जाते हैं । कुछ जल आमाशयमें अन्त्रमें चला जाता है । परन्तु इसमें कुछ भी हानि नहीं होती । वह जल मल-भूतद्वारसे और प्रस्वेदरूपसे एक-दो प्रण्डेमें बाहर निकल जाता है । इस क्रियाको करनेवालेके लिये भोजनमें विचड़ी अथवा दूध-भात लेना विशेष हितकर है ।

अजीर्ण, धूपमें भ्रमगासे पित्तहृद्दि, पित्तप्रकोपजन्य रोग, जीर्ण कफ-व्याधि, कृमि, रक्तविकार, आमाशय, विषविकार

और त्वचारोगादि व्याधियोंको दूर करने के लिये यह क्रिया गुणकारी है।

तीक्ष्ण कफप्रकोप, वमनरोग, अन्वनिर्बलता, क्षतयुक्त संग्रहणी, दृदयकी निर्वलता एवं उराशतादि रोगोंमें यह क्रिया

न करे। इसी प्रकार आवश्यकता न होनेपर इस क्रियाको नित्य न करे। शरद-श्रृङ्खुमें स्वाभाविक पित्तदूषित होती रहती है। ऐसे समयपर आवश्यकतानुसार यह क्रिया की जा सकती है।

सच्ची साधना और उसका मुख्य ध्येय

(छेत्रक—पं० श्रीदामोदर री उपाध्याय)

त्रिलोकीके नाथ मङ्गलमय श्रीमद्दानकी मायासे उत्पन्न सन्, रज और तमने इस क्रियुक्तनको ऐसा वौंध रखा है कि इसे समझनेमें संसारी प्राणियोंकी बुद्धि सदा असफल रही है। हाँ, जिन्होंने महारानीके मद्द्वयको जान लिया है उनकी सफलतामें सन्देह नहीं। पञ्चभूत, मन, बौद्धि, अङ्गकार, प्राण और जीव-इनके मेलसे बना हुआ यह मानव-शरीर ऐसा घन्त है, जो साधनाके लिये सब तरहसे उपयुक्त माना गया है। हमें अपनी समस्ताओंको हृल करनेके लिये, तीनों प्रकारके सन्तानोंसे बननेके लिये दो शातोंका जानना जरूरी है। वे दो बातें हैं—मनका विषय क्या है? और मनका कर्तव्य क्या है? मनका विवेचन करना विश्वास सम्बन्ध रखता है। मनका निवास शरीरमें रहता है, इसलिये शारीरिक विश्वासके आचार्य पूज्य महर्षि अभिवेदनजीने जो बहुमूल्य विचार प्रदान किये हैं वे यहाँ उपस्थित किये जा रहे हैं।

विन्द्य विचारेभूम्हे च ध्येयं सङ्कल्प्यमेव च ।
थत क्रिचिभग्नसो ज्यें तत् सर्व ह्यर्थसंज्ञकम् ॥

क्या करना, क्या नहीं—इसका चिन्तन करना, पूर्वप्रका विचार करना, तर्क करना, ध्यान करना (भावनाज्ञान), गुण-दोषका विवेचन करके विक्षय करना, इन्द्रियोंके अर्थोंका अनुभय करना तथा और भी तसाम प्रपञ्चकी यातोंकी जानकारी रखना मनका विषय (धर्म) है। जाग्रत-कालमें प्रत्यक्षरूपसे मन विषयोंका भोग करता था व्यवहार करता है। स्वप्नावस्थामें कल्पनाद्वारा उपयोग करता है। शोष सुपुष्टि और तुरीयावस्थासे विषयोंका कोई सम्बन्ध नहीं है।

(२) 'एकहि साधे सब सधै' इस उक्तिके अनुसार जग इन्द्रियों तो अपने आप रास्तेपर आ जायेंगी। इस सत्यसे भी कोई मुख नहीं मोड़ सकता कि परम कृपाकु जगदीश्वर

परमेश्वरकी अमृतमयी दया जिस जीवपर हो जाती है, वह उस वास्तविक साधनामें संलग्न हो जाता है जिसका वर्णन वेदों, उपनिषदों, पुराणोंमें है। यदी नहीं, बौद्ध, जैन, मुमलमान, ईसाई-सभी धर्मोंके माननेवाले इस साधनाकी ओर आये और सफल हुए हैं। सच पूछा जाय तो पुराणोंके ऊपर उन भूतपूर्व संत-मुक्त महात्माओंका स्थान है, जो हमारे लिये सचित्र उदाहरणरूप हैं। जो जीव सारदीन, प्रपञ्चयुक्त और एक-न-एक दिन नष्ट होनेवाली साधनामें उलझ कर अपना मानव-जीवन गँवा देता है, उसार भगवान् का अनुग्रह असम्भव है; बल्कि ऐसे साधक तो सच्ची साधनाकी ढायासे भी दूर ही रहते हैं।

श्रीमद्भागवतके श्यारहवें स्कन्धमें उद्गवजी कहते हैं—
'भगवन्! योगसाधन-जैसे दुसर अस्यासको वही व्यक्ति कर सकता है, जिसका मनपर पूरा-पूरा अधिकार हो गया हो: साय-ही-साध मनपर अधिकार कर लेना सभीका काम नहीं है।' इसलिये कोई ऐसी साधना बतलाइये, जिसका पालन करनेसे सहजहीमें बिद्धि मिल जाय। बहुधा देखा जाता है कि योगी मनको वशमें करनेके उपाय करते-करते थक जाते हैं, फिर भी उसको वशमें न कर सकनेके कारण बहुत ही दुःखी होते हैं।' इस उदाहरणसे हमारा केवल यही अभिप्राय है कि मन कितना भयहक्र है, जो योगियों-तकको धोखा देकर पटाइ डालता है। अपना कल्पणा चाहनेवाले मनकी ओरसे सदा ही सावधान रहते हैं।

भली या बुरी-चाहे कैसी भी साधना सारी जाय, मनकी तो अनिवार्यरूपसे नेता बनना पड़ेगा। नेता जिधर ले जायगा, उधर ही जनता (इन्द्रियों) जायगी। मनकी मारसे हम निजी रूपसे डरते रहते हैं; इसलिये मनके प्रति हमारा विद्रोह है।

(३) श्रीमद्भागवत-माहात्म्य-वर्णनके तीसरे अस्यामें श्रीनारदजी कहते हैं कि 'कलियुगमें इतनी विज्ञ-बाधाएँ

हैं कि मनको एकाग्र रखना बड़ा ही कठिन है। मुक्तिरूपी साध्यको पानेके लिये श्रीभगवानके चरणोंमें अनुग्रह, उनके परम पवित्र नामोंका कीर्तन होना आवश्यक है। कारण भक्ति भगवान्को अति प्रिय है और मुक्ति ठहरी भक्तिकी दासी।^१ ज्ञानियोंके ज्ञानकी ओर

बुद्धिमानोंकी बुद्धिकी चरम सीमा वहीतक है कि इस मिथ्या नाशबान् शरीरसे सत्यस्वरूप अविनाशी ईश्वरको प्राप्त कर लें। भक्तियोगद्वारा जो साधना सम्पादित की जाती है, उसमें पर्याप्त सुगमता है। यह आज इस युगमें दिन-पर-दिन उच्चतिपर है।

बौद्ध सिद्धोंकी साधना

(लेखक—१० श्रीपरशुरामजी चतुर्वेदी एम. ५०, एल-एल बी०)

महात्मा गौतमबुद्धने संसारमात्रको दुःखमय मानकर 'दुःखनिरोध' को सबका अनितम धेय निश्चित किया था और इसके लिये सभी संस्कारोंका शमन, चित्तमलोका त्याग एवं त्रुष्णाका क्षय परमावश्यक बतलाया था। इस निरोध या विरागमयी पूर्ण शान्तिकी अवश्यको ही 'निर्वाण' का नाम दिया गया था—जिसकी उपलक्ष्य चित्तको सर्वप्रथम वस्तुस्थितिका अनुभव प्राप्त करने योग्य और पूर्णाङ्गेण चिन्तनस्त्रील बनानेपर अवलम्बित रहती है। वस्तुस्थितिके ज्ञानका अभिप्राय पहले उनके द्वारा निर्दिष्ट प्रसिद्ध मध्यम या आष्टाङ्गिक मरणके दृष्ट्यको हृदयझम करना था—जो क्रमशः एक अनिर्वचनीय 'धर्म'के रूपमें समझा जाने लगा और जिस आगे चलकर किसी-न-किसी प्रकार शून्य, धर्मतथाया या भूततथाके भी नाम दिये गये। यही धर्म अथवा शून्य ढोड़ सिद्धोंका 'वोहिं' (बोधि), 'ज्ञान रथण' (जिनरत्र), 'सहवा', 'महासुहु' (महासुख), 'धाम' 'अण्युत्तर' (अनुत्तर) या 'जिनठर' (जिनपुर) है—जिसका साधनाद्वारा प्राप्त कर लेना परमार्थ या परम पुरुषार्थ समझा जाता है। 'निर्वाण' शब्द नामव्याप्ति नियोगार्थक नहीं और न 'शून्य' शब्द ही नियोगार्थी है। दोनोंका तात्पर्य एक ही विधि या वस्तुस्थितिके पारमार्थिक रूपमें है—जो न तो सत् है, न असत् ही है, परन्तु जो सभीके लिये परमलक्ष्य है।

महात्मा गौतमबुद्धने संज्ञा या चित्तनाको ही निच्छ, मन या विज्ञान माना था और इमी चित्तको हम अनेक अचौद्ध दर्शनोंकी शब्दावधीके अनुग्रह 'आत्मा'की भी संज्ञा दे सकते हैं। यह चित्त स्वभावतः शुद्ध और मन्महित है; किन्तु इसीके अन्तर्गत वह मृलयीज भी वर्तमान है जिससे 'भव' एवं 'निर्वाण' दोनोंका किसकुण्ठ हुआ करता है और इन्हीलिये जिसके बढ़ हो जानेसे बन्धन और मुक्त होनेसे परममोक्षका लाभ भी हुआ करता है। अनञ्जयग्रने हम चित्तका स्वभाव दर्शाते हुए लिखा है—

अनलपसङ्कल्पतमोऽभिभूतं

प्रभञ्जनोन्मत्ततिदिश्वलं च ।

रागादिदुर्बारिमलावलिसं

चित्तं हि संसारसुवाच वज्री ॥

अर्थात्, वज्रयानाचार्योंके अनुसार, जब चित्तमें अनेकानेक चक्रलोकोंका अन्धकार भरा रहता है और जब वह तूकानके समान उन्मत्त, विजलीकी भौति नम्रल एवं रागादिके मलोंसे अत्रलिप्त रहता है तो उभीको संसारका नाम दिया जाता है। और—

प्रभास्वरं कल्पनया विमुक्तं

प्रहीणरागादिमलप्रलेपम् ।

ग्राव्यं न च ग्राहकमग्रसर्वं

तदेव निर्वाणवरं जगाद् ॥

अर्थात् वही जब प्रकाशमय होनेके कारण, सारी कल्पनाओंसे रहित होता है, जब उसमें रागादिके मल नहीं रहते और जब, उसके विषयमें, शाता अथवा शेष होनेका प्रदन भी नहीं उठता, तब उसी श्रेष्ठ वस्तुको निर्वाण भी कहा जाता है। अतएव सिद्ध भुसुकुपाके शब्दोंमें—

अप्यामांसे हरिणा दैरी ।

अर्थात् हैणिरूपी चञ्चल चित्त अपने मांस (सङ्कल्प-विकल्पादि दोरों) के कारण आप-ही-आप शब्द भी बन जाता है और इसी प्रकार जब वह निश्चल होकर समरसकी अवस्थामें प्रवेश करता है तो काण्डपाके अनुसार, साधकको विषयादि निराश होकर आप-ही-आप त्याग देते हैं और वह स्वर्य वज्रधर या सिद्धाचार्यकी अवस्था प्राप्त कर लेता है।

परन्तु चित्तकी उक्त चञ्चलता किस प्रकार दूर की जाय तथा उसे पिरसे निश्चल किस प्रकार बनाया जाय ? उत्तरापाके अनुसार इमारे चित्तकी यह एक विशेषता है कि वह रागादिद्वारा प्रस्त या वद्ध रहनेपर ही इधर-उधर चारों ओर

भागा फिरता है, इनसे मुक्त होकर वह स्वभावतः स्थिर हो जाता है। इसलिये मूलतत्त्वको 'खसम' (ख=आकाश, सम=समान) अथवा शून्य मानते हुए अपने मनको भी तदनुषार 'खसम-स्वभाव' या शून्यतृप्त कर देना आवश्यक है; जिससे वह 'अमन' (अर्थात् अपना चक्षुल स्वभाव छोड़कर अमनस्क-सा) हो जाय और उसे सहजावस्थाकी उपलब्धि सरलतापूर्वक हो सके। सिद्ध तेलोपाका कहना है—

चित्त खसम जहि समसुह पहदुइ ।
स्त्री-विसंप्र तहि मरण दीसुइ ॥
आइ रहिअ पहु अंत रहिअ ।
वग्मुख पाइ अद्वा कहिअ ॥

अर्थात् जिस समय चित्त खसम (शून्यतृप्त) होकर समसुखमें प्रवेश करता है, उस समय किमी भी इन्द्रियके विषय अनुभवमें नहीं आ पाते। यह समसुख आदि एवं अन्त दोनोंसे रहित होता है और आचार्य इसे ही अद्वय नाम देते हैं। मनको इस प्रकार 'अमन' करनेवाली कियाको सिद्धोंने 'मनका भार डालना' या 'मनका निःस्वभावीकरण' भी कहा है और इसके अभ्यासको स्पष्ट करते हुए सिद्ध शान्तिपाने रुद्धके धुननेका एक सुन्दर रूपक भी दिया है। वे कहते हैं—

तुला भुग्नि-भुग्नि अँसुं अँसु ।
अँसु भुग्नि-भुग्नि विश्वर मंसु ॥

X X X

तुला भुग्नि-भुग्नि सुणे अहारिइ ।

अर्थात् रुद्धको धुनते-धुनते उसके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अंश निकालते चलो, (फिर देखोगे कि) अंश-अंश विश्लेषण करते-करते अन्तमें कुछ भी दोष नहीं रह जाता। (जान पड़ता है कि) रुद्धको धुनते-धुनते उसे शून्यतक पहुँचा दिया। इसी क्रियाको एक शिकारके रूपकद्वारा बोधिचर्याद्यामें हुए प्रकार बतलाया गया है—

इमं चर्मपुटं तावस्त्वुद्यैव वृथक् कुरु ।
अस्थियंभृतते गोसं प्रज्ञाशेषण सोचय ॥
अस्तीन्यपि पृथक् कुवा पश्य ज्ञानमनन्ततः ।
किमत्र सारमसीति स्त्रयमेव विचारय ॥

अर्थात् इस चमडेकी ऊपरी वस्तुको अपनी बुद्धिकी सहायतामें अलग कर दो और तब अपनी प्रज्ञाद्वारा अस्थिपञ्चरसे भासको भी निकाल दो; फिर हड्डियोंको भी दूरकर अपने विकेद्वारा सोचोगे तो स्वयं समझ लोगे कि अन्तमें कुछ

सा० अं० ८०

भी तत्त्व नहीं रह जाता। सब कुछ वास्तवमें निःसारमात्र है। मनका आकार-प्रकार पूर्ण करनेवाले सङ्कल्प-विकल्पादिनोंको दूर करनेपर भी इसी प्रकार शून्यमात्र रह जाता है। अतएव सिद्ध सरहपाका कहना है कि घर अथवा बन-जहाँ कहीं भी हम रहे, हमें केवल अपने मनके स्वभावका ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है। बोधि सब कहीं निरन्तर वर्तमान है, इसलिये किसी एक विद्यामें 'भव' और दूसरीमें 'निर्वाण' का अस्तित्व हूँदूना निरी मूर्खता होगी। हमें केवल इस रहस्यमें परिचित हो जाना चाहिये कि मूलमें चित्त नितान्त निर्मल और विकल्पादित है और वही अवस्था हमारे लिये परम पदकी स्थिति है, जिसे समरसके रूपमें प्राप्त कर लेनेपर जहाँ कहीं भी चित्त जाता है, वहाँ उस अचिन्तके रूपमें ही हम अनुभव करते हैं। उस निर्मल और भावामात्ररहित दशाको प्राप्त कर लेनेपर चित्त कहीं भी विस्फुरित है, उसे नाथ (प्रभास्वर) के स्वरूपका ही बोध होता है, क्योंकि जैसे जल और उसका तरङ्ग दोनों वास्तवमें एक ही अभिनव वस्तु है, उसी प्रकार भवका सम्य भी आकाशके सामग्रीके ही स्वभावका होता है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञानमात्रक पौँछों स्कन्ध एवं पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाशनामक पौँछों भूत और ओ॒ख, कान, नाक, जीभ, काम और मननामक छहों आयतन इन्द्रियों-ये सभी सहज स्वभावद्वारा बढ़ाने हैं, अतएव हमें चाहिये कि अपने सङ्कल्पाभिनिविष्ट भनका विशेषन कर उसे निःस्वभाव बना दें, जिससे वह शून्यमें प्रवेश कर समरसकी स्थितिमें आ जाय। जिस प्रकार जलमें जल प्रवेश करता है, उसी प्रकार चित्त भी सहजसे मिलकर समरसकी अवस्थामें आता है। सहज जैसा दाहर है, वैसा ही भीतर भी रहता है। चौदहों भुवनोंमें वह निरन्तर वर्तमान है; वह अशीरीरा शारीरमें ही छिपा है; उसे जो जानता है, वही कुक्ल है।

शरीरके ही भीतर पाये जानेवाले उक्त सहज या महासुखका उत्पत्तिस्थान, काण्डपाके अनुसार, इडा एवं पिङ्गलानामक दो प्रसिद्ध नाड़ियोंके संयोगके निकट ही वर्तमान है; उसे पवनके नियमनद्वारा प्राप्त करना आवश्यक होता है। काण्डपाने कमलके रूपकद्वारा उक्त महासुखका वर्णन करते हुए, लिखा है कि वार्षी नासिकाकी ललनामक (प्राणखस्त्रप) चन्दनाढी और दाहिनी नासिकाकी रसनामक (उपायस्त्रस्त्रप) सूर्यनाढी उस महासुख-कमलके दो खण्डस्त्रस्त्रप हैं। उसका पौधा गमगनके जलमें, जहाँ असिताभ या

परम आनन्दमय प्रकाश-पङ्कजरूपमें वर्तमान है; उत्पन्न होता है; उसका मुख्य नाल अवधूती अथवा मूलशक्ति होती है और उसका रूप हंकार अथवा अनाहत शब्दका होता है। इस महासुख-कमलके मकरनदका पान योगी या साधकलोग साधनाद्वारा, शरीरके भीतर ही कर लिया करते हैं। काण्डपा अन्यत्र फिर कहते हैं—

जद वपन-गमण-दुआरं दिद तता वि दिजद ।
जद तमु घोरन्थारे मण दिव हो किजद ॥
जिष रमण उर्ते जद सों बहु अम्बह दुष्पद ।
भणइ काण्ड भ्रत भुञ्जन्त गिव्वाणो वि सिजद ॥

अर्थात् यदि पवनके निर्गमनदारपर ढट ताला लग जाय और वहोंके घोर अन्यकारमें शुद्ध या निश्चल मनका दीप जलाया जाय और यदि वह जिनरतनकी ओर उच्च गमनमें स्पर्श कर जाय तो संसारका उपभोग करते समय भी हमारे लिये निर्वाणकी सिद्धि हो जाय। जिसका मन निश्चल हो गया, उसका उसी क्षण वायुनिरोध भी सिद्ध है और वायुनिरोध होनेपर मन आप-से-आप निश्चल होता है। दोनोंका पारस्परिक सम्बन्ध है।

उक्त प्रकारसे पवन एवं मनको जिस स्थानपर एक साथ निश्चल किया जाता है, उसे सिद्धोंने 'उद्दमेत्' अथवा मेददण्ड (सुमुग्णा) का सिरा कहा है। काण्डपा ने बतलाया है कि वह पर्वतके समान सम-विवरम है, अतएव वहाँ चढ़ना-उत्तरना सरलतापूर्वक नहीं हो सकता। उसकी गम्भीर कन्दरामें सारा जगत् चिनाए होकर शून्यमें लीन हो जाता है और हमारे द्रवाकार चंचल चित्तका निर्मल जल भी तन्मय हो जाता है। उसी ऊँचे पर्वतके शिखरको सिद्धोंने महामुद्रा या मूलशक्ति (नैरात्मा) का निवासशान भी बतलाया है। किन्तु शवरपा कहते हैं कि उक्त पर्वतपर अनेक वडे वडे वृक्ष पुष्पित हैं और उनको डालें गगनचुमियनी हैं। वहों अकेली शब्दरी (नैरात्मा) बनका एकान्तन-विहार किया करती है। वहीं विधातुकी सुन्दर सेज भी पड़ी है और साधक योगी वहों पहुँचकर उक्त दारिकाके साथ प्रेम-पूर्वक समय व्यतीत करने लगता है। नैरात्माको सिद्धोंने शब्दीके अतिरिक्त डोंबी, चण्डाली, शुण्डिनी, जोहणि (योगिनी) या पवनधरिणीके नामोंसे भी अभिहित किया है और उसका अनेक प्रकारसे वर्णन भी किया है। काण्डपा ने उस डोंबीको चौसठ पेंखुड़ीवाले कमलपुष्पके

ऊपर चढ़कर सदा नाचती रहनेवाली बतलाकर, उसके साथ अपना वियाह-सम्बन्ध स्थापित करनेका रूपक बाँधा है और सिद्ध डोंबियाने उसे ही शीघ्र पर कराकर जिनपुर पहुँचानेवाली कहा है। इसी प्रकार सिद्ध विल्पका कहना कि वह अकेली शुण्डिनी (कलाली) इधर इडा और पिङ्गला नाडियोंको एक अर्थात् सुमुग्णा नाईमें प्रविष्ट कराती है और उधर बोधिचित्तको ले जाकर प्रभास्वर शून्यमें भी बाँधा करती है; उसके निकट चौसठ घटीयन्त्रोंमें मद (महासुख) सँभालकर रखवा रहता है और वहों एक बार भी पहुँचकर मदरी फिर लौटनेका नामतक नहीं लेता।

सिद्धोंने अपनी साधनाको सहज मार्गका नाम देकर उसे अत्यन्त सरल और सीधा भी बतलाया है। सिद्ध भरहा इसके सीधेनके विषयमें कहते हैं—‘जब कि नादविन्दु अथवा चन्द्र और सूर्यके भण्डलका अस्तित्व नहीं और चित्तराज भी स्वभावतः मुक्त है, तो फिर सरल मार्गका त्वया कर बंकमर्ग प्रग्रहण करना कहाँतक उचित कहा जा सकता है ? बोधि सदा निकट वर्तमान है, उसे लड़ा (कहाँ दूर) जानेकी आवश्यकता नहीं; हाथमें ही कङ्गण है, दर्पण ढूँढ़ते फिरनेसे कोई भी लाभ नहीं होगा। व्यं अपने मनमें ही अपनेको सदा अवस्थित समझ लो। पार वही लगता है जो दुर्जनोंके साथमें पढ़कर विषय नहीं होता। सहज मार्ग प्रग्रहण करनेवालेके लिये ऊँचा-नीचा, वायाँ-दाहिना, सभी एक भाव हो जाते हैं। इसी प्रकार सिद्ध भादेपाने अपने निजी अनुभवद्वारा इसके महत्वका वर्णन करते हुए कहा है कि ‘अनीतक मैं मोहरे पदा था, अब मैं सद्गुरुओंवद्वारा इसका शान प्राप्त किया है। मेरा चित्त अब नष्ट (शान्त) हो गया और गमन-समृद्धमें रल (हिल-मिल) कर एक या तदाकार हो गया। मुझे अब दसों दिशाओंमें द्यून्य ही-शून्यका अनुभव होता है। बज्रगुरुके उपदेशद्वारा गगन-समुद्रको मैं अपने मनमें ही उतार लाया हूँ।’ सहजके वास्तविक रूपका पूर्ण वर्णन अत्यन्त कठिन होनेसे उसके मार्गका उपदेश भी बिना निजी अनुभवके स्पष्टरूपसे दृढ़यज्ञम नहीं हो सकता और इसी कारण काण्डपाका कहना है कि जो कुछ भी इस विषयमें कहा जाता है, वह सभी मिथ्या-सा हैं। ‘भुरु वास्तवमें गैंगा है और दिव्य वधिर है। ‘वाक्पयातीत’ वस्तुका वर्णन कैसे होगा ?

प्रेम-साधनाके साथ

चोरी करत कान्ह घर पाये ।
निसिंचासर मोहिं बहुत सतायो अब हरि हाथहि आये ॥
मास्वन दधि मेरो सब खायी बहुत अचगरी कीन्ही ।
अब तो हाथ परे ही लालन तुमहि मले हैं चीन्ही ॥
दोउ कर पकरि कहयो कित जैहो मास्वन लेउ मँगाइ ।
तेरी सौं मैं नेकु न चाल्यो सखा गए सब खाइ ॥
मुख तन चिर्ति बिहँसि हाँसि दीन्हो रिस सब गई चुशाइ ।
लिये स्याम उर लाइ ग्वालिनी स्वरदाम बलि जाइ ॥

—सुरदासजी

बौद्ध-साधना

(लेखक—डा० श्रीविनयतोष भट्टाचार्य एवं ड० एच० डी०)

साधन दो प्रकारके होते हैं—लौकिक और अलौकिक। लौकिक साधनका अर्थ होता है अभ्यास-उद्योग-किसी चरम उद्देश्यकी सिद्धिके लिये लगातार प्रयत्न। अलौकिक साधन कहते हैं उन आध्यात्मिक या मानसिक साधनाओंको जो योग अथवा तन्त्रकी प्रक्रियासे अलौकिक सिद्धियों अथवा भुक्तिकी प्राप्तिके लिये की जाती हैं।

लौकिक साधन तो प्रायः सभी करते हैं। जीवन स्वयं एक साधन है, वालक ज्ञान प्राप्त करनेके लिये अध्ययनरूपी साधन करते हैं। गवैये 'कलावंत' कहलानेके लिये 'सियाज़' करते हैं, स्वर साधते हैं। लेखक ग्रन्थकार बननेके लिये निवन्ध-पर-निवन्ध लिखते हैं। व्याख्यानदाता व्याख्यान-वाचस्पति बननेके लिये बोलनेका—वकृता देनेका अभ्यास करते हैं। चोर भी चोरी करते समय लोगोंकी नज़र बचाने-की साधना करते हैं। इनके अतिरिक्त ऐसे लोग भी हैं जो अहिंसा, सत्य एवं निःसार्थ लोकसेवा आदि सद्गुणों एवं श्रेष्ठ आचरणोंका अभ्यास करते हैं। लगातार अभ्यास करनेसे—रगड़पत्री करनेसे निश्चय ही योही-बहुत दक्षता या पटुता प्राप्त होती है। इस पटुताको ही सिद्धि कह सकते हैं। साधकोंमें दूसरे लोगोंकी—असाधकोंकी अपेक्षा यही विशेषता होती है, उन्हें लूगात्मिक रूपमें सिद्धि या सफलता प्राप्त होती ही है।

योग अथवा तन्त्रकी साधना इससे विलक्षण होती है। इसका सम्बन्ध मनोराज्यसे होता है और यह मनकी अवश्यक शक्तियोंका विकास करनेके स्थिरी की जाती है। इस प्रकारकी अलौकिक साधना ही प्रस्तुत निवन्धका विषय है। उसमें भी यहाँ हम केवल बौद्ध-साधनापर ही विचार करेंगे। जिसका वर्णन बौद्ध-सम्प्रदायके प्रकाशित ग्रन्थोंमें मिलता है।

बौद्धोंकी तान्त्रिक साधनामें सर्वप्रथम आवश्यकता होती है एक सुसंस्कृत साधककी, जिसकी परीक्षा किसी अधिकारी गुरुके द्वारा की जा चुकी हो तथा जिसे तान्त्रिक साधनाके योग्य करार दिया जा चुका हो।

जिस प्रकार तान्त्रिक साधनके अनेक भेद हैं, उन्हीं प्रकार साधकोंकी भी माधवनकी कठिनता एवं सुगमताके अनुसार अनेक श्रेणियाँ होती हैं। तन्मोंकी भी चार श्रेणियाँ

हैं—(१) क्रिया-तन्त्र, (२) चर्या-तन्त्र, (३) योग-तन्त्र और (४) अनुचरयोग-तन्त्र। और इन चार प्रकारके तन्मोंसे सम्बन्ध रखनेवाले उपासक भी चार श्रेणियोंमें विभक्त हैं।

प्रारम्भिक श्रेणीके साधक, तथा जिनका तन्त्रके रहस्योंमें अभी प्रवेश ही हुआ है ऐसे साधक क्रिया एवं चर्याकी निपत्र श्रेणीमें भर्ती किये जाते थे। उन्हें सब प्रकारके निपिद्ध साद्य एवं पेय पदार्थोंका त्याग करना पड़ता था और व्रश्चर्चयके कठोर नियमोंका पालन करना पड़ता था।

ऊँची श्रेणीके साधकोंको जाचारके विषयमें स्वतन्त्रता होती थी, उनपर किसी प्रकारके नियम लागू नहीं होते थे। उन्हें अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त होती थीं, और वे 'सिद्ध' कहलानेके अधिकारी होते थे।

अद्यतव्र नामके एक प्रसिद्ध तन्त्रकारने साधकोंको दो श्रेणियोंमें विभक्त किया है—शैक्ष और अशैक्ष। शैक्षोंको आचारसम्बन्धी कठोर-से-कठोर नियमोंका पालन करना पड़ता था और दैनिक त्वर्ता एवं खाद्य तथा पेय पदार्थोंके सम्बन्धमें भी उनपर कई प्रकारके वर्णन थे। अशैक्ष वर्गके साधक मनुष्योंके बनाये तथा इश्वरके बनाये सभी नियमोंसे परे होते थे, क्योंकि वे ही सब प्रकारके नियम बनानेवाले थे और प्रकृतिके नियमोंका सञ्चालन करनेवाले भी वे ही थे।

तान्त्रिक साधनाके रहस्योंमें प्रवेश प्राप्त किये हुए, साधकोंके संरेपमें यही भंद हैं। परन्तु ये भय याते ग्रन्थोंके आधारपर नहीं भीखी जा सकती; अतः यह आवश्यक है कि इनका उपर्देश गुरुमुखसे प्राप्त किया जाय। इतना ही नहीं, पुस्तकोंमें भीखी हुई अजात रहस्यमयी साधनाओंके करनेमें योही-बहुत जोखिम भी रहती है।

ऐसी दशामें ऐसे गुरुकी, जो आध्यात्मिक साधनाओंके रहस्योंमें शिष्यका प्रवेश करा सके, और भी अधिक आवश्यकता हो जाती है। अतः किसी भी रहस्यमयी साधनामें गुरुका स्थान प्रमुख होता है। इसीलिये तन्त्र और योगके सभी सम्प्रदायोंमें, जिनमें बौद्ध सम्प्रदाय भी शामिल है, गुरुका बड़ा माहात्म्य वर्णन किया गया है।

गुरुके विना कोई भी सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। गुरु-

के विना गृह चिद्वान्तों और साधनाओंको समझना असम्भव है ! जिस पुरुषकी दीक्षा ही तुकी है, उसके लिये कौन-सा मन्त्र अथवा साधना अनुकूल होगी—यह गुरु ही बतलाते हैं। कम-से-कम परिश्रमसे और विना अधिक समय बरबाद किये सिद्धि प्राप्त करनेका स्वयंत्रम् उपाय क्या है, यह बतलाना गुरुका ही काम होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साधनके लिये गुरु और शिष्यकी बड़ी आवश्यकता है, जो दोनों ही अधिकारी होने चाहिये। तान्त्रिक साधनाके दो रूप ही सकते हैं—मन्त्र-साधन और देव-साधन, अथवा दोनोंकी साधना एक ही कालमें की जा सकती है। इस साधनाका योगके साथ, विशेषकर हठयोगके साथ धनिष्ठ सम्बन्ध है—जैसा कि आगे चलकर इसी निवन्ध्यमें समझाया जायगा।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि हठयोगकी साधना आध्यात्मिक साधनाओंमें सबसे नीचे दरजेकी साधना है, क्योंकि शारीरिक शुद्ध करना और उसे ऊँची साधनाओंके लिये तैयार करना ही इसका काम है। सभी प्रकारकी आध्यात्मिक साधनाओंमें ध्यान और चिन्तकी एकाग्रता परम आवश्यक है और शारीरिक मल बद्धुदा ध्यानमें बाधक होते हैं।

हठयोगके द्वारा शारीरिक मलोंका शोधन हो जानेपर साधक मन्त्र अथवा देवतापर अथवा परब्रह्ममें नित्यको स्थिर कर सकता है। पहली साधना मन्त्रयोगकी है, दूसरी तन्त्र-योगकी और तीसरी राजयोगसे सम्बन्ध रखती है।

अधिक-से-अधिक मनोयोगके साथ मन्त्रका अखण्ड जाप करनेसे महान् शक्ति प्राप्त होती है। मन्त्रके अक्षर व्यञ्ज हो जाते हैं, मानसिक चक्रोंके सामने चक्रकर्ते लगते हैं और पिर अग्निशिराकी भाँति दीमिमान् हो जाते हैं। किसी विदोष उद्देश्यको लेकर मन्त्रजप करनेसे मन्त्रका क्षयर चताये हुए हंगसे साक्षात्कार होकर उस उद्देश्यकी प्राप्ति हो जाती है। जिस मन्त्रका इस प्रकार साक्षात्कार हो जाता है, उसे सिद्धमन्त्र कहते हैं। सिद्धमन्त्रके उच्चारणसे आश्र्यजनक सिद्धि हो सकती है।

इसी प्रकार दीर्घकालक एक निश्चित विधिके अनुसार अद्वा-भक्तिपूर्वक और किसी सुयोग्य गुरुके निरीक्षणमें किसी देवताविद्येयका ध्यान करनेसे उस देवताका साक्षात्कार हो जाता है। देवता साधकके सामने प्रकट होकर उसके

मनोरथको पूर्ण करता है। इसके बाद देवता साधकका परित्याग नहीं करता और एक प्रकारसे उसके अधीन होकर रहता है।

राजयोगकी पद्धतिसे साधक परमात्माकी प्राप्तिके मार्गमें ज्यों-ज्यों अग्रसर होता है, ज्यों-ज्यों उसे अणिग, लघिमा आदि अष्ट महात्मिद्वियाँ प्राप्त होती हैं।

तन्त्रदात्रके अनुसार यह विश्व शक्तिका एक बहुत बड़ा खजाना है। सृष्टि और संहारकी सारी शक्तियाँ इसके अंदर केवलीभूत रहती हैं और इनमेसे किसी भी शक्तिको आकर्षण करके आत्मसात् करना और उस शक्तिसे शक्तिशाली होना प्रयत्नके मनुष्यके लिये सम्भव है। आध्यात्मिक साधनाके द्वारा प्रकृतिके रूपम नियमोंपर अधिकार प्राप्त किया जा सकता है।

इस विषयपर विस्तारसे लिखनेके लिये स्थान नहीं है, किन्तु मैं देवताके साक्षात्कारकी भूमिकाओंका वर्णन करना आवश्यक समझता हूँ। परन्तु ऐसा करनेके पूर्व मैं यह एष बतला देना चाहता हूँ कि मैं स्वयं साधक नहीं हूँ और इस आर्य आध्यात्मिक सिद्धिका मुझे कोई निजी अनुभव नहीं है; अतः मैं जो कुछ कहूँगा वह मेरे पढ़े-पढ़ाये तान्त्रिक ग्रन्थोंके आधारपर ही होगा।

साधकको चाहिये कि वह प्रसन्न मनसे किसी ऐसे एकान्त स्थानमें जाय, जो शुद्ध और स्वच्छ हो तथा जिसके अस्पासका दृश्य सुन्दर हो। वह सुखासनसे बैठकर अपने इष्टदेवका ध्यान प्रारम्भ करे। ध्यानमें उसे इतना तन्मय हो जाना चाहिये कि उसे बाह्य अनुसन्धान विलुप्त न रहे और इस प्रकार उसे उस व्यापक शक्तिके साथ, जिसे योद्धोंकी भाषामें 'धूम्न' कहते हैं, अमेदका चिन्तन करना चाहिये। उसके चिन्तकी अवस्था उस समय वैसी ही हो जानी चाहिये, जैसी सुषुप्तिकालमें होती है।

चिरकालतक इस साधनका अन्यास करनेसे उसके मानसिक नेत्रोंके सामने कुछ खास लक्षण दिखायी देने लगते हैं, जिनसे यह प्रमाणित होता है कि साधक देवताके साक्षात्कार-की ओर क्रमशः बढ़ रहा है।

ये चिह्न या लक्षण पाँच प्रकारके होते हैं। प्रारम्भमें मृगतृष्णाका दर्शन होता है। इसके बाद धूमका दर्शन होता है। तीसरी भूमिकामें साधकको अन्तरिक्षमें जुगुनुओं-की भाँति ज्योतिःकण दिखलायी देते हैं। चौथी भूमिकामें एक ज्योतिके दर्शन होते हैं। और पाँचवीं भूमिकामें मेघ-

रहित आकाशमें व्याप्त रहनेवाली सूर्यकी ज्योतिके समान एक स्थिर प्रकाशका दर्शन होता है।

अर्थात् काफी समयतक ध्यानका अभ्यास करते रहनेसे साधकको एक ऐसे स्थिर प्रकाशका दर्शन होता है, जो कभी कम नहीं होता। साधक इस अवस्थाको पहुँचकर उससे कभी च्युत नहीं होता और नीचेकी अवस्थाओंका अनुभव नहीं करता।

अब साधक इस विष्णुके साथ कि मेरे इष्ट देवतासे मुझे दर्शन देंगे, उनका निरन्तर ध्यान कर सकता है। देवताके साक्षात्कारकी भी तीन भूमिकाएँ होती हैं।

पहली भूमिकामें बीजमन्त्रका दर्शन होता है। आगे चलकर यह एक अस्पष्ट मानव आकृतिमें बदल जाता है। ध्यानका क्रम जारी रखनेसे और आगे चलकर साधकको देवताका स्पष्ट रूप दिखायी देने लगता है, जिसमें उसके सारे अङ्ग, वर्ण, आँख एवं बाहन अलग-अलग दिखलायी देते हैं। यह रूप अल्पतर मनोहर होता है, जिसका दर्शन कर साधक अलौकिक आनन्दसे भर जाता है।

देवताका निरन्तर आँखोंके समाने रहना ही उसकी सिद्धि है। प्रारम्भमें उसकी दिव्य मूर्ति बार-बार प्रकट होती है और छिप जाती है। निरन्तर अभ्याससे उसका दर्शन श्यायी

हो जाता है। इस अवस्थाको पहुँच जानेपर साधक सिद्ध कहलाने लगता है। उसका इष्टदेव उसकी सारी कामनाओंको पूर्ण कर देता है और उसका कभी परित्याग नहीं करता। साधक अलौकिक शक्तियोंसे सम्पन्न हो जाता है और उसका प्रकृतिके नियमोंपर भी अधिकार हो जाता है।

मन्त्रका देवताके साथ एक प्रकारका अमेद-सम्बन्ध होता है, उसका भी इसी प्रकार साक्षात्कार हो सकता है। मन्त्रके अक्षर पहले साधकके सामने प्रकट होते हैं और वेर्द-धीर अधिक दीमिमान् होकर शक्तिये जाज्यत्यमान हो उठते हैं। इनका दर्शन जब श्यायी रूपसे होने लगता है, तब मन्त्रकी सिद्धि हो जाती है। उस मन्त्रसे साधकको वह सब कुछ प्राप्त हो सकता है, जो उसे देवतामें प्राप्त हो सकता था।

उपर्युक्त साधनकी प्रक्रिया बड़ी लंबी है, उसके लिये वाँटक अश्रव जीवनभर वैर्यपूर्वक अभ्यास करनेकी आवश्यकता होती है। यह अवकाशके समय केवल दिल बहलानेके लिये करनेकी चीज नहीं। साधन एक कला है। मनुष्य-जीवन इस कलाके अभ्यासके लिये ही है। यह जीवनमें प्राप्त होनेवाली सबसे बड़ी और सबसे दिव्य रहस्य-मय अनुभूति है। हमारा जीवन साधनके बिना उद्देश्यहीन होता है।

बौद्ध मूर्तितत्त्व

(लेखक—श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी, घम., ४.)

बौद्धधर्ममें मूर्तियोंका निर्माण वज्रयान मतके प्रादुर्भावके साथ हुआ है। वज्रयानके मुख्य ग्रन्थोंके अनुसार इन देवी-देवताओंका वयार्थमें कोई अस्तित्व ही नहीं है, वे सब केवल शून्यताके ही भिन्न-भिन्न रूपान्तर हैं। इन देवी-देवताओंके रूप उपासकोंकी भावना तथा सिद्धिके अनुसार प्रकट हुए माने जाते हैं।

अब क्षेपमें बौद्धधर्मके इन देवी-देवताओंकी मुख्य-मुख्य परम्पराओंका हाल सुनिये। सबसे पहले बोधिचित्त अर्थात् अव्यक्त पूर्ण शानसम्पन्न स्थितिकी कल्पना की जाती है। इसी बोधिचित्तकी पाँच त्रुतियाँ अथवा अवस्थाएँ मानी गयी हैं और इन्हींको सुप्रसिद्ध पाँच ध्यानी बुद्ध कहा गया है। इन ध्यानी बुद्धोंके नाम वैरोचन, रत्नसम्भव, अमिताभ, अमोघसिद्ध तथा अक्षोम्य हैं। पाँचों ध्यानी बुद्ध पद्मासनमें बैठे हुए दिखलाये जाने हैं। पद्मासनमें इस प्रकार पालथी

मारकर बैठने हैं कि दोनों पैरोंके तलने ऊपरकी ओर दिखलायी दें। ध्यानी बुद्धोंकी विभिन्नतामुच्चक उनकी इसमुद्दार्पण होती है। ध्यानी बुद्ध वैरोचनके दोनों हाथ सुग्रसिद्ध धर्मचक्र अथवा व्यास्त्वान-मद्रामें होते हैं। इस इसमुद्दार्पण दोनों हाथ वक्षःशब्दके समीप होते हैं और दाहिना हाथ वायं हाथके ऊपर रहता है। दाहिने हाथकी तर्जनी औंगुली उसी हाथके औंगुलेमें मिली होती है और इन दोनोंका सम्बन्ध वायं हाथकी कांतिष्ठिका अर्थात् सबसे छोटी औंगुलीसे होता है। ध्यानी बुद्ध रक्षम्भवकी इसमुद्दार्पण वरद होती है। इस मुद्रामें वायं हाथ हथेली ऊपर किये हुए गोदमें रक्षा रहता है और दाहिना हाथ हथेली ऊपर किये हुए इस प्रकार कुछ आगे बढ़ा हुआ होता है जैसे उस हाथसे किसीको कोई कीज़ दी जा रही ही। ध्यानी बुद्ध अमिताभ समाधि-मुद्रामें दिखलाये जाते हैं। इस मुद्रामें

दोनों हाथ हथेली ऊपर किये हुए एक दूसरे के ऊपर (दायेंके ऊपर दाहिना) गोदमें रखे हुए दिखलाये जाते हैं । ध्यानी बुद्ध अमोघसिद्धि सदा अभय-मुद्रामें दिखलाये जाते हैं । यह मुद्रा भी ग्रायः वरद-मुद्राही सी है । ऐसे कैवल इतना ही है कि दाहिना हाथ वक्षःस्थलके पास उठा हुआ होता है और उसकी हथेली सामनेकी तरफ होती है । यह मुद्रा अभय, रक्षा अथवा आश्वासन दिया जाना सूचित करती है । पाँचवें ध्यानी बुद्ध अक्षोभ्य भूस्पर्श-मुद्रामें दिखलाये जाते हैं । इस मुद्रामें वायाँ हाथ उसी शिखिमें रहता है जैसा कि बदर तथा अभय-मुद्राओंमें । दाहिने हाथकी हथेली नीचेकी ओर होती है और उसकी अङ्गुष्ठियाँ दाहिने मुटनेसे नीचेकी ओर झुकी हुई पृथ्वीका सर्वथ करती हुई दिखलायी जाती हैं । गौतमबुद्धकी खड़ी अथवा बैठी जितनी मूर्तियोंमें मिलेगी, वे उपर्युक्त पाँच मुद्राओंमें किसी-न-किसीमें होंगी । इनमेंसे पिछली चार मुद्राओंके चित्र अन्यत्र दिये जाते हैं । इनसे उनके यथार्थ स्वरूप अच्छी तरह समझमें आ जायेंगे । सिद्धार्थने भूस्पर्श-मुद्राका प्रदर्शन उस समय किया था, जिस समय मार अथवां कामदेवने अपनी कन्या और सहित उनपर इसलिये आकरण किया था कि वे अपनी तपस्यासे विमुख हो जायें । इसपर बुद्धने एक्टिवीको साझी करनेके लिये उसका स्वरूप किया था और अपने ध्येयकी हृदया सूचित की थी । इस मुद्राके प्रदर्शन करते ही मार शीध ही अन्तर्हित हो गया था और फिर उसने गोतमको श्रव्य करनेका प्रयत्न नहीं किया । भगवान् शाक्यरासिहने धर्मचक्र-मुद्राका अवलभवन उस समय किया था जब ज्ञान-प्राप्तिके अनन्तर सारनाथनामक स्थान-पर सर्वप्रथम बौद्धधर्मका उपदेश प्रारम्भ किया । बौद्ध-धर्मके प्रचारका सूचक पहियारुपी धर्मचक्र है अंतर सारनाथ (जो कथाओंके अनुसार पूर्वकालमें मृगोंका रमना रह चुका था) मूर्तियोंमें मृगोंदारा सूचित किया जाता है । अतः अधिकतर जहाँ गौतम बुद्धकी प्रतिमा धर्मचक्र-मुद्रामें मिलेगी वहाँ मृतिके नीचे अगल-बगल दो हिरन और बीचमें एक पदिया भी मिलेगे ।

ध्यानी बुद्धोंके रंग क्रमशः सफेद, पीला, लाल, हरा और मेचक (नीला) हैं । ये रंग अधिकतर चित्रोंमें ही मिलते हैं और इनका गृह तत्त्व परम गहन है । इन रंगोंका सम्बन्ध तान्त्रिक पट्टकमेंसे है । शान्तिसम्बन्धी पुरश्रणोंमें भेत्र रंगवाली मूर्ति प्रमुक होती है । रक्षासम्बन्धी विधियोंमें भेत्र रंगकी मूर्तियाँ काममें लायी जाती हैं । आकर्षण तथा

वशीकरणमें हरे और लाल रंगोंका प्रयोग होता है और उच्चाटन तथा मारण-विधियोंमें नीला रंग काममें लाया जाता है । जिन ध्यानी बुद्धका जो विशेष रंग है, वही उनसे समुद्रतृ समस्त देवी-देवताओंका रंग होगा । हाँ ! कभी-कभी एक ही ध्यानी बुद्ध अथवा उनसे उत्पन्न कोई देवी या देवता विभिन्न भिन्न रंगोंमें भी मिलेंगे । इसका अर्थ एक ही मूर्तिका विभिन्न-पट्टकमें-विधियोंमें प्रयोग समझना चाहिये ।

उपर्युक्त ध्यानी बुद्धोंके वाहन क्रमशः दो सर्प, दो सिंह, दो मधूर, दो गण्ड तथा दो हस्ती हैं । इनके अतिरिक्त ध्यानी बुद्धोंके चिह्न क्रमशः चक्र, रजदृष्टा (मणियोंका समूह), कमल, विश्वव्रत (दोनों ओर तीन फलवाला छोटा-सा शब्द) और वत्र (विशूलमदश छोटा-सा शब्द) हैं । भारतवर्षमें ध्यानी बुद्धोंकी अलग मूर्तियाँ अथवा चित्र प्राप्तः नहीं मिलते । ऐसे चित्र नैपाल तथा तिब्बतमें प्रचुरतासे मिलते हैं । इसी कारण पाठकोंको ग्रायः उपर्युक्त सब वासीके देवनेका अवसर कम ही मिलेगा । तथापि आगे के विषयको स्पष्ट करनेके निमित्त उपर्युक्त विस्तृत वर्णन दिया गया है ।

इन पाँच ध्यानी बुद्धोंके अतिरिक्त कही-कही वत्र-सत्य नामक एक छठे ध्यानी बुद्धकी भी कल्पना की जाती है । वज्रसत्य ध्यानी बुद्धोंके पुरोहित माने जाते हैं और इस पदके सूचक घटा तथा वत्र उनके हाथीमें दिखलाये जाते हैं । पाँचों ध्यानी बुद्ध तापस-वेपमें ही दिखलाये जाते हैं । वे सदैव ध्यानमम रहते हैं । सुषिके कार्य ध्यानी बुद्धोंसे उत्पन्न दिव्य बोधिसत्यगण करते हैं । पाँचों ध्यानी बुद्धोंकी शक्तियाँ क्रमशः वज्रधात्वीक्षी, मामकि, पांडारा, आर्यतारा तथा लोचना हैं । और इनसे उत्पन्न दिव्य बोधिसत्य क्रमशः संगतमद्र, रजपाणि, पश्चपाणि (सुप्रसिद्ध अवलोकितेश्वर), विश्वपाणि तथा वज्रपाणि हैं । छठे ध्यानी बुद्ध वज्रसत्यकी शक्तिका नाम वज्रसत्यात्मिका है और इन दोनोंसे उत्पन्न दिव्य बोधिसत्यका नाम धण्टपाणि है । ध्यानी बुद्धोंकी शक्तियाँ अपने पतियोंके चिह्न तथा वाहनोंसे पहचानी जाती हैं । इसके अतिरिक्त उनके पतियोंकी विशिष्ट हस्तमुद्रायुक्त ध्यानासन मूर्ति उनके मुकुटमें सामने बनी रहती है । इसी प्रकार प्रत्येक वंश (जिसके लिये विशिष्ट शब्द 'कुल' है) के देवी तथा देवताओंके मुकुटमें उस वंशके जन्मदाता ध्यानी बुद्धकी

विशिष्ट हस्तमुदायुक्त ध्यानासन-मूर्ति दिखलायी जाती है और यही उनका मुख्य चिह्न माना जाता है।

महायानीय मतके अनुसार धर्म अमर अध्यात्मातः माना जाता है और बुद्धका व्यक्तित्व इस धर्मके पूर्ण ज्ञानका साधनमात्र माना जाता है। प्रत्येक युगमें एक-न-एक मनुष्यशरीरधारी बुद्ध (अथवा ज्ञानी) धर्मका प्रचार करते हैं। एक बुद्धके निर्वाण प्राप्त होनेसे दूसरे बुद्धके जन्मतक कल्पके अधिग्राता ध्यानी बुद्धसे उत्पन्न दिव्य वौधिसत्त्व वौद्ध 'धर्म' की देसरेख करते हैं। गौतम बुद्धको गत हुए प्राप्त: २८०० वर्ष अर्थात् हो चुके हैं और अर्थसे लगभग २६०० और बीत जानेपर (अर्थात् गौतम बुद्धकी मृत्युके ५०००वर्ष उपरान्त) बुद्ध मैत्रेयका जन्म होगा। इस समय बौद्धमतका भट्टकल्प चल रहा है और इसके अधिग्राता ध्यानी बुद्ध अभिताम हैं। अतः इन ५००० वर्षोंमें ध्यानी बुद्ध अभितामसे उत्पन्न (दिव्य) वौधिसत्त्व पश्चाणि (जिनका दूसरा नाम अवलोकितेश्वर है) का प्रबन्ध चलता रहेगा। यही इस युगके प्रधान (दिव्य) वौधिसत्त्व हैं।

इन उपर्युक्त दिव्य वौधिसत्त्वोंकी मूर्तियाँ अनेक आकारोंमें वैदी अथवा स्त्री मिलती हैं। साधारणतया इनकी पहचान मुकुटपर अथवा मुकुटके पीछे प्रभासपदलमें दोनों हुए ध्यानी बुद्धसे हो जाती हैं। अन्यथा इनके हाथमें स्थित ध्यानी बुद्धके चिह्नोंमें वे पहचाने जाते हैं। जैसा कि अपर कहा जा चुका है, 'वौधिसत्त्व' अवस्था 'बुद्ध' अवस्थाके पूर्वकी स्थिति मानी गयी है। अतः वौधिसत्त्व प्राप्त: राजकी वेशमें मुकुट-आभृतादियुक्त दिखलाये जाते हैं और बुद्ध तापतनेशमें।

जिस प्रकार भागवत अर्थात् वैष्णव-धर्ममें विष्णुके २४ अवतार माने गये हैं और जिस सिद्धान्तपर जैनधर्ममें २४ तीर्थकुरुओंकी भावना की जाती है, यीक उसी प्रकार प्राचीन (अर्थात् हीनयानीय) बौद्धधर्ममें २४ अतीत मानुषी बुद्धोंकी वात मिलती है। महायानमतमें भी २४से ३२तक अतीत मानुषी बुद्धोंकी वात मिलती है। इन मानुषी बुद्धोंमें अविद्यी सात (जिनमें सबसे अन्तमें गौतम-बुद्धका नाम आता है) विशेषस्त्वसे प्रसिद्ध हैं। इनके नाम विद्यार्थी, दिव्यती, विश्वभू, क्रकुच्छलन्द, कनकमुनि, काशयप तथा शाक्यसिंह हैं। ये सातों मानुषी बुद्ध एक साथ पद्मासन-में भूस्पर्श-मुदायुक्त मिलते हैं और यही सातकी गणना

इनकी पहचान है। कभी-कभी इनकी संख्या भावी बुद्ध मैत्रेयको मिला लेनेसे आठ मिलती है। इनमेंसे प्रत्येकका एक विशिष्ट वृक्ष माना गया है।

गौतम बुद्धकी मूर्तियोंके साथ वौधिसत्त्व अवलोकितेश्वर तथा भावी बुद्ध मैत्रेय पार्वदीके रूपमें चैवर लिये हुए दिखलाये जाते हैं।

वज्रयानीय बौद्धधर्मका मुख्य गद इस समय महाचीन (तिब्बत) है। वहाँके प्रधान शासक दलाइलामा महात्मा गौतम बुद्धके अवतार माने जाते हैं और उनके बाद पदमें शेष शीगर्चीके ताशीलामा वौधिसत्त्व अवलोकितेश्वर-के अवतार माने जाते हैं। वज्रयानका गायत्रीतुल्य मुख्य मन्त्र 'ॐ मणिपद्म हूम्' इन्ही वौधिसत्त्व अवलोकितेश्वरका पदक्षरी मन्त्र है। अवलोकितेश्वरके अग्राघ करण्यासारंग होनेका उत्तेजक ऊपर किया जा चुका है। इनके मुख्य चिह्न कमल तथा सुमिरनी हैं।

इनके अतिरिक्त वर्षमान बौद्धधर्ममें वौधिसत्त्व मंजुश्रीका भी पद बहुत ऊँचा माना गया है। इस स्थानपर वौधिसत्त्व मैत्रेय (भावी बुद्ध) तथा मंजुश्रीके विषयमें कुछ शब्द अनुपर्युक्त न होंगे।

कहा जाता है कि वौद्ध तन्मोंके प्रधान आचार्य मैत्रेय है। ये इस समय तुष्टिलामक स्वर्णमें विराजमान हैं। अवश्यने इसी तुष्टिलामक स्वर्णमें ध्यानद्वारा गमन करके आचार्य मैत्रेयसे तन्मोंके रहस्यको जाना था। मैत्रेय ही एक ऐसे देवता है, जिन्हे हीनयानीय तथा महायानीय दोनों सम्प्रदायावाले मानते हैं। मैत्रेयका चिह्न उनके बुद्धरूपमें अगोकी ओर वना हुआ एक छोटासा चैत्र या स्तूप है। इस भूपकी कथा यो है। गौतम बुद्धके पूर्ववाले मानुषी बुद्ध काशय गयाके समीप कुकुटपदगिरि-के शिल्परपर गड़े हुए हैं और उनके सौतिक अवशेषोंके ऊपर एक स्तूप विद्यमान है। जिस समय गौतम बुद्धके निर्वाणके ५००० वर्षोंके उपरान्त मैत्रेय बुद्धरूपसे इस भूमण्डलपर अवतीर्ण होंगे, उस समय वे काशयपके स्तूपपर जाँचेंगे और काशय बुद्ध मैत्रेय बुद्धको उनके बाबू प्रिच्छीवर (लैंगोठ, धोती और छुपटा) देंगे।

उपर्युक्त मुकुटस्थित चैत्रके अतिरिक्त मैत्रेयके चिह्न धर्मनक्त तथा अमृतकुम्भ (अमृतका लोटा, शीशी या कमण्डल) भी हैं।

वेदिधित्व मंजुश्री स्मृति, मेथा, बुद्धि तथा वाक्पटुता के स्वामी माने जाते हैं। अर्थात् इनकी उपासनासे ये शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। साधारणतया इनके बारे में बौद्धधर्मकी सुप्रसिद्ध पुस्तक प्रशापारमिता दिखलायी जाती है और दाहिने हाथमें अशानान्वकारको काटनेशाला खड़ दिखलाया जाता है। कहा जाता है कि महात्मा मंजुश्रीहीने नैपाल देशमें सम्प्रता तथा बौद्धधर्मका प्रचार चीनसे आकर किया था। कहते हैं कि नैपाल देश पहले शील रूपमें जलमग्न था और इस विशाल जलराशिके मध्य भगवान् आदिबुद्धका स्थान था, जहाँ पृथ्वीके गर्भसे निरन्तर ज्वाला निकलती थी। जलके कारण यह स्थान अगम्य था। अतः मंजुश्रीने एक ओरसे इस विशाल जलराशिमें नहर-सी निकाल दी। यही नहर

आजकल वागमती नदीके रूपमें बहती है। इस नहरद्वारा सब जल बढ़ गया और सूखी भूमि निकल आयी। यहींपर चर्सी बस गयी और अब उल्लतापूर्वक आदिबुद्धकी ज्वालाके ऊपर मन्दिर बन गया। (इस समय यह मन्दिर स्वयम्भूनाथके नामसे विद्याल है।)

ध्यानी बुद्धोंसे उत्पन्न अन्य देवी-देवताओंका वर्णन देनेसे लेखक विस्तार बढ़ जायगा और कदाचित् पाठकगण भी उस वर्णनको सरलतापूर्वक छट्यझम न कर सकें। जिनको इस विषयमें अधिक जानकारीकी इच्छा हो, उन्हें श्रीचिनयतोप भट्टाचार्यकृत Indian Buddhist Iconography तथा उन्हीं द्वारा समादित 'साधनमाला' नामक प्रथम देखना चाहिये।

सिद्धिसाधक साधनाकी संक्षिप्त रूपरेखा

(लेखक—व्यास्याननदाचर्षपति आचार्यदेव श्रीमद् विजयरामचन्द्र युठीश्वरजी महाराज)

ज्ञान और क्रियाकी आवश्यकता

इस जगत्में साधना कौन नहीं करता ? यथार्थ हो या अयथार्थ, सुखदायी हो या दुःखदायी, अल्प हो या अधिक-जहाँ-जहाँ कामना है, वहाँ-वहाँ साधना है ही। कामनाकी पूर्ति-के लिये किये जानेवाले प्रयत्न ही साधना हैं। कामनायुक्त विश्वका जीवन साधनामय है। इतना होनेपर भी साधनाके सम्बन्धमें विद्वेष विचार करनेकी आवश्यकता है। जैसे कामनायासे इष्टकी तिद्धि नहीं होती, वैसे ही केवल साधनासे या प्रयत्नमात्रसे भी इष्टिद्वय नहीं होती। सिद्धि प्राप्त करानेवाली साधनाके लिये साधनोंका यथार्थ ज्ञान और उसी-के अनुकूल क्रियाशीलता भी आवश्यक है। ज्ञानशृण्य क्रिया क्रियाशूल्य ज्ञान सिद्धिसाधक नहीं बन सकता। साधनोंका यथार्थ ज्ञान हुए विना इष्टकी प्राप्तिके लिये प्राप्ति; वे ही क्रियाएँ होती हैं जो वस्तुतः इष्ट-प्राप्तिकी बाधक हैं, और साधनोंका यथार्थ ज्ञान होनेपर भी यदि उसके अनुसार क्रिया नहीं होती तो क्षिप्रीत क्रिया चालू रहनेके कारण इष्टकी प्राप्ति दूर दृटी जाती है। कामनाकी प्रेरणासे साधनामें लगे हुए जीवमात्रको यह बात स्पष्ट लेनी चाहिये; क्योंकि साधनोंको ठीक जाने विना और वास्तविक साधनोंके सेवनमें दक्षिचित् हुए विना इस अनादिकालीन विश्वमें अनन्त कालतक भी न तो कोई आत्मा इष्टको प्राप्त कर सका है, न कर सकता है और न कर सकेगा ही—यह निर्विचार है।

साधनाका हेतु

इस संसारमें मनुष्यमात्रकी प्रवृत्तिका केन्द्रित ध्येय कौन-सा है ? कोई धनके पीछे पढ़ा हुआ है तो कोई कीर्तिके, कोई जीके लिये प्रयत्नशील है तो कोई पुत्रके लिये और कोई शक्तिके लिये जी-तोड़ चेष्टा कर रहा है तो कोई सत्ताके लिये। इस प्रकार मनुष्य भिन्न-भिन्न प्रकारकी कामनाओंको लेकर अपनी-अपनी शक्ति, अनुकूलता और समझके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारकी प्रवृत्तियोंमें लगे हैं; परन्तु इन सारी कामनाओं और तमाम प्रवृत्तियोंके पीछे समीका ध्येय एक सा है। वह ध्येय है—दुःखका नाश और सुखकी प्राप्ति। दुःख सबकी नापसन्दगीकी चीज है और सुख सबकी परम्परागीकी। दुःखसे सर्वथा रहित, सुखसे परिपूर्ण, और जिसका किसी भी कालमें परिवर्तन या नाश सम्भव न हो—ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाय तो फिर कोई पुरुष कामना नहीं करे, प्रयत्न नहीं करे ? अनिष्टकी और अगृण इष्टकी विद्यमानता ही कामना पैदा करती है। अनिष्ट टूल जाय, सम्पूर्ण इष्ट प्राप्त हो जाय और उसमें किसी भी समय जरा भी अल्पताका होना निश्चित स्पष्ट असम्भव हो जाय तो फिर कामनाके लिये अवकाश ही नहीं रहता। सुख ऐसा भिन्न कि जो दुःखके अंशमात्रसे भी रहित हो और इस प्रकारसे सम्पूर्ण हो कि किसी भी कालमें किसी भी जीवको उससे बढ़कर सुख मिलना सम्भव ही न हो और ऐसा दुःखरहित तथा सम्पूर्ण सुख किसी भी

कालमें अल्पताको या विनाशको प्राप्त होनेवाला न हो तो ऐसे सुखको प्राप्त जीवोंमें किरी प्रकारकी भी कामनाकाकभी भी पैदा होना सम्भव नहीं है। साधनकी तमीतक आवश्यकता है, जबतक कि इस प्रकारके सुखकी प्राप्ति नहीं हो जाती।

प्रचलित साधना सिद्धिसाधक नहीं हैं

मनुष्यको उपर्युक्त प्रकारके सुखकी लास्त्रिक साधना करनेमें ही अपने जीवनकी सफलता माननी चाहिये। मनुष्यको दुःख नहीं सुहाता, इनना ही नहीं; दुःखयुक्त सुख भी नहीं सुहाता। अधिक सुखमें भी यदि अल्प दुःख होता है तो वह भी मनुष्यके मनमें खटका करता है और वह यो सोचा ही करता है कि 'क्य मेरे इस इतनेसे दुःखका नाश होगा?' इसी प्रकार जिसको अपूर्ण सुख प्राप्त है, वह भी शेष सुखकी इच्छा किया ही करता है। साथ ही प्राप्त सुखके चले जानेका विचार भी मनुष्यको सताता रहता है। अतएव सबको पसन्द तो वही सुख है, जो दुःखसे रहित भी हो, सम्पूर्ण भी हो और शाश्वत (नित्य) भी हो। ऐसे स्वास सुखको चाहनेवाला जगत् आज किस तरहकी साधना कर रहा है? क्या जगत्की वर्तमान साधना इसकी वह सुख प्राप्त करा सकती है? यदि नहीं तो, क्या वर्तमान साधना भ्रम नहीं है? क्या वह इष्टप्राप्तिमें वायक नहीं है? साथक-मात्रके लिये यह प्रथा विचारणीय है। जिस कामनासे जो प्रथन किया जाता हो, यदि उसका परिणाम उस कामनासे विपरीत हो अथवा यदि उस प्रथनसे वह कामना सिद्ध न होती हो, तो उसके कारणका विचार तो करना ही चाहिये न? बहुत सीधे ढंगसे इस प्रथनपर विचार किया जा सकता है। दुःखरहित, सम्पूर्ण और शाश्वत सुखकी प्राप्ति क्या नाशचान् साधनोंसे हो सकती है? जो साधन स्वयं परिवर्तन स्वभाववाले और नाशचान् हैं, उनके द्वारा शाश्वत सुख कैसे मिल सकता है? धन, खीं, कीर्ति, सत्ता और पुत्र-परिवार आदिको सुखके साधन माननेवाले लोग जरा रुके और विवेकी बनकर विचार करें। इनमेंसे कौन-सी वस्तु नित्य है या अल्पता आदि परिवर्तनको नहीं प्राप्त होनेवाली है? एक भी नहीं। असंख्य धनचान् भिन्नारी बन गये, अनेकों कीर्तिमान, पुरुषोंको भयझर कलहका टीका लगाकर बुरे हाल मरना पड़ा; और कितने ही सन्नाधारियोंने अपनी सत्ता खो दी—ऐसा इतिहास कहते हैं। स्त्री तथा पुत्र-परिवारादिका नाश तो रचा ही हुआ है। इतनेपर भी मान लीजिये कि धन मिल गया, कीर्ति और सत्ता मिल गयी तथा स्त्री और पुत्र-

परिवारादिकी भी प्राप्ति हो गयी और मान लीजिये ये सब वस्तुएँ अपने पास सदा रही भी; परन्तु एक दिन हमारा तो मरना निश्चित ही है न? उस समय तो उन सबको छोड़ना पड़ेगा ही न? आजतक कोई ऐसा नहीं जन्मा और मविष्यमें अनन्त कालतक कोई ऐसा जन्म भी नहीं सकता, जिसकी मृत्यु न हो। जन्मके साथ मृत्यु तो लगी ही हुई है। इस संसारमें ऐसा कोई जन्म सम्भव ही नहीं है कि जो मृत्यु-के साथ न जुड़ा हुआ हो। हाँ, ऐसी मृत्यु जल्लर सम्भव है कि जो जन्मके साथ न जुड़ी हुई हो; और ऐसी ही मृत्यु उसके बादकी हमारी दुःखरहित सम्पूर्ण और शाश्वत सुखसे युक्त स्थितिकी सूचक है। इस संसारमें ऐसी ही मृत्युको अपने समीप लानेका प्रयास करना चाहिये और यही सबी साधना है। इसके अतिरिक्त और सब साधनाएँ तो नाम-मात्रकी साधना हैं। उनसे इष्टकी प्राप्ति नहीं होती वरं उसका अवरोध होता है। अज्ञानी जगत् इष्टकी अवरोधक साधनाओं को इष्टकी प्राप्ति करानेवाली मान बैठा है। यही कारण है कि वह जीवनके तमाम क्षणोंको धन, कीर्ति, सत्ता और पुत्र-परिवारादिकी प्राप्तिके प्रवक्त्रमें ही खो रहा है। मृत्युके बाद धन आदि कोई भी चीज साथ नहीं चलती। आमा न्या जाता है और सुखके साधन मानकर जिन धनादि पदार्थोंको हमने इकड़ा किया था, वे सब जहाँ-के-तहाँ रह जाते हैं। हमारे आँखोंके सामने अनेकों चले गये और धनादिमेंसे कुछ भी वे अपने साथ न ले जा सके, वह भी हमने देखा। इतनेपर भी उन्हीं धनादिको सुखके माध्यन मानकर हम अपना जीवन उन्हींकी साधनामें बिता दें, तो यह क्या भ्रम नहीं है? यह क्या अज्ञानपूर्ण किया नहीं है? फिर, धनादि वस्तुएँ क्या केवल परिवर्तमें ही मिल सकती हैं? इस वर्गमें धनादि-के लिये प्रथन करनेवाले कितने हैं और धनादिको प्राप्त करके श्रीमान् बननेवाले कितने हैं? क्या ऐसा एक भी मनुष्य दृढ़कर निकाला जा सकता है जिसको धनादिकी पुरी प्राप्ति हो गयी हो और इस कारण जिसकी धनकी कामना न नहीं हो गयी हो? धनादिके लिये प्रथन करनेवाले लाभगम सभी हैं, परन्तु धनी वहुत थोड़े हैं। इससे एक ऐसी वस्तुकी सूचना मिलती है, जिसकी अपेक्षा प्रथन करनेवालेकी भी रहती है। यह वस्तु है—पुण्य। चाहे जितनी मेहनत की जाय, परन्तु पुण्यके अभावमें धनादिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। और धनप्राप्तिका पुण्य होनेपर भी यदि भोगके लिये पुण्य न हुआ तो प्राप्त धनादि-का भी भोग नहीं किया जा सकता। ऐसी वस्तुएँ पुण्यके

नाशके साथ ही नाशको प्राप्त हो जाती हैं। कदाचित् किसीके जीवनके अनन्ततक पुण्योदय ही वर्तमान रहे और इस कारण धनादिका नाश न हो, तो अन्तमें मृत्यु तो तैयार ही बैठी है, जो धनादिका वियोग अवश्य ही करा देगी। इस प्रकार साधकमात्रको सबसे पहले यह तो निश्चय कर ही लेना चाहिये। धनादिकी प्राप्तिके लिये की जानेवाली साधना यथार्थ साधना नहीं है; क्योंकि उससे दुःखरहित, सम्पूर्ण और शाश्वत सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इतना निर्णय हुए विना यथार्थ साधनाकी दरचिका उत्तम होना सम्भव ही नहीं है।

यथार्थ साधना

धनादिकी साधना यथार्थक है, ऐसा निर्णय करनेके बाद यह निर्णय करना शेष रहा कि किस यथार्थक साधना कीन-सी है? दुःखरहित, सम्पूर्ण और शाश्वत सुखमय स्थितिकी प्राप्तिके लिये ऐसे मृत्युकी प्राप्त करना चाहिये कि जिसके बाद जन्म न हो। जहाँ जन्म है, वहाँ दुःखका सर्वथा अमाय और सुखका एकान्त सद्याव सम्भव नहीं है। इसलिये जन्मके कारणको मिटाना चाहिये। जो जन्मके कारणसे परे है, वही दुःखके कारणसे परे है। भिन्न-भिन्न योनियो आदिके द्वाग चिभिन्न सामग्रियोंके साथ जानेवाला जन्म आत्माके भूतकालीन और भविष्यकालीन जीवनका सूचक है। आत्मा ही एक गतिसे दूसरी गतिमें और एक स्थानसे दूसरे स्थानमें परिभ्रमण करता है। वस्तुतः आत्मा जन्म या मृत्युको प्राप्त नहीं होता। आत्मा तो था, है और रहेगा। मृत्यु तो आत्माके गायत्ररथ साधनान्तर की सूचक है। अनन्त कालसे हमारा आत्मा इस प्रकार विभिन्न गतियोंमें भ्रमण कर रहा है। इस भ्रमणका कारण है जड कर्मका संयोग। जिस मृत्युके साथ ही आत्मा जड कर्मोंके संयोगसे सर्वथा मुक्त हो जाता है, वही मृत्यु भावी जन्मसे जुड़ी हुई नहीं होती। एक बार जड कर्मके संयोगसे आत्मा मुक्त हो जाय तो फिर उसका पुनः संयोग नहीं होता और इस कारण पुनः जन्म भी नहीं होता। इसीलिये इस संसारमें धर्म कोई यथार्थ साधना है तो वह एक ही है— और वह है जड कर्मसे मुक्त बनानेकी साधना। इस साधनामें वग जानेवाले जीव क्रमशः अपने आत्माके साथ जड कर्मके संयोगको घटाते चले जाते हैं, अत्य संयोगको उसके वियोगसाधक बनानेमें सहायक बना लेते हैं और अनन्तमें उत्कट साधनाके प्रतापसे ऐसी मृत्युको प्राप्त होते हैं कि जिस मृत्युके

साथ ही आत्मा जड कर्मके संयोगसे सर्वथा मुक्त हो जाता है। आत्माकी यह शाश्वत स्थिति होती है; क्योंकि जय जन्मका कारण नहीं रह जाता, तब मृत्यु भी सम्भव नहीं होती। वह स्थिति दुःखरहित तथा सम्पूर्ण सुखमयी होती है। इसमें दुःखके कारणका सर्वथा अमाव हो जानेके साथ ही आत्मा अपनी सम्पूर्ण स्वाभाविक स्थितिको प्राप्त हो जाता है।

साधनादर्शकमम्बन्धी निश्चयकी आवश्यकता

इस प्रकारकी साधना ही इष्टको प्राप्त करनेवाली साधना है, परन्तु ऐसी साधनाके लिये विशिष्ट आलम्बनकी आवश्यकता है। धनादिकी साधनाका निषेव करनेपर भी ऐसे अनेकों साधनादर्शक पूर्वकालमें हो गये हैं, इस कालमें हैं और आगे भी होंगे, जो चेतन, जड और चेतन-जडके संयोगके विषयमें यथार्थ ज्ञान नहीं रखते। ऐसे लोगोंके द्वाग दिखलायी हुई साधना चेतनको जड कर्मके संयोगसे सर्वथा मुक्त करके दुःखरहित सम्पूर्ण और शाश्वत सुखकी प्राप्ति करनेमें सफल नहीं होती। ऐसा होना स्वाभाविक ही है। इस स्थितिमें अपने आत्माको कर्मके संयोगसे सर्वथा मुक्त करनेकी साधनामें लगाना चाहेवाले जीवोंको सबसे पहले साधनादर्शकके स्वरूप-के विषयमें निश्चय करना चाहिये। यों न करनेवाले आत्मा यथार्थ साधनासे वञ्चित रह जाते हैं, और अथवार्थ साधनासे नाना प्रकारके कष्ट सहनेपर भी कष्टमयी संसार-परिभ्रमणकी स्थितिको नाश करनेके बदले उसको और भी बढ़ा लेते हैं!

साधनाके मूलभूत दर्शकोंका स्वरूप और उनके द्वारा स्थापित शासन

यथार्थ साधनाके मूलभूत दर्शक वे ही हो सकते हैं, जो असत्यवादके सभी कारणोंसे परे पहुँचे हुए हैं। राग, द्वेष और सोह आदि ऐसे दुरुण हैं कि जो इच्छापूर्वक असत्यमें कारण बनते हैं, और अशानके योगसे असत्य बोलनेका इदाना न होनेपर भी असत्य बुलवा देते हैं। इन गणादि दुरुणोंसे और अशानके लेदासावसे भी रहित दोनेके कारण श्रीवीतराग और सर्वत्र परमपुरुष ही यथार्थ साधनाके मूलभूत दर्शक हो सकते हैं। इन तारकों (उद्धारकों) में आत्माका अनन्त भूतकालके, वर्तमानके और अनन्त भविष्यकालके सम्पूर्ण शानसे सम्बन्ध होते हैं। चेतन और जड प्रत्येक पदार्थक, उसके प्रत्येक परिवर्तन और परिवर्तनके कारण आदिका सर्वतोगमी शान इन तारकोंको होता है। श्रीवीतराग

और सर्वज्ञ बने हुए ये आत्मा भी किसी कालमें इस संसारके ही मुसाफिर थे, इन्होंने भी अनन्त कालतक इस संसारमें परिभ्रमण किया था। ऐसे आत्माओंमें एक विशिष्ट प्रकारकी अनादिकालीन योग्यता होती है, जो आवश्यक साधनीका संयोग नाकर प्रकट हो जाती है। यह योग्यता, सच्ची साधनाके मार्गकी प्राप्ति होनेके पहले ही, उन तारकोंको नाना प्रकारसे उत्तमजीवी बना देती है। क्रमशः वे अपनी योग्यताके बलसे सच्ची साधनाके मार्गमें सुविश्वस्त बन जाते हैं। इस प्रकार सच्ची साधनाके मार्गमें सुविश्वस्त बने हुए वे तारक परम आराधक बननेके साथ ही परोपकारकी सर्वश्रेष्ठ भावनासे अतिशय ओतप्रोत हो जाते हैं। यह भावना दुःखके मारे कन्दन करते हुए और सुखके लिये तरसते हुए विश्वभरके जीवोंको सच्ची साधनाका मार्ग प्राप्त करवाकर उन्हें दुःखमुक्त और सुखके भागी बनानेकी होती है। इस प्रकारकी उत्कट भावनामें रस्ते हुए वे एक ऐसा अतुलनीय और अनुपम पुष्पक्रम अर्जन करते हैं कि जिसके प्रतापसे वे श्रीवीतराग और सर्वज्ञ बननेके साथ ही निवृत्तिमार्गके प्रतिपादक, समस्त पदार्थोंके प्रसूपक और उत्तमार्गके उच्छेदक शासनकी स्थापना करनेवाले होते हैं। इस शासनको ही श्रीजैनशासन कहते हैं। यजातके सब पदार्थोंके स्वरूपको यथार्थरूपमें बतलाना, सच्ची साधनाके यथार्थ मार्गका प्रतिपादन करना और विपरीत मार्गोंके अकल्याणकारिता दिखलाना—यही जैनशासनका कार्य है। ऐसे शासनके प्रति श्रद्धालु वे ही बन सकते हैं, जिनके भावी जन्मसे अलिम मृत्यु सभीप पहुँची हुई होती है। ऐसे आत्मा ही जैन हैं। किसी भी जाति, कुल या देशमें उत्पन्न आत्मा ऐसी श्रद्धालुओंके द्वारा जैन बन सकता है। सच्ची साधनाके अर्थी प्रत्येक आत्माके लिये जैन-शासन है। वस्तुमात्रको उसके यथार्थ स्वरूपमें स्वीकार करना ही जैनत्वकी प्राप्ति है। इस जैनत्वकी प्राप्ति जिस किसी आत्माको होती है, उसे ऐसी ही भान होता है कि श्रीवीतराग और सर्वज्ञ जैनेश्वर देवोंने जीव आदि तत्त्वोंका जो स्वरूप दिखलाया है, वही वास्तविक है। ऐसे श्रीजैनेश्वर देव आजतक अनन्त ही नुक्के हैं, वर्तमानमें क्षेत्रान्तरोंमें विद्वरण कर रहे हैं और मविष्यमें भी अनन्त होंगे। इस प्रकार श्रीजैनशासन अनन्त आत्माओंद्वारा प्रकाशित होनेपर भी, उसकी परस्पर अविद्वद्वता अवश्वदरूपसे सुरक्षित है; क्योंकि उन सभी तारकोंको अनन्त ज्ञानादि बुण्डोंमें साम्य होता है। प्रवाहकी दृष्टिसे यह शासन जनादि भी है और व्यक्तिकी अपेक्षासे इस शासनको आदिवाला भी मान सकते हैं। इस प्रकार

आदि-अनादिका विवेक करानेवाले सिद्धान्तको 'स्याद्वाद' कहते हैं। स्याद्वादका प्रत्येक कथन सापेक्ष होनेके कारण उसमें वस्तुके किसी भी धर्मका अपलाप नहीं होता। इसीलिये इस विश्वमें अगर कोई यथार्थवादी है तो वह वही है कि जो शुद्ध स्याद्वादके स्वीकार करता है। यही कारण है कि श्रीजैनर्द्दर्शनका सारा वर्णन विशिष्ट, स्वतन्त्र और सम्पूर्णरूपसे यथार्थवादी है। इसीसे इस कहते हैं कि सच्ची साधना चाहनेवालेके लिये श्रीजैनशासन ही एक वास्तविक शरणभूत है।

चेतन या जड उद्भव या विनाशको ग्रास नहीं होता

अनन्त ज्ञानके सामी श्रीजैनेश्वरदेव कह गये हैं कि यह जगत् अनादि, अनन्त है। इसका कोई स्थान, संरक्षक या संहारक नहीं है। जगत् या, है और रहेगा। जो है उसका कभी स्थूल नादा नहीं होता, और जो नहीं है उसकी किसी कालमें उत्पत्ति नहीं होती। यह जो कुछ भी उद्भव और विनाश दिखायी देता है, वह किसी अवस्थाविद्वेषका उद्भव और विनाश है। मूलरूपमें तो विश्वकी कोई भी चीज न नयी उत्पन्न होती है और न नष्ट होती है। वस्तुरूपमें विश्व स्थायी है और अवस्थारूपमें परिवर्तनशील है। विश्वमें चेतन और जड—दो प्रकारकी वस्तुएँ यहीं हैं और रहेगी। अनन्तानन्त आत्मा और अनन्तानन्त पुद्गलोंके घासका नाम ही जगत् है। चेतनके साथ जड कर्मोंका संयोग अनादिकालसे होनेके कारण ही चेतनकी विभिन्न प्रकारसे उत्पत्ति और विनाशमयता दिखायी देती है। वस्तुतः चेतन न उत्पन्न होता है और न विलीन। चेतनकी अवस्थातरोंको ही जन्म-मृत्यु आदि कहा जाता है। पुद्गल भी विभिन्न अवस्थाओंको प्राप्त होते हैं, परन्तु उनका स्थूल विनाश कभी नहीं होता। मान लीजिये—एक बर दृट गया, इससे उस बरका विनाश हो गया, परन्तु इससे पुद्गलोंके अस्तित्वका नाश तो हुआ ही नहीं। इसी प्रकार जड कर्मके योगसे मुक्त होनेवाला आत्मा शाश्वत सुखमय अवस्थाको प्राप्त हो जाता है; वह संसारमें जन्म-मरणादिरूप परिभ्रमण नहीं करता, तो भी उसका अस्तित्व तो बना ही रहता है।

आत्माका स्वरूप और उनके सेद

कर्मके संयोगसे बद्ध होकर अनन्तानन्त आत्मा अनादिकालसे इस संसारमें परिभ्रमण करते हैं। इन अनन्तानन्त आत्माओंमें ऐसे भी अनन्तानन्त आत्मा हैं कि जो

मुक्तदशाको प्राप्त होनेकी योग्यतासे हीन हैं, और ऐसे भी अनन्तानन्त आत्मा हैं जो मुक्तदशा प्राप्त करनेकी योग्यतासे समझ होनेपर भी योग्य सामग्रीके न मिलनेके कारण अनन्त कालतक मुक्तदशाको प्राप्त नहीं होते। ऐसे आत्माओंको क्रमशः ‘अभव्य’ और ‘जातिभव्य’ कहते हैं। विश्वमें विद्यमान अनन्तानन्त आत्माओंको एक तीसरा वर्ग भी है। इस तीसरे वर्गके अनन्तानन्त आत्माओंको ‘भव्य’ कहा जाता है। इन ‘भव्य’ आत्माओंमेंसे अनन्त आत्मा आजतकके अनन्तकालमें सच्ची साधनाके द्वारा मुक्तदशाको प्राप्त हो चुके हैं। वर्तमानमें बहुसंख्यक आत्मा सच्ची साधना कर रहे हैं और भविष्यके अनन्त कालमें अनन्त आत्मा सच्ची साधनाके द्वारा मुक्तदशाको प्राप्त होते। निश्चयात्मक इष्टिसे किसीके अनुग्रहसे कोई अपने साध्यको सिद्ध नहीं कर सकता। निश्चयहितसे तो तब कुछ आत्माको ही करना पड़ेगा, परन्तु व्यवहारहितसे उपकारक आदिकी मानवता आदि रूपोंमें उपासना भी आवश्यक है; क्योंकि शुद्ध व्यवहारकी अवश्य करनेवाला शुद्ध निश्चयहितको नहीं पा सकता। आत्मा अनादिकालीन कर्मसंयोगसे सुदूर और परिणामी स्वभाववाला है—ऐसा मानकर जो अपने आत्माको कर्मसंयोगसे मुक्त करना चाहते हैं, वे ही अनन्त ज्ञानके स्वामी श्रीजिनेश्वरदेवोंके द्वारा उपदेश सच्ची साधनाके मार्गपर विश्वस्त बनकर शुद्ध व्यवहारका पालन करते हैं और अनन्तमें सुक्ति पा सकते हैं। अनादिकालीन कर्मसंयोगसे आत्माको मुक्त करना ही सच्चा साध्य है। ऐसा हुए विना दुःखरहित, सम्पूर्ण और शाश्वत इष्टकी प्राप्ति नहीं हो सकती। सुक्ति प्राप्त करनेकी योग्यता रखनेवाले आत्मा भी इस साधको स्वीकार तभी कर सकते हैं, जब कि उनकी ‘तथाभव्यता’ नामक योग्यता परिषक्ताको प्राप्त हो जाती है। इस साध्यको प्राप्त करनेके पहले ही ऐसे आत्मा सुक्तिके अद्वेषी बन जाते हैं, यही उनको प्राप्त होनेवाली साधनाका सूक्ष्म है।

अपुनवन्धक आत्मा

प्रत्येक आत्मा अनादि कालसे ही अपने ज्ञानादि गुणोंको दृक्कर्तेवाले ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकारके जट कर्मोंसे आवृत होता है। नर्दी-धौत-पाषाण-न्यायसे, अध्यवसायके बलसे जबतक इन आवरणोंमें मन्दता नहीं आती और जबतक भोग्नीय आदि कर्मोंके द्वारा पुनः नहीं बँध सकने-जैसी उल्कृष्ट सुन्दर आत्मदशाकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक आत्मा श्रीवीतराग परमात्माकी सिद्धिसाधक उपलब्ध है।

आदिके योग्य नहीं होता। ऐसी दशाको प्राप्त आत्मा ‘अपुनवन्धक’ कहलाता है। ऐसे आत्मा प्रथम गुणस्थानक्रमें सार्थकताके साथ रहनेवाले माने जाते हैं। ‘अपुनवन्धक’ आत्मा भयझर भवकी ओर बहुत मानकी दृष्टिवाले या तीव्रभावसे पापका आचरण करनेवाले नहीं होते। वे समस्त प्रदृश्यियोंमें औचित्यकी रक्षा करते हैं। वे मुक्तिके अद्वेषी होकर धर्म, अर्थ और काम—इन तीनों पुरुषायोंमें धर्मको प्रधान मानते हैं। ऐसी दशामें वे सामग्रीकी अनुकूलताके मिलनेवर सच्ची साध्यको और उस साध्यको सिद्ध करनेवाले साधनोंको भी सहजहीमें पा जाते हैं।

सुक्ति किसे कहते हैं ?

श्रीजिनेश्वरनका आदेश है कि ‘आत्मा अपने सूलभूत स्वरूपके सर्वथा आवरणरहित बना दे, जट कर्मके संयोगसे अपनेको सर्वथा मुक्त कर दे।’ इसीका नाम सुक्ति है। आत्माका सदाके लिये अपने स्वरूपमें ही सुस्थित हैं जाना तभी सम्भव है, जब कि अनादि कालसे आत्माके माय प्रवाहरूपसे लम्ब हुए समस्त कर्मोंका क्षय ही जाय। कर्मोंके सम्बन्धसे ही आत्माका स्वरूप छिपा हुआ है। अनन्त ज्ञान आदि गुणगता ही आत्माका स्वरूप है। और ये गुण ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंमें आवृत हैं, इसीसे आत्माका स्वरूप तिरोभूत हो रहा है। आत्माके इस तिरोभूत स्वरूपका सम्पूर्ण अविर्भव करके सदाके लिये अपने स्वरूपमें सुस्थित हो जाना ही सुक्ति है।

विवेककी सच्ची ज्ञाह कव जागती है ?

सुक्तिके इस स्वरूपकी व्यधार्यता जान लेनेपर इसे प्राप्त करनेकी अभिलाप्ता होना सहज है। सुक्तिके इस स्वरूपके प्रति रुचि हीं जानेपर आत्माकी अर्थ-कामकी ओर रहनेवाली उपादेय बुद्धि नाश होने लगती है। श्रीवीतराग परमात्माकी भक्ति, तारकोंके आशानुसार संसारका त्याग करके महाब्रतादिके द्वारा संवेद-साधनामें प्रतिष्ठित हुए, सदगुरुओंकी सेवा और ‘दान, शील, तप तथा भाव’ रूप धर्मनुग्राहोंके प्रति उनका आदर बढ़ता ही जाता है। ये अर्थ-कामके प्रति उपादेय बुद्धिका नाश होने लगने तथा परमात्माकी भक्ति आदि सदनुग्राहोंके प्रति आदरबुद्धि बढ़नेसे वे आत्मा उस सुन्दर परिणामके स्वामी बन जाते हैं कि जिस परिणामके योगसे आत्माके साथ संलग्न कर्मोंमें राजास्वरूप ‘मोहनीय कर्म’ विशेषरूपसे शिथिल होता जाता है। मोहनीय कर्मके

भी जानेको प्रकार है। इनमें 'मिथ्यात्ममोहनीय' नामक प्रकार बहुत ही भयंकर है। वह वस्तुको यथास्थित स्वरूपमें माननेमें बाधा पहुँचता है। यथार्थ मुक्तिके प्रति आकर्षित और सद्गुणोंके प्रति आदरबुद्धि रखनेवाले 'अपुनवन्धकता'-को प्राप्त आत्माओंकी जीव, अजीव आदि सभी पदार्थोंके जाननेकी इच्छा भी अतिशय उम्र बनती जाती है। इससे पौर्णत्विक पदार्थोंका उत्कट लोभ, और उसके योगसे वेगको ग्राप्त उत्कट माया, उत्कट मान और उत्कट क्रोध,—जिनको 'अनन्तानुबन्धी काया' कहते हैं,—परन्ते लगते हैं। इसीके साथ वस्तुके यथार्थ स्वरूपकी पहचानमें विज्ञ करनेवाला 'मिथ्यात्ममोहनीय'का बल भी बहुत धीर्ण होता जाता है। उस आत्मामें देवता, गुरु और धर्मके निर्वाचित स्वरूपको जाननेकी उत्कट इच्छा पैदा हो जाती है। तात्पर यह कि मुनिके प्रति द्वेषका नाश हो जानेपर की जानेवाली साधना आत्माके लिये मुन्द्र सामर्थी प्राप्त करा देती है और मुक्तिके सच्चे स्वरूपके प्रति आकर्षित होनेपर जो साधना होती है, वह आत्मामें वस्तुमात्रके वास्तविक स्फक्ता परिचय देनेवाले विवेककी उत्कट चाह उत्पन्न कर देती है।

'अपूर्वकरण' द्वारा ग्रन्थिमेद

इस विवेककी चाहके प्रताससे साधक आत्माओंमें आत्मस्वरूपको तिशेषजून कर रखनेवाले और अपने स्वरूपके आविर्भावमें अतिद्वय वित करनेवाले गण और द्वेषके प्रति द्वेष जग्न द्वे उठता है। यह द्वेष उन आत्माओंमें ऐसा उत्तम, शुद्ध, निर्मल परिणाम प्रकट करता है कि जिससे आत्माकी उत्कट राग-द्वेषमय दशाको 'दुर्भेद्य ग्रन्थि' कहते हैं। इस ग्रन्थिका भेद द्वुष विना जीवादि पदार्थोंके यथास्थित स्वरूपके प्रति वाङ्गारहित मन्त्र नहीं पैदा होती। इस उचिके पैदा हुए विना ओरे भी साधक मुक्ति प्राप्त करनेवाले अनुशानोंका सम्बन्ध प्रकारसे खेबन नहीं कर सकता। वस्तुके वास्तविक स्वरूपको जाननेकी उत्कट इच्छा इस उचिके उत्पन्न करनेमें बड़ी सहायक होती है। आत्मामें यह एक ऐसे मुन्द्र परिणामकी उत्पन्न कर देती है कि जो आत्माकी उत्कट राग-द्वेषमय दशाल्पी दुर्भेद्य ग्रन्थिका भेद करनेमें समर्थ होता है। इस परिणामको 'अपूर्वकरण' कहते हैं। इस 'अपूर्वकरण' नामक मानसिक परिणामसे आत्माकी उत्कट राग-द्वेषमय दशास्त्रप दुर्भेद्य ग्रन्थि टुकड़े टुकड़े हो जाती है और इसीके साथ साथ आत्मामें अनन्त ज्ञानी श्रीवीतराग परमात्मा

जिनेश्वरदेवोंके—(जो रागादि शब्दोंके ऊपर अन्तिम विजय प्राप्त करने तथा प्रकृष्ट पुण्योदयके द्वारा तीनों लोकोंकी 'योगक्षेपकरण' नायताको साथक बनानेवाले धर्मतीर्थीयोंसे खापना करनेवाले होनेके कारण जिनेश्वरदेव कहलाते हैं।) द्वारा उपदेष्ट जीवादि तच्छोको उनके स्वरूपमें उचित्युक्त करनेकी एक विदेष शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इसी शक्ति-को श्रीजैनशासनमें 'सम्पददर्शन' कहते हैं। आत्माका यह सम्पददर्शन गुण जैसे अधिगमसे प्रकट होता है, वैसे ही नैसर्जिक भी प्रकट होता है। किसी भी उपायसे हो, 'अनन्तानुबन्धी कषायों' का और 'मिथ्यात्ममोहनीय' का उपशम किया क्षयोपासम होना चाहिये, - अपूर्वकरणके द्वारा आत्माकी ग्रन्थिका भेद हो जाना चाहिये, और ऐसा होनेपर ही आत्माकी दशाकं अनुसार औषधिमिक विवा क्षयोपासमिक सम्पददर्शन गुण आत्मामें प्रकट होता है।

चतुर्थ गुणस्थानकर्त्ता आनन्दाकी समझ कैसी होती है?

इस सम्पददर्शनकी प्राप्तिसे आत्मा वै मौका है और मेरा क्या कर्तव्य है? आदि वातीको भलीभांति समझ सकता है। मुक्ति ही अपना सम्पूर्ण स्वरूप है; ऐसा पक्षा निश्चय होनेमें तिर आत्माको कोई भी चापा नहीं होती। वह समझ सकता है कि ... मुझे जो यह उचित उत्पन्न हुई है, यही मेरी सिद्धिदृढ़ी समझाका आदिस्वरूप है। यह उचित विद सुरक्षित हो जाय तो फिर मेरे अनन्त आनन्दस्वरूपका प्राप्तव्य हुए विना नहीं रहेगा। इस स्वरूपको प्रकट करनेके लिये मुक्तोंसे सर्व प्रकारसे हेषस्वरूप अर्थ और कामकी आसक्तिका सर्वभा नाश करना पड़ेगा। और इसके नाशके लिये देवताकी तरफ श्रीवीतराग परमात्माकी वीतराग होनेकी ही भावनामें सेवा करनी पड़ेगी। अर्थ कामकी आसक्ति छोड़कर, धर-वार आदि समस्त वास्त्र भवतोका त्वाग करके, पाँच महायतोका धारक बनकर, धारण किये हुए पाँचों महाब्रतोंके पालनमें धीर होकर, सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यक्-चावित्रकी साधनामें ही संलग्न रहकर, शुद्ध मायुक्ती दृढ़िते ही अपने परमशुद्ध भंगमयुक्त जीवनका निर्वाह करते हुए और संर्भर्में आनेवाले किसी भी योग्य आत्माको एक धर्मका ही उपदेश देनेवाले तद्गुरुओंकी ही वैसा ही बननेके लिये उपासना करनी पड़ेगी। (सामर्थ्य प्रकट हो गया हो तो उसी समय, नहीं तो सामर्थ्यको प्रकट करके) सच्चा निर्ग्रन्थ बनकर शुद्ध संयमकी साधना करनी पड़ेगी। आत्माकी जो ऐसी भावनामय उच्चम दशा है, वही आत्माका 'चतुर्थ गुणस्थानकर्त्ता' पना है।

सिद्धिसाधनाके साधन

इस गुणस्थानकमें पहुँचे हुए आत्मा भलीभाँति समझ सकते हैं कि जैसा साध्य हो, साधन भी वैष्ण द्वारा होने चाहिये। मेरा साध्य है सिद्धिपदकी साधना। मुक्ति हसीका पर्याय है, और इसका स्वरूप है आत्माका अपने शुद्ध स्वरूपमें शाश्वत-काल रहना। आत्माका शुद्ध स्वरूप है—अनन्त ज्ञान, अनन्त दयान, अनन्त भावित्र और अनन्त सुख। अनन्त गुणमय आत्माका वह सुख्य स्वरूप है। इस स्वरूपकी प्राप्तिमें साधन वही हो सकता है, जो इसके प्रकट करनेमें सहायक हो। शुद्ध श्वितरात्मुप अनन्त चारित्रको प्राप्त किये विना आत्माका इष्ट, ऐसा सुख—जो दुःखके लेखसे शून्य है तथा सम्पूर्ण और सदा भिंधर गहनेवाला है—नहीं मिल सकता। इसके लिये अहितकर प्रवृत्तियोंका जिसमें निरोध हो और हितकर प्रवृत्तियोंकी प्रवृत्ति हो; ऐसे चारित्रल्प साधनकी साधना किये विना काम नहीं चल सकता। ऐसे सच्चारित्रकी आराधनाके लिये सम्पूर्ण तत्त्वज्ञानकी अतिशय आवश्यकता है, और वह ज्ञान इस सम्प्रदार्शनके विना साध्य नहीं है। अतएव सम्पूर्ण चारित्रके साथ मंगे लिये सम्पूर्ण ज्ञान और सम्प्रदार्शनकी भी साधना अत्यन्त आवश्यक है।

छठे और मात्रवें गुणस्थानकका स्वामित्व

सम्पूर्ण-दर्शन, सम्पूर्ण-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र—इन तीनोंकी उत्कठ साधना तो यतिलोग ही कर सकते हैं। इन तीनोंकी साधना करनेवाले यति प्रमत्तावश्यामें होते हैं, तब छठे प्रमत्तके नामसे परिचित—अथवा जितका दूसरा नाम ‘सर्वविरति’ है, उस गुणस्थानके स्वामी माने जाते हैं। जिस अवस्थामें हृष्य प्रवृत्तिमात्रका त्याग हो जाता है, ऐसी इस सम्प्रदार्शन, सम्पूर्ण-ज्ञान और सम्यक्-चारित्रस्वरूप रक्तत्रयकी साधनाके परिणाममें साधक आत्मा ज्य एकरस बन जाता है, तब वह यति साथवें ‘अप्रमत्त’ नामक गुणस्थानका स्वामी हो। गया—ऐसा माना जाता है।

यतिरूप माधक बननेके लिये क्या करना चाहिये?

यतिरूप साधक बननेके लिये दुनियादारीकी सभी प्रवृत्तियोंका—जो हिंसामय हैं—त्याग करना पड़ता है और ‘पूर्व्योक्ताय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, बनसपतिकाय और त्रसकाय’—इन छहों कायके जीवोंकी हिंसा आदिसे संबंध दूर रहना पड़ता है। ज्ञान आदि अङ्गशोभा वगैरहमें भी जीवोंकी हिंसा होनेके कारण यतियोंके लिये वे भी त्यज्य हैं।

देश, नगर, ग्राम और घर; माता, पिता या अन्य कोई भी सम्बन्धी; धन, धन्य, कोई भी वस्तु—इन सबका अध्ययन किये कि अनन्त ज्ञानियोंके द्वारा संयमकी साधनाके लिये बतलाये हुए आवश्यक उपकरणोंके सिवा सर्वस्वका त्याग किये विना यतिपनकी साधना सम्भव नहीं है। कोई आत्मा गृहस्थमें रहता हुआ भी छठे और साथवें गुणस्थानके वैयक्तिक अवश्याको परिणामस्थर्में प्राप्त हो जाय और करदाचित् परिणामकी धारामें आगे बढ़ते-बढ़ते मुक्तिपदका भोक्ता भी बन जाय, ऐसा होना असम्भव नहीं है। परन्तु यह सिद्धिसाधनाका राजमार्ग नहीं माना जा सकता। राजमार्ग तो वही माना जाता है। असत्य, चोरी, अव्रहा-विषय-सेवन—अथवा सर्वविवारी अर्थ लें तो—परमात्मा रमण और परिग्रह भी हिंसामें निमित्त होनेके कारण, इनका भी त्याग किये विना यतिपनकी साधना सम्भव नहीं है। क्षमा, निरभिमानता, निलंभता, ब्रह्मचर्य, तप, संयम; इनिद्रियोंका निग्रह, सत्य, अस्तेय और अप्रिग्रह आदि तो यतिरूपके अत्यावश्यक अङ्ग हैं। इन धर्मोंकी साधनाके विना यतिपनकी साधना नहीं की जा सकती।

श्रीनवपद

यतिलोग श्रीनवपदके अवधारणा साधक होते हैं। श्रीनवपदकी निरन्तर साधनामें ही सच्चा यतिपन है। श्रीनवपद ही जैनशासनका सर्वस्व है। श्रीनवपद ही जगत्के जीवोंके लिये सिद्धि-साधनाका सच्चा अङ्ग है। इन श्रीनवपदोंमें प्रथम पदपर श्रीअरिहन्त परमात्मा माने जाते हैं, जो तारकोंकी सच्ची साधनाके मूलनृत् प्रकाशक हैं। दूसरे पदपर श्री-सिद्धपरमात्मा माने जाते हैं, जो श्रीअरिहन्तदेवोंके द्वारा प्रकाशित साधनामार्गका सेवन करके अपने आत्माको जड़ कर्मके संयोगसे सर्वथा मुक्त कर चुके हैं। तीसरे पदपर श्रीआचार्य भगवान् माने जाते हैं, जो यति होनेके पश्चात् मोक्षमार्गके आचारोंमें जीवोंको प्रवृत्त करनेवाले विशिष्ट गुणोंसे सम्पन्न महान् आचार्यपदको प्राप्त हुए हैं। चौथे पदपर श्रीउत्पाद्याय भगवान् माने जाते हैं, जो यति होनेके उपरान्त तत्त्वज्ञानके पाठकपनकी गुणविशिष्टतासे गीतार्थ गुर्बादिद्वारा उपाध्याय पदको प्राप्त हो चुके हैं। पाँचवें पदपर साधु-भगवान् माने जाते हैं, जो यतिरूपसे अपना-पराया हित-साधन किया करते हैं। इस नवपदमें शुद्ध देव, शुद्ध गुरु और शुद्ध धर्मका भी समावेश हो जाता है। श्रीअरिहन्त-परमात्मा और श्रीसिद्धपरमात्मा, ये शुद्ध देव हैं। श्रीआचार्य-

भगवान्, श्रीउपाध्यायभगवान् और श्रीसाधुभगवान्—ये शुद्ध हुए हैं। और सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान, सम्यक्-चारित्र और सम्यक्-तप—ये चार शुद्ध धर्म हैं। जो उरुष श्रीसिद्धि-पदकी, आत्मसुकिकी अथवा आत्माको अपने ही स्वरूपमें शास्त्रतकालद्वय सुस्थित करनेकी इच्छा रखते हैं, उन्हें श्रीनवपदकी साधनामें ही संलग्न हो जाना चाहिये।

आठवें नवे और दसवें गुणस्थानकपर आत्मा क्या करता है ?

इस श्रीनवपदकी साधनामें संलग्न रहनेवाला यति यहुत ही सहजमें अप्रभत्त बन सकता है। अप्रभत्ताके योगसे वह साधक यति अनन्तानुबन्धी कोध, माप, माया और लोभ तथा मिश्यात्मोहनीय, मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय नामक सातों कर्मप्रकृतियोंका क्षय करके ऐसी तत्त्वचिकित्सा प्राप्त हो जाता है कि जो कभी नाश नहीं होती। इन सात कर्मप्रकृतियोंके नामशेष करके वह साधक यति ‘चारित्र-मोहनीय’की शोष इक्कीस प्रकृतियोंको,—जिन्होंने आत्माके ‘अनन्त चारित्र’ नामक गुणोंको ढक रखता है,—नाश करनेकी तैयारी करता है। इस तैयारीके समय यति ‘अपूर्वकरण’ नामक आठवें गुणस्थानका स्वामी बनता है। इस गुणस्थानकमें रहनेवाला साधक आत्मा अनेकों विभिन्न रूपोंमें आत्माको इनि पहुँचानेवाले ‘मोहनीय कर्म’ और उसकी देण इक्कीस प्रकृतिरूप इक्कीस शत्रुओंको इस तरहसे निवृल बनाकर क्रमसे बैटा देता है कि जिससे वह (साधक आत्मा) नवे ‘अनिवृत्तिकरण’ और दसवें ‘सूक्ष्मसम्पराय’ नामक गुणस्थानकोंमें इन इक्कीस शत्रुओंके नाशका कार्य कर सकता है। यह साधक आत्मा इक्कीस शत्रुओंमें बीमका और इक्कीसवेंके भी अधिकांश भागका नाश तो नवें गुणस्थानकमें ही कर दालता है और इक्कीसवेंके नहीं जैसे वचे हुए भागका विनाश दसवेंमें करता है। इमीलिये दसवें गुणस्थानकका नाम ‘सूक्ष्मसम्पराय’ है।

वारहवें गुणस्थानकमें सच्ची विश्रान्ति

श्रीनवपदकी आगावनाके द्वाग इस स्थितिपर पहुँचनेके लिये जीव-तत्त्व और अजीव-तत्त्व दोनोंका यथास्थित ज्ञान होना चाहिये। उप्य और पायहृष्ट बनकर आत्माके साथ बैथे रहनेवाले कर्मोंकी निर्भरके लिये उसके आनेमें कारणरूप जो जो आश्रव हैं, उन्हें रोकनेवाले शुद्ध संवरभावको धारण करके संवरके साधनोंकी सुन्दरसे-सुन्दर साधना भी चाहूँ ही

रहनी चाहिये। एकमात्र मोक्षको स्थेय बनाकर, उस मोक्षके लिये ही जीव और अजीव-तत्त्वको जानकर, पुण्य-पापरूप आश्रवसे बचनेके लिये शुद्ध संवररूप भावकी साधनाके साथ-ही-साथ निर्जाके कारणरूप बाह्र प्रकारके तर्पोंकी—जिनमें सम्यग् ज्ञानकी भी साधना भलीभौंति होती है,—साधनाके द्वारा सरे कर्मोंको निर्जर करके मोक्षपदकी प्राप्ति की जा सकती है। मिश्यात्म आदि बन्धके कारणोंसे साधना रहकर, संवर और निर्जाकी साधना करनेवाला ही, दसवें गुणस्थानकतक पहुँचकर सबी विश्रान्तिका अनुभव करता है। संसारमें इस आत्माको कहीं सच्ची विश्रान्ति मिलनी हो, तो वह यही मिलती है।

वारहवें गुणस्थानकमें वचे हुए तीनों धाति-कर्मोंका भी क्षय

सम्यग्-दर्शनके प्राप्त होनेसे पूर्वके अशनमात्रको ज्ञानरूप बना चुकनेवाला साधक आत्मा अनेको मतिज्ञान और भूतज्ञानको, ज्ञान और ज्ञानीकी तेवाके द्वारा तथा ज्ञानके शुद्ध व्योपूर्वक अभ्यासादिके द्वाग ‘ज्ञानावरणीय कर्म’ का क्षयोपशम करके, निर्मल बना चुकता है। कोई कोई आत्मा तो ‘अवधिज्ञान’ या ‘भन्नपर्यवशान’ अथवा उन दोनों ज्ञानोंको भी पा चुका होता है। इन प्रकार दो ज्ञान, तीन ज्ञान या चार ज्ञानसे सम्पन्न ‘क्षीणमोही’ आत्मा इस गुणस्थानकमें वचे हुए तीनों धातिकर्मोंका भी विनाश कर देता है। यहले मोहनीयरूपी धातिकर्मका क्षय हुए विनाशकी तीनों—‘ज्ञानावरणीय’, ‘दर्शनावरणीय’ और ‘अन्तराय’—धातिकर्मोंका क्षय होता ही नहीं।

अजीव-तत्त्वके एक प्रकाररूप आठ कर्म

आत्माके आत्मस्वरूपको आवृत करनेवाले कर्म आठ हैं—‘ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोप्र और अन्तराय’। इन आठोंको कर्मकी मूल प्रकृति कहते हैं, क्योंकि हनसे उत्तरमें अनेकों भेद हो जाते हैं। ज्ञानावरणीयकी उत्तर-प्रकृति पाँच हैं, दर्शनावरणीयकी उत्तर-प्रकृति दो हैं, वेदनीयकी उत्तर-प्रकृति दो हैं, मोहनीयकी उत्तर-प्रकृति अष्टाईस हैं, आयुष्यकी उत्तर-प्रकृति चार हैं, नामकी उत्तर-प्रकृति ४२, ६७, ९३ और १०३ हैं। गोप्रकी दो हैं और अन्तरायकी पाँच हैं। इन

सारी प्रकृतियोंका जैन शास्त्रमें विस्तारसे विवेचन किया गया है। ये आठ कर्म भी अजीव-तत्त्वका ही एक प्रकार है। इस 'प्रकार'का व्यक्तिशः निर्माण करनेवाला आत्मा है और यही रूप इसका आदि भी है, परन्तु इसका अहितत्व तो अनादिकालसे ही है। जैसे अनन्तानन्त आत्मा अनादि हैं वैसे ही ये आठ कर्म और आत्मा तथा इन कर्मोंका संयोग भी अनादि ही है।

चार धातिकर्मोंका कार्य

इन आठ कर्मोंमें चार धातिकर्म हैं और चार अधाति। चार धातिकर्म आत्माके मुख्य गुण अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त वीर्यको आवृत्त करते हैं। मोहनीय कर्मकी क्षीणताके साथ-साथ दूसरे धातिकर्म भी क्षीण होते हैं। मोहनीयका विनाश हुए विना शेष धातिकर्मोंका विनाश होता ही नहीं। वीतरागताका रोकक मोहनीय है। वीतरागताकी प्रासिके लिये मोहनीयका नाश करना चाहिये। मोहनीयके नाशके लिये शुद्ध चारित्रकी साधना आवश्यक है। शुद्ध चारित्रकी साधनाके लिये शुद्ध चारित्रकी साधना आवश्यक है। शुद्ध चारित्रकी साधनाके लिये शुद्ध चारित्रकी साधनामें भी मिथ्यात्वानामक मोहनीय है। मोहनीयके मुख्य भेद दो हैं—'दर्शनमोहनीय' और 'चारित्रमोहनीय'। दर्शनमोहनीयके सात प्रकार हैं और चारित्रमोहनीयके दोहीं। 'अनन्तानुवर्णी' क्रोध, मान, मात्रा और लोभ तथा मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय—इन सातके उपदामसे 'उपदाम-सम्यक्त्व' होता है। इन सातके क्षयोपशमसे 'क्षयोपशामिक सम्यग्-दर्शन' होता है और इन सातके क्षयसे 'क्षयिकसम्यक्त्व' होता है। ये तीनों प्रकारके सम्यग्-दर्शन जानको सम्पूर्ण बनानेवाले हैं। 'क्षयोपशम-सम्यक्त्व' नाशवान् होनेके साथ ही दूषित होनेकी सम्भावना रखता है। 'उपदाम-सम्यक्त्व' शुद्ध होनेपर भी नाश होनेवाला है। 'क्षयिकसम्यक्त्व' शुद्ध होनेके साथ ही शाश्वत रहनेवाला है। यह सम्यक्त्व आत्माको शुद्ध ज्ञान-सम्पूर्ण बनानेके साथ ही शुद्ध चारित्रका सेवक बनाकर वीतराग, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बना देता है।

इक्षीस प्रकृतियोंके विनाशका ध्येय

शुद्ध सम्यग्-दर्शनकी साधनामें लगा हुआ आत्मा मुकुर्लप साधकी सिद्धिके लिये ही जीवादि तत्त्वोंका बुन्दर ज्ञान बनना चाहता है। जीवादि तत्त्वोंका ज्ञान मुकुर्लप

साध्यको सिद्ध करनेके लिये हो; तभी वह सम्यग्-ज्ञान है। इस सम्यग्-ज्ञानकी साधना भी विरतिरूप फलको उत्पन्न करनेवाली है। इसीलिये सम्यग्-दर्शन और सम्यग्-ज्ञान 'चारित्रमोहनीय'की इक्षीस प्रकृतियोंके विनाशकी भावनाको सदा जीवित रखते हैं। 'देशविरति'के रोकनेवाले 'अप्रत्याख्यानी क्रोध, अप्रत्याख्यानी मान, अप्रत्याख्यानी मात्रा और अप्रत्याख्यानी लोभ'—ये चार कर्षण हैं; 'सुर्वविरति'के रोकनेवाले 'प्रत्याख्यानी क्रोध, प्रत्याख्यानी मान, प्रत्याख्यानी मात्रा और प्रत्याख्यानी लोभ'—ये चार कर्षण हैं तथा व्याप्त्यात्मत चारित्र'के अथवा 'वीतरागता'के रोकनेवाले 'संज्वलन क्रोध, संज्वलन मान, संज्वलन मात्रा और संज्वलन मोह'—ये चार कर्षण हैं। इस प्रकार कुल चारह कर्षण और इन कर्षणोंको उद्दीपन करनेवाले—'हास्य-मोहनीय, रतिमोहनीय, अरतिमोहनीय, भयमोहनीय, शोभमोहनीय और बुगुर्जामोहनीय तथा ऊबेद, पुरुषबेद एवं नंपुस्कवेद, ये तीन—जो 'नोकषायमोहनीय'के नामसे विस्तृत हैं—मिलकर इक्षीस प्रकृतियाँ होती हैं। इन इक्षीस प्रकृतियोंका विनाश ही सम्यग्-दर्शन और सम्यग्-ज्ञानके साधकका ध्येय होता है।

पाँच प्रकारके चारित्र

इस ध्येयकी सिद्धिके लिये साधक सम्यक्चारित्रकी साधनामें ऐसा लगा जाता है कि जिसके फलमवरूप सातों दर्शन-मोहनीयके क्षयसे 'क्षयिकसम्यक्त्व' का स्वामी बनकर समभावरूप 'सामायिक-चारित्र'का उपासक बननेके लिये 'सामायिक' नामक चारित्रकी साधनामें प्रतिष्ठित हो जाता है। सामायिक चारित्रकी साधनामें संलग्न वह आत्मा पट्टक्य आदिका ज्ञान बनकर 'छेदोपस्थानीय' नामक चारित्रको स्वीकार करता है। तदनन्तर 'परिहारविशुद्धि' नामक चारित्रकी सामग्री मिलनेपर उसकी भी आराधना करता है। परन्तु यह कोई नियम नहीं है कि प्रत्येक मोक्षगामीको इसका आचरण करना ही चाहिये। इसकी आराधनाके विना ही क्षयक श्रेणी-जैसी साधनाके द्वारा इक्षीसी चारित्रमोहनीयका क्षय किया जा सकता है। इस क्षयको नवें गुणस्थानकमें साधकर शेष बचे हुए सूक्ष्म लोभके क्षयके लिये दसवें गुण-स्थानकमें जाय। दसवें गुणस्थानकमें सूक्ष्म लोभका भी क्षय करके बारहवेंमें जाय और 'क्षीणमोह' नामक गुणस्थानकका स्वामी हो जाय। वहाँ बचे हुए तीनों धातिकर्मोंका सूक्ष्म संहार करनेपर अर्थात् सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बननेपर वह

तेरहवें 'सयोगी केवली' नामक गुणस्थानकका स्वामी माना जाता है। 'शीणमोह' नामक गुणस्थानकमें क्षायरहित होने-के कारण 'यथाल्पात्'नामक पाँचवें चारित्रकी साधना होती है। तेरहवें गुणस्थानकमें भी यही चारित्र होता है।

तेरहवें गुणस्थानकमें केवल काययोग और बचनयोगकी ही प्रवृत्ति होती है तथा जरूरत पड़नेपर परमर्पिलोग द्रव्यमनका भी उपयोग करते हैं। इसके बाद योगनिरोधरूप 'अयोगी केवली'नामक चौदहवें गुणस्थानकमें शोप रहे हुए चार अधातिकर्मोंका भी सम्पूर्णतया क्षय करके वह मुक्तिपदका भोक्ता बन जाता है। अनन्त शान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त सुखके स्वामी बनकर ऐसे आत्मा दादावतकाल एक ही सीरीज़ी खितिमें रहते हैं और यही साधनाका सच्चा साध्य है।

देशविरतिरूप गृहस्थ साधक पाँचवें गुणस्थानकमें—

इस साधकी सिद्धिके लिये ही यह साधना आवश्यक है और सच्चे स्वरूपकी साधना भी यही है। जो आत्मा 'सर्वविरति' रूप चारित्रकी साधनामें समर्थ न हो, वे भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्शान और देशविरतिरूप चारित्रके द्वारा साधना कर सकते हैं। स्थूल अहिंसा, स्थूल सत्य, स्थूल अचार्य, स्थूल ब्रह्मचर्य यानी परदाग-परित्याग और स्वदारा-संतोष और स्थूल अपरिग्रहका पालन—ये पाँच अणुवत् हैं; दिग्याओंके परिम्रणका, भोग और उपभोग वस्तुओंके परिमाणका और विना प्रयोजनके पायोंका विरक्षण करना—ये तीन गुणवत् हैं और सामायिक, देशावकाशिक, पीरप्र और अतिथिसंविभाग—ये चार विशेषताएँ हैं। इस प्रकार कुल बाह्य अथवा इनसे कम बतोंका पालन देशविरतिरूप चारित्र कहलाता है। जो इन बतोंका पालन करता हुआ श्रीनवपदकी आगाधनामें संलग्न रहता है, वह भी गृहस्थ साधक है। ऐसा साधक पाँचवें 'देशविरति' नामक गुणस्थानकका स्वामी माना जाता है। पड़ावत्यक आदि अनुष्ठानोंकी साधना तो इस साधकको भी करनी ही चाहिये।

अविरत सम्यग्दृष्टिकी साधना

जो देशविरतिरूप चारित्रकी साधनामें भी समर्थ न हों, वे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी साधनाके द्वारा आगे

बढ़ते हुए, परिणाममें 'देशविरति' और 'सर्वविरति' आदि अवस्थाओंको प्राप्त कर सकते हैं। सम्यग्दर्शनकी आराधना सहस्र प्रकारसे होती है। उसमें सम्यग्ज्ञानकी साधना भी आ जाती है और सम्यक्चारित्रका भी अभ्यास होता है।

क्षपणाके विना सिद्धि नहीं

'साम्बादन' नामक दूसरा और 'सम्यग् मिथ्यात्म' नामक तीसरा गुणस्थानक पदनको प्राप्त आत्माओंके लिये है। याहाँवों गुणस्थानक उस आत्माके लिये है, जो 'चारित्र-मोहनीय' की क्षपणा न करके उपशमना करता है। जब सुन्दर साधनाके द्वारा मोहनीयकी क्षपणा होगी तभी वीत-रागताके, केवल शानके और केवल दर्शनके प्राप्त होनेपर योगके निरोधद्वारा सब कर्मोंका क्षय होगा; और तभी मनुष्य-जीवनके साध्य मोक्षकी सिद्धि होगी। इसके विना किसी भी आत्माके लिये, किसी भी रीतिमें, मोक्षरूप साध्य-की सिद्धि सम्भव नहीं है।

उपर्महार और अभिलापा

श्रीजीनेश्वर देवोंके द्वारा उपदिष्ट अर्थात् उनके शासन द्वारा उपदिष्ट साधनाके सम्मागकी यह तो एक अत्यन्त मंजिस्त और सूचनमात्रकी रूपरेखा है। साधनाके समस्त अङ्गोंका श्रीजीनशासनमें साझोपाझ वर्णन मिल सकता है। साधकका स्वरूप, साधक के परम शुद्ध निश्चय, संमार और मोक्ष, जीव और अजीव, ज्ञान और अज्ञान, सम्यक्त्य और मिथ्यात्म, वन्ध और निर्जरा, आश्रव और संवर, शुद्ध देव, शुद्ध शुरु और शुद्ध धर्म आदि सभी स्वरूपों और तत्त्वोंका सुन्दर-सं-सुन्दर साझोपाझ और निर्धारित वर्णन श्रीजीनशासनमें है। श्रीजीनदर्शनको स्वीकार किये विना एकान्तव्यादकी उपावनासे छुटकारा नहीं मिल सकता और एकान्तव्याद तत्त्वकी प्राप्तिमें प्रतिबन्धक है। अनेक 'सच्ची साधनाके अभिलापी सभी लोग इस स्पर्शव्याको पढ़कर श्रीजीनशासनकी अनुपम साधनाके सम्मागके अभ्यासकी ओर आकर्षित हों और परिणाममें कल्याण-कामियोंकी कल्याण-कामनासे ही उत्पन्न इस सच्चे शासनके साधक बनकर साध्यरूप सिद्धिपदके भोक्ता बनें।' इसी एक अभिलापके साथ लेखकी समाप्ति की जाती है।

रासमें कामविजय

मानों माई धन धन अंतर दामिनि ।
धन दामिनि दामिनि धन अंतर सोभित हरि ब्रजभामिनि ॥

जमुना पुलिन मल्लिका मनोहर सरद मुहाई जामिनि ।
सुंदर समि गुन रूप राग निधि अंग अंग अभिरामिनि ॥

रन्यो रास मिलि रसिकगड़ सों मुदित भई ब्रजभामिनि ।
रूपनिधान स्यामसुंदर धन आनंद मन विश्रामिनि ॥

खंजन मीन मराल हरन छवि भावभेद गजगामिनि ।
को गति गुनही सूर स्याम मँग काम विमोहो कामिनि ॥

—सूरदासजी

जैनसम्प्रदायके साधन

(लेखक—श्रीनरेन्द्रनाथजी जैन)

जैनसम्प्रदायके तत्त्वोंका सुशम विवेचन करनेपर यह शात होगा कि जैन तत्त्वज्ञान व्यापक होनेके साथ ही निर्माण-सिद्ध तत्त्व है। निर्माण जैसे अनादि-अनन्त होता है, वैसे ही जैन तत्त्वज्ञान भी अनादि-अनन्त है। श्रीमहावीर आदि तीर्थंकर पुरुष उस तत्त्वके संस्थापक हैं, न कि निर्माणक। जैनतत्त्व कहता है—

पश्चापातो न मे वीरे न द्वेषः कपिष्ठादिषु ।

अर्थात् श्रीमहावीरस्वामीसे मेरा पश्चापात नहीं और कपिष्ठादि अन्य ऋषियोंसे द्वेष भी नहीं।

श्रीमहावीरस्वामीने ऐसा कहा है, इसीलिये वह सत्य है— ऐसा दुरभिमान जैनतत्त्वको नहीं है। लेकिन जो सत्य और निर्माण था, उसीका कथन श्रीमहावीरस्वामीने किया है; इसीलिये वह सत्य है।

इस लेखमें मुख्यतया जैनसम्प्रदायके साध्य, साधक और साधन—इन तीन बाँतोंपर प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया जाता है।

जैनसम्प्रदायका साध्य

सब सम्प्रदायोंने अन्तिम साध्य तो मोक्ष ही बतलाया है, लेकिन उस भोक्षके स्वरूपके विवरणमें यड़ा मतभेद है।

जैनतत्त्वने जीवकी मुख्यतासे दो अवस्थाएँ मानी हैं— (१) संसारी अवस्था और (२) मुक्त-अवस्था। यह जीव अनादि कालसे कर्मके सम्बन्धसे इस संसारमें भ्रमण करता है। जब वह ध्यानबलसे आठों कर्मोंका नाश कर देता है, तब उसे उसका अन्तिम साध्य प्राप्त होता है।

उस अवस्थामें जीवके ज्ञानादि अनन्त गुणोंकी स्वाभाविक अवस्था प्राप्त होती है। उसी अवस्थामें वह पिर सदाके लिये विद्यमान रहता है, उससे फिर संसारी अवस्थामें कभी वापस नहीं आता। ऐसी आत्मानिक अवस्थाको 'मोक्ष' कहते हैं और वही जैनतत्त्वका मर्योक्तुष्ट अन्तिम साध्य है।

मुक्त जीवका लक्षण इस प्रकार कहा है—

अट्टविहकमवियला सीदीभूदा जिर्जिणा जिर्जिचा ।
अट्टगुणा किर्किर्किच्चा लोयगणिवासिणो सिद्धा ॥

(गो० जी० १८)

इन सात विशेषणोंकी सिद्धि मार्मिकतासे की गयी है—

(१) सदाशिवमतवाले कहते हैं कि जीव सदा कर्मसे रहित, शुद्ध ही होता है; जीवकी अशुद्धावस्था ही नहीं है। जीव सदैव मुक्त ही है। इस मतका निराकरण करनेके लिये पहला विशेषण 'अष्टविधकर्मविकला:' दिया है। जीव आठों कर्मोंसे रहित होकर ही शुद्ध-मुक्त होता है।

(२) सांख्यमतवाले मानते हैं कि बन्ध-मोङ्ग, सुख-दुःख—ये सब प्रकृतिको होते हैं, आत्माको नहीं। उसका निराकरण करनेके लिये 'शीतीभूता:'—सुखस्वरूप कहा।

(३) मकरीमतवाले कहते हैं कि मुक्त जीव वापस संसारमें आता है। उसका निगकरण करनेके लिये 'निरञ्जना:' यह विशेषण दिया है। अर्थात् मुक्त जीव भावकमें से रहित होनेते, उसको वापस लौटनेमें कुछ निमित्त ही नहीं रहता।

(४) बौद्ध कहते हैं कि सब पदार्थ क्षणिक हैं। उक्त मिडान्तका निराकरण करनेके लिये 'नित्या:' यह विशेषण दिया है।

(५) नैयायिक तथा वैशेषिक भतवाले मानते हैं कि मुक्तिमें बुद्धयादि गुणोंका भी विनाश हो जाता है। दीप-निर्वाणकी तरह सबका अभाव हो जाता है। इस मतका निराकरण करनेके लिये 'अश्वगुणा:' यह विशेषण दिया है। आठ कर्मोंके अभावसे ज्ञानादि आठ गुणोंकी आविर्भूत होती है।

(६) ईश्वरवादी परमात्माको जगत्का कर्ता मानते हैं, उनके मनके निराकरणार्थ 'कृतकृत्य' यह विशेषण दिया है।

(७) मण्डलीमतवाले जीवको सदा के लिये ऊर्ध्व-गमनयाला मानते हैं, उसके निराकरणार्थ 'लोकाप्रस्थिता:' यह विशेषण दिया है।

लोकाकाशके अग्रभागपर रिद्धिशिला विद्यमान है। वहाँ-पर मुक्त जीव सदैव विगजमान रहते हैं।

श्रीकृष्ण, गाम, विष्णु आदि इतिहासप्रसिद्ध सत्पुरुषोंको जैनमतमें पुण्यपुरुष तो जरूर माना है, लेकिन उनकी सांसारिक अवस्थाको ही आदर्श न समझकर वीतराग-अवस्था-को साध्य माना है। सच्चा आदर्श, पूज्य या देव वही हो सकता है कि जो 'वीतराग', 'सर्वश' और 'हितोपदेशी' है।

चिना रागादिके अभावसे ज्ञानमें पूर्णता तथा सल्लता नहीं आती और जो स्वयं पूर्णताको नहीं पहुँच पाया, वह सबे मार्गका उपदेशक भी कैसे हो सकता है। इसलिये जैनमतने अपना आराध्यदेव वीतराम, सर्वश एवं हितोपदेशी परमात्मा-को ही कहा है।

साधक

जैनधर्मने वहले पूर्णत्यागका ही उपदेश दिया है और उसके बाद उस पूर्ण त्यागकी शक्ति न हो तो आंधिक त्याग-रूप गृहस्थ-धर्मका उपदेश दिया है।

साधक या उपासकके तीन प्रकार माने गये हैं—

(१) पाश्चिक, (२) नैषिक और (३) साधक।

(१) त्याग या व्रतके ग्रहण करनेका जितका सङ्कल्प है और ‘वह भव्य दिन कव आवेगा, जव कि मैं व्रती बनौगा’ ऐसी जिसको लगान लगी है, वह भव्य जीव ‘पाश्चिक’ कहलाता है।

(२) जो व्रतोंका पालन करता है, वह ‘नैषिक’ है। और—

(३) जो आत्मज्ञानमें निमम रहता है, उसको ‘साधक’ कहते हैं। यहस्यको अपना जीवन इस तरह विताना चाहिये कि जिससे धर्म, अर्थ, काम-इस विवर्गमें परस्पर विरोध न आये। जिससे धर्ममें दूषण लगे, ऐसा अन्याययुक्त अर्थोपार्जन और पशुमुख कामसेवन नहीं करना चाहिये। सरैव पूर्ण त्यागकी ओर अपना इष्टिकिन्द्र रखनेवाला ही सच्चा गृहस्थ कहलाता है।

गृहस्थसे उत्कृष्ट पूर्ण त्यागरूप यतिर्वर्म बतलाया है। पञ्च पाण्योंका पूर्णरूपसे त्याग करनेवाला, आरम्भ और परिग्रहका त्याग करनेवाला, शरीर और भोगसे विरक्त-इस प्रकार आत्माहित साधनेवाला ‘यति’ कहलाता है। गृहस्थ और यति दोनोंका साध्य मोक्ष ही होनेसे वे ‘मुमुक्षु’ कहलाते हैं।

केवल बाह्य आचारको धर्म नहीं कहते हैं। लेकिन भाव-पूर्वक आचरणको ही धर्म कहते हैं। उसीसे इष्टिरिदि हो सकती है। केवल लोगोंसे भाव-प्रतिष्ठादिकी चाह रखनेवाला भावरहित वास्तवेषी साधु भी मुमुक्षु नहीं है। इसलिये भाव-पूर्वक पञ्चपापत्यागरूप धर्मका पालन करनेवाला ‘सच्चा साधक’ कहलाता है।

साधन

उपरिनिर्दिष्ट उक्तम साधक साधन सम्बद्धन,

सम्यक्कान और सम्यक्क्वारिति—इन तीनोंकी पूर्णता बतलायी गयी है। आत्मस्वरूपके प्रति समीक्षीन श्रद्धा, आत्मस्वरूपका समीक्षीन ज्ञान और आत्मस्वरूपमें आत्माका ल्य होनेसे ही आत्माको निजतत्त्वकी प्राप्ति होती है। निजको निज और परको पर समझना—इसीको सम्बद्धरूप कहते हैं। इष्टिमें अर्थात् श्रद्धामें समीक्षीनता आनेसे ही ज्ञानमें समीक्षीनता आती है और जिसे आत्मज्ञानकी शल्क मिल गयी, उसको आत्मप्रवृत्ति पर-पदार्थसे हटकर स्वयं आत्मस्वरूपमें प्रवृत्त होती है। जिसने अपना ध्येयविन्दु देख लिया, वह उसको आज नहीं तो कल—कभी न-कभी अवश्य प्राप्त करेगा। आत्मज्ञानीकी मुक्ति अवश्यम्भावी होनेसे उसीको जीवनमुक्त कहते हैं।

आत्मज्ञानविशिष्ट कितना ही तप, त्याग और धर्म किया जाय, वह सब निरर्थक है। समीक्षीन श्रद्धाके आठ अङ्ग हैं—

(१) तत्त्वम् इदम् एव इदंशम् एव, अन्यत न च अन्यथा न। हस प्रकारकी अचल श्रद्धाको ‘निःशक्तित’ अङ्ग कहते हैं।

(२) जिसने आत्माको आत्मा और परको पर समझ लिया, उसे आत्मरामें ही सच्चा आनन्द मिलता है, भोग भोगनेकी इच्छा नहीं होती। मोक्षमार्गपर आरुद्ध हुए कुछ आत्मज्ञानी सुमुक्षुओंकी विषय-भोगकी ओर जो प्रवृत्ति दिखायी देती है, वह केवल ‘चारित्र-मोह’ के तीव्र उदयवश है। भोगके पश्चात् उन्हें तीव्र पश्चात्ताप होता है और वे अपने आत्माकी निन्दा करते हैं। इस प्रकार भोग भोगनेकी अभिलाषा न रखना—इसको ‘निःकाङ्क्षित’ अङ्ग कहते हैं।

(३) तत्त्वज्ञानी पुरुष कभी किसीसे ग्लानि नहीं करेगा। वह गुणानुरागी होनेसे गुणी पुरुषकी सेवा-शुश्रूषा करेगा, रोग आदिसे पीड़ित उसके शरीरसे कभी त्रुणा नहीं करेगा। यह ‘उत्सका निर्विचिकित्सा’ अङ्ग है।

(४) अज्ञानी या असमर्थ लोगोंके आचरणके द्वारा यदि कहींपर धर्मकी निन्दा होती हो तो उसका प्रमार्जन करना—यह ‘उपगृहन’ अङ्ग है।

(५) धर्मसे च्युत पुरुषको उपदेशाद्वारा पुनः धर्ममें दियर करना—यह ‘रीतिहासिकरण’ अङ्ग है।

(६) दूसरे लोग ऐशा करते हैं, इसलिये स्वयं भी करना—यह गतानुगतिक वृत्ति न रखकर भिद्यामार्ग और मिथ्यामार्गपर चलनेवाले पुरुषोंको मनसे समर्पित न देना,

याणीसे उनकी सुति न करना और शरीरसे उनका आदर-सकार न करना तथा उनसे सम्पर्क (सहवास) न रखना—इसको 'अमूददृष्टि' अङ्ग कहते हैं।

(७) प्राणिमात्रके प्रति प्रेमभाव रखना, किसीको दुःख न पहुँचाना—यह 'वात्सल्य' अङ्ग है।

(८) उपदेशादिशारा धर्मको प्रकाशमें लाना—प्रसार करना, यह 'प्रभावना' अङ्ग है।

सम्प्रदर्शनके ये आठ अङ्ग माने गये हैं। सम्प्रदर्शनमें ये आठों अङ्ग (गुण) अवश्य रहते हैं। समीक्षीय अद्वासे जानमें समीक्षीयता तो आती है, परन्तु जानकी पूर्णता कपाय-मोहके अभाव होनेपर होती है।

इसी तरह मोह और योगका अभाव होनेपर चारित्रकी पूर्णता होकर परमोच्च अन्तिम साध्य मोक्ष प्राप्त होता है।

कर्मपुद्गलकी उत्पत्ति तथा निरोधका हेतुनिर्देश

जैनतत्त्वमें पुद्गल-द्रव्यके २२ प्रकार (वर्गणाएँ) माने हैं। उनमेसे कोई (आहार-वर्गणा) शरीरादिरूपमें परिणत होते हैं, कोई (भाषा-वर्गणा) शब्दरूपमें परिणत होते हैं, कोई (मनोवर्गणा) अष्टदल कमलाकार मनरूप बनते हैं और कोई (कार्मण-वर्गणा) कर्मपुद्गलरूप बनते हैं। ये सब वर्गणाएँ लोकाकाशमें भरी हुई हैं।

कर्मपुद्गल अवेतन होनेसे स्वयं आत्माके पास नहीं जाते, लेकिन अनादिकालीन ब्रह्मरूप आत्माके 'योग'रूप परिणाममें ऐसी आर्कपक्ष शक्ति है कि जिसके द्वारा वे कर्म-पुद्गल स्वीच्छा जाते हैं। कर्मपुद्गल नये नहीं बनते; क्योंकि असत्की उत्पत्ति तथा सत्का नाश कभी नहीं होता, किन्तु उनका अवस्थान्तर होता है। कार्मण-वर्गणाके ही आत्माके द्वारा स्वीच्छा जानेपर उसको 'कर्म' वह संज्ञा प्राप्त होती है। और उसकी स्थितिके अनुसार वह आत्माके पास रहकर जब उस कर्मकी स्थिति पूर्ण हो जाती है, सब वह फल देकर आत्मासे निकल जाता है और कार्मण-वर्गणारूप अपनी पूर्व अवस्थामें आ जाता है। कार्मण-वर्गणा सामान्य है, उसमें ज्ञानावरणादि प्रकार नहीं है; लेकिन जब वह कर्मरूप बनती है, तब उसमें ज्ञानावरणादि प्रकार होते हैं। आत्माके अलग-अलग गुणोंपर आवरण डालनेसे उनको अलग-अलग नामसे बोधित किया गया है।

(९) जो ज्ञान-गुणपर आवरण डालता है, उसे 'ज्ञानावरण' कहते हैं।

(२) जो दर्शन-गुणपर आवरण डालता है, उसे 'दर्शनावरण' कहते हैं।

(३) जिससे आत्माको सुख-दुःख होता है, उसे 'धैर्यीय' कहते हैं।

(४) जो आत्माको सुख-गुणपर आवरण डालकर आत्माको मोहित करता है, जिससे आत्मा आत्माको भूलकर परको आत्मा समझने लगता है, उसे 'मोहीय' कर्म कहते हैं।

(५) जिससे यह आत्मा चतुर्गतिमें भ्रमण करता है, वह 'आयु-कर्म' है।

(६) जिससे जीवको अपनी-अपनी गतिके अनुसार शरीर-इनिय-आकृति प्राप्त हो, उसे 'नामकर्म' कहते हैं।

(७) जिससे जीव उच्च आचरणवाले अथवा नीच अचरण-वाले कुलमें उत्पन्न हो, उसे 'भोत्रकर्म' कहते हैं।

(८) जिससे जीवको इष्ट वस्तुका लाभ आदि न हो, उसे 'अन्तराय' कहते हैं।

इस प्रकार कर्मपुद्गलके निमित्तमें आत्मा इस संसारमें दुखी होकर भटकता है। कर्म आत्माको भ्रमाता है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि कर्म तो बेचारे अनेकन हैं, उनमें आत्माको भ्रमानेकी बुद्धि कैसे उत्पन्न हो सकती है। बास्तवमें आत्मा ही कर्मके बन्धनमें तथा भुक्तिमें काणा है। आत्मपरिणाममें ही कर्म खींचे जाते हैं और आत्म-परिणाममें ही उनका नाश होता है। कर्मके उदयमें भ्रम हानि-लाभ हुआ, इस तरहकी कल्पना सनुष्य करता है; लेकिन वास्तवमें देखा जाय तो कर्म अभ्या कुछ भी नहीं करते। प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील है। जिसकी परिणति जैसी होनेवाली है, वैसी ही होती है; उसमें परवस्तु केवल निमित्त बन जाती है।

इसलिये आत्मा ही कर्म-पुद्गलको खींचनेमें निमित्त है एवं उसका निरोध भी आत्मा ही कर सकता है।

सिद्धशिला

सिद्ध होनेका क्षेत्र कर्मभूमि ही होनेसे जम्बूदीप-लघ्नोदसनुद्र, धातकान्त्रण-कालोदसमुद्र और पुष्करार्घ्य-दीप—इन द्वार्दो दीपोंमेंसे ही जीव सिद्ध होते हैं।

सिद्धशिलाका क्षेत्र पैंतालीस लाख योजन है। मुक्त जीवोंका अमृत आकार होनेसे एक ही स्थानसे लिद्ध होने-

वाले जीव परस्परमें एकश्वेत्रावगाहरूप होकर रहते हैं। सिद्ध जीव जिस आकाश-प्रदेशसे उनकी मुक्ति होती है, उसी प्रदेश-पड़किसे सीधे ऊर्ध्वगमन कर लोकाकाशके अप्राप्यागमें स्थित सिद्धशिलापर विराजमान होते हैं।

X X X X

षट्द्रव्य

जैनतत्त्वने लोक-अलोकमें जितनी वस्तुएँ या पदार्थ मौजूद हैं, उन सबका समावेश ६ द्रव्योंमें किया है— (१) जीव, (२) पुरुष, (३) धर्म, (४) अधर्म, (५) आकाश और (६) काल। इनमें (१) जीवद्रव्य सब द्रव्योंका ज्ञाता होनेसे प्रधान माना गया है। उसका स्वभाव ज्ञान-दर्शन-उपयोगरूप है। (२) जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण—ये चार गुण पाये जाते हैं, वह 'पुरुष' है। (३) जो गतिमान् जीव और पुरुषकी गमन करनेमें सहायता करता है, वह धर्म-द्रव्य है। (४) जो स्थितिमान् जीव और पुरुषलेके स्थिर रहनेमें सहायता करता है, वह अधर्म-द्रव्य है। (५) जो समस्त द्रव्योंको ठहनेकी जगह देता है, वह आकाश-द्रव्य है। (६) जो सब द्रव्योंके परिणाममें निमित्त बनता है, वह काल-द्रव्य है।

इनमें धर्म, अधर्म और आकाश—ये तीनों द्रव्य एक-एक अखण्ड द्रव्य हैं। धर्म-अधर्म तो सम्पूर्ण लोकाकाशमें व्याप्त हैं और आकाश-द्रव्य सम्पूर्ण लोक-अलोकमें व्याप्त है। आकाश-द्रव्य अनन्त और व्यापक है। उसमेंके जितने भागमें होते द्रव्य रहते हैं, उसको लोकाकाश कहते हैं। उसके बाहर अनन्त आकाशरूप अलोक है। लोकाकाशके बाहर धर्म-अधर्मादि द्रव्य न होनेसे वहाँ जीव और पुरुष-द्रव्य नहीं जा सकते।

कर्मसे छूटा हुआ मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करके लोकाकाशके अनन्तक ही जा सकता है। उपर धर्म-द्रव्य न होनेसे अलोकमें नहीं जाता।

गुणस्थान

मोह और योगके निमित्तसे आत्माके सम्प्रकृत्य और चारित्र गुणोंकी जो अवस्थाएँ हैं, उनको गुणस्थान कहते हैं। उनके मुख्यतात्त्व १४ प्रकार हैं—(१) मिथ्यात्व, (२) सासादन, (३) मिथ, (४) अविरत-सम्प्रकृत्य, (५) देशविरत, (६) प्रमत्त-विरत, (७) अप्रमत्त विरत, (८) अपूर्वकरण, (९) अनिवृत्तिकरण, (१०)

सूक्ष्म साम्पराय, (११) उपदान्त मोह, (१२) क्षीण मोह, (१३) सयोग-केवल और (१४) अयोग-केवल।

(१) आत्मस्वरूपकी पहचान न होनेसे पर-पदार्थको अपना समझकर उसपर मोह-ममत्व करना तथा पञ्चेन्द्रिय-विषयोंको भोगनेकी अभिलाश करना—इस अवस्थाको 'मिथ्यात्व' कहते हैं। वह मिथ्यात्व ही जीवको संतारमें भ्रमण करनेमें प्रमुख कारण माना गया है। इस मिथ्यात्वके उदयसे जीवकी उपरेका करनेपर भी सत्य तत्त्वपर श्रद्धा नहीं होती और विना उपदेशके ही अपर्मार्गांकी ओर स्वयं प्रवृत्ति होती है। मिथ्याट्विके तीन प्रकार पाये जाते हैं—(क) कोई तो अनादिकालसे मोह-ज्ञालमें फैसे हुए अशानान्धकारके कारण आत्मज्ञानरूप प्रकाशसे बच्चित हैं। (ख) कोई दूसरेके उपदेशसे मिथ्यामार्गपर आस्टढ़ होकर भूतवाधावाले पुरुषकी तरह अधेच्छ चेष्टा करते हैं। और (ग) कोई यह सच है कि वह सच है, इस संशय-पादामें पड़े हुए हैं। इस प्रकार मिथ्याट्विके जीव आत्मज्ञानसे विपुल होकर निरन्तर पञ्चेन्द्रियोंके विषय भोगनेमें रत रहते हैं।

इस गुणस्थानके बाद एकदम चौथा गुणस्थान प्राप्त होता है। दूसरा और तीसरा गुणस्थान चौथिसे उत्तरते समय आते हैं।

(२) सासादन (स+आसादन)—इस नामसे ही यह प्रतीत होता है कि सम्प्रकृत्यसे आसादना—विराधना—चयुति होनेपर जयतक जीव मिथ्यात्व अवस्थाको नहीं पहुँच पाता, ऐसे बीचके परिणामको सामादन गुणस्थान कहते हैं।

(३) जिसमें मिथ्यात्व और सम्प्रकृत्यकी मिथ्र अवस्था पायी जाती है अर्थात् जिसे मिथ्या भी नहीं कह सकते और सम्प्रकृत्य भी नहीं कह सकते, ऐसे दीही और गुड़के मिथ्रणके स्वादकी तरह जो जात्यन्तररूप अवस्था प्राप्त होती है, उस परिणामको 'मिथ्र' गुणस्थान कहते हैं।

(४) अविरत-सम्प्रकृत्य—इसमें आत्मस्वरूपकी पहचान होनेमें जीव परद्रव्यमें मोह-ममत्व नहीं रखता, विषयमें इच्छावश नहीं भोगता; लेकिन उसकी जो उस ओर प्रवृत्ति दिखायी देती है, वह केवल चारित्र-मोहके तीव्र उदयवश होती है। कभी-द्रव्यवश उसे विषयोंको भोगना पड़ता है, न कि उन्हें वह भोगता है।

इसे सत् तत्त्वका स्वरूप तो वह जल्द समझता है, लेकिन चारित्र-मोहके उदयवश वह कुछ भी ल्याग-प्रण

नहीं कर सकता; इसलिये इसको अधिरत-सम्यक्त्व कहते हैं। यही जैनियोंका 'कर्मयोगी' है।

(५) जहाँ जीव स्थूल पञ्चाणीका त्याग तो कर देता है लेकिन सूक्ष्म पायोंको उपजीविका-साधन आदिके कारण नहीं होइ सकता, ऐसे आंशिक त्यागको 'देशविरत' कहते हैं। यहाँ पायोंका स्थूलतः त्याग और सूक्ष्मतः त्याग है, इस दृष्टिसे इसको 'विरताविरत' भी कहते हैं। त्यागीका वेष धारण करनेसे ही कोई त्यागी नहीं बनता, सभीचीन श्रद्धापूर्वक पायोंको हेतु समझकर त्याग करनेवाला वरी कहलाता है। इसी तरह वत पालनेमें माया-कपटाचार, मिथ्यापन-आसदाचार और निदान (ब्रतोंसे भोग भोगनेको मिलें—ऐसी आकाङ्क्षा)—ये तीन शब्द नहीं होने चाहिये। राजालोग या श्रीविष्णुलोग भी ब्रतोंका पालन कर सकते हैं। अहिंसापूर्वक भी मुद्द इत्यादिमें विरोधी-हिंसा कर सकता है। कहा है—

यः शङ्खवृत्तिः समरे रिपुः स्व-

यः कण्ठको वा निजमण्डलस्य ।

अस्त्राणि तत्रैव नृपाः शिपन्ति

न दीनकानीनशुभासमयेषु ॥

(६) प्रमत्त-विरत—इसमें पञ्चाणीका पूर्ण त्याग होता है। चाहा—धर, कपड़े आदि परिग्रहोंका और अन्तरङ्ग—कषाय, राग-देशादिकोंका त्याग कर नैसर्गिक—जन्मजात दिग्भरत्को धारणकर, शरीरको तपका साधन जानकर उसके शक्षात्तर्थ भिक्षावृत्तिसे अयाचकवृत्तिसे प्राप्तुक (निर्जनु) शुद्ध भोजन लेनेवाला, उपजीविकाके साधनभूत असि, मसि, कृपि आदि सब आत्म-कियाओंका त्याग करनेवाला, शास्त्र-स्वाध्याय, धर्मोपदेश और आत्मस्थानमें सदैव तप्तर रहनेवाला बनवासी सामु, सुनि अथवा तपस्ती प्रमत्त-विरत गुणस्थानवर्ती कहा जाता है। इसमें संयम तो होता है, लेकिन प्रमाद रहता है; आत्मस्वरूपमें जितनी साधानता होनी चाहिये उतनी नहीं होती। आदार लेना, गमनागमन करना, निदा लेना आदि प्रमाद (आत्मस्वरूपमें असाक्षात्ती) रहते हैं; इसलिये इसको प्रमत्त-विरत गुणस्थान कहते हैं।

(७) जिसमें प्रमाद नहीं रहता, आत्मस्वरूपमें परिपूर्ण साधानता रहती है, उसको 'अप्रमत्त विरत' गुणस्थान कहते हैं। इसके दो भेद हैं—(१) स्वस्थान अप्रमत्त और (२) सातिशय अप्रमत्त। स्वस्थान अप्रमत्तवाला जीव छोटेसे सातवेंमें और सातवेंसे छठेमें—इस प्रकार बार-बार चढ़ता-उतरता रहता है। लेकिन जब सातिशय अप्रमत्तवर्ती होता है, तब

वहाँसे गुणस्थानस्थ होकर नियमसे वह ऊपर ही चढ़ता है। वहाँसे ऊपर चढ़नेके दो प्रकार हैं—(१) उपशम-श्रेणी और (२) क्षपक-श्रेणी। उपशम-श्रेणीसे चढ़नेवाला जीव चारित्र-मोह कर्मका उपशम (कर्मका अनुदय होकर आत्मके पास कुछ कालतक दरकर रहना—इसके उपशम कहते हैं) करते-करते ८, ९ तथा १० गुणस्थानमें जाकर नियमसे ११ वें गुणस्थानमें ही जाता है, उसके ऊपर नहीं जा सकता; उसका रास्ता वहाँपर बन्द हो जाता है। उसको वहाँसे नियमसे फिर बापस लौटना ही पड़ता है।

और जो दूसरी क्षपक-श्रेणीसे चढ़ता है, वह चारित्र-मोहका क्षय (नाश) करते-करते ८, ९ तथा १० गुणस्थानमें चढ़कर नियमसे एकदम १२ वें गुणस्थानमें जाता है, वहाँसे फिर कभी बापिस नहीं लौटता। वह नियमसे १३ वें और १४ वें गुणस्थानमें आस्त द्वारा भोक्षको प्राप्त कर लेता है।

श्रेणी चढ़ते समय परिणामोंकी तीन अवस्थाएँ होती हैं—
(१) अधःप्रवृत्तकरण, (२) अपूर्वकरण और (३) अनिवृत्तिकरण।

सातवें सातिशय-अप्रमत्त गुणस्थानमें अधःप्रवृत्तकरण परिणाम होते हैं। वहाँ परिणामोंकी विशुद्धि न्यूनाधिक होनेसे पीछेसे चढ़नेवाले जीवोंके परिणाम आगेके जीवोंके परिणामोंके सट्टा हो सकते हैं। भिन्नसमयवर्ती जीवोंमें सट्टाता पायी जाती है।

(८) आठवें अपूर्वकरणमें अपूर्वकरणरूप परिणाम होते हैं। अधीन-परिणामोंकी विशुद्धि अपूर्व-अपूर्व ही होती जाती है। भिन्नसमयवर्ती जीवोंमें विसदृशता ही रहती है। लेकिन एक-समयवर्ती जीवोंमें सदृशता तथा विसदृशता भी पायी जाती है।

(९) अनिवृत्तिकरणमें परिणामोंकी विशुद्धि समान स्पृष्टे बढ़ती जाती है। जहाँ भिन्नसमयवर्ती जीवोंमें विसदृशता ही और एकसमयवर्ती जीवोंमें सदृशता ही पायी जाती है, उसको अनिवृत्तिकरण गुणस्थान कहते हैं।

(१०) उपशमान्तमोहमें सम्पूर्ण कषाय—चारित्रमोह कर्मका उपशम हो जानेसे आत्मपरिणामोंकी विशुद्धि तो पूर्णतया (वयाच्छायत चारित्ररूप) होती है, लेकिन वह कुछ कालतक दी रहती है। उपशमका काल पूर्ण होनेपर कर्मका नियमसे उदय होता है और उससे परिणामोंमें फिरसे अशुद्धि होकर वह नियमसे नीचेके गुणस्थानमें आता है।

यथनादि कर्मभूमिज म्लेच्छ हैं। पर्वतोंका जो अन्तभाग समुद्रमें जाता है, उसको अन्तद्वीप कहते हैं। उसपर रहनेवाले अन्तद्वीपज म्लेच्छ हैं। ये अश्वमुख, कपिमुख आदि भिज-भिज प्रकारके हैं।

(३) तिर्यकाति—इनके ५ प्रकार हैं।

(१) पृथ्वी, बनस्पति, अग्नि, वायु, जल—ये एकेन्द्रिय हैं। (२) आळी, शङ्ख आदि द्विनिद्रिय हैं। (३) चाँटी, स्टमल आदि त्रीनिद्रिय हैं। (४) मक्की, भ्रमर आदि चतुरनिद्रिय हैं। और (५) गाय, पैस आदि पञ्चनिद्रिय हैं। एकेन्द्रियसे चतुरनिद्रियतक सभी जीव असंजी (मनरहित) होते हैं और पञ्चनिद्रियोंमें कोई संज्ञी और कोई असंज्ञी होते हैं।

(४) नरकाति—पृथ्वीके नीचे सात नरक हैं। उनमें रहने वालोंके सैदै दुःख ही होता है।

X X X

२.—इन्द्रिय-भासीणा—इन्द्रियाँ पाँच हैं—(१) स्पष्टनेन्द्रिय, (२) रसनेन्द्रिय, (३) ध्वनेन्द्रिय, (४) चक्षुरनिद्रिय और (५) कार्यनिद्रिय। इनके विषय भी अलग-अलग हैं। संज्ञी जीवोंकी अपेक्षा असंज्ञी जीवोंके इन्द्रियोंका विषय क्षेत्र बड़ा रहता है। उनकी इन्द्रियों अधिक तीक्ष्ण होती हैं। संज्ञी जीवोंके कर्णेन्द्रियका क्षेत्र १२ योजन (४८ कोस) का है; स्पृशन, रसन, धारणका ९ योजन है और चक्षुका ४७२६३३८० योजन है। चक्रवर्ती राजा भरत, जब सूर्योदयान उदयाचलपर आता है तब, उसमें स्थित जिन-विभक्ता दर्शन करते थे। इसीसे सूर्यनमस्कारकी प्रथाका पता चलता है।

३.—काय-भासीणा—काय ६ प्रकारकी है—(१) पृथ्वीकाय, (२) अप्काय, (३) तेजःकाय, (४) वायुकाय, (५) चनस्पतिकाय और (६) वस्त्रकाय। पृथ्वीसे लेकर चनस्पतिकायतक सबकी उत्पत्ति अपने धौम्य स्वर्ण-संसादि गुणोंसे होती है। उनमें मांस, चर्म आदि धातु-उपधातु नहीं रहते; इसलिये उपजीविकावश इनको भक्षण करनेवाला शाकाहारी कहलाता है। ये पाँचों काय प्राणिमात्रके जीवन हैं। इनको भक्षण किये विना प्राणी जीवित नहीं रह सकता।

द्विनिद्रियसे पञ्चनिद्रियपर्यन्त जीवोंके शरीरको वरकाय कहते हैं। इनके शरीरमें मांस, चर्म आदि होनेसे उनको भक्षण करनेवाला मांसाहारी कहलाता है।

४.—गाय-भासीणा—मन-बचन-कायद्वारा आत्मप्रदेशके

परिस्पन्दको योग कहते हैं। उसके मुख्य तीन भेद हैं—(१) मनोयोग, (२) बचनयोग और (३) काययोग। मनकी प्रशुतिको मनोयोग, बचनकी प्रशुतिको बचनयोग और कायके व्यापारको काययोग कहते हैं। मनोयोगके ४ भेद हैं—(१) सत्यमनोयोग, (२) असत्यमनोयोग, (३) उमयमनोयोग और (४) अनुभयमनोयोग। इसी प्रकार बचनयोगके भी ४ भेद हैं—(१) सत्य, (२) असत्य, (३) उमय और (४) अनुभय। सत्य और असत्यका अर्थ तो सरल ही है। उमयमें सत्य और असत्यका मिश्रण रहता है। और जो न सत्यरूप है न असत्यरूप है, उसे अनुभय कहते हैं। असंक्षिप्तोंकी भावा तथा आमन्त्रण, आज्ञा, याचना इत्यादिरूप जो बचन हैं, उनमें सत्यासत्य कुछ भी न होनेसे वे सब अनुभय हैं।

काययोगके ७ भेद हैं—(१) औदारिक, (२) औदारिकमिश्र, (३) वैक्रियिक, (४) वैक्रियिकमिश्र, (५) आहारक, (६) आहारकमिश्र और (७) कार्मण। जिस अवस्थामें जो-जो शरीर रहता है, उसके निमित्तसे बहाँपर वह योग भी रहता है।

सब तिर्यक और मनुष्योंके शरीरको औदारिक शरीर कहते हैं। देव और नारकी जीवोंके वैक्रियिक शरीर होते हैं। किंहीं-किन्हीं ऋषिधारी मुनिको भी विकिया-ऋषि ग्रास ही सकती है।

आहारक शरीर-छठे गुणस्थानवतों मुनियोंमेंसे किसी-किसीको यह देह प्राप्त हो सकता है।

गुणवत्ताका, धातुरहित, एक हाथ ऊँचा, पुरुषाकार पुतला किसी-किसी मुनिके मस्तकमेंसे असंयमके परिदारके लिये, शालमें कुछ शङ्खा आ जाय, तब जिन-बन्दनाके लिये बाहर निकलता है। उस पुतलेको आहारक शरीर कहते हैं।

औदारिकादि शरीरपर जो कान्ति है, उसको तैस शरीर कहते हैं।

कर्मके पिण्ड (समूह) को कार्मण शरीर कहते हैं। तैस और कार्मण—ये दोनों शरीर सब संसारी जीवोंके होते हैं।

५.—वेदमार्णण—मैथुन-सेवनकी इच्छाको वेद कहते हैं। वेदके मुख्य दो भेद हैं—भाववेद और द्रव्यवेद। मैथुन-सेवनके परिणामको भाववेद कहते हैं। शरीरके बाले लिङ्गको द्रव्यवेद कहते हैं। इन दोनोंके भी (१) पुण्ड्र,

(२) ऋवेद और (३) नंपुसकवेद—ये ३ प्रकार हैं। प्रायः जो द्रव्यवेद रहता है, वैसा ही भाववेद भी रहता है; लेकिन कभी-कभी भिन्न भी रहता है। ऋके साथ रमणकी इच्छाको पुंवेद कहते हैं। पुरुषके साथ रमणकी इच्छाको ऋवेद कहते हैं। जो न पुरुष हैं न ऋकी, वे नंपुसक कहलाते हैं।

६—कथाय-मार्गेणा—कथाय ४ हैं—(१) कोध, (२) मान, (३) माया और (४) लोभ।

कर्मलय क्षेत्रमें जो ऐश्विक सुख दुःखरूप धान्य (बीज) कर्वण करता (बोता) है, उसको कथाय कहते हैं। वास्तवमें जीवोंको जो सुख या दुःख मिलता है, वह सब कथायका ही प्रताप है। प्रायः नरकगतिमें कोध, तिर्यक्ष्वर्गतिमें माया, मनुष्यगतिमें मान और देवगतिमें लोभ अधिकतरसे पाया जाता है।

७—ज्ञान-मार्गेणा—ज्ञानोपयोगके ७ भेद हैं—(१) मति, (२) श्रुति, (३) अवधि (ये तीनों जब सम्बन्धादिको होते हैं तो सम्बन्धज्ञान कहलाते हैं, और विद्यादिको होते हैं तो मिद्यज्ञान कहलाते हैं), (४) कुमति, (५) कुश्रुति, (६) कुअवधि, (७) मनःपर्यय और (८) केवल। (१) इन्द्रियोंतथा मनसे जो ज्ञान होता है, उसे मतिज्ञान कहते हैं।

(२) मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थके विषयमें जो विशेष ज्ञान होता है अथवा उसके सम्बन्धमें किसी अन्य पदार्थका जो ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान केवल मनका विषय है।

(३) इन्द्रियोंकी सहायता विना आत्मशक्तिसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादामें जो रूपी (पुद्गल) पदार्थको स्पष्ट जानता है, वह अवधिज्ञान है।

(४) इन्द्रियोंकी 'सहायता' विना आत्मशक्तिसे दूसरेके मनके विषयोंको जो जान लेता है, वह मनःपर्यय ज्ञान है।

(५) लोक-अलोककी समस्त वस्तुओंको उनके चिकालवर्ती पर्यायोंसहित आत्मशक्तिसे युगपत् जो जानता है, वह केवलज्ञान है।

दर्पणकी तरह समस्त वस्तुओंका प्रतिभास इस केवल-ज्ञानमें झलकता है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान समस्त छङ्गस्य अर्थात् अल्प-ज्ञानी (१ से १२ गुणस्थानतकके) जीवोंको होता है। अवधि-

ज्ञान नारकी जीवों, देवताओं और किन्हीं-किन्हीं मुनियोंको होता है। मनःपर्यय ज्ञान किन्हीं-किन्हीं मुनियोंको ही होता है और केवल ज्ञान सर्वज्ञ देवोंको (१३-१४ गुणस्थानतर्ती जीवों और लिंग परमात्माको) ही होता है।

८—संयम-मार्गेणा—क्रतधारण, समितिपालन, कपाय-निग्रह, दण्डत्याग और इन्द्रियजय—इनको संयम कहते हैं। अर्थात् (१) अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँच महावतोंका पालन करना, (२) ईर्ष्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और व्युत्सर्ग—इन पाँच लमितियोंको पालना; (३) कोध, मान, माया और लोभ—इन कपायोंका निग्रह करना; (४) मन-चक्षन-कायसे कृत, कारित एवं अनुमोदित तीनों प्रकारके दण्डका (हिंसाका) त्याग करना और (५) पञ्चेन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करना। इनका नाम संयम है।

संयमके ७ भेद और हैं—(१) सामायिक, (२) देवोपस्थापना, (३) परिहारविशुद्ध, (४) सूक्ष्मसम्पर्याप्त, (५) वयाच्यात, (६) देशसंयम और (७) असंयम।

९—दर्शनमार्गेणा—ज्ञान होनेके पूर्व वस्तुका जो सामान्य प्रतिभास होता है, उसको दर्शन कहते हैं। इसके ४ भेद हैं—(१) चक्षुदर्शन, (२) अचक्षुदर्शन, (३) अवधिदर्शन और (४) केवलदर्शन।

(१) चक्षुरनिधयसे होनेवाले मतिज्ञानसे पूर्व जो सामान्य प्रतिभास होता है, वह चक्षुदर्शन है।

(२) चक्षुके अतिरिक्त अन्य इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाले मतिज्ञानसे पूर्व जो सामान्य प्रतिभास होता है, वह अचक्षुदर्शन है।

(३) अवधिज्ञानके पूर्व जो दर्शन होता है, वह अवधिदर्शन है।

(४) केवलज्ञानके साथ-साथ जो दर्शन होता है, वह केवल-दर्शन है।

श्रुतज्ञान पूर्वक ही होता है, इसलिये उसके पूर्व अल्प दर्शन नहीं होता। तथा मनःपर्यय ज्ञान होते समय प्रथम मनमें विचार उत्पन्न होता है, पर मनःपर्ययज्ञानी आत्मशक्तिसे परकीयमनोगत विचारको जानता है; इसलिये मनःपूर्वक होनेसे इसके पूर्व भी अल्प दर्शन नहीं होता। छङ्गस्यको दर्शनपूर्वक ही ज्ञान होता है और सर्वज्ञको ज्ञान पर्व दर्शन एक साथ होते हैं।

दर्शनमें

ज्ञानमें

- (१) सामान्य प्रतिभास है। विशेष प्रतिभास है।
 (२) मिराकार है। साकार है।
 (३) निर्विकल्प है। सविकल्प है।

१.०—देह-कथायसे अनुरक्षित जो आत्मपरिणामोंकी प्रवृत्ति है, उसे लेखा कहते हैं। लेखा ६ है—(१) कृष्ण,
 (२) नील, (३) काषोत, (४) पीत, (५) पद्म और
 (६) शुक्ल। इन छः प्रकारके शरीर-चर्णको द्रव्यलेखा कहते हैं और परिणामभी संक्षेपशुल्प या विशुद्धरूप जो अवस्था है, उसको भावलेखा कहते हैं।

इन छः लेखाओंके परिणाम कैसे होते हैं, इसके लिये दृष्टान्त दिया जाता है। (१) कृष्णलेखावाला जीव फल खानेकी इच्छासे वृक्षको जड़से उखाइनेकी इच्छा रखता है। (२) नीलवाला उसे स्कन्धसे (तनेसे) काटनेकी इच्छा रखता है। (३) काषोतवाला केवल बड़ी शाखाको काटनेकी इच्छा करता है। (४) पीतवाला जिसमें फल लगे हैं, केवल उतनी ही छोटी टहनीको काटनेकी इच्छा करता है। (५) पश्चलेखावाला केवल फलको तोड़कर खानेकी इच्छा करता है। और (६) शुक्ल लेखावाला केवल नीचे पढ़े हुए फलोंको खानेकी इच्छा करता है। इस प्रकार परिणामोंमें कथायकी मन्दता अधिकाधिक होनेसे विशुद्धि अधिकाधिक बढ़ती है। कौन-कौन-सी लेखावालोंको कैसे-कैसे परिणाम होते हैं, इसका भी साधारण अनुमान किया जा सकता है।

- (१) तीव्रकौशी, वैर न छोड़नेवाला, लड़ने-शरणहोनेवाला, निर्दय एवं धर्मदीपी—ये कृष्णलेखाके चिह्न हैं।
 (२) मन्द, बुद्धिहीन, विषयक्तेभूष, मानी, मायावी, अलक्षी, दूषरोंको फँसानेमें कुशल एवं तीव्रोभी—ये नील-लेखाके लक्षण हैं।
 (३) दूसरेकी निन्दा करनेवाला, शोक करनेवाला, भय रखनेवाला, दूसरोंका तिरस्कार और अपनी प्रशंसा करनेवाला तथा कार्य-अकार्यको न जाननेवाला, काषोत-लेखावाला होता है।
 (४) कार्यकार्यको और सेव्य-असेव्यको जाननेवाला, समताभाव रखनेवाला, दयावान, दानी और विनयवान—ये सब पीतलेखाके चिह्न हैं।

(५) त्वारी, भद्र, क्षमाशील, साधुओंकी पूजा-भक्ति करनेवाला पश्चलेखावाला कहलाता है।

(६) पश्चातशून्य, भोगकी आकाङ्क्षा न रखनेवाला तथा राग-द्वैपसे शून्य पुरुष शुक्लेश्याधारी होता है।

इनमें कृष्ण, नील और काषोत—ये तीन अज्ञुभ और शेष तीन शुभ हैं। जीवकी भली-बुरी अवस्था होनेमें प्रमुख कारण लेखा ही है। जैसी-जैसी लेखा होती है, वैसी-वैसी ही किया जीव करता है। शुभ लेखा ही जीवको उत्तम बनाती है।

१.१—भवत्त-मर्मणा—जीव दो प्रकारके हैं—(१) भव्य तथा (२) अभव्य। जिसमें अन्तिम साध्य मोक्षको सिद्ध करनेकी योग्यता है, वह भव्य और जिसमें वह योग्यता नहीं है, वह अभव्य कहलाता है। जीवोंकी ये दोनों राशियाँ निसर्जित हैं और नियत हैं। भव्य कभी अभव्य नहीं होता और अभव्य कभी भव्य नहीं होता।

भव्य जीवोंके भी दो प्रकार हैं—(१) भव्य तथा (२) अभव्यसम भव्य। जिनको कभी-न-कभी मुक्ति अवश्य प्राप्त होती, वे भव्य हैं। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी भव्य हैं, जिनमें भवत्त होनेमें योग्यता तो जरूर है परन्तु वैसा निमित्त ही न मिलनेसे वे कभी मुक्तिको नहीं प्राप्त करते, सदा-सर्वदा अभव्यकी तरह संसारहीमे रहते हैं। उन्हें अभव्यसम भव्य कहते हैं।

१.२—सम्प्रकृत-मर्मणा—सात तत्त्वोंका जैसा स्वरूप है, वैसा ही समझना अर्थात् आत्माकी आत्मा और परद्रव्यको पर समझना—इसीकी सम्पर्गदर्शन कहते हैं। इसीको आत्मज्ञान या योदेविज्ञान कहते हैं। यह जिसको प्राप्त हो गया, उसकी प्रवृत्ति सदृश ही परद्रव्यसे हटकर आत्माकी ओर मुड़ जाती है। इसलिये सम्प्रकृत ही सिद्धिका पहला प्रमुख साधन माना गया है।

१.३—संस्तित-मर्मणा—संसारी जीव दो प्रकारके होते हैं—(१) संजी और (२) असंजी। हिताहितका विचार करनेवाली और परोपदेशको ग्रहण करनेवाली मनःशक्तिको संज्ञा कहते हैं। वह संज्ञा जिसको है, वह संजी है और जिसको नहीं, वह असंजी है। मनसहित जीवोंको संजी और मनसहित जीवोंको असंजी कहते हैं। एकेन्द्रिय, द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुर्विन्द्रिय—ये सब असंजी ही हैं। पञ्चेन्द्रिय तिर्यक्षोंमें कुछ असंजी और कुछ संजी होते हैं। मनुष्य, देव, नारकी—ये सब उंची ही हैं।

१५—आहार-मार्गण—यद्यपि लोकमाणामें आहारका अर्थ भोजन है, तथापि जैनपरिप्राप्तमें आहारका अर्थ कर्म और नोकर्मका ग्रहण करना है। जबतक संसार है, तबतक कर्मका ग्रहण तो सदैव रहता है; इसलिये यहाँपर उसकी विवशा न रखकर केवल नोकर्म (शरीर, इन्द्रिय आदि) के लिये जो परमाणुओंका ग्रहण होता है, उसकी विवशासे आहार-मार्गणाद्वारा जीवका निरूपण किया गया है। इस नोकर्माहारकी अपेक्षासे कोई जीव आहारक और कोई अनाहारक होते हैं।

विग्रहगतिमें (एक शरीरको छोड़कर दूसरा शरीर भारण करनेके लिये गमनरूप अवस्थाको विग्रहाति कहते हैं) रहनेवाले, केवल समुद्रधात करनेवाले केवली, अयोग-केवली और सिद्ध परमात्मा—ये सब अनाहारक हैं; दोष सब आहारक हैं।

आठ कर्मोंका विवरण

आठ कर्मोंका स्वरूप यही लिखा गया है। उनमें (१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) मोहनीय, (४) अन्तराय—ये चार घातीय कर्म तथा (१) वेदीय, (२) आयु, (३) नाम और (४) गोत्र—ये चार अघातीय कर्म हैं। घातीय कर्म जीवके ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य—इन चार गुणोंका घात करते हैं; किन्तु अघातीय कर्म आत्मगुणोंका साक्षात् घात नहीं करते, केवल आत्माको संसारके अन्धनमें रखनेके लिये कारण बनते हैं। इसलिये ?३ वें गुणस्थानमें ही केवली भगवान्के चार घातीय कर्मोंका नाम हो जानेसे उनमें गुणोंका पूर्ण विकास हो जाता है। सिद्ध और अरिहंतमें गुणोंके विकासकी दृष्टिसे कुछ भी अन्तर नहीं है।

जीवकी नानाविधि सांसारिक सुख-दुःखरूप अवस्थाका कारण ईश्वरादी ईश्वरको मानते हैं, किन्तु जैनतत्त्व कर्मको ही उसका कारण मानता है। अपने-अपने पूर्वोपार्जित कर्मके उदयसे ही जीव सुख-दुःख भोगता है और उसीको ध्यान-तपद्वारा ध्यय करके उनसे मुक्ति पाना भी आत्माके हाथमें है।

जीव और अजीव-तत्त्वके ही आधारपर आश्रवादि तत्त्व माने गये हैं।

आश्रव-जीवके पास कर्मके आनेको आश्रव कहते हैं। आश्रवके दो भेद हैं—(१) भावाश्रव और (२) द्रव्याश्रव।

आत्माके जिन परिणामोंसे कर्म आते हैं, उन परिणामोंको भावाश्रव कहते हैं। भावाश्रवके ५ प्रकार हैं—(१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कपाय और (५) योग। १ले गुणस्थानमें मिथ्यात्वादि पाँच ही परिणामोंसे कर्मका आश्रव होता है, आगे मिथ्यात्व नहीं रहता। २ से ४ गुणस्थानमें अविरति आदि ४ प्रकारके परिणामोंसे कर्माश्रव होता है; आगे मिथ्यात्व, अविरति—ये दो नहीं रहते।

५-६ गुणस्थानमें प्रमाद आदि ३ प्रकारके परिणामोंसे कर्माश्रव होता है। इसके आगे प्रमाद भी नहीं रहता।

७से १० गुणस्थानतक कथाय और योगसे ही कर्माश्रव होता है। इसके आगे कथायका भी अभाव होता है।

११से १३तक केवल योग ही कर्माश्रवका कारण होता है।

१४ वें गुणस्थानमें आश्रवका कुछ भी कारण नहीं रहता। वहाँ केवल पूर्वबद्ध कर्मकी निर्जरा करना ही शेष रहता है।

भावाश्रव मुख्य कारण है, और द्रव्याश्रव उसका कार्य है। भावाश्रव होनेपर ही द्रव्याश्रव होता है, अन्यथा नहीं।

आत्माकी ओर कर्मकी आगमनरूप क्रियाको द्रव्याश्रव कहते हैं। कर्मरूप होनेवोयं कामण्डवर्णण जो आत्माके पास अटी है, वह तो आनेके समय सामान्यरूप (एकलरूप ही) होती है; लेकिन आत्मासे बद्ध होनेके बाद पूर्वस्थित ज्ञानावरणादिरूप ७ प्रकारोंमें उसका यथासम्भव बटवारा हो जाता है। इसलिये द्रव्याश्रवके ज्ञानावरणादिरूप ८ प्रकार कहे गये हैं।

बन्ध-कर्मका आश्रव होनेके बाद ही बन्ध होता है। आश्रवको बन्धका कारण और बन्धको आश्रवका कार्य माना गया है। इसके भी दो भेद हैं—(१) भावबन्ध और (२) द्रव्यबन्ध। जिन परिणामोंसे कर्म और आत्माका बन्ध होता है, उसको भावबन्ध कहते हैं। ये दो ही परिणाम होते हैं जोकि भावाश्रवमें होते हैं। कर्मपरमाणु और आत्मप्रदेशका एकशेषावगाहरूप जो अन्योन्य प्रवेश है, उसको द्रव्यबन्ध कहते हैं।

बन्धका धर्णन ४ प्रकारसे किया गया है—

(१) प्रकृतिबन्ध, (२) प्रदेशबन्ध (३) स्थितिबन्ध और (४) अनुभागबन्ध—

- (१) पाँथे गये कर्मका कथा-कथा स्वभाव है, यह प्रकृतिवन्ध बतलाता है।
- (२) पाँथे गये कर्म कितने आये, इसके निर्णयको प्रदेशवन्ध कहते हैं।
- (३) कर्म आत्माके पास कितने कालतक रहेगा, इसके निर्णयको स्थितिवन्ध कहते हैं।
- (४) कर्मका पल कथा मिलेगा, यह अनुभागवन्धसे छात होता है।

आत्माके योगस्य परिणाममें जैसा तीव्र-मन्द परिस्पन्दन होता है, वैसा ही तीव्र या मन्द कर्मका स्वभाव और संज्ञा होती है और आत्माके कामय-परिणाममें जैसी तीव्र-मन्दता होती है, उसी मात्रामें कर्मकी स्थिति और कल तीव्र या मन्द होती है।

कर्मका आत्माके साथ बन्ध होता है, इसका अर्थ यह नहीं कि आत्मा कर्मरूप (जड़) बन जाता है। द्रव्यमें अगुरुलघु नामकी एक ऐसी शक्ति है, जिससे एक द्रव्य दूसरा द्रव्य कभी नहीं बनता। जीव जीवत्व अवस्थामें ही और पुद्गल जड़त्व अवस्थामें ही रहता है। लेकिन इनमें ऐसी एक वैभाविक नामकी शक्ति है, जिससे ये दोनों अनादि कालसे अन्योन्यसमृक् होनेके कारण विभावरूप अवस्थामें पड़े हैं। इनकी यह विभाव-अवस्था अनादि कालसे कनक-पाण्याणकी तरह है। पुद्गलकी विभावरूप अवस्था (कर्म) के निमित्तसे जीवमें विभाव-परिणाम होता है और जीवके विभाव-परिणामोंके निमित्तसे पुद्गल कर्मरूप (विभाव-अवस्थरूप) बनते हैं। ऐसा इनका संयोग-सम्बन्ध अनादि कालसे है। ये पहले दो अलग-अलग शुद्ध द्रव्य थे, फिर इनका संयोग हुआ—ऐसी बात नहीं है। कनक-पाण्याणमें शुद्ध सुरुचिं और पाण्याणल्का संयोग नहीं हुआ है, यह अनादिकालसे कनक-पाण्याणरूप ही है; लेकिन उसमें विभिन्नता (द्वंद्विष्य) की जा सकती है। इसी तरह आत्मा ही आत्माके द्वारा कर्मको ढूर कर सकता है।

इस प्रकार कर्म और आत्माका एकझेज़ावगाहरूप जो सम्बन्ध है, उसको बन्ध कहते हैं।

संवर-कर्मके आनेको रोकने अर्थात् कर्मको न आने देनेका नाम संवर है। इसके दो भेद हैं—(१) भाव-संवर और (२) द्रव्य-संवर। आत्माके जिन परिणामोंसे कर्मका आना बंद हो जाता है, उसको भाव-संवर कहते हैं और कर्मके न आनेको अर्थात् द्रव्याश्रवके नियोधके द्रव्य-संवर कहते हैं।

जिन परिणामोंसे कर्मका आना बंद होता है, उनके सात विभाग किये गये हैं—(१) ब्रत, (२) समिति, (३) गुरुसि, (४) धर्म, (५) अनुप्रेष्ठा, (६) परीषहजय और (७) चारित्र।

१-हिंसा, असत्य (शूट), चोरी, मैथुन और परिग्रह (ममत्व)।—इन पञ्च पार्षोंके त्यागको ब्रत कहते हैं। आंशिक त्यागको अगुवत और पूर्ण त्यागको मद्भावत कहते हैं। पाँच प्रकारके पार्षोंकी अपेक्षासे ब्रतोंके भी (१) अहिंसावत, (२) सत्यवत, (३) अचौर्यवत, (४) ब्रह्मवत और (५) परिग्रहत्यागवत—इस प्रकार ५ भेद किये गये हैं।

२-समितिके पाँच भेद हैं—(१) ईर्ष्या, (२) भागा, (३) एषणा, (४) आदान-नियेषण और (५) व्युत्सर्पा।

(१) जीव-जन्म देखकर गमन करनेको ईर्ष्या-समिति कहते हैं।

(२) सत्य, प्रिय, हित और मित वचनको भागा-समिति कहते हैं।

(३) प्रासुक (निर्जन्म) शुद्ध आहारको एषणा-समिति कहते हैं।

(४) जीव-जन्म देखकर कोई भी चीज उठाना या रखना—इसे आदान-नियेषण-समिति कहते हैं।

और (५) जीव-जन्म देखकर मल-मूत्र-विमर्जन करना व्युत्सर्प-समिति है।

३-गुरु-गुरुसि के तीन भेद हैं—(१) मनोगुरुसि, (२) वचनगुरुसि और (३) कायगुरुसि। मनकी कियाको रोकना मनोगुरुसि है, वचनकी कियाको रोकना वचनगुरुसि और कायकी (शरीरकी) कियाको रोकना कायगुरुसि है।

४-कर्म-धर्म कहते हैं स्वभावको। क्षमादि आत्माके स्वभाव हैं और क्षोधादि आत्माके विभाव-परिणाम हैं। धर्मके दस भेद हैं—(१) क्षमा—क्षोधका अभाव, (२) मार्दव—मानका अभाव, (३) आज्ञा—मायाका अभाव, (४) शौच—लोभका अभाव, (५) सत्य—शूट न बोलना, (६) संयम—इन्द्रियोंको अपने कानूनमें (स्वाधीन) रखना, (७) तप—कष्ट सहन करना, (८) त्याग—स्वार्थबुद्धि न रखना, (९) आकिञ्चन्य—परायी वस्तुपर ममत्व न रखना और (१०) ब्रह्मचर्य—कामदेवपर विजय प्राप्त कर आत्मामें लीन रहना। ये ही आत्माके स्वभाव हैं इनसे अत्मा उत्तम होता है।

५—अनुप्रेक्षा—युनः-पुनः: चिन्तनको अनुप्रेक्षा या भावना कहते हैं। इनसे मनके संस्कार ब्रह्मादिमें ढढ़ होते हैं। अनुप्रेक्षाके बारह भेद हैं—

(१) अनित्यानुप्रेक्षा—संसार अनित्य है। विषय, राज्य, धन, जीवन—ये सब चक्षल हैं, नश्वर हैं। इस प्रकारके विचारोंसे इनके प्रति मोह कम होता है।

(२) अशरणानुप्रेक्षा—मरणसे कोई भी रक्षा नहीं कर सकता, धर्म ही शरण्यभूत है—ऐसी भावना करनी चाहिये।

(३) संसारानुप्रेक्षा—इस संसारमें यह जीव चौरासी लाख योनियोंमें नटकी तरह नाना वेप (जन्म) धारण करता हुआ भटकता है—इस तरह विचार करना।

(४) एकत्वानुप्रेक्षा—अपने-अपने कर्मका फल अपनेको ही भोगना पड़ता है और मरनेके बाद अकेले ही जाना पड़ता है, कोई भी साथी नहीं होता—ऐसा विचार करना।

(५) अन्यत्यानुप्रेक्षा—जिनको तू अपना समझता है, ये सब करक कान्ता-शरीर आदि पराये हैं—ऐसा विचार करना।

(६) अशुचित्वानुप्रेक्षा—यह शरीर रक्त, मांस, हड्डी आदि अपवित्र वस्तुओंकी खाना है—ऐसा विचारकर देहपर ममत्व न रखना।

(७) अश्रवानुप्रेक्षा—मिथ्यात्व, अविरति, कपाय आदि परिणामोंसे कर्म आत्माके पास आते हैं और उन्हींके कारण आत्मा इस संसारमें भटकता है—इसलिये इनसे निवृत्त होना।

(८) संक्षमानुप्रेक्षा—ब्रह्म, समिति आदि परिणामोंसे कर्म आत्माके पास नहीं आते—इसलिये इनमें सदैव प्रदृष्टि रखना।

(९) निर्जरानुप्रेक्षा—तपके प्रभावसे कर्म विना फल दिये ही निकल जाते हैं—इसलिये तप, ध्यान आदिमें लीन रहना।

(१०) लोकानुप्रेक्षा—नरकगतिकी रचना ही ऐसी है कि जिससे दुःख होता है। मध्यलोककी रचना और ऊर्ध्वलोककी रचनारूप लोकके आकारको लक्ष्यमें लाकर इनसे मैं कब मुक्त होऊँ—ऐसा विचार करना।

(११) ब्रह्मिदुर्लभ—इस संसारमें जीवने ऐन्द्रिय सुख तथा ऐश्वर्य तो अनेक गावोंसे प्राप्त किया, लेकिन जोधि अर्थात् सम्यक् शानकी प्राप्ति नहीं हुई, अथ यह दुर्लभ जोधि प्राप्त करके सुखे अपना आत्मकल्याण करना चाहिये—ऐसी भावना करना।

(१२) धर्मानुप्रेक्षा—धर्मके स्वरूपका विचार कर धर्ममें लीन होना।

ये बारह भावनाएँ संबेग (संसारसे और वापसे भीति) और वैराग्य (संसार और भोगसे निवृत्ति) होनेके लिये करनी चाहिये।

६—परीपह-जय—दुःख सहन करनेको परीपह-जय कहते हैं। परीपह २२ प्रकारके हैं—(१) कुधा, (२) तृपा, (३) शीत, (४) उणा, (५) दंडा-मशक, (६) नाम्य, (७) अरति, (८) छी, (९) चर्या, (१०) निपद्या, (११) शाय्या, (१२) आक्रोश, (१३) वध, (१४) याचना, (१५) अलाभ, (१६) रोग, (१७) तुणस्यां, (१८) मल, (१९) सल्कार-तुरस्कार, (२०) प्रज्ञा, (२१) अज्ञान और (२२) अदर्शन।

ध्यान-सामाधिक-तप करते समय दैविक, मानुषिक, तैर्यज्ञिक—जो भी उपर्युक्त और ऊपरके परीपह आदें, उनसे न डरना; उनको शान्तिसे सहन करके आमध्यानसे चुत न होना—इसीका नाम परीपह-जय है। इससे मनका बल बढ़ता है।

७—वारित्र-चारित्रके ५ भेद हैं—

(१) सामाधिक—सब जीवोंपर समताभाव रखकर आत्म-ध्यानमें लीन होना।

(२) उदांपस्यापना—व्रतोंमें दोष या भङ्ग हो तो प्राय-श्वासादि लेकर उसमें फिरसे स्थिर रहना।

(३) परिहार-विशुद्धि—कपायकी मन्दतासे परिणामोंकी ऐसी विशुद्धि होती है कि जिसमें विहार करते समय प्राणियोंको बाधा न पहुँचे। इस प्रकारकी शृद्धिकी प्राप्ति ही परिहार-विशुद्धि है।

(४) सूक्ष्म साम्पराय-कैवल सूक्ष्म लोभरूप कपाय वाकी रहनेसे परिणामोंकी विशेष शुद्धता होती है। इसीको सूक्ष्म-साम्पराय कहते हैं।

(५) यथास्वयत्त-कशायोंका पूर्ण अभाव होनेसे आत्माकी स्वामाधिक अवस्था प्राप्त होती है। इसीका नाम यथास्वयत्त है। इन सब परिणामोंसे कर्मका आगा बंद हो जाता है।

निर्जरा-कर्मकी स्थिति पूर्ण होनेके बाद कर्मके धनैःशनैः आत्मासे पृथक् होनेको निर्जरा कहते हैं। उसके दो भेद हैं—(१) भाव-निर्जरा और (२) द्रव्य-निर्जरा।

जिन आत्माके परिणामोंसे कर्म निकल जाता है; उनको भाव-निर्जरा और कर्मके निकलनेको द्रव्य-निर्जरा कहते हैं। कर्मका निकलना दो प्रकारसे होता है—(१) सविषाक और (२) अविषाक। कर्मकी स्थिति जब पूर्ण हो जाती है, तब वह आत्माको फल देकर निकल जाता है। आत्मपरिणामोंको विमावरूप करना ही कर्मका उदय-फल है। इस विमाव-परिणामसे फिर कर्मका अभाव होता है। यही सविषाक द्रव्य-निर्जरा है। तपके प्रभावसे फल न देकर जो कर्मोंका निकल जाना है, उसको अविषाक निर्जरा कहते हैं।

X X X

मोक्ष-आत्मासे कर्मके पूर्णतया पृथक् होनेका नाम ही मोक्ष है। मोक्षके दो भेद हैं—(१) भावमोक्ष और (२) द्रव्यमोक्ष। आत्माके जिन परिणामोंसे कर्म पृथक् होता है, उनको भावमोक्ष कहते हैं और कर्मके पृथक् होनेको द्रव्य-मोक्ष कहते हैं।

धारीय कर्मोंका पूर्णतः क्षय होनेसे आत्माके सब गुण विकसित हो जाते हैं, इसलिये उसको भावमोक्ष भी कह सकते हैं। क्योंकि भावमोक्ष होनेके बाद द्रव्यमोक्ष अवश्यम्भावी होता है। आशु-कर्मकी स्थिति जबतक रहती है, तभीतक अश्रातीय कर्मोंका अस्तित्व रहता है। ये अश्रातीय कर्म आत्माके गुणोंका साक्षात् धार (आवरण) करनेवाले न होनेसे धारीय कर्मोंके नष्ट होनेके बाद इन अश्रातीय कर्मोंका रहना न रहनेके बराबर ही है।

इस प्रकार कर्मसे मुक्त हुआ आत्मा कर्मका फिर आश्रादि होनेका कुछ भी निमित्त न होनेसे कर्मोंसे सदैव अलिप्त रहता है। वह अपने परमात्मस्वरूपमें सदैव लीन रहता है।

तपस्या, श्रुत तथा व्रतोंका विवरण

‘तपसुश्वदवं चेदा प्राणरहुरुंथरो हवे’

—तप, श्रुत और व्रतका पालन करनेवाला आत्मा ही ध्यानरूपी रथर आरुद् हो सकता है। ध्यानसे ही जीवका अनित्म साध्य मोक्ष प्राप्त होता है; इसलिये मोक्षका साधन ध्यान और ध्यानके साधन तप, श्रुत, व्रत हैं।

(१) अनशन, (२) अवमौद्दर्श, (३) वृच्छिपरिसंहेयन, (४) रसपरित्याग, (५) विवितशाश्वासन और (६) कायङ्केश—ये छ: बाष्प तप हैं। और (१) प्रायश्चित्त, (२) विलय, (३) वैयाकृत्य, (४) स्वाध्याय,

(५) व्युत्सर्ग और (६) ध्यान—ये छ: अन्तरङ्ग तप हैं। केवल शरीरको कुश करना ही तपका मुख्य हेतु नहीं है; राग, द्वेष और मोक्षोंका कम करना ही उसका प्रमुख हेतु है।

श्रुत कहते हैं शास्त्रोंके स्वाध्यायको। शानीका ही तप सफल होता है। अशानपूर्वक तप सब्दा तप नहीं कहलाता।

व्रत नाम है संयमका। इन्द्रियोंके विषयमें वयच्छ प्रवृत्तिको अव्रत कहते हैं और इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करना ही व्रत या संयम है।

मन्त्र-जपके प्रकार

ध्यान करते समय ध्येयका जो नामोच्चार किया जाता है, उसको मन्त्रजप कहते हैं। आत्माका ध्येय तो एक परमात्मा ही है। उस लक्ष्यविनिदुको सामने रखकर नाम-जप करनेमें कोई आपत्ति नहीं है। परमात्मासे अनन्त गुण होनेसे उन गुणोंके चिन्तनरूप मन्त्रजपके भी अनेक प्रकार ही सकते हैं। जगत्मैं मङ्गलरूप, लोकोत्तम और दशरथभूत पञ्चपरमेष्ठी ही होनेसे पञ्चगमेकार मन्त्र ही मन्त्र-जपका मुख्य प्रकार है।

जग्मो अरिहंताण, जग्मो सिद्धाण, जग्मो आद्विरियाण, ‘जग्मो उक्तज्यायाण, जग्मो लोपु सञ्चसाहृण’

—यह (३५ अठारका) पञ्चगमेकार महामन्त्र है। इस मन्त्र-जपसे जीवके सब दुःख-पाप दूर होते हैं और आत्मा परमात्मा ही जाता है। इसी मन्त्रको संक्षिप्त करनेसे छ: अक्षरका ‘अरिहंत सिद्ध’, पॉच अक्षरोंका अ-मि-आ-उ-सा, चार अक्षरोंका ‘अरिहंत’; दो अक्षरोंका ‘सिद्ध’ और एकाक्षरी मन्त्र ‘ॐ’ इत्यादि अनेक प्रकार बन सकते हैं।

ध्यान-ध्यानका सब्द ध्येय तो परमात्मा ही है; लेकिन जबतक अस्तमदर्शन नहीं होता, तबतक मनको एकाग्र करनेके लिये पञ्चपरमेष्ठियोंका आदर्श रखना चाहिये। पञ्चपरमेष्ठी ये हैं—

(१) अहंत परमेष्ठी—जिसने चार शारीय कर्मोंका नाश कर दिया है, और इससे जिसको अनन्त शान, दर्शन, मुख और वीर्य—ये अनन्तचतुर्दश्य प्राप्त हुए हैं, परम औदारिक शरीरमें रहनेवाला वह शुद्ध परमात्मा अहंत कहलाता है।

(२) सिद्ध परमेष्ठी—जिसने आठों कर्मोंका और शरीरादि नोकर्मका पूर्णतया नाश कर दिया है, जो लोकाकाशके अग्रभागमें सिद्धशिलापर विराजमान है, जिसने अपना अनित्म साध्य प्राप्त कर लिया है, ऐसा परमात्मा सिद्ध परमेष्ठी कहलाता है।

(३) आचार्य-शान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य—
इन पाँच आचारोंमें जो अपनेको और इतर मुनियोंको लीन करते हैं, जो मुनिकुलोंके गुरु हैं और उनको प्रायश्चित्तादि दण्ड देनेका जिनको अधिकार है, उनको आचार्य कहते हैं।

(४) उपाध्याय—जो ऋत्रव्रयमें लीन होकर सदैव धर्मोपदेश देनेमें तत्पर रहते हैं, ऐसे विशेष प्रतिभासम्पन्न मुनियोंको उपाध्याय कहते हैं।

(५) साधु परमेशी—जो अपना आत्महित साधता है, उसको साधु कहते हैं। आरम्भ-परिग्रहसे रहित होकर, सदैव आत्मध्यान और शास्त्र-स्वाध्यायमें लीन होकर मोक्षमार्गका जो साधन करता है, वह साधु है।

परमध्यान—उपर्युक्त प्रकारसे पञ्चपरमेशीका ध्यान करते-करते जो आत्मध्यानमें लीन हो जाता है, जहाँ मैं ध्याता हूँ, और यह मेरा ध्येय है ऐसा भेद न रहकर निर्विकल्प समर्पित प्राप्त होती है, जब मन-बन्धन-कायकी सब नेत्राएँ शंद होकर आत्मा आत्मरूपमें लीन हो जाता है, तब उसको मुङ्ग आत्मध्यान या परमध्यान कहते हैं।

शुक्लध्यान—शुक्लध्यानके चार भेद हैं—

(६) पृथक्त्ववित्तविच्छान—

विशेष तर्काणोंको वित्तके और अर्थ (ध्येय पदार्थ), व्यङ्गन (ध्यानके मन्त्रजपके बाब्द) तथा योग (मन-बन्धन-काययोग)—इनकी संकान्ति (पलटने) को विचार कहते हैं। जिसमें गुण, पर्याय, द्रव्य—ऐसे भिन्न-भिन्न अर्थोंका ध्यान होता है, उसको पृथक्त्ववित्तविच्छान कहते हैं। यहाँ तीनों योग रहते हैं। यह ध्यान ८, ९, १०, ११—इन चार गुणस्थानोंमें होता है।

(७) एकत्ववित्तके—

द्रव्य, गुण और पर्याय—इनमेंसे किसी एकका जहाँपर ध्यान होता है और जहाँ तीनों योगोंमेंसे किसी एक योगद्वारा आत्मप्रदेश-परिस्पन्दन होता है, उसको एकत्ववित्तक कहते हैं। यहाँ विचार (अर्थ-व्यङ्गन-योगकी संकान्ति) नहीं रहता। यह ध्यान बारहवें गुणस्थानमें होता है।

(८) सूक्ष्मकियान-प्रतिपाति—

जिसमें पादका विहार (पैरोंसे गमन) न होकर पद्धासन या खड़ासनसे विहार होता है, उस शरीरकियाको सूक्ष्मकिया कहते हैं। उसका प्रतिपात (विनाश) नहीं

सा० अ० ८४—

होता। ऐसा केवल सूक्ष्मकाययोग ही जहाँ रहता है, जहाँ वित्तके विचारादि सब विकल्पोंका अभाव होकर शुद्ध परमध्यानकी प्राप्ति होती है, वह सूक्ष्मकिया-प्रतिपातिनामक तीसरा शुक्लध्यान है। यह १३वें गुणस्थानमें होता है।

(९) व्युपरतक्रियानिवर्ति—

योगका पूर्ण अभाव होनेसे जो आत्मस्थिरता और विद्युदि होती है, जिसमें विहाररूप सूक्ष्म किया भी बदल हो जाती है, उसको व्युपरतक्रियानिवर्तिनामक चौथा शुक्लध्यान कहते हैं। यह ध्यान अयोगी परमात्मा—१४ वें गुणस्थानवालेको होता है।

पञ्चमहाकरत्याणिक—

देवदिवारा जो उत्सव मनाया जाता है, उसको कल्याणिक कहते हैं। तीर्थङ्कर भगवान्‌के गर्भमें आनेसे लेकर मोक्षपदमें जानेतक अर्थात् उनके गर्भ, जन्म, तप, केवल, भोग—इन पाँच प्रकारोंको लेकर उत्सव मनाया जाता है। इस प्रकार कल्याणिकके ५ भेद माने गये हैं—

(१) गर्भकल्याणिक—

तीर्थङ्कर भगवान्‌के गर्भमें आनेसे लः मास पूर्व इन्द्र कुरेको नीचे भेजते हैं। वह उः महीनेतक रोज रत्नवृष्टि करता है, तथा तीर्थङ्करके माता-पिताकी यथायोग्य सेवा करता है। माताको १६ स्वम दीख पड़ते हैं—जिनमें वह क्रमशः (१) हाथी, (२) बैल, (३) लिंग, (४) स्त्रान करनेवाली लक्ष्मी, (५) पुष्पमाला, (६) पूर्णिमाका चन्द्र, (७) सूर्य, (८) दो सुवर्णकलश, (९) दो मत्स्य, (१०) सरोवरके कमल, (११) समुद्र, (१२) सिंहासन, (१३) देव-विमान, (१४) नागन्दम्भवन, (१५) रजराशि और (१६) अभिशिवा-को देखती है। इनका फल तीर्थङ्करके पिता यह बतलाते हैं कि तुम्हारे गर्भमें त्रैलोक्यमूलण ऐसा भव्य तुल्य आनेवाला है, जिसका यथा सुनकर सबको आनन्द होगा।

(२) जन्मकल्याणिक—

तीर्थङ्करका जन्म होते ही विभुवनमें सब जीवोंको सुख मालूम होता है। इन्द्रादि देव तीर्थङ्कर भगवान्‌को मेष-पर्वतपर ले जाकर वहाँ उनका जन्मगमित्रक-महोत्सव करते हैं और कुबेरादि देव शालकुमार होकर तीर्थङ्करकी सेवामें तत्पर रहते हैं। तीर्थङ्करको जन्मसे ही (१) मतिशान, (२) श्रुतशान और (३) अधिशान—ये तीनों शान रहते हैं।

(३) तपकल्याणिक—

तदण अवस्थामें शावकवतका ग्रहण कर यथायोग्य राज्यादिका भौग भोगकर संसारसे उदासीन होकर जिन-दीक्षा ग्रहण करते हैं। असरम्भ और परिग्रहका त्यागकर मुनिके २८ मूलगुण धारण करते हैं। पञ्चमुष्टिकेशलोच करते हैं और उग्रज्ञानहस्प तप करते हैं।

(४) केवलकल्याणिक—

तप करते-करते जब चार शालीय कर्मोंका नाश हो जाता है, तब भगवान्को केवलशानकी प्राप्ति होती है। इन्द्र समवर्तणकी रचना करता है, जिसमें बारह प्रकारकी सभा बैठती है। उन सभाको भगवान् दिव्य ध्वनिद्वारा उपदेश करते हैं। भगवान्का विहार भव्य जीवोंकी पुण्य-वर्गान् वद्य होता है।

(५) मोक्षकल्याणिक—

जब आठों कर्मोंका नाश होकर उनका शरीर कपूरकी तरह विल्यको प्राप्त हो जाता (उड़ जाता) है, नव और केशमात्र शेष रहते हैं, तब देव उनसे मायामय शरीर निर्माण-कर उसका हवन करते हैं और उस भूमिको पवित्र समझते हैं।

जीवन-सिद्धिका मार्ग

(लेखक—श्री जयभगवानजी जैन, शी० ८०, दल-पल० बी०)

जीवनकी विकटता

जीवन सुनहरे प्रभातके साथ उठता है। असुण सूर्यके साथ उभरता है। उसके तेजके साथ स्विलिलाता है। उसकी गतिके साथ दौड़ता-भागता है। उसकी सन्ध्याकी छायाके साथ लंगा होता है और उसकी अस्तव्यस्ताके साथ निःचेष्ट हो सो जाता है।

मुबह होती है, जाम होती है।

अथ याँ ही तमाम होती है॥

तो क्या श्रम और विश्राम ही जीवन है? काम और अर्थ ही उद्देश्य है! साँझ-सवेरवाला ही लोक है।

यदि यों ही श्रम और विश्रामका सिलसिला जारी रहता, यदि यों ही काम और अर्थका रंग जमा रहता तो क्या ही अच्छा था! जीवन और जगन् कभी प्रश्नके विषय न बनते। परन्तु जीवन इतनी सीधी-सादी चीज़ नहीं। माना कि इसमें

महापुरुषोंके सम्बन्धसे भूमि और काल भी पवित्र माने जाते हैं। जिस क्षेत्रपर उनके गर्भ, जन्म, मोक्ष आदि होते हैं, वह भूमि पवित्र मानी जाती है और जिस-जिस तिथिको ये सब होते हैं, वे तिथियाँ भी पवित्र मानी जाती हैं।

इन महापुरुषोंका स्वरण संसारको होता रहे, इसी हेतुसे ये उत्सव मनाये जाते हैं।

इस प्रकार जैन सम्प्रदायके साधनोंका संक्षेपमें वर्णन किया गया। विषय गहन और विस्तृत होनेसे केवल उद्देश्यस्पैस या नामनिर्देशाल्पसे ही सब विषयोंका अति संक्षेपसे वर्णन करना पड़ा है। इन सबका विस्तृत ज्ञान प्राप्त करनेके लिये जैनशास्त्रोंको देखना चाहिये, जिससे माझम होगा कि जैनागम कितना अपार, कितना गहन और कितना ऐक्षमताल्पनिर्देशक है।

छद्मव्य जीवोंका ज्ञान अपूर्ण तथा सदोप होता है, इसलिये सम्भव है कि एक अशानीद्वारा लिखे गये इस लेखमें कुछ त्रुटियाँ अवश्य रह गयी हैं, जिनको कि विश्वास ठक्कर शास्त्राधारसे शुद्ध कर लेंगे—ऐसी आशा है।

सुखम है, कामनाएँ हैं, आशाएँ हैं, उमरों हैं; यह अल्यन्त रोचक, अल्यन्त प्रेरक है; जी चाहता है कि इनके आलोकमें सदा जीवित रहा जाय। परन्तु इहाँके साथ इसमें कैसे-कैसे दुःखप्र हैं, असफलताएँ हैं, निराशाएँ हैं, विषाद हैं। वे कितने कटु और घिनोने हैं, जी चाहता है कि इनके आलोकने भागकर कहीं चले जायें।

कितना न्वेद है कि जीवनको कामना मिली पर सिद्धि न मिली। इस सिद्धिके लिये यह कितना आत्मर है। इसके लिये यह कैसी-कैसी वाधाओंमेंसे गुजरता है। कैसी-कैसी देदना, विपदा, आशात-प्रश्नात सहन करता है। परन्तु सिद्धिका कहीं पता नहीं चलता। यदि भाग्यवश कहीं सिद्धि दाय भी आयी तो वह कितनी क्षणस्थायिनी है, कितनी दुःख-दायिनी है। वह प्राप्तिकालमें आकुलतासे अनुरक्षित है, रक्षाकालमें चिन्तासे संयुक्त है और भोगकालमें क्षीणता

और शोकसे प्रस्त है। उसका आदि, मध्य और अन्त—तीनों ही दुःखसे भरे हैं। इस सिद्धिमें सदा अर्थातका भाव बला है। यह सब कुछ प्राप्त कर लेनेपर भी रुक्ष है, रिक्त है, वाञ्छायुक्त है। यह सारी जिंदगी दुर्गमी है। इसकी सुन्दरतामें कुरुपता बसी है। इसके सुखमें दुःख रहता है। इसकी हँसीमें रोना है। इसके लालितमें भयानकता है। इसकी आलितमें अचूचि है। इसके घोगमें चियोग है। विकासमें हास है। बहारमें खिजँ है, जीवनमें जरा है। यहाँ हर पूलमें शूल है। इतना ही नहीं, यह समस्त ललाम-लीला, यह सारा उमंगभरा जीवन, यह सम्पूर्ण सँझ-सबेर-बाला लोक मृत्युसे व्याप है।

जीवनके भूल प्रश्न

क्या यही लोक है, जिसमें कामनाका तिरस्कार है, आशाका अनादर है और पुरुषार्थकी विफलता है? क्या यही जीवन है, जहाँ हजार प्रयत्न करनेपर भी सनुष्ठिका लाभ नहीं और हजार रोक-थाम करनेपर भी अनिष्ट अनिवार्य है? क्या यही उद्देश्य है कि वेदनासे सदा तड़पा करो और अन्तमें क्षीण होते होसे मृत्युसे मुँहमें चले जाओ? क्या इसीके लिये जाह और वेदना है? क्या इसीके लिये उद्यम और पुरुषार्थ है? क्या इसीके लिये सँझूर्ध और प्राणोंकी आहुति है?

नहीं, यह मनचाहा जीवन नहीं। यह तो उस जीवन-की उपकार है, अनुसन्धान है, तलाश है। यह तो उसका पहुँचनेका उद्यम है, उसे पानेका प्रयोग है। इसीलिये यह जीवन असनुष्ट और अशानृत बना है। उच्चारी और पुरुषार्थी बना है। अस्थिर और गतिमान बना है। यह कहीं दृष्ट नहीं, शान्त नहीं, खिर नहीं!

यदि ऐसा है तो यह अपने पुरुषार्थमें सफलीभूत क्यों नहीं होता? यह पुरुषार्थ करते हुए भी अपूर्ण क्यों है? आशाहृत क्यों है? खेदविनाश क्यों है?

इसका कारण पुरुषार्थकी कमी नहीं, बल्कि सद्लक्ष्य, सद्ज्ञान और सदाचारकी कमी है। इसका समस्त पुरुषार्थ भूल-भान्तिसे ढका है। असानेसे आच्छादित है। मोहसे ग्रस्त है। इसे पता नहीं कि जिस जीज़की इसमें भावना बसी है वह क्या है, कैसी है और कहाँ है। इसे पता नहीं कि उसे पानेका क्या साधन है, उसे सिद्ध करनेका क्या मार्ग है। इसलिये यह जीवनको उस ओर नहीं ले जा

रहा है, जिस ओर यह जाना चाहता है। यह उस जीज़की प्राप्तिमें नहीं लगा है, जिसे यह प्राप्त करना चाहता है। यह केवल परम्परागत मार्गका अनुयायी बना है। मोहकी गाँठको और भी उलझा देनेवाले उन रूढिक पदार्थोंका साथक बना है, जिन्हें सिद्ध करते करते यह इतना अव्यस्त हो गया है कि वे इसका जीवन ही बन गये हैं।

इस भूल, अज्ञान और मोहके कारण यथापि इस जीवने अपने वास्तविक जीवनको भुला दिया है, उसे नंदी बनाकर अनध्युपमें डाल दिया है, परन्तु उसने इसे नहीं भुलाया। यह सदा इसके साथ है। वह घनाच्छादित सूर्यके समान अनर्सुर्हामेंसे ही फूट-फूटकर अपना आलोक देता रहता है। इसके सुखदामें बैठकर, इसकी आशाओंमें आविष्ट होकर, इसकी भावनाओंमें भरकर अपना परिचय देता रहता है। वह वेदनामधी भावामें पुकारता रहता है मैं यह जीवन नहीं हूँ। मैं इससे भिज़ हूँ। और हूँ। तत् हूँ। परे हूँ। दूर हूँ। अंदर हूँ। इसी प्रतीक्षिसे प्रेरित हुआ जीव बार-बार प्राणोंकी आहुति देता है। बार-बार मरता और जीता है। बार-बार पुतलेको पड़ता है, बार-बार इसे रक्त कान्तिवाले मादक रससे भरता है। बार-बार इसके द्वारोंसे ल्खाता है। परन्तु बार-बार इसी नाम-रूप-कर्मात्मक जगत्को अपने सामने याता है, जिससे यह चिरपरिचित है। बार-बार उसीको देख इसे विश्वास हो जाता है, निश्चय हो जाता है, कि यही तो है जिसकी इसे चाह है। यही तो है जो इसका उद्देश्य है। इसके अतिरिक्त और कोई जीवन नहीं, कोई उद्देश्य नहीं, कोई लोक नहीं। परन्तु ज्यों ही यह धारणा धरकर यह नाम-रूप-कर्मात्मक जीवन-में प्रवेश करता है, इसे फिर वही बाज़ा, वही वेदना, वही दुःख आ प्रेरते हैं। फिर वही विकलताएँ, वही निराशाएँ, वही अपूर्णताएँ आ उपस्थित होती हैं। फिर वही भय, फिर वही शङ्का, फिर वही प्रश्न उठने शुरू होते हैं। क्या दुखी जीवन ही जीवन है? क्या मरणशील जीवन ही जीवन है? यदि नहीं तो जीवन क्या है? उद्देश्य क्या है? फिर वही तर्क-वितर्क, फिर वही मीमांसा शुरू हो जाती है।

प्रश्न हृल करनेके विफल साधन

जीवने इन प्रश्नोंको हृल करनेके लिये मतिज्ञानसे बहुत तरह काम लिया। उसके विश्वस्त साधनोंपर—इन्द्रिय, मन और बुद्धिपर बहुत तरह विश्वास किया। इन्हें अनेक तरहसे शुभा-फिराकर जानेकी कोशिश की। परन्तु इन्होंने हमेशा एक ही उत्तर दिया। लौकिक जीवन ही जीवन है। शरीरही आत्मा है।

भोग-रस ही सुख है, धन-धान्य ही सम्पत्ति है। नाम ही वैभव है। रूप ही सुन्दरता है। शरीरबल ही बल है। सन्तति ही अमरता है। मान-वश ही जीवन है। कीर्ति ही पुण्य है। इन्हें ही बनाये रखने, इन्हें ही सुदृढ़ और बलवान् बनाने, इन्हें ही सौभृत्य-सुन्दर करनेका प्रयत्न करना चाहिये; इसीमें भलाई है। प्राकृतिक नियमानुसार कर्म करते हुए भोग-रस लेना ही जीवनमार्ग है। प्रवृत्ति ही जीवनमार्ग है। सुख-दुःख स्वयं कोई चीज़ नहीं, ये सब वास्तु जगतके आधीन हैं। वास्तु जगतकी कल्पनापर निर्भर है। जगतको दुःखदायी कल्पना करनेसे सुख होता है। इसलिये जगतके दुःखदायी पहलको भुलाने और उसके सुखदायी पहलको परिपुष्ट करनेकी जरूरत है।

इस तथ्यको ही तथ्य मान जीवने इसे अनेक प्रकार स्थिकार करनेकी कोशिश की। बुद्धिके सुझाये हुए अनेकों साध्योंसे इसे निर्दिष्ट करनेकी चेष्टा की। अशानमार्गको मार्ग बनाया। उद्योगमार्गका आश्रय किया। कर्ममार्गको ग्रहण किया। यान्त्रिक मार्गको अपनाया। विज्ञानमार्गको धारण किया। शिव्यकलामार्गपर चला। संघटनमार्गपर आरुद्ध हुआ। नीतिमार्गका अवलम्बन किया। परन्तु इसके दुःखका अन्त न हुआ। प्रश्न ज्यों-का-त्यो बना ही रहा—‘जीवन क्या है?’

प्रश्न हल करनेका वास्तविक साधन

इतना होनेपर जीवको निश्चय हुआ कि सांकारिक जीवन इष्ट जीवन नहीं, यह जगत् इष्ट लोक नहीं। प्रचलित मार्ग सिद्धिमार्ग नहीं। बायक बुद्धिशान यथार्थ साधन नहीं। जीवन-उद्देश्य, जीवन-लोक, जीवन-सुख-दुःख, जीवन-बुद्धिका मार्ग वास्तु जगतके आश्रित नहीं। बायक जगतकी शक्तियोंको भुलाकर, उन्हें खुश करके, उनपर विजय करके या उन्हें व्यवस्थित करके जीवनकी सिद्धि नहीं हो सकती, सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जीवन कोई और ही नीज़ है। इसके बाननेका साधन भी और ही है। बायक बुद्धिशान इसके लिये पर्याप्त नहीं।

यह जाननेके लिये कि जीवन क्या है, यह जानना होगा कि जीव क्या होना चाहता है और क्या होनेसे डरता है। इसका निर्णय अन्तर्शानके द्वारा हो सकता है। उस शानके द्वारा जो अन्तर्गुहाका प्रकाशक है। उस शानद्वारा जो अन्तलोकमें बैठी हुई सत्ताको देख सकता है। उसकी वेदनामयी अनक्षीरी भाषाको सुन सकता है। उसके भावनामय अर्थको समझ सकता है। उस शानके

द्वारा जो सहजसिद्ध है, स्वाधित है, प्रत्यक्ष है। जिसे अन्तर्शान होनेके कारण मनोवैज्ञानिक intuition कहते हैं। जिसे अन्तर्घनि सुननेके कारण अध्यात्मवादी श्रुतज्ञान कहते हैं। जिसकी अनुभूति ‘श्रुति’ नामसे प्रसिद्ध है।

इस ज्ञानको उपयोगमें लानेके लिये साधकको शान्त-चित्त होना होगा। अपनेको समस्त विकल्पों और दुविधाओं-से पृथक् करना पड़ेगा। निष्पक्ष एकटक हो पूछना होगा ‘जीवन क्या चाहता है?’ फिर निरक्षरी अन्तर्घनिको सुनना होगा।

फिर जीवन क्या है?

जीव जीवन चाहता है। ऐसा जीवन जो निराअमृतमय हो, मरणशील न हो। जो स्वाधीन हो। किसी तरह भी परायीन न हो। जो घनिष्ठ हो! आसक्त हो। किसी तरह भी जुदा न हो। जो निकटतम हो, अन्यन्तर हो, ल्य हो। तनिक भी दूर न हो, परे न हो। जो परिसुद्ध हो, निर्मल हो, तनिक भी दोषयुक्त न हो। जो सचेत हो, जाग्रत् हो, ज्योतिष्मान्-जाज्बल्यमान हो। तनिक भी जडता, भन्दता, अन्वकार जिसमें न हो। जो सुन्दर और मधुर हो, ललाम और अभिमाय हो, स्वयं अपनी लीलामें ल्य हो। जो समृद्ध हो, परिपूर्ण हो, जिसमें कोई भी वाङ्छा न हो। जो सर्वभूतों, अनन्त हो। जो सत्य हो, शाश्वत हो। जो सबसे दैर्घ्यमें हो, पर वह अपने सिवा कुछ भी न हो। वह वह ही वह हो।

यह है जीवका इष्ट जीवन। इसे पाना है जीवका अन्तिम उद्देश्य, इसके प्रति कभी भय पैदा नहीं होता, कभी शङ्का पैदा नहीं होती, कभी प्रश्न पैदा नहीं होता। प्रश्न उसके प्रति पैदा होता है, जो अनिष्ट है, भयोपादक है—जैसे दुःख और मृत्यु; परन्तु इष्टके प्रति कभी प्रश्न पैदा नहीं होता, कभी शङ्का नहीं उठती कि जीवन सुखी करों है, जीवन अमर करों है। इसका कारण यही है कि इष्ट जीवन आत्माका धर्म है—उसका वास्तविक स्वभाव है। आत्मा उसे निज स्वरूप मान स्वीकार करता है—सदा उसकी प्राप्तिकी भावना करता है। यह विवादका विषय नहीं। समस्याका विषय नहीं। यह भक्तिका विषय है। आसक्तिका विषय है। सिद्धिका विषय है।

यह इष्ट जीवन अलोकिक है, अद्वृत और अनुपम है। इसे आँखने कभी देखा नहीं, कानने कभी सुना नहीं, हाथ-ने कभी छुआ नहीं, शरीरिक पुरुषार्थने कभी सिद्ध किया नहीं। यह शरीरसे, हान्द्रियोंसे, मनसे, बाणीसे दूर है, परे

है; अतः इसकी प्रतीति सदा दूरकी होती है। नेति-नेतिके द्वारा इसका विवेचन होता है, तत् शब्दद्वारा इसका सङ्केत होता है।

जीवन साध्य है

यह जीवन अन्तरात्माकी वस्तु है। यह उसमें ऐसे ही निहित है, औतप्रत है, जैसे अनगढ पापाणमें मूर्ति, विश्वरी रेखाओंमें चित्र, मूक तारोंमें राग और वेणिली भावनामें काव्य। ये भाव जयतक अभिव्यक्त नहीं होते, दिलायी नहीं होते, सोये पड़े रहते हैं, तबतक बाहरसे देखनेवालोंको ऐसे मालूम होते हैं कि यह भिन्न है, इससे दूर है, महान् है। इनकी पापाणसे, रेखासे, तारसे, भावनासे क्या तुलना, क्या सम्बन्ध। ये विल्कुल तुच्छ हैं, हीन हैं, क्षुद्र हैं। ऐसे-ऐसे उपर पहजार न्योछावर हो सकते हैं। वह दुर्लभ है, कष्टसाध्य है, अप्राप्य है।

परन्तु वे इससे इतने भिन्न नहीं, इतने दूर नहीं कि वे हस्तमें आ ही न सकें, समा ही न सकें। उनकी विभिन्नता जल्दर है; परन्तु वह वास्तविक विभिन्नता नहीं, केवल अव्यवस्थाकी विभिन्नता है। उनकी दूरी क्षेत्रकी दूरी नहीं, केवल अवस्थाकी दूरी है। यदि विधिवत् पुरुषार्थ किया जाय तो यह अव्यवस्था दूर होकर वे भाव इसीमें सिद्ध हो सकते हैं।

जब पापाण उत्कीर्ण हो जाता है, वह पापाण नहीं रहता। वह मूर्ति बन जाता है। वह कितना माननीय और आदरणीय है। जब रेखाएँ सुव्यवस्थित हो जाती हैं, वे रेखाएँ नहीं रहतीं, वे चित्र बन जाती हैं। वे कितनी रोचक और मनोरञ्जक हैं। जब तार झंकारने लगता है, वह तार नहीं रहता, वह राग बन जाता है। वह कितना मधुर और सुन्दर है। और जब भावना मुखरित हो उठती है, वह भावना नहीं रहती, वह काव्य बन जाता है। साक्षात् भाव बन जाता है। वह कितना महान् और सूर्योदीप है।

इस पापाण और मूर्तिमें, इस रेखा और चित्रमें, इस तार और रागमें इस भावना और काव्यमें कितना अन्तर है? बहुत बहु अन्तर है। दोनोंके बीच अलश्यता, मूर्छा और अव्यवस्थाका मरुखल है। जो अपनी अटललक्ष्यता, शान और पुरुषार्थसे इस दूरीको लाँघकर इस सिरेको उपसिरेसे मिला सकता है, वह निस्तन्देह एक कुशल कलाकार है। वह भूरि प्रशंसा और आदरका पात्र है। भगोदी लक्ष्मी उसके चरणोंको चूमती है और घातक काल स्वयं उसकी कीर्तिका रक्षक बनता है।

जीवन भी एक कला है। जबतक इष्ट जीवनका भाव इसमें अभिव्यक्त नहीं होता, यह बाहरसे देखनेवालोंको अत्यन्त भिन्न, अत्यन्त दूर, अत्यन्त अप्राप्य मालूम होता रहता है।

परन्तु वास्तवमें इष्ट जीवन आत्मासे भिन्न नहीं है। यह तो उसका स्वभाव है। धर्म है। स्वरूप है। इनकी विभिन्नता वास्तविक विभिन्नता नहीं है, केवल अवस्थाकी विभिन्नता है। यह मूर्छित है, वह जाग्रत् है। यह भावनामयी है, वह भावमय है। इनकी दूरी क्षेत्रकी दूरी नहीं है, केवल अव्यवस्थाकी दूरी है।

जब आत्मामें इस अलौकिक जीवनकी भावना मूर्ति-मान् हो जाती है, चित्रित हो जाती है, साक्षात् भाव बन जाती है, तब आत्मा आत्मा नहीं रहता, यह परमात्मा हो जाता है। यह ब्रह्म नहीं रहता, यह परब्रह्म बन जाता है। यह पुरुष नहीं रहता, यह पुरुषोत्तम बन जाता है।

इस आत्मा और परमात्मामें कितना अन्तर है? बहुत बहु अन्तर है। दोनोंके बीच भूल, भ्रान्ति-मिथ्यात्व, अविद्या, मोह-तुष्णिका सागर लहरा रहा है। जो अपने भ्रुव लक्ष्य, सद्गुण और पुरुषार्थ-बलसे इस दूरीको लाँघकर इस सिरेको उपसिरेसे मिला देता है, वह निःसन्देह सर्वोत्कृष्ट कलाकार है। वह उपरासेतु है। वह तीर्थङ्कर है। वह लोकतिलक है। वह जगद्वन्द्व है। काल उसका द्वारपाल है। इन्द्र, चन्द्र उसके चारण हैं। लक्ष्मी, सरस्वती और शक्ति उसकी उपासक हैं।

यह भूल, अज्ञान और मोह ही जीवनके अमृदयमें सबसे वडी स्कवर्टें हैं। इनके आवेदनमें कुछ-का-कुछ दिखायी देता है। कहीं-का-कहीं चला जाना होता है। जो अनाज है, असत्य है, पर है, बाल है, वह आत्म, सत् और स्व दिखायी देता है और जो वास्तवमें आत्म, सत्य और स्व है, वह असत्य, मिथ्या और तुच्छ दिखायी देता है। जो दुःख और मृत्युका मार्ग है वह सुख और अमृतका मार्ग, और जो वास्तवमें सुख और अमृतका मार्ग है वह दुःख और मृत्युका मार्ग दिखायी देता है। यही विपरीत दर्शन है।

यह भूल, अज्ञान और मोह ही संसार-दुःख और मृत्युके कारण हैं। यही जीवनके महान् शत्रु हैं। इनकी विजय ही विजय है। जिसने इन्हें जीत लिया, उसने दुःख-शोकको जीत

लिया; जन्म-मरणको जीत लिया, लोक-परलोकको जीत लिया, इनका विजेता ही वास्तवमें जिन हैं, जिनेश्वर हैं, अहंत हैं।

आत्मसिद्धिका मार्ग

भूलका अन्त, मिथ्या धारणाका अन्त उसके पीछे-पीछे चलनेसे नहीं होता, न उसके भुलनेसे होता है और न उससे मुँह छिपानेसे होता है। वह मरीचिका है, आगे ही आगे चलती रहती है। वह आशा है, पीछे-ही-पीछे चलती रहती है। वह सब ओरसे बेरे हुए है, जहाँ जाओ वह साथ-साथ लगी हुई है। उसका अन्त दोष-बायें चलनेसे भी नहीं होता। उसका अन्त तो जहाँ हो वहाँसे, उसी स्थानमें होकर उसका सामना करनेसे होता है।

अशानका अन्त उसकी भानी हुई बातोंको माननेसे नहीं होता, न संशयमें पढ़े रहनेसे होता है, न अनिश्चित मति बने रहनेसे होता है। उसका अन्त तो उसके मन्तव्योंको, उसके शात्र्योंको स्पष्ट और साक्षात् करनेसे होता है—उनमें सत्य-असत्य, हित-अहित, निज-परका विवेक करनेसे होता है।

मोहका अन्त परम्परागत भावोंमें पढ़े रहनेसे नहीं होता—न उसकी सिद्ध-चृद्धि करनेसे होता है। न उसकी तुष्णि, और वासनाको द्वयमें बसानेसे होता है। मोहका अन्त मुख्यकार भावोंकी मूढ़ता देखने, उनकी निन्दा, आलोचना और प्रायिक्ति करनेसे होता है। तुष्णा-ग्रन्थियोंको शिथिल करनेसे होता है। वासनाके त्यागसे होता है। यह सत्य धर्म-कर्मका विधान करनेसे नहीं होता। दण्ड दण्डका विधान करनेसे होता है। मन, वचन, कायको गुप्त करनेसे होता है। उनकी गतिका निरोध और संवरण करनेसे होता है। और उन्हें अहिंसामय चनानेसे होता है।

इस तरह भव-कारणोंका अन्त प्रबृत्तिमार्गसे नहीं होता, निवृत्तिमार्गसे होता है। संवरमार्गसे होता है। अहिंसामार्गसे होता है।

परन्तु आत्मसिद्धिका मार्ग केवल निषेध, संवर और संन्यासरूप नहीं है। यह विधिरूप भी है। निषेध, 'बर और संन्यास आत्मसाधनाकी पहली सीढ़ी है; साधककी पाद-पीठिका है। इसमें अन्यस्त होनेसे आत्मा सिद्धिमार्गपर आरूढ़ रहनेमें समर्थ हो जाता है। वह विधि, उज्ज्वल और अशान हो जाता है। अवाश और निर्विक्ष हो जाता है। परन्तु इतना मात्र होकर रह जानेसे काम नहीं चलता। मिथ्यात्व, अशान और मोहका समूल नाश नहीं हो जाता। वे अनादि

कालसे अभ्यासमें आनेके कारण अन्तश्चेतनाकी गहराईमें पैठ गये हैं। वे किसी भी रूपय अकुरित हो उठते हैं। वे निष्कारण ही आत्माको उद्दिश, भ्रान्त और अशान बना देते हैं। जबतक उनके गुप्त संस्कारोंका समूल उच्छेद नहीं हो जाता, संसार-चक्रका अन्त नहीं होता।

इन संस्कारोंको निर्मूल करनेके लिये निषेधके साथ विधिको जोड़ना होगा। प्रमाद छोड़कर सदा सावधान और जागरूक रहना होगा। समस्त परम्परागत भावों, संशाओं और बृहत्योंसे अपनेको पृथक् करना होगा। इन्द्रिय और मनको बाहरसे हथा अंदर ले जाना होगा। अपनेमें ही आपको लाना होगा। ध्यानश्च होना होगा।

अंदर बैठकर निर्वीत होकर शानदीपक जगाना होगा। ज्ञान प्रकाशको उसीके देखनेमें लगाना होगा, जिसके लिये यह सब देखना-जानना है, दृढ़ना-मालना है। उसीकी भावनाओंको सुनना और समझना होगा, जो वेदनामयी निष्कर्षी भाषामें निरन्तर गाती रहती है कि 'मैं अजर अमर हूँ। तैजस और ज्योतिष्मान् हूँ। सुन्दर और मधुर हूँ। सत्य, परिपूर्ण और महान् हूँ।'

इस अन्तर्भूतिनिके सामने समस्त लक्षणोंको त्यागकर इसी भावनामय जीवनको आत्मउद्देश बनाना होगा। इसे ध्रुव-समान दृष्टिमें लगाना होगा। आत्माको निश्चयपूर्वक विद्यास करना होगा—'सोऽहम्' 'सोऽहम्', मैं वही हूँ, मैं वही हूँ।

समस्त विज्ञानोंको छोड़ ज्ञान-उपयोगको इसी अमृतमय जीवनमें लगाना होगा। इसी जीवनको विशद और साक्षात् करना होगा। अंदर-ही-अंदर देखना और जानना होगा—'सोऽहम्', 'सोऽहम्'। समस्त स्तूपिक भावों और बृहत्योंसे इटाकर ममत्वको इसी लक्ष्यमें आसक्त करना होगा। इसीके पीछे चलना होगा। इसीके समता-रसमें भीगना होगा, सराबोर हो जाना होगा। निरन्तर अनुभव करना होगा—'सोऽहम्', 'सोऽहम्'।

संक्षेपतः: यह मार्ग आत्मशब्दा, आत्मबोध, आत्म-चर्याका मार्ग है।^१ सत्य दर्शन, सत्य ज्ञान, सत्य वृत्तिका मार्ग है।^२ सत्य-पारमिता, प्रक्षा-पारमिता, शील-पारमिताका मार्ग है।^३ सत्यदर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्रका मार्ग है।^४

१. प्रक्ष ० ॥ १०; ५ ॥ ३; सुष्ठ ० ॥ १ ॥ ५;
१ ॥ २ ॥ ११; कैवल्य ० ॥ १ ॥ ३; लाडोसंहिता अध्याय ३ ॥

२. रक्षाण्ड, भ्रावकाजार ॥ १ ॥

३. तत्त्वार्थाविगमन्त्र १ ॥ १

यह है वह विधि-नियेभात्मक सिद्धिमार्ग, जो गहरे-से-गहरे बैठे हुए संस्कारोंको जीर्ण कर देता है, विध्यंस कर देता है। इनसे दकी हुई आत्मशक्तियोंको मुक्त कर देता है। उन्हें जाग्रत् और सचेत बना देता है। भावनामयी आत्मको भावनाके गहरसे निकाल साक्षात् भावात्मा बना देता है।

यह मार्ग बहुत कठिन है। अनेक परिषद्दोंसे सङ्कीर्ण है। इस पथके अनुयायीको अनेकों प्राकृतिक मानुषिक विषयाओं और शूलताओंको सहन करना पड़ता है। अनेकों शारीरिक और मानसिक बाधाओंको खेलना होता है। इसके लिये अदमनीय उत्साह, दद सत्याप्रह और अटल साहसकी जरूरत है। इतना ही नहीं, यह मार्ग लंबा भी बहुत है। इसके लिये दीर्घ पुरुषार्थीक, श्रेणीवद्ध अभ्यासकी, निरन्तर चलते रहनेकी जरूरत है। सोते-जागते, चलते-फिरते, खाते-पीते, उठते-बैठते—हर समय आत्मलक्षी, आत्मशानी, आत्मबृति होनेकी आवश्यकता है। सङ्कल्प है तो ‘सोडहम्’, विचार है तो ‘सोडहम्’, आलाप है तो ‘सोडहम्’, आचार है तो ‘सोडहम्’। यहाँतक कि यह मार्ग जीवनमें उत्तर जाय, साक्षात् जीवन बन जाय, यहाँतक कि ‘वह’ और ‘मैं’ का अन्तर भी विलय हो जाय। आत्मा निरहङ्कार बन जाय, केवल वही वह रह जाय।

यह सिद्धिमार्ग किसी वाद्य विधि-विधान, क्रियाकाण्ड, परिग्रह आडाम्बरमें नहीं रहता। यह किसी भाषा, वाक्य या ग्रन्थमें नहीं रहता। यह किसी सामाजिक प्रथा, संस्था या व्यवस्थामें नहीं रहता। यह किसी पूजा-बन्दना, स्तुति-प्रार्थनामें नहीं रहता। यह साध्यके अनुरूप ही अलौकिक और गूढ़ है। यह साध्यके साथ ही अन्तरात्मामें रहता है। उसके उद्देश्यग्रल, हानिवल और पुरुषार्थवलमें रहता है। यह विशाक्ति ही संसारकी साधक है। यह विशाक्ति ही मोक्षकी साधक है। भेद केवल इनके उपयोगका है, इनकी गतिका है। यदि इन शक्तियोंको बाहरसे हटा अन्तर्मुखी बना दिया जाय, इन्हें परसिद्धिकी बजाय आत्मसिद्धिमें ल्या दिया जाय, इन्हें वाद्य उद्देश्य, वाद्य ज्ञान, वाद्य पुरुषार्थसे बदलकर आत्म-उद्देश्य, आत्मशान, आत्मपुरुषार्थमें तबदील कर दिया जाय, तो यह विशाक्ति जीवनको बजाय इस पारके उस पार

ले जानेवाली हो जाती है। वजाय संसारके मोक्षकी साधक बन जाती है। वजाय मृत्युके अमृतकी साधक हो जाती है।

यह विशाक्ति आत्मामें ही रहती है, आत्मरूप ही है। अतः वस्तुतः आत्मा ही साधक है, साधन है और साध्य है। आत्मा ही पथिक है, पंथ है और इष्टपद है।

यह विशाक्ति एकतामें रहकर ही सिद्धिकी साधक है, अन्यथा नहीं। जैसे इनकी वाद्यमुखी एकता संसारकी साधक है, वैसे ही इनकी अन्तर्मुखी एकता मोक्षकी साधक है। जैसे ‘सारमें किंतु भी पदार्थकी सिद्धि केवल उसकी कामना करनेसे नहीं होती, केवल उसका बोध करनेसे नहीं होती, वल्कि कामना और बोधके साथ पुरुषार्थ जोड़नेसे होती है, ऐसे ही परमात्मपदकी सिद्धि केवल उसमें अद्वा रखनेसे, केवल उसे जान लेनेसे नहीं होती, वल्कि आत्मश्रद्धा, आत्म-शनके साथ आत्मपुरुषार्थके जोड़ लेनेसे होती है।

वास्तवमें जो परमात्मपदकी अपना उद्देश बनाता हुआ आत्मशानसे उसे देखता और जानता हुआ आत्मपुरुषार्थसे उसकी ओर विचरता है, वही सत्य है, मार्ग है, जीवन है। वही धर्म है, धर्ममूर्ति है, धर्मतीर्थ है, धर्म-अवतार है।

इस तरह विचरते हुए जिसके समस्त संशयोंका उच्छेद हो गया है, जिसकी समस्त ग्रन्थियाँ शिथिल हो गयी हैं, समस्त तृष्णाएँ शान्त हो गयी हैं, समस्त उद्योग बंद हो गये हैं। जो आत्मलक्षी है, आत्मशानी है, निरहङ्कार है। जिसने अपनी आशा अपनेहीमें लगा ली है, अपनी तुनिया अपनेमें ही बसा ली है, अपनी ममता अपनेमें ही जमा ली है। वही कुतकृत्य है, अचल है, ईश है। उसके लिये कौन्च और कञ्जन क्या ? शानु और मित्र क्या ? स्तुति और निन्दा क्या ? योग और वियोग क्या ? जन्म और मरण क्या ? दुःख और शोक क्या ? यह सर्वके समान तेजस्वी है, वायुके समान स्वतन्त्र है, आकाशके समान निलेप है। मृत्यु उसके लिये मृत्यु नहीं, वह मृत्युका मृत्यु है, वह मोक्षका द्वार है, वह महेत्सव है।

यह सिद्धिमार्ग वेषधारीका मार्ग नहीं, तथागतका मार्ग है। मूढ़का मार्ग नहीं, सन्मतिका मार्ग है। यह निर्बलका मार्ग नहीं, वीरका मार्ग है।



जरथुस्त्रधर्मकी साधना

(निःस्वार्थ सेवा)

(लेखक—श्रीफौरोज कावसजी दावर एम्० ए०, श्ल०-एल० बी०)

जरथुस्त्रीय उपासनाका साधन बहुत व्यापक और जटिल भी है। कोई श्वेत पगड़ीवाला पारसी पुरोहित ही जो इस उपासनाके रहस्योंमें विविधरूपक दीक्षित हुआ हो, वही अधिकारके साथ इस विषयमें कुछ कह सकता है। मैं तो एक सामान्य मनुष्य हूँ; इसलिये इस उपासनाके गभीर रहस्योंके विषयमें कुछ कहनेका साहस न करके, केवल निःस्वार्थ सेवा-साधनके विषयमें ही कुछ कहूँगा। क्योंकि निःस्वार्थ सेवा जरथुस्त्र-सम्प्रदायका हृद्रत ही है। हमारे धर्म-का सर्वोत्तम प्रतीक वह कमल है, जिसमें एक देवता उदय हो रहे हैं। यह कमल श्वेत है, जो जरथुस्त्रीय सम्प्रदायकी पवित्रताका चिह्न है। यही हमारे पुरोहितों और हमारे धार्मिक अथवा अंशतः धार्मिक कुर्यात्में भगव लेनेवाले लोगोंका चरण है। यह कमल पङ्कसे उत्पन्न हुआ पङ्कज है, पर उसमें अभी कोई कलङ्क नहीं ल्या है। जरथुस्त्र-धर्मको माननेवाला सच्चा अनुयायी सांसारिक जीवन व्यतीत करता है; पर इसके लोभ-मोह उसे अपना दिक्कार नहीं बना सकते, न उसपर अपना कीचड़ ही उछाल सकते हैं, न उसे राग-द्वेषके द्वन्द्व-सङ्घर्षसे विचलित ही कर सकते हैं। कमलकी निष्कलङ्कतासे ही दिव्य देवभावका उदय होता-का प्रतीत होता है, जैसा कि विद्यु कलाकी कुछ कृतियोंमें देख पड़ता है; ऐसे ही निर्मल हृदयमें, जो ही संसारमें पर संसारका न हो, अहुरमङ्ग निवास करते हैं। जरथुस्त्र-धर्मको माननेवाला पवित्राभ्या पुण्य इस प्रकार एक कमल है, मकड़ा नहीं जो अपनी कामनाओंके जालमें स्वर्वं केन्द्र बना देयात् पास आनेवाली मन्त्रियोंकी घातमें लगा रहता है।

हमारे धर्मका चिह्न संन्यासका गेरुआ बख्त नहीं, बल्कि सेवाकी 'कुटी' (विशुद्ध मेलला) है। संन्यासधर्मका हमलोग आदर करते हैं, पर अपने धर्मकी भावनाके अनुसार निष्काम कर्म और अद्वेतुक परोक्षकारके जीवनको अधिक पसंद करते हैं। हमलोग अपनी सब कर्मशक्तियोंको ईश्वरमें ही नहीं गङ्गा देते, न दुनियाकी ओर अपनी पीठ केर देते हैं; बल्कि हमलोग उस ईश्वरका अनुसन्धान करते हैं जो उन पतित-पीडित असंख्य मनुष्योंके हृदयोंमें निवास करता है जिन्हें सहायताकी आवश्यकता है। हम जानते हैं कि संसार अमका एक चक्र

है; पर हम इस ध्रमके मूलमें जो सत्य है, उसके अभिमुख होते हैं। जो मनुष्य संसारको केवल कल्पित या प्रातिभाविक क्षणिक हृदयमात्र समझता है, उसे ऐसे संसारकी सेवा करनेमें कभी उत्साह नहीं हो सकता। उत्साह तभी होगा, जब उसे यह विश्वास होगा कि जीवन मिथ्या नहीं, इसका कुछ अर्थ है, कुछ अभिप्राय है। अतः श्रीमत् शङ्कराचार्यके 'केवलाद्वैत' की अपेक्षा श्रीमद्वामानुजाचार्यका 'विशिष्टाद्वैत' जरथुस्त्र-के अनुयायियोंको अधिक आकर्षक और प्रेरक प्रतीत होता है। 'स्वामी रामतीर्थके ग्रन्थ' की भूमिकामें रेखरेड सी. एफ्. एंड्रेज इस 'केवलाद्वैत' सिद्धान्तके विषयमें कहते हैं कि यह तो जीवनकी महान् समस्याका एक अवैय और बहुत सस्ता सा समाधान (illegitimate short cut) है। जगद्रहित ईश्वरकी भावना किसी कदर भावमय स्थितिकी ही भावना है। भगवान् है भावमय, पर जब हमारे हृदय भक्तिमें लीन होते और हमारी प्राणेन्द्रियक्रियाएँ विश्वासनवकी सेवामें लग जाती हैं, तब वे शक्ति और प्राणेन्द्रियक्रियाके स्पर्शमें प्रकट होते हैं। जरथुस्त्र-सम्प्रदायने मानव-जातिकी सेवाका ब्रत लेकर अपनी रक्षा कर ली है। वह एक साथ दो काम करता है, मनुष्य और ईश्वर दोनोंके ही प्रति एक साथ ही अपने कर्तव्यका पालन करता है। जरथुस्त्रको माननेवाला पुरुष मनुष्यकी जो सेवा करता है, वही भगवान्की पूजा हो जाती है।

किसी महान् पारमार्थिक जीवनके लिये अपने स्वजनोंका स्वाग करना, जीवनके सुख-साधनों और भरे-पूरे घरके आनन्दको लात मार देना वहें भारी आत्मनिश्चिह्नका काम है। पर इससे भी अधिक आसान्यमकी आवश्यकता होती है, सबके बीचमें बैठकर ईश्वरकी ओर अपना मन एकाग्र करनेमें—जहाँ सब तरफ सब प्रकारके ऐसे-ऐसे प्रलोभन हैं जो बड़े-बड़े साध-महात्माओंको भी डिंगा देनेका भय दिखाते हैं। यह है सबसे कठिन काम, पर असम्भव नहीं—जैसा कि राजा जनक-की कथासे मालूम होता है। एक बार राजा जनकने कुछ आदमियोंके सिरपर जलसे लबालब भरा हुआ एक-एक घड़ा रखवाया और उन्हें शहरके बाजारमें घूम-फिर आनेकी आशा दी। बाजारमें वडा मेला था और ढोल और नगरे वडे जोर-जोरसे बजाये जा रहे थे और इन्हें यह आशा हुई कि घड़ेका

पानी छलके नहीं, उसमें से एक खूँद भी नीचे न गिरे, जिससे गिरेगा उसका सिर काट लिया जायगा । ये लोग घडे सिरपर रखें, बाजारमें घूमें; पर तिर कटनेके भयसे इनके मनकी इतनी एकाग्रता हो गयी थी कि इन्हें रास्तेमें न कही कोई बाजे सुनायी दिये, न इनका किसी ओर ध्यान गया, न किसीके घडेसे एक खूँद पानी नीचे गिरा । इसी प्रकार इमलोगोंमें जो साधु प्रकृतिके लोग हैं, वे इस जीवनयात्रामें मार्ग चलते हुए दीन-हुसियोंकी सहायता करते चलते हैं पर दिन-दिन घड़नेवाले प्रलोभनोंसे नहीं विचलित होते ।

सेवाका यह उपदेश सीधा-सादा-सा होनेपर भी इसके लिये यह तो आवश्यक होता ही है कि सेवा करनेवाला पुरुष, प्रथमतः, विशुद्ध और विनम्र हो । जिस पुरुषको अपनी शक्तियोंका अभिमान है और जो अपनी प्रतिष्ठाको सदा बनाये रहनेकी चिन्तामें व्यग रहता है, वह अपनेसे वडेके सिवा और किसीकी सेवा करनेका अधिकारी नहीं है । वडेकी सेवा भी वह आर्थिक लाभके लिये ही कर सकता है । गर्भका सिर कँचा ही होता है, पर प्रायः इसे नीचा ही देखना पड़ता है; नम्रता नमा करती है और दीनजन-सेवाके कार्योंमें दीनवत्सल भगवान्कों देखा करती है । सेवाधिकारीकी दूसरी आवश्यकता है प्रेमग्रह दृश्य । प्रेमसे ही दो माता अपने शिशुकी सेवा करती हैं और प्रेमसे ही पुत्र-पुत्री अपने डुँड़ माता-पिताकी सेवा करते हैं, चाहे माता-पिताके पास उन्हें देनेके लिये अब कुछ भी न रहा हो । प्रेमसे ही सेवा ही सकती है । प्रेमकी

उत्तिं होती है अहङ्कारकी लीनतामें और उसका लय होता है सेवा और आत्मदानमें । परन्तु किसीका प्रेम अपने परिवारमें ही बैंधा रह सकता है—ऐसे प्रेमको स्वार्थपरतासे कुछ अधिक नहीं माना जा सकता । यहांसे धर्मकी प्रवृत्ति आगे बढ़ती है और यह अनुभव होता है कि भक्ति जितनी ही गाढ़ी होती है, प्रेमका क्षेत्र भी उतना ही विस्तृत होता है । तब देश और धर्मके भेद भी भूल जाते हैं और साधु, संत, सिद्ध, महात्मा मनुष्यमात्रमें उसी प्रथुके दर्शन करते हैं और विश्ववन्धुसे छोटी किसी चीजसे सन्तुष्ट नहीं होते ।

संसारके कल्याण-साधनमें परस्परकी सेवा अनिवार्य है, क्योंकि कोई अंश अपने अंशीसे अलग नहीं रह सकता । यदि एक अंश दूसरे अंशसे और सब अंश अपने पूर्ण अंशीसे पृथक् हो जायें तो सम्पूर्ण कुछ रह ही नहीं जाता और अंश भी परस्पर सहयोगके अभावसे नष्ट हो जाते हैं । यदि एकल्प ही जीवनका साध्य है तो सेवा और सहायता ही इसके सावन हैं और विशुद्ध निःस्वार्थ परोपकारका एक छोटा-सा भी काम भगवान्की नित्य अचाक्षा ही एक कृत्य है । इस सेवामावक जगत्‌में प्रचार हो, सब लोग मुली हों, यही जरथुष-धर्मकी साधना है । सीधी-सी बात है, पर किसी कविने कहा है कि ‘इतने रात्से चक्ष-पर-चक्र काटते हुए ! इतनी जातियाँ और इतने सम्प्रदाय ! भला, इन सबका क्या काम या ?—जब कि जगत् जो कुछ चाहता है, वह इतना ही कि सदय हो दया करो, और कुछ नहीं !’

मृत्यु वाधिनको तरह पकड़कर ले जाती है

सुमं व्याद्रं महौघो वा मृत्युरादाय गच्छति । संचिन्वानकमेवैनं कामानामविलुप्तकम् ॥

वृक्षीश्वरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति । इदं कृतमिदं कार्यमिदमन्यत्कृतम् ॥

एवमीदासमायुक्तं मृत्युरादाय गच्छति । कृतानां कलमप्राप्तं कार्याणां कर्मसंगिनाम् ॥

जलका वेग जैसे सेले हुए धाघको बहाकर ले जाता है, वैसे ही काल नाना प्रकारके मनोरथ बाँधते हुए और कामनाओंसे अतुरु हुए पुरुषको वसीटकर ले जाता है । मैंडके बच्चोंकी जैसे वाधिन उठाकर ले जाती है, ऐसे ही मृत्यु पकड़कर ले जाती है । पुरुष यह विचारता होता है कि मैंने यह कार्य कर लिया, यह कार्य करनेको बाकी है, इस कामको आधा कर लिया है, अभी यह आधा और बाकी है, परन्तु इतनेमें ही मृत्यु उसके किसी कामका विचार न कर उसकी इच्छाओंके पूर्ण हुए विना ही पकड़ ले जाती है ।

(महा० शान्ति० २७७ अ० १८ से २० पलोक)

जरथुस्त्र-धर्मकी अग्नि-उपासना

(कैवल्य — श्रीनारेशान सोशाव की गोलवाल)

गूता मे मन्ता अग्नि
अहूमनिश् विद्वामे अहूर ।
प्रेषुषवार्द
वचंघाम्
क्षमत्रो हिवद्वा वसा
वा आशा सुखा मखदा
वंघहाम् वीदाता गन्धामो ।*

(गाथा ३१—३२)

पारसी जरथुस्त्र-धर्मकी समस्त क्रियाओंमें अग्निका बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है । संसारिक व्यवहारोंमें भी सर्वत्र अग्निकी ही प्रबन्धना है । देवका व्यापार अग्निसे ही चल रहा है । रेलगाड़ी और मिले—ये सब अग्निसे ही चलती हैं । यह अग्नि प्रकृतिकी बहुमूल्य मैट है । बृक्ष और लता आदिके उगने और बढ़नेमें अग्नि बहुत शक्ति प्रदान करता है । खातुओंके पिण्डलनेवाला अग्नि ही है । ज्वालामुखी और भूकम्प—ये भी अग्निकी ही क्रियाएँ हैं । हमारी मानवजातिमें भी यही अग्नि काम कर रहा है । सभी ग्राणियोंकी उत्पत्तिमें अग्निका हाथ रहता है । अग्नि बुझ जाय, तो हमारा जीवन समाप्त हो जाय । तारी सृष्टि अग्निसे चल रही है । इसके प्रताप और लाघुके कालण ही पारसी जातिमें अग्निकी उपर्युक्त ऐष्ट पद प्रदान किया है । वडे सम्मान और भक्तिभावके साथ पारसी लोग उसे प्रज्ञलित रखते हैं । वे विशेष प्रकारके भवन निर्माणकर अग्निको उनमें स्थापित करते हैं । इस प्रकारके भवन अग्नि-मन्दिर कहलाते हैं । अग्निके द्वारा ही संसारमें तम्मय होनेके लिये याचना करते हैं ।

अग्निकी महत्त्व दिखलाते हुए यज्ञस्नेके ४३ वें अच्यायके चौथे वाक्यमें शुद्ध वित्तकी शक्तिके लिये याचना की गयी है । जैसे—

अत शा मंग्हाहृ तस्मेन्द्या स्पेन्तेम मखदा
छत् ता जस्ता या त् हस्ती अदाओ
माओ दाओ अपीश द्रेवाईत अवाऊन्प चा

* हे महद, अपने उद्दीप प्रकाशके द्वारा उस वात्को सत्यमें अवस्थित करो, जो बुद्धिमान् है और आत्मज्ञानके साथ सदाचारका श्रवण और मनन करता हुआ वाक्तंशयी ही गया है तथा वाणीके द्वारा सत्यके प्रकाशनमें समर्थ है ।

व्याहा गरेमा आग्रो अण-अओजंगदो

हत् मोई वंघहेऊश हूं जिमत मनेवहा

(४३ । ४)

विद्वद् श्रीयतीन्द्रमोहन चटर्जी एम.० ८० ने अवस्ताके इस पद्यका इस प्रकार अनुवाद किया है—‘I thought you to be the seed of holiness, O Mazda, since Thine are those arms with which you give protection and by which you give blessing both to the good and to the bad. And that which will lend strength to my conscience, is your glowing fire glorious in virtue.’

‘हे मजद, मैंने तुझे पवित्रताके आदिकारणके रूपमें पहचाना, क्योंकि यह तुम्हारी ही शक्ति है जो आश्रय प्रदान करती है, और इसीके द्वारा भले बुरेका कल्पण होता है । और तुम्हारी यह पुण्यके प्रतापसे प्रज्ञलित अग्नि ही हमारी अन्तरामात्रोंको शक्ति प्रदान करती है ।’

बन्दीदाद नामक पारसियोंकी दूसरी पुस्तकमें लिखा है कि ‘हे प्रभु ! क्या अग्नि मनुष्यको मारता है ?’ तब होरमज्दे (प्रभु) ने कहा कि, अग्नि मनुष्यको मारता नहीं । अस्तो वियोतु देव (यम देवता) उसको बाँधते हैं और (मरत्) उसे बाँधकर ले जाते हैं । अग्नि उस मनुष्यकी इड्डियों तथा दिलकी गरमीको जलाता है । यहाँसे वह आगे जाता है और तकदीररसे वह नीचे जाता है । (बन्दीदाद ५)

यज्ञस्नेमें विभिन्न प्रकारके अग्निका वर्णन आता है । १७ वें प्रकरणमें सब अग्नियोंकी आराधना इस प्रकार की गयी है—

बेरेजी संबंधह नामक अग्निका हम स्तवन करते हैं ।

उर्वाजीश्त “ ” ” ” ” ”

वाजिश्त नामक अग्निका हम स्तवन करते हैं ।

स्पेनिश्त ” ” ” ” ” ”

नेरियोंसंध ” ” ” ” ” ”

तथा अहुरमज्दका उत्पाद किया हुआ और अहुरमज्दके द्वारा समस्त वस्तुओंको पवित्र करनेवाला जो अग्नि सब गूहोंका गृहस्थानी है और अशोईका सरदार है, उसका अन्य अग्नियोंके साथ हम स्तवन करते हैं । (यज्ञस्ने १७)

हे अग्नि, हुम अहुरमज्दकी निशानी हो । हुम दादार (प्रभु) की सुषिकी छूटि करनेवाले हो । हे अहुरमज्दके अग्नि, हुमद्वारे अनेकों नामोंमें एक नाम 'वाजित' है । हे प्रभु, हम इस नामके द्वारा हुम्हें प्राप्त करें । (यज्ञमें ३६)

अग्निकी ऐसी महिमा है, ऐसा उच्च स्थान इसको प्रदान किया गया है । तो पिर इसकी उत्पत्ति कैसे हुई, यह पहले अस्तित्वमें कैसे आया—इसका अन्येषण करके इसके द्वारा जो शान प्राप्त होता है, उसकी आलोचना की जायगी ।

अग्निकी उत्पत्ति (प्राचीन कालमें)

प्राचीन कालमें आजसे दस हजार वर्षसे भी अधिक पहले ईरानमें महान् पारसी आर्यन् राजा राज्य करते थे । इन आर्यन् राजाओंका पहला वंश 'पेशदावीअन' नामका था । इस वंशका सबसे पहला बादशाह 'गयोमर्द' था । उसका पुत्र स्थामक लङ्गाइमें मरा गया । उसके वियोगमें गयोमर्दकी मृत्यु हो गयी । इसके बाद हुशंगनामक बादशाह गङ्गीपर बैठा । गयोमर्दके समयमें अग्नि-जैसी वस्तुका पता न था ।

बादशाह हुशंगको शिकारका बड़ा शौक था । शाहनामे-का रचनिता कवि फिरदावी कहता है कि एक दिन बादशाह हुशंग अपने आदमियोंके साथ पहाड़ीकी ओर शिकारके लिये जा रहा था । इतनेमें उसे दूरसे लंबी, काले रंगकी और जल्दी-जल्दी दौड़ी हुई कोई वस्तु दिखायी दी । उस वस्तुके सिरपर दो ऊँचें रक्के चम्पेके समान थीं । उसके मुँहसे निकलती हुई भापके कारण दुनियामें ऊँधेरा छाया था । यह एक बड़ा भारी अजदहा (सर्प) था । बादशाहने एक बड़ा पत्थर उड़ाकर उसे अपनी सारी शक्ति लगाकर सर्पकी ओर फेंका । वह पत्थर अजदहाके सिरपर लगा और वह चूर-चूर हो गया । वह पत्थर उसके सिरपर लगनेके बाद पासके दूसरे पत्थरसे टक्करा गया और टक्करते ही उसमें चक्कमक (अग्नि) पैदा होनेके कारण पासकी धातु जल उठी । हुशंग और उसके साथी इस नयी जातिके तेजको आगे आता देखकर उसे लेने गये और उससे जल गये । यह तेज न्या है, इसका भान होते ही बादशाहने उसे और भी अधिक प्रज्वलित किया और उसका नाम 'आतिश' या अग्नि रक्षा ।

इस प्रकार अकस्मात् अग्निका आधिकार हुआ । बादशाहने इसके लिये विशेष भवन बनाया और उसमें उसकी स्थापना की । उसके पीछेके बादशाहोंने भी उसकी उची

प्रकार रक्षा की—अग्निको प्रज्वलित रखता । हुशंगके पीछे गङ्गीपर बैठनेवाले बादशाह तेरमुरसेने अग्निकी महत्ता बढ़ायी, और अपने देशमें तीन आतिशाकदेह (अग्नि-मन्दिर) बनवाये, और उनका नाम 'स्पेनिश्वत', 'वाजित' और 'बैरेजब्द' अग्नि रक्षा ।

इसके बाद बादशाह जमशेदने 'अनुफ्रयेवर्ग' के नामसे अग्निकी स्थापना की । बादशाह लोहराघरने 'नओ बड़ार' के नामसे आतिशाकदेह (अग्नि-मन्दिर) स्थापित किया ।

पारसियोंके महान् पैगम्बर महात्मा जरथुख्ने (आजसे ६००० वर्षसे भी पूर्व) अपनी हथेलीसे आग निकालकर मस्त हुए मोबेदों (ब्राह्मणों) को होतामें लाकर जश्न (यज्ञ) किया और 'आक्षर बूरजीन मेहर' के नामसे अग्निकी स्थापना की ।

पैगम्बरके बाद पाँच शताब्दियों बीत गयीं । ईरानके सभ्योंसे अन्तिम सासान वंशके अर्दशीर बाबेकरने नये खिरेए बादशाहत स्थापित की और नया शहर बसाया, तथा 'आतिश वेहराम' बनवाया । इस वंशके महान् बादशाह नौरीश्वानने अग्निकी महत्त्व बढ़ाया और 'आक्षर गोशीद' नामसे अग्निकी स्थापना की ।

इस सासान वंशके अन्तिम बादशाह यजदगर्दके बाद पारसी शाहनशाहत ही नष्ट हो गयी । मुसल्मान ईरानपर चढ़ आये । ईरानी और मुसल्मानोंके बीच युद्ध हुआ । ईरानी पारसी हार गये और मुसल्मान ईरानके अधिकारी हो गये । पारसियोंका धर्म और अग्नि दोनों सङ्कटमें आ पड़े । इस अग्निको बचाने और वर्षकी रक्षा करनेके लिये पारसियोंने अपने प्यारे बतन (मातृभूमि) को छोड़ दिया और वे बहुत बड़ी संख्यामें हिन्दुस्तानमें आये । इस देशमें पारसियोंको आश्रम मिला । (इस आश्रयको प्राप्त करनेके सम्बन्धमें बहुत जानने योग्य इतिहास है । उसे किसी दूसरे समय प्रत्युत करूँगा ।)

पारसी लोग हिन्दुस्तानमें आये । वे आज तेरह सौ वर्षसे हिन्दुस्तानमें वसे हुए हैं और हिन्दुस्तानको अपनी मातृभूमि बना लिया है । इस प्यारी मातृभूमिके लिये उन्होंने अपना तन-मन-धन प्रदान कर दिया है । कला-कौशल और व्यवसायमें उर जमशेदजी तातोका नाम आज खूब प्रसिद्ध है । राजनीतिमें देशके महान् दादा देशभक्त

दादामाई नौरोजीका नाम प्रत्येक हिन्दुस्तानी जानता है। स्वराज्यकी घोषणा करनेवालोंमें दादामाई पहले आदमी थे। जात-पाँतके भेदको छोड़कर सारे हिन्दुस्तानमें महान् दान करनेवाले पारसी लोग ही हैं।

पारसी लोगोंने इस देशमें अपने धर्मकी भलीभौति रक्षा की है। गुजरातके बड़े शहरोंमें जहाँ-जहाँ पारसियोंकी अच्छी बस्ती है, वहाँ-वहाँ पारसियोंने अग्रिमन्दिर बनवाये हैं और अग्रिकी स्थापना करके सारे देशमें अग्रिकी महत्ता बढ़ायी है।

अग्रिमन्दिरोंमें जो अग्रि प्रज्ञलित किया जाता है, उसके लिये कोयलेका प्रयोग नहीं होता। धर्मगुरु पृथक्-पृथक् अग्रियोंके साथ एक अग्रिकी स्थापना करते हैं। एक-दूसरेके साथ अग्रियोंकी मिलते समय गन्धकका एक टुकड़ा रुईके साथ सुलगाते हैं, और उसकी ज्योतिसे दूसरेको, उससे तीसरेको, चौथेको इसी प्रकार अग्रिकी निर्माण करते जाते हैं। अन्तमें सब ज्योतियोंमें अग्रि पवित्र हो जाता है, तब बर्मगुरु उस अन्तिम अग्रिकी स्थापना करते हैं।

अग्रि कोई मूलतन्त्र नहीं है, परन्तु वह नूरी चीज़ है। इसका धूमिल प्रकाश सबसे सुन्दर आत्माकी दृष्टिमें अनेकांकी नौकाके समान है। 'स्क्रिप्ट डॉक्ट्रिन' नामक पुस्तकमें अग्रिकी महिलाका वर्णन इस प्रकार किया गया है कि 'खनिज पदार्थ' और 'वनस्पतिमें बड़ा अन्तर है। उदाहरणार्थ, दीपके दीवर्योंकोई आकर्षण नहीं होता, परन्तु उसके प्रज्ञलित करते ही उसमें आकर्षण बढ़ता है। परन्तु इस आकर्षणके लिये तेलकी आवश्यकता पड़ती है। इंधर अग्रि है। इंधरका सबसे हल्का हिस्ता जो जलता है, वह इससे ही बना है।'

हमें दिखलायी देनेवाली सृष्टियें यही एक तत्त्व है जो सब प्रकारकी सजीव वस्तुओंके आकारकी क्रियाशक्तिके स्पर्शे व्याप्त है। इसीके कारण प्रकाश, उष्णता, भरण और जीवन आदि होते हैं।

इंधरका सबसे स्वच्छ रूप अग्रि है। इसी कारण उसका प्राकृतिक रूप नहीं बतलाया जा सकता। परन्तु वह सबसे स्वच्छ इंधरके साथ अभेदरूपसे रहता हुआ सृष्टिमें सर्वत्र मालूम पड़ता है।

अग्रि दो प्रकारका होता है—पहला निराकार या अवश्य अग्रि, जो मध्यविन्दुमें स्थित होकर आत्मसूख्यमें छिपा हुआ है; दूसरा पकट जागतिक अग्रि, जो सृष्टि और सूखमें समरूपोंमें रहता है।

प्रभु अहुरमज्द अग्रिमय शरीरवाले हैं। व्यक्त जगत्-के परे सर्वैकात्म्यरूपमें अग्रिमय प्राणवाले ईश्वर हैं। इस संसारमें वह मध्यविन्दुमें प्रतीत होनेवाले आत्मिक सूर्य तथा सृष्टिके आत्माके रूपमें तथा जगत्के स्थान ईश्वरके रूपमें परिगणित होते हैं। हमारी पृथ्वीके भीतर, बाहर और ऊपर अग्रिमय आत्मा विद्यमान है, जिसमें इवा यानी सूख अग्रि, जल यानी द्रव अग्रि और पृथ्वी यानी स्थूल अग्रिका आविर्भाव होता है।

पारसी जरयुद्धियोंका आतिशब्दहराम

पारसी जरयुद्धियोंने अपने अग्रिमन्दिरमें एक विशेष अग्रियोंको स्थापित किया है, वह मन्दिर 'आतिशब्दहराम' के नामसे कहलाता है। इसके गर्भगृहमें संगमरमरकी बैदीके ऊपर एक चाँदीया पीतलके आफरगाम्या (एक प्रकारके अग्रियात्र) में पवित्र अग्रियोंप्रतिष्ठित किया जाता है। इस अग्रियोंमें रात-दिन चन्दन जलाया जाता है। इससे एक सुन्दर बोध मिलता है। चन्दनका जलमा और सुगन्धका कैलना स्वर्गकी ओर जानेवाले मार्गको दिखलाकर, जहाँ ईश्वरका निवासस्थान है और जहाँ ईश्वरीय अग्रि सृष्टिके व्यवहारको चारू रखनेके लिये प्रज्ञलित रहता है, उस लोककी ओर भक्ति करनेवाले आत्माका ध्यान कँचा उठाता है। अग्रि प्रज्ञलित होता है और उसका तेज ऊपर चढ़ता है। वह मानो जीवनका मरान प्रकाश है और जुदा पड़े हुए आत्माके चिह्नोंप्रति धर्शित करता है। जिस खण्डमें अग्रि सदा प्रज्ञलित रहता है, वह सृष्टिकर्ता का सुन्दर नमूना अशोइकी शिल्पार है और अधिकारको दूर करनेवाला तथा मनुष्यके आनंदरिक नित्यजीवनको उच्च स्थानप्रदान करनेवाला है। उस खण्डके आकाशके ऊपर निराकार (अहट) प्रभुकी दृष्टिमें पड़नेवाली ज्योतिको आशो अहुरमज्दकी वन्दी करनेवाले अपना सिर समर्पण करते हैं। अग्रि ईश्वरका पुत्र है। वह इस भौतिक जगत्का स्थान है। और अपने पिता अहुरमज्दका प्रतिनिधि तथा अनन्त सुखका स्वामी है। वह मनुष्योंका कल्याण करनेवाला तथा सृष्टिका प्रकाश और जीवन है।

आज तो गुप्तशान अवनत दश्मामें है। ऐसे समयमें भी अग्रियों अपने प्रभुका अंश देखनेके लिये सारे पारसी अपने अन्तःकरणके उद्धरोंको प्रकाशित करते हैं। वैगम्बर जरयुद्धिके अनुधायी मानते हैं कि उनके ये पैगम्बर स्वर्वार्थ प्रकाशके प्रकाशक थे और प्रकाश (Light) उनका

पैगाम (सन्देश) था । सब तत्त्वोंमें अग्नि ही एक ऐसा तत्त्व है जो सदा आकाशकी ओर संकेत करता है । और जो विद्युत् (स्वर्ग) से अग्नि लाया था, उसने भौतिक जगत्में नीति और गुपशानके अन्धकार (अज्ञान) को दूर किया ।

पारसीलोग यज पक नया आदि-भन्दिर बनवाते हैं तब उसमें सब जगहोंके, समस्त कारीगरोंके और समस्त वर्णोंके लोगोंके यहाँसे अग्नि एकत्रित करते हैं । इसके लिये महीनों पहलेसे तैयारी होती है । देशके बादशाहके धरका अग्नि लिया जाता है, भिक्षुक्के धरका अग्नि लिया जाता है । उसके पश्चात् राजगीर, लोहार, बढ़ई, कुँभमर और सुनारके धरसे, और अन्तमें झुटके धरसे भी अग्नि लिया जाता है । इन सबको एकत्र किया जाता है । फिर विजली गिरनेपर जो जंगलके पेड़ जल उठते हैं, वहाँका अग्नि भी लिया जाता है । मृतकों की जलती चित्ताका अग्नि भी लिया जाता है । इस प्रकार १६ जातिके अग्नियोंको इकट्ठा करके अनुष्ठान किया जाता है और विभिन्न ज्योतियोंसे छनकर अन्तमें जो पवित्र अग्नि रहता है, उसकी पवित्र कियाओंके द्वारा स्थापना की जाती है । इस प्रकार पारसीलोगोंके अग्निमन्दिरमें बादशाही लेकर भिखारीतके धरका अग्नि बरता जाता है । और ये सब १६ अग्नि कियाओंके द्वारा एक बनते हैं । इससे एक यह अति सुन्दर बोध प्राप्त होता है कि जगत्में एक जीवन अनेकों आकारोंमें छिपा रहता है । अतएव केवल एक ही जीवनकी आराधना करनी चाहिये और वह अहुरमजदकी, ईश्वरकी । ईश्वर ही एक महान् जीवन है ।

अन्तमें, पारसी जरदोशी धर्ममें जो अग्निकी स्तुति की गयी है, वह अवस्थाके अनुसार यहाँ प्रस्तुत की जाती है । यह सारी स्तुति अवस्थामें ‘आतिश निआएश’ नामसे प्रसिद्ध है । प्रत्येक जरदोशी अग्निमन्दिरमें अग्निके सम्मुख खड़ा होकर अग्निके ऊपर चन्दनका हवन करते हुए कहता है—

नेमसे ते आतर्ती भजदाओं अहुरहे हुधाओं भजित यजत पजामे भजदान अहुरमजद खोदारा अवजूनी गोरजे खोरह अवजयाद । आतश बेहराम आदर फरा ॥ १ ॥

उस भोई उजारेष्वा अहुरा अर्महती तेवीरीम् दस्वा संनिश्च महान्यू भजदा बैधुया सदो-अदा अवा हजों पमवत वेहू मनवहा केसरतम् ॥ २ ॥

स्लेष्व वद्वेष्व तुवेष्टीम् व उक्तवेष्टीम् वन्तवेष्टीम् आक्रीमामी तव् आतश पुश्र अहुरहे भजदाओं येस्म्यो अहि दहम्यो येस्म्यो बुधाओं वहम्यो न्मनाहु मध्यकनाम । उक्त बुधात अहमाई नहरे यसे ध्वा बाव फ्रायद्वते अण्सो जस्तो बरेसो जस्तो यस्तो जस्तो हावनोजस्तो ॥ ३ ॥

दाईत्यो अभेदे बुधाओं, दाईत्यो बआईभि बुधाओं, दाद्यो पिधि बुधाओं, दाईत्यो उपस्थिते बुधाओं, परेनायुदा हंस्ये बुधाओं, दहायुश हरेश्वे बुधाओं, आतश पुश्र अहुरहे भजदाओं ॥ ४ ॥

सओचे बुये अहम्य न्मने, भतस्तांचे बुये अहम्य न्मने, रओयहि बुये अहम्य न्मने, बझये बुये अहम्य न्मने, दरेयमचित् अईपि बारवनेम्, उपसूरांत् क्षेत्रेतीम् हव न्मूर्याओं बैधुयाओं फ्रायो-केरतीर्त ॥ ५ ॥

दायाओ मे, आतर्द्य पुश्र अहुरहे भजदाओं, आसु खायेम्, आसु आईतीम्, आसु खतीम्, घोडसु खायेम्, पोइद्य श्राद्यतीम्, पोउह जितीम्, मस्तीम स्पानो, श्विजेम हित्यनाम् उक्ते उमि, खतूम पस्त्येय, मसित मज्जाओजेम अपहीरि-आओम् नाहरयाम् पस्त्येय हाम वरेतीम् ॥ ६ ॥

भावार्थ—

हे अहुरमजदके अग्नि, तुम कस्याण प्रदान करनेवाले और उपकार करनेवाले हो; तुम्हें नमस्कार हो ।

दादार अहुरमजद समस्त रुषिका स्वामी है, दृद्धि करनेवाला है । उसके नामसे मैं यह स्तुति करता हूँ । परमश्रेष्ठ अग्नि आतिश बेहरामका प्रताप वहे ॥ १ ॥

अत्यन्त दृद्धि करनेवाले और स्ववनका सुन्दर फल प्रदान करनेवाले दिव्य अहुरमजद, तुम मुझे पवित्र करो । दुष्ट कपोंसे दूर रखो । मेरी नष्टताके लिये मुझे शक्ति प्रदान करो । मेरी मङ्गलकामनाओंके बदले मुझे सरदारी दो ॥ २ ॥

अहुरमजदकी ओरसे सब वस्तुओंको पवित्र करनेवाले अग्निदेव ! दुष्टहरे उत्सव, तुम्हारी आराधना, तुम्हारे समर्पण, स्वास्थ्य प्रदान करनेवाले समर्पण, मैत्रीपूर्ण समर्पणकी मैं स्तुति करता हूँ । हे अग्नि ! तुम पूजनीय हो, तुम आराधना करने योग्य हो । जो मनुष्य द्वायमें देसम् लेकर, हाथमें बरसम् लेकर, हाथमें जुल्म म लेकर, हाथमें बाह्यम् लेकर, तुम्हारी सदा पूजा करता है, उस मनुष्यको प्रतिष्ठा और सुख प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

हे अग्नि, इस समय तुम कल्याणप्रद हो जाओ। इमरे शानमें कल्याणप्रद हो। भोजनमें कल्याणप्रद हो, तुम समिधामें निवास करो, भोजनमें निवास करो और इमारा मंगल करो ॥४॥

हे अग्नि ! सुदीर्घकालतक, राह-शाटमें, इस वरमें तुम सदा प्रज्वलित रहना, देवीप्रायमान रहना और वर्दित होते रहना ॥ ५ ॥

हे पवित्र अग्नि, मुझे तुम दीर्घजीवन दो, पूर्ण सुख प्रदान करो, पूर्ण पौष्टि प्रदान करो। स्थूलताको नष्ट करो, तीव्र वाणी प्रदान करो, मुझे प्रवीणता और बुद्धि प्रदान करो। मुझे ऐसा पौष्टि प्रदान करो जो सदा बढ़ता रहे, घटे नहीं ॥ ६ ॥

वेदसे कामना-साधन

(लेखक—प० श्रीगोपालनन्दद्वारा भिक्षु गोड वेदशास्त्री, वेदरक)

वेद हिंदू-धर्मका आधार-ग्रन्थ है। अस्तिक दर्शन इसीके वाक्योंके आधारपर अपनी-अपनी विचारशैली-द्वारा भिन्न भिन्न तत्त्वोंका उपदेश देते हैं। हमरे पुराण वैदिक शृण्योंके चमत्कार पुरुषादिमें वर्णित हैं। इनकी लोकोत्तर अद्भुत शक्तियोंको देखकर आशुतिक संसार इन माथाओंको 'कपोलकल्पना' कहनेपर उच्चत हो जाता है। हमरे धर्मके आधारखलाम्ब वेदको समस्त जागतिक विद्वानोंने सकल संसारका पुरातन ग्रन्थ स्वीकार किया है। वेदोंसे पूर्वका वा तत्त्वमालीन ग्रन्थ अभीतक उपलब्ध नहीं हुआ है। प्राचीन महर्षि वेदके द्वारा ही लोकोत्तर अद्भुत शक्तियों प्राप्त कर पाये थे; इसीलिये तो 'नान्यद् ब्राह्मणस्य कदाचिद्द्वन्नार्जनकिया, वेदाभ्यास और वैदिक उपासनाओंके अलावा ब्रह्माणके लिये धन कमानेकी कोई जल्दत नहीं है, ऐसा कहा गया है। अतः पुराणोंके महर्षियोंकी गाथाओंको 'कपोलकल्पित' बताना स्वकीय वेद-महत्वकी अनभिज्ञताका दूनक है।

मानव-संहितामें शृण्योद्वारा प्रभ हुआ है कि 'भगवन् ! अपने धर्मपालनमें तत्पर मनसा, वाचा, कर्मणा हिंसारहित वृत्तिवाले ब्राह्मणोंपर काल अपना हाथ चलानेमें कैसे समर्थ होता है ? इस प्रश्नका उत्तर क्या ही सुन्दर दिया गया है—

भगवन्मासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात् ।
आकर्षादादोपाच्च मूल्यविप्रजिवांसति ॥

(मनुसंहिता ५ । ४)

मनु भगवान्ने मृत्युके आनेका सर्वप्रथम कारण वेदोंके अनभ्यासको बताया है। पाठकोंके मनमें बढ़ा आक्षर्य होगा कि वेदमें ऐसी कौन-सी करामत है, जिससे काल भी उसका अन्यास करनेवालेका कुछ नहीं कर पाता। पाठकोंको

विश्वास रखना चाहिये कि वेद ऐसी-ऐसी करामाओंका खजाना है, जिनका किसी औरके द्वारा मिलना दुर्लभ है। यद्यपि वेदका मुख्य प्रयोजन अक्षय स्वर्ग (मोक्ष)की प्रसिद्धि है, तथापि उसमें सांसारिक जनोंके मनोरथ पूर्ण करनेके भी बहुत-से साधन बताये गये हैं, जिनसे ऐसिक तथा पारमार्थिक उभयलोकसिद्धि प्राप्त होती है।

पाठकोंको प्रतिदू नीलसूक्तके कवितय मन्त्रोंके कुछ साधन दिग्दर्शनार्थी नीचे बतलाये जाते हैं—

भूतादिनिवारण

नीचे लिखे मन्त्रसे सरसोंके दाने अभिमन्त्रित करके आविष्ट उपर्युक्त डाले तो ब्रह्मराक्षस-भूत-प्रेत-पिशाचादिए मुर्ति हो जाती है। मन्त्र—

अध्यवोचदधिकाता प्रथमो देव्यो भिषक् । अहीऽश्व
सर्वाभ्यमयन्सर्वांश्च भासुचान्पोऽधराचीः परासुव ।

(श० य० १६ । ५)

निर्विघ्न गमन

कहीं जाता हुआ मनुष्य उपर्युक्त मन्त्रको जपे तो वह कुशलपूर्वक चला जाता है।

बालशानिति

मा नो महान्तमुत मा नो अभेकमा न उक्षन्तमुत मा
न उक्षितम् । मा नो बद्धीः पितरं मोत मातरं मा नः
प्रियासुन्तो रुद्र रीरिषः ॥

(श० य० १६ । १५)

इस मन्त्रसे तिलकी १०,००० आहुति देनेसे बालक नीरोग रहता है तथा परिवारमें शान्ति रहती है।

रोगनाशन

नमः सिक्तस्याय च प्रवाहाय च नमः किंश्चिकाय च

अथवाय च नमः कपर्दिने च पुलकये च नम इश्वर्याय च
प्रपश्यत्य च । (शु० य० १६ । ४३)

इस मन्त्रसे ८०० बार कलशस्थित जलका अभिमन्त्रण
कर उससे रोगीका अभिषेक करे तो वह रोगमुक्त हो जाता है ।

द्रव्यप्राप्ति

‘नमो वः किरिकेष्मो०’ (शु० य० १६ । ४६) मन्त्रसे
तिलकी १०,००० आहुति दे तो घन मिलता है ।

जलबृष्टि

‘अदौ य’ (शु० य० १६ । ६३) इन दोनों मन्त्रोंसे
सतू और जलका ही सेवन करता हुआ, गुड़ और दूधमें
बेतस्फी समिथाओंको भिंगोकर हल्का करे तो ओर्सू-
नारायण भगवान् पानी बरसाते हैं ।

पाठकोंके शिरदर्शनार्थ कुछ प्रयोग बताये गये हैं ।
प्रयोगोंको सिद्धि गुरुद्वारा वैदिक दीक्षासे दीक्षित होकर

अधिकारसिद्धिके कर्म करनेसे होती है । दीक्षाके अलावा
मन्त्रोंके शृणि, छन्द, देवता एवं उच्चारण-प्रकार जानना भी
अत्याक्षरक है । भगवान् काल्यायनने कहा है—

एतान्यविदिवा योऽवितेऽनुबूते जरति युहोति यजते
याजयते तस्य ब्रह्म निर्वायै यात्यामं भवति । अयान्वरा अगते
वाऽऽप्यते स्वाणुं वर्द्धति प्रमीयते वा गापीयान् भवति ।

‘जो शृणि-छन्द-देवतादिके शानके विना पढ़ता है, पढ़ाता
है, जपता है, हल्का करता है, करता है, उसका वेद निर्वल
और निस्तत्त्व हो जाता है । वह पुरुष नरक जाता है या
सूखा पेह होता है या अकालभूत्युसे भरता है ।’

अथ विज्ञायैतानि योऽविते वस्य वीर्यवत् ।

जो इन्हें जानकर कर्म करता है, वह फलको प्राप्त करता
है । अतः साधकजनोंके लिये वैदिक गुरुप्रदिष्ट मार्गसे साधन
करना विशेष लाभदायक है ।

श्रीस्वामिनारायण-सम्प्रदायमें उपासना

(लेखक—प० शीनारायणजी शास्त्री नक्काशानन्द-मीमांसा-सांस्कृतीय)

विश्वास्मानं विधिज्ञा निजगुणनियतैः कर्मभिर्यजनन्ति
ध्यायन्ति ज्ञाननिष्ठा दृहरहृदयं ल्पायि यस्य स्वस्पृष्टम् ।
यत्संक्षेपैककामा विद्यपति नवधा यत्पदाम्भोजसक्ति
भुक्ति सुकेग्रस्थितां स दिशनु भगवान् स्वामिनारायणो नः ॥

वेदान्तके भिज्ज-भिज्ज सिद्धान्तोंमें ज्ञान, भक्ति तथा
उपासनाके स्वरूपोंमें न्यूनाधिक भेद अवश्य स्वीकार किया
गया है; परन्तु विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्तके अनुसार विचार
करनेसे इस भेदके लिये कोई अवकाश नहीं देख पड़ता ।
तात्पर्य यह है कि ज्ञान, भक्ति, उपासनाके स्वरूपमें
सामान्यतः भेद होनेपर भी उपनिषदोंमें धृष्टमाण ज्ञान,
भक्ति और उपासनाके स्वरूपमें कोई भेद नहीं है ।
उपनिषदोंमें इन तीनों शब्दोंका प्रयोग एक ही अर्थमें हुआ
है और उसीको ब्रह्मविद्या कहा गया है । उपनिषदोंके
उपासना-प्रकरणमें ‘विदि’ और ‘उपासि’ शातुका प्रयोग
एक दूसरेके अर्थमें किया हुआ स्पष्ट ही देख पड़ता है;
कहीं प्रकरणका आरम्भ ‘विदि’ शातुसे करके उपसंहार
'उपासि' शातुसे तो कहीं उपकम 'उपासि' शातुसे और
उपरंहार 'विदि' शातुसे किया गया है । उदाहरणार्थ,

चान्दोग्योपनिषद्के अथाय ४, स्ताड १ में—

यस्तद्वेद यस्य वेद स मयैषदुकः ।

इस स्थलमें ‘विदि’से उपकम हुआ है और—

अथो नु म एतां भगवो देवता शापि यां देवतामुषास्ते ।

—इस प्रकार ‘उपासि’से उपसंहार हुआ है । इसी प्रकार
'मनो ब्रह्मत्युपासीत'में 'उपासि' शातुसे उपकम होता है और—

भाति तपति च कीर्त्य यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एव वेद ।

—यहाँ ‘विदि’ शातुमें उपरंहार होता है । इससे यह
सिद्ध होता है कि ज्ञान और उपासना समानार्थक हैं । इसी
प्रकार ‘भक्ति’ और ‘सेवा’ शब्द भी ‘उपासना’के ही पर्याय
हैं । ‘सेवा भक्तिस्यासिः’ यह विद्वानोंकी उत्कि भी सेवा,
भक्ति एवं उपासनाके समानार्थक होनेका प्रमाण है । तात्पर्य,
ज्ञान, भक्ति, उपासना, सेवा-ये चारों ही शब्द एक ही
अर्थके बावजूद हैं ।

इससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि कुछ लोगोंका
यह कहना कि भक्ति, सेवा, उपासना आदि वैदिक

महीं बहिक पौराणिक हैं और इन्हें वैष्णवोंने चलाया है, कुतर्कमात्र ही है। उपासनामें भी मूल प्रमाण वेदोपनिषद् ही हैं और तन्मूलकतया स्मृति, इतिहास, पुराण एवं शिष्ठाचार भी प्रमाण हैं।

‘उपासना’ शब्द ‘उप’पूर्वक ‘आस्’ धातुसे बना है। ‘उपासना’ इसका अर्थ है परमात्माके समीप रहना। शब्दका अर्थ परमात्माका सामीप होनेसे वह देश-कालादिसे अनविच्छिन्न होना ही चाहिये। अर्थात् तैलधारावत् अविच्छिन्न दर्शनसमानाकार परमप्रेमरूप स्मृतिसन्तानात्मक कृतिविशेष ही भगवदुपासना है। वह उपासना मनुष्यमात्रकी मुकिका असाधारण उपाय है और उपाय ही नहीं, स्वयं मुक्ति भी है। शाश्वतदेशजन्य शन और नववा भक्ति—

आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो

मन्त्रव्यो निदिप्यासितव्यः ।

—इस श्रुतिसिद्ध दर्शनरूप उपासनाके साधन हैं। श्रुतिस्मृतियोंने इसी उपासनाको वेदन, दर्शन, व्याप, भूक्ता स्मृति, भक्ति आदि शब्दोंसे सूचित किया है। जैसे—

‘अहंविदाप्नोति परम्’, ‘भावानां लोकसुपासीत्’, ‘वसेवैकं जानथ अन्या वाचो विमुञ्चत्’, ‘भुवा स्मृतिः’, ‘स्मृतिलम्भे सर्वप्रव्याणीनां विप्रमोक्षः’;

‘निधत्ते हृदयाच्चिन्हितात्मे सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते चात्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥

‘भक्त्या स्वतन्त्र्या शक्यः’, ‘भक्त्या भासमिजानाति’

इत्यादि ।

इस तरह सामान्य-विशेषन्यायसे शन-भक्ति-ध्यानादि शब्दोंका अखण्ड तैलधारावत् अविच्छिन्न स्मृतिसन्ततिरूप परमप्रेमस्वरूप भगवद्विषयक उपासनामें ही स्वरसतः पर्यवरान होता है।

अथ खलु क्रतुभयः पुरुषो यथा-

क्रतुरस्मिन्होके पुरुषो भवति ।

—इस श्रुतिमें कहे हुए तत्क्रतु-न्यायसे उपासना याद्वशरूप-गुणविशिष्ट स्वरूपकी की जाती है, उपासनाका विषय ताद्वशरूप-गुणविशिष्ट स्वरूपकी ही प्राप्ति करा सकती है। अतः श्रुतिनिर्दिष्ट गुणगण-विशिष्ट भगवान्की ही उपासना करनी चाहिये। इसीसे

मनुष्य विविध तापसे मुक्त होकर स्वस्वरूपाविर्भावपूर्वक पूर्णब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति कर सकता है।

श्रीस्वामिनारायण-सम्प्रदायमें उपनिषद्वातिपाठ श्रीस्वामिनारायण- भगवदुपासन ही मुख्यतः मुकिका परमस्प्रदायके प्रन्थोंमें असाधारण कारण माना गया है। यहीं परमात्मापासन नहीं, प्रत्युत यह भगवदुपासन स्वयं भी निरतिशय परमानन्दस्वरूप होनेसे मुक्तिरूप ही है। भगवान् श्रीस्वामिनारायण अपनी ‘विश्वापत्री’में कहते हैं—

मतं विशिष्टाद्वैतं मे गोलोके धाम चेपितम् ।

तत्र ब्रह्मास्माना कृष्णसेवा मुक्तिश्च गम्यताम् ॥

‘विशिष्टाद्वैत मेरा लिदान्त है, गोलोक मेरा अभीष्ठ धाम है और ब्रह्मस्पैश्च श्रीकृष्णकी सेवा और मुक्ति ही मेरा परम लक्ष्य है।’

उन्दीके श्रीमुखसे निःसृत ‘श्रीसुधासिन्धु’ (वचनामृत) में कहा है कि ‘भगवान्के स्वरूपमें मनकी अखण्ड (तैलधारावदविच्छिन्न) वृत्ति रखना, इससे कोई साधन कठिन नहीं है। और जिस मनुष्यके मनकी वृत्ति भगवान्के स्वरूपमें अखण्ड रहती है, उसको उससे अधिक प्राप्ति शास्त्रमें कही नहीं है; क्योंकि भगवन्मूर्ति चिन्तामणितुल्य है। जैसे चिन्तामणि जिस पुरुषके हाथमें हो, वह पुरुष जिस-जिस पदार्थका चिन्तन करता है वह-वह पदार्थ उस पुरुषको अवश्य तुरंत ही प्राप्त होता है।’—इत्यादि । (वचनामृत, प्रथम प्रकरण, १) परन्तु ‘जिस मनुष्यके अनेक जन्मके सुकृत उदित होते हैं, उसी मनुष्यके मनकी वृत्ति भगवान्के स्वरूपमें अखण्ड रहती है; दूसरेके लिये तो भगवान्में अखण्ड वृत्ति रखना महादुर्लभ है।’ (वचनामृत, भृष्ण प्रकरण, ५६) भगवत्पौत्रिका लक्षण बतलाते हैं—‘भगवान्में प्रीति तो उसीकी सक्षी है, जिसकी भगवान्को छोड़कर अन्य पदार्थमें प्रीति ही न हो।’ (वचनामृत, भृष्ण प्रकरण, ५६) इस वचनसे—

नाथमात्मा प्रवचनेन कृम्यो

म भेदया न बहुता सुतेन ।

यसेवैष वृशुते तेन कृम्य-

स्वस्वैष भास्मा विकृष्टे तनूऽस्ताम् ॥

—इस श्रुतिप्रतिपादित परमप्रेमरूपताको कृचित् किया। भगवत्स्वरूपके विषयमें कहते हैं—‘ऐसे जो श्रीकृष्ण भगवान् हैं, वे प्रकृति-पुरुषस्वयं अपनी शक्तिसे विशिष्ट होते हुए प्रत्येक जीवके अंदर अन्तर्यामिस्वरूपसे विद्यमान हैं।’

(वचनामृत, प्रथम प्रकरण, १३) इस वचनसे उपास्य-स्वरूपका अन्तर्योगित्वं तथा कर्मफलदातुरूप असाधारण गुणयोग दिल्लाया, जो भगवान्को छोड़कर अन्यत्र कही नहीं है । उपास्यस्वरूपका आगे और वर्णन करते हैं—‘अक्षर धारमें श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम नारायण सदा विराजमान है’……‘वह पुरुषोत्तम नारायण सदे के स्थामी हैं और अनन्त-कोटि देवताएँ राजाधिराज हैं ।’ (वचनामृत, प्रथम प्रकरण, २३) इस वचनसे ‘जन्मायस्य यतः’, ‘यतो वा इमानि भूतानि’ इत्यादि श्रुतिप्रतिपादित परमात्माका जगजन्मादिकारण-स्वरूप सम्पूर्ण ऐश्वर्य बतलाया । एवं भगवान् तथा भगवान्के भक्त सदा साकार ही हैं । (वचनामृत, प्रथम प्रकरण, ३३)—इससे भगवान् तथा भगवान्के भक्त मुक्तोंकी सदा दिव्य साकारता बतलायी, जिसका ‘योऽशावही पुष्पः’, ‘आप्णाखातसर्व एव सुपर्णः’, ‘यथा कव्यास्तपुण्डरीकम-विणीः’, ‘महारजं वासः’ इत्यादि श्रुतियोंमें वर्णन है । द्वाक्षर्ये भगवान्को जो अरुप और निर्गुण कहा है, वह तो मायिक स्वयं तथा गुणका निषेध करनेके लिये कहा है । परन्तु भगवान् तो जित्य दिव्यमूर्ति हैं और अनन्तकल्प्याण-गुणयुक्त हैं । इस प्रकार उपास्य परमात्मस्वरूपका वर्णन ‘श्रीमुधासिन्मु’ अर्थात् वचनामृतमें बहुत प्रकारसे किया गया है । यहाँ केवल दिग्दर्शनमात्र कराया है ।

श्रीशिक्षापत्रीमें भी—

स श्रीकृष्णः परं ब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तमः ।
उपास्य इष्टदेवो नः सर्वादिभिर्बोक्तारणम् ॥

—इस वचनसे सर्वाचिमावके कारणस्वरूप अक्षराधिपति परब्रह्म पुरुषोत्तमकी ही उपास्यता बतलाते हैं और ‘न तु जीवा नृदेवाद्या भक्ता ब्रह्मचिदोऽपि च’ इस वाक्यसे भगवान्को छोड़ अन्य सबकी अनुपास्यता । श्रीनियानन्द-मुनिविरचित ‘श्रीहरिदिव्यजय’ ग्रन्थमें उपास्यस्वरूपका इस प्रकार निरूपण है—

सर्वज्ञं सर्वशक्तिं च परं ब्रह्म एवात्मरम् ।
सर्वान्तरायमा भगवान् स पदं पुरुषोत्तमः ॥
भूता सर्वशक्तीरस्य तस्य सर्वान्तरायमना ।
श्रावशक्त्यादिकल्प्याणगुणधृष्टपुस्तारतः ॥

शाकुण्ययौगमात्रिय स्मर्यते भगवान्किति ।

परे यदेष पुरुषात् श्रावण त्वक्षरदिपि ॥

अथात् सर्वत्र, सर्वादिक्तिमान् परात्पर जो परब्रह्म है, वही सबके अनन्तरायमा भगवान् श्रीपुरुषोत्तम हैं । वे ज्ञान, शक्ति आदि कल्पाणगुणशणविशिष्ट हैं और सब शरीरोंमें अनन्तरायमात्रपसे अवस्थित हैं । पहुँचैश्वर्ययोगसे वे भगवान् कहाते हैं, वे धरपुरुष और अक्षरब्रह्म दोनोंके परे हैं ।

इन भगवान्की प्रीतिके क्रियमें इसी ग्रन्थमें आगे जो कुछ कहा गया है, उससे स्पष्ट होता है कि इन नित्य स्वभावसिद्ध अपार आनन्दस्वरूप भगवान्को जो भक्ति है, वह ज्ञानकी पराकाशा है । भक्तिको जो ज्ञानका अङ्ग बतलाते हैं, वे इसके तत्त्वको नहीं जानते—‘ज्ञानाङ्गता बदेवास्तु भक्तः स तु न तत्त्वशित् ।’ अतः श्रीस्वामिनारायणस्प्रदायमें भगवद्ग्रन्थिया उपासनाका बहुत ऊँचा शान है । श्रीशाहिण्डिल्यसूत्रपर जो श्रीनियानन्दविरचित भाष्य है, उसमें उपास्यस्वरूपका बहुत सुन्दर मनोहर वर्णन करके उपासनाका यह लक्षण किया है कि ऐसे जो कारण, सौशील्य, वात्सल्य, औदार्य तथा ऐश्वर्यके पारावार, प्रणालीके आर्तिनाशन, भक्तवास्तव्यक्तजलधि, अनन्तक्षर्यमहिमाभूति, प्रब्रह्मभूतानन्तकोटिमुक्तोपासित जिनके नरण-कल्प हैं, जो कोटिकन्दरलावण्यस्वरूप और नवीन-नीरदश्यामलतनु हैं, विविध विविध वज्रभूषणभूषित हैं, जिनके पूर्ण शारद-चन्द्रवदनका मन्द हास्य अल्पन्त मनोहर है, अनेक कोटि सूर्येन्दुओंके भी मुग्धन् प्रकाशसे अधिक समुज्ज्वल जिनकी कान्ति है, श्रीदाम-नन्दादि पापदं जिनका वशेशान करते रहते हैं; चक्रादि आत्मीय आमुख जिनकी चरणसेवामें लगे हैं, उन अस्तित्व निगमसंस्तुत दिव्यचरित भगवान् पुरुषोत्तमकी महिमाको जानकर उनसे जो अनन्य प्रेम करना है, वही पराभक्ति और वही सच्ची उपासना है ।

श्रीस्वामिनारायण-सम्प्रदायमें सर्वाचिमाविकारण अक्षराधिपति पुरुषोत्तमलपसे श्रीस्वामिनारायण भगवान्की उपासना की जाती है और सम्प्रदायके सभी निष्ठावान् पुरुष इस प्रकार श्रीस्वामिनारायणके स्वप्नमें श्रीपुरुषोत्तमकी उपासना कर अपनी ऐहिक तथा पारलौकिक परम उिद्धि ग्रास करते हैं ।



श्रीस्वामिनारायणके मतानुसार साधन

(लेखक—वेदान्ततीर्थ सांख्योग्रह पं० श्रीश्रेत्रैकुण्ठ शास्त्री)

तब दार्शनिकोंकी भाँति श्रीस्वामिनारायण भगवान्‌ने भी स्वस्वरूपादिर्भावपूर्वक ब्रह्मप्राप्तिके कुछ साधन निश्चित किये हैं, जिनका विवरण इस लेखमें दिया जायगा ।

योगशास्त्रके ‘शौचस्त्वातोषतपःस्वाध्यायेष्वरप्रणिधानाति’ इन साधनोंमें शौचसे लेकर स्वाध्यायपर्यन्त मोक्षके साक्षात् साधन नहीं हैं, बल्कि चित्तशुद्धिद्वारा ईश्वर-प्रणिधानके साधक साधन हैं; मोक्षका साक्षात् साधन तो ईश्वरप्रणिधान ही है । ‘आहिंसात्यात्येष्वरब्रह्मचर्यापरिग्रहाः’ भी चित्तशुद्धिद्वारा ही मोक्षके साधक होनेसे, मोक्षके प्रत्यक्ष नहीं बल्कि अप्रत्यक्ष साधन हैं ।

मोक्षरूप साध्यका स्वरूपं स्वस्वरूपादिर्भावपूर्वक ब्रह्मप्राप्ति है । स्वस्वरूपादिर्भाविका अभिप्राय यह कि जीवात्माका अपना जो मूलभूत स्वरूप है अर्थात्—

अपहृतपापाभा विज्ञरो विश्वत्युर्विश्वोको विजिविल्ल-
प्रपियासः सर्वकामः सर्वयसङ्कल्पः ।

—उस स्वरूपका आदिभाव । और तब मायाके अष्टावरण—

भूमिशरापोऽनलो वायुः स्त्र मनो त्रुटिरेत च ।

अहङ्कार इतीर्थं मे भिजा प्रकृतिरश्चथा ॥

—से रहित दिव्यलोक या अक्षरधारामें भगवान्‌की प्राप्ति, यही मुक्तिका स्वरूप है । यही बात इन श्रुतिवचनोंसे प्रतिपत्त होती है—

‘परं ज्योतीर्हं सम्बूक् स्वेन हृषेणाभिनिष्पत्ते ।’,
‘तमेव विदिस्वातिष्ठत्युमेति’, ‘परापरं पुरुषसुर्यंति विष्यम् ।’

—इत्यादि ।

अर्थात् प्राकृत गुणोंसे मुक्त होकर स्वस्वरूपमें स्थित हो भगवान्‌को प्राप्त करता ही परममोक्ष है ।

इस सम्बन्धमें एक बार मुक्तस्वरूप श्रीमुक्तानन्दस्वामी-ने श्रीस्वामिनारायण भगवान्‌से प्रश्न किया, ‘भगवन् । अक्षरधारामें भगवान्‌के भक्त भगवान्‌की जिस सेवामें रत होते हैं, वह किन साधनोंसे प्राप्त होती है?’ इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान् स्वामिनारायणने सोलह साधनोंका निर्देश किया—
(१) श्रद्धा, (२) स्वधर्म, (३) वैराग्य, (४) इन्द्रिय-

निग्रह, (५) आहिंसा, (६) ब्रह्मचर्य, (७) सातुसमागम, (८) आत्मनिष्ठा, (९) भगवन्माहात्म्यज्ञानसे युक्त भगवद्भक्ति, (१०) सन्नोष, (११) अदाप्रिमत्व, (१२) दया, (१३) तप, (१४) अपनी अपेक्षा गुणोंमें बड़े जो भगवद्भक्त हों उनमें गुरुभाव रखना, (१५) जो समक्षकोंमें भगवद्भक्त हों उनमें मित्रभाव रखना और (१६) जो अपनेसे कमिष्ठ हों उनमें शिष्यभाव रखकर उनका हित करना । भगवान्‌के ऐकानिक भक्त इन साधनोंके द्वारा अशरथामें भगवान्‌की सेवा लाभ करते हैं । योगादि शास्त्रोंने जो साधन बताये हैं, वे इन सोलह साधनोंमें सर्वथा आ ही जाते हैं ।

(१) श्रद्धा—कठोपनिषद्की नाचिकेत कथा प्रसिद्ध है । नचिकेतके पिता वाजश्रवाने यजपलकी इच्छासे विभजित् यश किया और दक्षिणामें सब धन दान कर दिया । अपने पिताको इस प्रकार शूलियज्ञोंके हाथ धन और गौओंको दान करते देखकर नचिकेताके हृदयमें श्रद्धाका आवेश हुआ और उसने पितासे पूछा, ‘मुझे आप किसको दान करेंगे?’ वाजश्रवाने कहा, ‘मूल्युको !’ और सचमुच ही उन्होंने अपने पुत्र नचिकेताको मूल्युको दान कर दिया । नचिकेता-पर मूल्युदेव प्रसन्न हुए और उसका उत्तम आदर-संकार करके उससे उन्होंने तीन वर माँगनेको कहा । नचिकेताने जो तीसरा वर माँगा, वह यह या कि देहादिसे अतिरिक्त जो आत्मा है उसकी विद्या मुझे दीजिये । मूल्युने बालकको यह राज्य देते हैं, यह भोग देते हैं—इत्यादि अनेक प्रलोभन दिये; पर बालकने एक न सुनी और आत्मविद्याका जो वर उसने माँगा या, उसको पूरा करनेका आग्रह करने लगा; क्योंकि वह अद्वाये आविष्ट या । उसकी ऐसी अटल अद्वा देखकर मूल्युदेवने उसे वह विद्या बतायी, जिसका माहात्म्य स्वयं श्रुति ही इस प्रकार वर्णन करती है—

य इमं परमं गुणं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि ।

प्रथतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कर्षते ॥

तदानन्त्याय कर्षते ।

अर्थात् जो कोई इस परमगुण शानको ब्राह्मणोंकी सभा-में अथवा श्राद्ध-प्रसंगमें सुनाता है, उसका यह कृत्य आनन्द्य-को अर्थात् अनन्त ब्रह्मको प्राप्त करनेकाला होता है । अद्वा-

का यह फल है। भगवान् श्रीकृष्ण भी गीतामें कहते हैं—

अद्वैताहमते शानं तत्परः संपत्तेन्द्रियः ।
शानं लब्जा परो शास्त्रिमधिरेणादिगच्छति ॥

(२) स्वतर्म—अपने-अपने वर्ण और आश्रयका धर्म पालन करना, परम्परका आचरण न करना और पाषण्ड-मतको भी न मानना। इस विषयमें श्रीस्वामिनारायणका स्पष्ट आदेश है—

स्ववर्णात्रमधर्मो यः स हातब्द्यो न केनचित् ।
परथर्मो न चाचर्यो न च पाषण्डकलिपतः ॥

गीतामें भी भगवान्का वचन है—

स्वधर्मे विचरनं ध्रेयः परथर्मो भयावहः ॥

(३) वैराग्य—स्वामिनारायणने वैराग्यका यह लक्षण किया है—

वैराग्यं ज्ञेयमधीतिः श्रीकृष्णेत्रवस्तुपु ।

अर्थात् भगवान्के अतिरिक्त अन्य पदार्थोंमें अप्रीति अर्थात् अनुरागका न होना ही वैराग्य है। जहाँतक विषयोंमें प्रीति है, वहाँतक ईश्वरप्रणिधान नहीं होता। इसलिये वैराग्य आवश्यक है।

(४) इन्द्रियनिग्रह—इस विषयमें स्वामिनारायणका यह आदेश है—

सर्वेन्द्रियाणि ज्ञेयानि रसना तु विशेषतः ।

अर्थात् सब इन्द्रियोंका जय करे, पर रसनाका विशेष रूपसे। श्रीमद्भागवतमें इन्द्रियोंका विषयोंकी ओर दौड़ना ही बन्ध और इन्द्रियोंका संयम ही मोक्ष कहा गया है—

बन्ध इन्द्रियविक्षेपो मोक्ष एषां च संयमः ।

(५) आहंस—श्रीस्वामिनारायणने अपने आश्रित सत्त्वंगियोंको स्पष्ट ही आदेश दिया है कि किसी भी प्राणीकी हिंसा न करें; और खटमल आदिको भी जान-बूझकर न मारें—

कस्यापि प्राणिनो हिंसा नैव कार्योत्र मामकैः ।

सूक्ष्मयूक्तमस्तु आदर्थि बुद्ध्या कदाचन ॥

(६) ब्रह्मचर्य—ब्रह्मकी प्रारंभिके लिये ब्रह्मचर्य तो सबसे पहले आवश्यक है। ‘यदिच्छतो ब्रह्मचर्यं चरन्ति’ यह श्रुति है। कारण, ब्रह्मचर्यके बिना सदुपदेशका यथार्थ बोध हो ही नहीं सकता।

‘अथ वैष्णव हृत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्वद्वर्णेण श्वेतां स्मानमस्तुविच्छिते ।’

इस श्रुतिमें भशको ब्रह्मचर्य ही कहा है। ब्रह्मचर्यके विना यक्षकी सिद्धि नहीं होती। देवपक्षसे इन्द्र और अमुर-पक्षसे विरोचन बत्तीस-बत्तीस वर्ष ब्रह्मचर्य पालन करके तब आत्माको जाननेके लिये प्रजापतिके पास गये थे। प्रजापतिने आत्मविद्याका जो प्रथम उपदेश दिया, उसे सुनकर इन्द्र और विरोचन लौट गये। विरोचन उतनेसे ही सन्तुष्ट होकर फिर प्रजापतिके पास नहीं आया। पर इन्द्रका उतनेसे सन्तोष नहीं हुआ। वह प्रजापतिके पास लौट आये। तब प्रजापतिने उन्हें फिर बत्तीस वर्ष ब्रह्मचर्यवत्से रहनेको कहा। उसके बाद आत्मविद्याका पुनः उपदेश दिया। फिर भी समाचारन नहीं हुआ। तब बत्तीस वर्ष फिर ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक रहनेके पश्चात् पुनः उपदेश दिया। पर इससे भी पूरा काम नहीं हुआ। तब ५ वर्ष और ब्रह्मचर्य-पालन करके इन्द्र प्रजापतिके पास रहे। इस प्रकार १०१ वर्ष ब्रह्मचर्यपालन करनेके बाद इन्द्रको आत्मशान हुआ। इसलिये ब्रह्मचर्यको साधनोंमें सबसे बलवत्तर साधन जानना चाहिये।

(७) साधुसमाजम—श्रीमद्भागवतमें यह प्रतिपादन हुआ है कि ज्ञानियोंको भी अपनी आसक्तिका पाश बड़ा ही कठिन मालूम होता है, पर साधुसमाजमें यही आसक्ति खुला हुआ मोक्षका द्वार बन जाती है—

प्रसङ्गमजरं पाशमास्यनः कवयो विदुः ।

स एव साधुषु कुतो मोक्षद्वारमपावृतम् ॥

(८) आत्मनिष्ठा—श्रीस्वामिनारायण आत्मका स्वरूप इस प्रकार बतलाते हैं—

हस्तोऽप्युक्तमशिद्दृपो ज्ञाता व्याप्यासिलो ततुम् ।

ज्ञानशक्त्या स्थितो जीवोऽहेऽप्लेषादिलक्षणः ॥

अर्थात् जीव हृदयमें स्थित है, अणु-सदृश सूक्ष्म है, चिद्रूप है, ज्ञाता है और अपनी ज्ञानशक्तिके समग्र शरीरको व्याप कर रहता है। उसे अच्छेद्यादि लक्षणोंसे युक्त अर्थात् अच्छेद्य, अदात्य, अहेत्य, अशोष्य, नित्य, अजर, अमर, अशोक, सत्यकाम, सत्यसङ्कल्प जानना चाहिये। अपने आपको इस प्रकार निश्चयपूर्वक जानना ही आत्मनिष्ठा है। आत्मस्वरूपके विषयमें यह श्रुति है—

न जायते ज्ञियते वा विपश्च-

ज्ञायं कुतश्चित्त चमूष चक्षित् ।

अजो नित्यः क्षाशतोऽयं पुराणो
न हन्ते हन्तमाने शरीरे ॥

(१०) महात्मगानयुक्त भगवद्वक्ति—‘माहात्म्यशान्-
सुभूरिस्मेहो भक्तिक्ष माध्ये ।’ भगवान्के प्रति माहात्म्य
और ज्ञानसे सुकृ स्नेह ही भक्ति है ।

अर्थात् क्षीरतं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।

अर्थात् वद्वनं दृष्ट्वं सर्वमात्मनिवेदनम् ॥

—यह नवधा साधन भक्ति है । दसवीं भक्ति प्रेमलक्षणा
है, जिसमें भक्त और भगवान्के बीच कोई व्यवधान नहीं
रहता । माहात्म्यज्ञानसे ही भक्तिका उद्ग्रेक होता है ।

(११) सन्तोष—भागवतपुराणका वचन है—

पण्डिता बहवो राजन् बहुज्ञः संशयच्छिदः ।

सदसत्पत्योऽये के ह्यासन्तोषात्पत्तनयथः ॥

कितने पण्डित, बहुज्ञ, संशयका द्वेदन करनेवाले,
सदसत्पत्ति होकर भी असन्तोषसे अध्ययतित हो जाते हैं ।
सन्तोषके विना आत्मोन्नतिका साधन हो ही नहीं सकता ।

यह अच्छ्योपपत्तेन सन्तोषो मुक्तये स्मृतः ।

जिस किसी भी अवस्थामें सत्तुष्ट रहना भुक्तिका कारण
हो जाता है ।

(१२) अद्रमित्व—दम्भका सर्वथा त्याग ।

(१३) दद्या—दद्याभावसे भगवान् प्रसन्न होते हैं ।
श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

दद्या सर्वभूतेषु सन्तुष्ट्या प्रेन केमित् ।

सर्वेन्द्रियोपज्ञान्या क्ष तुष्ट्यामु जनार्दनः ॥

‘प्राणिमात्रपर दद्या करने, जो कुछ मिले उससे सन्तुष्ट
रहने और सब इनिद्रियोंके ज्ञान-दान्त होनेसे भगवान् दुर्वत
प्रसन्न होते हैं ।’

(१४) तप—आत्मचिन्तनकी पात्रता चित्तशुद्धि के
विना नहीं होती और चित्तशुद्धि तपके विना नहीं होती ।
इसलिये तप आवश्यक है ।

(१५) अपनेसे गुणोंमें बहे जो भगवद्वक्त हैं, उनमें
गुह्यमात्र रखनेसे उनकी किञ्चित् कृपा भी महत्कल्याण करनेमें
समर्थ होती है ।

(१६) अपनेसे जो कनिष्ठ हैं, उन्हें साहयताके पात्र
जानकर उनका दित करना, भगवान्के मार्गमें उन्हें आगे
बढ़ाना भगवान्को ही प्रसन्न करना है ।

इन सोलह साधनोंको जो लोग अद्वा-भक्तिके साथ
सानन्द करते हैं, उन्हें यहाँ भी वही आनन्द प्राप्त होता है
जो भगवद्वाममें पहुँचे हुए मुक्त पुरुषोंको होता है । करके
देखनेसे वह आप ही प्रत्यक्ष हो सकता है ।

थियासफोकी साधना

(लेखक—श्रीहेमद्भागवत दत्त, एम् ५०, बी०४८०, वेदानन्द)

श्री‘कल्याण’-सम्पादकका अनुरोध है कि इस साधनाक्रमें
मैं थियासफीकी साधनाके सम्बन्धमें कुछ लिखूँ । मैं यह बात
स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि हिंदूर्धम, बौद्धर्धम, पारसीवर्म
अथवा ईसाईर्धमके समान थियासफी कोइं धर्मसम्प्रदाय
नहीं है । थियासफीको धर्मका विशुद्ध गणित करा गया है,
और यही उसका यथार्थ वर्णन है । सब धर्मोंके पाँठे और
परे वद हुआ करता है । जिस पुरातन ज्ञानको उपनिषद्में
ब्रह्मविद्या कहा जाता है, जो पराविद्या होनेसे पुरातन वेदान्त-
से अभिन्न है, उसीको आधुनिक ज्ञानमें थियासफीका
उद्घोष करनेवाली देवी श्रीमती एच० पी० ब्लायेट्स्कीने
समस्त मानव-ज्ञानका आदि और अन्त माना है । अब यह
देखें कि इस थियासफीका साधनाके सम्बन्धमें क्या कहना है ।

प्रथमतः थियासफीमें जीव या व्यष्टिपुरुषप्रमात्रको
भगवदंश (शीताके शब्दोंमें ‘मैत्रेवाद्यः’), विश्वार्चिका एक
स्फुलिङ्ग, अमृतमिन्द्रिया एक तरङ्ग कहकर, इस प्रकार
'तत्त्वमसि', 'सोऽहम्' आदि वेदान्त-महावाक्योंका समर्थन
किया गया है । जीव और ब्रह्म इस प्रकार एक ही हैं; दोनों-
की एक ही सन्-चिन्त-आनन्दस्वरूप प्रियिध सत्ता है ।
अन्तर केवल इतना ही है कि ब्रह्म सुव्यक्त सचिदानन्द,
शक्ति-ज्ञान-आनन्दकी महामहिम त्रिमूर्ति है (जैसा कि
थियासफीकी परिभाषामें कहा जाता है), और जीव अव्यक्त
सचिदानन्द है—उसमें ये दोनों भाव अभी अव्यक्त हैं ।
इसलिये थियासफी जीवको ‘ब्रह्मभूय’ कहती है अर्थात्
विकासक्रमसे जीव किसी दिन ईश्वरके पूर्ण साक्षर्म्भको प्राप्त

होगा और यह कहेगा कि मैं और मेरा पिता दोनों एक हैं। यह सिद्धि किस प्रकार होगी? जीवके अंदर सुन ये तीन भाव—शक्ति, शान और आनन्द किस प्रकार जाग्रत् और व्यक्त होंगे? यह कार्य साधनासे होगा।

धियासफीका यह सिद्धान्त है कि जीव-बीज प्रकृतिकी योनिमें बोये जाते हैं—

मम योनिमहद्वान् तस्मिन् गर्भं इवाम्यहम् ।

अशक्तिकी अवस्थामें इनका वपन होता है, जिसमें एक दिन शक्ति-सम्पन्न होकर उठें, और छोटे-छोटे बीजोंसे बड़े-बड़े सुट्टे बृक्ष बनें अथवा टिमटिमाती हुई चिनगारियाँ जलती-धृथकती हुई ज्वालाएँ बनकर फैलें।

इसीको सिद्ध करनेके लिये जीवको मानो एक बड़ी लंबी यात्रा करने भेज दिया गया;

तस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे ।

‘ब्रह्मचक्रमें हंसको (धियासफीमें उसे Monad कहते हैं) भ्रमण करना पड़ता है।’ इरु चक्रके दो अद्विभाग हैं, जिनका विचार आगे करेंगे। इनमेंसे एक प्रवृत्तिमार्ग है और दूसरा निवृत्तिमार्ग।

हंसने पहले खनिज धातु-जगत्में प्रवेश किया और कई जन्म उस योनिके शिताकर यह वनस्पति बना। वनस्पति-योनिसे मरकर और उस जातको पीछे छोड़कर वह पशु बना। पिर काल प्राप्त होनेपर पशु-जीवनसे मरकर वह मानुषी-तनुमें प्रविष्ट हुआ।

एक प्राचीन द्विद्वयमें विकासकी इन अवस्थाओंका प्रायः पूर्ण वर्णन देखकर बड़ा कुतूहल होता है। इसमें यह कहा गया है कि धातुयोनिमें जीवको बराबर २० लाख बार जन्म लेना पड़ता है, तब यह वनस्पति-स्थाइमें आता है। वनस्पति-योनिमें उसे ९ लाख जन्म लेने पड़ते हैं, इतनी ही बार सरी-सुप्तयोनिमें, १० लाख बार पक्षियोनिमें, ३० लाख बार पशु-योनिमें और चार लाख बार वानरयोनिमें, इतनी योनियोंमें इतनी बार भ्रमण करके अन्तमें वह मनुष्य-योनिको प्राप्त होता है।

मनुष्य होनेपर वह पहले असत्य और पीछे धैर-धैर सम्प होता है। इस समय जगत्में जो मनुष्य हैं, उनमेंसे अधिकांश ‘सम्प’ पदवीको प्राप्त हैं; पर मनुष्य ‘अभी अर्थात् है, गर्भस्थ अर्पक-सा विद्वृ, अकृत, अधूरा और असिद्ध

है।’ (सर आलीबर लाज) अर्थात् अभी वह प्रवृत्तिमार्गपर चल रहा है—जो कुछ मिलता है, उसे लेता हुआ आगे बढ़ रहा है। इसके बाद उसे कोना काटकर निवृत्तिमार्गपर आना होगा; इस मार्गमें आगे बढ़नेका साधन जो कुछ है, उसे देना है, त्याग करते हुए आगे बढ़ना है। अब वह समय आ गया है, जब जीवको साधनका आश्रय करके साधन-क्रमसे इस तरह चलना होगा कि ‘उसका नवीन जन्म हो, ऊपरसे जन्म हो।’ भ्रातव्यर्थमें द्विजन्मा पुरुषको ब्राह्मण कहते हैं। बृहदिद्धिष्णु-पुराणमें कहा है कि लाखों जन्म भटक कर अन्तमें जीव ब्राह्मणत्वको प्राप्त होता है। ब्राह्मणको यथाकाल साधन-चतुष्प्रयत्नसे सम्पन्न होकर अधिकारी बनना चाहिये। यह साधन-चतुष्प्रयत्न है—विवेक, वैराग्य, पट्ट-सम्पत्ति और मुकुष्टुल्य। इन साधनोंसे सम्पन्न होनेपर दीक्षाका अधिकार प्राप्त होता है और यथाकाल उसे दीक्षा मिलती है। वेदान्तके अनुरूप ही धियासफीमें चार प्रकारके दीक्षित माने गये हैं। श्रीमत् शङ्करानार्थ इन्हीं चारोंको कुटीचक, बहूदक, इस और परमहंस कहते हैं। ब्रौद्धमतमें इन्हीं चारको स्तोत्र आपच स्वकृतामी, अनागामी और अहृत् कहते हैं। अहृत् या परमहंस उस अधिकारीको कहते हैं, जिसे चतुर्थ दीक्षा प्राप्त हो चुकी है। इसके बाद जो दीक्षा है, वह दीक्षितको दीक्षितपदसे उठाकर सिद्ध पदपर बैठती है। इन्हीं सिद्ध पुरुषोंको इस देशके लोग अृथि कहते हैं।

अृथि जब छठी दीक्षा लेता है, तब वह महर्षि होता है और महर्षिंशात्वीं सातवीं दीक्षा लेकर परमर्पि होता है। धियासफी-में इन्हींको चोहान और महाचोहान कहते हैं। इस प्रकार जीव जो अशानमें जन्म लेकर यात्रा आरम्भ करता है, वह साधनमार्गसे सर्वज्ञताको प्राप्त होता है।

परन्तु यहीं साधना समाप्त नहीं होती। अब उसे इस समतल उपत्यकाको छोड़कर ऊँचे ढक्के पर्वतके शिखरपर चढ़ना है—लौकिक विकाससे अलौकिक विकासको प्राप्त होना है। मौलाना रूमी इसी बातकी ओर अपने इन अर्थपूर्ण शब्दोंद्वारा सङ्केत करते हैं—‘अबकी बार मैं मनुष्यभावसे मर जाऊँगा, जिसमें देवताके पंख मेरे शरीरमें निकल आवें।’ अर्थात् वह महापुरुष मैं बैठूँ जिसे उपनिषद् स्वराद्, विराद् कहते हैं, जो इस अनन्त आकाशमें धूलिकणोंके समान विश्वरे हुए असंख्य ब्रह्माण्डोंमेंसे किसी एक ब्रह्माण्डका राजत्व या अधिवत्य करते हैं। इन्हींको धियासफीमें बोलर लोगस (Polar Logos) कहते हैं। पर इतनेसे

क्या जीव अपनी परागतिको पहुँचा ? नहीं, अभी नहीं। मौलाना रुमी कहते हैं—

‘एक बार, फिर, मैं उठकर देवोंके ऊपर पहुँचूँगा। मैं वह बनूँगा, जो कल्पनामें नहीं समाता। वह जो कुछ है, उसके पास मैं लौट जाऊँगा।’

कहाँ लौटोगे ? लौटेंगे वहाँ जो हमारा ‘अस्ता’ है, जो वेदवाणीमें स्वस्थान या निजधाम है।

‘महामहिमाके हम नीचे बरसनेवाले बादल भगवानसे ही

यहों आते हैं। वही हमारा धाम है।’ कहना नहीं होगा कि यह निजधाम भगवानसे भिन्न नहीं है।

इसीको वेदान्तमें ब्रह्मसायुज्य कहते हैं। ‘ब्रह्म होकर वह ब्रह्मको प्राप्त होता है।’ (बृहदा० ४।४।६) अब वह कम-से-कम इतना तो कह सकता है कि ‘अब समाप्ति हुई।’ यही दिव्य भवितव्यता है—जीवके लिये धियासकी जिसका मार्ग निर्देश करती है।

थियासफ्कोकी उपासना-पद्धति

(लेखक—रायबहादुर पंडित वैज्ञानिकी, बी०प०, एक० टी० एम०)

इस उपासनामें शानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, राज्ययोग आदि सबका समावेश है। इसके असल आन्वार्य जीवन्मुक्त महात्मा हैं, जो जगत्में प्रकट नहीं हैं। साधकका बहुत कालतक उनसे स्थूल जगत्में परिचय नहीं होता। वह सुषुप्तिमें उनसे उपदेश पाता है। थियासफ्की केवल ब्रह्मज्ञान है। मनुष्य विकासकम्मे उच्चतर अवस्थाको प्राप्त होता जाता है, अन्तमें देवतको और उससे भी उच्चतर पदको प्राप्त होगा। उसे अपने विकासमें शीघ्रता करनी है तो अपनेमें नैतिक गुणोंका, योगके यथा-नियमादिकोंका, वेदान्तके साधन-चतुष्योंका, समझ-बूझकर अभ्यासद्वारा विकास करना चाहिये। और सम्प्रदायोंसे भेद केवल इतना है कि जहाँ और सम्प्रदायोंमें साधक अपनी साधना केवल अपने आत्म-कल्याणके लिये ही करता है, थियासकीमें साधक इन साधनाओंको इसलिये करता है कि इनसे वह विशेष योग्यता और पवित्रता प्राप्त कर जगत्की विशेष सेवा कर सके। यहाँ साधक अपने मोक्षकी चिन्ता न कर जगत्कल्याणके लिये, दूसरोंकी सेवाके लिये, दूसरोंको मार्ग चलनेमें सहायता देनेके लिये, आरम्भसे प्रयत्न करता है। हाँ, यह सही है कि आरम्भमें यह बहुत थोड़ी सेवा कर सकेगा; पर परकल्याण ही उसका परम धर्म है। और सम्प्रदायोंमें साधनाद्वारा शक्ति पाकर, यदि साधन-चतुष्य न सध लुका हो तो, उस शक्तिको स्वार्थकी ओर स्वर्च करके गिर पड़ना सम्भव है। यहाँ जबतक पवित्रता न आ जाय, साधकको कोई ऐसी शक्ति नहीं दी जाती जिसका दुरुपयोग हो लके। आजकल अंग्रेजीमें बहुत-सी युस्तकों ऐसी छापती हैं, जिनमें दूसरोंपर अपनी इच्छाशक्तिद्वारा प्रभाव ढालना चाहता जाता है।

यह बाममार्ग गिरनेका रास्ता है। थियासफ्कीमें किसीकी इच्छापर प्रभाव नहीं डाला जा सकता, किसीपर ऐसा प्रभाव नहीं डाला जाता कि वह अमुक विचार करे। उसे आशीर्वाद दिया जाता है, उसका कल्याण मनाया जाता है, उसके विचारार्थ उसके मनमें विचार उत्पन्न किये जाते हैं, पर उसकी इच्छाशक्तिको स्वैत्र स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता है, जिसमें वह चाहे जैसा अपना निर्णय करे। थियासफिट साधककी यह आकाङ्क्षा रहती है कि वह अपनी साधनामें सिद्ध होकर जगत्के दूसरे लोगोंको मार्ग चलनेमें सहायता दो। इसलिये वह अपने मन, विचार, मनके भाव, कर्म और स्थूल शरीरके संयममें लगता है। समझ-बूझकर अच्छे-अच्छे सद्गुणोंका मनन और निदित्यान्तन कर वह उनको अपने अंदर अभ्यासद्वारा बढ़ाता है। अपने आहार-विहारको सात्त्विक बनाकर अपने कोशोंको शुद्ध करता है। अपनी चेतनाको शारीरमें भिज कर ऊँचा चढ़ाने, अपने आपको कारणशरीररूप जीवात्मा जानकर शारीरकी इन्द्रियोंका निप्रह करने, और पीछे यदि हो सके तो, अपनेको सबमें देखने और सबको अपने अंदर देखनेका प्रयत्न करता है। (देखो भगवद्गीता अध्याय ६, अनु० २९।) इस साधकको ऐसा वाक्संयम भी करना चाहिये कि वह केवल सत्य, प्रिय, हितकारी और अनुद्देशकर वाक्य ही बोले। ऐसा साधक अपनी चेतना ईश्वरसे मिलानेका प्रयत्न करता है। योगी देवके लिये अपनेको भूलकर उस ऊँची ईश्वरमय चेतनामें स्थित होना चाहता है। वह अपने ध्यानमें जगत्को, जाने हुए दुखियोंको और सबको उनके कल्याणके आशीर्वाद भेजता है।

प्रत्येक सौरमण्डल एक विश्व है। कितने विश्व हैं और कितने ब्रह्मा, विष्णु और शिवादि हैं—इनकी गिनती नहीं है, यह देवीभगवतका कहना है। यिथासक्षीका भी यही कहना है। इसनिये सौरमण्डलमें वर्तमान या आत, उसको चलनेवाली शक्ति ही हमारा ईश्वर है। उसमें और परब्रह्ममें कितना अन्तर है, इसका विचार मनुष्यकी बुद्धिसे परे है। उपासना इस सौरमण्डलव्यास ईश्वरकी ही हम कर सकते हैं। उसकी सत्ता सर्वत्र कार्य करती है। सरे सौरमण्डलमें वह सर्वशक्तिमान् और सर्वका ज्ञान रखनेवाला है। सरकी सच्ची आर्त हृदयकी पुकार उसके पास पहुँचती है, और वह उसका उत्तर देता है। पर जैसे सकाम भक्ति गौण है, वैसे ही इन्हसे अपनी नीची इच्छाओंकी पूर्ति के लिये प्रार्थना करना हल्की बात है।

जब साधन-चतुष्पंच कुछ सधु चुकते हैं और साधकमें कुछ योग्यता आ जाती है और जनसेवाके कारण साधकका पुण्यसञ्चय हो जाता है तो ब्रह्मनिष्ठ अदृश्य गुरु उसे अपना परीक्षयमाण शिष्य बनाते हैं। सूक्ष्म प्रकारिको उस शिष्यकी प्रतिमूर्ति बनाकर अपने यथा रखते हैं। शिष्यके प्रत्येक भावसे यह मूर्ति प्रभावित होती और दिन-रात्रिमें एक बार देख लेनेसे शिष्यके मनके भावोंका दिनभरका पूरा-पूरा हाल गुरुको शात हो जायगा। गुरु शिष्यके ऊँचे कोपोपर अपना प्रभाव भी डालता रहता है। जब शिष्यकी परीक्षा करते रहनेसे ज्ञान होता है कि शिष्यमें काफी सत्त्विकता और पवित्रता आ गयी हैं, तब गुरुदेव उस शिष्यको अपना स्वीकृत शिष्य बनाते हैं।

स्वीकार कर लेनेसे गुरुदेव और शिष्यमें ऐसी एकता और शनित्रा हो जाती है कि उसकी कल्पना नहीं हो सकती। अब गुरुदेवकी सब शक्तियों शिष्यपर आपसे-आप कार्य करती हैं। शिष्यके सब विचार गुरुदेवके मनमें पहुँच जाते हैं। यदि अवित्र विचार शिष्यके मनमें आये तो गुरुदेवको घोड़ी देरके लिये दोनोंके बीचमें परदा ढाल देना पड़ता है। गुरुदेव अपनी शक्ति शिष्यके द्वारा दूसरोंके कल्पणारथं भेजते हैं। इस पदमें शिष्य और गुरुदेवका अवर्णनीय ऐक्य हो जाता है। जबतक शिष्यको दूसरोंका हितचिन्तन करते रहने, दूसरोंको अपना ध्यान और शक्ति देने, कल्पणाकारी विचार और आशीर्वाद सब मनुष्योंमें वितरण करनेकी आदत न पढ़े, तबतक वह शिष्य स्वीकृत नहीं होता। स्वीकृतिके आरम्भमें शिष्यको ऐसा भान होता है कि मुझमें बहुत-सी शक्तिका प्रवाह किया जाता है।

पीछेसे मंद प्रवाह सदैव होता रहता है और विदेश प्रसङ्ग-पर विदेश प्रवाह होता है। इसके पश्चात् साधन-चतुष्पंचके अभ्यासमें काफी उत्तरि हो चुकनेपर प्रथम दीशा होती है; जो भगवान् समक्षमारकी आशंसे दूसरे महात्मा देते हैं। तब शिष्य इन महात्माओंके सङ्कका एक अदना सदस्य बनता है। इसको ब्रौद-साहित्यमें सोतआपत्ति और संन्यासादि उपनिषदोंमें कुटीचक कहते हैं। इसके परे तीन और दीक्षाएँ होती हैं, जिन्हें सङ्कादागामी या बहुदक, अनामामी या हंस और अर्घत् या परमहंस कहते हैं। इनके वर्णन करनेकी यहाँ आवश्यकता नहीं है। इसके परे अशेष या तुरीयातीत अथवा जीवन्मुक्त महात्माका पद है।

अर्हतपदप्राप्त व्यक्ति भी शिष्य ग्रहण नहीं कर सकता, केवल अशेष या जीवन्मुक्त महात्मा ही गुरु बन सकते हैं। श्रीमद्भागवत और विष्णुपुराणमें वर्णित मरु और देवापि दो महात्मा इस संसारके मूल सञ्चालक और गुरु हैं। इनके तिना जीस्स इत्यादि और महात्मा भी हस पदके हैं। भगवान् अगस्त्य इनसे भी ऊँचे हैं। ये सब स्थूलशरीरधारी हैं। कोई-कोई और भी स्थूलशरीर रखते हैं, पर कहे केवल सूक्ष्मशरीर ही रखते हैं और काम पड़नेपर स्थूल आकृति बना सकते हैं।

अदृश्य सहायक

इन महात्माओंको सब लोकोंमें कार्य करना पड़ता है। सब शिक्षित व्यक्ति सोनेपर अपने स्थूलशरीरसे निकलकर सूक्ष्मशरीरद्वारा भुवलोंकमें कार्य कर सकते हैं; पर उसका ज्ञान न होनेसे वे प्रायः अपने दिनके विचार लेकर ही उनकी उधेइ-बुन करते रहते हैं। वे चाहें तो उस भुवलोंकमें दरसेवाका बहुत सा कार्य कर सकते हैं। ऐसे प्रयत्न करनेवालोंको आरम्भमें ऐसा भान हो सकता है कि मैं हवामें उड़ रहा हूँ या पानीमें तैरता हूँ या रेल या भोटरमें जा रहा हूँ। यदि वह अमुक व्यक्तिको अमुक प्रकारकी सहायता देनेका विचार कर सोचे तो वह उस प्रकारकी सहायता अवश्य देगा, जाहे उसे जागनेपर उसकी स्मृति रहे या न रहे। कई लोग इस प्रकारका कार्य करते हैं। किसी-किसीको उसकी स्मृति भी रहती है। कभी-कभी एक ही कार्यमें दो-तीन व्यक्ति शामिल हो जाते हैं और जगनेपर दोनों-तीनों अपनी-अपनी स्मृति मिलानेपर सब मिलती हुई पाते हैं। भुवलोंके कार्यको अनुभव जगनेपर स्वप्नके रूपमें याद पड़ता है, पर उसमें हमारा मगज अपने विचार भी भर देता है। इस कारण दोनोंके अल्प-अलग कर लेना सीख लेना चाहिये।

सूफ़ियोंका साधना-मार्ग *

(लेखक—दा० एम० इक़्बाल सैयद मुहम्मद, एम०ए०, पी-एच०डी०, डी० लिट०)

वेदान्तके सिद्धान्तोंके अनुरूप सूफ़ीमतके सिद्धान्तोंमें भी प्रश्नकी अनुभूति साधकोंके हृदयमें अन्तःपक्षसे मानी गयी है। कर्मकाण्ड और आचारकी विविधताका उतना अधिक महत्व नहीं है, जितना हृदयकी अनुभूतिसे आत्मसमर्पणका है। किन्तु यह कहना कि सूफ़ीमतमें साधना-पक्षका अभाव है, सत्यसे दूर होगा। वह साधना-पक्ष क्या है? ब्रह्मकी अनुभूति के लिये किन अवस्थाओंमें होकर जाना पड़ता है, इसपर हम प्रकाश डालनेकी चेष्टा करेंगे। पहले हम सूफ़ीमतके अनुसार ब्रह्म (जाते वहत) की भावनापर विचार करते हैं।

सूफ़ीमतका ब्रह्म वेदान्तके ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। जिस प्रकार वेदान्तका ब्रह्म एक है, उसके अतिरिक्त कोई दूसरी सत्ता नहीं है (एक ब्रह्म द्वितीयों नास्ति), उसी प्रकार सूफ़ीमतमें भी ब्रह्म एक है—वह ‘हस्तिए मुतलक़’ है। वह किसी भी रूप या आकारसे रहित है। वह सर्वव्यापी है, किन्तु किसी वस्तुविवेचनमें केवलीभूत नहीं है। वह अगोचर और अज्ञेय है, वह असीम है। उसमें कोई परिवर्तन और विनाश नहीं है। उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी सत्य नहीं है। अतः वह एकान्तरूपसे एक ही है, और अन्य कोई सत्ता उसके समकक्ष नहीं है। ऐसी परिस्थितिमें ब्रह्मका जो ज्ञान होता है, वह किसी भौतिक साधनसे न होकर आत्मामुद्भूतिसे ही होता है। हम ब्रह्मके अमन्त गुणोंको जानकर ही उसके सम्बन्धमें अपनी कल्पना कर सकते हैं। उसके विषयमें ही हम उसके लोकोचर रूपका अनुमान कर सकते हैं। इस रूपकी भावना, जो केवल ‘एक’ के रूपमें समझी गयी है, सूफ़ीमतमें ‘ज्ञात’ संशासन अभिहित है। इस ज्ञातका परिचय उसकी ‘सिफ़त’ में है। यह ‘सिफ़त’ ज्ञातकी वह शक्ति है, जिससे वह सूषिकी रचना करता है। सूषिकी अनन्त रूपवाली समस्त समग्री है ‘पिंकहत’, जिसके द्वारा हम ‘ज्ञात’ की शक्तिमत्ताका परिचय प्राप्त कर सकते हैं। इसे हम वेदान्तमें ‘मायामात्रं तु कात्स्येनाभिव्यक्तस्तुपात्’ के रूपमें मान सकते हैं। तुलसीके शब्दोंमें ‘यन्मायावशवर्ति विभ्रमखिलम्’ की भावना भी यही है। इतना होने हुए भी भिन्नता जातसे किसी प्रकार भी भिन्न नहीं है, किन्तु ‘सिफ़त’

ही ‘ज्ञात’ नहीं है। भिन्नतके अनेक रूप भिन्न होते हुए भी एक हैं। हम ‘सिफ़त’ को ज्ञातसे उद्भूत गुण मान सकते हैं। जिस प्रकार किसी सुगन्धित पुष्पकी सुगन्धि पुष्पसे उद्भूत होते हुए भी पुष्प नहीं है, यद्यपि हम सुगन्धि और पुष्पको किसी प्रकार विभाजित नहीं कर सकते—पूलकी भावनाहीमें सुगन्धि है और सुगन्धिकी भावनामें ही पुष्पका परिचय है; किन्तु यह सब विशान किसी प्रकार भी जातको सीमावद्ध नहीं कर सकता। कवीरने इसी भावनामें सुगन्धिवादका विरोध करते हुए लिखा था—

जाके गंध माया नहीं, नाहीं रूप कुरुप।

पुरुप वाम ते पत्तग, ज्वा तद अनूप॥

इस प्रकार हम हम निष्कर्षयेर पहुँचते हैं कि ब्रह्म या ज्ञातका अस्तित्व हमसे केवल उसकी भिन्नता या सूषित करनेवाली शक्तिसे ही ज्ञात होता है। यदि उसकी भिन्नत हमरे समझ न हो तो हम उसकी वास्तविक अनुभूतिसे वञ्चित रहेंगे। हम भिन्नतको ज्ञातका एक ‘प्रकट रूप’ या ‘अभिव्यक्ति’ मानते हैं।

कुरानशरीफके शब्दोंमें आत्मा या ‘रूह’ ‘अमरं रव’ या ब्रह्मकी अनुशा है। हरीसमें लिखा हुआ है कि ज्ञाते वहतने (अथवा निर्युत ब्रह्मने) आत्माको अपने रूपके अनुसार ही उत्पन्न किया है। किन्तु इसलिये कि ब्रह्मका कोई रूप नहीं है, आत्माका भी रूप नहीं हो सकता। जिस प्रकार हम ब्रह्मकी सलताका परिचय परोऽक रूपमें ही प्राप्त कर सकते हैं, उसके किसी विशिष्ट आकारसे परिचित नहीं हो सकते, उसी प्रकार हम आत्माके भी किसी रूपको नहीं ज्ञान सकते, क्योंकि उसका कोई रूप या आकार नहीं है। यह आत्मा एक है। जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंमें किसी प्रकारकी भिन्नता नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्मसे उत्पन्न जीवात्माओंमें भी किसी प्रकारकी भिन्नता नहीं हो सकती। प्रत्येक किरणमें जिस प्रकार सूर्य दिखलायी दे सकता है (यद्यपि सम्पूर्ण सूर्य वहाँ नहीं है), उसी प्रकार प्रत्येक आत्मामें ब्रह्मका रूप प्रतिविभूत होता है। संशेषमें हम कह सकते हैं कि आत्मा यह दर्पण है, जिसमें ब्रह्म प्रतिविभूत होता है।

* इस लेखके लिखनेमें मुख्य अपने परम मित्र प्रो० श्रीरामकुमार वर्मा, पद० ए०से विशेष सहायता मिली है, जिसके लिये मैं उनका

हमारे सामने अब यह प्रश्न उठता है कि इस सुषिका रहस्य क्या है ? कुरानशरीफ़ के अनुसार 'मा खलकतल् इन्स व जिल् इलाले आचदून' (मैंने नहीं पैदा किया मनुष्य और देवताओंको—सिवा इवादतके लिये) मैं ही सुषिनिर्माणका रहस्य है । अर्थात् खुदाने अपनी शक्तिसे जिस सुषिका विभान किया है, उसके लिये स्वानुभूतिके अतिरिक्त और कौन मार्ग ही सकता है ? जो सुषिक्रमण है, उसका स्वर्थम् ही ब्रह्मकी उपासना होना चाहिये । यही सिद्धान्त कुगनशरीकका है । वहि ध्यानसे देखा जाय तो सुषिनिर्माणके इस रहस्यमें ही उपासनामार्ग छिपा हुआ है । खुदा या ब्रह्मकी इवादतका तात्पर्य ही एक निश्चित साधनामें है । अतः सूर्योदातमें सिद्धिके अन्तर्गत ही साधनाका मार्ग व्यञ्जित है । यह साधना दो रूप ग्रहण करती है—एक तो साधारण और दूसरा विशिष्ट । साधारण मार्गमें तो कुछ ही सिद्धान्त हैं, जो विधि और नियधके अन्तर्गत हैं । करणीय और अकरणीयकी आज्ञाओंमें ही इस मार्गकी रूपरेखा है । अवामिर (विधि) और नवाही (नियध) का ही विभान इस साधारण साधनापथमें है । यह मनुष्यमात्रके साधारण धार्मिक जीवनके लिये आवश्यक है । वोई भी मनुष्य अपने अस्तित्वको तभी सफल मान सकता है, जब वह इस विधि और नियधभय आदेशोंके अनुसार अपने जीवनको मुचारुपमें सञ्चालित कर सके । इस प्रकारके जीवनमें संथम (रियाज़त) की बड़ी आवश्यकता मानी गयी है । साथ ही आध्यात्मिकताके लिये जीवनको अधिक-सं-अधिक अलौकिक सत्ताके सभीप लानेकी आवश्यकता है । इसके लिये ही 'नमाज़' की आपोजना है । दिनके पाँच भागोंमें अपनेके ईश्वरके सम्पर्कमें लानेके लिये 'नमाज़' का विधान रखा गया है । यह आचरण उन लोगोंके लिये अत्यन्त आवश्यक है जो संसारमें जीवन व्यतीत करते हुए ईश्वरीय सत्ताकी ओर आकर्षित हैं । अर्थात् इस प्रकारके व्यक्तियोंके जीवनमें सांसारिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकारके पथ हैं; किन्तु मनुष्योंमें एक वर्ग ऐसा भी है, जो केवल आध्यात्मिक पक्षमें ही सन्तोष मानता है । उसके लिये लौकिक पक्षका कोई मूल्य नहीं है । उसे संसारमें कोई भी वस्तु ऐसी नहीं दीख पड़ती, जो उसे स्थानी सुख और शान्ति दे सके । वे इस संसारको क्षणभूर् मानते हैं, इसके सुखोंको मृगतृष्णा और इसकी आशाओंको इन्द्रधनुषकी भाँति आधारहीन समझते हैं । उनके लिये संसारका अस्तित्व वास्तविक नहीं है । अतः लौकिक पक्ष उनके सामने कोई

महत्व नहीं रखता । वे एकमात्र अलौकिक या आध्यात्मिक पक्षकी सार्थकता ही मानते हैं और इसीमें उन्हें परम सुख और आनन्दकी चरम प्राप्ति होती है । यह अलौकिक या आध्यात्मिक पक्ष ईश्वरके जप (जिक्र) या सरणमें ही माना जाता है । यह सरण दो प्रकारसे मान्य है—

१. ईश्वरके नाम और उसके गुणोंका जाप इस प्रकार हो कि उससे समस्त जीवन ओतप्रोत हो जाय । शारीरके प्रत्येक भागमें उसी अलौकिक सत्यका सञ्चार हो ।*

२. साधक ईश्वरीय तत्त्वका चिन्तन दार्शनिक रूपसे करे । वह आत्मा और परमात्माके पारस्परिक सम्बन्धपर विचार करे और दोनोंके स्वरूपनिर्धारणमें लीन हो ।

इन दो विभागोंपर हम विस्तारसे विचार करेंगे । इनके अन्तर्गत जपके अनेक रूप हैं । मनुष्यकी जितनी सौंवें हैं, उतने ही अधिक साधनाके मार्ग हैं, किन्तु हम क्षेपमें कुछ ही मार्गोंका निर्देश करेंगे ।

तद्वच्छ (ज्यान)—इस साधनामें (सुर्यिद) गुरु शिष्य (मुरीद) को अपने सामने घुटने मोड़कर बैठाये और स्वयं भी उसके सामने इस प्रकार बैठे । फिर हृदयको समस्त भावनाओंसे रहित एवं एकाग्र करके अल्लाहका नाम १०१ सौंसोंमें अनुमानसे शिष्यके हृदयपर अनुलेखित करे और यह विचार करे कि अल्लाहके नामका प्रभाव मेरी ओरसे शिष्यके हृदयकी ओर प्रेरित हो रहा है । इस प्रकार एक या अनेक प्रयोगोंमें शिष्यके हृदयमें अलोक छा जायगा और उसके हृदयमें जागृति इस प्रकार ही जायगी कि वह उपरानका पूर्ण अधिकारी बन सकेगा ।

चिक्र जेहर—इस साधनाका सम्बन्ध 'चिक्रित्या वंशा' से है^३ और यह साधना अधिकतर गोपनीय रखसी जाती है । इसे तहजुदके बाद ही व्यक्त कर सकते हैं । उसकी प्रार्थना यह है—'या अल्लाह, पाक कर मेरे दिलको अपने जौरसे और रोशन कर मेरे दिलको अपने हृच्छानके नूरसे हमेशा या अल्लाह, या अल्लाह, या अल्लाह !' इस साधनाका यह दंग है—साधक आलती-पालथी मारकर बैठे और दाहिने तथा बायें पैरके

* हठयोगमें इसी खितिको 'अजपा जाप' कहते हैं ।

१. सूर्योदातके सिद्धान्त चार वर्ग (स्कूल) के हैं—चिक्रित्या, कादरिया, मुहरवदिया और नक्शबदिया ।

२. एक प्रकारकी नमाज़, जो रातके बारह बजेके बाद पढ़ी जाती है ।

अँगूठे और उसके बराबरवाली अँगूलीसे पाँवके घुटनेकी जड़में नीचेकी तरफ भरो कीमास' को पकड़े (रोगे कीमासका सम्बन्ध हृदयसे है, उसे दबानेसे हृदयमें उणाता उत्पन्न होती है) । बैठनेमें कमरको सीधा रखना चाहिये और मुख पश्चिमकी ओर हो । दोनों हाथ जानुओंपर रखते और 'विसमिला' कहकर तीन बार कलमा 'ला इलाह इलिलाह' पढ़े, इसके बाद जानुओंकी ओर इतना सिर छुकाये कि माथा घुटनेके पास पहुँच जाये और वहाँसे मधुर स्वरसे 'ला इलाह' का आरम्भ करके सिरको दाहिने घुटनेके ऊपरसे लाते हुए दायें कथेसक फिराता हुआ लाये और साँसको इतना रोके कि जितनी देरमें तीन जरवे (अल्लाहके नामका उच्चारण) लग सकती हैं । इसके बाद सिरको कुछ पीठकी ओर टेढ़ा करके खाया करे कि ईश्वरके अतिरिक्त जितने सहृदय-विकल्प हैं, वे सब मैंने पीठके पीछे डाल दिये । इसके बाद सिरको वार्षी तरफकी छातीकी ओर छुकाकर, जहाँ हृदयका स्थान है, 'इलिलाह' कहे और यह चिन्हार करे कि मैंने ईश्वरीय प्रेम-को हृदयमें भर लिया । ला इलाहको 'ज़िक्रे नफ़ी' और इलिलाहको 'ज़िक्रे इसबात' कहते हैं । 'नफ़ी' के बज़े आँखें खुली रहनी चाहिये और 'इसबात' के समय बैद।

विक्रे पासे अनकास-इस साधनके अनेक रूप हैं, जिनमें केवल दो दृष्टव्य हैं । पहला नफ़ी या इसबातका पासे अनकास अर्थात् जब भीतरका साँस जाय तो ला इलाह कहे और जब बाहरका साँस आये तो इहिलाह कहे । निकं सौंसमें यह उच्चारण हो, यहाँतक कि सभीप बैठे हुए व्यक्तिको भी यह ज्ञान न हो सके । (यह समस्त साधना करते समय प्रत्येक सौंसमें हृषि नामिपर रहे और मुख बंद रहे) ।

हृषि दम-यह साधना समानलूपसे सभी शूकियोंमें मान्य है, विशेषकर चिह्नी और काढ़ी इस साधनके विशेष पक्षमें है । नक्शेरंदी इसे भरमावरयक तो नहीं मानते, तथापि वे इनकी उपयोगितामें विश्वास रखते हैं । यह साँसका अन्यास है (हठयोगके प्राणायामका रूप भी इसी प्रकार है) । मानसिक उच्चारिके साथ यह शारीरिक उच्चारिका भी मूल-मन्त्र है । इसके अन्यासका ठंग यह है कि नाक और मुँह बंद करके साँखे रोकनेकी शक्ति बढ़ायी जाये ।

शान्ते नफ़ी-यह खड़ाजा मुहुरुदीन विस्तीका विशेष साधन है । इससे मानसिक व्याधियाँ दूर होती हैं । इसका प्रकार यह है कि सायं-प्रातः अपने जानुओंपर बैठकर मनको एकाग्र कर दोनों औखोंकी हृषि नासिकाके अग्रभागपर

जमावे और निर्निषेप होकर देखे । इस हृषिमें अपरिमित ज्योतिका अनुमान करे । ग्रामभूमें नेत्रमें पीड़ा हो सकती है, किन्तु अन्तमें अभ्यासमें साधना साल हो जायगी ।

श्रगाम सहस्रा-इस साधनामें हृषिको भौंद्रोंके वीचमें जमाना चाहिये । यद्यपि यह साधना पहले कठिन जान पड़ती है, किन्तु इससे हृदय चैतन्य हो जाता है । पतञ्जलिके गोग्युव्रमें विकृतीका विश्वान इसी प्रकारका है ।

मुरातबुल अबकार-इसके अनेक रूप हैं; किन्तु सबसे सरल रूप यह है कि आँख, नाक, कान, मुखको हाथकी उँगलियोंसे बंद करके सौंसको नामिसे र्खिंचे और मस्तकतक ले जाये । वहाँ उसे रोककर शक्तिके अनुसार कुम्भक करे । जब सौंसको नामिसे नाचिसे ऊपर ले जाने लगे तो वह 'अलाह' का उच्चारण करे और जब सौंसको मस्तिष्कमें स्थापित करे तो 'हूँ' कहे 'हूँ' कहते समय आँखको हृदयकी ओर स्थिर करे । जब कुम्भकमें सौंसकी शक्ति घटने लगे तो उसे नाकके मार्माने निकाल दे और इसीका पुनः अभ्यास करे । अद्य पहले एक या दो बारसे प्रारम्भकर अन्तमें बहुत देरतक बड़ायी जा सकती है ।

श्रगाम सौंत समादी-इस साधनामें आँख, नाक, कान और मुखको बंद कर ऊने स्थानमें नीचे स्थानको गिरने-वाली जटवारके शब्दका अनुमान करे । इस अनुमानके साथ 'इस्मे जात' (ईश्वरके नाम) पर ध्यान रखें । क्रमः यह अनुमान सत्यमें परिषत हो जायगा और वह आश्वासिक नाद सुन पड़ेगा, जो प्रत्येक साधकका आदर्श है । (वौग-शास्त्रमें इसके समान ही अनद्द नादकी व्यवस्था है ।)

मुरातबा-यह एक विशेष साधना है जो अनुमानकी शक्ति बढ़ाने और किमी वस्तुविदेशके रूपको हृदयझम करनेके लिये की जाती है । हर मुरातबेमें जानुओंपर बैठना, गर्दन छाकाना, आँखें बद रखना करना आवश्यक है । अनेक मुरातबोंमें नीचे एक मुरातबेका वर्णन किया जाता है । उससे अन्य मुरातबोंका अनुमान किया जा सकता है ।

मुरातबा इस्मे जात-इसका यह ढंग है कि बज़ू करके (जलसे स्वच्छ होकर) पश्चिमकी ओर बैठ जाय और चिम्पिला पढ़कर गर्दन छाकाकर इसमें जातका ध्यान करे,

* अरबी जयानमें रक्ष गर्दनको कहते हैं । मुरातबा गर्दन छाकाकर किया जाता है, इसलिये इसका नाम मुरातबा खब्बा नाया है ।

यानी 'इस्मे अलाह' पर एकाग्राचित्त हो। इससे इन्द्रियकी चञ्चलता नष्ट होगी। यदि सांसारिक सम्बन्धकी ओर चिन्त दौड़े तो अपने शुरुकी ओर ध्यान एकाग्र करे। प्रारम्भमें इस अभ्यासके करनेमें कठिनाई होगी, किन्तु वह अभ्याससे धीरे-धीरे दूर हो जायगी और मन शान्त हो जायगा।

अन्तमें यह कहा जा सकता है कि सूफीमतके चार वर्गोंके अनुसार (जिनका निर्देश ऊपर हो चुका है) साधनाके अनेक रूप माने गये हैं, किन्तु यहाँ इसमें सुख-मुख्य साधनाओंका निर्देश किया है, जो सभी वर्गोंमें मान्य हैं। इन

साधनाओंपर इष्ट डालकर सरलतासे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सूफीमतका साधना-भाग इंदूर्भवके साधना-भागके कितने अनुरूप है। यह तो दोनों धर्मोंका इष्टिकोण है कि विना तपस्या और साधनाके सांसारिक आकर्षण और मोह नष्ट नहीं हो सकते और आत्माकी अनन्त ज्योतिकी किरण इष्टिगत नहीं होती, जिसके प्रकाशमें साथक अपना साम्य परमात्मासे कर सकता है। आत्माकी शक्तिको विकसित कर उसे ईश्वरीय ज्योतिसे विभूषित करना ही इन साधनाओंका उद्देश्य है।

सूक्षियोंकी साधना

(लेखक—श्रीचन्द्रबलि जी पाण्डेय, एम्भ० प०)

प्रेम-प्रतीकके सदारे चलनेवाले सूक्षियोंकी साधनाके सम्बन्धमें ध्यान देनेकी बात यह है कि उनमेंसे कुछ तो इस्लामके विधिविधानोंके मानते हुए प्रेमके मैदानमें उत्तरते हैं तो कुछ सीधे प्रेमके अलाङ्कृते हैं और इस्लामकी साधनाको अनिचार्य नहीं समझते। जो इस्लामको लिये दिये आगे चढ़ते हैं, उनकी इस्लाममें पूरी प्रतिश्वाहोती है और वे देखने भी पूज्य इष्टिसे जाते हैं। पर जो इस्लामकी उपेक्षा कर अपना आसन जमाते हैं, उन्हें इस्लाममें जगह नहीं मिलती और फलतः उन्हें बेशरा, ज़िन्दीक या आजादके कड़ नामसे याद किया जाता है। आजाद सूक्षियोंकी साधनाके विषयमें कुछ विशेषज्ञतासे कहनेकी आवश्यकता नहीं दिखायी देती। अन्य सूक्षियोंके साथ उनका भी उल्लेख होता रहेगा। एक बात और। बाशरा सूक्षियोंके बारमें भी कभी वह न सोचना चाहिए कि सच्चमुच्च उनकी निश्च इस्लाम ही है। नहीं, कदापि नहीं। उनका पक्ष केवल हतना ही है कि सभी विधि-विधानोंमें दैवी और अन्तिम होनेके कारण इस्लाम ही श्रेष्ठ है। इस्लामके अनुशासनसे सिद्धीकी प्राप्ति शीघ्र ही हो जाती है। वस, इसके आगे इस्लामके लिये और कोई आग्रह नहीं।

सूफी वस्तुतः मधुकरी वृत्तिके जीव होते हैं। उनकी अँखें सदा खुली रहती हैं। जहाँ कहीं वे जाते हैं, अपने काम-की धारें छाँट लेते हैं। रस लेते और सीठीको छोड़ देते हैं। इसलिये उनकी साधनामें भी नाना प्रकारके रंगोंकी समाधी हो जाती है और वह भी उन्होंकी भौति बहुरंगी हो जाती है। पर यहाँ उन रंगोंकी मुनवायी न होगी। मूल लिंगान्तों-

के सम्बन्धमें ही कुछ नियंत्रण कर दिया जायगा। हाँ, प्रसङ्ग-वश इतना अवश्य बता दिया जायगा कि भारतकी रसीली और उपजाऊ भूमिमें कौन-सा ऐसा भद्रा रंग मिला जो उनकी साधनामें घर कर गया और फलतः आज भी चारों ओर किसी-न-किसी रूपमें बना ही है।

यों तो सूफीमतके उदयमें भी आर्यसंस्कृतिका हाथ कहा जाता है, पर उसको माननेके लिये बहुतसे लोग तैयार नहीं हैं। पर इतना तो निर्विवाद है और सभी विद्वानोंने एक स्वरसे घोषित भी कर दिया है कि वादके तसव्युक्तर भारतका प्रभाव है। भारतने कब और किस प्रकार तसव्युक्त-को अनुप्राप्ति किया, यह इतिहासका विषय है और काल-की कठोरता एवं अपनी अवहेलनाके कारण आज खोजका विषय बन गया है। अतएव इसे यहाँ छोड़ इतना और जान लिजिये कि हमारी योग-साधनासे सूक्षी बराबर प्रभावित होते रहे हैं और मलिक मुहम्मद जायसी आदि सूक्षी कवियोंने तो इष्टयोगकी चर्चा भी खूब की है। उनका कहना है—

नदों खंड नद यौरी, ओ तहैं बद्र-केवर।

चारि बसरे लौं चढ़ै, सत सौं उतरै पार॥

(पदमावती प० १९)

जायसीका प्रकृत कथन उनकी साधनाका परिचायक है। पर यह निश्चितरूपसे नहीं कहा जा सकता कि उनकी यह ? , सभी अवतरण 'जायसी-ग्रन्थावली', द्वितीय संस्करण (नागरी-प्रचारिणी-समा, काशी, सन् १०३५ ई०) से लिये गये हैं।

साधना इस्लामी है अथवा इठोंगी। उन्होंने अन्यत्र 'अखरावट' में (पृ० ३५६) इसीको इस रूपमें व्यक्त किया है—

'बँक चढ़ाव, सात मँड ऊँचा, चारि बर्सेर जाइ पहुँचा।'

खण्डोंकी बात अभी अलग रखिये। 'चार बर्सेरो' से जायसीका तात्पर्य क्या है? हम-आप तो अपरी-अपनी दृष्टिके अनुसार इसका अर्थ अलग-अलग लगा लेंगे। यदि आप व्यान, धारणा, प्रत्याहार और समाधिका नाम लेंगे तो हम भैंसी, कहणा, मुदिता और उपेक्षाका। यदि आप यम, नियम, आसन और प्राणायामका उल्लेख करेंगे तो हम जाप्रत्, स्वम, सुधुसि और तुरीयका। सारांश यह कि सब लोग अपनी-अपनी साधनाके अनुसार इसका अर्थ करेंगे। पर क्या आप जानते हैं कि सबं 'जायसी'-सा इस्लामी सूफी इसका अर्थ क्या करेगा। सुनिये। उसीका कहना है—

ना नमाज है दीनक वृत्ति, पहुँ नमाज साइ बड़ुनी।
कही तरीकत चिमली पीँग, उत्तरित असार औ जँड़ीह॥

राह हक्कीकत पैरे न छूकी, पैठि मारकत मार बुड़ी।
हूँदि ढंडे हेद मानिक मोती, जाइ समाइ जोति मई जोती॥
(अखरावट, पृ० ३६३)

अस्तु, परमज्ञोतिमें समा जानेके लिये ज्योतिको 'नमाज़', 'तरीकत', 'दीक्कत' और 'मारकत' का अनुष्ठान करना चाहिये। 'नमाज़' के प्रसंगमें व्यान देनेकी बात यह है कि मलिक मुहम्मद जायसीने इस्लामके पञ्चस्तम्भमेंमें केवल 'मुलात' याने नमाज़को लिया है। शाय चारको छाइ क्यों दिया? क्या सूक्षीसाधनामें सौम, ज़कात, हज़ और तौहीदका कोई स्थान नहीं? नहीं, ऐसी बात नहीं है। तौहीदका संकेत तो 'जाइ समाइ जोति मई जोती' में कर दिया है। रही सौम, ज़कात और हज़की बात। सो उसके विषयमें वही आगे चलकर स्पष्ट कह दिया है कि—

सौची राह सरीअत, ज़हि चिमवास न हाइ।

पँड शखि तेहि सीढ़ी, निमरम घुँचै साद॥

(अखरावट, पृ० ३६३)

अतएव मानना पहुता है कि सूक्षीसाधनके 'चार बर्सेरो'

१. जायसीने सात खण्डोंकी व्यास्ता 'अखरावट' में बर दी है, जो इयोग्योंसे कुछ मिल है। ऐसे दो खण्ड 'अशी' और 'कुसी' कहे जा सकते हैं।

शरीअत, तरीकत, हक्कीकत और मारकत है। शरीअतके भीतर रोज़ा, नमाज़, ज़कात और हज़—सभी आ जाते हैं। रोज़ा और नमाज़का अर्थी नाम सौम और सलात है। इन साधनचतुर्थोंमें तौहीदकी मणना नहीं की जा सकती। तौहीद साधन नहीं प्रत्युत साध्य है। इसी तौहीदकी प्राप्तिके लिये अन्य साधनाएँ की जाती हैं।

साधनचतुर्थोंमें 'हज़' और 'ज़कात' एक दंशके हैं तो रोज़ा और नमाज़ दूसरे दंशके। सूफियोंके विषयमें यह कहना ठीक नहीं कि वे हज़ और ज़कातको विशेष महत्व नहीं देते। सच पृथिव्ये तो सूफी 'हज़' और 'ज़कात' की संबोधिताको दूरकर उन्हे तीर्थ और दानका व्यापक रूप दें देते हैं और 'मक्का' एवं 'मुसलिम' के आगे भी परमामाका प्रशार देखते हैं। रोज़ा और नमाज़को भी सूफी तप और व्यानके रूपमें लेते हैं और स्वभावतः उनके भी क्षेत्रको व्यापक बना देते हैं। उनकी दृष्टिमें अधिक-से-अधिक रोज़ा रखना और अधिक-से-अधिक नमाज़ पढ़ना और भी अधिक सज्जलप्रद है। निदान हमें मानना पड़ता है कि साधनाके धेवतमें सूफी सलात, ज़कात, सौम और हज़को उपलक्ष्य अथवा संकेतमात्र समझते हैं। इन्हा तो हर एक सुमलिमको करना चाहिये। यदि इससे अविक करे तो और भी अच्छा है।

अब तौहीदकी बात आयी। तौहीदकी सिद्धिके लिये सालिकको क्या करना चाहिये? इसे तौहीदकी प्राप्ति कैसे ही सकती है? कहनेकी बात नहीं कि यहीसे सूफियोंकी सच्ची और निर्जी साधनाका आरम्भ होता है। यहीसे पारी-मुरीदी चलती है और वहीसे मोमिन और मुरीदमें भेद उत्तर दोता है। सूफियोंके नाना सम्प्रदायोंकी छान-बीन हमारे किस कामकी। हमारे लिये तो इन्हा ही पर्याप्त है कि सभी एक मनमें 'तरीकत' के कायल हैं और आग्रहके साथ कहते हैं—

ज़इ पादा गुरु मीड सो सुख माँग मनै छर्दे।

मुक्त अनंद भा डीड, 'भुहमद' सारी पोद जेहि॥

(अखरावट, पृ० ३६३)

३. 'तरीकत' में तिक, फिक और 'समा' का सम्पादन किया जाता है। तिकको 'द्विमिन', फिकको विनन और समाको संकीर्तन कहा जा सकता है। संकीर्तन किसके कारण कुछ सम्प्रदाय समाजों अल्पा नहीं समझते।

४. सूक्षी चार लोकोंकी भी कल्पना करते हैं—जो कमज़़ूः नामून, मलकून, तरलून और लाहूलके नामसे स्थान हैं। इन्हें हम नर-लोक, देवलोक, ऐश्वर्यलोक और ब्रह्मलोक कह सकते हैं।

पेढ़ साथी मिल गया तो 'बाँक चढ़ाव'का पक्का रास्ता मिल गया। तो क्या अब कोई डर नहीं रहा? नहीं, ऐसी बात नहीं है। अभी तो शैतानका सामना करना है। यदि सचे गुरुका साथ खुट गया और बीच मार्गमें शैतानने गुमराह कर दिया तो फिर फिलकर चकनाचूर होनेके सिवा और क्या हाय लगा। अतएव जबतक हकीकतका यथार्थ बोध न हो जाय तबतक अपने गुरुका पीछा नहीं छोड़ना चाहिये और उनके सिखावनपर उचित ब्यान देकर अपने शत्रुओंका नाश करना चाहिये। जब नफलतका सिक्का उठ गया और हक्का सच्चा बोध हो गया तब और आगे बढ़नेके लिये कुछ ऐसा तत्पर अनुशान करना चाहिये कि 'मारफत' की स्थिति आ जाय। 'मारफ़' की प्राप्तिसे होगा यह कि किसी शैतानकी दाल अब न गलेगी। 'मारफत' की दशामें पहुँच जानेपर पता चलेगा कि उसका साध्य कहीं और नहीं या। वह तो उसीमें छिपा क्या, खुद वही या। अब उसे 'अनलूक' का भान होगा और वह ब्रह्मविद्वामें मग्ग होगा। अब उसे 'तौहीद' का सच्चा आनन्द मिलेगा। किन्तु इस्लामकी रक्षा और दीनकी प्रतिष्ठा चाहनेवाला 'अनलूक'की धोणा न कर स्वतः इस्लामके सभी अङ्गोंका पालन करेगा और 'परगट लेकचार कहु बाता, गुपुत ब्रेम भन जावै राता' को चरितार्थ करेगा। पर जो इस्लामका भक्त नहीं, केवल प्रेमका पुजारी और शानका प्रचारक है, वह स्पष्ट-रूपमें उसकी धोणा करेगा और फिर किसी कियाकलापके फेरमें न पड़ेगा। मुल्ला और काजी उसे ज़िन्दीक कहेंगे। प्राणदण्डके विधानसे वह तिल भी न डरेगा और शौकसे सरीके तख्तेपर परम प्रियका आलङ्घन कर उसीमें मग्ग हो जायगा। उसकी सच्ची साधना सफल हो जायगी और उसके आलोकसे लोकका उदार होगा, हठ और पापण्डकी एक भी न चलेगी।

इस्लाम धर्मकी कुछ बातें और शिया-सुन्नियोंका भेद

(केवल—श्रीभगवतीप्रसादतिङ्ग गी, एम.० ए.०)

दजरत मुहम्मदको अपने समयकी अवधिमें प्रचलित 'बुन्-परस्ती' खटकने व्यायी और उन्होंने 'खुदा-परस्ती' का प्रचार करना निश्चय किया। बहुत दिनोंतक मझके समीप हारायीतकी एक गुफामें एकान्तवासके अनन्तर उन्होंने अपनी ऊसे सुन्नित किया कि फ़रिशत जिबराइल उनके पास यह समझाचार लाये थे कि खुदाने मुहम्मदको अपना पैमान्यर नियत किया है। मुहम्मद अपठित थे और करानके वाक्य उनके मुखसे आवेद्यकी अवस्थाओंमें निकले कहे जाते हैं। कुरानका मुख्य आशय खुदाकी एकता है। कहते हैं—खुदा एक है और उसके बिंदु कोई दूसरा नहीं। मुहम्मद उसके पैमान्यर हैं। कलमा या इस्लामधर्मकी गायत्रीका यही अर्थ है। इस्लामके मुख्य अङ्ग ६ प्रकारके हमान (सिद्धान्त) और ४ प्रकारके दीन (कर्मकाण्ड) हैं। हमानमें खुदा, उनके पैमान्यर, उनके करिस्ते, कुरान, खुदाकी सर्वशक्तिमत्ता तथा मृत्युके पश्चात् न्यायके दिनमें विश्वास करना है। दीनके अङ्ग नमाज़, रोज़ा, ज़कात और हज़ हैं।

इमलोग एकान्तमें स्वस्थचित् बैठकर सन्ध्योपासन करते हैं, देलाई खुटने टेककर भगवद्विन्दन करते हैं और यहूदी खड़े होकर प्रार्थना करते हैं; पर मुसल्मानोंकी पाँच

वक्तकी नमाज़ (प्रार्थना) का ढंग निराला ही है। चारांह अथवा दरी (जानमाज़) पर ही प्रार्थना हो सकती है और नमाज़के अवसरपर उपासकका मुख मङ्कोंकी ओर होना चाहिये। शारीरिक शुद्धिके बिना नमाज़ स्वीकृत नहीं होती। मैथुन इत्यादि अवस्थाओंके उपरान्त ज्ञानसे ही शुद्धि होती है। अन्यथा हाय पैर और मुखको धोनेसे काम चल जाता है। जलके अभावमें बालसे काम चल सकता है। नमाज़के समय उपाकाल, मध्याह्नके उपरान्त, मध्याह्न तथा सायङ्कालके मध्यमें, सूर्यास्तके कुछ बाद और सोनेके पूर्व हैं। ठीक इन समयोंपर मस्जिदकी मीनारोंसे इमाम लोग 'अलाहो अकबर' के नरे लगाते हैं। नमाज़को छी नहीं सुन सकती। नमाज़में आठ प्रकारसे उठना-बैठना पड़ता है, प्रार्थनाएँ छोटी होती हैं और अर्बी भाषामें पदी जाती हैं। वे कई बार दुहरायी जाती हैं। प्रत्येक प्रार्थनाको रकोह कहते हैं। प्रत्येक शुक्रवारको मध्याह्नके उपरान्तकी नमाज़ सामूहिक होती है।

इस्लामी संवत्सर (हिजरी) का प्रारम्भ रमजान माससे होता है और महीने चान्द्रमास द्वेष्टे हैं। उनके नाम मुहर्रम, सफर, रवीउल अब्द, रवी उस्सानी, जमादुल अब्दल,

जमादुस्तानी, रजब, शावान, रमजान, शब्वाल, ज़िलहिदः और ज़िलहिजः हैं। रमजानके महीनेभर प्रतिदिन व्रत रखना जाता है, जिसे 'रोज़ा' कहते हैं। रोज़ा खलनमें सूर्योदयसे कुछ पहलेतक भोजन कर लेते हैं, फिर दिनमें न कुछ खाते न पीते हैं। सूर्यास्तके उपरान्त पिर भोजन करते हैं। रमजानके अन्तिम हुक्मवारको अल्विदा (विदाई) कहते हैं और मासिक व्रतकी समाप्तिपर द्वितीयाके चन्द्रदर्शन-पर ईद-उल्फ़िक्र मनायी जाती है। (मुसल्मान लोग शङ्कर-जीके मालपर स्थित चन्द्रहीको अपने प्रत्यक्ष देन मानते हैं।

ज़कात अथवा दानमें अपनी आयका खालीखाँवों भाग व्यवहार कर देना चाहिये। किसी मौग्नेवाले (सायल) को कटुवचन कहना मना है।

प्रत्येक मुसल्मानको जीवनमें एक बार मक्का नगरमें स्थित काबिये के मन्दिरकी यात्रा करना आवश्यक है। मुहम्मदके पूर्व काबिये क्षणनपर एक विशाल मन्दिर (विश्वाल्य !) या, जिसे विहित (स्वर्ण) मन्दिर (बैतुल मामूर) की नकल मानते थे। बर्तमान काबिये में एक काला पत्थर है, जिसकी परिक्रमा करते हैं और जिसे चूमते हैं। कहते हैं यह स्वर्यसे आया है और पृथ्वीपर खुदके दर्शने हाथके महान है। इस पाषाण-प्रतीकके कारण मक्का परम पवित्र माना जाता है और इसकी सीमाके भीतर जीवधर्म वर्जित है। हज (काबीया यात्रा) करनेवाले हाज़ी कहलाते हैं। यात्राके समय ये मक्कामें मुण्डन करते हैं और सादा श्वेत विना सिना (कलनका) कपड़ा पहनते हैं। वहाँके ज़मज़मनामक कुपका जल गङ्गाजलके समान पवित्र माना जाता है।

हमलोगोंकी दैतरणी नदीके स्थानपर मुसल्मानोंमें दोज़ख (नरककुण्ड) है, जिसपर उत्तरामाक बालसे भी महीन पुल बँधा माना जाता है। इस पुलको पारी नहीं पार कर सकते। पुलके पार यिहङ्क (स्वर्ग) है—जहाँ पानी, दूध, शहद तथा शराबकी नहरें बहती हैं। स्वर्गमें मुस्क (कल्परी) की बनी ७२ हुरैं (सुन्दरियाँ) और ७०,००० गिलमा (मुन्द्र चालक सेवक) प्रत्येक पुण्याभाको मिलते हैं। कलामतकी कल्पना इसारे प्रत्यक्षसे मिलती है। उमीके बाद प्रत्येक क़दमसे सुर्दे उठ खड़े होगे और उनके पुण्य-पापका न्याय होगा !!

इस्टामधर्ममें प्रत्येक मुसल्मान समान पद रखता है। धार्मिक बानोंमें ऊँच-नीचका कोई भेद नहीं। इसी कारण इसे पग्म प्रजामन्त्रामक (most democratic) धर्म

कहते हैं। इस्लामधर्मका नेता खलीफ़ा कहा जाता है। वही धर्मगुरु तथा राजा होता या। सन् १९२४ई० में खिलाफ़त (खलीफ़ाके पद) का अन्त हो गया, तबसे कोई खलीफ़ा नहीं है। उस साल तुर्कीके सुलतान खलीफ़ा थे। उनके पदच्युत होनेपर यह पद ही उठा दिया गया। इस खिलाफ़तके मसलेको लेकर बार-बार रक्तकी नदियाँ बही हैं। दिया-सुन्नी-सम्प्रदायोंका क़ट्टर विरोध भी इसी खिलाफ़तमें सम्बद्ध है।

मुहम्मदके मरनेपर कुछ मुसल्मानोंका मत या कि उनके उत्तराधिकारी (खलीफ़ा) उनके बंशज ही हैं और कुछका कहना या कि सबने योग्य पुरुष खलीफ़ा हो, जिसे जनता चुने। पूर्व-भत्ताले शिया कहलाये और पर-भत्ताले सुन्नी। सुन्नियोंकी बात रही। और मुहम्मदसाहबके चेहरे भाई अलीके होते हुए भी अबूबकर खलीफ़ा चुने मर्ये। अबूबकरके बाद उमर और उनके बाद उम्मान खलीफ़ा हुए। उम्मानके मरनेपर उमर्युक्त अली (जो हजरत मुहम्मदके दामाद भी थे) खलीफ़ा चुने मर्ये। लेकिन शाम (Syria) के गवर्नर मारिया (जो खलीफ़ा पदका दाया कर रहे थे) ने हजरत अलीको नमाज़क समय भरवा डाला। अलीके बाद उनके बड़े लड़के इसन खलीफ़ा चुने गये, पर मारियाने उनको भी विप दिल्वाकर मरवा डाला। इसनके मरनेपर कुफ़ानामक नगरके निवासियोंके आग्रहमें इसनके भाई हुम्मेन खलीफ़ा नियुक्त हुनेके लिये कुफ़ाको चले। पर कर्बलाके मैदानमें ७२ मारियोंके भाग्य हजरत हुम्मेन मारियाके पुत्र यज़ीदकी सेनादारा भार ढाले गये। इसी कर्बलाकी हान्यका स्मारक मुर्दमका लोहार है। हुसेनका धोड़ा झुग्जिनाह था, जो आजकल दुल्दुलके नामसे निकाल जाता है। ताजिया हजरत हुम्मेनकी कब्रका सारक है। इस अवसरपर (यह मुख्यतः शिया लोगोंका लोहार है) लोग हर तथा काले कपड़े पहनते हैं। हरे बछर हजरत इसनको विप देनेकी बाद दिलाते हैं। और काले बछर हजरत हुम्मेनकी मूल्यपर शोक प्रकट करते हैं। प्रत्येक शहरमें उस स्थानको जहाँ ताजिये दफनाये जाते हैं, कर्बलाके युद्धकी यादगारमें कर्बला कहते हैं।

हुम्मेनकी मृत्युके पश्चात् मारियाका पुत्र यज़ीद खलीफ़ा माना गया, पर शियालोग उसको नहीं मानते। वे हजरत मुहम्मदके बंशज अलीको ही अपना पहला इमाम मानते हैं। अलीके बाद इसन और उनके बाद इसनके भाई हुसेनको

मानते हैं। हुसेनके बाद कमशः वंशपरम्परासे जौनुल् आवदीन अल् बाकिर, अल् जाफर, मूणा क़ाज़िम, अल्रीदा, तकी, नकी, असकरीनामक इसाम हुए। वे सब अली और उनके लड़के हुसन तथा हुसेनकी लरह मारे गये। अन्तिम बारहवें हमाम अमोहदी हुए, जिनके लिये कहा जाता है कि वे जीवित होते हुए भी उत्त हैं। कालान्तरमें हज़रत ईसाके साथ प्रकट होकर जगत्भरकी इस्लामवर्यमें दीक्षित करेंगे। शिया सदा अपने इमामोंकी अपमृत्युका शोक मनाते रहते हैं। वे लोग वहे भावपूर्ण रूपसे मातम करते हैं और मुजिज्ञोंसे यज़ीदके अनुगामी होनेके कारण बुरा मानते हैं। यही नहीं, शियालोग

अलीके पूर्ववाले खलीफा अबूबकर, उमर और उम्मानसे चिट्ठते हैं और उनके विषद् शापवत् 'त्वर्त' पढ़ते हैं। इसके ज्यादमें सुनीलेगा इन तीनों खलीफाओंका गुणाम 'मदेसदावा' पढ़कर करते हैं।

यज़ीद उमैय्यद घरानेके थे, अतः उनके बादवाले शामवासी खलीफा (जिन्हें केवल मुश्वी मानते थे) उमैय्यद कहलाये। कालान्तरमें अब्बासी खलीफाओंने बगादादको अपनी राजधानी बनाया और ग्यारहवें सदीसे बगादादके घस्त होनेपर तुर्क खलीफा कुखुन्हुनियामें रहने लगे। इस समय वह पद उठ गया है।

सद्गुरु कबीर साहबकी सहज साधना

(लेखक—श्रीधर्माशिकारी महान् श्रीविनायकाम जी साहब शास्त्री)

परमतत्त्वकी प्राप्तिके लिये मनको स्थिर करना होता है, जो साधनाके बिना नहीं होता। मनकी स्थिरताके अनेक साधनोंमें 'मुरुति-योग' सबसे श्रेष्ठ और सरल है। सद्गुरु कबीरसाहबने इसीको 'सहज समाधि' कहा है।

सहज समाधी उन्मनि जात, सहज मिनै रुग्माई।

जह—जहै देखै तह—तहै माहै, मन मानिक देखो हीरा।

परम तत्त्व यह गुमने पावै, कह उपदेस करीज।

(कबीरसाहेबका बोक़क)

मुरुति सभी संसारका द्वार है। प्रशान्त निजात्म-महासागरमें अनादि बासना वायुके लकोरोंसे उत्पन्न हुई स्फूर्ति-तरङ्गों सारे संसारके दृष्टियोंको सामने ला देती है। इस कारण यह भी कह सकते हैं कि मुरुति ही संसार है और उसका निरोध ही संसारकी निवृत्ति है। मन सदैव मुरुतिके पीछे चला करता है; क्योंकि मुरुतिके होनेसे ही अनेक सद्गुरु-विकल्प खड़े होते हैं। अतः जयतक मुरुतिका निरोध न हो, तत्पतक मनका निरोध असम्भव है।

मन-मत्तू भर्ने नहीं, चर्ने मुरुति के साथ।

दीन महावत दद्या करै, अंकुर नाहीं हाय।

(कबीरसाहेबका बोक़क)

शरीरमें धरती और आकाशके विशेष स्थान हैं। उन दोनोंसे परे मुरुति-कमल है। गुरुकी बतायी हुई मुरुतिसे वहाँ मुरुतिको लगानेसे बह स्थिर हो जाती है। उसके स्थिर होनेसे मन भी निश्चल हो जाता है और मनके निश्चल होनेसे

खरूपका साक्षात्कार होता है। इस बातका सद्गुरु कबीर-साहबने सांकेतिक भाषामें इस प्रकार वर्णन किया है—

धरती अकासके ऊपर, योजन अट प्रभान।

तहों सुरुति है राखिये, देह धर नहि आत ॥

सुरुति कैसीं संसारमें, ताने परि गयो दूर ॥

मुरुति बैयि सुस्थिर करो, आठों पहर हज़र ॥

आरी आई अधरमें, अधर हि दरमन होय ॥

कायास न्याया लावै, हस कश्चै संय ॥

इस मुरुतिकी धारणाके लिये किसी भी मुद्राविशेषकी अवश्या आसनविशेषकी आवश्यकता नहीं है। सहजपादसे वह धारणा की जा सकती है। जैसा कि इस 'शब्द'में कहा है—

संतो सहज समाधि भली है।

जबसे दया भई सदगुरुकी, सुरुति न अनन चलो है ॥१॥

जह—जहै जाँके सोइ परिकरमा, जो कलु कर्गं सो पूजा ।

पर बनखंड एक सम भेंजा, भाव मिटावं दूजा ॥ २ ॥

ग्रह निरन्तर मनुसा राजा, भलिन वासना त्यागी ।

जागत-सोवत, ऊङ्ल-बैठत, ऐसी तारी लागी ॥ ३ ॥

अंव न मैंदूँ, काल न हूँ, काया-कट न घाँ ।

उधरे नैन सहेब देहूँ, मुंदर बदन निहाहै ॥ ४ ॥

कहति कबीर यह उन्मनि रहनी, सो परगट कहि गई ।

कुम्भ-मुक्ते वह परे परम पद, सो पद है मुसुदरै ॥ ५ ॥

विदेश क्या, बैठे-बैठे और सेते-सोते भी मुरुतिको निज लक्ष्यमें लगाया जा सकता है—

वैठे, सूरी, पड़े उतान, कहहिं कबीर हम वही ठिकान।
 संत पलट्टसाहेबने भी उक्त सुरतियोगके विषयमें
 निश्चलिखित कुण्डलिया कहा है।
 कमठ-दृष्टि जो लावर्द, सो ध्यानी परमान।
 सो ध्यानी परमान, सुरतिसे अंडा सेव।
 अप रहे जल माहि, सूंदरमें उंडा देव।
 जस पनिहारी कलस धरि, मरगमें आवै।
 कर छोड़े, मुख बचन, सुरति कलसमें लावै।

मनि मनि धरह उतारि, आप चरनेको जावै।
 वह नहीं गमिल पहै, सुरति मनि माहि रहवै॥
 पलटू कारज सब करै, सुरति रहै अलगान।
 कमठ-दृष्टि जो लावर्द, सो ध्यानी परमान॥

सदगुरु कबीरसाहेबकी वाणीमें इस सुरतियोगका
 विशेष वर्णन है। अधिक जाननेकी इच्छावालोंको उनकी
 वाणीका परिचीलन करना चाहिये।

कबीर साहबको 'भावभगति' का रहस्य

(लेखक— पं० श्रीपरशुरामजी चतुर्भंदी, एम० ४०, एल-प्र० ५० बी०)

कबीर साहबने भक्तिको परमार्थका मुख्य साधन मानकर,
 उसे अनन्त कठिन भी बतलाया है। उनका कहना है कि
 'रामकी भगति' 'दुहेली' अर्थात् दुःख कार्य है, वह
 कायरोके वशकी बात नहीं; वह एक प्रकारसे नव्यारकी
 धारके समान तीखी है, जिसपर चढ़कर तनिक भी हिल हुल
 जानेसे कटनेका भय बना रहता है; अथवा वह आपकी
 एक ऐसी लपट है जिसमें कूद पड़नेवाले ही आपेको वशा
 पाते हैं। उससे खिलबाइ करनेवाले विना जले नहीं रह
 सकते। भक्तिका द्वार इसी कारण राईके दशमाशके जितना
 'सकड़ा' वा तंग है, जिसमें प्रवेश करना भी हमारे मनस्थी
 मत्त-गजेन्द्रके लिये एक असम्भव-सी बात होगी। अतएव
 जिस प्रकार कोई आपनी आँखोंमें काजल देने मात्रसे ही
 उनमें वह 'चाह' नहीं ला सकता जिससे मनोमोहकता भी
 आ जाय, उसी प्रकार भक्तिके नामा भाव अथवा विशिष्ट
 विधियोंके होते हुए भी सबके लिये उस भेद वा रहस्यका
 पा सकना दुर्लभ है जिसके द्वारा 'श्रीहरि' से मिलनेवाले
 हृदयकी उपलब्धि हुआ करती है। उस रहस्यके ज्ञान विना
 हमारा भन बाहरसे सच्च होनेपर भी बास्तवमें मैला ही बना
 रह जाता है और कपट बहाँस निर्मूल वा निर्वौज नहीं हो
 पाता। केवल नेत्रोंके बकवट् उज्ज्वल और निर्दोष दीर्घ
 पड़नेसे हृदयमें 'विडाल' के रहते सज्जी भक्तिकी सम्मानना
 किसी प्रकार भी नहीं की जा सकती। कबीर साहब उस
 रहस्यका नाम 'भाव' अथवा 'भेद' निर्दिष्ट करते हैं और
 अपनी भक्तिसाधनाको भी उसीके अनुसार 'भावभगति'
 कहा करते हैं। उनका कहना है कि हरिके साथ 'घडजोरा'
 यथार्थमें भावभगतिके द्वारा ही सम्भव हो सकता है;

स्मौकि उसके विना ('राम') एकमात्र एवं सर्वथव्यापी
 होते हुए भी हमारे लिये सदा दूरस्य बने रहते हैं।

परन्तु भविभगति और राम-ये दोनों वस्तुएँ एक ही
 भौति 'निराली' वा अनुपम हैं, अतएव 'कथर्णी' वर्णन की
 'जंजाल' द्वारा इनका यथार्थ वर्णन कभी नहीं किया जा
 सकता। भावभगति कहने-सुननेमात्रकी बात नहीं, वह
 केवल अनुभवगम्य साधना है। उसके लिये सर्वप्रथम
 सदृकी वह कृषा अपेक्षित है, जिससे उस अनन्तको प्रत्यक्ष
 करनेके साधनस्वरूप हमें अनन्त नेत्रोंकी उपलब्धि हो जाय;
 हमें उस सब्जे शूकर के वह शावदयाण लगा जाय, जिसके मर्मश्वल-
 तक पहुँचते ही सारा भेद आप-मे-आप खुल सके और सारे
 शरीरमें एक प्रकारकी ज्ञात्या व्याप होकर हमें निस्तव्य कर दें;
 अथवा उसके एक ही प्रसङ्गमें हमारे अङ्ग-प्रत्यक्षके भीगनेकी कौन
 कहे, अन्तराम्बातक सराबोर होकर नितान्त निर्मल हो
 जाय। तभी हमारे भीतर वह बलवती अभिलाषा भी जागत
 होगी, जो 'विवह-भूवंगम' का रूप धारण कर हमारे कलेजेमें
 'धाव' करने लगती है और शसीरके रग रग रवावकी ताँत
 बनकर होकर हो उठते हैं; अथवा जिसके प्रभावमें आकर
 हम अपने दशीरको दीपक बना और उसमें रक्तका तेल
 ढाल एवं प्राणोंकी बस्ती ढाल उसके द्वारा अपने प्रियतमका
 मुख देखनेके लिये अन्यन्त आतुर हो जाते हैं। भेदको
 समझने और हृदयकम कर लेनेवालेपर ही ऐसी 'खला'
 आती है। यह जिशासा जिस किसीके भी अंदर जगी, उसे
 दिन-नात चैन नहीं; वह नित्यशः अपने ही मनके साथ

अविभान्तरप्से विना किसी हथियारकी सहायताके भी संग्राम करनेको विचार हो जाता है।

भावभगतिके लिये दूसरी परम आवश्यक वात अपने मनका यजूदीक वशमें लाना है, क्योंकि विना मनकी शुद्धिके 'हरि' की प्राप्ति नहीं हो सकती। हमें सबसे पहले उस मनमें खोज करनी चाहिये, जिसमें सम्पूर्ण भौतिक सम्बन्धोंका परित्याग कर अन्तमें प्रवेश किया जाता है। कवीरसाहबका कहना है कि उस मनके रहस्यको बड़े-बड़े भूतों और साज्जाकोंतकने नहीं जान पाया; वह 'अकल निरंजन' वा निर्मल मन अपने तनके भीतर ही वर्तमान है, किन्तु उसकी प्राप्ति विरले पुरुष कर पाते हैं। सच्ची वात तो वह है कि जबतक हमारे मनमें किसी प्रकारका विकार भरा है, तबतक हमारे लिये आवागमनसे मुक्त शैया बहुत दूरकी वात है और मनके निविकार हो जानेपर उसका 'निर्मल' में प्रवेश आपसे-आप ही जाता है। मनको जीवधर्मानुसार अपनी राह जाने देना ठीक नहीं; इस तकलीके सूतकी भाँति सदा बार-बार उलटे रहनेकी आवश्यकता है। इस मदोम्मत्को इधर-उधर भागता देख अकुश देंदेकर अपनी ओर पेंते रहना चाहिये, ताकि मार-पीटक किसी प्रकार यह घटके भीतर ही घिर जा सके। मनको भैंदेकी भाँति नन्हा-नन्हा करके धीसते रहना भी आवश्यक है; इसे 'विश्वस्त' वा विनष्ट कर दृश्यसे नितान्त अदृश्यतक बना देना है। किन्तु सदा ध्यान रह कि हमारा मन मृतक हो जानेपर भी बहुधा विश्वासयोग्य नहीं हो पाता; इसमें विकारकी वायुके पुनः लगते ही एक बार फिर जी उठनेकी शक्ति बनी रहती है। जब अनेक उपायोंद्वारा हमारा मन किसी प्रकार निश्चल हो जाता है, तभी हमें वह पूर्ण खिद्दि प्राप्त होती है और हमारा सारा शरीर कसौटीपर बार-बार कसे गये सेनेकी भाँति शुद्ध हो पाता है। मनके ऊपर सफलता-पूर्वक विजय प्राप्त कर लेनेकी पहचान उसका एक खन्ज दर्पणकी भाँति प्रतिष्ठित ग्रहण करनेमें पूर्णरूपेण समर्थ हो जाना है।

परन्तु जिस भाष अथवा भेदका प्रतिष्ठित्व ग्रहण करना है, उसका वास्तविक रूप क्या है? और उसका अनुभव प्राप्त करनेके लिये किन उपायोंका प्रयोग आवश्यक है? कवीर-साहबका कहना है कि वह बस्तु एक रहस्यमय 'कुछ' है, जिसका शाश्वत होनेके कारण आजतक मरना या जीनातक कभी नहीं हुआ, जो अभिष्वनादि पञ्च तत्त्वोंके 'मेल'

वा चपल बुद्धिके 'खेला'से भी परे रहा करता है, जो सब किसीके लिये अनितम लक्ष्य है और जिसे हमारा सत्तरुक 'आपा' अथवा 'ब्रह्म' कहकर निर्दिष्ट किया करता है। इसकी प्राप्तिके लिये की जानेवाली साचनाको, इसी कारण, 'आत्म-साधन' वा 'ब्रह्मविचार' भी कहते हैं। वही अगोचर बस्तु बहुधा 'रामनाम'से भी अभिहित होती है, जिस कारण उक्त क्रियाका एक अन्य नाम 'रामनामसिधि जोग' भी है। उसकी पूरी प्यास मिटानेके लिये ओस चाटनेसे काम नहीं चलता, समुद्रमें इबकी लगानी पढ़ती है। उसे हम भौतिक पञ्चतत्त्वोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेपर ही प्राप्त कर सकते हैं—अथात् जब पृथ्वीका गुण पानीमें चला जाता है, पानी तेजमें मिल जाता है, तेज पवनसे मिलता है और पवन शब्दके साथ लीन होकर शब्दमें प्रवेश कर जाता है। उस समय सारी वस्तुएँ, एक ही स्वर्णके बने किन्तु तये जानेपर पुनः गलकर एक हो जानेवाले विभ्र-भिन्न प्रकारके गहनोंकी भाँति, एकरूप हो जाती हैं। भावका अनुभव पूर्ण हो जानेपर भी कुछ ऐसी ही स्थिति होती है।

कवीर साहयने उक्त भावनामक वस्तुको 'पट्टचक्की कनक-कोउड़ी' में निहित बतलाया है और कहा है कि इस पानेके लिये उसमें पड़े तालेको 'जुगति'की कुंजीसे क्रमशः खोलना चाहिये। उलटे पवनद्वारा पट्टचक्रवेधन होनेपर, 'सहर' व 'भूर' अथवा इडा और पिङ्गलनामक दो प्रसिद्ध नाडियोंकी पहुँचके भी दूर हमें अपने मेशदण्डका बह सिरा मिलता है, जहाँ मनके 'सुन्नि'में प्रवेश कर स्थिर होते ही, विना किसी पुष्टिके अस्तित्वके भी, सारा आकाश पुण्यित हो उठता है और 'परमजोति'के प्रकाशमें अनन्त तारों और विजलीकी चमकको-सा अनुभव होने लगता है। तभी हमें 'अनहंद'का शब्द भी सुन पहता है और 'सत्तरुक'की कृपा-द्वारा, इस प्रकार 'सम्पुट'के खुल जाते ही, 'सुरति' सुखमें समा जाती है तथा 'आपा' आपमें लीन हो जाता है। इसी क्रियाको 'इद'को छोड़कर 'वेहद'में जाना, 'घट'में ही 'ओधट'का प्राप्त करना वा 'सुन्नि' में अपना स्नान करना भी उन्होंने बतलाया है। वे कहते हैं कि उस समय हमारा मन 'उम्मन' अथवा उपर्युक्त निर्मल मनसे लग जाता है और दोनों, नमक और पानीकी भाँति धुल-मिलकर, एक हो जाते हैं। जिस प्रकार पानीसे वर्ष बना करती है और वर्षसे पिर पानीमें परिवर्तित होते ही ज्यों-की-ल्यों रह जाती है, उसी प्रकार ये दोनों भी उस अवस्थाको प्राप्त हो जाते

हैं; जो सबं अनुभवीके भी वर्णनके बाहरकी बात है। अतएव 'प्रापनमण्डल'में विलीन होकर वह बहुत कुछ सोच-विचार करनेपर मी केवल इतना ही निश्चय कर पाता है कि वास्तवमें मैंने कुछ भी नहीं किया, कहीं गथा वा कहीं-से आया भी नहीं, सदा जहाँ-का-तहाँ अपनी जगहपर ही बना हुआ हूँ। भावका इस प्रकार अनुभव करनेवाली 'जुगति' ही भावभगतिकी भी युक्ति है।

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि उपर्युक्त प्रकाशको ही कवीर साहबने 'अनन्त' वा 'पारब्रह्म'का तेज कहा है और उसे, असंख्य शूलोंके समान प्रत्यर बतलाते हुए भी, सिंघ चन्द्रिकाकी भाँति शीतल भी माना है। उस निराकार हृष्यका वर्णन क्या किया जाय, उसे देखते ही बनता है; वह कहनेकी वस्तु नहीं। वहाँ पहुँचनेपर साधकको किसी प्रकारकी चिन्ता क्या, कल्पनातक नहीं सताती और उसका मन एक प्रकारसे 'विन मन-सा'वा अमनस्क हो जाता है। पूर्वका परिचय ही जनेसे 'हृष्टि' ही पूरी हो जाती है। 'आतम-राम' 'प्रेमभगति'के 'हृष्ठोलने' पर निरन्तर शूलता है और 'अमृतरसु'का पाल करता हुआ शाश्वत आनन्दका अनुभव भी करने लगता है। इस 'करणी' द्वारा कर्मका नाश होकर पाप एवं पुण्य-इन दोनोंका भ्रम भी नष्ट हो जाता है। ममता और अभिमान 'ब्रह्मामि'में जलकर भस्म हो जाते हैं, मोहक ताप लुप हो जाता है और वासना धुलकर अड़ुर-बीजके साथ नितान्त निर्मूल हो जाती है। अब हमारा मन भीतर-ही-भीतर 'भान जाता' है। 'वटकी जोति'से ही सारा जगत् प्रकाशमय दीखता है और हम, गुफामें बैठकर भी, सब कुछ देखने-सुनने लगते हैं। छद्यमें, उस समय, एक अनुपम शान्ति आ चिराजती है; मनका भ्रम मनसे ही दूर हो जाता है और 'सहजरूप हरि' की लीला प्रत्यक्ष हो जाती है। अब किसी प्रकारके 'मैं, तैं' वा 'तैं, मैं'का चिह्नितक नहीं रहता और सब कहीं आप-ही-आपका अनुभव होने लगता है। यही अवश्य 'अखण्डित राम'के 'आतमलीन' हो जानेकी है, जिसे कवीरसाहबने दूसरे शब्दोंमें 'सहजसमाधि'का भी नाम दिया है।

भावभगतिकी साधना उक्त प्रकारकी अवस्थाका आत्मसाधनद्वारा अनुभव करनेपर ही आरम्भ होती है; अतएव उसके वर्णनके सम्बन्धमें नवधा भक्तिके भिन्न-भिन्न साधारण प्रकारोंका, एक प्रकारसे, प्रसङ्ग ही नहीं आता। इसमें 'अधिष्ठ'की यह विशेषता है कि 'सबद' सुनते ही जी

'निकलने' सा लगता है और सारी 'देह' भूल जाती है; 'कीर्तन'में ज्यो-ज्यो 'हरिगुण'के 'सैंभालने'की चेष्टा की जाती है, त्यो-त्यो 'दीर'सा लगता है; 'सरण' एवं 'वन्दन'में क्रमशः—

'मेरा मन सुमिरे रामकृ, मेरा मन रामहि आहि ।'
तथा—

'अब मन रामहि हूँ रहा, सीस नदारौ काहि ।'

—की दशाका अनुभव होता है; 'पादसेवन'में 'चर कैवल मन मौनियाँ'की स्थिति ऐसी हो जाती है कि हम मुख एवं दुख दोनोंको बिल्कुल भूल जाते हैं और वैसी 'वेग' करने लगते हैं। जिसके बिना 'रहा नहीं जाता'। 'अर्चनामें—

'माहि पाती, माहि ऊ, माहि फूजणहार ।'

—होनेसे कुछ अवस्था ही विचित्र-सी रहती है; अतएव 'साच ठीलका चोका' देकर हमें आरतीके समय अपने प्राणोंको ही 'तेजपुञ्ज'के निकट 'उतार' देना पड़ता है। 'दास्य'में तो—

'गलं रामकी जबडी, जित खेंचै तित जाँ ।'

—की अवस्था है ही, अतएव कवीरसाहब कहते हैं कि—

मैं मुनाम माहि बैचै गुमाहि, तन मन धन मेरा रामजीक ताहि ।
आनि कबीर हाटि उतारा, सोइ गाहक, सोइ बेचनहारा ॥

'सरव्य'में 'सो दोसत किया अलेख'की स्थिति है, अतएव 'अंक भरे भरि भेटना' हुआ करता है; और 'आत्मनिवेदन'में तो कहना ही क्या है—भेदके दूर होते ही 'सब दसा' भूल जाती है और देश अनुभव होता है कि—

'पाला गलि पाँजी भासा ढुँगि मिलिथा उस कूलि ।'

फिर तो,

हैरत हैरत है सही, रहा कबीर हिराइ ।

बैदू समानी समुद्रमें, सा कृत हेरी जाइ ॥

—की अनिर्वचनीय समस्या उपस्थित हो जाती है और अन्तमें—

मेरा मुखमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा ।

तेरा तुल्सके सौंपते, वया लौमै भेरा ॥

—कहकर ही मौन घारण करना पड़ता है। भावभगतिका उपदेश देते हुए अपनी 'रमेणी'के अन्तमें कवीरसाहब कहते हैं—

भावभगति बिसदास बिन कटै न सैसै सूल ।

कहै कबीर हरिमाति बिन मुकति नहीं र भूल ॥

प्रेमकी अनोखी बाबि

स्थाम तोरी मुरली नेकु बजाऊँ ।

जोह जोह तान भरे मुरलीमें सोइ सोइ गाह सुनाऊँ ।

हमरी विदिया तुमही लगावी मैं सिर मुकुट धराऊँ ॥

हमरे भूषन तुम सब पहिरौ मैं तुम्हरे सब पाऊँ ।

तुम्हरे सिर मास्कनकी मटुकी मैं मिलि घ्याल लुटाऊँ ॥

तुम दधि बैचन जाहु छुंदावन मैं मग रोकन आऊँ ।

स्थरस्थाम तुम बनो राधिका मैं नँदलाल कहाऊँ ॥

—सूरदासजी

श्रीदादूदयालके मतानुसार साधन

(लेखक—पु० श्रीहरिनारायणजी, वो० ८०, 'विचाभूषण')

राजपूतानेके प्रसिद्ध सिद्ध महात्माओंमें श्रीदादूदयालजी बहुत ही महिमान्वित और सम्मान्य संत हो गये हैं । १४वीं, १५वीं और १६वीं शताब्दी तथा पीछेतक भारतवर्षमें, उस धर्मधारक विपरीत सुखलमानी राज्यमें—गोरखनाथ, कवीर, रामानन्द, नामदेव, रैदास, नानक, गोकिंदरिंह, मीराबाई, पीपा, धना, रामचरण, स्थामचरण, हरदास, जगजीवन, पलटदास, दरियासाहिब इत्यादि अनेकों महान् आत्माएँ अवतीर्ण हुईं और धर्मकी रक्षा तथा प्रजाजनोंमें सत्यका प्रचार करके उन्होंने धर्म और देशोंको बचाया ।

दादूदयालका जन्म संवत् १६०१ में अहमदबादमें नामग्र ब्राह्मणके घर होना दादूपन्थी सानत है । बचपनमें ही भगवानुने इनको कृपा करके दिव्यशान प्रदान किया था । कुछ वर्षों बाद ये सौंभर आये । वहाँ आठ-दस वर्ष रहकर ज्ञानप्रचार करते हुए आँवेर आये । यहाँसे अकबर बादशाहमें फतहपुर सीकरी जाकर मिले । आँवेर दस-बारह वर्ष रहकर अन्य स्थानोंमें पर्यटन और ज्ञान-भक्तिका प्रचार करते रहे । अन्तमें १६५९ में नरायण (जयपुरसे अनुमान १६ कोस) खंगारोत कछवाहा-दासोंके स्थानमें आ विराजे । और यहीं इनके शरीरका अवसान हुआ । इनके दो पुत्र और दो पुत्रियाँ थीं । वहे—गरीबदासजी, जो वहें ही महात्मा और गान्धर्वविद्यामें अत्यन्त निपुण थे, और जहाँगीर बादशाहने भी जिनके गानके चमत्कारको देखा था, उत्तराधिकारी हुए । यही स्थान दादूपर्यक्ष मध्यान पीठस्थान माना जाता है । प्रतिवर्ष फाल्गुनमें मेला-उत्सव होता है । यहाँ मन्दिर और बहुत से स्थानादि बने हुए हैं । इसी प्रकार सौंभर, आँवेर, पंजाब, मारवाड़ आदिमें अनेकों स्थान और शिथों तथा धार्म-यतियोंके स्थान भी बने हुए हैं । राजपूताना, पंजाब, गुजरात आदिमें दादूदयालका प्रभाव और इस पन्थका प्रचार अधिक रहा है । वैसे तो योहें-बहुत दादूपन्थी हर जगह मिलते हैं ।

दादूजीके १५२ शिष्य हुए । उनके अंदरसे १०० तो तप और त्याग धारण कर विचरण गये, उनके पीछे कोई शिष्यतक नहीं रहा । परन्तु ५२ शिष्य वहे सिद्ध और शानी थे । वे बहुत से स्थान और शिष्य छोड़ गये । इनमें अधेसे भी अधिक अति विश्वात हुए हैं । गरीबदास, रजबदास, वहे सुन्दरदास, माघोदास, टीलदास, बनवारीदास, जाग्नाथ-

दास, वखना, गोपालदास, जनगोपाल, दयालदास, मङ्सी-दास, तेजानन्द, मोहनदास, चतरदास, प्रगदास, सुन्दरदास, छोटा, बूसर, साधुराम, चतुर्सुजदास, नरायणदास, चरणदास, जग्ना, जयमल चौहाण, जयमल कछवाहा, मनमालीदास, मोहन दफतरी, चतुरदास, संतदास, मोहनदास मेवाहा, नारायण निजाम, जगजीवन इत्यादि बहुत नामी हुए हैं । अनेकोंने अपने युश दादूदयालके मतानुसार वाणियाँ भी रची हैं । उनमेंसे बहुत-सी मिलती भी हैं । रजब, सुन्दर, जग-जीवन, गरीबदास, जनगोपाल, प्रगदास, जगनाथ, वखना इत्यादिकी रचनाएँ सुन्दर और सारभरी हैं ।

दादूदयालकी वाणीके दो विभाग हैं । एक साली जिसमें दोहा, सोरठा वा कहीं-कहीं चौपाई या और कोई छोटा छन्द है । दूसरा पद या भजन, जो कई रागोंमें है । सारी वाणी लगभग सात हजार अनुष्ठान्तके बतायी जाती है । सालियाँ सैंतीस अङ्गोंमें ढाई हजारके ऊपर हैं, और पद २७ रागोंमें ४ सैंतीस कुछ अधिक हैं । इस वाणीमें ज्ञान, भक्ति और वैराग्यमें ब्रह्मज्ञानका सार-समृद्ध भरा हुआ है । वाणी कोमल, मधुर, सरल सुन्दर भाषामें है, जिसके पदमेंसे निरञ्जन निराकारका उच्च शान और ध्यान सहज ही प्राप्त होता है । कहा है—

(१) 'दादूदयाल दिनकर दुती (जिन) विमल बृहि वाणी करी ॥'

ग्यान, भक्ति, वैराग्य भाग बहुमेद बताये ।

कोटि अङ्गको मंथ पंथ मंथूप ल-ल्लाये ॥

विशुद्ध बुद्धि अविशुद्ध सुद्धि गर्वश्य उजागर ।

परमानंद प्रकाम नान निमद्देद महाभा ॥

ब्रह्म बृद्ध माली मणिल, पद समिना सामन हरी ।

दादूदयाल दिनकर दुती, विमल बृहि वाणी करी ॥ १ ॥

(२) 'मक्ति पुहुप, बैराग्य फल ब्रह्म बोज जग्नाथ मैणि ॥'

(३) या वाणी सुनि ग्यान है, याही ते॒ बैराग ।

या सुनि मज्जन भासी बैदे, या सुनि भासा त्याग ॥ २ ॥

या वाणी पढि प्रेम है, या पढि ग्रीति अपार ।

या पढि निश्चय नाम की, या पढि प्राण अचार ॥ २ ॥

या वाणी हैं खोजतीं, क्षमा, सील, संतोष ।

याहि विचारन बुद्धि है, या भारत जिव मोक्ष ॥ २ ॥

आदि निरंजन, अंत निरंजन, मध्य निरंजन, आदू ।
कहि 'जगजीवन' अलख निरंजन, तहाँबसै मुर दादू ॥ १८ ॥
अविचल शंख जपै निसदासर, अविचल आत्मि गावै ।
अविचल इष्ट रहै सिर ऊरि, अविचल ही पद गावै ॥ १९ ॥

- (४) पार उतारणहारजी, मुरु दादू आया ।
जीवन के उद्धर कैं, हरि आप पठाया ॥ २ ॥
राम नाम उपदेश दे, अम दूर उक्षमा ।
ग्यान भक्ति बैराग हू, यह तीन दण्डमा ॥ ३ ॥
विमुख जीव सनुमुख किंग, हरिपूर्ण चलाया ।
झूँठ क्रिया सब छाँड़ि कै, प्रमु सत्य बताया ॥ ४ ॥
-
- दयावंत दुख मेटना, सुखदायक माया ।
सीलवंत साचे भर्ते, संतोष गहाया ॥ ५ ॥
-
- अति गंगीर समुद्र ज्यों, तरुवर ज्यों छाया ।
बनी बसै मेघ ज्यों, अनंद बढाया ॥ ६ ॥
-
- पवन त्रिसा सब सारसा, को रंक न राया ।
द्योप त्रिसा हिरदै बड़ा, कहुँ पार न पाया ॥ ७ ॥
- ऐक जिमी प्रहराद है, भ्रुव ज्यों मन लाया ।
ग्यान गद्यों सुखदेव ज्यों, परब्रह्म दिलाया ॥ ८ ॥
- जोग जुगली गोगक ज्यों, खंडा सुरक्षाया ।
हृद छाँड़ि भेहद मैं, अनहृद बजाया ॥ ९ ॥
- जैसा नाम कीरीजो, यों साकु कहाया ।
आदि अंत लौ आइ कै, रमि राम समाया ॥ १० ॥
-
- नमस्कार गुरुदेव कैं, जिन बंदि छुडाया ।
दादू दीनद्याल का सुंदर जस गाया ॥ ११ ॥
- (५) पंच सहस्र आ रसाल वाणी, अगम अनुभव संचही ।
मति, ग्यान, वैराग्य धूरण, श्री नमामि दादूद्याल ही ॥ १२ ॥
- (६) यों जीवनमुक्ति ऐसी दशा, ग्यान भक्ति बैराग बल ।
कहै बालकराम अमृत बचन, सुख मुख शोभागत फल ॥ १३ ॥

उपर्युक्त कथन और अवतरणोंसे दादूजीके भर्त, साधन और सिद्धान्तोंका कुछ दिग्दर्शन होता है । उनकी वाणी (साली और पद) में शान, भक्ति और वैराग्यका प्रतिपादन हुआ है । इन तीनों आध्यात्मिक प्रकरणों या विषयोंसे उनका वचनामृत ओतप्रोत है । वेदान्तके

सिद्धान्तोंसे उनके उपदेश बहुत अनुकूल मिलते-जुलते हैं, परन्तु उनके उस वेदान्तमें भक्ति भी हुई है; यह शुष्क नहीं है, 'सूखी शिला' नहीं है । उसके शानसे वैराग्य उत्पन्न होता है—और वैराग्य-त्वाग ही परमात्माकी प्राप्तिका प्रधान साधन है । इस प्रकार दादूजीका उपदेश बहुत आनन्दकारी और आत्मामें दिव्य प्रकाशको शीघ्र देनेवाला है । दादूद्यालनीकी वाणी आदिते अन्ततक शानभरे उपदेशों और उनके सच्चे और सारभरे अनुभवोंसे परिपूर्ण है । विशेषता यह है कि साधारण लोकमाध्यमें गम्भीर अध्यात्म-ज्ञानको ऐसा दरसाया है कि शानका 'प्यासा पुरुष उसको सहज ही समझकर तृप्त हो जाता है, और उसके चित्तकी वृत्ति संसारके विषयादिसे उपरत होकर उपरकी ओर पहुँचने लगती है । वाणीके श्रवण और पठनसे दृढ़यमें ऐसे मधुर रसका सञ्चार होने लग जाता है कि मानों स्वर्गमें प्राप्य अमृतकी धारा ही बहने लग गयी हो । उस वचनामृतका ऐसा ऊँचा और सुन्दर प्रभाव पढ़ जाता है कि प्रेमानन्दसे पढ़ने या सुननेवाले जिज्ञासुको ब्रह्मानन्द और तत्त्वज्ञानका आस्वादन और रसाभास होने लग जाता है । यह अनुभव सच्चे महात्माओंके वचन, उपदेश, सत्सङ्ग और सेवासे होता ही है । भगवानकी कृपासे, प्रारब्ध अच्छा हो तो, उसकी भक्ति और ज्ञान ऐसी वाणीसे मिल जाते हैं । दादू-द्यालकी वाणी ऐसी ही तकाल चमत्कार दिखानेवाली है ।

दादूद्यालके सिद्धान्त और उपदेश उनके अनुभव-सिद्ध साधनोंके सार और फल हैं । वे जो कुछ विचारते थे, जो कुछ करते थे, या कहते थे, सब उनके मन, वचन और कर्मका साधन ही था । अतः उनके साधनोंको उनके सिद्धान्तों या उपदेशोंसे पृथक् समझना या बतलाना एक निराला-सा काम उठाना है । इसलिये हम साधन और सिद्धान्तको एकरूप ही समझेंगे । तथा प्रसङ्गवद उनके मत या मतानुयायी साधुओंकी कोई कोई बात भी कह देंगे ।

(१) दादूजीका मर अद्रैत ब्रह्मज्ञान है, परन्तु उनके साथ प्रेम और भक्ति (या इक-मुहूर्वत) तथा पराभक्ति जुड़ी हुई है । वे निराकार, निरञ्जन, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ चेतन ब्रह्मको ही मानते थे । और उसीका ध्यान, सरण और चिन्तन दृढ़यमें, अपने आत्मामें ही करते थे । साकार-उपासना उनका ज्येष्ठ नहीं । भगवानका नामोद्दारण, जप और रटन, भक्ति और ध्यान शानपूर्वक

करना उनका मुख्य और प्रथम साधन था । याम् नामसे उसी ब्रह्मका नाम अभिग्रेत है । नामका माहात्म्य और साधन अन्य साधनोंसे ऊपर और सिद्धिदाता माना गया है । कहा है—

ददू अविचलसंत्र, अमरसंत्र, अहैसंत्र, अभैसंत्र, रामसंत्र निरजसर ।
सजीवसंत्र, सबीरसंत्र, सुदरमंत्र, सिरोमणिसंत्र, निरलंत्रन निराकारा ॥
अलक्षसंत्र, अकलसंत्र, अगाधसंत्र, अपारसंत्र, अनंतसंत्रराम ॥
नूरसंत्र, तेजसंत्र, जोतिसंत्र, प्रकाससंत्र, परमसंत्र पाशा, उच्चेद दध्या ॥

(ददू गुरु रामा) ॥

(साथी १५५ । गुरुदेवकी अंग)

इस शानमय भक्तिमय ज्ञान, परमात्मिक, विहित पूजा, अच्यात्मतत्त्वमय जप और ज्ञान-च्छानका आत्मादान और अनुभव गुरुकृपासे उन्हीं ज्ञानके प्यासों-स्वें जिशासुओंको ही सकता है जिनके हृदयोंमें वैसी लग्न भगवान्ते दी है, जिनके पूर्वजन्मके धर्जित सत्संस्कार इस जीवनमें प्रारम्भ-रूपसे प्रकट होकर फल देते हैं । अब यहाँ हम ददूधयालके साधन, उपासन, सहुपदेश आदिका कुछ दिग्दर्शन करा देते हैं ।

(१) ददूधयालके परमसाधन निराकार निरञ्जन परमात्मा परमपुरुष अलख, अभेव, निर्यल, अगोचर ब्रह्म है । परन्तु यह साधन भक्ति और प्रेमके सहित है । यथा—

(क) निर्मलतत, निर्मलतत, निर्मलतत ऐसा ।

निर्मुण निज लिधि निरञ्जन जैसा है तैसा ॥ टेक ॥

उत्पत्ति आकार नौहीं, जीव नौहीं कामा ।

कल नौहीं, कर्म नौहीं, गहिता गमरामा ॥ १ ॥

सीत नौहीं, धाम नौहीं, धूप नौहीं काया ।

बाव नौहीं, ब्रह्म नौहीं, मोह नौहीं माया ॥ २ ॥

श्रणी-आकाम अगम, चंद्र सूर नौहीं ।

मजनीनिसि दिवस नौहीं, एवनौ नहि जाहीं ॥ ३ ॥

हृतिम घट कला नौहीं, सकल गहित सर्व ।

ददू निज अगम निगम, दूजा नहि कोई ॥ ४ ॥

(पद १५-राम मालीगोड)

(ख) सब देखण्हारा जलतका, अंतरि पूरे साखि ।

ददू सावहि सो सही, दूजा और न राखि ॥

(अंग ३५ । २)

(ग) 'ददू मगति निरञ्जन रामकी, अविचल अविनाशी ।

सदा सजीवनि आत्मा, सहजै परकासी ॥'

(२ । १३ तथा अंग ४ । २५४)

(घ) 'ददू जैसा निर्मुण राम है, तैसी भगति निरञ्जन जैंगि ।'

(अंग ४ । २४७)

(ङ) 'ददू जैसा राम अपार है, तैसी भगति अग्रामा ।'

(अंग ४ । २४५)

'सहै सरीसा सुमरण कीजे, सहै सरीसा गाई ।

सहै सरीहीं सेवा कीजे, सब सेवा सुख याई ॥'

(अंग ४ । २५१)

(च) 'ददू स्वेति तहाँ पिव पाइये, जहाँ चंद न ऊँ सूर ।

निरंतर निरचार है, तेज रहा भरपूर ॥'

(अंग ४ । १९)

'ददू स्वेति तहाँ पिव पाइये, तहाँ बिन जिम्मामुण गाह ।

तहाँ आदि पुरष असेल है, सहजै रहया समाइ ॥'

(अंग ४ । २०)

'ददू स्वेति तहाँ पिव पाइये, जहाँ अजरा अमर उमाइ ।

जग मरण भौ माजसी, राहै अपैये संग ॥'

(अंग ४ । २१)

(२) परमात्मा किंवी स्वानविशेष वा आकार-विशेषमें नहीं है, वह तो सर्वज्ञापक है तथा हृदय—अत्तरात्मामें—घटहीमें विराजता है । यथा—

(क) 'पूरा देसी पीवकौं बाहर भीतरि सोई ।

(अंग ४ । ७५)

'हूं तो देसी पीवकौं, सबमै रहा समाइ ।

(अंग ४ । ७६)

ददू देसी पीवकौं, दूसर देसी नाहिं ।

मर्वे दिसा ऐं सोवि कमि, पामा घटहीं माहिं ॥'

(अंग ४ । ७४)

(ख) ददू काया अंतरि पाइया, निरंतर निरचार ।

सहजै आप लक्षाइया, ऐसा ममरथ सार ॥

(अंग ४ । ११)

ददू काया अंतरि पाइया, विकुटी कंर तीर ।

सहजै आप लक्षाइया, व्याप्ता सकल सरीर ॥'

(अंग ४ । १०)

ददू काया अंतरि पाइया, अनहट बैन बजाइ ।

सहजै आप लक्षाइया, सूर्य मैङलमें जाइ ॥'

(अंग ४ । १२)

ददू काया अंतरि पाइया, सब देवनका देव ।

सहजै आप लक्षाइया, ऐसा अलख अमेव ॥'

(अंग ४ । १३)

- (ग) 'विंतमणि वित्तमे मित्या' (अंग ४। २६)
 'तहैं अंतरजामो आप ।' (अंग ४। २८)
- (घ) दादू मुझही मैंहै मैं बदूँ, मैं भेरा घर-बाट ।
 मुझही मैंहै मैं रहूँ, आप कहै करतार ॥
 (अंग ४। २१०)
- (ङ) सेवा अंदरकी—
 'उर अंतरि करि सेवा ।' (अंग ४। २५५)
 दादू भोटरि पैसि करि, घटके जडे कपाट ।
 सौंहीकी सेवा कैर, दादू अविगति घट ॥
 (अंग ४। २५६)
- पूज्यहारं पासि हैं, देही मैंहै देव ॥ (अंग ४। २५८)
 दादू गमिता सामाँ, खेतैं अंतरि मैंहैं ।
 उलाट समाना आपमैं, सो सुख करतहूँ नाहिं ॥
 (अंग ४। २५९)
- आतम मैंहै राम है, पूजा ताकी होइ । (अंग ४। २६२)
- इस अंतरके भावकी पूजाकी सौंज-सामग्री इत्यादि—
- 'सत्य राम, आत्मा बैदुगो, मुखुदि भूमि, उन्नोप स्थान,
 मूलमन्त्र, मन माला, गुरु तिलक, सत्य संज्ञम, शील शुच्यना, ध्यान
 धोवती, काया कलस, प्रेमजल, मनसा मनिदर, निरक्षन देव, आत्मा
 पाती, पुष्टुप प्रीति, चेतना चन्दन, नवधा नांव, भाव पूजा, मति
 पात्र, सहज समर्पण, शब्द घण्टा, आनन्द आरती, दया प्रसाद,
 तीर्थ सतसङ्ग, दान उपदेश, ब्रत सुमिरण, अज्ञा जाप,
 अनपै आचार, फल दरसन, '.....' अंतरिगति पूजा सति सौंज
 दादू वर्ते ॥'
- (अंग ४। २६८)
- भगति भगति सब कोइ कहै, भगति न जाए कोइ ।
 दादू भगति भगवत्तकी, देह निरंतर होइ ॥
 (अंग ४। २८०)
- (३) रामनाम-सरण—भक्तिभाव सबे हृदयसे लौ ल्याकर
 करना, यह दादूयथालके परम शान्त्यावन था । और ज्ञान,
 भक्ति, वैराग्य—ये तीनों पराभक्तिमय ज्ञानसे पूर्ण विरक्तताके
 साथ उनके साधनके प्रधान लक्ष्य रहे और ये ही उनकी महान्
 वाणी (ग्रन्थ) में वर्णित और प्रतिपादित हैं । दादूयथालके
 वचनामृतमें नामके सम्बन्धमें बहुत ही महत्वकी बात आयी
 है, जिनको जिजायु पाठक पढ़-सुनकर विचार सकते हैं ।
 यथा—
- एके अक्षर पीवका, सोई सत करि जैंपि ।
 रामनाम सतगुर कहो, दादू सो भरवैंपि ॥
 (अंग २। २)
- दादू नौका नौव है, हरि हिरदै न भिसारि ।
 भूरति मन मैंहै बस, सासै सास सैमारि ॥
 (अंग २। ५)
- सासै सास सैमारताँ, हक दिन भिलिहै आइ ।
 सुमिरण पैंडा सहजका सतगुर दिया बताइ ॥
 (अंग २। ६)
- ओर आरंभ सब छाडि दै, रामनाम ल्यौ लाइ ।
 (अंग २। ८)
- एक महूरत मन रहै, नौव निरंजन पास ।
 दादू तबही देखताँ सकल करमका नास ॥
 (अंग २। १२)
- एक रामके नौव बिल जिक्की जलनि न जाइ ।
 दादू केते पचि भुए, करि करि बहुत उपाइ ॥
 (अंग २। १५)
- दादू सिरजनहारके केते नौव अनंत ।
 चिति आदि सो लीजिए, याँ साखु सुमिहैं संत ॥
 (अंग २। २३)
- (दादू) निरम न न्यारा कीजिये, अंतर थै उरि नाम ।
 कोटि पवित्र पावन भये कंवल कहताँ राम ॥
 (अंग २। २६)
- दादू दुखिया तब लैये, जब लग नौव न लेहि ।
 तब ही पावन परम सुख, भेरा जीवन येहि ॥
 (अंग २। २२)
- (दादू) निसदिन सदा सरीर मैं, हरि चिंतन दिन जाह ।
 प्रेम मयन लैलीन मन, अंतरगति ल्यौ लाइ ॥
 (अंग २। ४१)
- (दादू) राम कहे सब रहति हैं, जीव ब्रह्म कीलार ।
 राम कहे बिन जात है, रे मन हो हुसियार ॥ (,, ५०)
- दादू सब जग बिष भरथा, निर्विष निरला कोइ ।
 सोई निर्विष होइगा, जाके नौव निरंजन होइ ॥ (,, ५३)
- ब्रह्म भगति जब ऊपजे, तब माया भगति बिलाइ ।
 दादू निर्मल मल मया, उँयू एवि तिमिर नसाइ ॥ (,, ५५)
- नौव सपीका लीजिये, प्रेम भगति गुण गाइ ।
 दादू सुमिरण प्रीति सौं, हेतु सहित ल्यौ लाइ ॥ (,, ७३)

और नाम-स्मरणकी महिमा यहाँतक है कि अष्टसिद्धि, नवनिषि आदि हाजिर लड़ी रहे, और सकल पदार्थ इस्तगत हो जायें । यथा—

हिरदै राम रहे जा जनकै, तकैं ऊरा कौण कहे ।
असिद्धि नौनिषि ताकै अगै, सनमुख सदा रहे ॥
(अंग ३ । १०५)

संगहि लामा सब किए राम नाम के साथ ।
चिंतामणि हिरदै बैतै, तै सकल पदारथ साथ ॥ (,, १०८)

यह दादूदयालके साधनका संक्षेपमें वर्णित हुआ । इसीको अन्य साधनोंका आधिम आधार समझना चाहिये । संघम, योगसाधन, तितिक्षा, सन्तोष, दयाधर्म आदिके दयालजी मूर्तिमान अवतार ही रहे हैं । तभी तो वे 'दयाल' कहलाये । साधनोंमें बहुत करारे साधक थे । सांभरमें वे सरके अंदरकी छत्रीमें जाकर तथ किया करते थे । और सर भरा होता तब, अपनी योगशृंखिकी सेचरीमुद्रासे सरके जलके ऊपर होकर वैसे ही जाया करते जैसे पृथ्वीपर चलते थे । ऐसे चमत्कारोंने ही उनकी विभूतिका वहाँ अधिक प्रकाश किया, यद्यपि ये चमत्कार आवश्यकताके समय स्वयं ही हो जाया करते थे । सांभरके काशीकी कथा प्रसिद्ध ही है । अनेक दीनों, गरीबों और बीमारोंको सहायता देना तो उनका विशेष कर्तव्य या ही ।

परन्तु परमसाधन दादूजीका स्थूलशरीरकी स्थूल जिहाए वा हाथमें भाला लेकर करने तथा मन, बुद्धि और कही लगी रखनेका नहीं है; यह साधन कृतियोंको अन्तसुखी करके चर्मदीप्तिसे ऊंचे उठकर आत्मसिद्धि के साथ करना होता है । आत्मदीप्तिका साधन परिपक हो जानेपर, गुरुकी कृपासे, और अपने लोबेल और प्रारब्धके सत्सन्नासे, ब्रह्मदृष्टि होने लगती है । वह अप्रस्था ब्रह्मीभूत अवस्था है, तब जीव-ब्रह्म एक हो जाते हैं । इसीको अपरोक्षानुभूति कहते हैं । दादूजीने बताया है कि—

कर्मटटि देसे बहुत, अत्तमदटि एक ।
ब्रह्मदृष्टि परवै भया, तब दादू बैठ देस ॥
(अंग ४ । १५७)

और बस्तुतः साधनके ग्रभावसे यही नेत्र अंदर देखने-के अन्यासमें रह दो जाते हैं, तब शनैः-शनैः शनप्रकाशसे आत्मदर्शन होकर ब्रह्ममें लीनताकी अवस्था मिल जाती है । यही इस मनुष्यजन्मका परमफल और सौभाग्य है । कहा है—

यई नैनाँ देहके, यई आत्म होइ ।
यई नैनाँ ब्रह्मके, दादू फलै दोइ ॥
(अंग ४ । १५८)

पर आत्म सी आत्मा, ज्यौं पाणी मैं हूँग ।
दादू तन मन एकरस, तब दूजा कहिये हूँग ॥
(अंग ४ । १६६)

फिर कहते हैं और अपने साधनका अनुभव बताते हैं—
अंतरिमति हरि हरि कौ, तब मुखबी हाजित नहि ।
सहजै भुति लगी रहै, दादू मरही मैंहि ॥
(अंग ४ । १७१)

(दादू) सबद अनाहट हम सुन्नाँ, नवासिल सकल समीर ।
सब गृह हरि हरि होत है, सहजै ही मन थीं ॥
(अंग ४ । १७४)

फिर क्या हो जाता है, सो बताते हैं—
(दादू) सेवग सौंहार्का भया, तब सेवग का सब कोइ ।
सेवग सौंहार कौं मिल्या, तब सौंह सीखा होइ ॥
(अंग ४ । १८६)
जहाँ राम तहों मन गया, मन तहों नैनाँ जाइ ।
जहाँ नैनाँ तहाँ आत्मा, दादू सहजि समाइ ॥
(अंग ४ । २५३)

परचै पीवै रामरास, मी अविनासी अंग ।
काल मीच लगी नहीं, दादू सौंह मंग ॥
(अंग ४ । ३४३)

परचै पीवै रामरास, जुगि भुगि अस्थिर होइ ।
दादू अविच्छन आत्मा, काल न लगै कोइ ॥
(अंग ४ । ३४२)

दादू मुख मेरे सौंहाँ, मंगल अति अनंद ।
दादू सज्जन सब मिले, जब भैरे परमानंद ॥
(अंग ४ । १९)

परन्तु यह ब्रह्मप्राप्ति, यह परमात्मदर्शन, यह परमगति कब ग्राह हो सकती है, जब यह अवधारी अपने अपेक्षो मारे, स्वार्थ और विषयलोक्यताका त्याग करे, एक परमात्म-साधनहीमें ल्यलीन रहे; अन्यथा इसकी प्राप्ति कठिन ही नहीं, असम्भव ही है । कहा है—

(दादू) तन मनके गुण ठाँड़ि सब, जब होहि निनारा ।
तब अपने नैनहुं देखिय घरगृह फिर आरा ॥
(अंग ५ । ११)

(दादू) जे साहिब को भावै नहीं, सो जीव न कीजे रे ।
परिहरि जिपै बिकार सब, अमृत रस धीजे रे ॥
(अंग ९ । ४)

लाडै सुरति सीरि कौं, तेजुर्जु मै जाइ ।
दादू ऐसै मिलि रहै, ज्यो जन जलहि समाइ ॥
(अंग ७ । ३५)

पद २०६ । (प० ४४५) राग रामकली ।

निकट निर्जन देखिहौ, छिन दूर न जाइ ।
बाहरि भैरव एकसा, सब रहा समाई ॥ टेक ॥
सत्गुरु भेद लग्नाइमा, तब पूरा पाया ।
नैनन ही निरखै, सदा, वरि सहजै आशा ॥ १ ॥
पूरे सौं पाचा भया, पूरी भति जानी ।
जीव जैविनि जित्या, ऐसै बड़तारी ॥ २ ॥
राम राम मै रमि रहा, सो जीविनि भरा ।
जीव पाव न्यागा नहीं, सब संग बसरा ॥ ३ ॥
मुंदर सा सहजै रहै, घटि अंतरजामी ।

दादू साई देखिहौ, सारीं समि स्वामी ॥ ४ ॥

देखिये कैसा अनुभववर्णन है । यह दादूजीके सबे साधनका प्रकाश है । वे जैसा देखते थे, जैसा पाते थे, जैसा जान लेते थे, वैसा ही अपने निज ज्ञान और अनुभवसे कहते थे । वे महात्मा तत्त्वानुसन्धान, अन्तर्धीन, आत्मदर्शनसे ही कथन करते थे । पुस्तकोंके अवलोकनसे, अवतरण या प्रमाण छाटकर या लेकर नहीं कहते थे । शास्त्रश्रवण वे अवश्य करते थे, शास्त्र वे जानते थे, परन्तु उनके या अपने आत्मनाधनका सदा पालन । उसमें जैसा भी उनको दिखायी देता था, सिद्ध होता था, जैचता था, वही कहते थे । रहस्यवाद (mysticism), वेदान्तप्रक्रिया, ज्ञान-विज्ञानशीली इत्यादि उनसे कुछ दूर या छिपे नहीं थे । परन्तु उनका वचन स्वामारामदर्शनका निर्दर्शन ही था । उनका साधन बहुत ऊँचा था । वे योगारुद और ज्ञानगरिष्ठ महात्मा थे । अतः परमात्मज्ञानध्यानके प्रेमी जन उनके वचनामूर्तको पूर्ण भाव, भक्ति और समादर तथा गहरी दृष्टिसे देखें तो बहुत ही उत्तम सारभरे पदार्थोंकी प्राप्ति हो । उनके प्रधान शिष्य तथा अनेक प्रशिष्यादि जीवन्तुक और इतकृत्य ही हो गये थे ।

देखिये कितनी अच्छी और सबी बातें अपने साधनके फलस्वरूप इन पढ़ोंमें कही हैं—

पद २५ । राग गौड़ी । (प० २६७)

सा० अ० ८५—९०

जिपरा भेर सुमिरिसार, काम बोव भद्र तजि विकार ॥ टेक ॥
तैं जिनि भूलै मन मैवार, सिर मार न लैजै मैनिहार ॥ १ ॥
भुणि समझासो बार बार, अजहुं न जैते हो हुस्यार ॥ २ ॥
करि तैसै भव तसिये पर, दादू इबर्यै यही विचार ॥ ३ ॥
पद २८ । राग गौड़ी । (प० ३६६)

कैसै जीविये रे, सईं संग न पास ।

चंचल भन निहचल नहीं, निसदिन फिरै दशास ॥ टेक ॥
नेह भहों रे राँमका, प्रीति नहीं परकास ।
साहिबका सुमिरण नहीं, करै भिलनकी आस ॥ १ ॥
निस देख तैं फूलिया रे, पाँसी पांड बधाँणा मास ।
सों भी जल बहि जायगा, झूँटा मास बिलास ॥ २ ॥
तों जीवीजै जीवणै, सुमिरै सासौं सास ।
दादू भरगट पिच मिलै, (तो) अंतरि होइ उजास ॥ ३ ॥

देखिये, साधनके फलका ऐसा निश्चय उन महात्माजीका या कि निरन्तर सबे भन और भावनासे परमात्माका दृद्यस्थलमें स्वराण करनेसे वे प्रकट होकर प्राप्त हो जाते हैं, क्योंकि अंदर आत्मामें ऐसा ही प्रकाश (उजियाला) होता है, जिसमें वह परमात्मा दिखायी देते हैं । रहस्यवाद, गुरु अन्यायविद्या (mysticism) पर लिखनेवाले हमारे देशके या अन्य देशके विद्वानोंने इस लिद्वान्तका वर्णन यही किया है कि इसका साधक इस मंजिलतक पहुँच जाता है कि वह परमात्माको भक्ति और ज्ञानके साधनसे देखता है और परमात्मा उसे देखता है—‘अरस परस हम दोउ भिलै’ इत्यादि । यही महान् ज्ञानकी अवस्था है, और मानी जाती है । सच तो यह है कि प्रभु अपने प्यारे भक्त या साधकपर दशा-मया करते हैं तो ऐसा ही फल देकर निहाल कर देते हैं । वह तो ‘हाजिरौं हुजूर’ ‘नाजिरौं भरपूर’ है । और ‘जीव ब्रह्म द्वै नाहि’ यह प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाता है । यह तो प्रधान और प्रथम साधन-सिद्धान्त हुआ ।

(२) दूसरा साधन-सिद्धान्त दादूदयालका यह या कि उस एक निराकार, निरञ्जन परमात्मदेवसे पृथक् और कुछ रूप, आकार, प्रकार या विधि-विज्ञानका ध्यान-ज्ञान-साधन अपेक्षित नहीं । जब उस एकहीको ध्यान, उसीको पाया तो सब कुछ जाना और सब कुछ पा लिया । हथा इधर-उधर मन हुलाना, विस्तार और आड़म्बर करना या उठाना अनावश्यक है । एक अटल सिद्धान्त यह है—

दादू जब रत जीविये, सुमिरण संगति साव ॥

दादू सावू राम बिन दूजा सब अपराप ।

(अंग १५ । १२९)

और दादूजीके स्वमतानुसार (जो कवीरजी, रैदासजी आदि महात्माओंका है) किली प्रकारका भेदभाव—हिंदु-मुसलमान, राम-रहीम आदिका भेदभाव कुछ भी प्रयोगन नहीं रखता। यह तभी एक परमात्माके लिये हुए हैं, परमात्मा एकरस सबमें व्यापक है, परमात्माके निकट सब वरावर हैं, फिर मनुष्य ऊँच-नोच, हल्का-भारी, छोटा-बड़ा आदि क्यों विचारे और क्यों देखे या समझे ? केवल भगवान्का ज्ञान-ध्यान, गुरु और साधु-संतोंका सत्सङ्ग और राम-नामका तन-मनसे स्परण करना—बस, यही तत्त्वमार और केवल यही सदा जीवनका कर्तव्य है। और सब वसेड़े, झँझट, बधन—यहाँतक कि ये सब अपराध हैं ! कितना जबरदस्त, ऊँचा, विलक्षण सिद्धान्त है !

कहा है—

(क) आन तैं चित्त निवारियारे, मोहि जैके सेती काजरे ।
अनत गंग दुख ऊपरै, मोहि पकहि मेनों राजर ॥
मैंहै सौं सहजै रमीरे, और नहीं आन देवरे ।
तहैं मन बिलंबिया, जहौं अलकू अमेने रे ॥
(पद १ । पृष्ठ ३६०)

दादू ताहि न भावै आन, राम विनैं भइ मृतक समान ।
(पद १० । पृष्ठ ३६१)

दादू दै पत्त दुरि कहि, निर्वल निर्मत नैन ।
आपा मंटे, हरि भजै, तारी मैं बलि जैव ॥
(अंग २८ । ६४)

(ख) अलस देव अंतरि बसै, क्या दूजी जागह जाइ ॥
(अंग १६ । १२९)

पूजनहोरे पामि हैं, देवी मैंहै देव ।
दादू ताकौं लाडि करि, बाहरि माडी सेव ॥
(अंग १६ । १४४)

(दादू) निराकार मन सुरतिसौं, प्रेम ग्रेति तौं सेव ।
तैं पूर्जे आकाश कौं, तौं साधु परतसि देव ॥
(अंग १६ । २)

पद ३१ । राम सोराइ । (पृष्ठ ४२०—स्पष्टसिद्धान्त)—
मौई देव पूजौं, जे ऊँची नैहि विकिया ॥

परम वाम जौही औतरिया ॥ टेक ॥
...

तैं पूजा मेर मन मानै, जिहि विधि होइ सु दाहु न जानै ॥ ४ ॥
पद ३१ । राम रामकरी । (पृष्ठ ४२१—स्पष्टसिद्धान्त)—

सॉचा राम न जैंरे, सब हैंठ बलाईं रे ॥ टेक ॥
हैंठ देवा हैंठी सेवा, हैंठा करै प्रसारा ।
हैंठी पूजा, हैंठी पाती, हैंठा पूजणहाना ॥ १ ॥
हैंठा पाक करै र प्राँणी, हैंठा भोग लगावै ।
हैंठा आदा पटदा देवै, हैंठा थार बजावै ॥ २ ॥
... ॥ ३ ॥ और ॥ ४ ॥

(ग) अपना मत पर्योके सम्बन्धमें यताते हैं—(स्पष्ट-सिद्धान्तकथन)—

पद १०८ । राम रामकरी । (पृष्ठ ४४१)—
मैं पंथी एक अपारका, मन और न भावै ।
सोहै पंथ पावै पीड़का, जहै आप लगावै ॥ टेक ॥
को पंथी हिंदू तुरक के, को काहै राता ।
को पंथी गोमी सेवं, को सिन्धासी माता ॥ १ ॥
को पंथी जामी जंगमा, को सकति-पंथ रखावै ।
को पंथी कमडे कापडी, को बहुत मनावै ॥ २ ॥
को पंथी काहै के चर्चै, मैं और न जानै ।
दादू जिन जम निरजिया, ताहीकौं मनावै ॥ ३ ॥
दादू हिंदू तुरक का, है यह पंथ निरारि ।
संगति रौचे भाषकी महैंको मंमारि ॥
(अंग १६ । ५१)

(दादू) हिंदू याहे देहूरे, मुसलमान मर्सति ।
हम लागे एक अंतर सौं, सदा निरंतर प्रति ॥
(अंग १६ । ५२)

पद ३१७ । राम विलवल । (पृष्ठ ५०७)—
मूर्खहि सीचि बैयैउँगै बेगा, सोतत तश्वर गै अकेला ॥ टेक ॥
...

तीर्थ बरत न पूर्जे आदा, बनवैडि जाहिरु रहै उदासा ।
यैं तप करि करि देव जलावै, मर्मत ढोरै जम रामावै ॥ ३ ॥

...

तब दादू परम गति पावै, सो निज मूर्खि भाहि लखावै ॥ ४ ॥
नौं घरि रसा न बनि गया, नौं कुछ किया कोइस ।
दादू मन हो मन मिल्या, सत्गुरके उपदेस ॥
(अंग १ । ७४)

(दादू) यह मसीति यहु देहुरा, सत्गुर दिया दिलाव ।
भैनरि सेवा बदिगी, बाहरि कहै जाइ ॥
(अंग १ । ७५)

(दादू) मैंसे चेता मैंसि गुर, मैंसे ही उपदेस ।
बाहरि ढूँढै बावें, जटा बवाये केस ॥
(अंग १ । ७६)

मनका मस्तक मूँडिये, काम क्रोधके केस ।
दादू बिनै बिकास सब, सतगुरके उपदेस ॥
(अंग १ । ७७)

(३)-(दादू) मन माला तहौं फरिये, (जहौं) द्विवसन परसै रात ।
तहौं गुर बालौं दिया, सहजै जपिये तत ॥
(अंग १ । ८३)

(दादू) मन माला तहौं फरिये जहौं प्रतिम बैठ पात ।
आगम गुर थैं हि नम भया, पाया नूर निवास ॥
(अंग १ । ८७)

(दादू) मन माला तहौं फरिये, (जहौं) आईं एक असंत ।
सहजै भो मतगुर मिल्या, तुमि तुमि फल बसंत ॥
(अंग १ । ८८)

(दादू) सतगुर माला मन दिया, पवन सुरति लैं पोद ।
विन लायो निम दिन जपै, पगम जाप यूँ होइ ॥
(अंग १ । ८९)

दादू मन फरीर मौंह हुवा, भातियि लोयि भेव ।
सबद गंठ गुरदेवका, मैंसि भीष अलय ॥
(अंग १ । ९०)

(च)—उपर्युक्त प्रमाणोंसे, जो खास दादूजीके बचन हैं,
दादूजीके साधन और सिद्धान्त स्पष्ट ज्ञात होते हैं। उनका
प्रमाण यह रहा है—

आप मैंदै, हरि अजै, तन मन तजै बिकार ।
निर्वैरी सब जीव सौं, दादू यहु मत सार ॥
(अंग २९ । २)

(४)—वे तो एक परमात्माको ही आत्मा और आत्माको
ही परमात्मा मानते हुए सरे भेदभावको निर्मूल, निररथक,
असत्य और हानिकारक समझे हुए थे। कहा है—

निर्वैरी सब जीव सौं, संतजन सौंदै ।
दादू एकै आत्मा, वैरी नहिं कोई ॥
(अंग २९ । ४)

सब दृम दृम्या संत्रिक करि, दूजा नौहीं आन ।
सब घट एकै आत्मा, कमा हिंदू मुसलमान ॥
(अंग २९ । ६)

कोहं को हुख दीजिये, सौंदै है सब मौहि ।
दादू एकै आत्मा, दूजा कोई नौहि ॥
(अंग २९ । १३)

आतम देव अरथिये, विरथिये नहिं कोई ।
आगमे मुख पद्यं, विरोहि दुख होई ॥
(अंग २९ । २६)

इस प्रकार संक्षेपसे—अति संक्षेपसे—दादूदयालके
सत्त्वाधनके सतिसद्वान्तोंका दिग्दर्शन किया गया। विषय
महान् है, महान् है, रहस्यमय है। न समय है और न स्थान
है कि सारा और विस्तृत कहा जाय। इति शम् ।

एक ही शत्रु है

एकः शत्रुर्न द्विलोयोऽस्ति शत्रुरक्षानतुल्यः पुरुषस्य राजन् ।
येनावृतः कुरुते संप्रयुक्तो धोराणि कर्माणि सुदारणानि ॥

हे राजन् ! इस जगत्‌में पुरुषका एक ही शत्रु है, उसके समान कोई दूसरा शत्रु नहीं है, वह शत्रु अज्ञान है, मनुष्य
इस अज्ञानसे धिरकर दाहण कर्म करने लगता है।

(महा० शान्ति० २९७ । २८)

* इस लेखमें प० चन्द्रिकाप्रसादजीदारा संपादित 'दादूवाणी', साष्ठु रामदयालजीदारा लिखित 'दादूसार', प० तारादत्तजी रीरोला-
दारा लिखित 'साम्स आफ दादू' (Psalms of Dadu), वा० श्वितिमोहन सेनदारा लिखित 'दादू' (बंगमाथा) इथादिसे सहायता
ली गयी है। तर्वर्त उन सबको धन्यवाद है। —लेखक

प्रेम-साधन

(लेखक—श्रीमति जगन्नदसम्प्रदायाश्रमीडापीश्वर धर्मेश्वरण आचार्ये श्रीवर्णदासी महाराज 'सद्गुरुल')

सर्वनिकृता, सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, पूर्णांशुर्ण, सच्चिदानन्द-स्वरूप, अविनाशी, एकरस जो ब्रह्म है, उसकी प्राप्ति ही चरम साध्य और वरम पुरुषार्थ है—इस विषयमें कोई भत्तेद नहीं हो सकता। आस्तिक ज्ञातके सभी प्राचीन-अवार्याचान आचार्योंने इसी सिद्धान्तको सामने रखकर ब्रह्म-प्राप्तिके अलौकिक शान और लोकोत्तर पथका प्रदर्शन कराया है।

सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा पूर्णांशुर्ण, सर्वशक्तिमान् और सर्वेश्वर होनेके कारण सर्वज्ञ निरपेक्ष हैं। परन्तु भगवद्गत सदासे ही यह मानते आये हैं कि 'भक्तिप्रियो माधवः'—भगवान्को भक्ति प्यारी है। 'न मे भक्तः प्रणश्यति', 'मामेकं शरणं व्रज' इत्यादि भगवद्गच्छनोंने इस धारणाको और भी सुदृढ़ बना दिया है। इसलिये इस मान्यताकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

इसी प्रकार वेदान्तवादियोंका यह हिण्डम-धोष है कि

'क्वने ज्ञानाद्य सुक्षिः ।'

'तमेव विद्विवातिभूयुमेति

चन्द्र्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।'

अर्थात् ज्ञानको छोड़ ब्रह्मप्राप्तिका अन्य कोई भाग ही नहीं है। यह भी श्रुतिसम्मत होनेसे उपेक्षा नहीं हो सकती।

भक्तिसे भगवद्प्राप्तिको सभीने माना है। ज्ञान भी चिन्द्र्य होनेसे भगवद्गत्वा ही है, अतः उससे भी भगवद्वापि युक्तियुक्त और सङ्घत है। परन्तु निजानन्दसम्प्रदाय इन दोनों मार्गोंके ये एक तीसरे ही मार्गका निर्देश करता है। उस मार्गका नाम है 'प्रेम'। इस सम्प्रदायकी यह मान्यता है कि निविदेष प सच्चिदानन्द ब्रह्मको प्रेम जितना सीधा स्पर्श करता है, उन्होंना साधनसाधेक्ष भक्ति और ज्ञान नहीं करते। भक्ति और ज्ञान मनुष्यको कमसे परमात्माकी ओर ले जाते हैं। परं धर्मसे तो तत्काल ही चुम्बकके आकर्षणकी तरह जीवात्मा परमात्माकी ओर लिंग आता है। श्रीप्रणानाय प्रसु कहते हैं—

'पंथ हो कोटि करुय, प्रेम पहुँचने मीने पलक ।'

भक्ति प्रसुको सब कुछ समर्पित कर देना लिखाती है,

ज्ञान ब्रह्मका स्वरूप समझा देता है, तो प्रेम तन्मय यज्ञ देता है। ज्ञानकी दृष्टिमें 'ब्रह्म सत्यं जगत्मिथा' है; भज्ञके लिये भक्ति और भगवान्के सिवा बाकी सब तुच्छ है, और प्रेमी प्रेममें 'सत्यं खलिवदं ब्रह्म' देखता है। प्रेम-जगत् में प्रेमके सिवा अन्य कोई सुष्ठु ही नहीं है। भक्त और ज्ञानी भगवान्के अतिरिक्त अन्यमें आसक्ति नहीं रखते, परं प्रेमीकी दृष्टिमें भगवान्के सिवा और कुछ है ही नहीं।

है ग्रन्थ गरु गुमानम् कुछ है।

उत्तम सिद्धा भी जहानम् कुछ है॥

अर्थात् प्रेमीके ल्यालमें प्रियतमके सिद्धा यर्द और भी कुछ है तो उसका प्रेम ही ग्रन्थ है। बात बिल्कुल टीक है। जिसने 'इस्क हकीकी' अद्वितीय किया है, उसकी दृष्टिमें 'इस्क मजाझी' कैसे रह सकता है? जब आँखें खुल गयीं, तब सपना कैसे टिक सकता है? प्रेमीकी आँखोंने तो सदा प्रियतम प्रसु ही रहते हैं। इन दोनोंके बीच तीसरे-को अवकाश ही कहाँ?

हिंड्रे रुमे यरु भी अप्य थे,

मुमी अंग तो कोइ पर्दा न देखा।

प्रेममे दुनियाका पदां कब रह सकता है? यह दुनियाके परेकी चीज़ है, वहाँ दुनिया कहाँ? परं यह प्रेमका पंथ है बड़ा कठिन!

इस्तिदाहीमे मरु रम्य सब यर,

इस्ककी कौन इन्तिहा लाया?

इस मार्गका आरम्भ तो है, परं इसका कोई अन्त नहीं। इसपर पैर रखते ही सर्वस्व चलिदान करना पड़ता है। यही कारण है कि सब लोग इस मार्गपर नहीं चल सकते। कहा है—

नवधारें न्यासे कहो, चौदह मुक्तमें नाहिं।

सं प्रेम कहाँस पाइने, जो बसत गोपिन नाहिं॥

प्रेमको तो यथार्थरूपमें ब्रजसुन्दरियोंने ही जाना और अपनाया था। प्रेमके बलसे ही वे गोवत्सपदवत् भवतागरको तरकर श्रीकृष्ण परमात्माको प्राप्त हुईं। परं आज भी हृषि प्रेमके व्यालेको कोई ही ले तो भगवान् उसके लिये दुर्लभ नहीं। परन्तु—

यह तो भावि है अटपटी, शटपट लखे न कोइ ।

जो मनकी खटपट मिटै, चटपट दर्शन होइ ॥

प्रेमकी गति है बड़ी विकट, पर फल भी है बैसा ही
महान् और अपूर्व ! इसीलिये महात्माओंने इसका विशेष
महत्व गाया है ।

जब प्रतिपदामें द्वितीयके चन्द्रका दर्शन होता है, तब उसकी सूक्ष्म कलाके दिवानेमें शाखाचन्द्रन्यायके काम लेना पड़ता है अर्थात् बृक्षकी किसी शाखाकी ओर अकुल-निर्देश करके यह बतलाना पड़ता है कि देखो उस शाखाको, उसीके ऊपर चन्द्रमा है । जिसको इस तरह दिखाया जाता है, उसकी दृष्टि इससे उस तरफ बँध जाती है और उसे चन्द्र-दर्शन हो जाता है । इसी प्रकार हमने पूर्वायांने ब्रह्म-दर्शनके लिये अपनी अन्तर्दीपित्ये भक्ति-शानदि अनेक सङ्केत निर्माण किये । जो जिस सङ्केतका आश्रय करके लाभान्वित होता है, वह उसी सङ्केतको मुगम और उत्तम ब्रह्माये—वह स्वाभाविक ही है । परन्तु जिस प्रकार चन्द्र-दर्शन करानेमें चन्द्रकान्त मणिश सब सङ्केतोंकी अपेक्षा उत्तम है, क्योंकि वह ब्रह्मकी दृष्टिको सीधे चन्द्रविषयमें जोड़ देती है, उसी प्रकार ब्रह्मरूप चन्द्रका दर्शन करानेमें, दृष्टिको सीधे ब्रह्मस्वरूपके साथ जोड़ देनेमें थिए कोई निरपेक्ष वस्तु है तो वह प्रेम है । चन्द्र और चन्द्रकान्त मणिये तो परस्पर अन्तर भी है; पर प्रेम और परमात्मामें कोई अन्तर नहीं, दोनों स्वरूपतः एक ही है । आनन्दघन ब्रह्म शक्तिमान् है तो प्रेम उसकी अभिन्न शक्ति है । शक्ति और शक्तिमान्में कभी भेद नहीं होता । अर्थात् जिसने प्रेमको पा लिया, उसने प्रियतमको भी पा लिया । वह प्रेमी अपने प्रेमास्पद भगवान्मको छोड़कर और किसीको न देखता है, न सुनता है और न जानता ही है ।

यत्र नान्यप्रददयति भान्यरन्त्रणोति नान्यद्विजनाति ।

(शास्त्रोदय ० ७ । २४ । १)

* वेद मकानमें किसी छिद्रके द्वारा जब प्रकाश आता है तो प्रकाशके ब्रह्मण्, जिस ओरसे प्रकाश आता है उसी ओरसे, कतार बोधे चले आते हुए नजर जाते हैं । इसी प्रकार चन्द्रको देखकर, चन्द्रकान्त मणिये चन्द्रतक प्रकाशके ब्रह्मण्योंकी बतार बेघ जाती है और इसलिये इसके सहारे तुरंत चन्द्रदर्शन हो जाता है । चन्द्रकान्त मणिये यह प्रकाश मूर्यास्तके बाद ही प्रकट होता है, दिनमें नहीं होता । —खेळक

उसकी दृष्टिमें दूसरा कुछ रह ही नहीं जाता, तब अन्य किसको जाने ? प्रेमी परमात्मामें मिलकर एकरूप हो जाता है ।

वेदान्तमें ब्रह्मको अस्ति, भावि और प्रिय-धर्मावच्छिन्नमाना है—

अस्ति भावि प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपद्वकम् ।

आश्चर्यं ब्रह्मरूपं जगाश्वं ततो द्वयम् ॥

‘अस्ति, भावि, प्रिय, रूप और नाम—ये अंशपद्वक कहाते हैं । इनमें प्रथम तीन ब्रह्मरूप हैं और रोप दो जगद्रूप ।’ अस्तिसे ‘सत्’, भाविसे ‘चित्’ और प्रियसे ‘आनन्द’—इस प्रकार सचिदानन्दस्वरूपकी अर्थसङ्गति है । तीतीरीयोपनिषदमें ब्रह्मरूप पक्षीका वर्णन करते हुए ‘आनन्द आत्मा’ कहकर आनन्दको ब्रह्मका आत्मा कहा गया है । यह ब्रह्मका मुख्य रूप प्रिय अर्थात् आनन्द है और यह प्रियके भावको ही प्रेम कहते हैं, तब तो प्रेमकी सर्वोत्तमा स्वतः-सिद्ध ही है । आनन्दको निरूपमें भी ‘तत्त्व प्रियमेव विरः’ (तैतीरीय-श्रुति) कहकर ब्रह्मके प्रियस्वरूपको सर्वोत्तम अङ्ग—सिर कहा है । तब इससे और भी स्पष्ट हो जाता है कि आनन्दघन परमात्माका वदि कोई महान् धर्म है तो वह प्रेम ही है । जो महान् है, प्रिय है, वही सर्वाभिलिप्ति है । उसीके लिये जीवात्मा कहों-कहों भटकता है, कहों-कहोंकी खाक ढानता भिरता है ।

जीवात्मा सचित्स्वरूप होनेसे सत् और निन् तो हो ही; अपनी पूर्णताके लिये यदि किसी वस्तुकी उसे अपेक्षा है तो वह है आनन्द । यही कारण है कि जानी-अजानी सभी आनन्दको ही छूँड़ा करते हैं । माताके सानसे बिछुड़ा हुआ बचा जिस प्रकार हाथकी उँगली, ऊँगठे और पैरेके ऊँगठोंमें भी और कभी दूर्लीकी उँगलियोंमें भी स्तनकी कल्पना करके पान करनेकी चेष्टा करता और आनन्द मानता है, अथवा गौके सानसे अलग हुआ बछुड़ा गौके चाहे जिस अङ्गसे दूध पीनेकी चेष्टा करता है और उसे छोड़ता नहीं, उसी प्रकार यह जीवात्मा परमात्माके प्रेमसे बिछुड़ा हुआ जहाँ-तहाँ उसीके आस्तादनके आनन्दको छूँड़ता-किरता है, बाह्य विषयोंमें उसीकी कल्पना करता और उसीमें आनन्द मान लेता है । परन्तु कल्पित स्तनोंमें जैसे दूध नहीं होता, वैसे ही इन विषयोंमें आनन्दका वह आस्तादन नहीं होता । वह कैसे प्राप्त हो ?

वदि इसे प्रेम मिल जाय, प्रेमास्पद मिल जायें, तो पुनः

यह आनन्दी हो जाय। 'रत् खेवायं लब्ध्वाऽनन्दी भवति' (श्रुति)। इस प्रेमरूप रसको पाकर ही जीवात्मा आनन्दी होता है, 'गृहो भवति'-दृढ़ हो जाता है। 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेत कुतश्चन ।' ब्रह्मके इस प्रेमानन्दको पाकर वह फिर किसी भयको नहीं प्राप्त होता, प्रत्युत 'आनन्दवन एवासि'-अपनेको आनन्दस्वरूप ही अनुभव करता है। इस प्रेम-प्यालेको पीनेके बाद और कुछ पीना शेष नहीं रहता। इसीको मक्षिशाङ्कोने परा, प्रेम-लक्षणा, फल-रूपा भक्ति आदि कहकर वर्णित किया है। वेदान्तके मतसे जीवन्मुक्तिकी यही चरमावध्या है। इस्तमामें इसीको 'इस्क हकीकी' कहते हैं। इस प्रकार अनेक नामोंसे सर्वत्र वर्णित

यह प्रेम सब नाम-रूपोंके परे है। यह तो गैंगोंका गुड़ है। जाग्रत् आत्माकी यह दिव्य ऊर्मि है। 'यतो बाचो निवर्तते अपाप्य मनसा सहै'-जिस प्रेमस्वरूपको न पाकर मनसहित बाणी लौट आती है, उसका वर्णन कौन कर सकता है? वस्तुतः प्रेम वर्णनकी वस्तु नहीं है, केवल आत्मैकदेव्य आनन्द है।

प्रेम परमात्माका महान् धर्म है। उसे पानेके लिये तत्त्वरूपी ही बनना पड़ता है। प्रेम परमात्माका यह दामन है, जिसे पकड़ते ही सब उलझनें सुलझ जाती हैं और अनुपम आनन्दका अनुभव होने लगता है। फिर कुछ करना वाकी नहीं रहता।

श्रीराधावल्लभीय सम्प्रदायमें साधन

(लेखक—श्रीहिं रणछोडलालजी गोखलामी)

मब सों दित निष्काम भन बृदाबन विश्राम ।
(श्री)राधावल्लभान् को हृदय व्याप, मुख नाम ॥

एक समय समर्थ पण्डित, शास्त्रज्ञ, दिविजयी विद्वान् ओडिछानिवासी राजगुरु श्रीमुख शुक्र (व्यासजी) ने आचार्य श्रीहिंदूरिवंश महाप्रभुजीसे प्रश्न किया कि 'ऐ प्रभो! प्राणिमात्रके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये ? अपना मत कौनसा रखना चाहिये ? विश्रान्तिका स्थान कौन-सा है ? हृदयमें ध्यान किसका धरना चाहिये ? और नाम-स्मरण किमका करना चाहिये ?' इन योंच प्रश्नोंके उत्तरमें आचार्य-श्रीने उपर्युक्त दोहा कहा था, जिसमें उन्होंने अपने मतका—जिसे मिद्दादैतमत कहते हैं—दिग्दर्शन कराया है और भक्तिमार्गका सर्वोत्तम कल्याणकारी ग्रहस्य भी बतलाया है। उपर्युक्त दोहोंकी रसिक भक्तोंके लिये अपनी बुद्धिके अनुसार टीका की जाती है। दोहोंका प्रथम वाक्य है—

'मव सों हित'

मिद्दादैतमतमें ब्रह्मके साथ जीवका अंशांशिभाव सम्बन्ध माना गया है। गीताजीमें भगवान् ने अपने श्रीमुखसे कहा है—

मर्मवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।

ब्रह्म हमारे लिये पितारूप हैं और हम सभी उनकी सन्तान हैं। संसारके सभी प्राणी ब्रह्मके अंशरूप होनेके नाते हमारे भाई-बहिन हैं—ऐसी भावना करके उन सबसे प्रीति

करनी चाहिये। प्राणिमात्रकी तो बात ही नया, प्रत्येक वस्तुके प्रति ब्रह्मभाव अथवा ब्रह्मादृष्ट रखना—यही सिद्धादैतसिद्धान्त-का परम रहस्य है। जबतक दुनियाके समस्त व्यवहार हम सिद्धान्तप्रतिष्ठित नहीं होये, तबतक संसारमें अर्थका अनर्थ ही होता रहेगा। केवल मनुष्य-प्राणीके अंदर ही आत्माका निवास है, अन्य जीवोंमें नहीं—एक और जिस प्रकार यह सिद्धान्त सूठा है, उसी प्रकार दूसरी और जगत् मिथ्या है, भ्रमरूप है—ऐसा मानना भी भ्रान्तिसे पूर्ण है। निविल जगत् सर्व है—ब्रह्मका कार्य है, अतएव ब्रह्मरूप ही है—यह वैदिक सिद्धान्त है। यह अखिल नाम-रूपाभ्यक्त जगत् आत्मा ही है। प्रभु ही जगत्को उत्पन्न करते हैं और सर्व जगत् के रूपमें उत्पन्न होते हैं। विश्वात्मा भगवान् ही विश्वका रक्षण करते हैं और विश्वके रूपमें वही रक्षित होते हैं। वही संहार करते हैं और अपने ही विश्वरूपका संहार करते हैं। श्रुति भगवती कहती है—

'अर्थमेव तदिदं सर्वम् ।'

'तदिदं श्रूयते ।'

'स सर्वं भवति ।'

'सर्वं खलिवदं ब्रह्म ।'

उपर्युक्त श्रुतियोंके अनुसार सरि जगत्को ब्रह्मरूप मानना ही वास्तविक सिद्धान्त है। जैसे मकड़ी अपने मुखमेंसे जाल निकालती है और उसीपर खेलती है, उसी प्रकार ब्रह्मने भी अपनेमेंसे ही इस जगत्को उत्पन्न किया है। इस प्रकार इस

विश्वका विरजनहार भी वही है और सुषि भी वह स्वयं ही है। रक्षण करनेवाला भी वह है, और रक्षणीय भी वही है।

जगत् ब्रह्मरूप होते हुए भी त्रिगुणात्मक है। जगत् में उसके नियन्तारूप ब्रह्म, विष्णु, महेश प्रभुति देवताओंका तथा चिदचिदरूप जीवों एवं अचिदरूप समस्त जड़ पदार्थोंका समावेश होता है। इसी कारण जगत् सत्य है, मिथ्या नहीं। सद्गुण ब्रह्मका कार्य भी सत् ही होना चाहिये। जगत् वस्तुतः ब्रह्मरूप है और अनन्तमूर्ति इन्हसे व्याप है। अतः समस्त भूतोंको इंश्वरका ही रूप मानकर उनके हितमें रत रहना चाहिये। गीताजी भी हमें 'सर्वभूतहिते रताः' रहनेकी ही आशा देती है। अन्यत्र भी भक्तोंका लक्षण कहते हुए भगवान् यही कहते हैं कि भक्तको समस्त भूतोंके प्रति द्वेषरहित, सबका मित्र और दयालु होना चाहिये—

अदेष्टा सर्वभूतानां भैशः करुण एव च ।

अन्यत्र भी कहा है—

वैष्णवानां त्रयं कर्म सर्वजीवहिते रताः ।

श्रीगोविन्दे परा भक्तिस्तीयानां समर्चनम् ॥

वैष्णवोंके तीन कर्तव्य हैं—सारे जीवोंके हितमें रत रहना, श्रीगोविन्दभगवान्‌में पराभक्ति करना और भगवदीय भक्तोंकी सेवा करना। श्रीविहारिनिदासजीने भी इसी भावका एक पद गाया है—

अव त्वं कामो वैरं कर्म ।

करृत पुकाश्त प्रसु निज मुखते, यट-वट ही विहर्ण ॥

प्राती भक्त यमान त्रियोक्ता भक्तन अविक डरी ।

विहग्निदास हरिद्रास-कृष्णब्रह्म नित निर्भय विचरौ ॥

प्रभुके नाते स्वप्राणियोंके प्रति ममता रखना सीखिये। ऐसा करनेसे उनकी ओरका भय निवृत्त हो जाता है। सभी प्राणी प्रभुके अंद्रा है, ऐसा समझकर उनसे प्रेम करना ही कर्तव्य है। ज्यों-ज्यों उनसे प्रेम बढ़ेगा, ज्यों ही-ज्यों उन्हें मारने अथवा कष पहुँचानेकी वृत्ति नष्ट होगी।

'निष्काम मत'

आचार्यश्रीके दोहेका दूसरा पद है 'निष्काम मत'। मनुष्यको चाहिये कि फल और आसक्तिका त्याग कर भगवान्‌की आशाके अनुसार उन्होंके लिये कर्म करता रहे। ऐसा करनेसे उसके लिये कर्म वन्धनकारक नहीं होंगे। कर्म

स्वरूपतः वन्धनकारक नहीं होते; उनमें जो हमारा राग-देष्ट होता है, वही बन्धनकारक होता है। फल और आसक्तिको त्याग करके कर्म करनेवालेमें राग-देष्ट नहीं होता, इसीलिये उसे कर्म बौधते नहीं। गीताजीमें श्रीभगवान्‌का वाक्य है—

ज्ञेयः स नियवसन्यासी शो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।

निर्दृष्टो हि ममाश्वासो सुखं बन्धात्प्रसुच्यते ॥

'हे अर्जुन ! जो पुरुष न तो किसीसे द्वेष करता है और न किसी वस्तुकी आकाङ्क्षा करता है, उस निष्काम कर्मदेवी भक्तको सदा संन्यासी ही समझना चाहिये। व्योक्ति राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित हुआ पुरुष सुखपूर्वक संसाररूपी बन्धनसे मुक्त हो जाता है।'

भगवान् फिर कहते हैं—

यदच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमरसरः ।

समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निवृत्यते ॥

गतस्यक्ष्य सुकस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।

यज्ञाशाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥

'जो पुरुष विना प्रयत्नके मिले हुए पदार्थोंसे सन्तोष कर लेता है, सुख-दुःखसे परे हो गया है एवं इन्धोंसे रहित है, तथा जो सफलता और असफलतामें समान बुद्धि रखता है, वह कर्म करके भी उससे बौधता नहीं। तथा जो पुरुष सङ्गरहित अतएव मुक्त है, जिसका चिन्त प्रसुके शानमें स्थिर हो गया है, तथा जिसके समस्त कर्म भगवान्‌के अन्नानुसार भगवद्वज्ञ अथवा भगवसेवारुपी यशके लिये होते हैं, उसके समग्र कर्म नष्ट हो जाते हैं अर्थात् फल उत्पन्न नहीं करते।'

भगवान्‌की आजासे भगवान्‌के लिये कर्म करनेवालेमें अद्वाक्षर भी नहींके बराबर ही हो जाता है। ऐसे निष्काम भक्त व्यवहारके समय भी भगवान्‌के शरण होकर भगवान्‌का भजन करते हुए उन्होंके आजानुसार तथा उन्होंकी प्रीतिके लिये सब प्रकारके कर्म करते हैं। ऐसे पुरुषोंका सांसारिक वस्तुओंके प्रति राग अथवा द्वेष हो ही कैसे सकता है ? ऐसे भक्त जन्मस्वी बन्धनसे द्वाङ्नेवाले मोक्षतककी इच्छा नहीं करते, सांसारिक पदार्थोंकी तो बात ही क्या है। श्रीमद्भागवतमें उद्द्वेजीके प्रति श्रीमुखका वाक्य है—

सालोक्यसार्थिं सामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।

दीयमानं न गृह्णत्वं विना मस्तेवनं जनाः ॥

अर्थात् मेरे भक्त लोग मेरी सेवाको छोड़कर सालोक्य (भगवद्वाममें निवास), सार्थि (भगवान्‌के समान ऐश्वर्य),

सामीप्य (भगवान्‌के समीप रहना) अथवा सायुज्य (भगवान्‌में लीन हो जानारूप) मुक्तिको देनेवर भी नहीं लेते।

ऐसे निष्काम भक्तोंके लक्षण दासधर्मका आचरण करने-वालोंमें ही पाये जाते हैं। भगवान्‌की राजीमें राजी होना—उनके सुखमें ही सुख मानना (तत्सुखसुखित्यम्)—वही दासधर्म है। भगवान्‌अन्यत्र भी कहते हैं—

न पारमेष्ठयं न महेन्द्रपिण्ड्यम्
न सार्वभौमं न रसाचिपत्यम् ।
न योगसिद्धिरपुनर्भवं च
मर्यपर्यतामेष्ठति मद्विनान्यत् ॥

जिसने अपने आपको मेरे अपर्ण कर दिया है, वह सुखको छोड़कर न ब्रह्मके पदको चाहेगा; न इन्द्रासनकी इच्छा करेगा, न चक्रवर्ती-पदकी अभिलापा करेगा और न पातालके राज्यकी कामना करेगा, न योगकी सिद्धियों चाहेगा और न जन्म-मरणसे रहित मोक्षमदकी ही अभिलापा करेगा।

किसी भक्तने कहा है—

जाग्रत्वमसुखसिद्धं स्फुरतु मे राशापदाबन्धदा
वैकुण्ठे नरवेद्यथा भम गतिनाम्यास्तु राधां विना ।
राशाकेलिकथासुधाम्बुद्धिमहावीचीभिरान्दंलितं
कालिदीतकुञ्जमन्दिरवरालिन्दं भनो विन्दतु ॥

‘जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओंमें श्रीगणिधिका-के चरणकमलोंकी छवि मेरे सामने नाचती रह; श्रीगणिधिका-छोड़कर वैकुण्ठमें अथवा नरकमें—कही भी मेरा दुःख आश्रय न हाँ; मेरा मन श्रीराधिकाजीवीकी दिव्यलीला-कथारूपी सुधासुकृती लहरोंमें झुलता हुआ श्रीमुनार्जिके तटर्ती कुञ्जमन्दिरके सुन्दर अर्द्धनदीपर सदा विहार करता रहे।’

‘बृन्दावन विश्राम’

तीव्ररा उपदेश है ‘बृन्दावनमें वास करना।’ श्रीबृन्दावन श्रीराधाकृष्णका निजधाम होनेके नाते भक्तोंको अन्यन्त यिय है। पुष्कर, प्रयाग, काशी आदिकी ‘तीर्थं संज्ञा है; परन्तु श्रीबृन्दावन तो श्रीराधा-कृष्णका नित्यधाम अर्थात् लीलानिकृतन है। प्रह्लादमण्डलसे परे अक्षरब्रह्मके मध्य श्रीगोलोकधाम है, जो वेद-पुराणादिमें प्रसिद्ध है। उसको कितने ही व्यापिचैकुण्ठ भी कहते हैं। वही गोलोक श्रीबृन्दावनके नामसे इस भूमण्डलमें अवतीर्ण हुआ है। गङ्गाजीके आधिभौतिक जलप्रवाहके अंदर जैसे वे अपने मूर्तिमान् आधिदैविक रूपमें

१ नकालके बाहरी ढारके अंगोंका चूनूरा था छागा।

विराजती हैं—जिसे उनका कोई कृपापत्र भक्त ही, जिसकी उक्त दोनों स्वरूपोंमें भेदबुद्धि नहीं है भक्तिकी आर्द्ध दशामें दर्शन कर पाता है, उसी प्रकार अक्षरब्रह्मके अंदर श्रीबृन्दावन-धाममें परब्रह्म श्रीराधाकृष्ण अपने लीलालहचरोंके साथ नित्य विराजमान रहते हैं और अपने कृपापत्र रसिक भक्त-जनोंको भक्तिकी आर्द्ध दशामें अपने उस दिव्य स्वरूपका दर्शन करते हैं। वह बृन्दावन समस्त लोकोंका आदि है, अनादि है, स्नातन है, चिद्घन है। महारसनायक श्रीप्रिया-प्रियतम नित्य किशोर द्विमुज गौरदयामरूपमें वहाँ विहार करते हैं। वे सर्वोपरि हैं, आदि-अनादि हैं। विष्णु आदि सब अवतार उनकी फल-पुष्ट-शाखाएँ हैं। उस बृन्दावनकी महिमामें गर्वसंहितामें निश्चलवित कथा मिलती है—

भगवान् श्रीकृष्णने प्रयागरामक तीर्थको, जहाँ गङ्गा-यमुनाका सङ्घम होता है, मध्य तीर्थोंका राजा बनाकर तथा तीर्थराजकी पट्टवीसे विभूषित कर भूतलपर भेजा। भूमण्डलके मध्य तीर्थ मूर्तिमान् होकर प्रयागराजको भेट प्रदान करने आये, केषल ब्रजमण्डल या बृन्दावन नहीं आया। इसपर प्रयागराज कुपित हुए, और उन्होंने श्रीकृष्णके पास आकर बृन्दावनकी शिकायत की। तब भगवान् ने प्रथमगणको सान्त्वना देते हुए कहा कि ‘हमने तुम्हें तीर्थोंका राजा बनाया है, कुछ अपने घरका राजा नहीं बनाया।’ भगवान् के वचन सुनकर प्रयागराज बड़े प्रसन्न हुए और क्रीधरहित होकर अपने स्थानको छले गये।

श्रीबृन्दावनधामकी ऐसी अदौकिक महिमा है। इस समय भी भगवान् अपने कृपापत्र जनोंको इस महिमाका अनुभव कराते हैं। श्रीकल्यालजी गोम्बारीने अपने सेवा-विचारनामक प्रनथमें लिखा है—

बालीभिर्लिलादिभिः परिकृता श्रीराधिका स्वामिनं
यद्रावनन्दयनि प्रियं स्वर्वर्तिः १२करलीलामयः ।

सर्वतुष्प्रभवं सुखं च सततं वर्वतिं वयालयं
तद्बृन्दाविष्णिनं विहाय सतिमान्यत्र किं गच्छति ॥

अर्थात् श्रीराधिका अपनी लिलादि संविदोंमें परिचेष्टित होकर जहाँ अपने शृङ्खरलीलामय प्रिय चरित्रोंके द्वारा अपने प्रियतमको आनन्दित करती रहती हैं, जहाँ सभी श्रुतुओंका सुख प्रलयपर्यन्त सदा बना रहता है, उस बृन्दावनको छोड़कर कौन ऐसा बुद्धिमान् होगा जो किसी दूसरे स्थानमें जायगा!

'हृदयध्यान'

अब श्रीराधावल्लभलालके ध्यानकी बात कहते हैं। इसके पहले श्रीराधावल्लभलाल क्या और कैसे हैं, यह समझ लेनेकी आवश्यकता है। संसारके समस्त पदार्थोंके बल और सत्ताको यदि एकत्र कर लिया जाय, तो वह एकत्रित बल और सत्ता भगवान्, श्रीराधावल्लभलालके बल और सत्ताहसी अनन्त नामग्रके एक क्षुद्र-से-क्षुद्र कणके भी बराबर नहीं होते। वस्तुतः समस्त बल और सत्ताके स्थोत्र श्रीराधावल्लभलालजी ही हैं। वे भगवान् ही सब सुखोंके मूल हैं। वे ही सबके उपादान और निमित्त कारण हैं, असिल ब्रह्माण्डके स्वामी हैं। यह सारा ब्रह्माण्ड, पञ्च महाभूत, सूर्य, चन्द्र, तारागण, समस्त देवी-देवता और सब प्रकारकी शृद्धि भिन्नि उन्हींकी सत्ता-स्फुर्तिसे मिथ्यत और उन्हींके अधीन हैं। इस प्रकार सबके नियन्ता एवं समस्त ऐश्वर्य, बल एवं सुखके पूर्णतम और अनन्त आकर होनेपर भी वे अन्यन्त दयालु और परम भक्त्यत्मल हैं। वे भक्ताधीन हैं, दयाके निधान हैं। जो उन्हें प्रेमपूर्वक भजना है, वदरमें वे भी उसी प्रकार भजते हैं। श्रीमद्भागवतमें लिखा है कि जितपर प्रभु प्रसन्न होते हैं, उसे भगवान् संसार नयन करता है। वे मर्वशक्तिमान हैं। वे 'कर्तु-अकर्तु-अन्यथाकर्तुं सर्वम्' हैं। वे असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं। वे समस्त भूतोंके आत्मा, अन्तर्यामी एवं स्वर्वश्यापक हैं। वे ब्रह्मके भी अधिष्ठान अर्थात् मूल हैं। गीतामें भगवान् अपने श्रीमुखमें कहते हैं कि 'मैं ब्रह्माका, अन्यथा मोक्षपदका, सनातन धर्मका और दुःखरहित मुखका आधार हूँ'—

मध्यमो हि प्रतिष्ठाहमसूत्रस्थाययस्य च ।

शाक्षतस्य च धर्मस्य सुखस्यकान्तिकस्य च ॥

प्रकृति श्रीहरिकी एक दक्षि है। सर्व जीव श्रीहरिके अंश हैं। श्रीहरि आनन्दके भेंडार हैं, रसके समुद्र हैं, प्रेम-की खान हैं। वे माया, बुद्धि, मन इत्यादिके परे हैं। उनकी कलाको ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वरादि भी नहीं पहुँच सकते। वे सर्वोपरि हैं। वेद, स्मृति, पुराण तथा दर्शनादि शास्त्रोंसे भी प्रभुकी महिमा जानी नहीं जा सकती। वे विश्वात्मा, विश्ववन्द्य हैं। देवाधिदेव श्रीराधावल्लभलालकी लीलाका कौन वर्णन कर सकता है? संसारमें चर-अचररूप कोई ऐसा पदार्थ नहीं है, जो प्रभुसे शूल हो। ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त जितने भी पदार्थ इस लोकमें अथवा अन्य लोकोंमें हैं, उन सबके रूपमें वे ही लीला कर रहे हैं। वे ही सुष्ठिके कर्ता, भर्ता (पालन-

कर्ता) और संहर्ता (संहार करनेवाले) हैं। आदि, अन्त और सम्यमें श्रीहरि ही हैं। वे ही परम देवता हैं। वे ही परम पद हैं। वे ही परम मोक्ष हैं। उनकी महिमा अनन्त है। वे श्रीराधारम हैं, श्रीराधाजीके अधीन हैं। मुरलीको घारण करते हैं। एष सत्यियोदारा परिसेवित हैं। नित्यकिशोर, निकुञ्जनाथक, रसिकविहारी, नटनागर हैं। श्रीराधालालजी गोस्यामीने कहा है—

स्त्रीशानन्दप्रपूर्णं विमलरसमयं नित्यविज्ञानरूपं
सज्जयं सर्वरक्ष्यं विबुधगणदैः शङ्कराद्यरामप्यम् ।
वेदान्तस्थान्तरगूढं नित्यिलभुवनसंसृष्टिरक्षान्तलदयं
श्रीराधावल्लभार्यं मम मनसि परं ब्रह्म संस्फुर्तिमीयात् ॥

'जो निजानन्द अर्थात् स्वरूपानन्दसे परिपूर्ण हैं, विशुद्ध रसमय हैं, नित्यविज्ञानरूप हैं, संतोदारा बन्दनीय हैं तथा सबको आनन्द देनेवाले हैं, शङ्करादि श्रेष्ठ देवाणोंकी भी जहों पहुँच नहीं है, जो वेदान्तके हृदयमें छिपे हुए हैं तथा असिल विश्वकी उत्पत्ति, पालन और संहार करनेवाले हैं, वे श्रीराधावल्लभ नामसे विल्यात परब्रह्म परमात्मा मेंर चित्तमें प्रकाशित होते हैं।'

अब उन श्रीराधावल्लभलालके ध्यानकी बात कही जाती है। भगवत्प्रातिके साधनोंमें ध्यानकी सर्वत्र आवश्यकता है। गीतादि ग्रन्थोंमें तथा योगशास्त्र परं भक्तिशास्त्रमें भी ध्यानकी आवश्यकता बतलायी गयी है। परन्तु आजकल साधकोंमें ध्यान बहुत कम लोग करते हैं, यह बात चिन्नारणीय है। ध्यानमें अभ्यासकी आवश्यकता है। ध्यान अभ्याससे ही होता है। मनको भगवान्के चरणोंमें एकाग्र करनेका अभ्यास करना चाहिये। हठ निश्चयपूर्वक ध्यानका अभ्यास करनेसे उसमें अवश्य उत्तरोक्तर सफलता मिलती है। संसारका चित्र हृदयसे निकालने और उसके स्थानमें भगवान्की सुगुण मूर्ति स्थापित करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। मनद्वारा भगवान्का स्वरूप स्थिर हो जानेपर मनको उसके अंदर हस प्रकार अविचलनावसे स्थिर कर देना चाहिये कि भगवान्के अतिरिक्त संसारका अथवा अपना विलुप्त भान न रहे। जबतक ध्यानकी ऐसी गाढ़ स्थिति न हो जाय, तबतक अभ्यास छोड़े नहीं। ध्यान लगा जानेपर तो उसमें ऐसा आनन्द आने लगेगा कि फिर छोड़नेसे भी नहीं छूटेगा। ऐसी स्थिति ही जानेपर चित्तमें अपूर्व शान्तिका अनुभव होगा और हर्षका पार नहीं रहेगा। एक इष्टमूर्तिके सिवा

और सबका अभाव हो जाना चाहिये । यही सर्वोन्तम ध्यान है । इस प्रकारका ध्यान ही सब साधनोंका फल है । सेवा, भजन, कीर्तन आदि जो कुछ भी किया जाता है, ध्यानके लिये ही किया जाता है । भगवान् मेरे सेवे हैं और मैं उनका सेवक हूँ—ऐसा भाव स्थिर कर अविच्छिन्नरूपसे संसार और अपनेको भुलाकर मनसे उनकी सेवा होती रहनी चाहिये । इसीको भानसिक सेवा अथवा सर्वापरि ध्यान कहते हैं । इस प्रकार अठल भावसे प्रभुमें दृष्टियोंका स्थिर हो जाना ही सबसे बड़ा लाभ है । जिस भाग्यवान् पुरुषकी ऐसी स्थिति हो जाती है, उसकी अपनी मुक्तिकी तो बात ही क्या है, वह दूसरोंको भी मुक्त कर सकता है । भक्तिमार्गमें भी ध्यानकी ही प्रधानता है । भगवान्-गीताजीमें जहाँ-जहाँ भक्तिकी महिमा कही है, वहाँ-वहाँ ध्यानका बड़ा महत्व दिखलाया है । भगवान् कहते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तराध्यमा ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्तमो मतः ॥

‘सब प्रकारके योगियोंमें जो मुझमें चिन्तको निवेशित कर श्रद्धापूर्वक मेरा भजन करता है, वह सबसे अधिक युक्त है ।’

‘मुख नाम’

ऐहिक और पारदैविकक कल्याण चाहनेवाले सभी मनुष्योंको नित्य श्रीहरिका भजन करना चाहिये । परन्तु वडे आश्रयका विषय है कि विद्वान् मनुष्य ऐसा जानते और समझते हुए भी प्रभुको नहीं भजते । नित्य निरन्तर प्रभुका अनन्य भजन होना ही शरणागतिका प्रधान लक्षण है । जो कोइ किसी फलकी कामनासे भजन-स्मरण करता है, उसका अधम भाव समझा जाता है । जो भजन भजनके लिये श्वास लेना अत्यावश्यक एवं स्वाभाविक है, उसी तरह भजन-कीर्तन भी हमारे लिये आवश्यक और स्वाभाविक वन जाना चाहिये । रसिकशिरोमणि श्रीसेवकजी कहते हैं—

यह जु परयो मौहि महत् मुमाद । श्रीदग्धिवंश नाम गम वन ॥

वेद भी कहते हैं—

‘यो वर्दंशः स तं भजेत्’

अर्थात् जो जिसका अंद्रा है, उसे उसका भजन करना चाहिये । जीव परमात्माका अंद्रा है, इसलिये उसे परमेश्वरकी भक्ति करनी ही चाहिये । सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते—सब समय द्यास-प्रश्वासकी क्रियाके समान भजन-स्मरण होता ही रहना चाहिये । भजनमें एक क्षणका भी विराम उचित नहीं है । एक क्षणके लिये भी भगवन्नामका विस्मरण होनेपर साधकपर असुरका आवेदा हो जाता है, ऐसा पर्णितजन कहते हैं । शाङ्कोंमें श्रीहरिनामका माहात्म्य इतना अधिक कहा गया है कि उसका अन्त नहीं है । कलियुगमें तो भगवान्-का नाम ही कल्याणकारक है । श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

द्वापरे यद् ध्यायतो विष्णु ब्रेतायां यजतारो मर्यः ।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्विकीर्तनाद् ॥

अर्थात् सत्ययुगमें भगवान् नारायणका ध्यान करनेमें, ब्रेतायें यजके द्वारा उनकी आराधना करनेसे और द्वापरमें उनकी सेवा-पूजा करनेसे जो फल मिलता है, कलियुगमें भगवान्-के नाम-कीर्तनसे वही फल प्राप्त होता है ।

भजनका अभ्यास ऐसा दृढ़ होना चाहिये कि यदि किसी कारणसे कभी नामका विस्मरण हो जाय, तो ऐसी व्याकुलता हो कि जिसके कारण द्वारा दम छुटने लगे—‘तदिमरणे परमव्याकुलता ।’ (नामदभक्तिसूत्र)

भजनमें दूसरी आवश्यक बात है अनन्यता । अपने प्रभुके सिवा दूसरेके अस्तित्वकी कल्पना भी चिन्तनमें न आये, इसीका नाम है अनन्य भजन । इस प्रकार अनन्य चिन्तनमें भजन करनेवालेके लिये, भगवान् कहते हैं कि मैं सुलभ हूँ जाता हूँ । गीताजीमें श्रीमुखका वचन है—

अनन्यचेताः सतनं यो मां स्मरति निःयशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थं निष्ठयुक्त्य योगिनः ॥

इस प्रकारके भक्त किसी भी लोभसे क्षणमात्रके लिये भी भजनका त्याग नहीं करते और अपने हष्टके मिशा दूसरेका भजन नहीं करते । (अपूर्ण)



श्रीरामस्नेही-सम्प्रदायकी उपासना-पद्धति

(लेखक—देवदेव प्रबर स्वामी श्रीमनोरेधरामगी रामस्नेही शास्त्री, माहिरभूषण)

भक्तिके पथको सुगम और प्रशस्त करनेके लिये महाप्रभु स्वामी श्रीरामचरणजी महाराजने शाहपुरामें श्रीराम-स्नेही-सम्प्रदायकी स्थापना की, साथ-ही-साथ भक्तियोगके प्रतिपादनार्थं व्यक्तीय अनुभवयुक्त वाणीद्वारा दोहा-चौधाइयो-में ‘शब्दप्रकाश’ नामक ग्रन्थका निर्माण किया तथा उसपर ब्रह्म रामकी उपासना-विधि बतलायी, जिनके व्यापारमें शङ्कर तथा शेषजी सदा लीन रहते हैं तथा जिनके नामकी महिमा महर्पि अगस्त्यजीने अगस्त्यसंहितामें सुतीशंजीके प्रति इस प्रकार वर्णन की है—

स नक्षीटिमहामन्त्राविच्छिन्नविधमकारकः ।

एक एव परो मन्त्रो राम हत्यकारद्वयम् ॥

अर्थात् महामन्त्र तो सात करोड़ है, परन्तु वे चिन्तमें [यह मन्त्र श्रेष्ठ है या यह— इस प्रकारका] विच्छिन्न उत्पन्न करनेवाले हैं । ग्राम पर यह दो अक्षरोंका महामन्त्र ही सबसे श्रेष्ठ है । इसी प्रकार अव्यर्वदके रामरहस्योपनिषद्‌में भी कहा है—

एतेषु चैव सर्वेषु तत्त्वं च ब्रह्म तारकम् ।

राम एव परं ब्रह्म राम एव परं तपः ॥

राम एव परं तत्त्वं श्रीरामो ब्रह्म तारकम् ॥

अर्थात् समन्त धर्मग्रन्थोंका तत्त्व तारक ब्रह्म ही है । और वह तारक ब्रह्म राम है । राम ही परब्रह्म है, राम ही परम नप है और राम ही परम तत्त्व है ।

इस प्रकार परब्रह्म रामकी सहित्यसे धर्मग्रन्थ घरे पढ़े हैं । वहाँ अधिक वचनोंका उल्लेख करना सम्भव नहीं है । इसलिये अब हम परब्रह्म रामकी उपासना-पद्धतिलिप् ‘शब्द-प्रकाश’नामक ग्रन्थके मूल वचनोंको ही उद्धृत कर लेख समाप्त करेंगे । उस ग्रन्थमें महाप्रभु स्वामी श्रीरामचरणजी महाराजने परब्रह्म रामकी उपासना-पद्धति इस प्रकार बतायी है—

रामनाम तापक मंत्रं, सुरीरं संकरं मंस ।

रामचरण साक्षं गुरुं देवै यह उपदेस ॥१॥

मनगुरुं बक्षं गमनाम, रितं चरै विव्वास ।

रामचरण निसिद्धिन रहै तो निस्त्वय होय प्रकात ॥२॥

अब सुनियों सब साक्षु भुजाना । ग्रामभजन का कर्हुं बखाना ॥

प्रथम नाम सत्गुरुं से पाया । श्रवण सुनके नेह उपजाया ॥३॥

पुनि गमना की श्रद्धा जारी । राम रघुन निमिक्षर लगी ॥

दूसी आसा सकल बुझी । (तब)रामनाम मैं सुरत छहारी ॥४॥

वधासन निस्कृत मन कीया । नसा निरत घर घर लीया ॥

स्वाम उससा धनी लगाई । आरत करके बिरह जगाई ॥५॥

रमना अद्व तुरी इक लीरा । परम वाका पद मो नीरा ॥

रुताँ रुताँ भांग मिथास । हर्य भयो आओ विव्वास ॥६॥

कई दिवस रसना रसगटवयों । धैर्ये सम्बद कठमें अद्वयो ॥

कठ स्थान बहुत कठिनाई । मुख मैं बचन न बोलयो जाई ॥७॥

लाल पान ऐ निचि रौ योरी । मारग रुखयो जाय कह बौरी ॥

छींस सीरी लत्ता सुकुचानी । नींगी नम दीर्घै झटकानी ॥८॥

पींगे बदन नेतर्णै लाई । मुकुर उमेति ऊंचो दिव्यै कपाई ॥

चंके कमकमी हूँ अर्थविं । ढाती हैं ख स्वाम नहिं आई ॥९॥

ऐंगी विनि विग्नी की होई । विहृ जान कै सत्गुरुं मोई ॥

एक दिवस ऐंगी बल आई । सम्बद सकल गयो हिरदय माई ॥१०॥

परम सुखल हिरदै परकासा । डर्यै नवि कीम्हों तम को नामा ॥

सहजै सुमिन हिरदै होई । बाहिर भेद न जाने कोई ॥११॥

सेवन जान डंगी लाई । बन बस्ती की मंका भाई ॥

रसना जाग अजापा पाया । बाहिर साधन सकल बिनाया ॥१२॥

जायों प्रेम नेम रहो नाहों । पहै राम ध्रम घट माही ॥

उर अस्थान धाय बिधाया । सम्बद किया जाय नामिनुकामा ॥१३॥

नामि कमल में सम्बद गुजाई । जी मै नामि संकल उच्चारै ॥

रोम रोम ध्रुणकार कुणकै । जैसे जंतर ताँत तुणकै ॥१४॥

माया अन्दर इहों बिलाया । रंकार इक गमन सियाया ॥

पहिचम दिमा मेल की बाटी । बींगो गोठ घोर से फटी ॥१५॥

चिकुटी मंगम किया सनाना । जाय चढवा चौथे अस्थान ॥

जहाँ निरंजन तख्त बिगजै । ज्योति प्रकास अनंत रवि राजै ॥१६॥

असदाद नाद शिष्ठ नहिं आई । भैंति भैंति की राम टपडै ॥

संव शुभ्रां नीर झुकाया । सूख्य सिवर कायह बिवहरा ॥१७॥

झैर पर्णं भैंति-सा ढाकै । जाकी ज्योति असन-सी मर्लै ॥

समर जहाँ जिना घर भरिया । हंसा बास तासभ पकरिया ॥१८॥

सुखमण भैंति कर आहम । निज हंसा का थह ही चारा ॥

सुन सायर हंसा का शासा । मवसागर सुख भया उदासा ॥१९॥

दरिया सुखको अंत न आवै । दीलर काल बाज शपटावै ॥
सुखसामर मिल सुख पद पाया । सो सन्दीर्घे कह समझाया ॥३.८॥
बिन देख्यैं भरतीत न आवै । तासैं कैसे भेद बतावै ॥
अर्थ उर्व कमला जहाँ कूलया । भैंवर रुप होय हासा झूलया ॥३.९॥
भैंवर गुंजार भगान गिरायाया । होय भस्तुअलि तहाँ लुमया ॥
ऐसो पद चिरला जन पावै । सो भवसामर नहीं अई ॥३.१०॥
गम रथ्याका मह परकासा । मिन्नाब्रह्मपद भव भयानसा ॥
गमनरण कोइ राम रटेगा । सो जन एही थाम लंहेगा ॥३.११॥
गमनाम निरिवासर गासी । सो नर भवसामर तिर जासी ॥
गमनाम बिन आन उर्पाई । डृश्यै दृश्यै का बिल कराई ॥३.१२॥
बालक बेगु मंदिर बणाया । तामे बम कूले सुख पाया ॥
गमनकन बिन जानी करणी । डृश्यै बिन बीज मुवारी नगणी ॥३.१३॥
राम बीज साधन हन हाँकै । तो रामचरण बेती कह पाकै ॥३.१४॥
वरणि कहो संषेष मे द्रिया के सो पार ।
निज परमी या थामकू (सो) नीज्यां मंत बिचार ॥३.१५॥

रामचरण रट रामनाम पाया बहा बिलास ।
ई साधन कोइ लागती(जाके) होसी सब्द प्रकास ॥२॥
—हृत्यादि । इन बचनोंका अर्थ भलीभाँति समझाकर
जो बुद्धिमान पुरुष उपर्युक्त उपासना-पद्धतिके अनुसार परम
पुनीत भक्तियोगीकी साधना करेंगे, वे निश्चय ही मायाके
समस्त बन्धनोंसे मुक्त होकर संसारसागरको गोपदकी तरह
अनायास पार कर जायेंगे और परब्रह्म भीरामरूप होकर
उनकी सायुज्य-मुक्तिको प्राप्त करेंगे । फिर उनको श्रुतिके
'न च पुनरावर्तते, न च पुनरावर्तते' इस बचनके अनुसार
कभी भी संसार-चक्रमें पैसकर जन्म-मरणादिके कष्टोंका
अनुभव नहीं करना पड़ेगा । वयविश्वद्विकाशमें हृश्चरापासना-
का विसार बहुत है और ग्रन्थका अर्थ समझाना भी आवश्यक
था, परन्तु विस्तरभयसे इस लेखको यहाँ समाप्त किया जाता
है । श्रीगमलेही-सम्प्रदायकी उपासना-पद्धतिका संक्षिप्त
स्वरूप यही है ।

विजयकृष्ण-कुलदानन्दकी नाम-साधना

(लेखक — श्रीनरेश ब्रह्मचारी)

शुग्रप्रवर्तक विजयकृष्ण-कुलदानन्दकी 'नाम-साधना' जगद्वायियोंकी एक अमूल्य सम्पद है । यह नवीन नहीं, अति प्राचीन है । स्वयं श्रीभगवान् नारायण इस साधनाके प्रवर्तक हैं । श्रीभगवान् विष्णुके नामनिकमलमें उत्पन्न होकर ब्रह्मा नीने जो साधन किया था, 'तपत्वप' वार्षी श्रवणकर उद्देशे जिस प्रकारसे तत्व जाननेके लिये नेत्रों की थी, यह वही साधना है । देवादिदेव महादेव, देवर्पी नारद, दत्तात्रेय, वतिष्ठ, श्रुत, प्रह्लाद आदि महायोगीश्वर तथा श्रुतिपुनिगणोंने श्रीभगवान् नारायणद्वारा प्रवर्तित इस अपरूप 'नाम-साधन'-द्वारा ही 'उनको' प्राप्त किया था । यह साधन आदिवैदिक किन्तु एकुमुखी है; 'श्रीमद्वाग्यत', 'श्रीमद्भगवद्गीता' आदि शास्त्र-ग्रन्थोंमें अति संखेपसे इसका उल्लेखमात्र है, पढ़ति कहीं लिखी नहीं है । अनादि कालसे यह 'नाम-साधन' अति गोप्यरूपसे गुरुपरम्परया चला आ रहा है । चिन्हकालसे यह मुनि-शूद्धियोंके अंदर हिमालयमें ही था । कल्पायनावतार भगवान् श्रीगोपाल महाप्रभुने वज्रदेश-नवद्रीपमें अवतीर्ण होकर कृपापूर्वक यह असाधारण शक्ति-समन्वित 'नाम-साधन' जीव-जगत्के परम कल्पणाके हेतु अपने करितप्य अन्तरङ्ग शिष्योंको दान किया था । नानक, कबीर,

तुलसीदास प्रभुति महापुरुषोंने इस 'नाम-साधन' प्रणालीका अवलम्बन करके सिद्धि लाभ की थी । उच्चीक्षी शानदार्दीके मध्यभागमें जय धर्मकी गलानि उपस्थित हुई थी, स्वेच्छाचार और व्यभिचारमें देश स्थान हो पड़ा था, साम्प्रदायिकनाकी महीनार्णीमें पृष्ठकर समग्र मानव-जातिके भीतर जय एक तुमुल दून्द आ उपस्थित हुआ था । तब एक शुभ क्षणमें नदिया-शान्तिपुरुके गौराङ्गदेवको लानेवाले टाकुर, महाविष्णुके अवतार, श्रीअद्वैतप्रणुके वंशमें आविर्भूत अतिमानव विजय-कृष्णने हिमालय मानस-सोवर (स्कन्दपुराणान्तर्गत मानस-सोवर) के वासी महायोगी परमहंस ब्रह्मानन्दजीमें गया-आकाशगङ्गा पहाड़में यह अप्राकृत शक्तियुक्त 'नाम-साधन' प्राप्त किया था एवं योहु एक समयके भीतर साधनामें सिद्धि-लाभ करके भारतमें सर्वत्र तथा दूर सागरपारके नाना जाति और सम्प्रदायोंके साधारण मानव-समुदायको ही नहीं, बरं महात्मा महापुरुषोंको भी इस 'नाम-साधन'का दान करके जीव-जगत्को ह्रेतार्थ और धन्य किया था ।

इस अजपा 'नाम-साधना' का वैत्स्मित्य

असामान्य शक्तिसम्पन्न पहापुरुष गोत्सवी विजयकृष्ण-

जीने अपने अन्तरङ्ग, नित्यसङ्गी, प्रिय शिष्य, नैषिक ब्रह्मचारी कुलदानन्दको अपनी विदेष शक्ति से शक्तिमान् बनाकर यह अनुपम 'नाम-साधन' प्रार्थियों को दान करनेका आदेश किया था। हिंदू मुख्यमान, किस्तान और विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों के अनेकनेक व्यालियोंने इस 'नाम-साधना' का आश्रय लेकर आत्माका परम कल्याण-साधन कर उत्तमिते सर्वोच्च शिखररर अग्रोहण किया है। यह 'नाम-साधन' अजया है, गुरुमुखसे ग्रहण करना पड़ता है। इस साधनाका विदेषप्रत्यय है 'ध्यास-प्रश्नासे नाम-जप'। साधन-कौशल गुरुसे सीखना ही विधि है, भाषामें लेखनद्वारा समझाना असम्भव एवं निपिद्ध है। धर्म-पिण्डमुजनोंके अत्याधिक ज्ञान और धारणाके लिये जहाँतक प्रकाश करना सम्भव है, उतना ही समझानेका प्रयास किया जा सकता है।

श्वास-प्रश्नासे 'नाम-साधन' का वैज्ञानिक रहस्य

इस साधनके किया-रहस्य वडे ही चमत्कृतिजनक हैं और देह-संवत्सरमयित तथा मनोविज्ञानसम्मत हैं। श्वास-प्रश्नास ही देहका प्राण है। प्राणके रहनेसे आत्माका निवास है। देहके साथ आत्मा विशेष सम्बन्धसे जड़ित है। आत्मामें ही मन है। श्वास-प्रश्नासके साथ मनका विशेष सम्बन्ध है। आत्मा परमात्माका अंश—परमात्मा है। कारण, भगवानका अर्थ है—सर्वैश्वर्यशाली अर्थात् 'सभूर्ण'; और सभूर्णका अंश नहीं होता। महासमुद्रका जल भी जल है, एक बूँद जल भी जल ही है। एक बूँद जल जिन वस्तुओंकी समष्टि है, महासमुद्रके जलमें भी वे ही तथ पदार्थ वर्तमान हैं। इस भावसे परमात्माका अंश आत्मा पूर्ण है—परमात्मा ही है। यह जो जीवात्मा है, वह संस्काराभ्यन्न है। इस संस्काराभ्यन्न आत्माके संस्कारोंका पिण्डही देह है। देहका प्रत्येक अणु-परमाणु—रस, रक्त, मास, मेद आदि समस्त ही संस्कारानुयायी और संस्कारभय हैं। श्वास-प्रश्नास इस देहका शोधन करते हैं। श्वास जिसे हमलोग ग्रहण करते हैं, जो विशुद्ध वायु है, जिसमें 'आक्सीजन' (Oxygen) अधिक रहता है, फेफड़ों (Lungs) में जाकर रक्तको 'आक्सीजिनेटेड' (Oxygenated) करता है और साथ ही तुरंत शरीरकी एक-एक शिरोमें जाकर ७२ हजार नाड़ियोंमें घूमकर रक्त शोधनानन्दर देहका जितना मल (Carbon-di-oxide) है, उसे लेकर प्रश्नासरूपसे बाहर चला आता है। यही श्वास-प्रश्नालक्ष काम है। रक्तकी किया स्थूलतः देहके ऊपर एवं स्थूलतः मनके ऊपर होती है। रक्तके

अनुसार शरीर और मन बनता है। रक्त गरम होनेसे मन भी विकृत हो जाता है। रक्त जितना ही शुद्ध होता है, मन भी उतना ही शुद्ध और पवित्र होता है। इस प्रकार देहके साथ मनका सम्बन्ध है। इस श्वास-प्रश्नासके साथ 'श्री-भगवानके नाम' का योग करना पड़ता है। 'नाम' का श्वासके साथ परिचय कराकर उसे सङ्ग लगा देनेसे 'नाम' श्वासके साथ जाकर ७२ हजार नाड़ियोंमें पूर्वोन्त प्रणालीसे घूमकर, रक्तको पवित्र करके प्रश्वासके साथ लौट आता है। श्वास रक्तको शुद्ध करता और नाम उसे परम पवित्र करता है। इस शुद्ध, पवित्र और नाममय रक्तकी किया मनके ऊपर होकर मनको शुद्ध, सत्त्विक, पवित्र और 'नाममय' करती है। इस प्रकार अस्यासद्वारा श्वास-प्रश्नासके साथ मनकी मित्रता हो जानेके कारण नाम-प्रेर्मी मन 'नाम' सहित क्रमशः स्वभावतः श्वास-प्रश्नासमें निविष्ट होता है। इस प्रकारसे श्वास-प्रश्नाससे युक्त होकर 'नाम' अपने-आप चलता रहता है। साधकको उस समय 'नाम' का जप नहीं करना पड़ता, 'नाम' का जप स्वभावतः आप ही होता रहता है। यही 'अजया' साधन है। उपर्युक्त प्रणालीके अनुसार साधनद्वारा संस्कारमय देह और मन तथा संस्काराभ्यन्न आत्मा क्रमशः श्रीभगवत्त्रामय होकर 'अह'-संस्कारसे मुक्त हो जाते हैं।

इस अजया-साधनका लक्ष्य और ध्यान

इस साधनमें पृथक् ध्यान-विधि नहीं है। ध्यानकी कोई विदेश प्रूर्ति इस साधन-पद्धतिमें नहीं है। इस अजया-साधनका लक्ष्य स्वयं श्रीभगवान् हैं। 'भग' का अर्थ है ऐश्वर्य। भगवान् वैश्वर्यपूर्ण है अर्थात् जिसमें समस्त ऐश्वर्य पूर्णरूपसे स्थित है, वे ही श्रीभगवान् हैं। परशानित-लाभ ही जीवोंका उद्देश्य है। अभाव ही दुःख है—अशानित है। 'सभूर्ण' को पाये जिना अभाव नहीं मिट सकता। यह 'सभूर्ण' श्रीभगवबरण-प्राप्ति है, वही पूर्ण शान्ति या परा शान्ति है। उनका रूप ही है सर्वैश्वर्य। 'सर्व' के बाद फिर रूप और क्या बच रहा, परन्तु साधारण जीवकी अनुभूति जीवशेष मनुष्यतक ही है। अतः मानवरूपमें दर्शन न देनेसे उनका अनुमान या धारणा करना जीवके लिये असम्भव, साध्यातीत है। निर्गुण निराकारका भजन नहीं हो सकता। इतिलिये रूपका आश्रय करना पड़ता है। वे अनन्त हैं, उनके रूप भी अनन्त हैं। उनका कोई एक रूप नहीं है। किल रूपका आश्रय करना

होगा, यदि स्थिर करना कठिन है। वे किस रूपमें कब दर्शन देंगे, यह कौन कह सकता है? इस कारण इस साधनमें रूप या मूर्तिका स्थान नहीं है। अतः 'नाम' का आश्रय करना ही सहज उपाय है। 'नाम' का आश्रय करनेसे 'नाम' में ही 'नामी' अर्थात् श्रीभगवान्‌का स्थान मिलता है—रूप-दर्शन होता है। 'नाम' हीमें 'नामी' का रूप रहता है। 'नाम' ही 'नामी' का रूप या मूर्ति है। 'नाम', 'नामी' एक हैं। 'नाम'-साधनकालमें श्रीभगवान्-कृष्णपूर्वक अपनी अनन्त विभूतियों—अनन्त रूपोंमेंसे जिस रूपमें दर्शन हैं, उसीका अद्वा-भक्तिपूर्वक पूजन-प्रणवन करना होता है। आसक्त या आवद्ध नहीं होना चाहिये—धैर्यके साथ 'नाम'-साधन-पथ अवलोकन करके अग्रसर होना चाहिये। 'नाम'-साधन करते रहना चाहिये। अन्यथा लक्ष्यपर पहुँचनेमें विलम्ब हो सकता है।

अजपा-साधक प्रथमतः शास-प्रश्नामें 'नाम'-जपका अभ्यास करता है। साधनकी अवस्थामें साधकको कभी-कभी नाममें अरुचि पैदा हो जाती है, 'नाम' नीरस—सुख प्रतीत होता है। नाम-जप ही इस रोगकी ओपचि है। जैसे पित्त रोगकी ओपचि मिश्री है, पित्तदोषसे विकृत जीमिको आरम्भमें मिश्री भी कड़वी ही लगती है, फिर भी मिश्री ही खानी पड़ती है, पीछे ज्यों-ज्यों पित्तदोषका नाश होता है त्यों-त्यों क्रमशः वह मीठी लगने लगती है; वैसे ही नाममें अरुचि होनेपर प्रयत्नपूर्वक 'नाम'-जप ही करते रहनेसे क्रमशः 'नाम' अच्छा लगने लगता है—'नाम'में स्तुति होती है और 'नाम' सरस-मधुर प्रतीत होता है। इस प्रकार शास-प्रश्नामें साथ 'नाम'-जप करते-करते 'नाम' शास-प्रश्नामें साथ बुल-मिल जाता है। तब शास-प्रश्नामें 'नाम' छोड़कर और काम कर ही नहीं सकते। 'नाम' के लिये भी शास-प्रश्नामें सङ्ग त्याग करना सम्भव नहीं होता। उस समय शास-प्रश्नामें ही 'नाम' और 'नाम' ही शास-प्रश्नामें हो जाता है। मैं 'नाम'-जप कर रहा हूँ, यह अनुभव या वोध भी नहीं रहता। शास-प्रश्नामें 'नाम' चलता रहता है। इस प्रणालीके अनुसार 'नाम'-जपका अभ्यास करनेसे प्राणायामकी किया अपने-आप होती रहती है। क्रमशः मनका चाल्लस नष्ट हो जाता है, चित्त-द्रुतिका निरोध होकर मन स्थिर हो जाता है। मन स्थिर होनेसे शास-प्रश्नामें भी स्थिर होकर कुम्भक हो जाता है। क्रमशः 'नाम'-जप बंद होता है। फिर 'नाम' और नहीं

चलता—'नाम'-जप नहीं होता। साधक उस समय 'नाम'-दर्शन करता है। इस तरह 'नाम-धारणा' 'नाम-ध्यान' में पर्यवसित होती है। यह कुम्भक स्थायी-पदका होनेसे क्रमशः संस्कारमुक्त होकर अन्नमय आदि पञ्चकोषोंके भेदके बाद 'नाममय हम' और 'नाममय नामी' का भिन्न वोध रहनेतक सविकल्प और अभिन्न होनेपर 'नामी' अर्थात् श्रीभगवान्‌की सम्पूर्ण शरणागति होनेपर निर्विकल्प-समाधि या पराशान्ति धास होती है। यही वैष्णवोंका श्रीभगवान्‌के श्रीचरणोंमें आत्मसमर्पण, योगियोंकी निर्विकल्प समाधि और बौद्धोंका निर्वाण है। किन्तु इन सबका मूल है श्रीभगवान्‌की कृपा। कातरभावसे उनकी ओर ताक्ते हुए उनके भुवन-मङ्गल जग-पावन 'नाम' को श्रद्धापूर्वक लेते रहनेका प्रयत्न करना चाहिये—उनसे प्रेम करना चाहिये।

इस अजपा 'नाम'-साधनाका अवलम्बन करके तरस्या करनेसे सर्वप्रथम आत्माका संस्कार-आवरण कभी कभी भगवत्-कृपासे इट जाता है एवं महापुरुष और देव-देवियोंके दर्शन होते हैं। परन्तु इससे हृदयका कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता। कुल-देवता अथवा साधक जिन देवतासे प्रेम करता है, उन्हींका पहले-गहल प्रकाश होता है। अनन्तर साधनके उत्कर्षके साथ साथ वेद-पुराणादि गमस्त शास्त्र कैसे बने हैं, सुधि किस तरहसे हुई है—इत्यादि रहस्य प्रकट होते हैं और धैर्य-धैर्य आत्मा माया या संस्कारसे मुक्त हो जाता है। समस्त 'नामी'मय, 'ब्रह्म'मय हो जाता है। क्रमशः भगवर्लीलाके दर्शन होते हैं। साधक और सिद्धकी इन सब अवस्थाओंको भाषामें व्यक्त करना असम्भव है। आर्य ऋषिगण इसीको 'आवाड्मनसगोचर' कह रहे हैं। बुद्धदेवकी भाषामें यही 'अचिन्तेयानि' और 'अचिन्ति-तयानि' है अर्थात् जो चिन्ताका विषय नहीं है—जिसका चिन्तन किया नहीं जा सकता। श्रीभगवान् ही चरम लक्ष्य हैं।

इस 'नाम-योग' के साथ 'हठयोगादि' का सम्बन्ध-निर्णय

शास-प्रश्नामें किया गया फैसले, हृदय तथा समस्त रक्त-वाहिनी नाड़ियोंके अंदर रक्तके ऊपर होती है और इससे शरीरके प्रत्येक अणु-परमाणुमें भी इसकी किया होती है। गुरुसदिष्ट प्रणालीके अनुसार इस आशुफलम्बद शास-प्रश्नामें

प्रयुक्त 'नामयोग' के अन्यासे कमश्वः हठयोग तथा राज्योगादि सब प्रकारकी योगक्रियाएँ स्वभावतः होती हैं और क्रियाका फल भी देख पड़ता है। कुछ साधारण नियमोंका पालन करके प्रक्रियाके अनुसार यह नाम-साधन करनेसे ब्रह्मचर्य-साधनादि अति सहजमें सधे जाते हैं। कठोर ब्रह्मचर्य-व्रतादि साधनका कोई प्रयोजन नहीं होता। किसी प्रकारकी हठयोगिक सहजोली वज्रोली आदि मुद्राओंकी क्रियान्वयन सहायता दिना ही इस 'नाम'-साधनके द्वारा सुप्राप्ति अति अत्यायासे परिष्कृत होकर साधक ऊर्ध्वरता हो सकता है। सुस कुलकुण्डलिशक्तिको जागरित करके, पट्टचक भंडकर आशाचक्षस्य पुष्टपके साथ योग करनेकी इसमें अमोथ शक्ति है। यह प्रकृति-पुष्टयोग होनेसे शक्तिभान् 'नाम'योगी उत्ती 'नाम' का आश्रय करके ही श्रीभगवानके स्थान महाशृण्यस्थित सहस्रारमें उनके श्रीचरण-को प्राप्त करते हैं।

शरीर नीरोग तथा स्वस्थ रखनेके लिये एवं इस 'नाम'-साधनाके सहायकस्वरूप एक प्रकारके गुरुमुखी प्राणायाम और आसन, कुम्भक, त्राटक (पञ्चभूतमें हठि-साधन) प्रभृति कहे प्रकारकी योगक्रियाएँ साधककी अवस्था और प्रयोजनके अनुसार श्रीविजयकृष्ण-कुलदानन्द दान कर याये हैं।

नाम-साधकोंके प्रति अमूल्य उपदेश

गोस्वामी विजयकृष्णजीने बङ्गदेशान्तर्गत दाकांगडारिया श्रावणस्थित अपने साधन-कुटीरकी दीवारपर 'नाम' साधनके समय 'नाम' में शनि उत्तरन करनेमें सहायक जो अनेक उपदेश लिख रखते थे, वे नीचे दिये जाते हैं—

'ऐसा दिन नहीं रहेगा।'

(१) अपनी बढ़ाइं मत करो। (२) दूसरोंकी निनदा मत करो। (३) अहिंसा परमो धर्मः (अहिंसा परम धर्म है)।

* श्रीमद् ब्रह्मवारी कुलदानन्द शीदारा विरचित श्रीवीषदगुरु-सङ्ग (पांच खण्डमें सम्पूर्ण बैगङ्गा धन्व) का हिम्मी-अनुवाद प्रथम बहु-द्वितीय। प्राप्तिस्थान—श्रीगोराहा-सुन्दर ता ३० नं० महापैदेवनद्वारा रोट, कलकत्ता, या 'तारा प्रिंटिंग बक्स', बनारस। श्रीब्योगकेशदामार वि. प. लिखित बैगङ्गा धन्व 'सत्यगुरुओं कुलदानन्द' और 'Brahmachari Kuladananda', Vol. 1 in English by Benimadhav Barua, M. A., D. Litt. (London), Professor Calcutta University भीपड़ सकते हैं। प्राप्तिस्थान वही।

(४) सब जीवोंपर दया करो। (५) शास्त्र और महापुरुषोंपर विश्वास करो। (६) शास्त्र और महापुरुषोंके आचारके साथ जिसका मेल न हो, उस कामको विषवत् त्याग दो। (७) नाहङ्कारात् परो रिषुः। (अहङ्कारसे बढ़कर दात्रु नहीं है।)

सत्यरक्षा और वीर्यधारणके विषयमें गोस्वामी विजय-कृष्णजीने साधकोंको विदेशरूपसे सावधान किया है। वीर्यधारण शरीर-रक्षाके विषयमें जैसा सर्वप्रथान कारण है, सत्य भी आत्मरक्षाके लिये वैसे ही अत्यावश्यक है।

शम, सन्तोष, विचार और सत्सङ्गकी आवश्यकता

(१) मनकी साम्यावस्थाको ही 'शम' कहते हैं। (२) सर्वदा सर्व विषयमें सन्तुष्ट रहना ही 'सन्तोष' है। (३) उदा सब अवस्थाओंमें अच्छेवूरे, सत्-असत्का विचार करना ही प्रकृत विचार है। श्रीभगवानको लक्ष्य करके जो कुछ भी किया जाता है वही सन् है, उसके अतिरिक्त सब असत् है। (४) श्रीभगवान् दी सन् तथा श्रीभगवत्सङ्ग ही सत्सङ्ग है। भगवदश्रित साधु-सज्जनोंका सङ्ग भी सत्सङ्ग है। सद्गुरु और शाश्वादिका पाठ भी सत्सङ्ग है। इस तरहसे क्रान्तियोंका ही सङ्ग होता है।

इन नियमोंके साथ-साथ और भी चार नियम पालन करनेका उपदेश श्रीविजयकृष्ण-कुलदानन्द दे गये हैं—स्वाध्याय, तपस्या, शौच और दान।

(१) स्वाध्याय केवल अध्ययन नहीं, गुरुदत्त इष्ट मन्त्र या नामका शास्त्र-प्रश्नाससे जन करना-यही वयार्थ स्वाध्याय है। (२) सब अवस्थाओंमें धैर्यके साथ 'नाम'-साधनमें चार-वार चेष्टा करना ही तपस्या है। (३) शुचि अर्थात् सर्वविष्यामें बाह्य तथा अस्त्रन्तर पवित्रता। शरीर और मनको निर्मल, पवित्र रखना ही शौच है। शरीर पवित्र न रहनेसे अनन्तशुद्धि नहीं होती। चित्त शुद्ध न होनेसे 'नाम' में वयार्थ रुचि—श्रीभगवान्में अद्वा-भक्ति कुछ नहीं होती। (४) प्रतिदिन कुछ-न-कुछ दान करना चाहिये। दया-सहानुभूतिसे ही दान होता है। किसी तरहसे दूसरेके हळेशोंको दूर करना ही दान है। प्रतिदिन कम-से कम मीठी बातका ही दान करना चाहिये। ये सभी नियम 'नाम' में शनि होनेके लिये हैं। 'नाम'में शनि हो जानेसे और कुछ भी आवश्यक नहीं होता। शास्त्र-प्रश्नासमें 'नाम'-जप ही एकमात्र सहज तथा सर्वोक्तुष्ट उपाय है।

इस साधनकी दौका प्रहण करनेवालोंको कुछ निषेधोंका वर्जन करना पड़ता है। मांस, अंडा, प्याज, उच्छिष्ट और माटक वस्तुका सम्पूर्णरूपसे त्याग करना आवश्यक है।

एक मासमें सिद्धि-लाभ करनेका उपाय-निर्देश

इस अजपा नामसाधनद्वारा एक मासमें सिद्धि पानेकी एक प्रणाली गोस्वामी विजयकृष्णजीने निर्देश की है। श्रीश्रीतदगुरुसङ्ग (प्रथम खण्ड) में लिखा है—वे कहते हैं कि—‘एक मास काल-अव्यवस्थातुरुप नियममें रहकर निर्दिष्ट प्रणालीके अनुसार कोई साधन करे तो अवश्य ही उसे सिद्धि प्राप्त हो जाय। यदि किसीको यह आशङ्का अथवा आक्षेप हो कि सिद्धि प्राप्त होनेके फले ही बारीर छूट जायगा तो, उसकी इच्छा होनेमें, वह सहजमें ही एक महीनेतक नियमोंकी रक्षा करके इस प्रणालीसे साधन कर सकता है; सिद्धि अवश्य हो जायगी।

नियम ये हैं—

(१) लोक-सङ्ग त्याग दे। विशेषरूपसे ब्रिंहोंका दर्शन, स्पर्श, उनके सम्बन्धमें कुछ भी श्रवण और चिन्तन अद्वितीयरूपसे वर्जनीय है।

(२) एकान्तमें बहुत ही शुचि-शुद्धभावसे दिनमें एक बार ही अपने हाथसे रसोइ बनाकर आतप (बिना उच्चले हुए चाहयों) का भात खाना चाहिये।

(३) शयन-त्याग। बहुत ही अवसाद होनेपर जरूरत हो तो हाथका ही तकिया लगाकर भूमिपर शयन करे।

इन बाहरी नियमोंका पालन करनेके साथ-साथ निर्दिष्ट रीतिसे मुद्राबन्ध करे और रात-दिन सिद्धासुनसे बैठकर प्राणायाम तथा कुम्भकके साथ प्रणालीके अनुसार ‘नाम’-साधन करें। कम से कम तीन दिन भी यदि कोई यह साधन कर लेगा तो ऐसी कोई विशिष्ट अवस्था प्राप्त हो जायगी जो औरेंको दुर्लभ है।

यह साधन असम्प्रदायिक है

श्रीविजयकृष्ण-कुलदानन्दकी ‘नाम-साधना’ किसी दल या सम्प्रदायशिष्यमें आबद्द नहीं है। बिंदु, बौद्ध, जैन, मुसलमान, ईसाई, पारसी-सभी जाति, सभी धर्म एवं सभी सम्प्रदायके लोग अपनी-अपनी कुल-कल्पागत रीति-नीति, आचार-व्यवहार रखते हुए इस अजपा ‘नाम-

साधन-पथका अवलम्बन करके अनायास अप्रसर हो सकते हैं, कोई बाधा नहीं। इसलिये किसी धर्म या सम्प्रदायके साथ इस साधन तथा इसके साधकका कोई विरोध नहीं है। सब हमारे ही भगवान्‌का नाम-साधन कर रहे हैं, यह जानकर सब सम्प्रदायों तथा धर्मोंके लोगोंका ही आदर करना चाहिये; इस साधनकी यथी विधि है। श्रीविजयकृष्ण-कुलदानन्दकी ‘नाम-साधना’ परम औदार्यपूर्ण है।

श्रीविजयकृष्ण वैष्णव थे, परन्तु आधुनिक सम्प्रदायभूक वैष्णव नहीं। सनकादि ऋषि जो वैष्णव थे, विजयकृष्ण भी वही आदि सनातन वैष्णव थे। भगवान् श्रीगौराङ्ग महाप्रभु जो वैष्णव थे, विजयकृष्ण भी वही वैष्णव थे। श्रीगौराङ्गने जिस प्रकारसे ईश्वरपुरीजीसे दीक्षा प्रदेशकर तथा केशव भारतीजीसे संन्यास लेकर भी आदिवैष्णव-धर्मका पालन किया था, विजयकृष्णजीने भी वैसे ही मानससोवरनिवासी परमहंस ब्रह्मानन्दजीसे साधन-दीक्षा प्रहण करके स्वामी हरिहरानन्द सरस्वतीजीसे संन्यास लेकर सनातन वैष्णव-धर्मका ही पालन तथा पुनः प्रवर्तन किया। उनके संन्यास-श्रमका नाम स्वामी अन्युतानन्द सरस्वती है, परन्तु जगन्मे वे गोस्वामी विजयकृष्णके नामसे ही सुर्परचित हैं। मूलतः आदिवैष्णव-धर्म ही विश्वमें एकमात्र धर्म है। सब धर्म-सम्प्रदायोंके धर्म आदिवैष्णव-धर्मके अन्तर्गत हैं। कुछ साधरण बाहरी नियमोंके भेदाभेदसे ही सम्प्रशायकी सूचि हुई है। मूल साधन, चरम साधन श्रीभगवन्नामका सर्वत्र सब सम्प्रदायमें एक है। केवल प्रकार और प्रणालीका पार्थक्य है। पृथिवीके सब साधनोंके लक्ष्य सर्वेश्वर्यमय सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान् हैं। श्रीविजयकृष्ण-कुलदानन्दके साथ—अजपा-साधनका विवेषात्व ‘अप्राकृत शर्कियुक्त नाम’ का श्वाम-प्रश्वाससे जप करना है। इस साधनके साथ मुसलमान, किस्तात, नानक, बुद्धदेवकी साधन-प्रणालीका अनेकांशमें साधश देख पड़ता है। किस्तातोंके साधनमें ‘Breathe the Name of God’—यह उपदेश मिलता है। बौद्ध धर्म-शास्त्रके त्रिपिटक, विशुद्धिमार्ग आदि ग्रन्थोंमें ‘कायगता-सति’ या देहतत्त्वका अवलम्बन कर साधनप्रणालीमें ‘आनापानासति’ या श्वास-प्रश्वासमें मनःसंयोग करके साधन करनेका प्रशस्त उल्लेख है। बुद्धदेवने इस साधन-सम्बन्धमें उपदेशके आरम्भमें और अन्तमें कहा है—‘एकायनो अथं भिक्ख्यवे निवृता नस्तु’...“उच्छि किरियाय, यदिदं चत्तारो सति पट्टानो’। इत्यादि अर्थात् निर्वाणलाभके लिये

यही एकमात्र पथ है। किन्तु पार्थक्य यह है कि विदर्शन-भावनाकी जगह विजयकृष्ण-कुलदानन्दके साधनमें प्रारम्भसे ही गुरुदत्त अप्राकृतवाचिक्युक्त नाम-जप किया जाता है।

सिक्खोंके भक्ति-अन्ध 'सुखमणि'में 'नानक सो सेवक शास-शास समारै'। अर्थात् नानक कहते हैं कि वही सेवक हैं, जो श्रीमगवान्तको प्रति श्वास-प्रश्वासमें स्मरण करते हैं। 'श्वास-प्राप्ति हरिनाम समाल' अर्थात् प्रतिश्वास एवं प्रतिग्रासके साथ हरिनाम स्मरण रखना—इत्यादि वचनों-द्वारा श्वासके साथ नाम-जप करनेकी विधि नानक-पर्यायोंमें भी देख पड़ती है। मुसलमानकर्तिरोंमें भी श्वासके साथ नाम-जप करना देखा गया है।

इम साधनामें गुरु-निष्ठा

'नाम'-दाताके प्रति विश्वास न होनेसे दाताकी दी हुई वस्तु—'नाम'—में अद्वा एवं निष्ठा होनी कठिन है।

गुरुसे विषय जितना प्रेम करेगा, गुरुकी दी हुई वस्तु—'नाम'के प्रति उसका उतना ही प्रेम होगा। सदगुरु ही भगवान्, भगवान् ही सदगुरु हैं। यह सदगुरु-शक्ति समस्त विश्वमें व्याप्त है, किन्तु सर्वथ प्रकाशित नहीं है। जिसमें प्रकाश है, वही सदगुरु है; जिसका जो गुरु है, उसका वही सदगुरु है। गुरुनिष्ठा ही 'नाम'में निष्ठा या 'नामी' निष्ठा है।

ज्ञानमन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्ति
हन्त्वान्तरं गगनसदां तत्त्वमत्यदिलङ्घय ।
एकं विष्यं विमलमच्छलं सर्वधीसाक्षिमूर्तं
भावातीतं क्रियुणरहितं सदगुरुं तं नमामि ॥

गुरुदत्त 'नाम' का श्वास-प्रश्वाससे जप करना ही विजय-कृष्णकुलदानन्दकी 'नाम-साधना' है।

उदासीन-सम्प्रदायका साधन-विधान

(लेखक—ओमत परमहंसपरिक्रान्तकाचार्य उदासीनवर्य श्रीपिण्डित सामी हरिनामदासजी महाराज)

ज्ञानवैराग्ययुक्ते न भक्तियुक्ते चात्मना ।
परिपश्यत्युदासीनं प्रकृतिं च हतौजसम् ॥
(श्रीमद्भा० ३।२५।१८)

यह पुरुष ज्ञान, वैराग्य और भक्तिसे युक्त अन्तःकरणके द्वारा अपनेको उदासीन देखता है और प्रकृतिकी शक्तिको क्षीण हुई देखता है।

उदासीन-सम्प्रदायमें हस्ती लक्ष्यको सामने रखकर ध्यान-समाधि लगाते हैं। उदासीन-सम्प्रदायकी साधना तीन प्रकारकी है—चाचिक, मानसिक और कायिक।

चाचिक साधना वह है, जो वाणीसे की जाती है अर्थात् जनसाधारणके सामने की जाती है। इसका उपयोग जनताको ईश्वरके ध्यानमें ल्पाना है।

चाचिको मौन करके जो साधना मनके द्वारा की जाती है अर्थात् जिसके द्वारा जनताका ध्यान ईश्वरकी ओर आकर्षण किया जाता है, उसे मानसिक साधना कहते हैं।

स्वयं समाधि लगाकर और जनतासे लगाकर जो साधना की जाती है, उसे कायिक साधना कहते हैं।

साधनाके और भी दो भेद हैं। एक साधना वह है जो

सा० अ० ९५—

अपने-आप करनेके लिये होती है और दूसरी वह जो जन-समुदायसे करनेके लिये होती है। जो साधना अपने लिये की जाती है, उसे स्वयं-साधना कहते हैं और जो जनसमुदायके लिये की जाती है, उसे परसाधना कहते हैं। दोनोंमें ईश्वर-चिन्तन होता है। अपने लिये साधना करनेमें अपने-आपको लाभ होता है और दूसरोंके लिये करनेमें दूसरोंका लाभ है। जो साधन उदासीनमायथे अकेले बैठकर किया जाता है, उसे स्वयं-साधन कहते हैं और जिसे उदासीन सबके लिये मिलकर अथवा अकेले ही करे, उसे धर्म-साधन कहते हैं। अथवा सत्य वस्तुकी उपासना (भक्ति, ज्ञान, वैराग्य) का नाम ही सत्य-साधन है और इड प्रतिज्ञापूर्वक धर्मका पालन करना ही धर्म-साधन है।

इनके अतिरिक्त साधनका एक प्रकार और है, जो शारीरिक कष्टके साथ किया जाता है। उसे तप-साधन कहते हैं। उक्त साधनाओंमें किसी साधनमें निरन्तर लगे रहना भी तप है। इस साधनके द्वारा मनचाहा फल मिलता है।

साधनका लौकिक फल शारीरिक सुख है और पारमार्थिक फल ज्ञानकी प्राप्ति है। तभी नारदजीके पूछनेपर यमराजने कहा कि उदासीन नरकमें नहीं जाते—

ज्ञानवन्धो द्विजा ये च ये च विश्वापरक्षताः ।
उदासीना न गच्छन्ति स्वामयै च हता नशः ॥
(वाराहपुराण, नाचिकेताल्यान अ० २०७)

अर्थात् ज्ञानवान् ब्राह्मण, विद्याके पार पहुँचे हुए लोग, उदासीन तथा स्वामीके निमित्त प्राणत्याग करनेवाले नरकमें नहीं जाते ।

उपर्युक्त साधनोंका ज्ञान गुरुके उपदेश तथा सत्सङ्घसे प्राप्त होता है, तथा उदासीन संतोंकी सेवा करनेसे भी उसकी उपलब्धि होती है । तीर्थाटनसे अर्थात् तीर्थोंमें जो महामा रहते हैं, उनके सत्सङ्घसे भी महान् लाभ होता है और देश-कालका ज्ञान होकर अनुभव बढ़ता है । सत्सङ्घी पुरुषोंको सदाचारसे रहना पड़ता है—जिससे शरीर और मनकी शक्ति बढ़ती है, वीर्यकी स्थिरता होती है, ज्ञानके साथ-साथ प्रेमकी मात्रा भी बढ़ती है और साधक सांसारिक विषयोंसे उदासीन होकर आत्मशानमें रत हो जाता है । यही मोक्षका साधन है अर्थात् उदासीन लोग इसी साधनसे मोक्षकी प्राप्ति मानते हैं । लौकिक और पारमार्थिक दोनों प्रकारकी उन्नति इस साधनसे हो सकती है । इस साधनके द्वारा मनुष्य दूसरोंको भी मोक्षके मार्गमें लगा सकता है । इन साधनोंसे कई उदासीन योगाभ्यासी हो जाते हैं, जिससे जीवितावस्थामें ही चित्तकी स्थिरता हो जाती है । प्राण रोकनेसे योगाभ्यासी सिद्ध हो जाता है—जिससे बहु शारीरिक बल, धन, विद्या, बुद्धि आदिसे सम्पन्न होकर भी संसारमें जन्ममें कमलकी भाँति निलेप रहता है तथा औरेंको भी उपर्युक्त गुणोंसे सम्पन्न करता है और अन्तमें मोक्षको प्राप्तकर जन्म-भरणसे रहित हो जाता है ।

इस प्रकार उदासीन-सम्प्रदायमें साधनाका विधान सुधिके आदिरे (जबसे उदासीन-सम्प्रदाय चला है) ब्राह्मण चला आ रहा है । उदासीन-सम्प्रदाय सनातनधर्मो होनेके

कारण पञ्चदेवोपासक है; अतः किसी भी देवताकी उपासनसे उसका विरोध नहीं है । यही वेदातुकूल सनातनधर्मका पक्ष सिद्धान्त है ।

उदासीनोंमें हंस, परमहंस, कुटीचक और बहूदक—ये चार श्रेणियाँ होती हैं ।

(१) हंस उसे कहते हैं, जो पश्चात्कोंका अभ्यास संख्य करता है तथा दूसरोंको कराता है और उनके सिद्धान्तोंको समझकर भीतर ब्रह्मका अनुभव करनेकी जेष्ठा करता है ।

(२) परमहंस उसे कहते हैं, जो मरणपर्यन्त शास्त्रोंका चिन्तन और आत्माका अनुभव करनेमें लगा रहता है और धारणाकी परिपक्वतामें शरीर छोड़ता है ।

(३) कुटीचक उसे कहते हैं जो व्यावहारिक एवं पारमार्थिक दोनों प्रकारका ज्ञान रखता है, नीतिशास्त्रमें कुशल होता है और स्थानधारी होता है ।

(४) बहूदक उसे कहते हैं जो शास्त्रोंका पूर्ण ज्ञान देकर प्रश्नोत्तरके द्वारा जनतामें धर्मका प्रचार करता है, शास्त्रार्थमें कुशल होता है और मण्डली लेकर या अकेले ही देश-देशान्तरमें भ्रमण करता हुआ धर्मकी सेवा करता है ।

इनके अतिरिक्त उदासीनोंकी एक पौन्चर्ची श्रेणी भी होती है—जिन्हे 'आतुर' कहते हैं । जनताको दुखी देस्कर जो आत्मशानका उपदेश देता है, वही आतुर उदासीन है ।

उदासीनोंमें कायिक, वाचिक एवं मानविक—तीनों प्रकारके दण्डको ग्रहण करनेवाला ही विद्यषी कहलाता है तथा इनमेंसे किसी एक दण्डको स्वीकार करनेवाला एक-दण्डी कहलाता है । उदासीन-सम्प्रदायमें काष्ठदण्ड धारण करनेका नियम नहीं है । कहा भी है—

वायदण्डः कायदण्डश्च मनोदण्डश्च ये त्रयः ।

यस्येते नियता दण्डः स त्रिदण्डी उदासिनाम् ॥

(अनुभवसहानुभूति अ० २)

दूसरेके पुण्यको कौन ग्रहण करता है ?

आकृश्यमानो नाकुद्येन्मन्युरेनं तितिक्षतः । आकोष्टरं निर्वैहति सुकृतं चास्य विन्दति ॥

किसी मनुष्यके निन्दा करनेपर भी जो उसकी निन्दा नहीं करता है और उसकी निन्दाको सह लेता है, वह पुरुष निन्दा करनेवाले पुरुषको भस्म कर डालता है और उसके पुण्यको अपने आप ग्रहण कर लेता है ।

(महा० शान्ति० २९९ । १६)

वैष्णवोंकी द्वादशशुद्धि

भगवान्‌के मन्दिरकी यात्रा करनेसे, उनकी उत्सवमूर्तिका अनुमान करनेसे तथा प्रेमपूर्वक प्रदक्षिणा करनेसे दोनों चरणोंकी शुद्धि होती है। भगवान्‌की पूजाके लिये पत्र, पुस्तक, गन्ध आदिका संग्रह करना दोनों हाथोंकी सर्वश्रेष्ठ शुद्धि है। भगवान्‌के नाम और गुणोंका प्रेमपूर्वक कीर्तन करना वाणीकी शुद्धि है। भगवान्‌की लीलाकथा आदिका अवण दोनों कानोंकी शुद्धि है और उनके उत्सवका दर्शन नेहोंकी शुद्धि है। भगवान्‌के सामने शुक्रना तथा उनके चरणोंकी शुद्धि है। भगवान्‌के प्रसन्नता प्राप्त होती है।

है। भगवान्‌के प्रसादस्वरूप निर्मात्य, पुष्ट, गन्ध आदिको सूँधना दोनों नाकोंकी शुद्धि है। भगवान्‌के प्रसादस्वरूप जो कुछ होता है, वह तीनों लोकोंको शुद्ध कर सकता है। ललाटमें गदा, सिरमें धनुप और बाण, हृदयमें नन्दक, दोनों हाथोंमें शङ्ख, चक्र चिह्नित करके जो निवास करता है वह कभी अयुद्ध नहीं होता, उसकी कभी दुर्गति नहीं होती। इस द्वादशशुद्धिको जानकर जो इसका अनुष्ठान करते हैं, उन्हें भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त होती है।

स्वरोदय-साधन

(लेखक—प० श्रीनारदिक्षानन्दी वेदालङ्घार, साहित्यमनीषी ।)

हमारे प्राचीन शृंगि-सुनियोंने मनुष्यमात्रके कल्पाणार्थ जिन जिन आश्र्वयजनक और चमकारपूर्ण नानाविध शास्त्रोंकी शोध की थी, उनमेंसे एक 'स्वरोदय-विज्ञान' भी है। यह ठीक है कि अन्य शास्त्रोंकी तरह यह भी आजकल छुपप्राप्त हो चुका है, तथापि खोज करनेपर कहीं-न-कहीं इसके विशेषज्ञ मिलते अवश्य हैं। इस शास्त्रके सर्वथा पूर्ण ज्ञाता सो मिलने कठिन हैं, ऐसा हमारा अनुमान है; तथापि जो कुछ उपलब्ध हुआ है, उसपरसे भी इस शास्त्रका बहुत कुछ पुनरुद्धार हो सकता है—ऐसी हमारी मान्यता है। तिर्फ कुछ लोग इस ओर अपना ध्यान आकर्षित करते हुए शोध करनेका प्रयत्न करें तो बहुत सम्भव है कि इस शास्त्रको फिर नये सिरेसे जीता-जागता देख सकें। हमें स्वयं इस सम्बन्धमें जो कुछ पता चला है, उसका सार यहाँपर रखनेका प्रयत्न किया है। यदि यह पाठकोंको लक्षिकर और लाभप्रद हुआ तथा शोधकोंके लिये कुछ अंशोंमें मार्गदर्शक हुआ तो हम अपना प्रयत्न सफल समझेंगे।

स्वरोदय-विज्ञान अर्थात् श्वासोच्छ्वासकी गतिकाज्ञान

स्वरोदय-विज्ञानका आधार प्रत्येक मनुष्यके नसकोरों (नशुनों)से चलते हुए श्वास-प्रश्वासकी गतिपर ही है। यो तो यह बात बहुत साधारण-सी गतित होती है; परन्तु इस श्वास-प्रश्वासकी गति कितनी रहस्यपूर्ण और आश्र्वयजनक है—इस वातका पता उस समय चलता है, जब कि हम स्वरोदय-विज्ञानकी मददसे

उस ओर लक्ष्य देना शुरू करते हैं। श्वासोच्छ्वासकी शक्ति और सामर्थ्य देखकर किसीको भी आश्वर्य हुए विना नहीं रह सकता। हमारी प्रत्येक किया तथा तज्ज्यु सुख-दुःखादि द्वन्द्व, शारीरिक और मानसिक कष्ट, रोग-ज्वाधि आदि तमाम प्रकारकी आपसियाँ इनसे प्रभावित हैं। ये इनके आने-जानेका हर समय विना विलम्बके निर्देश करते रहते हैं। इनकी मददसे दुःख दूर किये जा सकते हैं और मनचारे सुख प्राप्त किये जा सकते हैं। संत्रेपमें मनुष्यके इस शारीर-स्त्री रथके सञ्चालनके ये ही सूत्रधार हैं।

श्वास-प्रश्वाससे आयुका सम्बन्ध

साधारणतया मनुष्य प्रति मिनट १३से१५ श्वास-प्रश्वास करता है। इस प्रकार एक रात-दिनमें यानी पूरे २४ घण्टोंमें उनकी संख्या २१६०० तक पहुँचती है। यह संख्या प्रति मिनट जिस प्राणीकी जितनी कम होगी, उसकी उतनी ही आयु अपेक्षाकृत ज्यादा होगी। भिन्न-भिन्न प्राणियोंकी आयु तथा प्रति मिनट श्वासोच्छ्वासकी संख्याकी तुलना करने-से यह बात स्वयमेव स्पष्ट हो जाती है। कहनेका अभिप्राय यह है कि श्वास-प्रश्वासकी संख्यापर काबू रखनेसे आयु बढ़ायी जा सकती है।

स्वर तथा उसका उदय

यह शायद बहुत योङोंको पता होगा कि हमारे शरीरमें रात-दिन अव्याहत गतिरो चलनेवाला श्वास-प्रश्वास एक ही

साथ एक ही समयमें नासिकाके दोनों नसकोरेंसे नहीं चला करता। वह क्रमशः निश्चित समयानुसार अल्प-अल्प दोनों नसकोरेंसे चला करता है। एक नसकोरेका निश्चित समय पूरा हो जानेपर वह दूसरेमें जाता है। श्वास-प्रश्वासकी इस गतिका नाम स्वर है तथा उस गतिका एक नसकोरेसे दूसरेमें जाना उसका उदय कहलाता है।

हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियोंने स्वरोदयकी इस प्रक्रियाका निश्चित रूपसे पता लगाकर उससे किस तरह आम उठाये जा सकते हैं, तथा उससे लाभ उठानेके लिये कौन-कौनसे कार्य कब और कैसे करने चाहिये—इन सब विषयोंका निश्चय किया था। तदनुसार हम हस लेखमें खास तौरपर स्वरोंके चलनेके नियम, उन्हें जाननेकी विधि, उनके चलनेकी अवधि, उनके बदलनेकी रीति, उनसे सम्बन्धित पञ्चतत्त्व, कौन-कौनसे कार्य कथ करने चाहिये, पुरुष और स्त्रीके स्वरोंमें कोई भेद है या नहीं तथा सुख-दुःख, रोग, आपत्तियाँ, कष्ट, प्रश्नोत्तरी एवं भविष्यतान आदि विषयोंपर संक्षेपसे विचार करनेका प्रयत्न करेंगे।

(१) स्वर चलनेके नियम ।

साधारणतया स्वर चलनेका नियम यह है कि शूक्रपक्षकी १, २, ३; ७, ८, ९; १३, १५—इन तिथियोंमें सूर्योदयसे लेकर अमुक निश्चित समयतक वाम नासिकासे, और इसी प्रकार ४, ५, ६; १०, ११, १२—इन ६ तिथियोंमें दक्षिण नासिकासे श्वास चलना चाहिये। और कृष्णपक्षकी १, २, ३; ७, ८, ९; १३, १४, १५—इन ६ तिथियोंमें सूर्योदयसे लेकर अमुक निश्चित समयतक दक्षिण नासिकासे और इसी प्रकार ४, ५, ६; १०, ११, १२—इन ६ तिथियोंमें वाम नासिकासे श्वास चलना चाहिये।

(२) श्वास जाननेकी विधि ।

किस समय किस नासिकासे श्वास चल रहा है, यह जानना अल्पता सुनाम है। उसे जाननेके लिये प्रथम किसी एक नसकोरेको बंद करके दूसरेसे साधारण जोरसे दो-चार बार श्वासोच्छ्वास करना चाहिये। फिर इसी तरह उसको बंद करके दूसरेसे करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे जिल नसकोरेसे श्वासोच्छ्वास करते हुए कुछ रुकावट-सी प्रतीत होती हो उसे बंद तथा दूसरेको खुला समझना चाहिये और उसीसे सौंप चल रही है, ऐसा मानना चाहिये।

(३) प्रत्येक नासिकासे श्वासोच्छ्वास होनेकी अवधि

प्रत्येक नासिका-रन्धमें स्वरोदय होनेके बाद वह साधारण-तया २३ घडीतक विद्यमान रहता है। २३ घडी (घटिका) का एक घंटा होता है। अर्थात् जब-जब श्वासोच्छ्वास बदल-कर एक नसकोरेसे दूसरेमें जायगा तब वह उसमें लगातार १ घण्टेतक रहेगा और इतनी अवधितक उसीसे चलता रहेगा।

(४) श्वासोच्छ्वासको बदलनेकी रीति ।

जब कभी किसी विशेष प्रयोजनवश इच्छानुसार नासिकाका श्वासोच्छ्वास बदलना हो तो उसके लिये सबसे सरल विधि यह है कि कुछ देरके लिये जिस ओरके नसकोरेसे श्वास चल रहा हो, उस ओरकी करवटसे लेट जाओ। थोड़ी देरमें स्वयंसे श्वासोच्छ्वास बदल जायगा। अर्थात् वाम नासिकासे श्वास चलना हो तो दक्षिण करवटसे लेटना चाहिये और दक्षिण नासिकासे श्वास चलना हो तो वाम करवटसे लेटना चाहिये।

(५) पञ्चतत्त्व ।

स्वरोदयके शानके साथ साथ पञ्चतत्त्वका शान होना अनिवार्य है। पञ्चतत्त्वके शानके बिना स्वरोदयकी बहुत-सी प्रक्रियाएँ पूर्णरूपसे न से सिद्ध ही हो सकती हैं और न उनका पता ही चल सकता है। स्वरोदयके साथ ही-साथ पञ्चतत्त्वोंका भी उदय हुआ करता है, यह बात खास ध्यान देने योग्य है। और इसीलिये पञ्चतत्त्वोंका स्वरोदयके साथ किस तरहसे उदय होता है और उन्हें कैसे जाना जाता है, इस विषयका शान प्राप्त करनेके लिये यहाँ कुछ प्रक्रियाएँ दी जाती हैं।

पञ्चतत्त्वोंका परिचय तथा ध्यान करनेकी विधियाँ ।

योगियोंने ध्यानादि विद्यों कार्यसाधनके लिये हमारे शरीरमें अनेक चक्रोंकी कल्पना की है। उन चक्रोंका विद्योप उल्लेख पाठकोंको अन्यत्र मिल सकता है, अतः विस्तारभवते हम यहाँ आवश्यक बातोंका ही संक्षेपसे उल्लेख करेंगे।

(१) पृथिवीतत्त्व—शरीरमें इस तत्त्वका निवास ‘मूलाधारचक’ (Pelvic Plexus) में है। और यह चक्र शरीरमें योनि (गुदा)के पास सीवनीमें सुषुम्नाके

मुखसे संलग्न है। सुगुणा यही प्रारम्भ होती है। प्रत्येक चक्रका आकार कमलके फूलका-सा होता है। यह चक्र 'भूः' लोकका प्रतिनिधि है। पृथिवीतत्त्वका ध्यान इसी चक्रमें किया जाता है।

पृथिवीतत्त्वका रंग पीला और आङृति चतुर्कोण होती है। इसका गुण गन्ध है और तर्दय जानेन्द्रिय नासिका तथा कर्मेन्द्रिय गुदा है। शरीरमें पाण्डु, कमल आदि रोग इसी तत्त्वके विकारसे पैदा होते हैं। यथ आदि मानसिक विकारोंमें इसी तत्त्वकी प्रधानता होती है। पृथिवीतत्त्व-जन्य विकार मूलाधारचक्रमें ध्यान शिथर करनेमें स्वयमेव शान्त हो जाते हैं।

ध्यान-विधि—एक प्रहर रात रुद्ध जानेपर शान्त स्थलमें पवित्र आसनपर दोनों पैरोंको पीछेकी ओर मोड़कर उनपर बैठ जाय। दोनों हाथ उलटे करके बुटनोंपर ऐसे रखें कि जिससे अँगुलियोंकी नोंकें पेटकी ओर रहें। तब नासाप्राणि रखते हुए मूलाधारचक्रमें—

लं-बीजं धरणीं ध्यायेष्वतुरसां सुपीतमाम् ।
सुगन्धस्वर्णवर्णवसारोदयं देहलघबम् ॥

अर्थात् 'लं' बीजवाली, चौकोण, पीली पृथिवीका ध्यान करे। इस प्रकार करनेसे नासिका सुगन्धसे भर जायगी और शरीर स्पर्शके समान कान्तिवाला हो जायगा। ध्यान करते हुए पृथिवीके उपर्युक्त तमाम गुणोंको प्रत्यक्ष करनेका प्रयत्न करना चाहिये और 'लं' बीजका जाप करते रहना चाहिये।

(२) जलतत्त्व—यह तत्त्व शरीरस्य स्वपिथितानचक्र (Hypogastric Plexus) में है। यह चक्र पेंडु अर्थात् लिङ्ग (जननेन्द्रिय)के मूलमें स्थित है। यह चक्र शरीरमें 'भुवः' लोकका प्रतिनिधि है और उसमें जलतत्त्वका निवास है।

जलतत्त्वका रङ्ग श्वेत और आङृति अर्थचन्द्राकार होती है। इसका गुण रस है और कटु, तिक्क, अम्ल, कषाय आदि तमाम रसायाद इसी तत्त्वकी वज्रहस्त होते हैं। इसकी जानेन्द्रिय जीभ और कर्मेन्द्रिय लिङ्ग है। मोहादि विकार इसी तत्त्वके परिणाम हैं।

ध्यान-विधि—पृथिवी-तत्त्वकी ध्यान-विधिमें प्रदर्शित आसनमें बैठकर—

बं-बीजं वासुं ध्यायेदध्यचन्द्रं शशिप्रभम् ।
क्षुपिपासासहितुर्वं अरमध्येषु मञ्जनम् ॥

अर्थात् 'बं' बीजवाले, अर्थचन्द्राकार चन्द्रमाकी तद्वकानिवाले जलतत्त्वका उक्त चक्रमें ध्यान करे। इससे भूख-प्यास मिटकर तहनशक्ति पैदा होगी और जलमें अव्याहत गति हो जायगी।

(३) तेज या अश्वतत्त्व-शरीरमें इसका निवासस्थान 'भिग्पूरचक्र' (Epigastric Plexus) है। यह चक्र नाभिमें स्थित है और 'भ्वः'लोकका प्रतिनिधि है।

अभितत्त्वका रंग लाल तथा गुण 'स्तूप' है। इसकी आङृति त्रिकोण है। इसकी जानेन्द्रिय आँख और कर्मेन्द्रिय पैर हैं। कोशादि विकार तथा सूजन आदिमें इस तत्त्वकी प्रधानता होती है। इस तत्त्वकी सिद्धिसे अपचनादि पेटके विकार दूर हो जाते हैं और कुण्डलिनीका जागरण सरल हो जाता है।

ध्यान-विधि—उपर्युक्त आसनमें बैठकर—

रं-बीजं शिखिन्म ध्यायेत् क्रिकोणमहृषभम् ।
बहुज्ञपानभोक्तुत्वमातपाप्निसहिष्णुता ॥

'रं' बीजवाले, त्रिकोण और अग्निके समान लाल प्रभावाले अभिका उक्त चक्रमें ध्यान करे। तत्त्व सिद्ध होनेपर अत्यन्त अश्वतत्त्व करनेकी शक्ति, अत्यन्त पीनेकी शक्ति तथा धूप और अग्निके सहन करनेकी शक्ति आ जाती है।

(४) वायुतत्त्व—यह तत्त्व 'अनाहतचक्र' (Cardiac Plexus) में स्थित है। यह चक्र हृदयप्रदेशमें स्थित है और 'भ्वः' लोकका प्रतिनिधि है।

वायुतत्त्वका रंग हरा और आङृति घट्कोण तथा गोल दोनों ही तरहकी मानी गयी है। इसका गुण स्पर्श है तथा जानेन्द्रिय तत्त्वा और कर्मेन्द्रिय हाथ हैं। वायु, दमा आदि रोग इसी तत्त्वके विकारसे पैदा होते हैं।

ध्यान-विधि—उसी पूर्वोक्त आसनमें स्थित होकर—

यं-बीजं पवनं ध्यायेद्वृत्तुलं इशमलप्रभम् ।
आकाशगमनायश्च पक्षिचक्रसमं तथा ॥

अर्थात् 'बं' बीजवाले, गोलाकार तथा हरी प्रभावाले वायुतत्त्वका उक्त चक्रमें ध्यान करे। इससे आकाशगमन तथा पक्षियोंकी तरह उड़ना आदि सिद्ध होता है।

(५) आकाशतत्त्व—यह तत्त्व 'विशुद्धचक्र' (Carotid Plexus) में स्थित है। इसका स्थान कण्ठ (गला) है। यह चक्र 'जनः' लोकका प्रतिनिधि है।

आकाशतत्त्वका रंग नीला और आङ्गुष्ठि अंडेकी तरह लम्ब-गोल है। कोई इसे निराकार भी मानते हैं। इसका गुण यादृ और जानेदिव्य कान तथा कर्मेन्द्रिय चाही है।

ध्यान-विधि—उसी तरह आसनस्थ होकर—

हं-चीजं गगनं पश्यत्विष्णुकारं बहुप्रभम् ।
ज्ञानं त्रिकालविषयमैश्वर्यमधिमादिकम् ॥

अर्थात् ‘हं’ वीजका जाप करते हुए निराकार चिन्त-विधिचत्र रंगबले आकाशका व्यान करे। इससे तीनों कालोंका ज्ञान, ऐश्वर्य तथा अणिमादि अष्टसिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

इस प्रकार इन उक्त तरीकोंसे सदत नित्यप्रति छः मासतक अभ्यास करते रहनेसे तत्त्व सिद्ध हो जाते हैं। फिर तत्त्वको पहचानना अत्यन्त आसान हो जाता है। इस ध्यानविधिके अतिरिक्त भी कुछ और तत्त्व पहचाननेके विशेष छः तरीके हैं, जिनका संक्षिप्त निर्देश आगे देते हैं।

कुछ विशेष प्रकार।

तत्त्वोंके सम्बन्धमें एक विशेष बात जो कि सर्वदा सरण रहनी चाहिये, वह यह है कि स्वरके साथ तत्त्व भी कायम-विद्यमान रहते हैं। और जवतक स्वर एक नसकोरेंमें चलता रहता है, तथतक पाँचों स्वर कमशा: एक-एक बार उदय होकर अपनी-अपनी अवधितक विद्यमान रहनेके पश्चात् अस्त हो जाते हैं।

(१) शासकी गति-प्रत्येक तत्त्वके उदयमें नसकोरेंसे चलते हुए शासकी गति बदलती रहती है और वह इस प्रकार है—

मध्ये दृष्ट्वा श्वशापश्चोर्ध्वं वहति चानलः ।
तिर्यग्वायुत्पचारश्च ननो वहति संक्षमे ॥

अर्थात् यदि नसकोरेके मध्यमें श्वास चल रहा हो तो पृथिवीतत्त्वका, यदि नीचेकी ओरसे चल रहा हो तो जल-तत्त्वका, यदि ऊपरकी ओरसे चल रहा हो तो अग्नितत्त्वका, यदि तिरछा अर्थात् एक ओर चल रहा हो तो वायुतत्त्वका, और यदि धूम-धूमकर भँड़रकी तरह चल रहा हो तो आकाशतत्त्वका उदय समझना चाहिये।

(२) आकाश-प्रत्येक तत्त्वकी अपनी-अपनी विशेष आङ्गुष्ठियाँ हैं, जिनसे कि वे आसानीसे पहचाने जा सकते हैं। यथा—

चतुरसं चार्द्धचन्द्रं त्रिकोणं वर्तुलं स्मृतम् ।
विन्दुभिस्तु नमो ज्ञेयमाकारैस्तत्त्वक्षणम् ॥

किंती एक निर्मल दर्पणको लेकर उसपर जोरसे आस छोड़नेपर यदि चौकोन आङ्गुष्ठि बने तो पृथिवीतत्त्वका, अर्धचन्द्राकार बने तो जलतत्त्वका, त्रिकोण बने तो अग्नितत्त्वका, लम्ब-गोल आङ्गुष्ठि बने तो वायुतत्त्वका और विन्दु-विन्दु-से दिखायी दें तो आकाशतत्त्वका उदय हुआ समझना चाहिये।

(३) स्थान-जैसा कि ऊपर यता आये हैं, प्रलेक तत्त्व शरीरमें विद्यमान भिन्न-भिन्न चक्रोंमें स्थित है। इन स्थानोंमें ध्यानपूर्वक देखनेसे उस समय जो तत्त्व उदय होकर विद्यमान होगा, उसका शरीरपर विशेष प्रभाव हुआ होगा।

(४) रंग-प्रत्येक तत्त्वका अपना-अपना खास रंग होता है। और जब-जब वह तत्त्व उदय होता है, तब-तब उस रंगका विशेष प्रभाव रहता है। तत्त्वोंके रंग तथा उसे देखनेकी रीति इस प्रकार है—

आपः क्षेत्राः क्षितिः पीता रक्तवर्णो हुतशानः ।
मास्तो नीसूजीमृत आकाशो भूरिवर्णकः ॥

दोनों हाथोंके दोनों अङ्गठोंसे दोनों कानोंके छिड़, दोनों अनामिकाओंमें दोनों आँखें, दोनों मध्यमाओंसे दोनों नशुने तथा दोनों तर्जनियों एवं कंठनश्चाओंसे मुख बंद करके यदि पीला रंग नजर आये तो पृथिवीतत्त्वकी, क्षेत्र रंग नजर आये तो जलतत्त्वकी, द्वारा या बादलका-सा काला रंग नजर आये तो वायुतत्त्वकी और रंग-विरंगा रंग दिखायी दें तो आकाश-तत्त्वकी उपस्थिति समझना चाहिये।

(५) प्रमाण (लंबाईका माप)—प्रत्येक तत्त्वके उदय होनेपर जिस तरह शासकी गतिमें फरक पह जाता है, उसी तरह शासका प्रमाण भी बदल जाता है। तत्त्वोंके प्रमाण तथा उनको मापनेकी विधि इस प्रकार है—

अष्टाकुम्ळं वहेद्वयुरनलं चतुरकुम्ळम् ।
हादक्षाकुम्ळमहेवं षोडशाकुम्ळवासुम् ॥

बारीक पीजी हुई रुई अथवा किंती गतेपर अस्तन बारीक धूल लेकर उसे जिस नशुनेसे सौंस चल रही हो, उसके पास धीरे-धीरे ले जाओ। जहाँपर पहले-पहले योझी-योझी रुई हिलने लगे या धूल उड़ने लगे वहाँ ठहर जाओ और उस दूरीको मापो। यदि वह दूरी १२ अंगुल है तो

पृथ्वीतत्त्वकी, १६ अंगुल है तो जलतत्त्वकी, ४ अंगुल है तो अग्रितत्त्वकी, ८ अंगुल है तो वायुतत्त्वकी और २० अंगुल है तो आकाशतत्त्वकी उपस्थिति समझनी चाहिये।

(६) स्वाद—प्रत्येक तत्त्वका अपना-अपना विशेष स्वाद होता है। यह स्वाद उस-उस तत्त्वकी उपस्थितिमें जीभद्वारा अनुभव किया जा सकता है। यथा—

मधुर्यं मधुरं स्वादु कथायं जलमेव च ।

तिकं तेजो वायुरम्ल आकाशः कटुकस्तथा ॥

अर्थात् यदि मुखमें मीठा स्वाद जान पड़े तो पृथ्वी-तत्त्वकी, कर्सेला स्वाद जान पड़े तो जलतत्त्वकी, कड़वा स्वाद जान पड़े तो अग्रितत्त्वकी, खड़ा स्वाद जान पड़े तो वायुतत्त्वकी और तीखा स्वाद जान पड़े तो आकाशतत्त्वकी उपस्थिति जाननी चाहिये।

(६) तत्त्वोंकी अवधि

प्रत्येक तत्त्व उदय होकर कितनी देरतक विद्यमान रहता है, इसकी अवधि इस प्रकार है—

उदय होकर विद्यमान रहनेकी अवधि—		
तत्त्वका नाम	पल	मिनट
१. पृथ्वी	५०	२०
२. जल	४०	१६
३. तेज (अग्रि)	३०	१२
४. वायु	२०	८
५. आकाश	१०	४
संघर्षोग	१५० (२५ घंटी)	६० (१घंटा)

ऊपर दिये गये पल, मिनट आदिका पैमाना इस प्रकार है—

६ श्वासोच्छ्वास =	१ पल	= २४ सेकंड
६० पल	= १ घटिका (घंटी)	= २४ मिनट
२५ घटिका	= १ घंटा	= ६० मिनट
६० घटिका	= १ रात-दिन (अहोरात्र)	= २४ घंटे

तत्त्वोंके सम्बन्धमें अवश्यक जो कुछ वर्णन किया गया है उतका आसानीसे ख्याल आ सके, एतदर्थे हम नीचे तत्त्व-दर्शक तालिका देते हैं।

तत्त्व-दर्शक तालिका

तत्त्वका नाम	स्थान	आकृति	गुण	रंग	स्वाद	बीज	श्वासकी गति	श्वासका प्रमाण	समय
								पल	मिनट
१. पृथ्वी	मूलाधारचक्र	चतुष्कोण	गन्ध	पीला	मधुर	लं	नसकोरेके मध्य	१२ अंगुल	५० २०
२. जल	स्वाधिश्चानचक्र	अर्धचन्द्राकार	रस	भैत	कर्सेला	वं	नसकोरेके निचले	१६ अंगुल	४० १६
३. तेज	मणिपूरचक्र	त्रिकोण	स्वप	लाल	तीव्रा	रं	नसकोरेके ऊपरके	४ अंगुल	३० १२
४. वायु	अनाहतचक्र	पट्टकोण और सर्वा गोल	हरा या सेवर्वर्ण	खड़ा	यं	नसकोरेके एक किनारे	८ अंगुल	२० ८	
५. आकाश	विशुद्ध-चक्र	अण्डाकार गोल शब्द	रंग-विरंगा कड़वा	हं	आवर्त		२० अंगुल	१० ५	

स्वर तथा कार्य

इम जो कुछ आवश्यक कार्य करते हैं, उनमें प्रथमः आज-कल चाहिये उतनी सफलता प्राप्त नहीं होती। यदि वे कार्य असुक निश्चित स्वरकी उपस्थितिमें किये जायें तो दूर्जन्या उनमें सफलता हासिल होती है। स्वरोदयशास्त्रका यह विभाग सर्वसाधारणके लिये बहुत ही उपयोगी है।

हमारा स्वर मुख्यतया वाम तथा दक्षिण नभुनोंसे ही

चला करता है, पर कभी-कभी वह सुषुम्नासे भी चलता है।

अतः हमारे तमाम कार्य इन तीन विभागोंमें बाँटे गये हैं। प्रत्येक स्वरके साथ तत्त्वोंका गाढ़ सम्बन्ध है, यह हम पहले देख आये हैं। अतः असुक कार्यके लिये जहाँ असुक स्वर चाहिये, वहाँ उस स्वरके साथ असुक निश्चित तत्त्व भी होना चाहिये। अन्यथा कभी-कभी कार्यमें सफलता प्राप्त होनेके बदले उलटा ही परिणाम होता है। तथापि इस सम्बन्धमें

साधारण नियम यह है कि प्रायः तमाम स्थिर व अच्छे कार्य पृथ्वी और जलतत्त्वकी उपस्थितिमें ही करने चाहिये । अब हम आये एक कोष्ठक देते हैं, जिससे पता चलेगा कि किन कार्योंके लिये कौनसे स्वर, तत्त्व तथा बार होने चाहिये । विस्तारभूमि से यहाँपर खिर्के कार्योंके नाम ही गिराये गये हैं ।

कार्यका नाम स्वरका नाम तत्त्वका नाम	बार	सोम, बुध,	२३. दाढ़ान्नाम्यास, दीक्षा
१. शान्तिकर्म वाम स्वर	पृथ्वी, जल	या दोनों	आदि दक्षिण स्वर पृथ्वी, जल
२. पौष्टिक कर्म	”	”	२४. सङ्कीर्ति ” ” ”
३. मैत्रीकरण	”	”	२५. सवारी ” ” ”
४. प्रभुदर्शन	”	”	२६. वैशायाम ” ” ”
५. योगाभ्यास	”	”	२७. नौकारोहण ” ” ”
६. दिव्यौषधिसेवन	”	”	२८. यन्त्र, तन्त्ररचना ” ” ”
७. रसायनकर्म	”	”	२९. पहाड़ वा किलोपर-
८. आनुषष्ठ पहनना ”	”	”	चटना ” ” ”
९. नवीन वस्त्र			३०. विषय-भोग ” ” ”
पहनना ”	”	”	३१. युद्ध ” ” ”
१०. विवाह ”	”	”	३२. पशु-पश्चीका क्रय-विक्रय ” ” ”
११. दरन ”	”	”	३३. काटना-छाँड़ना ” ” ”
१२. आथर्म-प्रवेश ”	”	”	३४. कठोर यौगिक साधना ” ” ”
१३. मकान बनवाना ”	”	”	३५. राजदर्शन ” ” ”
१४. जलाशय ”	”	”	३६. विवाद ” ” ”
१५. वाग-बारीचा			३७. किसीके समीप जाना ” ” ”
लावाना ”	”	”	३८. स्नान ” ” ”
१६. यज्ञ ”	”	”	३९. भोजन ” ” ”
१७. वन्धु, बान्धव,			४०. पत्रादि लेखनकार्य ” ” ”
मित्रादिसे मिलना ”	”	”	४१. ध्यान-धारणा आदि
१८. ग्राम या शहर			परमात्म-र्चनन-
बसाना ”	”	”	सम्बन्धी कार्य सुषुम्णा X X
१९. दूरगमन, यदि			
दक्षिण या पश्चिम			ऊपरकी तालिका अत्यन्त संक्षिप्त है । उसमें खिर्के कार्योंके नामोंका ही निर्देश किया गया है, उनका विस्तार करने जाँये तो एक खासी पुस्तक तैयार हो जाती है । अतः इतनेसे ही आशा है पाठक सन्तोष मानकर क्षमा प्रदान करेंगे ।
दिशामें जाना हो तो ”	”	”	
२०. पानी पीना,			
पेशव जाना ”	”	”	
२१. कठिन और कूर			
किया दक्षिण स्वर ”	”	मङ्गल, शनि या रवि	
२२. शास्त्राभ्यास	”	”	

२३. दाढ़ान्नाम्यास, दीक्षा	आदि दक्षिण स्वर पृथ्वी, जल	मङ्गल, शनि या रवि
२४. सङ्कीर्ति ” ” ”	” ” ”	” ” ”
२५. सवारी ” ” ”	” ” ”	” ” ”
२६. वैशायाम ” ” ”	” ” ”	” ” ”
२७. नौकारोहण ” ” ”	” ” ”	” ” ”
२८. यन्त्र, तन्त्ररचना ” ” ”	” ” ”	” ” ”
२९. पहाड़ वा किलोपर-		
चटना ” ” ”		
३०. विषय-भोग ” ” ”		
३१. युद्ध ” ” ”		
३२. पशु-पश्चीका क्रय-विक्रय ” ” ”		
३३. काटना-छाँड़ना ” ” ”		
३४. कठोर यौगिक साधना ” ” ”		
३५. राजदर्शन ” ” ”		
३६. विवाद ” ” ”		
३७. किसीके समीप जाना ” ” ”		
३८. स्नान ” ” ”		
३९. भोजन ” ” ”		
४०. पत्रादि लेखनकार्य ” ” ”		
४१. ध्यान-धारणा आदि		
परमात्म-र्चनन-		
सम्बन्धी कार्य सुषुम्णा X X		

अपरकी तालिका अत्यन्त संक्षिप्त है । उसमें खिर्के कार्योंके नामोंका ही निर्देश किया गया है, उनका विस्तार करने जाँये तो एक खासी पुस्तक तैयार हो जाती है । अतः इतनेसे ही आशा है पाठक सन्तोष मानकर क्षमा प्रदान करेंगे ।

अपर जो-जो कार्य दक्षिण स्वर तथा पृथ्वी या जल-तत्त्वकी उपस्थितिमें करने योग्य बताये गये हैं, वे बजाय पृथ्वी या जलतत्त्वकी अग्नि और वायुतत्त्वकी उपस्थितिमें भी किये जा सकते हैं—ऐसा भी एक पक्ष है । परन्तु सुषुम्णाकी उपस्थितिमें उपरिनिर्दिष्ट कार्य भूलकर भी नहीं करने चाहिये, अन्यथा विपरीत फल होगा ।

कुछ कार्योंकी विशेष विधियाँ

हम नीचे दो-चार कार्योंकी विशेष विधियाँ देते हैं । आशा है, उनसे सर्वसाधारण जनताको विशेष लाभ पहुँचेगा और स्वेदयशाल्की महत्ता ज्ञात हो सकेगी ।

(१) कार्यसिद्धिकरण

जब कभी किसीसे कोई मनमाना कार्य करवाना हो या किसीको अपने पक्षमें मनवा लेना हो या कोई भी ऐसा अभीष्ट कार्य सिद्ध करना हो, तो जानेके समय जिस ओरकी साँस चल रही हो उसी ओरका पैर प्रथम उठाकर उससे प्रश्ना शुरू करना चाहिए; परन्तु निकलनेके समय लिंग पृथ्वी या जलतत्त्व या दोनोंका सङ्गम ही होना चाहिये। फिर जहाँ जाना हो, वहाँ पहुँचकर जिसपे काम लेना हो, उसे उस समय अपना जिस ओरका श्वास चल रहा हो, उस ओर रखकर बातचीत प्रारम्भ करनी चाहिये। आपको आशर्य होगा कि आपका यदि विरोधी भी हुआ तब भी आपके इच्छानुसार कार्य करेगा। यह विवि एक उत्तम वशीकरण है, इस विधिका नियमिति कार्योंमें उपयोग करनेसे मनमानी सफलता हासिल होती है—

(१) नौकरीकी उम्मेदवारीके लिये जाना, (२) मुकदमेमें वादी, प्रतिवादी या साक्षीके तौरपर जाना, (३) अपने स्वामी, अपसर, हाकिम आदिके पास मुलाकात आदिके लिये जाना—इत्यादि ।

१. ऋतुस्थावसे लेकर	४४ी रात्रिमें गर्भ रहनेसे	अल्यायु तथा दर्शको पुत्र पैदा होता है
२. " "	६८ी "	साधारण आसुवाला पुत्र " "
३. " "	८८ी "	ऐश्वर्यशाली पुत्र " "
४. " "	१०८ी "	चतुर पुत्र " "
५. " "	१२८ी "	उत्तम पुत्र " "
६. " "	१४८ी "	उत्तम गुणधर्मपन्न पुत्र " "
७. " "	१६८ी "	सर्वगुणसम्पन्न पुत्र " "

(८) पुत्री उत्पन्न करना—पुत्री पैदा करनेके लिये नीचे दी गयी किसी रात्रिमें जब कि पुरुषकी वाम नासिका और स्त्रीकी दक्षिण नासिका चल रही हो तथा जलतत्त्व या पृथ्वी-जलका संयोग हो, तब गर्भाधान करनेसे कन्या उत्पन्न होती है। राते तथा रातोंका फल इस प्रकार है—

१. ऋतुस्थावसे लेकर	५८ी रात्रिमें गर्भ रहनेसे	उत्पन्न कन्या पुत्रवती होती है
२. " "	७८ी "	,, वन्ध्या "
३. " "	९८ी "	,, ऐश्वर्यवती "
४. " "	११८ी "	,, दुष्करिता "
५. " "	१३८ी "	,, वर्णसङ्कर सन्तति उत्पन्न करनेवाली होती है
६. " "	१५८ी "	,, सौभाग्यवती, राजपती होती है

(२) गर्भाधान

आगे कुछ संक्षेप विधियाँ देते हैं जिससे वन्ध्याको सन्तति होना, इच्छानुसार पुत्र-पुत्रीका उत्पन्न होना आदि कार्य सम्बन्ध किये जा सकते हैं।

(क) पुत्र उत्पन्न करना—साधारणतया छोड़के श्रृङ्खलती होनेके चारों दिनसे लेकर १६ वें दिनतकका समय गर्भाधानके लिये उत्तम समझा जाता है। परन्तु इसमें भी गर्भाधानके लिये उत्तरोत्तर दिन उत्कृष्ट माने जाते हैं और प्रथम ३ रातें, अष्टमी, एकादशी, त्रयोदशी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावास्या सर्वथा वर्ज्य हैं।

पुत्र तथा पुत्रीके गर्भाधानके लिये रात्रिके साथ-साथ स्वर और तत्त्व विशेषप्रस्तुपसे मुख्य हैं। अतः पुत्रकी इच्छा रखनेवालेको नीचे दिये गये कोष्ठकमें से कोईसी रात्रि प्रसंद करके जब पुरुषकी दक्षिण नासिका और छोड़ीकी वाम नासिका चल रही हो तथा पृथ्वीतत्त्व या पृथ्वी-जलका संयोग हो, तब गर्भाधान करना चाहिये। पुत्र उत्पन्न करनेकी राते तथा उनका फल इस प्रकार हैं—

(३) वन्धुके सन्तति

चाहे दिन हो या रात, अगर सुषुमा नाड़ी चलने लगे अथवा सूर्यनाड़ी (दक्षिण स्वर) चल रही हो और अभित्तका उदय हुआ हो तो गर्भाधान करनेके कन्धा भी सन्तानबती हो जाती है।

(४) भाग्योदय

जिनको अपना भाग्योदय करनेकी अभिलाषा हो, उन्हे निम्नलिखित कुछ नियम पालन करने चाहिये । इन नियमोंके अनुसार चलनेसे बुरे दिन खुद-बखुद दूर भगवान् आते हैं ।

(क) रोज कम-से-कम आध घंटा सूर्योदयसे पूर्व उठना चाहिए।

(ख) सबेरे उठनेके समय विस्तरेयर और्खे खुलते ही जिस ओरकी नाकसे सॉस चल रही हो, उस ओरका हाथ मुख्यपर फेरकर बैठ जाय । तब खाइसे उतरते हुए उसी ओरका पैर पहले-पहल जमीनपर रखकर उठाये । इस प्रकार नित्यप्रति आचरण करनेवाला सर्वदा मुखी बना रहता है ।

(५) आग बुझाना

पाठकोंको यह पढ़कर आश्रम्य होगा कि स्वरकी मददसे बड़ी-बड़ी आग भी आसानीसे बुझायी जा सकती है। स्वरकी मददसे आग बुझानेका तरीका इस प्रकार है—

कहींपर भी आग लगानेपर जिस ओर पवनकी गतिसे आग वढ़ रही हो, उस ओर पानीका पात्र लेकर खड़ा हो जाय; फिर जिसनयुनेसे सौंस चल रही हो, उससे स्वास अंदर खांचते हुए उसी नशुनेसे थोड़ा-सा पानी पीये। तब उस जलपारमें अज्ञालिमें उ रसी पानी लेकर आगपर छिड़के। थोड़ी ही देरमें आग आगे न बढ़ती हूँ वहीं बुझ जायगी।

मृत्यु, रोग तथा आपत्तिका पूर्वज्ञान तथा उपाय ।

यह पहले बता आये हैं कि स्वरके चलनेका समय तथा दिन निश्चित हैं। परन्तु जब कभी कोई शुम-अशुम परिणाम होनेवाला होता है तो स्वरके समय तथा दिनमें परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन दो तरहसे होता है। (१) उम्रद्वारा स्वर चलना अर्थात् जिस दिन वाम स्वर चलना चाहिए, उस दिन दक्षिण चले और जिस दिन दक्षिण चलना

चाहिये, उस दिन वाम चले । (२) इसी प्रकार जिनने समयतक वाम और दक्षिण स्वर चलने चाहिये, उतनी देर-तक वे न चलकर निश्चित समयकी अपेक्षा कम या ज्यादा देरतक चले ।

उक्त परिवर्तनोंके शास्त्राभ फल

(क) दिनोंमें परिवर्तन—

(१) यदि शुद्धप्रकृती की प्रतिपदाकों वाम स्तर न चल-
कर दक्षिण चले तो पूर्णिमातक गर्मीसे काई रंग होगा या
कलह वा हासिकी सम्भावना होगी ।

(२) इसी प्रकार यदि कृष्णपक्षकी प्रतिपदाको दर्शण स्वर न चलकर वाम चले तो अमावास्यातक सर्दीसे रोग या हानि आदि कष्टोंकी सम्भावना होगी ।

(३) यदि इसी प्रकार लगातार दो पक्षतक उलटे स्वर चलते रहें तो आपने रवि विद्यों आपत्ति आनेकी या प्रियजन-की भारी बीमारीकी अथवा उसकी मृत्युकी सम्भाचना होगी ।

(४) यदि तीन पक्ष लगातार एका होता रहे तो अपनी मृत्युको निकट समझना चाहिये।

(५) यदि सिर्फ ३ दिन ऐसा हो तो कलह या रोगकी सम्भावना होगी ।

(६) यदि ल्यातार एक मास वाम स्वर विपरीत चले तो मध्यारेगकी सम्भावना होगी ।

(ख) समयमें परिवर्तन—

यदि स्वरके समयमें परिवर्तन यानी घट-घट हो तो उससे निम्नलिखित शुभाशुभ फल होते हैं । सदा शुभ फल याम स्वरके परिवर्तनसे तथा अशुभ फल दोनों स्थरोंके परिवर्तनसे हुआ करते हैं, यह बात खास ध्यानमें रखने योग्य है ।

शुभ फल

- | | |
|----|---|
| १. | चन्द्रस्वर लगातार ४ घड़ी चले तो किसी अचिन्त्य
वस्तुकी प्राप्ति होगी। |
| २. | " " ८ " , सुखादिकी प्राप्ति
होती है। |
| ३. | " " १४ " , प्रेम, मैत्री आदि
प्राप्त होते हैं। |
| ४. | " , एक अद्वैत चलता रहे तो ऐश्वर्य,
बैमव आदिकी प्राप्ति होती है। |

५. यदि २ दिनतक आये-आवे प्रहर दोनों स्वर चलते रहें तो यश और सीमात्यकी बुद्धि होती है।
६. यदि दिनमें चन्द्र और रातमें सूर्यस्वर कायम चलते रहें तो १२० वर्षकी आयु होती है।
७. यदि ४, ८, १२ या २० दिनतक रात दिन चन्द्रस्वर चलता रहे तो बड़ी आयु तथा ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं।

अशुभ फल

दामस्वर—यदि वाम स्वर लगातार १० घण्टी चलता रहे तो शरीरमें कष होता है।

- ” ” ” १२ घण्टी चलता रहे तो अनेक शान्ति पैदा होते हैं।
 - ” ” ” ३, २ या १ दिन चलता रहे तो रोग होते हैं।
 - ” ” ” ५ दिनतक चलता रहे तो उद्गग पैदा होता है।
 - ” ” ” १ मासतक चलता रहे तो धनका नाश होता है।
- मूर्यस्वर—यदि दक्षिण स्वर लगातार ४ घण्टीतक चलता रहे तो कुछ विगाइ या वस्तुहानि होती है।
- ” ” ” २ घण्टीतक चलता रहे तो सज्जनसे द्रोग होता है।
 - ” ” ” २५ घण्टीतक चलता रहे तो सज्जनका विनाश होता है।
 - ” ” ” रात-दिन चलता रहे तो आयु क्षीण होकर मृत्यु होती है।

मृत्युका ज्ञान

स्वरकी सहायता से दोग आयु या मृत्युका समय जाननेके बहुतमें तरीके हैं, जिनका संक्षेपसे निम्नेश इस प्रकार है—

१. यदि ८ प्रहरतक दक्षिणस्वर विना बदले चलता रहे तो ३ वर्षके बाद मृत्यु होती है।
२. ” १६ ” २ वर्षके ” ” ”
३. ” ३ दिन ३ रात १ वर्षके ” ” ”
४. ” दिनमें सूर्यस्वर और रातमें चन्द्रस्वर एक मासतक लगातार चलते रहें तो ६ मासमें मृत्यु होती है।
५. ” २० अहोरात्र सिर्फ दक्षिण स्वर चले तो ३ मासमें मृत्यु होती है।

६. ” ५ घण्टी सुषुम्ना चलकर न बदले तो उसी समय मृत्यु हो जाती है।
७. जो व्यक्ति अपनी नाक नहीं देख सकता, वह ३ दिनमें मर जाता है।
८. स्नानके बाद जिसके द्वदय, पैर और कपाल सूख जाते हैं, वह ३ मासमें मर जाता है।
९. विना कारणके मोटा आदमी पतला हो जाय या पतला मोटा हो जाय तो १ मासमें मृत्यु होती है।

इसी प्रकार अन्य भी बहुतसे तरीके हैं जिनसे मृत्युका बहुतसे पता चल जाता है परन्तु वे विस्तारभयसे यहाँपर नहीं दिये गये। इस विषयमें एक बात और भी व्याप्तमें रखनी चाहिये कि उपर्युक्त सब-के सब चिह्न हरेकमें प्रकट नहीं होते हैं। इनमेंसे कोई किसीमें तो कोई किसीमें, इस प्रकार प्रकट होते हैं। परन्तु निम्नलिखित दो चिह्न तो हरेकमें प्रकट होते हैं।

(१) दाहिने हाथकी मुँही बाँधकर नाकके ठीक सीधमें कपालपर रखकर नीचेकी ओर उसी हाथकी कोहनीतक देखनेसे हाथ बहुत ही पतला नजर आता है। अब इस प्रकार देखनेसे जिस रोज हाथकी कलाई नजर न आये और हाथसे मुँही अलग प्रतीत होने लगे, उस दिनसे सिर्फ ६ मास आयु शेष रह गयी है—ऐसा निःसन्देह समझना चाहिये।

(२) आँखें बंद करके अँगुलीसे आँखका एक किनारा देखनेसे आँखके भीतर चमकता हुआ तारा नजर आयगा। जिस दिन यह तारा दीखना बंद हो जाय, उस दिनसे सिर्फ १० दिनमें मृत्यु हो जाती है।

रोगका ज्ञान तथा प्रतीकार

नासिकाके स्वर निश्चित तिथि और समयके अनुसार न चलें तब शरीरमें रोग उत्पन्न होते हैं, इस सम्बन्धमें कुछ निश्चित वाते हम ऊपर दे आये हैं। उनके अनुसार जब शरीरमें गलतीसे रोग हो जायें तो स्वरोंको ठीक-ठीक चलानेसे वे रोग दूर हो जाते हैं। इस सम्बन्धमें कुछ रोग तथा उनके निश्चित उपाय नीचे दिये जाते हैं।

(१) बुस्तर—जब शरीरमें हरापत प्रतीत हो, तब जो स्वर चल रहा हो, उसे जितने दिन शरीर पूर्णरूपसे स्वस्थ न प्रतीत हो, उतने दिन बंद रखना चाहिये। नधुनोंमें नरम रुई रख देनेसे अपीष स्वर बंद किया जा सकता है।

(२) सिंदर्दं-सिंदर्दं मालूम होते ही सीधा लेटकर दोनों हाथोंको नीचेकी ओर लंबा फैला दे । फिर किसीसे दोनों हाथोंकी कोहनियोंको रस्तीसे जोरसे बैंधवा ले । ऐसा करनेसे ५-७ मिनटमें तमाम दर्द काफूर हो जायगा । दर्द मिटानेपर रस्ती खोल दे ।

यदि आधारीसी हो तो उस हालतमें जिस ओरका सिर दुखता हो, सिर्फ उसी ओरका हाथ बाँधना चाहिये । उस हालतमें दोनों हाथ बाँधनेकी जरूरत नहीं । यदि दूसरे दिन फिर आधारीसीकी दर्द मालूम हो और पहले दिन जो स्वर चल रहा था, वही दूसरे रोज भी चलता हो तो हाथ बाँधनेके साथ-साथ वह स्वर भी बंद कर देना चाहिये ।

(३) अजीर्ण या बदहत्रासी—जिन्हें कायम बदहत्रासी रहती हो, उन्हें चाहिये कि वे सर्वदा दक्षिण स्वरकी उपस्थितिमें भोजन किया करें । इस प्रकार करनेसे धीरंधीरे पहलेका अजीर्ण मिट जायगा तथा पाचनशक्ति बढ़नेसे खाया हुआ तमाम अन्न एूणूल्पसे पचता रहेगा । भोजनके पश्चात् १५-२० मिनट बायाँ करवट लेटते रहनेसे विशेष जलदी लाभ हो सकता है ।

पुराना अपचन मिटानेके लिये एक और भी उपाय है । वह यह है कि रोज १०-१५ मिनट पक्कासनसे बैठकर नाभिपर हृषि स्थिर करनेसे सिर्फ एक ही सप्ताहमें अपचनकी शिकायत दूर हो जाती है ।

(४) हिलते दाँत बंद करना—जिनके दाँत हिलते रहते हों या दुःखते रहते हों, उन्हें चाहिये कि वे शीत तथा पेशानके समय अपने दाँतोंको जोरसे दबाये रखें । ऐसा करनेसे दाँतोंकी शिकायत दूर हो जाती है ।

(५) अन्न दर्द-छाती, पीठ, कमर, पेट आदि कहींपर भी एकदम दर्द उठनेपर जो स्वर चलता हो, उसे सहसा पूर्ण बंद कर देनेसे कैसा भी दर्द होगा फौरन शान्त हो जायगा ।

(६) दमा-जब दमेका दौरा शुरू होने लगे, और साँस छूटने लगे तब जो स्वर चल रहा हो, उसे एकदम बंद कर दे । इससे १०-१५ मिनटमें ही आराम होता हुआ नजर आयेगा । इस रोगका जड़से नाश करनेके लिये लगातार एक मासतक चलते हुए स्वरको बंद करके दूसरा चलानेका अभ्यास नियतप्रति जितना ज्यादा हो सके उतना करते रहनेसे दमा नष्ट हो जाता है । इस सम्बन्धमें जितना भी

अधिक स्वर बदलनेका अभ्यास किया जायगा, उतना अधिक और शीघ्र लाभ हो सकेगा ।

कुछ अन्य उपयोगी उपचार

(१) परिश्रमसे उत्पन्न थकावट दूर करनेके लिये या धूपकी गरमीसे शान्त होनेके लिये घोड़ी देरतक दाहिनी करवटसे लेटनेसे यकावट या गरमी दूर हो जाती है ।

(२) रोज खाना खानेके बाद लकड़ीकी कंचीसे बाल संधारनेसे सिरके रोग तथा बायुरोग मिटते हैं और बाल जलदी नहीं पकते ।

(३) रोज आध बंदा पक्कासनसे बैठकर दाँतोंकी जड़में जीभका अग्रभाग जमाये रखनेसे कोई भी रोग नहीं होता और स्वास्थ्य उत्तम बना रहता है ।

(४) रोज आध बंदा सिद्धासनसे बैठकर नाभिपर दृष्टि जमानेसे स्वप्नदोष सर्वथा नष्ट हो जाता है । ६ मासतक लगातार इस तरह अभ्यास करनेसे भयझर-में-भयझर स्वप्न-दोष भी सर्वथा दूर हो जाता है ।

(५) सबेरे आँखें खुलते ही जिस ओरका स्वर चल रहा हो, उस ओरकी हथेली भुखपर रखकर उसी ओरका पैर प्रथम जमीनपर रखनेसे इच्छामिद्धि होती है ।

(६) जिन्हें विशेष अजीर्ण रहता हो, वे सभेमें कुछ भी खानेसे पूर्व बानके पत्तेमें १० तक काली मिन्नें धीरंधीरे चचाते हुए स्थाय় । १५-२० रोज इस प्रकार करनेसे अजीर्ण सर्वथा दूर हो जाता है ।

(७) कून साफ करनेकी विधि—यदि किमी कारण कून विगड़ गया हो और शरीरमें कूनके विकारसे फोड़ा-फूंसी निकल आये हों तो कुछ दिन नियमपूर्वक शीतली कूमार करनेसे सरक साफ होकर नमरोग नष्ट हो जाते हैं ।

(८) जवानी टिकाये गवानेका उपाय—इसके लिये हच्छा-नुसार स्वर बदलनेका अभ्यास करना चाहिये । इसमें जब भी समय मिले, जो स्वर चल रहा हो उसे फौरन बदलनेका प्रयत्न करना चाहिये । इस प्रकार दिनमें कई बार स्वर बदलते रहनेसे चिरबौवन प्राप्त होता है । इस क्रियाके साथ-साथ यदि प्रातः-सायं विपरीतकरणी सुदूर भी की जाय तो अकश्मनीय लाभ होता है ।

(९) दीर्घायु प्राप्त करनेका उपाय—प्राप्त: सॉसकी साधारण गरिमेंका प्रमाण बाहर जाते हुए १२ अंगुल

होता है तथा अंदर आते हुए १० अंगुल होता है। स्वास को एक बार अंदर जाकर बाहर आनेतक साधारण अवस्था में कुल ४ सेकंड लगते हैं। इस समय तथा गतिके प्रमाण को कम करनेसे मनुष्य दीर्घायु हो सकता है। धातुदौर्बल्य आदि शीमारीवालेकी सॉस्की गतिका प्रमाण अधिक तथा समय कम लगता है। मनुष्यकी भिन्न-भिन्न कियाओंमें उसकी सॉस्की गतिका प्रमाण कितना हुआ करता है, वह नीचे दिया है—

१. स्वासकी स्वाभाविक गति जो १२ अंगुलमें बढ़ाकर ११ तक लगता है, उसके प्राण स्थिर हो जाते हैं।

२.	”	”	”	”	”	१०	”	”	उसे महा अनन्द प्राप्त होता है।
३.	”	”	”	”	”	१	”	”	उसमें कवित्यकि आती है।
४.	”	”	”	”	”	८	”	”	उसे वाक्सिद्धि होती है।
५.	”	”	”	”	”	७	”	”	उसे दूरदृष्टि प्राप्त होती है।
६.	”	”	”	”	”	६	”	”	वह आकाशमें उड़ सकता है।
७.	”	”	”	”	”	५	”	”	उसमें प्रचाण्ड वेग आता है।
८.	”	”	”	”	”	४	”	”	उसे सब लिदियाँ प्राप्त होती हैं।
९.	”	”	”	”	”	३	”	”	उसे नवनिधियाँ प्राप्त होती हैं।
१०.	”	”	”	”	”	२	”	”	वह अनेक लप्त धारण कर सकता है।
११.	”	”	”	”	”	१	”	”	वह अदृश्य हो सकता है।
१२.	”	”	”	”	”	”	”	”	प्राणकी गतिका प्रमाण ऐसे नवाय-जितना रह जाता है, उसे यमराज भी नहीं खा सकता अर्थात् वह अमर बन जाता है।

स्त्री और स्वरोदयशास्त्र

कुछ लोगोंके मनमें साधारणतया यह शङ्का पैदा हो जाती है कि स्वरोदय-विज्ञानके विधान स्त्री-पुरुष दोनोंके लिये समानरूपसे हैं या अलग-अलग। हम शङ्काके उठनेका बहु कारण यह है कि स्त्री पुरुषका वामाङ्ग समझी जाती है और उसमें वामाङ्ग प्रथान भी रहता है।

शरीरकी रचनाकी दृष्टिसे चाहे स्त्री पुरुषसे भिन्न हो, परन्तु स्वर-विज्ञानकी दृष्टिसे स्त्री-पुरुष दोनोंके लिये सर-सम्बन्धी तमाम नियम समानरूपसे ही लागू होते हैं। अर्थात् उपर्युक्त तमाम वर्णन स्त्री-पुरुषके लिये एक-सा ही समझना चाहिये। स्त्री-पुरुषका मेंद स्वरकी दृष्टिसे नहीं है, अपितु अमुक शारीरिक रचनाकी बजहसे ही—ऐसा समझकर सब कार्य करने चाहिये।

इस स्थितिमें परमात्माने पुरुषको सूर्यका प्रतिनिधि तथा

१. गाते हुए स्वासकी गतिका प्रमाण १६ अंगुल होता है।
 २. खाते हुए ” ” ” ” २० ” ”
 ३. चलते हुए ” ” ” ” २४ ” ”
 ४. सोते हुए ” ” ” ” ३० ” ”
 ५. मैथुन करते हुए ” ” ” ” ३६ ” ”
 ६. व्यायामादि कठिन परिश्रम करते हुए स्वासकी गतिका प्रमाण इन सबसे ज्यादा बड़ा होता है। जो मनुष्य स्वासकी उक्त स्वाभाविक गतिके प्रमाणको जितना-जितना पठा सकता है, वह उतना अमीं आयुको बढ़ाता जाता है। इस विषयकी विदेश तालिका नीचे देते हैं—

स्त्रीको चन्द्रका प्रतिनिधि बनाया है। अतः पुरुषमें सूर्यप्रधान गुण रहते हैं तथा उन्हींचन्द्रप्रधान। स्वरोदयविज्ञानकी दृष्टिप्रेरित इसे हम यों कह सकते हैं कि जब पुरुषकी चन्द्रनाडी चल रही होती है, तब उसमें सूर्यप्रधान गुणोंका प्रावल्य चन्द्रनाडीके प्रभावसे कुछ दृढ़का (mild) हो जाता है। परन्तु जब सूर्यनाडी चलने लगती है, तब उन्हें पूर्ण बल प्राप्त होनेसे वे उग्र स्वरूप (aggressive form) को प्राप्त करते हैं। ठीक इसी प्रकार स्त्रीकी नाडियोंका हाल है। जब स्त्री-की चन्द्रनाडी चल रही हो, तब समझना चाहिये कि उसमें स्त्रील्यके गुण पूर्ण अवस्थामें पहुँचे हुए हैं। और जब उसकी सूर्यनाडी चल रही हो, तब समझना चाहिये कि उसके स्त्री-सुलभ गुण कुछ कुछ मन्द अवस्थामें हैं। स्वरज्ञाने इन्हीं बातोंके आधारपर स्त्री-पुरुषके लिये कठिनयोग्य बहुतसे कार्योंका निश्चय किया है—यथा पुत्र-पुत्रीका इच्छानुसार पैदा करना, गर्भधारण न करना इत्यादि। अस्तु, इस संक्षिप्त

विवेचनका अनिप्राय पाठकोंके लक्ष्यमें आ गया होगा—ऐसी आशा है।

प्रश्नोत्तरी

स्वरकी मददसे प्रश्नोंके उत्तर देना बहुत कुछ अन्यथा-पर निर्भर रहता है। पग बहुत प्रकारके हो सकते हैं; अतः उन सब तरहोंके प्रश्नोंका संख्यह करना कठिन है; तथापि साधारणतया प्रश्नोंके जवाब स्वरोदय-विशानकी मददसे कैसे दिये जा सकते हैं, इस सम्बन्धमें योही-ली चर्चा करेंगे। प्रश्नोंके जवाब देते हुए स्वर तथा तत्त्वका स्थाल रखना नितान्त आवश्यक है। स्वर तथा तत्त्व को लेकर ठीक माझम करके जवाब देनेसे उत्तर कभी भी गलत नहीं होंगे।

(१) कार्यके शुभाशुभ फलसम्बन्धी प्रश्न

अमुक कार्यका फल कैसा होगा, ऐसा प्रश्न किया जाय तो—

(क) प्रश्न करते समय यदि गृष्मी और जलतत्त्वका संयोग या दीनोंमेंसे कोई हो और चन्द्रस्वर चल रहा हो तो उत्तर देने चाहिये कि जो कार्य प्रश्नकर्ता लेने रहा है, वह सफल होगा। परन्तु यदि अग्नि, वायु और आकाश-तत्त्वोंमेंसे कोई हो तो कार्य विफल होगा—ऐसा समझना चाहिये।

(ल) यदि प्रश्नकर्ता उत्तरदाताके दाहिनी ओर आकर वैटकर प्रश्न करे और उस समय उत्तरदाताका चन्द्रस्वर चल रहा हो तो कार्यसिद्धि नहीं होगी।

(ग) परन्तु यदि वामस्वर चल रहा हो और प्रश्नकर्ता भी उसी ओर बैठा हो तो कार्यमिदि होगी।

(च) चन्द्रस्वर चल रहा हो और प्रश्नकर्ता ऊरसे, सामनेसे या बाँधी ओरसे प्रश्न करे तो कार्यसिद्धि होगी।

(ड) प्रश्नकर्ता बाँधी ओरसे आकर दाँधीं और वैटकर प्रश्न करे और चाँड़ी स्वर चल रहा हो तो कार्यविनाश समझना चाहिये।

ऊपर जो उत्तर दिये हैं, वे उत्तरदाताके वामस्वर चलते हुए किये जानेवाले प्रश्नोंके हैं। यदि उत्तरदाताका दक्षिण स्वर चल रहा हो तो प्रश्नोंके जवाब देते हुए जहाँ-जहाँ वाम है वहाँ दक्षिण समझकर तदनुसार वही-के-वही

जवाब देने चाहिये। इस सम्बन्धमें निम्नलिखित नियम सर्वदा याद रखना चाहिये—

प्रश्नकर्ता जिस ओर आ रहा हो, उसी ओरका उत्तर-दाताका स्वर चल रहा हो तो कार्यमिदि समझनी चाहिये; परन्तु वृथिवी या जलतत्त्व होने आवश्यक हैं।

(२) रोगी-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर

(क) वाँधी ओरसे रोगीके सम्बन्धमें प्रश्न करे और उत्तरदाताका सूर्यस्वर चल रहा हो तो रोगी नहीं बचेगा, ऐसा समझना चाहिये।

(ल) वाम स्वरमें बाँधी ओरसे ही प्रश्न किया गया हो और वृथिवीतत्त्व हो तो एक मासमें रोगी ठीक हो जायगा, ऐसा समझना चाहिये।।

(ग) सुषुप्तामें स्वर हो तथा गुरुवार हो और वायु-तत्त्व हो तो रोगी भरेगा नहीं। परन्तु शनिवार और आकाश-तत्त्व हो तो उसी रोगसे मर जायगा।

(३) गर्भसम्बन्धी प्रश्न

(क) अमुक ढीके गर्भ रहा है या नहीं, ऐसा प्रश्न बंद स्वरकी ओरसे किया जाय तो गर्भ है—ऐसा समझना चाहिये, अन्यथा नहीं।

(ल) गर्भमें लड़का है या लड़की, इस प्रश्नके जवाबमें प्रश्नकर्ताका यदि वाँड़ी स्वर चल रहा हो और अपना दक्षिण तो लड़का होकर मर जायगा—ऐसा कहे।

(ग) यदि दोनोंहीके दक्षिण स्वर हो तो लड़का होगा और आनन्द-मङ्गल होगा।

(घ) प्रश्नकर्ताका दक्षिण स्वर हो तथा उत्तरदाताका वाम, तो लड़की होकर मर जायगी।

(छ) यदि दोनोंका वाँड़ी स्वर हो तो लड़की होकर जायगी।

(च) यदि सुषुप्तामें प्रश्न किया जाय तो गर्भपात होकर माताको कष्ट होगा।

(ड) यदि गर्भसम्बन्धी प्रश्नके समय आकाशतत्त्व होगा तो भी गर्भपात होगा।

(४) प्रवास या परदेशके सम्बन्धमें प्रश्न

क. प्रश्न करते समय पृथिवी-तत्त्व हो तो प्रवासमें कुशलता।

ख. " " जल " " रास्तेमें पानीमें बाढ़।

ग.	प्रश्न करते समय अग्नि-तत्त्व होते	प्रश्नामें कष्ट।
घ.	“ “ बायु ” ”	प्रवासी आगे चला गया है, ऐसा समझे।
ङ.	“ “ आकाश ” ”	“ रोगी हो गया है, “ “ ।
च.	“ “ सुषुमा और पृथ्वीतत्त्व तथा आकाशका संयोग हो तो प्रवासी मर जायगा।	
छ.	“ “ पृथ्वीतत्त्व हो तो परदेशमें स्थिर है, ऐसा समझे।	
ज.	“ “ जल ” ” ” सुखी है ” ”	
झ.	“ “ अग्नि ” ” ” रोगादि कष्टोंसे मुक्त समझे।	
ञ.	“ “ बायु ” ” ” अनेक स्थानपर न होता हुआ अन्यत्र गया हुआ है, ऐसा समझे।	
ट.	“ “ आकाश ” ” ” मृत्यु हो गयी है, ऐसा जाने।	

(५) युद्धमें गये हुएके सम्बन्धमें प्रश्न

क. यदि पूर्णस्वरसे आकर पूर्णमें पूछे अर्थात् प्रश्नकर्ता और उत्तरदाताके स्वर एक हों तो युद्धमें गये हुएकी कुशल जाने।

ख.	यदि पृथ्वी-तत्त्व हो तो पेटमें धाव लगा है, ऐसा जाने।
ग.	जल ” ” ” पैरमें ” ” ” ” ” ।
घ.	अग्नि ” ” ” छातीमें ” ” ” ” ” ।
ङ.	बायु ” ” ” जौध्रमें ” ” ” ” ” ।
च.	आकाश ” ” ” मस्तकमें ” ” ” ” ” ।
छ.	सुषुमामें स्वर हो तो मृत्यु या कैद ” ” ” ” ” ।

यहाँ ऊपर कुछ प्रश्न तथा उनके जवाब देनेके तरीके बताये गये हैं। इस सम्बन्धमें विश्व पाठक विस्तारसे स्वयमेव प्रयत्न करके जान सकते हैं। अनुभव उन्हें विशेष विश्व बना सकता। अस्तु,

स्वरोदय-विज्ञानके सम्बन्धमें वहुत ही संक्षेपसे उपर्युक्त विवरण तैयार किया गया है। इसका विस्तार तथा वहुत-सी अन्य बातें इस लेखमें दी नहीं जा सकती थीं, यह पाठक अमङ्ग लकड़ते हैं। अतएव जिज्ञासु विश्व पाठक हमें हमारी इस विवशताके लिये क्षमा करेंगे।

सर्वोत्तम साधन—जनसेवा

(लेखक—प० श्रीकाशोरीदास जी वा उपेन्द्री)

भगवत्प्राप्तिके अनेक साधन हैं—कर्म, शान, भक्ति, प्रपत्ति आदि। परन्तु सर्वोत्तम साधन जनसेवा है। दीन-दुर्लियोंकी सेवा भगवत्प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन है। श्रीमद्भगवत्तमें स्थान-स्थानपर इसका उल्लेख है और श्रीनामादासजीने भक्त-मालमें अनेक ऐसे भक्तोंके चरित्र दिये हैं, जो जनसेवामें ही लगे रहते थे, इसीको भगवत्प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन समझते थे और जो इसीके द्वारा कृतकृत्य हुए।

इसमें किसी प्रभाणकी जरूरत नहीं है। आपकी आत्मा ही गवाही देगी। जब आप किसी दुःखी जीवकी कुछ मदद करते हैं, तब आपकी आत्मा प्रसन्न होती है और ऐसा लगता है कि मेरे इस कामसे भगवान् प्रसन्न हो रहे हैं।

जनतामें जनादेनका बास है। चलती-फिरती नारायणकी

मूर्तियोंकी अर्चनाका महत्व वहुत बढ़कर है। निष्कामभाव-से, भगवत्प्राप्तिका साधन मनिकर यदि जनताकी सेवा की जाय—दीन-दुर्लियोंके दुख-दर्दमें मदद की जाय—तो भगवान्की प्रसन्नताका यह सबसे बड़ा कारण होगा।

आजकल लोग जो जनसेवाका काम करते हैं, उसमें निष्काम भनोवृत्ति नहीं रहती। कुछ-न-कुछ स्वार्थ रहता है। राजनीतिक उत्कर्षकी भावना प्रधानतासे दिल्लायी देने लगी है। यह सब सकाम कर्म-प्रवृत्ति है। इसीको निष्कामभावसे किया जाय, तो यह सेवा निर्वाणप्राप्तिका प्रबलतम साधन है।

भारतीय संत-समाजका इस युगमें अभीतक इस साधन-की ओर कम ध्यान गया है। आशा है, इसपर विचार किया जायगा।

आरोग्य-साधन

(लेखक—राजेशोऽपि श्रीमुद्गुणदत्तहर्षी मिश्र उच्चीतिपाचार्य)

आरोग्यं भास्करादिच्छेव्…………। (श्रीमद्भगवत्)
अन्तश्चरति रोचनात्य प्राणादपानती दयलग्नमहिषो
दिवम् । (क० १०।१८९)

इस ऊपरके वेदमन्त्रमें स्पष्ट कहा है कि भगवान् सूर्यकी रोचनाना दीपि अर्थात् सुन्दर प्रभा शरीरके मध्यमें सुख्य प्राणहृष्य होकर रहती है। इससे सिद्ध है कि शरीरका स्वस्थ, नीरोग, दीर्घजीवी होना भगवान् सूर्यकी कृपापर निर्भर है; क्योंकि सूर्यकिंगोंके द्वारा ही सारे जगन्में प्राणतत्त्वका सञ्चार होता है। प्रश्नोपनिषद्में लिखा है—

यत्पवौ प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रक्षिषु संनिधने ।
(१।५)

अर्थात् जब आदित्य प्रकाशमान होता है, तब वह सभल प्राणोंको अपनी किरणोंमें रखता है।

इसमें भी एक रहस्य है। वह यह कि प्रातःकालकी सूर्य-किरणोंमें अखलस्तताका नाश करनेकी जो अद्वृत शक्ति है, वह मध्याह्न तथा सायाह्नी सूर्य रसिमयोंमें नहीं है।

उत्तरादित्यरस्मिभिः शीर्षो रोगमनीनदाः ।
(अथर्व० ०।१५)

वेद भगवान् कहते हैं कि प्रातःकालकी आदित्य-किरणोंसे अनेक व्याधियोंका नाश होता है। सूर्यसरिमयोंमें विष दूर करनेकी भी शक्ति है। शरीरमात्र खलु भृमसाधनम्—खल्व शरीरसे ही धर्म, अर्थ, काम और सोककी प्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं। एतदर्थं आरोग्यके इच्छुक साधकोंको भगवान् सूर्यकी दारणमें रहना अत्यावश्यक है। सूर्यकी किरणोंमें व्यास प्राणोंको पोषण करनेवाली महर्ती शक्तिका निष्प्रलिखित सहज साधनसे आकर्षण करके साधक स्वस्थ, नीरोग और दीर्घजीवी होकर अन्तमें दिव्य प्रकाशको प्राप्त करके परमपदको भी प्राप्त कर सकता है। आलस्य या अविश्वासके बश होकर हृषि साधनको न करना एक प्रकारसे आत्मोन्नतिसे विमुख रहना है।

माधव—प्रातःकाल सन्द्या-बन्दनादिसे निवृत्त होकर पद्मं प्रहरमें, जश्वतक सूर्यकी पूर्ण विद्योग्य तेज न हो, तत्रतक एकान्तमें केवल एक वश पहनकर और मल्तक, हृदय, उदर आदि

प्रायः सभी अङ्ग खुले रखकर पूर्वाभिमुख भगवान् सूर्यके प्रकाशमें खड़ा हो जाय। तदनन्तर हाथ जोड़, नेत्र बंद करके जगचक्षु भगवान् भास्करका व्यान करे। तथां—

**पश्चासनः पश्चकरो हिंवाहुः
 पश्चशुतिः सप्तनुरुक्षवाहनः ।
 दिवाकरो लोकाग्रहः किरीटो
 मयि प्रसादं विद्धधातु देवः ॥**

यदि किसी साधकको नेत्रमान्द्यादि दोष हो तो वह व्यानके बाद नेत्रोनिपट्का पाठ भी कर लेवे। तदनन्तर वाल्मीकिरामायणोक्त आर्य आदित्यहृदयका पाठ तथा ‘ॐ हौं हंसः’ इस बीजमन्त्रका कमसे-कम पाँच भाला जप करके मनमें हठ धमरण करे कि जो सूर्य-किरणें हमारे शरीरपर पड़ रही हैं और जो हमारे चारों ओर फैल रही हैं; उन सबमें रहनेवाली आरोग्यदा प्राणशक्ति भेरे शरीरके रोम-रोमसे प्रवेश कर रही है। नित्य नियमपूर्वक इस मिनटसे बीज मिनटक इह प्रकार करे। साथ ही वंश-रण-रण्ट स्वरसे अंकारका उच्चरण ब्रह्मरम्भतक पढ़नाना चाहिये। ऐसा करनेसे अनेको आनन्द तथा दिव्य रात्मितुक्त तेज मिलेगा। यदि किसी श्रद्धालु साधकको कष्टप्राप्त्य अथवा असाध्य उदक्षत, राज्यधर्मा अथवा कुट्टादि गोप अत्यन्त कष्ट दे रहे हों तो उन्हें चाहिये कि उपर्युक्त साधनके साथ साथ निष्प्रलिखित कार्य रवित भी करें। ऐसा करनेपर, मेरा विश्वास है कि निश्चय ही इच्छानुसार लाभ होगा। वह बत गुरुशुक्लासादि दोपसे रहित मार्गशीर्ष शुक्रपक्षसे प्रारम्भ करना चाहिये।

ब्रती साधको चाहिये कि रविवारको सूर्योदयसे ५. घड़ी पूर्व उठकर शौचवृद्धिके बाद ताजे था भिजाये हुए अगामार्ग (अंगोगा-पुठकंडा) की दाँतनसे मुखशुद्धि करें। तदनन्तर स्नानादि निष्कर्षसे निवृत्त होकर उपर्युक्त साधन करके भगवान् सूर्यके समुख (चान्दमानसे) मार्गशीर्ष हों तो पहले दिनके तोड़े हुए और भगवान्को समर्पण किये हुए केवल तुलसीके तीन पत्रमात्र, पौष्ट्रमें ३ पल गोपूत, माघमें ३ मुहूर्त तिल, फाल्गुनमें ३ पल गौका दही, चैत्रमें ३ पल गौका दूध, वैशाखमें सवत्सा गौका ब्रदीफलप्रमाण

(बेर-जितना) गोबर, ज्येष्ठमें ३ अङ्गालि गंगाजल (अभावमें भगवान्का चरणामृत), आपादमें ३ दाने काली मिर्च, श्रावणमें ३ पल जौका सत्, भाद्रपदमें सवत्सा गोका ३ चुल्द गोमुत्र, आश्विनमें ३ पलमात्र चीनी तथा कार्तिकमें ३ पल ६ हविष्य मध्यका करे ।

अपर जो द्वादश मासोंके रविवारोंकी भक्ष्य दस्तुएँ लिखी हैं, उनके अतिरिक्त अन्य वस्तु उस दिन मुख्यमें न डाले । भक्ष्य पदार्थके भक्षण करनेके अनन्तर आचमन करके सुख-शुद्धि अवश्य करे । जहाँ बैठल जलमात्रका ही बचन है, वहाँ आचमनकी आवश्यकता नहीं है । व्रती साधक उस दिन मौनधारणपूर्वक मनमें उपर्युक्त बीजमन्त्रका सारण करता हुआ एकान्तसेवन करे और सुवह, दुपहर तथा सन्ध्याके समय रोटी, पुष्प और चावलोंसे युक्त जलका अर्ध भी अवश्य दें । रात्रिको महामहिम श्रीमद्भूतवाग्भूवाचार्य-कृत आत्मविलासादि सन्दात्राव्ययनमें अपनी आत्माको

पवित्र करके जमीनपर या काठके तख्ते अथवा चौकीपर पूर्वकी ओर सिर करके सेवे ।

साधको ! इस रविवतसे स्वस्यमें जो वर्णनातीत लाभ होता देखा गया है, वह किसी भी मानवीय औषधसे शतांशमें भी नहीं होता—ऐसा मेरा अनुभव है । यदि कोई साधक हर वर्षको शारद सालतक विश्वासपूर्वक करे तो गृणकाम होकर ब्रह्मस्पृष्ट हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं । यहाँ तो केवल दृढ़ श्रद्धा-भक्तिकी आवश्यकता है । कहाँतक लिखा जाय, कुछ समयतक विविवत, इस साधनके करनेसे भगवान् भास्करकी कृपाका अमृत फल अपने-आप ही प्रत्यक्ष हो जायगा ।

सरण रहे कि सूर्यके सामने मल-भूतका त्याग करना सभीके लिये, खास करके सूर्योपासकोंलिये तो सर्वथा नियिद्ध है । रविवापको तैल, खी-संसर्ग तथा नमकीन पदार्थका त्याग करना साधारण रविवत कहाता है ।

साधनाका मर्थितार्थ—सेवा

(लेख)—२० श्रीपर्मदेवजी शास्त्री, दर्शनकेमरी, दर्शनस्मृण, सांख्य-धीर-वेदान्त-व्याय-तीर्थ)

मनुष्यका परम लक्ष्य है भगवत्प्राप्ति अथवा भगवत्स्वरूपप्राप्ति । सब साधन—योग, तप, ध्यान आदि—उसी लक्ष्यतक पहुँचनेके लिये हैं । साधन स्वयं लक्ष्य नहीं होता, वह तो साम्यप्राप्तिका उपाय भर होता है । भगवान्का दर्शन करना कौन नहीं चाहता ? भगवान्को प्राप्त करनेका अर्थ है पूर्णत्वकी प्राप्ति—उपनिषद्के शब्दोंमें ‘भूमध्यलयाधिगति’ । विद्या, वल, ऐश्वर्य और आनन्द आदिमें निरेक्ष स्थितिक पहुँचनेकी इच्छा सानन्दमात्रकी है । मनुष्यकी इच्छाओंको हम सुख्यतया तीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं—

१—‘मा न भूवं भूयासम्’—अमर जीवन अर्थात् सत्ताकी पूर्णता ।

२—मैं सबसे अधिक शानी बनूँ अर्थात् चितिकी पूर्णता ।

३—हुःखके लेशसे भी अंतस्तृष्ट सुखप्राप्ति अर्थात् आनन्दकी पूर्णता ।

इस प्रकार मनुष्यकी इच्छा है कि वह सद्विदामन्द बने । सभी मनुष्य, चाहे वे परमात्माको मानते हों अथवा नहीं,

उस तीन पूर्णताओंको किसी-न-किसी रूपमें चाहते हैं । मनुष्यकी यह प्रकृति है, न चाहते हुए भी वह इससे प्रेरित हो रहा है । ‘प्रकृतिस्त्वा नियोश्यति’ । (गीता)

इस प्रकार मनुष्य अपने चरम लक्ष्यको प्राप्त करनेके लिये ही सब कुछ कर रहा है । यह साधना मनुष्य एक ही जन्ममें पूरी नहीं कर पाता—‘अनेकजन्मसंसिद्धतातो धाति परां गतिम्’ । (गीता) अनेक जन्मोंकी सिद्धिके अनन्तर मनुष्य उसे प्राप्त करता है । यदि कोई मनुष्य शरीरको साधनाका साधन न समझकर अपने लक्ष्यको भूल जाय तो वह कोल्पके बैलकी भाँति अनेक जन्मोंमें भी वर्ही-का-नहीं रहेगा । इसलिये अनुभवी भहात्माओंने साधकोंके साधन और स्वरूप समझाये हैं, जिसमें उनपर आचरण करके कोई भी अपना लक्ष्य प्राप्त कर ले । अनुभवियोंके अनुभव-प्रयोगकी दशाएँ विविध हों, तब भी उनका परीक्षाप्रकार अथवा मर्थितार्थ एक ही है । और वह है नरके रूपमें नारायणकी सेवा । जिस प्रकार विविध श्रेणियोंमें विषय और पदार्थका भेद होता है अथवा एक भी श्रेणीके विद्यार्थियोंको

* एक पल=३ तोले ४ माशिका होता है ।

भिज-भिज अध्यापक अपने ही हंगसे पढ़ाता है, पर सब अध्ययन-अध्यापनका मथितार्थ एक है, और वह है अक्षर-शान अथवा व्यवहार-शान; इसी प्रकार साधनाके रूपमें भी अधिकारिमें अथवा प्रयोग-भेदसे भेद हो सकता है, परन्तु सक्षका मथितार्थ है भेदमें अभेदका सक्षात्कार। यह सक्षात्कार भी मानसिक चेष्टामर नहीं, अपितु मानव-जीवनका नया कायाकल्प है।

X X X

तुम अपने प्राणस्वरूप भगवान्का सक्षात्कार करना चाहते हो ? सचमुच तुम्हारी यह हार्दिक अभिलापा है ? यदि हैं, तो आओ मेरे साथ चलो। देखो, मैं तुम्हें इस जनाकान्त स्थानसे दूर ले जाऊँगा। क्या पूछते हो, कहाँ ले जाओगे ? तुम चले चलो मेरे पीछे-पीछे। लो, यहाँ बाजारके चौकमें गड़े-वड़े आलीशान भव्य प्रासाद हैं। पक्की सड़क है। प्रकृतिपर विजय पानेवाले मानवसे यहाँ राशिको भी विजलीके प्रकाशमें दिन बना दिया है। इधरसे उधर मोटरें, ड्राम और अन्य विद्युत वान घनी-मानी व्यक्तियोंको लेकर आ-जा रहे हैं। मैं यहाँ तुम्हें रोकना नहीं चाहता। यहाँ ब्रह्मका अविकृत रूप नहीं दीखेगा, यहाँ उसका मकान नहीं। उच्च अट्टालिकाओंमें वह नहीं मिलेगा। उसे आरामके लिये फुरसत कहों ?

जहाँतक तुम्हारी ओर्लोंको चांधिया देनेवाली बस्तुऐ दीखें, वहाँतक समझ लेना यहाँ तुम्हारा गन्तव्य नहीं मिलेगा। लो, अब शहरके उस हिस्सेमें आ पहुँचे, जहाँ मानवताकी उपेक्षाने मूर्त्तरूप भारण कर लिया है। यहाँ रोशनीका कोई इन्तजाम नहीं। एक छोटी-सी धूसकी झोपड़ीमें, जिसमें मुविकलसे दो चारपाईयों आ सकती हैं, छः बच्चोंकी माँ अपने पतिकी इन्तजाममें बच्चोंको सान्वना दे रही है। घर और उसके रहनेवाले मैले और दुर्गन्धसे युक्त हैं। यहाँ तुम नाकपर कपड़ा न रखें।

तुम्हें तो भगवान्के दर्शन करने हैं न ? तो जरा अंदर चलो, यहाँ प्रभु मिलें। जहाँ मानवताको ठोकरे पड़ती हैं, जहाँ निर्भयता नम ताण्डव करती है, जहाँ भूख और नंगापन साप्राज्ञ बनाकर रहते हैं, वहाँ तुम्हारा प्रियतम रहता है और मिलता है—दरिद्र, भूखे, नंगे और असहायके शरीरमें लड़कवड़ाता हुआ। तुम यदि भगवान्को कुछ खिलाना पसंद करते हो तो दरिद्रको नारायण समझकर खिलाओ।

यदि तुम भगवान्पर बछ चढ़ाना चाहते हो तो सरीषकी झोपड़ीमें जाकर श्रद्धापूर्वक दरिद्रनारायणके चरणोंमें घड़ोंकी मेंट चढ़ाओ।

यदि तुमने साधना की है तो यहाँ उसकी परीक्षा होती है। यह साधना-परीक्षा-मन्दिर है। यदि तुम इसमें शत प्रतिशत अङ्ग प्राप्त करना चाहते हो तो दरिद्रोंमें, पतिसंतोंमें, भूखों और नंगोंमें तन्मय होकर उनके सेवक बन जाओ। और तुम्हारी परीक्षा पूरी तब होगी जब उस पतितको, निर्भनको, गरीबको भगवान्के रूपमें स्थान ही नहीं देखेंगे, संलग्नको दिखा देंगे; जब वह पतित न रहेगा, निर्भन न रहेगा, भूखा और नंगा न रहेगा। यह है भगवान्के सक्षात्कारका प्रकार। इसीका नाम है सेवा। अर्थवदमें इसीको कहा है—

निषसाद धृतव्रतो वस्तुः पस्त्वास्ता ।

भगवान्का यह व्रत है कि उन्होंने अपना धर पतितोंको—जननाको बनाया है। इन्हींका नर-नारायण कहते हैं।

क्या कहते हो—यह कठिन है ? नहीं, यह तो मनमें सरल मार्ग है। इसका आनन्द सुक्षमोगी ही जानते हैं। स्वयं दरिद्रालोंके अपनानेमें किनना आनन्द है ? लाखों सद्ये कमाकर दरिद्रनारायणके चरणोंमें मेंट चढ़ा देनेमें क्या अनिवृत्तियाँ आनन्द है—यह तो दूसरेके बनानेकी जान नहीं। धूँगोंकी धनाके सदृश अमीचंद धतावे किम्बि कि हमने क्या रस उड़ाया ?—यह उक्ति उसके महसे निकालेगी जो इस मार्गका पर्याक होगा।

‘अश्रु सावधः मस्तवानि जानते ।’

(प्रत्यनेत्र)

X X X

कुछ दिन पहलेकी बात है, हमारे पड़ोसमें एक मोटर-डाइवर रहता था। एक दिन सुचह ही मैंने देखा वह अपनी मोटरको साफ कर रहा है। मैंने सोचा मोटरमें कुछ खराबी आ गयी होगी। दोपहरको जब मैं उधरसे गुजरा, तब भी सफाई ही ही रही थी।

क्यों साहब, क्या कर रहे हो ? ‘साफ कर रहा हूँ।’ शाम-को किम वही सफाई। ‘आखिर, भाई, कर क्या रहे हो ?’ ‘सफाई।’ उच्चर मिला।

लगातार कई दिनोंतक यह सफाई होती रही। जब मैंने देखा कि इसकी तो कहीं समाप्त नहीं, तब मैं



COLLECTION OF VARIOUS
→ HINDUISM SCRIPTURES
→ HINDU COMICS
→ AYURVEDA
→ MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with
By
Avinash/Shashi

Icreator of
hinduism
server!

यह कह ही बैठा 'आप मोटरको साफ ही करते रहते हैं कि कभी चलाते भी हैं ?'

'वह चलावेंगे तो मोटर स्थान हो जायगी, साहब !' 'तो इसकी अच्छाईका कैसे पता चलेगा ?'

'मैं तो चलानेके लिये सफाई नहीं करता, सफाई सफाईके लिये करता हूँ ! वे बोले । तब तो फिर आपका स्थान भूलोकमें नहीं, या तो देवलोकमें अथवा आगरमें या बरेलीमें ।'

X X X

साधनाका भी उद्देश्य है नर-नारायणके साथ तन्मयताकी तैयारी । इसीको 'आत्मदर्शन' कहते हैं ।

जबतक कहीं भी पाप, अनाचार, भूख, नंगापन, दरिद्रता, निरक्षरता, अन्याय और विषमता है, तबतक साधक-की साधना चलती ही रहती है, वह अपूर्ण ही है । जो नर-नारायणसे प्रेम नहीं करते, उनका अपमान करते हैं, वे साधनासे कोई दूर हैं । भगवानके शब्द हैं—

अब्जानन्ति मां भूडा मानुषीं तनुमाश्रितम् । (गीत)

अर्थात् वे मनुष्य भूढ़ हैं, जो मनुष्यके शरीरमें दृष्टि-गोचर होनेवाले (नर-नारायण) मेरा अपमान करते हैं । सेवा ही साधनाका मरितार्थ है और भगवत्प्राप्तिका सुपरीक्षित राजमार्ग है । कलिकालमें तो यह भगवत्प्राप्तिका अनुपम साधन है ।

आजकी साधना

(लेखक—बाबा राघवद(सजी))

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्णाते ।'

—मीना

मनुष्यका शरीर और आत्मा—ये दोनों अलग-अलग होते हुए, भी जीवन-कालमें एक दूसरसे इतने अभिन्न रहते हैं कि इनको दो कहनेमें संकोच होता है । शरीरके स्थूल, सूक्ष्म, कारण या महाकारण—कितने भी भेद किये जायें, तो भी अजर-अमर आत्मासे उनका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि साधारण मनुष्य अपने चर्म-चमुओंसे उनको आत्मासे अलग देखनेमें असमर्थ ही रहता है । आत्माके बोरमें हमरि उपनिषदों और स्थूल भगवान् श्रीकृष्णने जो कुछ प्रतिपादन किया है, वह संसारके लिये एक अमूल्य देन है । उससे अधिक आत्माके विषयमें कोई वश कह सकता है ? परन्तु शरीरके सम्बन्धमें लोग नित्य नये-नये विचार करते रहते हैं । वर्तमान संसारमें तो शरीरको लेकर नाना प्रकारके विचार हो रहे हैं । आजकल हमलोग जितने 'वाद' या 'इच्छा' की ओर पढ़ते-मुनते हैं, वे सब शरीरके सम्बन्धमें किये गये विचार ही तो हैं । 'शरीर' शब्दसे जिस प्रकार आयुर्वेदशास्त्रकथित शरीरका बोध होता है, उसी प्रकार उससे राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक अथवा साहित्यिक शरीरका भी बोध होता है । चूँकि आजकल इस मौतिक संसारमें सर्वत्र राजनीतिका ही बोलचाल है, इसलिये हम यहाँ राजनीतिक हिंडियोंसे ही शरीर तथा साधनाका याकिञ्चित् विचार करें तो अनुचित न होगा ।

राजनीतिमें आजकल शरीरकी रक्षा तथा विनाशके लिये जितना विचार किया जाता है, उतना शायद ही किसी दूसरे शास्त्रमें किया जाता होगा । वर्तमान महायुद्ध इसका एक सुन्दर उदाहरण है । इन हिन्दौ संसारके बड़े-बड़े आलादिमाग इसी योजनाके अनुसन्धानमें लगे हुए हैं कि कमसे-कम समयमें लाखों आवाल-बृद्ध नर-नारियोंके शरीर किस प्रकार नष्ट किये जा सकते हैं । इसी तरह दूसरी ओर संसारके अच्छे-अच्छे मसिन्धक छल-कपट और कूटनीतिके द्वारा अर्थोंका व्यापार करके अपने-अपने देशके करोड़ों भाई-बहिनोंके शरीरोंके किस प्रकार पाला-पोसा जा सकता है, इसका उपाय सोचनेमें लगे हैं । इन परस्परविरोधी उद्योगोंमें मानव-शरीरकी विडम्बना भरी है या स्तुति, यदी समझमें नहीं आता ।

मनुष्य-शरीरकी जो यह दुर्गति या अन्धपूजा हो रही है, उसे देखकर मनमें यह भाव आता है कि यदि इन दोनोंके बीचका कोई रास्ता—सध्यम भारी निकल आता तो उससे जगत्का वास्तविक कल्याण होता । वही 'साधना' का प्रथ उपस्थित होता है । संसारके सभी संतोंने—चाहे वे हिंदू हों अथवा बौद्ध, सिक्ख हों या ईसाई, पारसी हों या मुहम्मदान—एक स्वरसे साधनापर जो विशेष जोर दिया है, वह इसलिये नहीं कि वे इन बड़ी-बड़ी बातोंका प्रचार करके अपनेको पुजार्वें; बल्कि उनका उद्देश्य यह रहा है कि मानव-शरीरकी अवहेलना तथा उपासनाके कारण